॥ श्रीवीतरागाय नमः ॥

श्रीमदुमास्वामिविरचितम्

तत्त्वार्थसूत्रम् अपरनाम मोक्षशास्त्रम्

तस्योपरि भाषाप्रश्नोत्तरटीका

तत्त्वार्थमञ्जूषा

(प्रथम खण्ड)

卐

संकलनकर्त्री

आर्यिका १०५ श्री विज्ञानमती माताजी

卐

प्रकाशक :

श्री दिगम्बर जैन समाज, आरौन (गुना-म.प्र.)

तत्त्वार्थसूत्रम् : श्रीमद् उमास्वामिविरचितम्

तस्योपरि भाषाप्रश्नोत्तर टीका

तत्त्वार्थमञ्जूषा (प्रथम खण्ड)

संकलन : आर्यिका १०५ श्री विज्ञानमती माताजी

सम्पादन : डॉ. चेतनप्रकाश पाटनी, जोधपुर

अर्थ सहयोग : श्री दिगम्बर जैन समाज, आरौन (गुना)

ग्रन्थ प्राप्तिस्थान : (१) ब्र. अनिल जैन
उदासीन आश्रम, छप्पन दुकान के पीछे
५८४, एम.जी.रोड, तुकोगंज, पलासिया
इन्दौर - १० ☎ ०७३१-२५४५७४४

(२) संजीव जैन (रामपुर)
पूजा परिधान, गुलाबगंज चौराहा
आरौन (गुना-म.प्र.) ४७३१०१
☎ ०७५४५-२५८४९७

संस्करण : **प्रथम,** १००० प्रतियाँ, १३ फरवरी २००५
द्वितीय, १००० प्रतियाँ, पू. आर्यिकाश्री रजतदीक्षा महोत्सव के अवसर पर

मूल्य : स्वाध्याय

संकल्पना : निधि कम्प्यूटर्स, जोधपुर ☎ ०२९१-२४४०५७८

मुद्रक : हिन्दुस्तान प्रिन्टिंग हाउस, जोधपुर ☎ ०२९१-२४३३३४५

卐 सम्पादकीय 卐

गृद्धपिच्छाचार्य अपरनाम गणीन्द्र **उमा स्वामी** मुनीश्वर द्वारा रचित **तत्त्वार्थसूत्र/मोक्षशास्त्र** जिनागम का अत्यन्त लोकप्रिय, प्रतिष्ठित और प्रामाणिक शास्त्र है। इसे जैनधर्म और जैनदर्शन का निर्विवाद प्रतिनिधि ग्रन्थ होने का गौरव प्राप्त है। जैनों की दोनों - दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्पराओं में यह समान रूप से समादरणीय है। सुविज्ञ भी और सर्वथा अनभिज्ञ भी - दोनों ही जन इसके माहात्म्य से अभिभूत हैं। इसके मात्र पाठ या श्रवण का फल एक उपवास बताया गया है तभी तो 'संस्कृत' के अनभ्यासी जन भी परमुख से इसके पाठ का श्रवण कर पुण्य के भागी बन सन्तोष का अनुभव करते हैं।

प्रथमानुयोग के अलावा तीन अनुयोगों - करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग की सभी महत्त्वपूर्ण स्थापनाओं/मान्यताओं का अतिव्यवस्थित रूप से सूक्ष्म निदर्शन कराने वाला यह सिद्धान्तग्रन्थ अद्वितीय है। तत्त्वार्थसूत्र के दस अध्यायों में मात्र ३५७ सूत्र हैं। सबसे लघु सूत्र एक दो शब्दों के हैं और अधिकांश पाँच-सात शब्दों से अधिक दीर्घ नहीं हैं। मान्यता है कि संस्कृत भाषा में सूत्रशैली में रचित यह **प्रथम जैन सूत्रग्रन्थ** है।

आचार्य उमा स्वामी का समय ई. सन् की दूसरी शताब्दी माना जाता है। ये कुन्दकुन्दान्वय में हुए हैं और कुन्दकुन्दाचार्य के उत्तराधिकारी भी हैं। इनकी एकमात्र रचना **तत्त्वार्थसूत्र** है जो किसी आसन्नभव्य की जिज्ञासा के समाधान में रची गई है। इसके प्रथम चार अध्यायों में जीव तत्त्व का, पंचम अध्याय में अजीवतत्त्व का, छठे और सातवें अध्यायों में आस्रव तत्त्व का, आठवें अध्याय में बन्ध तत्त्व का और नवम अध्याय में संवर और निर्जरा तत्त्वों का और अन्तिम दसवें अध्याय में मोक्ष तत्त्व का सम्यक् विवेचन है। इस प्रकार तत्त्वार्थसूत्र का वर्ण्य विषय जैनधर्म के मूलभूत सिद्धान्तों से सम्बद्ध है। **डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री, ज्योतिषाचार्य** ने इसे 'जैन सिद्धान्त की कुञ्जी' कहा है और षट्खण्डागम और कुन्दकुन्द साहित्य को 'तत्त्वार्थसूत्र' के अनेक सूत्रों की रचना का स्रोत माना है। उन्होंने गृद्धपिच्छाचार्य को 'श्रुतधरपरम्परा के बहुज्ञ आचार्य' के रूप में स्थापित किया है क्योंकि अनेक विषयों को संक्षेप में प्रस्तुत कर 'गागर में सागर' भर देने की कला सूत्रकार ने निदर्शित की है।

इस सूत्र ग्रन्थ पर आज तक अनेक भाष्य, वृत्ति और टीकाएँ लिखी गई हैं और अभी भी लिखी जा रही हैं। जैनेन्द्र सिद्धान्त कोशकार ने कोश के द्वितीय भाग के पृष्ठ ३५५-५६ पर सोलह प्रमुख टीकाओं का उल्लेख किया है जो दिगम्बराचार्यों द्वारा लिखी गई हैं। इनके अतिरिक्त श्वेताम्बराचार्य सिद्धसेनगणि और हरिभद्रसूरि की टीकाएँ भी उल्लेखनीय हैं। तत्त्वार्थसूत्र के अतिप्रसिद्ध टीका ग्रन्थों में देवनन्दि पूज्यपादकृत तत्त्वार्थवृत्ति अपरनाम **सर्वार्थसिद्धि**, भट्ट अकलंकदेव विरचित **तत्त्वार्थ राजवार्तिक** और आचार्य विद्यानन्दी विरचित **तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक** अपनी प्राचीनता, प्रामाणिकता, विषय गाम्भीर्य और विस्तारादि गुणों के लिए श्रेष्ठ टीकाएँ मानी जाती हैं। परन्तु अध्ययन/स्वाध्याय में सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक टीकाओं का ही प्रचलन है। श्लोकवार्तिक टीका अपनी क्लिष्टता के कारण स्वाध्याय का ग्रन्थ नहीं बन पाई है।

संस्कृत भाषा का पठन-पाठन अब बिरले ही करते हैं और ये सारी टीकाएँ संस्कृत में लिखी गई हैं। आज इन संस्कृत टीकाओं के हिन्दी अनुवाद भी उपलब्ध हैं पर वे भी सामान्य जन की समझ से परे हैं विषय की गम्भीरता और भाषा-शैली की जटिलता के कारण। प्रस्तुत कृति उन सब दुर्गमताओं को परे हटाकर सुगमता का मार्ग निर्मित करने का एक सुष्ठु प्रयत्न है जिसमें विविध ग्रन्थों की भीनी-भीनी महक है जो मन और बुद्धि को सुवासित करती है।

प्रस्तुत **तत्त्वार्थ मञ्जूषा** प्रश्नोत्तर शैली के माध्यम से तत्त्वार्थसूत्र की अनेक टीकाओं और जैनवाङ्मय के विविध ग्रन्थों से संकलित उद्धरण सुमनों का मोहक स्तवक है। इस महत्त्वपूर्ण कृति की उद्भावना का हेतु संकलनकर्त्री माताजी **पूज्य आर्यिका विज्ञानमती जी** ने अपने **स्वकथ्य** में स्पष्ट किया है। एक जिज्ञासु स्वाध्यायी के निवेदन पर पूज्य बड़े माताजी **आर्यिका विशालमती माताजी** की प्रेरणा से पूज्य आर्यिका विज्ञानमतीजी इस कृति के संकलन में संलग्न हुई थीं। एक दशक से भी अधिक अवधि के अध्यवसाय का सुपरिणाम है यह कृति। खेद है कि आज इसके प्रकाशन के अवसर पर वह प्रेरक अपनी प्रेरणा के फल को देखने हेतु हमारे बीच उपस्थित नहीं है। अल्पकालीन अस्वस्थता में ही वे वर्ष १९९७ में दिवंगता हुईं। उस पुनीत आत्मा को शत-शत नमन।

पूज्य **आर्यिका विज्ञानमती माताजी** ने अपनी अभीक्ष्ण ज्ञानाराधना और उसके फलस्वरूप प्रकट हुए क्षयोपशम से इस श्रमसाध्य और समयसाध्य विशाल दुष्कर कार्य को सम्यक् रीत्या सम्पन्न किया है। ग्रन्थ संकेत-सूची देखकर ही कार्य की जटिलता और विस्तार का अनुमान लगाया जा सकता है कि इन प्रश्नोत्तरों के लेखन के लिए पूज्य माताजी ने शताधिक ग्रन्थों का कितना गहन अध्ययन-पारायण किया है। पूज्य माताजी ने प्रत्येक प्रश्न का प्रामाणिक उत्तर प्रस्तुत किया है और ग्रन्थ का सन्दर्भ भी दिया है। एक-एक सूत्र पर अनेक प्रश्न बनाये हैं। किसी-किसी सूत्र पर तो सौ से भी अधिक प्रश्नोत्तर संकलित हैं। ग्रन्थों के मूल उद्धरणों को प्रस्तुत करने के बाद भी आवश्यक समझ कतिपय पादटिप्पण दिये हैं। विषय को स्पष्ट करने के लिए तालिकाएँ भी निर्मित की गई हैं, ऐसी कुल तालिकाएँ ५५ हैं। प्रस्तुत प्रथम खण्ड में एक से चार अध्यायों के मूल सूत्र, उनका अन्वयार्थ, अर्थ और सूत्ररचना का प्रयोजन स्पष्ट करने के बाद तत्सूत्र सम्बन्धी सभी सम्भावित प्रश्नों और उनके उत्तरों का सुष्ठु संकलन है। प्रत्येक अध्याय के पूर्व संक्षेप में सूत्रों का विषय-क्रम उल्लिखित हुआ है। प्रथम चार अध्यायों – जिनमें मात्र जीवतत्त्व का विवेचन है- के कुल प्रश्नोत्तरों की संख्या २१०९ है। सूत्र में संक्षिप्तीकृत विषय प्रश्नोत्तरों के माध्यम से विस्तार से स्पष्ट किया गया है जिससे अनेक जिज्ञासाओं का स्वत: समाधान हो जाता है। ग्रन्थ की प्रकृति को देखते हुए इसे तत्त्वार्थसूत्र सम्बन्धी जिज्ञासा-समाधान कोश की संज्ञा भी दी जा सकती है। निश्चय ही, पूज्य माताजी की यह कृति स्वाध्यायियों की सराहना का विषय बनेगी। अपने दीक्षाकाल से अद्यावधि पर्यन्त पूज्य आर्यिकाश्री ने अभीक्ष्ण ज्ञानाराधना के फलस्वरूप जो वैदुष्य प्राप्त किया है, निश्चित ही वह उनके असाधारण आत्मबल का परिचायक है। मैं तो यह मानता हूँ कि यह इनके तपश्चरण का ही प्रभाव है कि इनके ज्ञान में आश्चर्यजनक वृद्धि हो रही है। मैं पूज्य आर्यिका श्री विज्ञानमती माताजी के श्रीचरणों में सविनय वन्दामि निवेदन करता हूँ।

संघस्थ **आर्यिकाश्री आदित्यमती माताजी** ने अपनी दीक्षा गुरु पूज्य बड़े माताजी का संक्षिप्त जीवन-परिचय व एक साथ दीक्षित पाँच आर्यिकाओं का अतिसंक्षिप्त पद्यात्मक परिचय लिखा है तथा '**कृति के सन्दर्भ में**' लेख के माध्यम से बहुमूल्य किन्तु अतिगोपनीय 'मञ्जूषा' को प्रकाश में लाने की पृष्ठभूमि पर प्रकाश डाला है। प्रस्तुत गम्भीर सिद्धान्तग्रन्थ के सम्पादन-प्रकाशन का भार मुझ अल्पज्ञ पर डाल कर आर्यिका संघ ने जो अनुग्रह मुझ पर किया है और फलस्वरूप जिनवाणी की सेवा का जो अवसर मुझे प्रदान किया है, उसके लिए मैं पूज्य आर्यिका विज्ञानमती माताजी व उनके संघस्थ सभी आर्यिकाओं का चिरकृतज्ञ हूँ। मुझमें कार्य-निष्पादन की वैसी क्षमता नहीं, जो कुछ सम्भव हुआ है उसमें गुरुकृपा की ही प्रधानता है। मैं पूज्य माताजी व संघस्थ आर्यिकावृन्द के श्रीचरणों में सविनय वन्दामि निवेदन करता हूँ और अपेक्षा करता हूँ कि संघ के माध्यम से जिनवाणी के हार्द को प्रस्तुत करने वाली ऐसी प्रामाणिक रचनाओं की प्रस्तुति का क्रम बना रहे।

ग्रन्थ के प्रकाशन में **श्री दिगम्बर जैन समाज, आरौन (गुना-म.प्र.)** ने पूर्ण आर्थिक सहयोग प्रदान कर जिनवाणी के प्रचार-प्रसार में अपनी महती निष्ठा प्रकट की है। पूज्य आर्यिका संघ का सन् २००२ का वर्षायोग विशेष प्रभावनापूर्वक आरौन में सम्पन्न हुआ था जिसका संक्षिप्त विवरण श्री भारत जैन ने प्रस्तुत किया है। मैं श्रीयुत **धनकुमार जी कांसल** अध्यक्ष, दिगम्बर जैन समाज, **श्री भारत जैन, श्री संजीव जैन** (पूजा परिधान) व समाज के सभी सदस्यों को हार्दिक धन्यवाद अर्पित करता हूँ।

संघस्थ ब्रह्मचारिणी बहनों – ब्र. कंचनदीदी, ब्र. कुमकुम आदि ने पत्रों के माध्यम से व दूरभाष पर निर्देश भेज कर मेरे कार्य को सरल किया है, एतदर्थ मैं उनका आभारी हूँ।

तालिकाओं और गणितीय वक्तव्यों से युक्त इस ग्रन्थ के सुन्दर, निर्दोष एवं सुसंयोजित कम्प्यूटरीकरण हेतु **निधि कम्प्यूटर्स, जोधपुर** के **डॉ. क्षेमंकर पाटनी** को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ। स्वच्छ एवं सुरुचिपूर्ण मुद्रण के लिए **हिन्दुस्तान प्रिंटिंग हाउस** के कर्मचारी धन्यवादार्ह हैं।

पुनः, इन सभी श्रमशील पुण्यात्माओं के प्रति हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ और अपने प्रमाद एवं अज्ञान से ग्रन्थ के सम्पादन-प्रकाशन में रही कमियों के लिए सविनय क्षमा चाहता हूँ। विद्वद्गण सौहार्द भाव से ग्रन्थ की कमियों से मुझे अवगत कराने का कष्ट करेंगे तो उनकी महती अनुकम्पा होगी- **को न विमुह्यति शास्त्रसमुद्रे**।

विनीत

डॉ. चेतनप्रकाश पाटनी
'अविरल', ५४-५५, इन्द्रा विहार
न्यू पावर हाउस रोड, जोधपुर

वसन्त पंचमी
१३ फरवरी, २००५

॥ श्रीवीतरागाय नमः ॥

❋ स्वकथ्य ❋

भगवान महावीर स्वामी की दिव्य देशना से प्राप्त श्रुत की परम्परा लगभग छब्बीस सौ वर्षों से अविरल चली आ रही है। भगवान की दिव्यध्वनि को प्रथम गणधर परमपूज्य गौतम स्वामी ने द्वादशांग में गूँथा था। उसके पश्चात् भगवन्त धरसेन स्वामी, भूतबली और पुष्पदन्त स्वामी, आचार्य कुन्दकुन्द देव, आचार्य उमा स्वामी और आचार्य पूज्यपाद आदि सूरीश्वरों ने अनेक ग्रंथों में लिपिबद्ध किया। उन्हीं ग्रन्थों में से परम आदरणीय, सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण, द्वादशांग के सारभूत चारों अनुयोगों को अपने में समेटे हुए, मोक्षमार्ग के प्रारंभ से मुक्ति की मंजिल तक पहुँचने का वर्णन जिसमें सूत्रात्मक रूप से कहा गया है, ऐसा एक ग्रन्थ है उमा स्वामी आचार्य प्रणीत **तत्त्वार्थसूत्र** कहा जाता है कि जैन आगम ग्रन्थों में संस्कृत भाषा में सर्व प्रथम इस ग्रन्थ की रचना हुई है। यह ग्रन्थ सूत्रात्मक है। सूत्र का लक्षण बताते हुए कहा है :

अल्पाक्षरं असंदिग्धं, सारवद् विश्वतो मुखं।
अस्तोभमनवद्यं च, सूत्रं सूत्रविदो विदुः ॥१॥
संज्ञा च परिभाषा च, विधिर्नियम एव च।
अतिदेशो अधिकारश्च, षट्विधं सूत्रलक्षणम् ॥२॥

तत्त्वार्थसूत्र में सूत्र के उपर्युक्त सभी लक्षण अच्छी तरह से घटित होते हैं। इस ग्रन्थ पर पूर्व में अनेक आचार्यों ने टीकाएँ लिखी हैं। उनमें से आचार्य समंतभद्र स्वामी कृत **गंधहस्ति महाभाष्य** आज अनुपलब्ध है। उपलब्ध टीकाओं में आचार्य पूज्यपाद स्वामी की सर्वार्थसिद्धि, आ. अकलंकदेव की तत्त्वार्थवार्तिक (राजवार्तिक) और आ. विद्यानंद स्वामी कृत श्लोकवार्तिक टीका मुख्य हैं। ये सब टीकाएँ संस्कृत भाषा में हैं और पूर्ण गंभीरता के साथ लिखी गई हैं। अतः सामान्य व्यक्तियों को बहुत क्लिष्ट लगती हैं। उन्हें इनका अर्थ समझना बहुत कठिन लगता है। यद्यपि इन सबका हिन्दी अनुवाद हो चुका है तथापि इनकी अनूदित हिन्दी को समझना भी अल्पबुद्धियों के लिए साध्य नहीं है। मैंने भी इन ग्रन्थों का अवलोकन किया, मुझे आर्यिकाश्री **(स्व.) विशालमती माताजी** ने भी पढ़ाया, लेकिन मैं उन्हें अच्छी तरह से नहीं समझ पाई तो मुझे लगा कि 'तत्त्वार्थ सूत्र' संबंधी विषय का, अनेक ग्रंथों के आधार पर सरल प्रश्न-उत्तर के रूप में संग्रह किया जावे, जिससे मेरे जैसे अल्पबुद्धि जिज्ञासु भी 'श्लोकवार्तिक' आदि को कुछ अंशों में समझ पावें और इन महान् ग्रंथों के प्रति उनका आकर्षण बढ़े, उनमें भी इतना आत्मविश्वास उत्पन्न हो कि हम भी **तत्त्वार्थ वार्तिक, सर्वार्थसिद्धि** जैसे महान् ग्रन्थों को समझ सकते हैं, इसी बहाने उपयोग विशेष रूप से श्रुत की आराधना में लगा रहेगा तथा पूर्व में परम पूज्य आचार्यों ने अपनी साधना के समय में से समय निकालकर हम सबका जो उपकार किया है, उनके प्रति हम भी कुछ कर्त्तव्य निभा कर कृतज्ञता अभिव्यक्त कर सकेंगे, अस्तु।

मुझे बचपन से ही इस सूत्रराज **तत्त्वार्थसूत्र** पर अतिभक्ति एवं गाढ़ श्रद्धा है। एक दिन, दशलक्षण पर्व में सूत्रराज की पूजा होनी थी। वहाँ जितने लोग उपस्थित थे उनमें से कोई भी सूत्रराज का शुद्धवाचन करना नहीं जानता था, इसलिए सभी पाठ करने के लिए एक दूसरे को प्रेरित कर रहे थे। मैं भी वहीं खड़ी थी। यह सब देखकर मेरे मन में ठेस लगी। मैंने उसी समय सोच लिया कि मैं तत्त्वार्थसूत्र अवश्य पढ़ूँगी। पुण्ययोग से कुछ ही दिन पश्चात् नगर में परम पूज्य आचार्यकल्प श्री सन्मतिसागर जी महाराज का आगमन हुआ। उनके संघ में परम पूज्या आर्यिकाश्री चन्द्रमती माताजी भी थे। वे सबको पढ़ाते थे। मैं भी उनके पास पहुँच गई। पढ़ाने हेतु निवेदन किया। उन्होंने मुझे (सार्थ) भक्तामर स्तोत्र पढ़ाया और बाद में विहार का समय निकट होने से सूत्रराज का मात्र वाचन ही सिखाया। मैं वाचन सीखकर भी बहुत प्रसन्न थी। मुझे गौरव था कि मैंने एक आर्यिकाश्री से **तत्त्वार्थसूत्र** का वाचन सीखा है, लेकिन उसका अर्थ तो मुझे आता ही नहीं है, इसका दु:ख भी हमेशा बना रहता था। वर्ष- दर-वर्ष गुजरते चले गये, लेकिन ऐसा मौका नहीं आया कि मुझे **तत्त्वार्थसूत्र** का अर्थ पढ़ने को मिलता। इसमें मैं अपना प्रमाद ही मुख्य मानती हूँ। आखिर अवसर आया। परमपूज्य आचार्य श्री ज्ञानसागर जी महाराज के द्वितीय शिष्य आचार्यकल्प श्री विवेकसागरजी महाराज का चातुर्मास हुआ। उनके संघ में आदरणीया तीन ब्रह्मचारिणी बहनें थीं। वर्षायोग के लगभग २-२ $\frac{१}{२}$ माह निकल गये, मैंने उनसे कुछ भी नहीं लिया, मात्र प्रवचन सुने। आखिर योग आ ही गया। **ब्र. कुसुमदीदी** ने **तत्त्वार्थसूत्र** की कक्षा प्रारंभ की। मैंने भी उसमें भाग लिया। मैंने जैसे-तैसे परिस्थितियों का सामना करते हुए अर्थ सहित **तत्त्वार्थ सूत्र** पढ़ ही लिया। पढ़ ही लिया नहीं वरन् मेरा जीवन ही वैराग्य की ओर मुड़ गया। तब से मुझे हमेशा लगता था कि मेरे जीवन-उत्थान का मूल स्रोत जो **तत्त्वार्थसूत्र** ग्रन्थ है, उसके सम्बन्ध में मुझे कुछ ऐसा काम करना चाहिए जिससे जन-जन इसके पास पहुँच सके। आर्यिका व्रत ग्रहण करने के बाद मैंने बहुत बार श्रावकों को पढ़ाने का भी प्रयास किया लेकिन मुझ में इतनी बुद्धि कहाँ कि मैं किसी को अच्छी तरह पढ़ा सकूँ, अस्तु।

एक दिन सागर नगर में एक महिला ने आर्यिकाश्री विशालमती माताजी से निवेदन किया कि माता जी! आप **तत्त्वार्थसूत्र** पर कुछ छोटे-छोटे प्रश्न-उत्तर लिख दीजिए ताकि हम लोग भी तत्त्वार्थ सूत्र के बारे में कुछ जान सकें। आर्यिकाश्री ने मुझे कहा - ''मेरा स्वास्थ्य अच्छा नहीं रहता है। यह काम आप कर लो, हो जायेगा।'' मैंने उनके आशीर्वाद से जिनेन्द्रदेव एवं गुरुओं को नमस्कार कर कार्य शुरू कर दिया। छोटे-छोटे प्रश्नोत्तरों का संकलन प्रारंभ कर दिया, लेकिन संतुष्टि नहीं हो रही थी, इसलिए प्रश्न तथा उनके उत्तर विस्तृत होते जा रहे थे। बीच-बीच में आर्यिकाश्री के स्वास्थ्य, विहार आदि के कारण कार्य मन्द पड़ जाता। इस प्रकार इस कार्य को सम्पन्न होने में ११-१२ वर्ष लग गये। इसके सम्पन्न होने में **संत शिरोमणि आचार्य गुरुवर विद्यासागर जी महाराज** का आशीर्वाद ही कारण है। उन्होंने सन् १९९३ में जबलपुर में मेरी पहली कॉपी के कुछ पृष्ठों को देख कर संकेत रूप में कुछ निर्देशन दिये और आशीर्वाद भी दिया तभी से मुझे विश्वास हो गया था कि काम निश्चित रूप से पूरा हो जायेगा। उसी गुरुकृपा से आज यह पूर्णता को प्राप्त हो रहा है। उनके चरणों में मेरा सिद्ध आदि भक्तिपूर्वक त्रिकाल नमोस्तु.....।

इस महत् कार्य के पूरा होने में दूसरा कारण है (स्व.) **आर्यिका श्री विशालमती माताजी** के द्वारा समय-समय पर दिये गये निर्देशन एवं प्रोत्साहन। उनको मेरा सविनय वंदन। तीसरा कारण है- नसीराबाद के दो चातुर्मासों में **बेला बहिन** के द्वारा नगर के बाहर से आवश्यक शास्त्रों को उपलब्ध करवाना तथा **समाज के द्वारा योग्य वैयावृत्ति** । चौथा कारण है वे **संघस्थ बहिनें** जिन्होंने मुझे सभी अध्यायों के प्रमाणों को मिलाने के लिए तीर्थराज सम्मेदशिखर पुस्तकालय में जाकर और जो शास्त्र पुस्तकालय में नहीं थे उनको अन्य पुस्तकालयों से मंगवाकर और कई दिनों तक स्वयं मेरे साथ घंटों बैठकर अनुपम सहयोग दिया। शायद यह भी एक कारण रहा कि उनके पुण्य में इतनी वृद्धि हो गई कि उन्होंने उस शाश्वत सिद्धक्षेत्र में ही आर्यिका के व्रत ग्रहण कर लिये। और अंतिम कारण हैं पंडितजी **डॉ. चेतनप्रकाशजी पाटनी** जिन्होंने मेरे लिखे ऐसे अक्षर जिनको पढ़ना भी कठिन लगता है, कोई प्रश्न आगे लिखा है तो कोई पीछे, कहीं कागज के टुकड़े पर प्रश्न लिखकर चिपकाया है तो कहीं संकेत चिह्न लगाकर प्रश्न लिखे हैं, अर्थात् बहुत उलझी हुई कॉपियों से भी इतना सुन्दर सम्पादन करके सभी प्रश्न-उत्तरों को क्रमश: यथास्थान नियोजित कर स्वाध्याय के लिए सरल बना दिया है। मुझे तो लगता है कि पंडितजी जिनवाणी की इतनी नि:स्वार्थ सेवा करते हैं, उसके फल में शीघ्र ही केवलज्योति को प्राप्त करेंगे।

परम पूज्य **मुनिश्री क्षमासागर जी महाराज** ने भी एक बार कॉपियों का अवलोकन करके मुझे आवश्यक निर्देशन दिये, मैं उनको भी नहीं भूल सकती, उनको बारम्बार नमोस्तु.....। और भी अनेक लोगों ने इस कार्य के पूर्ण होने में परोक्ष-प्रत्यक्ष सहयोग दिया है। उन सबके दु:खों का क्षय हो, कर्मों का क्षय हो, उनको बोधि और समाधि की प्राप्ति हो, उनके प्रति मेरी यही भावना है।

श्री धवला, जयधवला, तत्त्वार्थवार्तिक, सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, मूलाचार, तिलोयपण्णत्ति, वरांगचरित्र, भगवती आराधना, महापुराण, जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश आदि शताधिक ग्रंथों की सहायता से ही यह विशाल कार्य सरलता से पूर्ण हुआ है। अधिकांश पादटिप्पण (फुटनोट) परम पूज्य महाकवि **आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज** की **तत्त्वार्थ दीपिका** एवं **संत शिरोमणि आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज** के विचारों के अनुसार लिखे गये हैं। सभी ग्रन्थों, ग्रन्थकर्त्ताओं, टीकाकारों, भाषानुवादकों और सम्पादकों के प्रति भी मेरी यथायोग्य विनय। शुभं भूयात् –

– आर्यिका विज्ञानमती

卐 卐 卐

कृति के संदर्भ में.....

परम पूज्य १०८ दिगम्बर जैनाचार्य **श्री ज्ञानसागर जी महाराज** के द्वितीय शिष्य **आचार्यकल्प श्री १०८ विवेकसागर जी महाराज** की शिष्या परमपूज्य **आर्यिकाश्री विज्ञानमती माताजी** को **तत्त्वार्थ मञ्जूषा** का लेखनकार्य करते हुए मैंने तब से देखा है जब से मैंने सच्चे धर्म का स्वरूप समझा है। उस समय मैं जैनधर्म के मूलभूत सिद्धान्तों से भी पूर्णत: अनभिज्ञ थी, क्योंकि न मैंने कभी स्वाध्याय किया था, न कभी साधु-सम्पर्क में रही थी और न ही घर में ऐसा माहौल था। जब मैंने मोक्षमार्ग में बढ़ने के लिए आर्यिका-संघ में प्रवेश किया, तब भी मुझे 'तत्त्वार्थ-सूत्र' के संबंध में विशेष जानकारी नहीं थी। बस, इतना जानती थी कि आर्यिकाश्री बड़े-बड़े (धवला, जयधवला, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक, सर्वार्थसिद्धि आदि) ग्रन्थों का अवलोकन करके कुछ नोट करती रहती हैं और कहीं-कहीं पर पूज्य बड़े माताजी (पूज्य आर्यिका श्री विशालमती माताजी) से चर्चा भी करती रहती हैं। मैं प्रतिदिन इस प्रकार देखती रहती लेकिन देखने के बाद भी मन में कभी ऐसा विचार नहीं आया कि मैं पूज्य आर्यिकाश्री से पूछ लूँ कि आप पूरे दिन क्या करती रहती हैं और पूज्य बड़े माताजी से क्या पूछती रहती हैं।

इसी बीच नियति का एक जोर का झटका लगा और पूज्य आर्यिका श्री विशालमती माताजी की अस्वस्थता से आकस्मिक सल्लेखना हो गयी, जिससे पूज्य आर्यिकाश्री के मन के साथ-साथ इस कार्य को भी भारी क्षति पहुँची। तथापि पूज्य आर्यिका विज्ञानमती माताजी अपने अदम्य साहस एवं अद्भुत धैर्य के साथ संघ का संचालन करते हुए पूज्य बड़े माताजी से प्रेरित कार्य को दृढ़ता और स्वयं की सूझ-बूझ से पूर्ण करने में संलग्न रहीं।

दस अध्यायों की एक-एक प्रति बनकर पूरी हो चुकी थी। दूसरी प्रति नियोजित करने का कार्य चल रहा था, तभी एक दिन ओबेदुल्ला गंज (भोपाल, म.प्र.) में मैंने पूज्य माताजी से कहा कि मेरा पुराण का स्वाध्याय पूरा हो गया है, अब कौनसा पुराण पढ़ूँ ? तब आपने मुझसे कहा कि पुराण ग्रन्थ ही पढ़ती रहोगी या कोई सिद्धान्त-ग्रन्थ भी पढ़ोगी ? तब मैंने आपसे पूछा कि आप ही बता दीजिए, मैं कौनसे ग्रन्थ का स्वाध्याय प्रारम्भ करूँ जो मेरी समझ में आ सके। तब पूज्य आर्यिकाश्री ने कहा – तुम मेरी तत्त्वार्थ-सूत्र के प्रश्नोत्तर वाली कॉपी पढ़ो और पढ़कर मुझे भी सुनाओ। मैंने पहले अध्याय की कॉपी पढ़ी और पूज्य आर्यिकाश्री को सुनायी। मुझे बहुत अच्छा लगा। मेरा मन कॉपी छोड़ने को नहीं हो रहा था, ऐसा लगता था कि सभी कॉपियाँ एक साथ पढ़ लूँ..... इस प्रकार **तत्त्वार्थमञ्जूषा** के प्रति मेरा आकर्षण बढ़ता गया। जब २-३ कॉपियाँ पढ़ीं तो ऐसा लगा कि यह संकलन ग्रन्थ रूप में प्रकाशित होकर प्रत्येक विद्वान् एवं 'तत्त्वार्थ' के जिज्ञासु को पढ़ने को मिलना चाहिए। इन कॉपियों को पढ़कर जब मुझ जैसी अनभिज्ञ को भी सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक, धवलादि ग्रन्थों को पढ़ने की रुचि उत्पन्न हुई है तो फिर विद्वानों के लिए तो क्या कह सकते हैं।

एक दिन भूमिका बनाकर मैंने धीरे से पूज्य आर्यिकाश्री से पूछा – यह कब तक निकलेगी ? तो पूज्य आर्यिकाश्री बोलीं-अभी तो बहुत काम है और क्या करना है प्रकाशन करवाकर ? मैंने तो यह लेखन अपने शुभोपयोग के लिए किया है। सुनकर अवाक् रह गई मैं। सोचा, सत्य है महान् आत्माएँ ख्याति, पूजा, लाभ,

प्रतिष्ठा से दूर रहकर आत्मसाधना के लिए अपनी प्रवृत्तियाँ करते हैं। तभी तो इतना महत् कार्य और प्रकाशन के भाव भी नहीं। उस समय तो मैंने मौन धारण कर लिया किन्तु इस प्रसंग से मेरी श्रद्धा पूज्य आर्यिकाश्री के प्रति और पुष्ट हो गई।

मेरी जिज्ञासा को देखते हुए पूज्य आर्यिकाश्री ने, उसमें जो अनेक ग्रन्थों से उद्धरण लिये हैं, उनका मिलान करने के लिए मुझे कहा। इस कार्य को करने हेतु मुझे विशालकाय लगभग ६०-७० ग्रन्थों के अवलोकन करने का सौभाग्य मिला और तभी से मुझे सिद्धान्त भी कुछ-कुछ समझ में आने लगा। इस अवधि में बार-बार मेरे मन में ये विचार भी आते रहते कि भले ही पूज्य आर्यिकाश्री की इच्छा नहीं है किन्तु हम जैसे अल्पबुद्धि वालों के लिए इसका प्रकाशन आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है।

सम्मेदशिखर सिद्धक्षेत्र में वर्षायोग के दौरान मिलान का कार्य भी पूरा हो गया। एक दिन मैंने साहस करके पूज्य आर्यिकाश्री से निवेदन किया कि माताजी! **तत्त्वार्थ-मञ्जूषा** का सम्पादन किससे करवाना है, क्योंकि बहुत बार कई लोगों ने पूज्य माताजी से प्रकाशन हेतु कॉपियाँ मांगी थीं परन्तु माताजी ने इस सम्बंध में कोई रुचि नहीं दिखायी। अब भी उनका वही उत्तर था कि वेष्टन में बाँधकर किसी जिनालय में या ग्रन्थालय में रख दो, अपने को क्या करना है। तब संघस्थ हम सभी ने सोचा, क्या करें ? किसके पास भेजें ? किससे पूछें ? कुछ भी समझ नहीं पा रहे थे। तभी बात-बात में एक दिन पूज्य आर्यिकाश्री की नयी सोच सामने आई कि एक-एक कॉपी विद्वानों को दे देंगे तो वे भी शुभोपयोग में लगेंगे। जैसे ही उनकी यह सोच हमारी समझ में आई तो हमने दसों अध्यायों की वे अव्यवस्थित कॉपियाँ इकट्ठी करके रख लीं और **शील मञ्जूषा** का सम्पादन करने वाले पण्डितजी **डॉ. चेतनप्रकाश जी पाटनी** के पास भिजवा दीं क्योंकि 'शील-मञ्जूषा' का आपके द्वारा किया हुआ सम्पादन सभी को बहुत अच्छा लगा था।

जिन स्थितियों में कॉपियाँ भिजवाई गई थीं तब उनकी प्रेसकॉपी बनाने का अवसर भी नहीं था, पाण्डुलिपि बन नहीं पायी थी अत: सम्पादक पण्डितजी को बहुत श्रम करना पड़ा है। श्रमनिष्ठ पण्डितजी की मेहनत रंग लाई और ग्रन्थ का पहला खण्ड प्रकाशित होकर आपके हाथों में पहुँच रहा है। पण्डितजी सा., जिन्होंने संघस्थ हम सभी की भावनाओं का आदर करते हुए सम्पादन का शुभ कार्य किया है, प्रशंसा के तो पात्र हैं ही, श्रुत की नि:स्वार्थ सेवा करने वाले वे निश्चित ही कुछ भवों में कैवल्य ज्योति को प्राप्त करें, ऐसी हमारी भावना है। साथ ही **निधि कम्प्यूटर्स** और **प्रेस** के सहयोगियों को भी जिनेन्द्र भगवान का मार्ग हमेशा-हमेशा मिलता रहे और गुरुओं के आशीष से उनका जीवन इस लोक, परलोक में सुख-शांति से बीते। **श्री दि. जैन समाज, आरौन (म.प्र.)** जिसने हम पाँच आर्यिकाओं के प्रथम दीक्षा दिवस के उपलक्ष्य में इस ग्रन्थ के प्रकाशन में अर्थ सहयोग किया है, प्रशंसा की पात्र है, गुरुओं के आशीर्वाद से उन्हें भविष्य में भी जिनवाणी की ऐसी सेवा करने का सौभाग्य मिलता रहे, यही कामना है।

इति शुभम्।

गुरुचरणानुरागी

आर्यिका आदित्यमती

पूज्य १०५ आर्यिका श्री विज्ञानमती माताजी
(संक्षिप्त परिचय)

स जातो येन जातेन याति धर्मं समुन्नतिम्।
अस्मिन् असारसंसारे मृतः को वा न जायते॥

'रत्नगर्भा वसुन्धरा', किन्तु वसुन्धरा जन्म देती है 'जड़' रत्नों को और कोमलाङ्गी, ममतामूर्ति नारी जन्म देती है 'चेतन' रत्नों को जिनसे घर-आंगन ही नहीं, ग्राम, नगर, प्रान्त, देश तक जगमगा उठते हैं। नारी अपने विविध रूपों में माँ, बहिन, पुत्री, पत्नी, वधू के रूप में सदैव पुरुष की प्रेरणा स्रोत रही है। पर सर्वाधिक प्रभावशाली और चिर स्मरणीय रूप में उसका 'माँ' का स्वरूप सर्वोपरि है। कहा भी है- 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।'

माँ ही शिशु को गर्भ से संस्कारित करती है और उसे अपनी इच्छानुसार ढाल सकती है, वह चाहे तो उसे लोकपूज्य बनने में सहायक हो सकती है और चाहे तो लोकनिन्द्य बनने में भी। ऐसा ही एक विलक्षण लोकपूज्य व्यक्तित्व हमारे बीच है जिनकी माँ ने उन्हें गर्भावस्था में ही समता, संयम, त्याग, परोपकार और वात्सल्य की शिक्षा दी और सिखाया कि 'संसार में जीव अकेला ही आता है और अकेला ही विदा होता है।' 'सुख-दुःख का भोक्ता जीव स्वयं है।' ऐसी शिक्षाओं से संस्कृत उस व्यक्तित्व का वर्तमान में नाम है **आर्यिका १०५ श्री विज्ञानमती माताजी** जो विगत दो दशक से आर्यिका व्रतों का निर्दोष रूप से पालन करते हुए स्व-पर कल्याण में निरत हैं।

ममतामयी माँ ने शैशवास्था में 'लीला' में जो बीज-वपन किया, बाल्यावस्था में वह देवदर्शन और साधु-समागम के माध्यम से पल्लवित हुआ। एक दिन श्रीमन्दिरजी में जब आप पूज्य **आर्यिका १०५ चन्द्रमती माताजी** के दर्शन कर रही थीं, तब आप शायद चौदह वर्ष की रही होंगी, एक महिला दर्शनार्थी ने माताजी से पूछा कि 'माताजी ! स्त्रीवेद का छेद कैसे हो सकता है ?' तो उनका उत्तर था ''आर्यिका के व्रत अंगीकार करने से ही स्त्रीलिंग का छेद हो सकता है।'' यह उत्तर सुनकर लीला ने मन-ही-मन निश्चय कर लिया कि मैं भी आर्यिका के व्रत अवश्य ग्रहण करूंगी।

समय निकलता गया, परिस्थितिवश अठारह वर्ष की अवस्था में एक सजातीय संभ्रान्त युवक से लीला का शुभ लग्न सम्पन्न हुआ किन्तु दाम्पत्य जीवन में आप अनुरक्त न हो सकीं और ससुराल में कुछ रूढ़ परम्पराओं को मानने से आपने स्पष्ट मना कर दिया। आपने नयी वधू होकर भी अपने बड़े बुजुर्गों के सामने दृढ़ता पूर्वक यह निवेदन किया कि ''मैं सच्चे देवशास्त्र गुरु के अलावा धार्मिक मान्यता से किसी अन्य को नमस्कार नहीं कर सकती।''

आपके तीव्र पुण्योदय से तभी आपके गृहनगर - भीण्डर में परम तपस्वी **मुनिराज १०८ श्री विवेकसागर जी** का वर्षायोग स्थापित हुआ। वर्षायोग में 'तीन लोक मण्डल विधान' का आयोजन हुआ। संघस्थ **ब्रह्मचारिणी कुसुम दीदी** ने तीन लोक की रचना समझाई। तभी आपने ठान लिया कि 'मुझे घर में नहीं रहना है।' वैराग्य का अंकुरण तो पहले से ही था, उसे सिंचित किया इस मण्डल विधान ने और इसमें खाद रूप सामग्री डाली 'तत्त्वार्थ सूत्र' ग्रन्थ के अध्ययन ने। पूज्य महाराजश्री और उनकी संघस्था ब्र. कुसुम दीदी से लीला बहुत प्रभावित हुईं और मन-ही-मन उनके अधिकाधिक सान्निध्य का सपना संजोने लगी।

परम पूज्य मुनिश्री विवेकसागर जी महाराज का यह वर्षायोग-सान्निध्य 'लीला' की दृढ़ता को और पुष्ट कर गया। मानों मुनिश्री कह गये हों - ''लीला ! घबराना नहीं, तुम आ जाना जब चाहो, मेरा आशीर्वाद सदैव तुम्हारे साथ है।''

तपस्वी सन्तों का आशीर्वाद निष्फल नहीं जाता, पूज्य विवेकसागर जी महाराज कठोर तपस्वी थे- उनका आशीर्वाद फलना ही था। 'लीला' गृहत्याग को तत्पर हो गई। घर, परिवार और समाज के सदस्यों ने आपको बहुत समझाने और घर में अटकाने का प्रयत्न किया परन्तु आपके सच्चे वैराग्य के सम्मुख सबका प्रयास बौना साबित हुआ। पूज्य मुनिश्री के सान्निध्य में एक ग्रन्थ पद्मनन्दि-पंचविंशतिका का विमोचन समारोह आयोजित था भानपुरा में। भीण्डर से कुछ भक्तजन इस समारोह में सम्मिलित हुए थे आपभी उनमें से एक थीं। पर आप समारोह में ही नहीं संघ में सम्मिलित होने की नीयत से आई थीं अत: भीण्डर नहीं लौटी। एक बार नहीं कई बार आपके परिजन आपको लेने के लिए आये पर आप मौन धारण कर लेती थीं- उनसे बात भी नहीं करती थी और महामंत्र के जाप में संलग्न हो जाती थी। विवश हो, परिजन हताश हो गये और उन्होंने संघ में ठहरने की स्वीकृति दे दी। तब से मुनिश्री का संघ ही आपका स्थायी निवास हो गया जहाँ प्यासे को भरपूर पानी मिला और आपने उसका पूर्णतया पान किया।

कुछ माह बाद ही संघस्था ब्र. कुसुम दीदी की आर्यिका दीक्षा हुई, वे अब आर्यिका १०५ विशालमती जी हो गईं। इस दीक्षा के अवसर पर ही आपने यथाशीघ्र आर्यिका के व्रत ग्रहण करने का मन-ही-मन संकल्प किया और योग्य अवसर पाकर गुरुदेव से आर्यिका दीक्षा प्रदान करने हेतु निवेदन किया। गुरुदेव ने आपकी पात्रता की परीक्षा तो पहले कर ही ली थी- कूकनवाली ग्राम में २ फरवरी, १९८५ को आपकी आर्यिका दीक्षा सम्पन्न हुई। आप **'लीला दीदी' से आर्यिका विज्ञानमती** हुईं। आर्यिका विशालमती जी को सहयोगिनी मिली तो आपको उनके रूप में सच्चा मार्गदर्शक। गुरु के मार्गदर्शन में दोनों साथ रहतीं, अनवरत ध्यान-अध्ययन में संलग्न रहतीं और आगमानुकूल कठोर चर्या में उद्यत रहतीं। तभी काल का एक झोंका ऐसा आया कि आपकी दीक्षा के डेढ़ वर्ष बाद ही गुरुदेव की समाधि हो गई।

गुरुदेव के प्रत्यक्ष मार्गदर्शन का अभाव हो गया परन्तु उनके द्वारा प्रदत्त शिक्षा, दीक्षा और

अनुशासन के नियमों से दीक्षित जीवन की प्रगति में कोई बाधा नहीं आई। पूज्य आर्यिका विशालमती जी ने बखूबी संघ का भार अपने सिर लिया। आपने उनके साथ ग्यारह वर्षायोग सम्पन्न किये। इन ग्यारह वर्षों में गहन अध्ययन-अध्यापन के माध्यम से आपके ज्ञान में प्रौढ़ता आई, तर्कणा शक्ति प्रखर हुई दर्शन एवं न्याय शास्त्रों के ठोस अध्ययन से। इसी बीच एक संघर्षपूर्ण परिस्थिति और सामने आई।

१९८६ के किशनगढ़ वर्षायोग में और उसके बाद भी यानी लगभग सात माह तक आप रोगग्रस्त रहीं किन्तु बहुत बीमारी की दशा भी आपके परिणामों में शिथिलता या संक्लेश उत्पन्न करने का साहस नहीं कर सकी। शरीर की उपेक्षा और आत्मकल्याण की भावना से तभी आपने नियम लिया कि मैं आहार में तीन रस से ज्यादा ग्रहण नहीं करूंगी। वह नियम अब 'यम' रूप बन चुका है।

आर्यिका संघ में धर्माराधना व्यवस्थित चल रही थी। अध्ययन-अध्यापन की गतिविधियाँ चरम पर थीं तभी काल ने एक और प्रहार किया। पूज्य आर्यिका श्री विशालमती माताजी की समाधि हो गई। अब तो ज्येष्ठ होने के नाते संघ का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व आप पर आ पड़ा। पर आप विचलित नहीं हुईं। अपने ज्ञानबल से आपने परिस्थितियों की समीक्षा की जिससे आप में धैर्य और साहस का संचार हुआ। अभी संघ में एक बड़ा काम और सम्पन्न होना था- नब्बे वर्षीय **आर्यिका विद्युत्मती माताजी** सल्लेखना समाधि की साधना कर रही थीं। आपने लगभग १७ माह तक नसीराबाद में रह कर बड़े साहस से आगम-निर्देशानुसार उनकी सल्लेखना करवाई। इस निर्दोष सल्लेखना के साक्षी लोगों की प्रतिक्रिया थी कि धन्य हैं आर्यिका विज्ञानमती जी जिन्होंने वयोवृद्ध आर्यिका विद्युत्मती माताजी की ठीक उसी तरह सेवा-शुश्रूषा की जिस तरह २५ वर्ष पूर्व आचार्य विद्यासागर जी ने अपने दीक्षा-शिक्षा गुरुदेव पूज्य ज्ञानसागर जी महाराज की की थी।

अब नवीन परिस्थिति सामने थी ! साथ में कोई आर्यिका नहीं रही और एकाकी रहना आगम में निषिद्ध है। क्या किया जाय ? आपने संकल्प किया कि जब तक अकेली रहूंगी तब तक आहार में केवल दो रस ही ग्रहण करूंगी - यह संकल्प आज भी बना हुआ है। धन्य हैं पूज्य माताजी, आगम ही जिनके चक्षु हैं, आगमोक्त चर्या में आपने कभी शिथिलता नहीं आने दी। तभी आपको नेमावर सिद्धक्षेत्र में आचार्यश्री के दर्शन का लाभ प्राप्त हुआ। उसके बाद आष्टा और केसली के वर्षायोग[१] के बाद कुण्डलपुर में परम पूज्य आचार्य विद्यासागर जी महाराज के दर्शन किये और उन्हीं के आशीर्वाद से तीर्थराज सम्मेदशिखर जी की यात्रा हेतु प्रस्थान किया। सम्मेदशिखर जी के दर्शनों की उत्कट अभिलाषा ने न जाने कैसी प्रेरणा दी आपको कि ग्रीष्म ऋतु और अन्तरायजन्य विषमताओं के बावजूद आप प्रतिदिन चालीस किलोमीटर चलकर मात्र ३१ दिनों में वहाँ पहुँची। ३ जुलाई २००१ को मधुवन में प्रवेश किया और

१. आर्यिका सिद्धान्तमतीजी के साथ

४ जुलाई को तीर्थराज की प्रथम वन्दना की। वहीं वर्षायोग की स्थापना हुई। सम्मेदशिखर जी का यह वर्षायोग उग्रसाधना और गहन अध्ययन पूर्वक सानन्द सम्पन्न हुआ।

अनन्त सिद्धों की निर्वाणभूमि पर परम पूजनीया आर्यिका माताजी के माध्यम से संसार-शरीर-भोगों से विरक्त पाँच ब्रह्मचारिणी बहनों ने आर्यिका के व्रत अंगीकार किये। पूजनीया आर्यिकाश्री ने उन्हें विधिवत् आर्यिका दीक्षा दी। दीक्षानन्तर सबने पर्वतराज की वन्दना की। चार-पाँच दिन बाद ही वहाँ से विहार कर पंचतीर्थों की यात्रा १५-२० दिन में सानन्द सोत्साह सम्पन्न कर बुन्देलखण्ड की ओर विहार किया। बुन्देलखण्ड के आहार जी, पपोराजी, खजुराहो, द्रोणगिरिजी आदि १९ तीर्थों की वन्दना की। कुल चालीस दिनों में १२०० कि.मी. की यात्रा परम पूज्य आचार्य गुरुवर श्री विद्यासागरजी महाराज के दर्शनार्थ नेमावर पहुँच कर पूर्ण हुई। आचार्यश्री के दर्शन करके गर्मी की तपन में भी शीतलता की अनुभूति हुई।

आर्यिका श्री विज्ञानमती माताजी अपने छोटे से संघ सहित महती धर्म प्रभावना करती हुई दक्षिण में बाहुबली क्षेत्र की ओर विहार कर रही हैं। इस वर्ष का वर्षायोग करमाला (सोलापुर-महाराष्ट-) में सम्पन्न हो रहा है।

पूज्य आर्यिकाश्री का जीवन प्रेरणा का स्रोत है और 'जहाँ चाह वहाँ राह' का निदर्शक है। वैवाहिक जीवन के बन्धनों से अत्यल्प समय में ही निकल कर आपने यही चरितार्थ किया है कि मन में उमंग, उत्साह और सच्चा वैराग्य हो तो सभी बन्धन छोटे हैं, कोई अवरोधक नहीं बन सकता। ख्याति, पूजा-प्रतिष्ठा से दूर रह कर आप अध्ययन और ध्यान को ही प्रमुखता देती हैं। आगमोक्त विशुद्ध चर्या ही आपका लक्ष्य है और इस दिशा में आप स्वयं के लिए बड़ी निर्मम हैं।

बस, यही कामना है कि आप आरोग्यपूर्ण दीर्घायु प्राप्त करें जिससे आपके माध्यम से रुचिशील जिज्ञासु जन स्वकल्याण में प्रवृत्त होकर मानव-पर्याय को सार्थक कर सकें।

धन्य है आपका जीवन जो आप
स्व-पर कल्याण में निरत हैं।
धन्य है हमारा जीवन जो हम
आपके चरणों में समर्पित हैं॥

पूज्य आर्यिकाश्री विज्ञानमती माताजी के चरण-कमलों में कोटिश: वन्दामि, वन्दामि, वन्दामि।

- आर्यिका आदित्यमती
संघस्था

卐 आर्यिका श्री विज्ञानमती माताजी : जीवन-झाँकी 卐

पूर्वनाम	:	लीला
पिताश्री	:	बालूलाल जी
माता	:	श्रीमती कमला जी
जन्मतिथि	:	मिति आश्विन शुक्ला पंचमी, सन् १९६३
जन्मस्थान	:	भीण्डर (उदयपुर-राजस्थान)
लौकिक शिक्षा	:	हाई स्कूल
परिणय	:	भीण्डर में ही, १८ वर्ष की आयु में, सन् १९८१
गृह त्याग	:	परिणय के १८ माह बाद
प्रतिमा धारण	:	अलोध में ५ प्रतिमा, कुचामन में ९ प्रतिमा के व्रत
आर्यिका दीक्षातिथि	:	२ फरवरी १९८५, कूकनवाली (कुचामन सिटी-राजस्थान)
दीक्षागुरु	:	परम पूज्य आचार्यकल्प श्री विवेकसागर जी मुनिराज
रुचियाँ	:	स्वाध्याय, तप-त्याग, चिन्तन-मनन, लेखन
विशिष्टता	:	मधुर, गम्भीर पौराणिक शैली में प्रवचन
कृतियाँ	:	**पद्यात्मक :** तत्त्वार्थसूत्र विधान, सम्मेदशिखर विधान, कल्पद्रुम मण्डल विधान, चौंसठ ऋद्धि विधान, बड़े बाबा विधान, रक्षाबंधन विधान, भूषणद्वय महाकाव्य, भक्तिपुञ्ज मञ्जूषा, सम्मेदशिखर-माहात्म्य पूजन मञ्जूषा। **गद्यात्मक :** तत्त्वार्थ मञ्जूषा १-२, चौबीस ठाणा प्रश्नोत्तरी, संस्कार मञ्जूषा १-२, शीलमञ्जूषा, सच्चे देव का स्वरूप, भोगोपभोग परिमाण विधि, पलायन क्यों, बाल संस्कार मञ्जूषा १-२।
दीक्षित शिष्याएँ	:	आर्यिका वृषभमती, आर्यिका आदित्यमती, आर्यिका पवित्रमती आर्यिका गरिमामती, आर्यिका सम्भवमती, आर्यिका वरदमती
वर्षायोग स्थल	:	१९८५ गुरुदेव के साथ मारोठ, *१९८६ मदनगंज-किशनगढ़, १९८७ अजमेर, १९८८ सिंगोली, १९८९ रामगंजमण्डी, १९९० शाहपुर, १९९१ रहली, १९९२ कटंगी, १९९३ हरदा, १९९४ नीमच, १९९५ बिजौलिया, १९९६ केकड़ी, १९९७ नसीराबाद, १९९८ नसीराबाद, १९९९ आष्टा, २००० केसली, २००१ सम्मेदशिखर, २००२ आरौन, २००३ मालथौन, २००४ करमाला, २००५ पाण्डिचेरी, २००६ श्रीरामपुर, २००७ घुवारा, २००८ तेन्दूखेड़ा, २००९ बामौरकलाँ

* १९८६ से १९९६ तक आर्यिका विशालमती जी के साथ।

卐 संघस्थ आर्यिकावृन्द* 卐

१. आर्यिका वृषभमती जी :

शाहपुर की गलियाँ छोड़ीं, विषयों से मुँह मोड़ा है,
गुरु-माता जैसी होने को, योगों से नाता जोड़ा है।
विज्ञानमती से सम्मेद-शिखर में, दीक्षा ले वृष धारा है,
बनी माधुरी **वृषभमतीजी** इनको नमन हमारा है॥

२. आर्यिका आदित्यमती जी :

'विशालमती' 'संतोष' बहिन को, देख अर्चना ने सोचा,
'रहली' में मैं रह ली अब तो, मोक्षमार्ग ही है चोखा।
सम्मेद-शिखर में भेद-ज्ञान से, **'विज्ञान'** मात की शरण गही,
चतु: भगिनी संघ दीक्षा लीनी, **आदित्यमती** जी नाम सही॥

३. आर्यिका पवित्रमती जी :

संध्या 'रहली' सम्मेदशिखर में, राग-रंग को छोड़ गयी,
रत्नत्रय को धारण करके, निज से नाता जोड़ गयी।
तन-मन पवित्र किया है इनने, दीक्षा लेकर माता से,
पवित्रमती जी नाम दिया है, **विज्ञानमती** भव-त्राता ने॥

४. आर्यिका गरिमामती जी :

मात-पिता की प्यारी बेटी, सीमा उनने नाम दिया,
भव को सीमित करने इनने, संयम पथ को धार लिया।
कर्रापुर में प्रभु-दर्शन कर, भोगों से मुख मोड़ लिया,
सम्मेदशिखर में **विज्ञानमती** ने, **गरिमामती** शुभ नाम दिया॥

५. आर्यिका संभवमती जी :

मात-पिता की छोटी बिटिया, माँ की छोटी शिष्या है,
'रहली' तज सम्मेद-शिखर में, धारी इनने दीक्षा है।
लौकिक ज्योति तजकर इनने, निज की ज्योति जगाई है,
संभवमती ने **विज्ञानमती** से, रत्नत्रय-निधि पाई है॥

* ये पाँचों दीक्षाएँ एक साथ १८ नवम्बर २००१ को तीर्थराज सम्मेदशिखर जी में संपन्न हुई थीं।

आरौन वर्षायोग - सन् २००२

हमारे पूर्वोपार्जित पुण्य के उदय से हमारे गाँव आरौन (गुना) में पूज्य आचार्य विद्यासागर जी महाराज के शुभाशीर्वाद से स्वर्गीय आचार्यकल्प मुनिश्री विवेकसागर जी महाराज की शिष्या पूज्या आर्यिका श्री १०५ विज्ञानमती माताजी का ससंघ वर्षायोग हमें प्राप्त हुआ, जिससे समस्त जनसमुदाय माताजी की असीम अनुकम्पा से सहज ही आनन्दित हो उठा। निश्चित ही वह अत्यन्त शुभ दिवस और शुभ घड़ी थी, जब चातुर्मास के मंगल-कलश की स्थापना हुई थी। वह दिन ही क्या उस वर्षायोग का प्रत्येक दिन मंगल दिवस के रूप में रहा।

वर्षायोग में अनेक मंगल आयोजन हुए। प्रतिदिन प्रात:काल में नवयुवकों को माताजी ने संस्कृत-अभिषेक-पाठ, पूजा करने की विधि, भक्तामर स्तोत्र-पाठ, प्रश्नोत्तर-रत्न-मालिका, कल्याण-आलोचना, तत्त्वार्थ-सूत्र,दर्शन-पाठ, मंगलाष्टक-स्तोत्र, सुप्रभात-स्तोत्र, एवं दोपहर में महिलाओं को रत्नकरण्ड-श्रावकाचार एवं सामूहिक रूप में शाम को छहढाला, पञ्चगुरुभक्ति आदि का अध्ययन करवाया।

दशलक्षण महापर्व में हमारे बहुत आग्रह पर माताजी के शुभ आशीर्वाद एवं सान्निध्य में **श्रावक संस्कार शिविर** का आयोजन हुआ जिसमें १५० शिविरार्थियों ने भाग लिया। उस शिविर में माताजी ने दोपहर में श्री जिनसहस्रनाम स्तोत्र एवं समाधि भावना आदि का अध्ययन करवाया व श्रावक से श्रमण बनने का क्रम समझाया। शिविर में सभी शिविरार्थियों ने अनेक प्रकार से साधना की। अनन्त चतुर्दशी के दिन १५० शिविरार्थियों ने ही नहीं बल्कि पूरे गाँव के अधिकतर श्रावकों ने उपवास किया। सामूहिक संयम की ऐसी साधना वास्तव में पूज्य माता जी की प्रेरणा का ही प्रतिफल थी। पूज्य बड़ी माताजी ने भी चातुर्मास की अवधि में ४० उपवास किये।

वीर निर्वाण महोत्सव - दीपावली पर पूज्य आर्यिका श्री १०५ विज्ञानमती माता जी की कृपा एवं प्रेरणा से एक विशाल समवसरण निर्मित कर श्री **'कल्पद्रुम महामण्डल विधान'** का आयोजन किया गया। यह विधान, मात्र विधान न रहकर एक अद्भुत अतिशयकारी धर्म-प्रभावना एवं आस्था का निमित्त बना। विधान के दौरान चक्रवर्ती की दिग्विजय यात्रा निकली जिसमें हाथी, घोड़ा आदि विभूति से सज-धज कर चक्रवर्ती ने पूरे परिकर के साथ नगर-भ्रमण किया। जगह-जगह पर, द्वार-द्वार पर चक्रवर्ती सम्राट् को श्रीफल, कपड़े, रुपये आदि की भेंट दी गई। चक्रवर्ती की दिग्विजय यात्रा इतने वैभव एवं भव्यता को

प्राप्त हुई कि पूरा नगर धर्ममय हो गया। सारा नगर पूज्य आर्यिका १०५ श्री विज्ञानमती माताजी एवं संघ के जयकारों से गूंज उठा। उस विधान के माध्यम से हम लोग दो-तीन लाख रुपये की दान-प्राप्ति का आकलन कर रहे थे, परन्तु माताजी की अद्भुत अतिशयकारी वाणी को सुनते ही जैसे कुबेर उपस्थित हो गया हो, तीस लाख रुपये से अधिक की नगद दानराशि प्राप्त हुई। इधर दानराशि की घोषणा हुई और उधर दानराशि का रुपया जमा करा दिया जाना, ये सभी प्रसंग आज भी विस्मयकारी बन कर रह गये हैं।

विधान के समापन पर जो विशाल रथ-यात्रा (गजरथ), प्रभावना शोभा-यात्रा निकाली गई उसमें श्रद्धालुओं का समूह अनेक शहरों-गाँवों से एकत्र हुआ। जिसमें जैन ही नहीं बल्कि बहुत संख्या में अजैन भी शामिल हुए और धार्मिक भावनाओं से ओत-प्रोत हुए। यह आयोजन हमारे लिए एक ऐतिहासिक कार्यक्रम रहा, जो हमारे मानस पटल पर अविस्मरणीय अनुपम स्मृतियाँ अंकित कर गया।

विधान के बाद पूज्य आर्यिका श्री विज्ञानमती माताजी द्वारा दीक्षित पाँच आर्यिकाओं का दीक्षोपरान्त प्रथम दीक्षा दिवस मनाने का सौभाग्य भी हमें प्राप्त हुआ। वर्षायोग की समापन वेला में पिच्छिका-परिवर्तन का मंगल आयोजन हुआ। शास्त्र भी भेंट किये गये। ऐसे अनेकानेक मंगल आयोजन वर्षायोग में सम्पन्न हुए। सभी आयोजनों का सानंद एवं अद्भुत धर्मप्रभावना के साथ सम्पन्न होना पूज्य आर्यिका १०५ श्री विज्ञानमती माताजी के आशीर्वाद, दृढ़ संकल्प शक्ति एवं सान्निध्य का ही सुपरिणाम था।

वर्षायोग के काल में पूज्य माताजी का लेखनकार्य भी निरन्तर चलता रहा। पूज्य माताजी ने आचार्य श्री उमास्वामी जी कृत **तत्त्वार्थसूत्र** पर आधारित एक कृति **तत्त्वार्थ-मंजूषा** का लेखन किया, जिसके प्रकाशन का आग्रह जिनवाणी के प्रचार-प्रसार की भावना से आरौन जैन समाज ने माताजी से बार-बार किया, हमें अतीव प्रसन्नता है कि इस महत्त्वपूर्ण कृति को प्रकाशित करने का सौभाग्य आज हमें प्राप्त हुआ है। ऐसी अनेकानेक कृतियों की रचना करने वाली परम उपकारी पूज्य आर्यिका श्री १०५ विज्ञानमती माताजी एवं संघस्थ सभी आर्यिकाओं के चरण-कमलों में कोटिश: वन्दामि, नमन।

- भारत जैन, आरौन

ग्रन्थ संकेत सूची

क्र.सं.	संकेत	ग्रंथ का नाम	ग्रंथकर्त्ता
१.	अ. प.	अंग पण्णत्ति/अधि.सं./गाथा संख्या	आचार्य शुभचन्द्र
२.	अ.श्रा.	अमितगति श्रावकाचार/अधि सं./गाथा संख्या	आचार्य अमितगति
३.	आ.अ.	आत्मानुशासन/अधि सं./गाथा संख्या	आचार्य गुणभद्र
४.	आप्त. प.	आप्तपरीक्षा/गाथा संख्या	आचार्य श्रीमद्विद्यानंद स्वामी
५.	आप्त. प.टी.	आप्तपरीक्षा टीका/गाथा संख्या	स्वोपज्ञ
६.	आ.प.	आलाप पद्धति/सूत्र संख्या	आचार्य श्रीमद् देवसेन
७.	आ. सा.	आचारसार/अध्याय संख्या/गाथा संख्या	आचार्य श्री वीरनन्दी सिद्धांतचक्रवर्ती
८.	आरा.सा.	आराधनासार/अध्याय संख्या/गाथा संख्या	आचार्य श्री देवसेन
९.	इ.उ.	इष्टोपदेश/गाथा संख्या	आचार्य पूज्यपाद स्वामी
१०.	उ.श्रा.	उमास्वामी श्रावकाचार/अध्याय संख्या/ गाथा संख्या	आचार्य उमा स्वामी
११.	क. प्र.	कर्म प्रकृति/गाथा संख्या	आचार्य श्री नेमिचन्द्र
१२.	का.अ.	कार्तिकेयानुप्रेक्षा/गाथा संख्या	आचार्य कार्तिकेय स्वामी
१३.	कु.का.	कुरल काव्य	एलाचार्य अपरनाम कुन्दकुन्द
१४.	क्ष.सा.	क्षपणासार/गाथा संख्या	आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती
१५.	गु.श्रा.	गुणभद्र श्रावकाचार/अध्याय संख्या/गाथा संख्या	आचार्य गुणभद्र स्वामी
१६.	गो.क.	गोम्मटसार कर्मकाण्ड/गाथा संख्या	आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती
१७.	गो.क.जी.	गोम्मटसार कर्मकाण्ड/जीवप्रबोधिनीटीका/गाथा सं.	केशव वर्णी
१८.	गो.जी.	गोम्मटसार जीवकाण्ड/गाथा संख्या	आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती
१९.	गो.जी.जी.	गोम्मटसार जीवकाण्ड/जीवप्रबोधिनीटीका/गाथा सं.	केशव वर्णी
२०.	चन्द्र चा.	चन्द्रप्रभ चरित्र/सर्ग संख्या/गाथा संख्या	आचार्य सकलकीर्ति
२१.	चा.भ.	चारित्र भक्ति/छन्द संख्या	आचार्य पूज्यपाद स्वामी
२२.	चा.पा.	चारित्र पाहुड/गाथा संख्या	आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी
२३.	चा.सा.	चारित्रसार/पृष्ठ संख्या	मुनि चामुण्डराय

क्र.सं.	संकेत	ग्रंथ का नाम	ग्रंथकर्त्ता
२४.	ज.प.	जम्बूद्वीप पण्णत्ति/गाथा संख्या	जीवविजय गणी
२५.	ज.ध.	जयधवल/पुस्तक संख्या/पृष्ठ संख्या	आचार्य वीरसेन स्वामी
२६.	ज्ञा.	ज्ञानार्णव/सर्ग संख्या/गाथा संख्या	आचार्य शुभचन्द्र
२७.	त.अ.	तत्त्वानुशासन/गाथा संख्या	आचार्य समन्तभद्र
२८.	त.सा.	तत्त्वार्थसार/अध्याय सं./गाथा संख्या	आ. अमृतचंद्र स्वामी
२९.	तत्त्व सा.	तत्त्वसार/गाथा संख्या	आचार्य देवसेन
३०.	त.सू.	तत्त्वार्थ सूत्र/अध्याय सं./सूत्र संख्या	आचार्य उमा स्वामी
३१.	त.वि.सा.	तत्त्व विचारसार/अध्याय सं./गाथा संख्या	आचार्य वसुनंदी
३२.	ति.प.	तिलोयपण्णत्ति/महाधिकार/गाथा संख्या	आचार्य यतिवृषभ
३३.	त्रि.सा.	त्रिलोकसार/गाथा संख्या	आचार्य नेमिचन्द्र
३४.	द.पा.	दर्शन पाहुड़/गाथा संख्या	आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी
३५.	द्र.सं.	द्रव्य संग्रह/गाथा संख्या	आचार्य श्री नेमिचन्द्र
३६.	द्वा.त्रि.	द्वात्रिंशतिका/श्लोक संख्या	आचार्य अमितगति
३७.	ध.पु.	धवला/पुस्तक संख्या/पृष्ठ संख्या	आचार्य वीरसेन स्वामी
३८.	धर्मा.	धर्मामृत/कथा	आचार्य नयसेन
३९.	न.च.	नयचक्र/गाथा संख्या	आचार्य माइल्ल धवल
४०.	न.च.प्रा.	नयचक्र प्राकृत/गाथा संख्या	आचार्य माइल्ल धवल
४१.	न.च.स.	नयचक्र संस्कृत/गाथा संख्या	आचार्य देवसेन
४२.	न.भ.	नन्दीश्वर भक्ति/श्लोक संख्या	आ. पूज्यपाद स्वामी
४३.	नि.सा.	नियमसार/गाथा संख्या	आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी
४४.	नि.सा.टी.	नियमसार टीका/गाथा संख्या	मुनि पद्मप्रभ मलधारीदेव
४५.	न्या.दी.	न्यायदीपिका/अधिकार संख्या	श्रीमदभिनवधर्मभूषणयति
४६.	न्या.वि.	न्याय विनिश्चय/अधिकार/पृष्ठ संख्या	आचार्य वादिराज सूरि
४७.	पं.का.	पंचास्तिकाय/गाथा संख्या	आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी
४८.	पं.का.ता.	पंचास्तिकाय/तात्पर्यवृत्ति/गाथा संख्या	आचार्य जयसेन स्वामी

क्र.सं.	संकेत	ग्रंथ का नाम	ग्रंथकर्त्ता
४९.	पं.का.ता.प्रक्षे.	पंचास्तिकाय/तात्पर्यवृत्ति/प्रक्षेपक गा. सं.	आचार्य जयसेन स्वामी
५०.	पं.का.स.	पंचास्तिकाय/समय व्याख्या/गाथा संख्या	आचार्य अमृतचंद्र स्वामी
५१.	पं.सं.	पंचसंग्रह/अधिकार/गाथा संख्या	अज्ञात
५२.	पं.सं. प्राकृत	पंचसंग्रह प्राकृत/अधिकार/गाथा संख्या	अज्ञात
५३.	पं.सं. संस्कृत	पंचसंग्रह संस्कृत/अधिकार/गाथा संख्या	आचार्य अमितगति
५४.	प.पं.	पद्मनन्दि पंचविंशतिका/अधि.सं./गाथा सं.	आचार्य पद्मनंदी
५५.	प.प्र.टी.	परमात्म प्रकाश टीका/अधि.सं./गाथा सं. /क्षेपकगाथा	आचार्य ब्रह्मदेव सूरि
५६.	प.प्र.	परमात्म प्रकाश	आचार्य योगेन्दु देव
५७.	प.प्र.टी.	परमात्म प्रकाश/टीका	आचार्य ब्रह्मदेव सूरि
५८.	प.पु.	पद्मपुराण/पर्व संख्या/श्लोक संख्या	आ.रविषेण स्वामी
५९.	प.मु.	परीक्षामुख/अधिकार संख्या/सूत्र संख्या	आचार्य माणिक्यनंदी
६०.	पा.पु.	पाण्डव पुराण/सर्ग संख्या/श्लोक संख्या	आचार्य शुभचन्द्र
६१.	पा.प्र.	पाक्षिक प्रतिक्रमण	आचार्य पूज्यपाद स्वामी
६२.	पार्श्व पु.	पार्श्वपुराण/सर्ग संख्या/श्लोक संख्या	आचार्य सकलकीर्ति
६३.	पु.सि.	पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय/गाथा संख्या	आचार्य अमृतचंद स्वामी
६४.	पू.श्रा.	पूज्यपाद श्रावकाचार/अध्याय संख्या/श्लोक संख्या	
६५.	प्र.ल.	प्रभालक्ष्म	
६६.	प्र.सा.	प्रवचनसार/गाथा संख्या	आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी
६७.	प्र.सा.आ.	प्रवचनसार/गाथा संख्या/आत्मख्याति	आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी
६८.	प्र.सा.ता.	प्रवचनसार/गाथा संख्या/तात्पर्यवृत्ति	आचार्य जयसेन स्वामी
६९.	प्र.श्रा.	प्रश्नोत्तर श्रावकाचार/अधि.सं./श्लोक सं.	भट्टारक सकलकीर्ति
७०.	प्रा.चू.	प्रायश्चित्त चूलिका	
७१.	बृ.द्र.सं.टी.	वृहद्द्रव्यसंग्रह टीका/गाथा संख्या	आचार्य ब्रह्मदेव सूरि
७२.	बा.अ.	बारस अणुवेक्खा/गाथा संख्या	आ.कुन्दकुन्द स्वामी

क्र.सं.	संकेत	ग्रंथ का नाम	ग्रंथकर्त्ता
७३.	भ.आ.	भगवती आराधना/गाथा संख्या	आचार्य शिवार्य
७४.	भ.आ.वि.	भगवती आराधना/विजयोदयटीका/गा.सं.	अपराजित सूरि
७५.	भा.पा.	भाव पाहुड/गाथा संख्या	आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी
७६.	म.क.	मरणकण्डिका/गाथा संख्या	आचार्य अमितगति
७७.	म.पु.	महापुराण/सर्ग संख्या/गाथा संख्या	आचार्य जिनसेन स्वामी
७८.	महा.पु.	महावीरपुराण/सर्ग संख्या/गाथा संख्या	आचार्य सकलकीर्ति
७९.	मल्लि पु.	मल्लिनाथ पुराण/सर्ग संख्या/गाथा संख्या	आचार्य सकलकीर्ति
८०.	मू.	मूलाचार/गाथा संख्या	आचार्य वट्टकेर
८१.	मू.आ.	मूलाचार/आचारवृत्ति/गाथा संख्या	आ. सिद्धांतचक्रवर्ती वसुनन्दी
८२.	मू.प्र.	मूलाचार प्रदीप/गाथा संख्या	आ.सकलकीर्ति
८३.	मो.पा.	मोक्ष पाहुड/गाथा संख्या	आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी
८४.	य.ति.च.	यशस्तिलक चम्पू/आश्वास संख्या/गाथा संख्या	सोमदेव सूरि
८५.	यो.सा.	योगसार/अधिकार सं./गाथा संख्या	श्रीमद् अमितगति आचार्य
८६.	र.क.श्रा.	रत्नकरण्डक श्रावकाचार/गाथा संख्या	आचार्य समंतभद्र स्वामी
८७.	र.सा.	रयणसार/गाथा संख्या	आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी
८८.	रा.वा.	राजवार्तिक/उसी सूत्रकी वार्तिक संख्या	आचार्य अकलंकदेव
८९.	रा.वा.	राजवार्तिक/अध्याय संख्या/सूत्र संख्या	आचार्य अकलंक देव
९०.	रा.वा.उ.	राजवार्तिक/उसी सूत्र की उत्थानिका (सूत्र प्रारंभ होने के पहले का प्रकरण)	आचार्य अकलंक देव
९१.	ल.सा.	लब्धिसार/गाथा संख्या	आ. नेमिचन्द्र स्वामी
९२.	लो.वि.	लोकविभाग/अधिकार गाथा	आ. सर्वनन्दि (प्राकृत) संस्कृत रूपान्तर-आचार्य सिंहसूरि
९३.	स.कौ.	सम्यक्त्व कौमुदी/अध्याय/श्लोक संख्या	अज्ञात
९४.	स.त.	समाधितंत्र/गाथा संख्या	आचार्य पूज्यपाद
९५.	सर्वा	सर्वार्थसिद्धि/वार्तिक संख्या	आचार्य पूज्यपाद स्वामी

क्र.सं.	संकेत	ग्रंथ का नाम	ग्रंथकर्त्ता
९६.	स.सा.	समयसार/गाथा संख्या	आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी
९७.	स.सा.आ.	समयसार/गाथा संख्या/आत्मख्याति टीका	आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी
९८.	स.सा.क.	समयसार कलश/कलश संख्या	आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी
९९.	स.सा.ता.	समयसार/गाथा संख्या/तात्पर्यवृत्ति	आचार्य जयसेन स्वामी
१००.	सि.भ.	सिद्धभक्ति/छन्द संख्या	आचार्य पूज्यपाद
१०१.	सि.वि.	सिद्धि विनिश्चय	आचार्य अकलंक भट्ट
१०२.	सि.सा.दी.	सिद्धांतसार दीपक/अधिकार सं./गाथा सं.	भट्टारक सकलकीर्ति
१०३.	सु.वो.त.वृ.	सुखवोधा टीका/तत्त्वार्थवृत्ति/पृ. सं.	मुनि भास्करनंदी
१०४.	सु.र.सं.	सुभाषित रत्नसंदोह/अधिकार सं./गा.सं.	आचार्य अमितगति
१०५.	सू.मु.	सूक्ति मुक्तावली/अध्याय सं./श्लोक सं.	आचार्य सोमप्रभ
१०६.	स्वयंस्त्रो.	स्वयंभूस्तोत्र/श्लोक सं./गाथा सं.	आचार्य समंतभद्र स्वामी
१०७.	शा.पु.	शान्तिनाथ पुराण/सर्ग सं./गाथा संख्या	आचार्य सकलकीर्ति
१०८.	शा.सा.स.	शास्त्रसार समुच्चय/सूत्र संख्या	आचार्य श्री माघनन्दी
१०९.	श्रु.भ.	श्रुतभक्ति/छन्द संख्या	
११०.	श्लो.वा.	श्लोकवार्तिक/पुस्तक सं./पृ. संख्या	आचार्य विद्यानंदी
१११.	हरि.पु.	हरिवंश पुराण/सर्ग संख्या/गाथा संख्या	आचार्य जिनसेन
११२.	वर्द्ध.चा.	वर्द्धमान चरित्र	असगकवि
११३.	व.चा.	वरांगचरित्र/सर्ग संख्या/गाथा संख्या	आचार्य जटासिंहनन्दी
११४.	वसु.श्रा.	वसुनन्दिश्रावकाचार	आचार्य वसुनन्दी
११५.	वी.व.च.	वीरवर्द्धमान चरित्र/सर्ग सं./श्लोक संख्या	आचार्य सकलकीर्ति
११६.	ज्ञा.	ज्ञानार्णव/सर्ग संख्या/गाथा संख्या	आचार्य शुभचन्द्र

॥ श्रीवीतरागाय नमः ॥

卐 शास्त्रस्वाध्याय का प्रारम्भिक मंगलाचरण 卐

ॐ नमः सिद्धेभ्यः! ॐ नमः सिद्धेभ्यः! ॐ नमः सिद्धेभ्यः!

ओकारं बिन्दुसंयुक्तं, नित्यं ध्यायन्ति योगिनः।
कामदं मोक्षदं चैव, ॐकाराय नमोनमः॥

अविरलशब्दघनौघ-प्रक्षालितसकल-भूतलकलङ्का।
मुनिभिरुपासिततीर्था, सरस्वती हरतु नो दुरितम्॥

अज्ञानतिमिरान्धानां, ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन, तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

❋

श्रीपरमगुरवे नमः, परम्पराचार्यगुरुभ्यो नमः। सकलकलुषविध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्धकं, धर्मसम्बन्धकं, भव्यजीवमनःप्रतिबोधकारकं, पुण्यप्रकाशकं, पापप्रणाशकमिदं शास्त्रं **'तत्त्वार्थ-मंजूषा'** नामधेयं अस्य मूलग्रन्थकर्तारः श्रीसर्वज्ञदेवास्तदुत्तरग्रन्थकर्तारः श्रीगणधरदेवाः प्रतिगणधरदेवास्तेषां वचोऽनुसारतामासाद्य पूज्य **आर्यिकाश्रीविज्ञानमती संकलितं** विरचितं इदं शास्त्रं। श्रोतारः सावधानतया शृण्वन्तु।

❋

मङ्गलं भगवान् **वीरो,** मङ्गलं **गौतमो** गणी।
मङ्गलं **कुन्दकुन्दाद्यो, जैनधर्मोऽस्तु** मङ्गलम्॥

सर्वमङ्गलमाङ्गल्यं, सर्वकल्याणकारणम्।
प्रधानं सर्वधर्माणां, जैनं जयति शासनम्॥

॥ श्रीपरमात्मने नमः ॥

॥ श्रीमहावीराय नमः ॥ ॥ श्रीवीतरागाय नमः ॥ ॥ श्रीगुरुभ्यो नमः ॥

श्री उमास्वामिविरचितम्

तत्त्वार्थसूत्रम्

तस्योपरि **पूज्य १०५ आर्यिका विज्ञानमती** संकलित

भाषा प्रश्नोत्तर संग्रह

तत्त्वार्थमञ्जूषा

卐 मंगलाचरण 卐

'महावीर' को नमन करूँ, 'ज्ञान' 'विवेक' उर लाय।
शारद 'विशाल' वन्दन करौं 'विद्या' आशिष पाय॥

गृद्धपिच्छ आचार्यकृत, गहन ग्रन्थ 'तत्त्वार्थ'।
'मञ्जूषा' संग्रह करूँ, होय सरल गूढ़ार्थ॥

卐 मंगलाचरण 卐

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये॥

अन्वय : मोक्षमार्गस्य नेतारं, कर्मभूभृतां भेत्तारं, विश्वतत्त्वानां ज्ञातारं, तद्गुणलब्धये वन्दे।

अर्थ : जो मोक्षमार्ग के नेता हैं, अग्रणी हैं, पथप्रदर्शक हैं; कर्मरूपी पर्वतों को भेदने वाले हैं और सम्पूर्ण तत्त्वों के ज्ञाता हैं, ऐसे आप्त को मैं उनके गुणों-सर्वज्ञतादि की प्राप्ति के लिए नमस्कार करता हूँ।

१. **प्रश्न : मंगल किसे कहते हैं?**

उत्तर : पुण्य, पूत, पवित्र, प्रशस्त, शिव, भद्र, क्षेम, कल्याण, शुभ और सौख्य इत्यादिक सब मंगल के ही पर्यायवाची शब्द हैं। **(ति.प. १/८)।**

यह द्रव्यमल और भावमल को गलाता है, विनष्ट करता है, घातता है, दहन करता है, हनता है, शुद्ध करता है और विध्वंस करता है इसलिए इसे मंगल कहा गया है। **(ति.प. १/९)** 'मंग' शब्द सुखवाची और पुण्य रूप पदार्थ का प्रतिपादक है, उस सुख अथवा पुण्य को लाता है वह मंगल है। इसी मंगल के द्वारा ग्रन्थकर्त्ता अपने कार्य की सिद्धि पर पहुँच जाता है। पूर्व में आचार्यों द्वारा मंगल पूर्वक ही शास्त्र का पठन-पाठन हुआ है। इसी को निश्चय से लाता है अर्थात् ग्रहण कराता है, इसलिए यह मंगल श्रेष्ठ है। **(ति.प. १/१५-१६)**। जीवों के पाप को उपचार से मल कहा जाता है। उसे यह मंगल गलाता है, विनाश को प्राप्त कराता है, इस कारण भी कोई आचार्य इसे मंगल कहते हैं। **(ति.प. १/१७)**

इस मंगल रूप आचरण को मंगलाचरण कहते हैं।

२. **प्रश्न : मल कितने प्रकार का होता है ?**

उत्तर : मल दो प्रकार का होता है - (१) द्रव्य मल (२) भाव मल। इसमें से द्रव्य मल दो प्रकार का है - (१) बाह्य द्रव्य मल (२) आभ्यन्तर द्रव्य मल। **(ति.प. १/१०)**

बाह्य द्रव्य मल - स्वेद (पसीना), रेणु (धूलि), कर्दम (कीचड़) आदि (बाह्य) द्रव्य मल कहे गये हैं।

आभ्यन्तर द्रव्य मल - दृढ़ रूप से जीव के प्रदेशों में एकक्षेत्रावगाह रूप बन्ध को प्राप्त तथा प्रकृति-स्थिति-अनुभाग और प्रदेश बन्ध के इन चार भेदों में से प्रत्येक भेद को प्राप्त होने वाला ऐसा ज्ञानावरणादि आठ प्रकार का सम्पूर्ण कर्म रूपी पाप-रज जो जीव के प्रदेशों से सम्बद्ध है वह आभ्यन्तर द्रव्य मल है।

भाव मल - जीव के अज्ञान, अदर्शन इत्यादिक परिणामों को भाव मल समझना चाहिए। **(ति.प. १/११-१३) अथवा -** मल तीन प्रकार का होता है - (१) अर्थ मल (२) अभिधान मल (३) प्रत्यय मल।

अर्थ मल - उपर्युक्त द्रव्य मल एवं भाव मल अर्थ मल हैं।

अभिधान मल - मल के वाचक शब्दों को अभिधान मल कहते हैं।

प्रत्यय मल - अर्थ मल और अभिधान मल में उत्पन्न हुई बुद्धि को प्रत्यय मल कहते हैं। **अथवा -** मल चार प्रकार का होता है :

नाम मल, स्थापना मल, द्रव्य मल और भाव मल।

अथवा - इसी प्रकार विवक्षा भेद से मल अनेक प्रकार का भी है। **(धवल. १/३४)**

३. प्रश्न : मंगल कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : सामान्य से मंगल एक प्रकार का होता है। **अथवा** - मंगल दो प्रकार का होता है - (१) मुख्य मंगल (२) गौण मंगल। **अथवा** (१) निबद्ध मंगल (२) अनिबद्ध मंगल। **अथवा** मंगल तीन प्रकार का होता है - (१) सम्यग्दर्शन (२) सम्यग्ज्ञान और (३) सम्यक् चारित्र। **अथवा** मंगल चार प्रकार का होता है–

(१) धर्म मंगल (२) अर्हन्त मंगल (३) सिद्ध मंगल (४) साधु मंगल। **अथवा** मंगल पाँच प्रकार का होता है। (१) ज्ञान मंगल (२) दर्शन मंगल, तीन गुप्ति मंगल (३) मनोगुप्ति मंगल (४) वचनगुप्ति मंगल (५) कायगुप्ति मंगल। **अथवा** ''जिनेन्द्र को नमस्कार हो'' इत्यादि रूप से मंगल अनेक प्रकार का होता है। **(ध.पु. १/४०)** आनन्द को उत्पन्न करने वाला मंगल छह प्रकार का है - (१) नाम मंगल (२) स्थापना मंगल (३) द्रव्य मंगल (४) क्षेत्र मंगल (५) काल मंगल (६) भाव मंगल **(ति.प. १/१८)**।

४. प्रश्न : मुख्य और गौण मंगल किसे कहते हैं ?

उत्तर : मुख्य मंगल - ज्ञानियों द्वारा शास्त्र के आदि, मध्य व अन्त में विघ्न निवारण करने के लिए जो जिनेन्द्र देव का गुणस्तवन किया जाता है, वह मुख्य मंगल है।

गौण मंगल - पीली सरसों, पूर्ण कलश, वन्दनमाला, छत्र, श्वेतवर्ण, दर्पण, उत्तम जाति का घोड़ा आदि ये गौण (अमुख्य) मंगल हैं **(पं. का. ता. वृ. १/१)**।

५. प्रश्न : पीली सरसों आदि को मंगल क्यों माना गया है ?

उत्तर : व्रत, नियम, संयम आदि गुणों के द्वारा साधित जिनवरों को ही समस्त अर्थ की सिद्धि हो जाने के कारण परमार्थ से सिद्ध संज्ञा प्राप्त है। इसलिए सिद्धार्थ **(पीली सरसों)** को मंगल कहते हैं। अरहंत भगवान सम्पूर्ण मनोरथों से तथा केवलज्ञान से पूर्ण हैं, इसीलिए लोक में **पूर्णकलश** मंगल माना जाता है। क्योंकि द्वार के बाहर निकलते हुए तथा उसमें प्रवेश करते हुए चौबीस तीर्थंकर वन्दनीय होते हैं, इसीलिए भरत चक्रवर्ती ने चौबीस कलियों वाली **वन्दनमाला** की रचना की थी। इसी से वह मंगलरूप समझी जाती है। जगत् के सर्व जीवों को मुक्ति दिलाने के लिए अरहंत भगवान् छत्राकार हैं अर्थात् एक मात्र आश्रय हैं। अत: सिद्धि छत्राकार है और इसीसे **छत्र** को मंगल कहा जाता है। अरहंत भगवान् का ध्यान, लेश्या व शेष अघाती कर्म ये सब क्योंकि श्वेत वर्ण के अर्थात् शुक्ल होते हैं इसीलिए लोक में **श्वेतवर्ण** को मंगल समझा जाता है। जिनेन्द्र भगवान् को केवलज्ञान में जिस प्रकार समस्त लोकालोक दिखाई देता है, उसी प्रकार दर्पण में भी उसके समक्ष रहने वाले दूर व निकट के समस्त छोटे व बड़े पदार्थ दिखाई देते हैं इसलिए **दर्पण** को मंगल जानो। जिस प्रकार वीतराग सर्वज्ञ जिनेन्द्र भगवान् लोक में मंगलरूप हैं उसी प्रकार 'हयराय' अर्थात् **उत्तम जाति का घोड़ा** और हयराय बाल-कन्या अर्थात् राग-द्वेष रहित सरल चित्त **बालकन्या** भी मंगल

है। क्योंकि 'हयराय' का अर्थ हतराग भी है और उत्तम घोड़ा भी। क्योंकि कर्म रूपी शत्रुओं को जीतकर ही जिनेन्द्र भगवान् मोक्ष को प्राप्त हुए हैं। इसीलिए शत्रु समूह पर जीत को दर्शाने वाला **चमर** मंगल कहा जाता है। **(प. का./ता. वृ. १/१ उद्धृत)**

६. प्रश्न : निबद्ध और अनिबद्ध मंगल किसे कहते हैं ?

उत्तर : निबद्ध मंगल - जो ग्रन्थ की आदि में ग्रन्थकार के द्वारा इष्टदेवता को नमस्कार निबद्ध कर दिया जाता है अर्थात् श्लोकादि रूप में रचकर लिख दिया जाता है, उसे निबद्ध मंगल कहते हैं।

अनिबद्ध मंगल - जो ग्रन्थ की आदि में ग्रन्थकार द्वारा देवता को नमस्कार निबद्ध नहीं किया जाता है उसे अनिबद्ध मंगल कहते हैं। **(ध. १/४२)**

७. प्रश्न : कौन-कौन से नाम आदि मंगल रूप हैं ?

उत्तर : नाम मंगल - वीतराग भगवान् के अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये नाम मंगल हैं।

स्थापना मंगल - जिन भगवान् के जो अकृत्रिम और कृत्रिम प्रतिबिम्ब हैं, वे सब स्थापना मंगल हैं।

द्रव्य मंगल - आचार्य, उपाध्याय और साधु के शरीर द्रव्य मंगल हैं।

क्षेत्रमंगल - गुणपरिणत आसन क्षेत्र अर्थात् जहाँ पर योगासन, वीरासन आदि विविध आसनों से तदनुकूल ध्यानाभ्यास आदि अनेक गुण प्राप्त किये गये हों ऐसा क्षेत्र, दीक्षा का क्षेत्र, केवलज्ञानोत्पत्ति का क्षेत्र इत्यादि रूप से **क्षेत्र मंगल** अनेक प्रकार का है। इस क्षेत्र मंगल के उदाहरण-पावानगर, ऊर्जयन्त और चम्पापुर आदि हैं तथा साढ़े तीन हाथ से लेकर पाँच सौ पच्चीस धनुष प्रमाण शरीर में स्थित और केवलज्ञान से व्याप्त आकाशप्रदेशों को क्षेत्र मंगल समझना चाहिए। अथवा जगच्छ्रेणी के घनमात्र अर्थात् लोकप्रमाण आत्मा के प्रदेशों से लोकपूरण समुद्घात द्वारा पूरित सभी लोकों (ऊर्ध्व, अधो व मध्य) के प्रदेश भी **क्षेत्र मंगल** हैं।

काल मंगल - जिस काल में जीव केवलज्ञानादि रूप मंगलमय पर्याय को प्राप्त करता है उसकी तथा दीक्षा काल, केवलज्ञान के उद्भव का काल और निर्वाणकाल ये सब पाप रूपी मल को गलाने का कारण होने से काल मंगल कहे गये हैं। इस प्रकार जिनमहिमा से सम्बन्ध रखने वाला काल मंगल अनेक प्रकार का है, जैसे-नन्दीश्वर द्वीप सम्बन्धी पर्व आदि।

भावमंगल - वर्तमान में मंगलरूप पर्याय से परिणत जो शुद्ध जीव द्रव्य है वह भावमंगल है। **(ति. प. १/१९-२७)**

८. प्रश्न : मंगलाचरण कहाँ-कहाँ करना चाहिए ?

उत्तर : पूर्वकालीन आचार्यों ने जो शास्त्रों का मंगल कहा है वह मंगल नियम से तीन स्थानों पर

करना चाहिए - (१) शास्त्र की आदि में, (२) शास्त्र के मध्य में और (३) शास्त्र के अन्त में। **(ति. प. १/२८)**

९. प्रश्न : मंगल करने से क्या लाभ है ?

उत्तर : शास्त्र की आदि में मंगल करने पर शिष्य शास्त्र के पारगामी होते हैं। शास्त्र के मध्य में मंगल करने पर विद्या की प्राप्ति निर्विघ्न होती है। शास्त्र के अन्त में मंगल करने पर विद्या का फल प्राप्त होता है। **(ति. प. १/२९)**

शास्त्र की आदि, मध्य और अन्त में किया गया जिनस्तोत्र रूप मंगल का उच्चारण सम्पूर्ण विघ्नों को उसी प्रकार नष्ट कर देता है जिस प्रकार सूर्य अन्धकार को। **(ति.प. १/३१)** नास्तिकता का परिहार, सभ्य पुरुषों के आचरण का पालन, पुण्य की प्राप्ति और विघ्न-विनाश इन लाभों के लिए शास्त्र के प्रारम्भ में इष्ट देवता की स्तुति की जाती है। **(द्र.सं. १/टीका)** मंगल संबन्धी आवश्यक कृतिकर्म करने वाले तथा मंगल सम्बन्धी प्रायश्चित्त करने वाले तथा विनय को प्राप्त ऐसे शिष्य-अध्येता (पढ़ने वाला,) श्रोता और वक्ता क्रम से आरोग्य को, निर्विघ्न रूप से विद्या को तथा विद्या के फल को प्राप्त हों, इसलिए तीनों जगह मंगल करने का उपदेश दिया है। **(ध. १/४१)**

अर्हत् परमेष्ठी के प्रसाद से मोक्षमार्ग की सिद्धि होती है, इसलिए प्रधान मुनियों ने शास्त्र के प्रारम्भ में अर्हत् परमेष्ठी के गुणों की स्तुति की है। **(आप्त प. २)** मंगलादि से प्राप्त होने वाले अभ्युदय और मोक्षसुख के आधीन मंगल का फल है। **(ध.१/४०)** जिन भगवान् के नाम के ग्रहण करने मात्र से विघ्न नष्ट हो जाते हैं, पाप खण्डित होता है, दुष्ट देव लाँघ नहीं सकते अर्थात् किसी प्रकार का उपद्रव नहीं कर सकते और इष्ट अर्थ की प्राप्ति होती है। **(ति. प. १/३०)**

१०. प्रश्न : ''मोक्षमार्गस्य नेतारं.....तद्गुणलब्धये'' इस मंगलाचरण में किसको नमस्कार किया गया है ?

उत्तर : ''मोक्षमार्गस्य नेतारं.....तद्गुणलब्धये'' इस मंगलाचरण में आप्त को नमस्कार किया गया है। क्योंकि यह गुणपरक मंगलाचरण है। मंगलाचरण के पूर्वार्ध के आदिपद 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' से हितोपदेशिता का, पूर्वार्ध के उत्तर पद ''भेत्तारं कर्मभूभृतां'' से वीतरागता का एवं उत्तरार्ध के आदि पद ''ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां'' से सर्वज्ञता का बोध होता है।

११. प्रश्न : शास्त्र पढ़ने के पहले किन-किन बातों का ध्यान रखना चाहिए ?

उत्तर : शास्त्र पढ़ने के पहले छह बातों का ध्यान रखना चाहिए -

(१) मंगल (२) निमित्त (३) हेतु (४) परिमाण (प्रमाण) (५) नाम (६) कर्त्ता। **(ति.प. १/७)**

मंगल - इष्ट देव को नमस्कार करना मंगल है।

निमित्त - भव्य जीव श्रुतज्ञान रूपी सूर्य के दीप्त तेज से मोक्षमार्ग को भली-भाँति जाने इसलिए श्रुतज्ञान रूपी सूर्य का उदय हुआ है।

हेतु - शास्त्र पढ़ने के हेतु (फल) को कहना हेतु है।

परिमाण - शास्त्र के छन्द, सूत्र, अध्याय आदि की गणना को परिमाण कहते हैं।

नाम - ग्रन्थ के नाम का कथन करना।

कर्त्ता - शास्त्र के मूल एवं उत्तर कर्त्ता का कथन करना।

नोट - वक्ता की प्रमाणता से वचनों की प्रमाणता होती है। इसलिए शास्त्र की प्रमाणता दिखाने के लिए कर्त्ता का कथन करना चाहिए।

१२. प्रश्न : मोक्षशास्त्र की रचना किस निमित्त से हुई है ?

उत्तर : अपने हित को चाहने वाले किसी भव्य ने मुनियों के एकान्त आश्रम में मुनियों की सभा में बैठे हुए वचन बोले बिना ही मात्र अपने शरीर की आकृति से ही मानों मूर्त्तिमान् मोक्षमार्ग का निरूपण करने वाले, युक्ति तथा आगम में कुशल, दूसरे जीवों के हित का मुख्य रूप से प्रतिपादन करने वाले और आर्य पुरुषों से सेवनीय प्रधान निर्ग्रन्थ आचार्य के पास जाकर विनय से पूछा-भगवन्! आत्मा का हित किसमें है ? आचार्य महाराज ने उत्तर दिया - आत्मा का हित मोक्ष में है। भव्य के पुन: मोक्ष का स्वरूप एवं मोक्षप्राप्ति का उपाय पूछने के निमित्त से मोक्षशास्त्र (तत्त्वार्थ सूत्र) की रचना हुई है। **(सर्वा. १)**

नोट : विशेष प्रकरण प्रस्तावना में देखें।

१३. प्रश्न : हेतु कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : हेतु दो प्रकार के होते हैं। (१) प्रत्यक्ष हेतु (२) परोक्ष हेतु। प्रत्यक्ष हेतु दो प्रकार का है। (१) साक्षात् प्रत्यक्ष हेतु (२) परम्परा प्रत्यक्ष हेतु।

साक्षात् प्रत्यक्ष हेतु - अज्ञान का विनाश, ज्ञानरूपी दिवाकर की उत्पत्ति, देव और मनुष्यादिकों के द्वारा निरन्तर की जाने-वाली विविध प्रकार की अभ्यर्चना और प्रत्येक समय में असंख्यात गुणश्रेणी रूप से होने वाली कर्मों की निर्जरा साक्षात् प्रत्यक्ष हेतु है।

परम्परा प्रत्यक्ष हेतु - शिष्य-प्रतिशिष्य आदि के द्वारा निरन्तर अनेक प्रकार से की जाने वाली पूजा को परम्परा प्रत्यक्ष हेतु जानना चाहिए।

परोक्ष हेतु दो प्रकार का है - (१) अभ्युदय सुख (२) मोक्ष सुख।

अभ्युदय सुख - साता वेदनीय आदि विविध सुप्रशस्त कर्मों के तीव्र अनुभाग के उदय से प्राप्त हुआ इन्द्र, प्रतीन्द्र, दिगिन्द्र, त्रायस्त्रिंश एवं सामानिक आदि देवों का सुख तथा राजा, अधिराजा, महाराजा,

अर्धमण्डलीक, मण्डलीक, महामण्डलीक, अर्धचक्री, चक्रवर्ती और तीर्थंकर इनका सुख अभ्युदय सुख है। **(ति. प. १/३५-४१)**

मोक्ष सुख - तीर्थंकरों और सिद्धों के अतीन्द्रिय, अतिशय रूप आत्मोत्पन्न, अनुपम तथा श्रेष्ठ सुख को नि:श्रेयस् सुख कहते हैं। **(ति. प. १/४९)**

१४. प्रश्न : इस ग्रन्थ में मंगलादि का कथन किस प्रकार करना चाहिए ?

उत्तर : इस ग्रन्थ में मंगल आदि का विवरण -

मंगल - मंगलाचरण में वर्तमान शासननायक १००८ भगवान वर्द्धमान महावीर स्वामी को अथवा वीतराग-सर्वज्ञ-हितोपदेशी अरहंत भगवान को अपने इष्ट कार्य की सिद्धि के लिए भक्तिपूर्वक नमस्कार किया गया है।

निमित्त - किसी भव्य प्राणी के द्वारा तत्त्वार्थवार्तिक, श्लोकवार्तिक, सर्वार्थसिद्धि आदि महान् ग्रन्थों के अध्ययन में असमर्थता प्रकट करते हुए उन्हें जानने की जिज्ञासा रखने के निमित्त प्रभु की कृपा एवं गुरुओं के शुभाशीर्वाद से इस 'तत्त्वार्थमञ्जूषा' ग्रन्थ का संकलन हुआ है।

हेतु - इस 'तत्त्वार्थमञ्जूषा' के संकलन का साक्षात् हेतु अज्ञान का नाश आदि है और परम्परा हेतु स्वर्ग एवं मोक्ष की प्राप्ति है।

परिमाण - इस शास्त्र में दस अध्याय हैं एवं अनेक प्रश्न हैं।

नाम - इस शास्त्र का नाम तत्त्वार्थमञ्जूषा है।

कर्त्ता - इस शास्त्र के मूल कर्त्ता भगवान सर्वज्ञदेव हैं तथा उत्तर ग्रन्थकर्त्ता गणधर देव, प्रतिगणधर देव एवं उनकी परम्परा में अकलंक देव, विद्यानन्द स्वामी, पूज्यपाद देव, यतिवृषभाचार्य आदि के द्वारा प्रणीत ग्रन्थों से यह संकलन किया गया है अत: वे ही इस ग्रन्थ के कर्त्ता हैं।

१५. प्रश्न : इस ग्रन्थ के संकलन का उद्देश्य क्या है ?

उत्तर : जहाँ चारों ओर विषयभोग एवं उनके साधनों की चकाचौंध है, ऐसे विषम पंचम काल में भी अपने व्रतों में निर्मलता लाने के लिए, समय को धर्मध्यान पूर्वक व्यतीत करने के लिए, जिनवाणी एवं पूर्वाचार्यों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करने के लिए, अन्तरंग सुखशांति की प्राप्ति के लिए एवं साधना में आये उपसर्ग-परीषहों को धैर्यपूर्वक सहन करने की शक्ति प्राप्त करने के लिए इस ग्रन्थ का संकलन किया गया है।

तत्त्वार्थमञ्जूषा

तत्त्वार्थसूत्र : प्रथम अध्याय

❋ विषय-परिचय ❋

कुल सूत्र : ३३ कुल प्रश्न : ६१५

- पहले दूसरे सूत्र में मोक्षमार्ग एवं सम्यक्दर्शन का लक्षण कहा गया है।
- दूसरे से चौथे सूत्र में सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण एवं तत्त्वों के नाम निर्देश हैं।
- पाँचवें से आठवें सूत्र तक तत्त्वादि को जानने के उपाय कहे गये हैं।
- नौवें से बारहवें सूत्र तक सम्यग्ज्ञानों के नाम एवं प्रमाण के भेद कहे हैं।
- तेरहवें - चौदहवें सूत्र में मतिज्ञान के नामान्तर एवं उसकी उत्पत्ति के कारण कहे गये हैं।
- पन्द्रहवें से उन्नीसवें सूत्र तक मतिज्ञान के भेद-प्रभेदों का कथन है।
- बीसवें सूत्र में श्रुतज्ञान का लक्षण एवं उसके भेदों का उल्लेख है।
- इक्कीसवें एवं बावीसवें सूत्र में अवधिज्ञान के स्वामी बताये गये हैं।
- तेईसवें चौबीसवें सूत्र में मन:पर्ययज्ञान के भेद एवं इनका तुलनात्मक कथन है।
- पच्चीसवें सूत्र में अवधि एवं मन: पर्ययज्ञान का तुलनात्मक उल्लेख है।
- छब्बीसवें से उनतीसवें सूत्र तक पाँच ज्ञानों का विषय कहा गया है।
- तीसवें सूत्र में एक आत्मा में एक साथ संभावित ज्ञानों का कथन है।
- इकतीसवें-बत्तीसवें सूत्र में मतिज्ञान आदि तीन ज्ञानों की विपरीतता को दृष्टांतपूर्वक समझाया गया है।
- अंतिम सूत्र में नयों का कथन है।

❑❑❑

- ईंके ठरक पण्डनी लक **मोमबत्ति**

॥ १॥ :मोमबत्ति पलिरयालकानेरेश्वरप्रसाद

रि लकए लिक दरीलक्रमस रमिं नाटमस ,नेरेश्वरप्रसाद **(पलिरयालकानेरेश्वरप्रसाद)**

।ईं मोमबत्ति **(:मोमबत्ति)**

।ईं मान लक बरीन रि लकए लिक दरीलक्रमस रमिं नाटमस ,नेरेश्वरप्रसाद - **ईभ**

।ईं ठेरक नेरेश्वरप्रसाद लिक नाइस ईालत - **नेरेश्वरप्रसाद**

।ईं नाटमस्रस लिप्रनी लिक नाट्र ईसपती - **नाटमस्रस**

।ईं दरीलक क्रमस लाल कव लक लिंसाइली प्रमाणस लिक रामंग - **दरीलक क्रमस**

ए ईं लिक रि ईरईरेश्वर सकी लत्र लिक दरु मइ रि रामाश्रम ईालत : नरेश .१

-रामंग प्रिकी ईं लिन नशिवली ब्नमस लक ईालत बेर ज्वारी मिकी रें नित्र कं दरु मइ : **रभट**

लही ददरेश लक बरीन लाग रकरि नशिर रि लमाम ज्यूप लिक रिरक राइ लिकाल सरि मरी रें रामग दरु मइ रि म्रारारन ईालत कइजर्ड कं रिरक ल्याज्ल लिक मोमबरीन कंरक रारली मरि ईं ज्यालइ ददरनिरी मिलाइरस लेाल रिनाम रकेंशेलि लिक रिपस :नभ ईं बरीग्र रनरस बरीन । (१\.६.ल.ग) । ईं लिक लत्र लिक पश्रस लकमर रारु कं रिलत्र पत्र नकीइ ज्रसम रमिं लेाल रिरक रिन रेपस लिक पश्रस कं बरीन ननि लिरार ठिरक रारली मिं रें ज्रमली कं लेाीर लिकमर ननि लिरार ई रारकर मिइ । ईं लेारनल ई रारकर ज्रन ल्रेमेस लक ज्रापर लक लेाीर लिं बरीन लि ईं लिन ईारनस मोम लक बरीन बेर बरीन नरा नरा रारु कंलस नर । ईं

(६-१ .नेभस) । ईं नरा लकं स्रुप डग प्रली कं रिई रनर लक नरर मइ ए ईं

ए ईं लिनम रारकर सकी पश्रस लक बरीन लिभरारनम ज्रन : नरेश .१

प्रस ज्रनलिं नरु प्रिकी । ईं नरीर रि नाट कं मट्रं लिं ईं ज्रनलिं पश्रस लक ल्यप्र **(ल्लाग)** : **रभट**

पश्रस प्रोमस रारकाम ईंलक ल्यमस-ज्रनरस्रज-रपस्र लकमर रप लिनम नरु लिरार कंरीक ,ईं लि प्रमम लि रकरि डग प्रिकी । ईं बरीन लक नाजम लि नाल लि लरार लक ल्यु ब्रपरली डीनम ह्लेप्र **(कबीरेंकि)** । नरि लिन बार कपरि रारकर सही **(ह्लेंकि)** । लिरि लिन प्रिम नरीर रि ल्यमग ब्रपरली कंरीक ,ईं नलिरमस्रम लि नपस्क पश्रक नीम कं ईरा मिंकि प्रिकी । ईं बरीन लि नरि रकेंलली लक नाजम लिक रारकर मिर ईं नाल ह्लेप्र ल्रली लक नपस्क पश्रक लि बरीन लक रारकर मइ लि मिंकि ,लिरि लिन प्रमम्रस्र ईं लिरि ल्रली कं नपस्क

(१ .नेभस) रीनरइ ,ईं लिन लि ह्लली रि नश्रक कं लिन्ट ज्रस्र नाल डग । लिन प्रमम्रस्र ,ईं

ए ईं लिनम रि रारकर सकी मोमबरीन लिभरारनम ज्रन : नरेश .६

बरीन रि नाह्लर पश्रकं ईंक ,ईं लिनम नेीर लिक बरीन लि रि नाट्र बरीनली दरीलक ईंक : **रभट**

नरं रारकर मही प्रिम । ईं लिनम नेीर लिक बरीन लि रि दरीलक बरीनलिनाट ईंक लल लिनम नेीर लिक

को दूर करने की उपायभूत औषधि का मात्र ज्ञान, श्रद्धान या आचरण रोगी के रोग को दूर करने का उपाय नहीं है उसी प्रकार अलग-अलग ज्ञान आदि मोक्ष की प्राप्ति के उपाय नहीं हैं। **(सर्वा. ३)**

४. **प्रश्न : सर्व प्रथम मोक्षमार्ग का कथन क्यों किया है ?**

उत्तर : मिथ्यावादियों द्वारा प्रणीत ज्ञान मात्र से वा दर्शन मात्र से वा चारित्र मात्र से तथा ज्ञान-चारित्र इन दो से वा दर्शन-चारित्र इन दोनों से वा ज्ञान-दर्शन इन दो से मोक्षमार्ग का निषेध करने के लिए प्रथम मोक्षमार्ग का कथन किया है, क्योंकि जैनधर्म में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों की एकता को ही मोक्ष का मार्ग बताया है एक या दो को नहीं। **(रा.वा. १७)**

५. **प्रश्न : मोक्षमार्ग कितने प्रकार का है ?**

उत्तर : मोक्षमार्ग दो प्रकार का है -

(१) व्यवहार मोक्षमार्ग (२) निश्चय मोक्षमार्ग । **(त.सा. ९/२)**

(१) परम्परा मोक्षमार्ग (२) साक्षात् मोक्षमार्ग । **(प.प्र.टी. २/१४)**

निश्चय मोक्षमार्ग दो प्रकार का है -

(१) सविकल्प निश्चय मोक्षमार्ग (२) निर्विकल्प निश्चय मोक्षमार्ग। **(प.प्र.टी. २/१४)**

६. **प्रश्न : व्यवहार मोक्षमार्ग किसे कहते हैं ?**

उत्तर : छह द्रव्य, पंचास्तिकाय आदि का सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान और व्रतरूप आचरण इन विकल्पमयी व्यवहार मोक्षमार्ग है।

अथवा - स्वशुद्धात्मा का साधक और बाह्य पदार्थ के आश्रित व्यवहार मोक्षमार्ग है।

अथवा - धातु पाषाण से सुवर्ण-प्राप्ति में अग्नि के समान जो साधक है वह व्यवहार मोक्षमार्ग है। **(वृ. द्र. सं. टी. ३९)** पर-पदार्थों का श्रद्धान-ज्ञान तथा उपेक्षाभाव है वह सम्यग्दर्शन - ज्ञान - चारित्र है। यह सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र व्यवहार मोक्षमार्ग है। **(त.सा. ९/४)**

तपस्वियों का चारित्र **'आचारसार'** आदि चारित्रग्रन्थों में कथित मार्ग के अनुसार प्रमत्त और अप्रमत्त गुणस्थान के योग्य पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति व छह आवश्यक आदि रूप होता है। गृहस्थों का चारित्र **'उपासकाध्ययन'** शास्त्र में कथित मार्ग के अनुसार पंचम गुणस्थान के योग्य दान-शील-पूजा-उपवास आदि रूप या दर्शन-व्रत आदि ग्यारह स्थान रूप होता है। यह व्यवहार मोक्षमार्ग का लक्षण है। **(प. का. ता. १६०)**

७. **प्रश्न : निश्चय मोक्षमार्ग किसे कहते हैं ?**

उत्तर : निश्चय से वीतराग सुख रूप परिणति जो निज शुद्धात्मतत्त्व उसी के सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-

अनुचरण रूप अभेद रत्नत्रय स्वरूप मोक्षमार्ग है। **(प. प्र. टी. २/३१)** निज निरंजन शुद्ध-बुद्ध आत्म-तत्त्व के सम्यक्-श्रद्धान-ज्ञान तथा आचरण में एकाग्र परिणति रूप निश्चय मोक्षमार्ग है।

अथवा - सुवर्ण समान निर्विकार निज-आत्मा के स्वरूप की प्राप्ति रूप साध्य वह निश्चय मोक्षमार्ग है। **(बृ. द्र. सं. टी. ३९)** सम्यग्दर्शन - ज्ञान - चारित्र इन तीनों से समाहित जो साधु न कुछ ग्रहण करता है और न कुछ त्यागता है, निश्चय नय के अनुसार यह मोक्ष का कारण है। जो आत्मा स्वयं में स्वयं का स्वयं अवलोकन करती है; स्वयं के द्वारा, स्वयं का, स्वयं में परिज्ञान करती है और मध्यस्थ हो जाती है वही निश्चयनय से मोक्ष का मार्ग है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान का कथन है। **(त. अ. ३१-३२)**

८. प्रश्न : निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्ग का क्या सम्बन्ध है ?

उत्तर : व्यवहार मार्ग साधन है और निश्चय मार्ग साध्यरूप है। **(त.सा. ९/२)** व्यवहार मोक्षमार्ग निश्चय मोक्ष-मार्ग का परम्परा कारण है। **(पं.का.ता. १६०)** हे जीव ! तू निश्चय मोक्षमार्ग के साधक व्यवहार मोक्षमार्ग को जान। उसके जानने से तू परम्परा से परमात्मा हो जायेगा। निश्चय मोक्षमार्ग साक्षात् एवं व्यवहार मोक्षमार्ग परम्परा से मोक्ष का कारण है। **(प. प्र. टी. २/१४)**

अथवा - इन दोनों में सुवर्ण एवं सुवर्णपाषाण के समान साध्य-साधक संबंध है। **(प.प्र.टी.२/१२)**

९. प्रश्न : क्या व्यवहार मोक्षमार्ग के बिना निश्चय मोक्षमार्ग हो सकता है ?

उत्तर : व्यवहार मार्ग में प्रवेश किये बिना जीव निश्चय मार्ग को जानने में भी समर्थ नहीं हो सकता। जैसे - प्रभात हुए बिना सूर्य का उदय नहीं हो सकता। **(आरा. सा. टी. ७/३०)**

१०. प्रश्न : व्यवहार मोक्षमार्ग सविकल्प है वह निर्विकल्प (निश्चय मोक्षमार्ग) दशा का साधन कैसे हो सकता है ?

उत्तर : भूत नैगमनय से व्यवहार मोक्षमार्ग निश्चय मोक्षमार्ग का परम्परा से कारण होता है। वहाँ 'मैं अनन्त ज्ञान रूप हूँ' इत्यादि सविकल्प रूप साधक एवं निर्विकल्प समाधि रूप साध्य होता है। कहा है - जो विकल्प सहित है वह आस्रव सहित है और जो विकल्प रहित है वह आस्रव रहित है। **(प. प्र. टी. २/१४)**

११. प्रश्न : यहाँ कौनसे मोक्षमार्ग का कथन किया गया है ?

उत्तर : यहाँ साक्षात् (निश्चय) मोक्षमार्ग का कथन किया गया है। **(आप्त प. ११८. टी.)**

१२. प्रश्न : सम्यग्दर्शनादि पृथक्-पृथक् मोक्ष के मार्ग क्यों नहीं हैं ?

उत्तर : नहीं, सम्यग्दर्शनादि पृथक्-पृथक् मोक्ष के मार्ग नहीं हो सकते हैं। जिस प्रकार रसायन के श्रद्धान मात्र से रोग की निवृत्ति नहीं हो सकती क्योंकि उसमें ज्ञान और क्रिया का अभाव है। न ही रसायन

की क्रिया मात्र से रोग की निवृत्ति होती है क्योंकि उसमें श्रद्धान एवं ज्ञान का अभाव है, तथा ज्ञानपूर्वक रसायन का सेवन किये बिना श्रद्धान मात्र से भी आरोग्य नहीं मिल सकता है अत: पूर्ण फल की प्राप्ति के लिए रसायन की श्रद्धा, उसका ज्ञान एवं उसका सेवन आवश्यक है, उसी प्रकार दर्शन और चारित्र के अभाव में ज्ञान से, ज्ञान और चारित्र के अभाव में श्रद्धान से एवं श्रद्धा और ज्ञान के अभाव में चारित्र से मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। अत: सम्यग्दर्शनादि पृथक्-पृथक् मोक्ष के मार्ग नहीं कहे गये हैं। **(रा. वा. ४९)**

नोट : सम्यग्दर्शन देखें १/२, सम्यग्ज्ञान देखें १/९।

१३. प्रश्न : सम्यक् चारित्र किसे कहते हैं ?

उत्तर : संसार के कारणभूत राग-द्वेषादि की निवृत्ति के लिए कृतसंकल्प ज्ञानी की बाह्य एवं अभ्यन्तर क्रियाओं का रुक जाना सम्यक् चारित्र है। **(रा.वा. ३)**

अशुभ से निवृत्ति होकर शुभ में प्रवृत्ति करना सम्यक् चारित्र है। जिनेन्द्रदेव ने व्यवहार नय से उस चारित्र को पाँच व्रत, पाँच समिति एवं तीन गुप्ति रूप कहा है। **(बृ. द्र. सं. ४५)** जो ज्ञानी पुरुष संसार के कारणों को दूर करने के लिए उद्यत है उसके कर्मों के ग्रहण करने में निमित्तभूत क्रियाओं का उपरम (रुक जाना) होने को सम्यक्-चारित्र कहते हैं। **(सर्वा. ५)** जिसमें विनय, नियम, शील, ज्ञान, दया, दान और मोक्ष के लिए ध्यान धारण किया जाता है उसे सम्यक् चारित्र कहते हैं। **(प. पु. १०५/२२३)** मुनियों के लिए परपीड़ा से रहित तथा श्रद्धा आदि गुणों से सहित दान दिया जाता है उसे सम्यग्चारित्र कहते हैं। **(प. पु. १०५/२२२)** जो मुनि तृष्णा रहित है, मोक्ष की इच्छा करने वाला है, समस्त परिग्रह रहित है और अहिंसा आदि पाँचों महाव्रतों को धारण करने वाला है उसके जो इष्ट-अनिष्ट आदि पदार्थों में राग और द्वेष का त्याग कर माध्यस्थ भावों का धारण करना है उसे सम्यक्-चारित्र कहते हैं। **(म. पु. २४/११९)** जिससे हित को प्राप्त करते हैं और अहित का निवारण करते हैं, उसको चारित्र कहते हैं। अथवा सज्जन जिसका आचरण करते हैं, उसको चारित्र कहते हैं। इसके सामायिकादि भेद हैं। **(भ. अ.वि. ८/४१)**

हिंसा, असत्य, चोरी तथा मैथुनसेवा और परिग्रह इन पाँचों पापों की प्रणालियों से विरत होना चारित्र है। **(र. क. श्रा. ४९)**

मन से, वचन से, काय से, कृत-कारित-अनुमोदना के द्वारा जो पापरूप क्रियाओं का त्याग है उसको सम्यग्चारित्र कहते हैं। **(त. अ. २७)**

१४. प्रश्न : सम्यक् चारित्र की कौन-कौन सी भावनाएँ हैं ?

उत्तर : चलने आदि के विषय में यत्न रखना अर्थात् ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेपण और प्रतिष्ठान इन पाँच समितियों का पालन करना, मनोगुप्ति, वचन गुप्ति और काय गुप्ति का पालन करना तथा परिषहों को सहन करना ये चारित्र की भावनाएँ जानना चाहिए। **(म. पु. २१/९८)**

१५. प्रश्न : सूत्र में दिये गये 'सम्यक्' शब्द को किस-किस के साथ जोड़ना चाहिए ?

उत्तर : सूत्र में दिये गये 'सम्यक्' शब्द को दर्शन, ज्ञान और चारित्र तीनों के साथ जोड़ना चाहिए।

क्योंकि सूत्र में द्वन्द्व समास है और द्वन्द्व समास से कोई भी विशेषण आदि में हो या अंत में सबके साथ जुड़ जाता है। जैसे- ''देवदत्त-जिनदत्त-गुरुदत्ता भोजयन्ता'' इसमें भोजन क्रिया का तीनों के साथ अन्वय (सम्बन्ध) है। देवदत्त, गुरुदत्त और जिनदत्त को भोजन कराओ। इसी प्रकार 'सम्यक्' शब्द का अन्वय दर्शन, ज्ञान और चारित्र तीनों के साथ होता है। **(रा.वा. ३५)**

१६. प्रश्न : दर्शन, ज्ञान और चारित्र के साथ 'सम्यक्' विशेषण क्यों दिया है ?

उत्तर : पदार्थों के यथार्थ ज्ञानमूलक श्रद्धान का संग्रह करने के लिए दर्शन के पहले 'सम्यक्' विशेषण दिया है। विमोह, संशय और विपर्यय ज्ञानों का निराकरण करने के लिए ज्ञान के पहले 'सम्यक्' विशेषण दिया है। अज्ञानपूर्वक आचरण के निराकरण करने के लिए चारित्र के पहले 'सम्यक्' विशेषण दिया है। **(सर्वा. ५)**

१७. प्रश्न : ज्ञान पूर्वक ही सम्यक्दर्शन होता है और ज्ञान में अक्षर भी कम हैं अत: दर्शन के पहले ज्ञान का ग्रहण क्यों नहीं किया है ?

उत्तर : ज्ञान पूर्वक सम्यग्दर्शन नहीं होता है, दोनों की प्रवृत्ति एक साथ होती है प्रकाश और प्रताप के समान। जैसे - मेघपटल के हटते ही सूर्य का प्रकाश और प्रताप एक साथ फैलता है उसी प्रकार ज्ञान और दर्शन एक साथ उत्पन्न होते हैं। जब दर्शनमोहनीय कर्म के उपशम, क्षयोपशम या क्षय से आत्मा सम्यग्दर्शन पर्याय रूप उत्पन्न होती है उसी समय उसके मति अज्ञान, श्रुताज्ञान की निवृत्ति पूर्वक मतिज्ञान, श्रुतज्ञान प्रगट होते हैं, अत: सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में पौर्वापर्य नहीं है। दूसरी बात-अल्पाक्षर होने मात्र से ज्ञान का पूर्व में ग्रहण नहीं हो सकता है क्योंकि जो पूज्य होता है उसका पूर्वग्रहण होता है। ज्ञान की अपेक्षा सम्यग्दर्शन पूज्य है क्योंकि सम्यग्दर्शन के सन्निधान से ही ज्ञान, सम्यग्ज्ञान होता है तथा सम्यग्दर्शन के अभाव में तत्त्वों का ज्ञाता होकर भी अज्ञानी रहता है अत: ज्ञान में समीचीनता लाने का कारण होने से सम्यग्दर्शन का ग्रहण प्रथम किया है।[१] **(रा.वा. २८-३१)**

१८. प्रश्न : चारित्र के पूर्व ज्ञान का ग्रहण क्यों किया है ?

---

१. जब श्रद्धान ठीक होता है, तो ज्ञान भी ठीक चलता है और काम भी ठीक चलने लगता है। इसलिए श्रद्धान ही इन तीनों में बलवान है, अत: पहले रखा गया है। हाँ, आचरण करने के लिए ज्ञान की जरूरत है, इसीलिए चारित्र को ज्ञान के भी बाद अंत में रखा गया है।

इसका तात्पर्य यह है कि श्रद्धान तो मिथ्याश्रद्धान और सम्यक् श्रद्धान के भेद से दो प्रकार का होता है, किन्तु ज्ञान मिथ्याज्ञान, अज्ञान और सम्यक् ज्ञान के भेद से तीन प्रकार का; इसी तरह चारित्र भी मिथ्याचारित्र, कुचारित्र और सम्यक्चारित्र के भेद से तीन प्रकार का होता है।

कुचारित्र - अज्ञान पूर्वक जो चारित्र है, वह कुचारित्र है।

तत्त्वार्थाय श्रद्धानं - तत्त्वार्थ के लिए श्रद्धान।

तत्त्वार्थस्य श्रद्धानं - तत्त्वार्थ का श्रद्धान।

तत्त्वार्थे श्रद्धानं - तत्त्वार्थ में श्रद्धान।

उत्तर : जीवादि पदार्थों का तत्त्वज्ञान के साथ सन्निधान होने पर चारित्र-मोहनीय का विशेष उपरमरूप चारित्र परिणाम होता है अर्थात् चारित्र ज्ञानपूर्वक ही होता है इसलिए चारित्र के ज्ञानपूर्वक होने से ज्ञान शब्द को चारित्र के पूर्व कहा है। **(रा.वा. ३२)**

१९. प्रश्न : सूत्र में 'मार्गः' शब्द का एकवचन पुल्लिङ्ग में निर्देश क्यों किया है ?

उत्तर : जो मोक्षमार्ग है और मोक्ष का उपाय है उसमें आत्मा प्रधान है। आत्मा में जिस स्वरूप से मोक्षमार्ग कहा जाता है वह दर्शन, ज्ञान, चारित्र सबका अवशिष्ट एक पुल्लिंग है उसकी ही प्रधानता है इसलिए समानाधिकरण होने पर भी पुल्लिङ्ग बहुवचन का प्रसंग नहीं आता है। जिस प्रकार ''साधवः प्रमाणम्'' इसमें साधु शब्द में बहुवचन और पुल्लिङ्गता है तथा प्रमाण में एक वचन नपुंसकलिङ्गता होने पर भी कोई विरोध नहीं है। **(रा.वा. ३६)**

सम्यग्दर्शनादि तीनों मिलकर ही मोक्ष-मार्ग[१] है, पृथक्-पृथक् नहीं है इस बात का ज्ञापन कराने के लिए सूत्र में ''मोक्षमार्गः'' एक वचन निर्देश किया है। **(सर्वा. ८)**

२०. प्रश्न : बन्ध पूर्वक मोक्ष होता है इसलिए प्रथम बन्ध के कारणों को कहना चाहिए।

उत्तर : ऐसा नहीं है, आश्वासन के लिए प्रथम मोक्ष के कारणों को कहा है। जैसे कारागृह में पड़ा हुआ व्यक्ति बन्धन के कारणों को सुनकर भयभीत होता है तथा हताश हो जाता है परन्तु उसे यदि कारागृह से छूटने का उपाय बताया जाता है तो उसे आश्वासन मिलता है और वह आशान्वित हो बन्धन से मुक्ति का प्रयास करता है। उसी प्रकार अनादिकाल से संसार रूपी कारागृह में अवरुद्ध कर्मबन्धनसे बद्ध प्राणी प्रथम ही बन्धन के कारण जानकर भयभीत न हो और मोक्ष के कारणों को सुनकर आश्वासन को प्राप्त हो इसलिए प्रथम बन्ध के कारणों का कथन न करके मोक्ष के कारणों का निर्देश किया है। **(रा.वा. १६ उ.)**

२१. प्रश्न : सम्यग्दर्शनादि में मोक्षमार्गत्व किस प्रकार है ?

उत्तर : औषधि के समान मिथ्यादर्शन, अज्ञान और असंयम आदि के प्रत्यनीक (विपरीत) होने से सम्यग्दर्शनादि में मोक्षमार्गत्व की सिद्धि होती है। जिस प्रकार वातादि के विकार से उत्पन्न होने वाले रोगों के निदान को नष्ट करने के कारण औषधि आरोग्य का मार्ग (कारण) कहलाती है उसी प्रकार संसार रोग रूप मिथ्यात्वादि के कारणों का नाशक होने से सम्यग्दर्शनादि मोक्ष के मार्ग कहलाते हैं। **(रा.वा. ४०)**

२२. प्रश्न : सम्यग्दर्शनादि में लक्षण भेद होने से एक मार्गत्व की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ?

उत्तर : इसमें कोई दोष नहीं है क्योंकि जिस प्रकार भिन्न-भिन्न लक्षण वाली बत्ती, तेल और अग्नि आदि पदार्थों की बाह्य-अभ्यन्तर परिणाम कारण से प्राप्त संयोग पर्यायों का समुदाय एक दीपक होता है,

१. **मार्ग** - अपने अभिप्रेत (इष्ट) प्रदेश की प्राप्ति का निरुपद्रव उपाय विद्वानों के द्वारा (मोक्ष का) मार्ग माना गया है। जो इष्ट प्रदेश की प्राप्ति का उपाय नहीं है वा जो उपद्रव सहित है, वह मार्ग नहीं है, कुमार्ग है। **(श्लो. १)**

तेल, बत्ती और अग्नि ये तीनों पृथक्-पृथक् दीपक नहीं हैं उसी प्रकार परस्पर विलक्षण (भिन्न-भिन्न लक्षण वाले) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र इन तीनों का समुदाय एक मोक्षमार्ग होता है, पृथक्-पृथक् नहीं। **(रा.वा. ६७)** सम्यग्ज्ञान आने वाल कर्म को रोकने वाला है और सम्यक् चारित्र पहले से आये हुए बद्ध कर्मों को दूर करने वाला है तथा सम्यक्दर्शन इन दोनों की पुष्टि करता है। इस तरह ये तीनों उपयोगी हैं और एक दूसरे के उपकारी हैं। **(च.चा. ७/५२)**

२३. प्रश्न : इन्द्रियों से नहीं दिखने वाले मोक्ष का अस्तित्व कैसे जाना जाता है ?

उत्तर : इन्द्रिय-अगोचर मोक्ष आगमप्रमाण से सिद्ध है। जैसे भावी सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहण इस समय में इस वर्ण से इस दिशा भाग में सर्वग्रासी है, इस दिशा भाग में सर्वग्रासी नहीं है इत्यादि सूर्य-चन्द्रग्रहण का स्वरूप यद्यपि ज्योतिषी के इन्द्रियगोचर नहीं है तथापि अप्रत्यक्ष सूर्य-चन्द्रग्रहण आगम से जाना जाता है उसी प्रकार इन्द्रिय अगोचर मोक्ष भी आगम से जाना जाता है। **(रा.वा.उ. १२-१३)**

सम्यग्दर्शन का लक्षण कहते हैं -

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥२॥

(तत्त्वार्थश्रद्धानं) यथार्थ पदार्थ का श्रद्धान **(सम्यग्दर्शनं)** सम्यग्दर्शन है।

अर्थ : तत्त्वार्थ का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।

१. प्रश्न : तत्त्वार्थ किसे कहते हैं ?

उत्तर : तत्त्व - जो पदार्थ जिस रूप में स्थित है उसका उसी रूप में होना तत्त्व है। **अर्थ** - 'अर्यते, निश्चीयते इत्यर्थ:'। 'तत्त्वेन अर्थ: तत्त्वार्थ:'। तत्त्व और अर्थ इन दोनों शब्दों के संयोग से तत्त्वार्थ शब्द बना है। अथवा भाव द्वारा भाव-वाले पदार्थ का कथन किया जाता है क्योंकि भाव भाववाले से अलग नहीं पाया जाता है। अत: ''तत्त्वमेवार्थस्तत्त्वार्थ:''। **(सर्वा. १०)** तत्त्व के द्वारा जिसका निश्चय किया जाता है वह तत्त्वार्थ है। जो जाना जाता है, ज्ञान का विषय है, उसको अर्थ कहते हैं और तत्त्व से जिसका निर्णय हो उसे तत्त्वार्थ कहते हैं। जो पदार्थ जिस रूप से व्यवस्थित है उसको उसी रूप से ग्रहण करना तत्त्वार्थ है।[१] **(रा.वा. ६)**

२. प्रश्न : सूत्र में दिये गये 'सम्यक्' पद का क्या अर्थ है ?

उत्तर : 'सम्यक्' यह प्रशंसार्थक पद या क्वयून्त प्रत्ययांत है। सम्यक् शब्द निपात, प्रशंसा अर्थ में जानना चाहिए। क्योंकि यह प्रशस्त (प्रशंसात्मक) रूप, गति, जाति, कुल, आयु, विज्ञान आदि अभ्युदय

---

१. **द्रव्य** - गुण और पर्यायों को प्राप्त करने से ये द्रव्य नाम से कहे जाते हैं ? **अर्थ** - जीव के द्वारा जानने में आने से अर्थ कहलाते हैं। **तत्त्व** - वस्तु स्वरूप के कारण तत्त्व कहलाते हैं **(गो.जी.जी. ५६१) पदार्थ** - द्रव्यों को पदार्थ भी कहते हैं क्योंकि ये उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य सहित हैं **(ज्ञा. ६/२८)**

और नि:श्रेयस् का प्रधान कारण है। प्रशस्तं दर्शनं सम्यग्दर्शनं। **(रा.वा. १)**

३. प्रश्न : सूत्र में दिये गये 'दर्शन' शब्द का क्या अर्थ है ?

उत्तर : सूत्र में दिये गये 'दृश्' धातु से बने दर्शन शब्द के आलोक, अवलोकन आदि अनेक अर्थ होते हैं फिर भी यहाँ श्रद्धान अर्थ ही इष्ट है, आलोक आदि नहीं। क्योंकि श्रद्धान मोक्ष का कारण है। यहाँ मोक्ष के कारणों का प्रकरण है और तत्त्वार्थ का श्रद्धान मोक्ष का कारण है, आलोक मोक्ष का कारण नहीं है। इसलिए प्रकरण से दर्शन का अर्थ श्रद्धान ही इष्ट है, देखना आदि नहीं। **(रा.वा. ३.४)**

४. प्रश्न : सूत्र में तत्त्व शब्द का ग्रहण निरर्थक है क्योंकि अर्थ से ही तत्त्व की सिद्धि हो जाती है अर्थात् 'अर्थश्रद्धानं' कहना चाहिए तत्त्वार्थश्रद्धानं नहीं ?

उत्तर : ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि विपरीत ग्रहण भी देखा जाता है। यद्यपि अर्थ पद का विशिष्ट अर्थ करके 'तत्त्व' पद का काम लिया जाता है किन्तु मिथ्यात्व के उदय में इस प्राणी को अस्ति, नास्ति, नित्य-अनित्य आदि एकान्तों (सर्वथा एकान्त पक्षों) में मिथ्याबुद्धि होने लगती है, जैसे कि पित्तज्वर वाले को मधुर रस भी कटुक प्रतीत होता है। इन एकान्त अर्थों का निराकरण करने के लिए सूत्र में 'तत्त्व' पद का ग्रहण किया है।) **(रा. वा. २१)**

सूत्र में 'अर्थश्रद्धानं' कहने से अर्थ शब्द के धन, प्रयोजन और अभिधेय आदि जितने भी अर्थ हैं उन सबके ग्रहण का प्रसंग आता है जो युक्त नहीं है, अत: 'अर्थश्रद्धानं' न कह कर तत्त्वार्थश्रद्धानं कहा है। **(सर्वा. १२)**

५. प्रश्न : यदि ऐसा है तो 'तत्त्वश्रद्धानं' कहना चाहिए तत्त्वार्थश्रद्धानं नहीं ?

उत्तर : 'तत्त्वश्रद्धानं' कहने पर केवल भाव मात्र के ग्रहण का प्रसंग प्राप्त होता है कितने ही लोग तत्त्व पद से सत्ता, द्रव्यत्व, गुणत्व और कर्मत्व आदि का ग्रहण करते हैं अत: 'तत्त्वश्रद्धानं' ऐसा कहने पर इन सबका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है जो युक्त नहीं है। अथवा - तत्त्व शब्द एकत्ववाची है इसलिए सूत्र में केवल तत्त्व पद के रखने से ''सब सर्वथा एक'' है इस प्रकार स्वीकार करने का प्रसंग आता है। ''यह सब दृश्य व अदृश्य जगत् पुरुष स्वरूप ही है'' ऐसा किन्हीं ने माना भी है। किन्तु ऐसा मानने पर प्रत्यक्ष और अनुमान से विरोध आता है अत: इन सब दोषों को दूर करने के लिए सूत्र में तत्त्व और अर्थ इन दोनों पदों को ग्रहण किया है। **(सर्वा. १२)** तत्त्व ही अर्थ है यह विग्रह करने पर तत्त्व के कहने से ही कार्य चल जाता है फिर भी अर्थ का ग्रहण निर्देश प्रतिपत्ति के लिए किया गया है। 'तत्त्वश्रद्धानं' ऐसा कहा जाय तो भी एकान्त निश्चय का प्रसंग आता है क्योंकि एकान्तवादी भी 'नास्त्यात्मा' आत्मा नहीं है इस श्रद्धान को तत्त्वश्रद्धान कहने लगेंगे। तत्त्व का श्रद्धान, तत्त्वश्रद्धान ऐसा कहा जाय तो भावमात्र का प्रसंग आता है। तत्त्व भाव-सामान्य एक स्वतंत्र पदार्थ है ऐसा कोई कहता है कि द्रव्यत्व, गुणत्व आदि द्रव्यादि से भिन्न है तथा तत्त्व एकत्व पुरुष रूप ही यह जगत् है इस ब्रह्मैकवाद के श्रद्धान को भी सम्यग्दर्शन का प्रसंग

आयेगा। तत्त्व 'एक' ऋग्वेद में पुरुष ही सर्व है, यह वाक्य है; वही तत्त्व है उसका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। ऐसा कहना भी उचित नहीं है क्योंकि अद्वैतवाद में क्रियाकारक आदि समस्त भेद-व्यवहार का लोप हो जाता है। **(रा.वा. २२-२४)**

यदि तत्त्वरूप से श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं तो 'किसका श्रद्धान' वा 'किसमें श्रद्धान' यह प्रश्न निर्वृत्त नहीं होता। इसलिए अव्यभिचार के लिए अर्थ शब्द का ग्रहण किया है। **(रा.वा. २५)**

६. प्रश्न : तत्त्वार्थ रुचि को सम्यग्दर्शन मानें तो क्या हानि है ?

उत्तर : रुचि, इच्छा और अभिलाषा में अनर्थान्तर (एकार्थवाची) है। यह चारित्रमोह की लोभ कषाय का एक भेद है। इसको सम्यग्दर्शन का लक्षण स्वीकार करने पर अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दो दोष आते हैं। जब मिथ्यादृष्टि जीव अपने बहुश्रुतत्व को प्रसिद्ध करने की इच्छा से अथवा जिनमत का निराकरण करने की वांछा से या परमत की जिज्ञासा से भगवत् अर्हन्त सर्वज्ञ द्वारा प्रणीत आगम के विषयभूत जीवादि पदार्थों को जानना चाहते हैं तब उन व्यक्तियों को सम्यग्दृष्टि मानना पड़ेगा क्योंकि उनके तत्त्वरुचि है किन्तु वे मिथ्यादृष्टि ही हैं अत: रुचि को सम्यग्दर्शन कहना अतिव्याप्ति दोषयुक्त है। तथा यदि रुचि सम्यक्त्व है तो सम्पूर्ण मोह के क्षय हो जाने से अर्हन्तदेव के सम्यक्त्व गुण का अभाव हो जायेगा, इस प्रकार अव्याप्ति नामक दोष प्राप्त होता है इसलिए यह रुचि रूप सम्यक्त्व का लक्षण त्याज्य है। **(सुख.बो.त. वृ. १७)**

७. प्रश्न : मोहनीय कर्म की प्रकृतियों में भी 'सम्यक्' नाम की प्रकृति है इसलिए सम्यग्दर्शन को पौद्गलिक मानने में क्या दोष है ?

उत्तर : सम्यग्दर्शन को पौद्गलिक नहीं माना जा सकता क्योंकि यहाँ मोक्ष के कारणों का प्रकरण है और मोक्ष के कारणों में आत्मा के परिणाम ही विवक्षित होते हैं तथा आत्मा का परिणाम होने से औपशमिकादि सम्यग्दर्शन को भी मोक्ष का कारण स्वीकार किया है। अनात्मा की पर्याय होने से पौद्गलिक कर्म के उदय रूप सम्यक् प्रकृति की यहाँ विवक्षा नहीं है। **(रा.वा. १०)**

८. प्रश्न : सम्यग्दर्शन किसे कहते हैं?

उत्तर : अन्तरंग में दर्शन मोहनीय की उपशम, क्षय और क्षयोपशम पर्याय के परिणाम से एवं बाह्य परिणाम कारण से अपादित होने से आत्मा के जीवादि पदार्थों का विचार विषयरूप अधिगम और निसर्ग व्यापार है। प्रणिधान विशेष से गृहीत दो प्रकार से उत्पन्न व्यापार रूप तत्त्वार्थ श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं। **(रा.वा. १)** वीतराग, सर्वज्ञ, जिनेन्द्र देव के द्वारा कहे हुए जो शुद्ध जीवादि तत्त्व हैं उनके विषय में चल, मलिन, अवगाढ़ की रहितता पूर्वक जो श्रद्धान, रुचि है अथवा ''जो जिनेन्द्रदेव ने कहा है, वही यह है'' इस प्रकार जो निश्चयरूप बुद्धि है वह सम्यग्दर्शन है। **(वृ. द्र. सं. ४१ टी.)** जिनेन्द्र के द्वारा उपदिष्ट छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय और नव प्रकार के पदार्थों का आज्ञा अथवा अधिगम से श्रद्धान करना सम्यक्त्व है। **(गो. जी. ५६१)** आप्त, आगम और पदार्थ ये तत्त्वार्थ हैं और इनके विषय में श्रद्धान, अनुरक्ति, सम्यग्दर्शन है। **(ध. पु. १/१५२)** परमार्थभूत देव, शास्त्र और गुरु का तीन मूढ़ताओं से रहित,

आठ अंगों से सहित और आठ प्रकार के मदों से रहित श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन कहा जाता है। **(र. श्रा. ४)** तत्त्वार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन है अथवा तत्त्व में रुचि होना सम्यग्दर्शन है या प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य की अभिव्यक्ति ही जिसका लक्षण है वह सम्यक्त्व है। **(ध. पु. ७/७)** आप्त, आगम और तत्त्वों का शंकादि दोष रहित जो अतिनिर्मल श्रद्धान होता है उसे सम्यक्त्व जानना चाहिए। **(वसु. श्रा. ६)**

९. प्रश्न : आप्त किसे कहते हैं ?

उत्तर : नि:शेष दोषों से जो रहित है और केवलज्ञान आदि परम वैभव से जो संयुक्त है, वह परमात्मा कहलाता है, उससे विपरीत वह परमात्मा नहीं है। **आप्त**-शंकारहित। शंका-सकल मोह-राग द्वेषादिक दोष। **(नि. सा.टी. ५-७)** नियम से वीतराग और सर्वज्ञ तथा आगम का ईश ही सच्चा देव होता है, निश्चय करके अन्य किसी प्रकार आप्तपना नहीं हो सकता। जिस देव के क्षुधा दोष नहीं है वही वीतराग देव कहा जाता है। जो परम पद में रहने वाला हो, उत्कृष्ट ज्योति वाला हो, राग-द्वेष रहित वीतराग हो, कर्मफल रहित हो, कृतकत्य हो, सर्वज्ञ हो, आदि-मध्य-अन्त से रहित हो और समस्त जीवों का हित करने वाला हो, वही हितोपदेशी कहा जाता है। **(र. क. श्रा. ५-७)** जो प्रत्यक्ष ज्ञान से समस्त पदार्थों का ज्ञाता है और परम हितोपदेशी है वह आप्त है। **(न्या. दी. ७६)** जो घातिया कर्म कलंक से रहित है, जो अनन्त-ज्ञानादि गुणों से सहित है, निर्मल आशय का धारक है, कृतकृत्य है और सबका भला करने वाला है वह आप्त है। **(म. पु. २४/१२५)** जो त्रिकालवर्ती गुणपर्यायों से संयुक्त समस्त लोक और अलोक को प्रत्यक्ष जानता है वह सर्वज्ञदेव है। **(का. अ. ३०२)**

१०. प्रश्न : आप्त के कौनसे अठारह दोष नहीं होते हैं ?

उत्तर : क्षुधा, तृषा, भय, द्वेष, राग, मोह, जरा, रोग, चिन्ता, मृत्यु, खेद, स्वेद, अरति, मद, विस्मय, जन्म, निद्रा और विषाद ये अठारह दोष कहलाते हैं। जो आत्मा इन दोषों से रहित है वही आप्त कहलाता है। **(वसु. श्रा. ८-९)**

११. प्रश्न : आगम किसे कहते हैं ?

उत्तर : उनके (आप्त के) मुख से निकली हुई वाणी जो पूर्वापर दोषरहित और शुद्ध है उसे आगम कहा है और उसके द्वारा कहा गया तत्त्वार्थ कहलाता है। **(नि. सा. ८)** जो आप्त का कहा हुआ हो, वादी-प्रतिवादी द्वारा खण्डन करने में न आवे, प्रत्यक्ष-अनुमानादि प्रमाणों से विरोध-रहित हो, वस्तु स्वरूप का उपदेश करने वाला हो, सब जीवों का हित करने वाला और मिथ्यामार्ग का खण्डन करने वाला हो वह सत्यार्थ शास्त्र है। **(र. श्रा. ९)** जो आप्त का कहा हो, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों के स्वरूप का उपदेश देने वाला हो और नय तथा प्रमाणों से गम्भीर हो उसे आगम कहते हैं। **(म. पु. २४/१२६)** पूर्वापर विरुद्धादि दोषों के समूह से रहित और सम्पूर्ण पदार्थों के द्योतक आप्त वचन को आगम कहते हैं। **(ध. ३/१२)**

वीतराग, सर्वज्ञ देव के द्वारा कहे गये छह द्रव्य व सप्त तत्त्व आदि का सम्यक् श्रद्धान एवं ज्ञान तथा व्रतादि के अनुष्ठान रूप चारित्र, इस प्रकार भेद रत्नत्रय का स्वरूप जिसमें प्रतिपादित किया गया है उसको आगम या शास्त्र कहते हैं। **(प. का. ता. १७३)** आप्त के वचनादि से होने वाले पदार्थों के ज्ञान को आगम कहते हैं। **(प. मु. ३/९५)**

१२. प्रश्न : तपोभृत् (सच्चे गुरु) किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो विषयों की आशा के वश से रहित हैं, आरम्भ-परिग्रह रहित हैं, ज्ञान-ध्यान तथा तप में लीन रहते हैं वे गुरु प्रशंसनीय हैं। **(र. क. श्रा. १०)** निर्ग्रन्थ साधु पंचपरमेष्ठी साधु हैं। ये अन्तरंग और बहिरंग परिग्रह से रहित होते हैं और आत्म-कल्याण में लीन रहते हैं। इनके उपदेश से सम्यक्त्व की उपलब्धि होती है जीवन सन्मार्ग में प्रवृत्त होता है, जिससे इहलौकिक और पारलौकिक कल्याण होता है। ''समस्त जीवों का हित करने वाले दिगम्बर गुरु ही उत्कृष्ट गुरु हैं और वे ही इस संसार रूपी समुद्र से पार हो सकते हैं तथा दूसरों को पार कर सकते हैं; दिगम्बर गुरुओं के सिवाय अन्य कोई गुरु नहीं हो सकता है, न अन्य किसी को पार कर सकता है।'' **(मू. प्र. १३९४)**

जो महाव्रत से संयुक्त हैं, जिनका मन तत्त्वज्ञान के विचार में संलग्न है, जो धर्म के उपदेशक हैं और पाणिपात्र में भोजन करते हैं, वे ही पुरुष गुरु माने गये हैं। जो दर्शनाचार, ज्ञानाचार आदि पाँच आचारों के विचारज्ञ हैं, जिनके कषाय शान्त हैं, शीत-उष्णादि परीषहों के विजेता हैं और जो बाह्य परिग्रह के समान अन्तरंग परिग्रह से भी रहित हैं, वे ही सच्चे गुरु हैं। **(उ. श्रा.१४/१५)**

१३. प्रश्न : सम्यग्दर्शन की कौन-कौन सी भावनाएँ हैं ?

उत्तर : संसार से भय होना, शान्त परिणाम होना, धीरता रखना, मूढ़ताओं का त्याग करना, गर्व नहीं करना, श्रद्धा रखना और दया करना सम्यग्दर्शन की ये सात भावनाएँ जानने योग्य हैं। **(म.पु.२१/९७)**

परिणामों की स्थिरता रखना, जिनायतनादि धर्मक्षेत्र में रमण करना, उत्तम भावनाएँ भाना, शंकादि दोषों से रहित होना सम्यग्दर्शन को शुद्ध रखने के उपाय हैं। **(प. पु. १०५/२१४)**

सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के कारणों को कहते हैं -

तन्निसर्गादधिगमाद्वा ॥३॥

(तत्) वह सम्यग्दर्शन **(निसर्गात्)** स्वभाव से **(वा)** अथवा **(अधिगमात्)** परोपदेश से उत्पन्न होता है।

अर्थ : वह सम्यग्दर्शन स्वभाव से तथा परोपदेश से उत्पन्न होता है।

निसर्गज : जो बाह्य उपदेश के बिना होता है वह नैसर्गिक सम्यग्दर्शन है।

अधिगमज : जो बाह्य उपदेश पूर्वक जीवादि पदार्थों के ज्ञान के निमित्त से होता है वह अधिगमज सम्यग्दर्शन है।[१]

१. प्रश्न : सूत्र में 'तत्' पद का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : इस सूत्र से पूर्व के सूत्र (दूसरे) में सम्यग्दर्शन का ग्रहण किया है। उसी का निर्देश करने के लिए सूत्र में 'तत्' पद का ग्रहण किया है। अनन्तरवर्ती सूत्र में सम्यग्दर्शन का ही उल्लेख किया है उसे ही यहाँ 'तत्' इस पद द्वारा निर्दिष्ट किया गया है। यदि 'तत्' पद न लिखते तो मोक्षमार्ग का प्रकरण होने से उसका यहाँ ग्रहण हो जाता। **(सर्वा. १६)**

यदि 'तत्' पद न होता तो मार्ग के सम्बन्ध का प्रसंग आ जाता। यहाँ मोक्षमार्ग का प्रकरण है इसलिए 'तत्' शब्द के ग्रहण बिना प्रधानभूत मोक्ष का सम्बन्ध हो जाता अर्थात् मोक्षमार्ग दो प्रकार का हो जाता। इस प्रकार निसर्गमात्र से मोक्षमार्ग का लाभ हो जाता वा बहुश्रुतत्व-प्रदर्शन की इच्छा वाले मिथ्यादृष्टियों को भी अधिगम मात्र से मोक्षमार्ग का प्रसंग आ जाता। **(रा.वा. ११-१२)**

२. प्रश्न : निसर्गज सम्यग्दर्शन किसे कहते हैं ?

उत्तर : निकट सिद्धि वाले भव्य जीव के दर्शन मोहनीय कर्म के उपशम आदिक अन्तरंग हेतुओं के विद्यमान रहने पर और परोपदेश को छोड़कर शेष ऋद्धिदर्शन, जिनबिम्बदर्शन, वेदना आदि बहिरंग कारणों से उत्पन्न हुए तत्त्वार्थ ज्ञान से उत्पन्न हुआ तत्त्वार्थ श्रद्धान निसर्गज सम्यग्दर्शन है।

जातिस्मरण और जिनबिम्ब दर्शन के बिना उत्पन्न होने वाला नैसर्गिक प्रथम सम्यक्त्व असंभव है। **(ध.पु.६/४३१)**

जो भव्य जीव है, पंचेन्द्रिय है, संज्ञी है और संसार रूपी समुद्र के किनारे आ लगा है उसके काललब्धि मिलने पर जो देव-शास्त्र-गुरु में, तत्त्वों में और मोक्षमार्ग में बिना गुरु के उपदेश के बहुत शीघ्र स्वयं महानिश्चय हो जाता है उसे निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं। **(मू. प्र. १३८२-८३)**

द्रव्यादि योग्य सामग्री को प्राप्त कर, कल्याणकों के माहात्म्य आदि के देखने पर अथवा बाह्य उपदेश रूप कार्य से जो यथार्थ ज्ञान होता है वह निसर्गज सम्यग्दर्शन है। **(गु. श्रा. १/६५)** जैसे कुरुक्षेत्र में क्वचित् बाह्य पुरुषार्थ की अपेक्षा के बिना ही सुवर्ण मिल जाता है, उसी प्रकार बाह्य में पुरुष के उपदेश पूर्वक जीवादि के अधिगम बिना ही जो सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है वह निसर्गज सम्यग्दर्शन है। **(रा.वा. ८)**

---

१. अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के तो गुरूपदेश पूर्वक ही सम्यग्दर्शन होता है किन्तु सादि मिथ्यादृष्टि के गुरूपदेश के बिना भी हो जाता है। इसीलिए इस सूत्र में आये हुए ''वा'' शब्द का अनादि मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा तो धारणात्मक अर्थ लेना और सादि मिथ्यादृष्टि की विवक्षा में विकल्प अर्थ ग्रहण करना।

३. प्रश्न : निसर्गज सम्यग्दर्शन में बहिरंग कारण कौन-कौन से होते हैं ?

उत्तर : योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप सम्पत्ति को प्राप्त कोई भव्य जीव जिसने सम्यक्त्व की उत्पत्ति में बाधक कर्म रूपी अन्धकार के सम्बन्ध को नहीं किया है; जो शिक्षा, क्रिया आदि में निपुण है ; जिसमें नये बर्तन की तरह दुर्वासना का सम्बन्ध उत्पन्न नहीं हुआ है; जो शीघ्र यथार्थ वस्तुस्वरूप के संक्रमण में कारण होने से स्फटिक मणि के दर्पण के समान है; पूर्व भव के स्मरण से, कष्टों के अनुभव से, धर्मशास्त्र के सुनने से, जिनबिम्ब के दर्शन से, महामहोत्सवों को देखने से, महाऋद्धिधारी आचार्यों के दर्शन से, मनुष्यों और देवों में सम्यक्त्व के माहात्म्य से उत्पन्न हुए ऐश्वर्य को देखने से अथवा अन्य किसी कारण से विचार रूपी बगीचों में मन की क्रीड़ा का स्थान खेद प्राप्त न करके जब जीवादि मोक्षोपयोगी तत्त्वों में यथोक्त परिज्ञान वाला श्रद्धान उत्पन्न करता है तो उस सम्यक्त्व को निसर्गज सम्यक्त्व कहते हैं। **(य. ति. च. ६/२२७)**

४. प्रश्न : निसर्गज सम्यग्दर्शन नहीं बन सकता क्योंकि तत्त्वाधिगम के बिना उनका श्रद्धान कैसे हो सकता है ?

उत्तर : यह कोई दोष नहीं है क्योंकि निसर्गज एवं अधिगमज दोनों ही सम्यग्दर्शनों में दर्शनमोहनीय का उपशम, क्षय, क्षयोपशम रूप अन्तरंग कारण समान है। इसके रहते हुए जो बाह्य उपदेश के बिना होता है वह निसर्गज सम्यग्दर्शन एवं जो बाह्य उपदेश पूर्वक होता है वह अधिगमज सम्यग्दर्शन है। **(सर्वा. १५)** लोक में दूसरे के उपदेश के बिना स्वाभाविक परिणति होती है। जैसे-लोक में शेर, भेड़िया, सर्प आदि में क्रूरता, शूरता आदि स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है परन्तु सिंह आदि में भी यह प्रवृत्ति कर्मोदय रूप निमित्त से होने के कारण सर्वथा आकस्मिक नहीं है तथापि परोपदेश की अपेक्षा का अभाव होने से अनाकस्मिकी होने पर भी नैसर्गिक कहलाती है उसी प्रकार परोपदेश निरपेक्ष सम्यग्दर्शन में भी निसर्गता स्वीकार की गई है। **(रा.वा. ६)**

५. प्रश्न : अधिगमज सम्यग्दर्शन किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस प्रकार सुवर्णपाषाण, विधि को जानने वाले पुरुष के प्रयोग की अपेक्षा, कनकभाव को प्राप्त होता है, उसी प्रकार जो सम्यग्दर्शन विधि-उपाय को जानने वाले मानव के सम्पर्क से जीवादि पदार्थों रूप तत्त्वों के अधिगम की अपेक्षा उत्पन्न होता है वह अधिगमज सम्यग्दर्शन होता है। **(रा.वा. ८)** तत्त्व और देव-शास्त्र-गुरु के स्वरूप को सुनकर जो मोक्षमार्ग में रुचि उत्पन्न होती है वह सज्जनों का अधिगमज सम्यग्दर्शन कहलाता है। **(मू. प्र. १३८४)** वह श्रद्धान प्रत्यक्ष, परोक्ष प्रमाण अर द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक नय अर नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव निक्षेप अर व्याकरणादि करि साधित निरुक्ति अर निर्देश, स्वामित्व आदि अनुयोग इत्यादि करि विशेष निर्णय रूप है लक्षण जाका ऐसा जो अधिगमज श्रद्धान ही है। **(गो. जी. जी. ५६१)** प्रमाण, नय और निक्षेप से तत्त्व का निश्चय करके और अपने संदेह आदि को दूर करके जो रुचि उत्पन्न होती है वह अधिगमज है। **(गु. श्रा.१/६६)** जब निकट भव्य मिथ्याज्ञान से

आच्छादित है परन्तु श्रद्धा, नय, प्रमाण व सिद्धान्तशास्त्र के वेत्ता गुरु के निकटवर्ती है, जो ऐसे समस्त सिद्धान्तशास्त्रों की परीक्षा के आग्रह से, जो कि प्रमाण, नय, निक्षेप व चारों अनुयोगों के उपयोग द्वारा अवगाहन करने योग्य है, कष्ट उठाकर समझाया जाता है, उसे जो चिरकाल के पश्चात् समस्त दुराशारूपी रात्रि को नष्ट करने के लिए सूर्य की किरण के समान तत्त्वरुचि उत्पन्न होती है, उसे अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं क्योंकि उसमें तत्त्वोपदेशक का कष्ट कारण है। **(य. ति. च. ६/२२७)**

६. प्रश्न : भव्य जीव को काल के अनुसार ही मोक्ष होता है इसलिए अधिगमज सम्यक्त्व का अभाव है क्योंकि अधिगमज सम्यग्दर्शन के सामर्थ्य से अवधृत काल के पूर्व मोक्ष नहीं हो सकता ?

उत्तर : ऐसा कहना उचित नहीं है कि काल से मोक्ष होता है। ऐसा कहने वाला हमारी विवक्षा के परिज्ञान से शून्य है। क्योंकि मोक्ष तो सम्यग्दर्शन सहित सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र से होता है। उसमें जो प्रथम है वह कैसे उत्पन्न होता है ऐसा पूछने पर ''वह सम्यग्दर्शन निसर्ग और अधिगम से उत्पन्न होता है'' यहाँ यह अर्थ विवक्षित है। सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र निरपेक्ष केवल निसर्गज एवं अधिगमज सम्यग्दर्शन से मोक्ष इष्ट होता तो यह कहना युक्त था कि भव्य को काल से मोक्ष की उत्पत्ति होती है परन्तु यह अर्थ यहाँ विवक्षित नहीं है। इसलिए अन्यतर (अधिगमज) सम्यग्दर्शन का अभाव नहीं है। अत: विवक्षित अर्थ का अपरिज्ञान होने से अधिगमज सम्यग्दर्शन का अभाव कहना समीचीन नहीं है। **(रा.वा. ८)**

७. प्रश्न : क्या सभी सम्यक्त्व निसर्गज और अधिगमज होते हैं ?

उत्तर : हाँ, सभी सम्यक्त्व निसर्गज और अधिगमज होते हैं। जिस प्रकार औपशमिक सम्यग्दर्शन, निसर्ग और अधिगम दोनों से होता है उसी प्रकार क्षायिक एवं क्षायोपशमिक सम्यक्त्व भी दोनों प्रकार से होते हैं।[१]

८. प्रश्न : क्षायिक सम्यग्दर्शन निसर्गज कैसे होता है ? क्योंकि वह तीर्थंकर आदि के पादमूल में ही होता है ?

उत्तर : जो वेदक सम्यग्दृष्टि जीव नरक से निकल कर तीर्थंकर होते हैं वे स्वयं मुनि पद अंगीकार कर जिन-पद संज्ञा के अधिकारी हो जाते हैं, अत: वे किसी अन्य केवली या श्रुत केवली के पादमूल में उपस्थित हुए बिना स्वयं दर्शन-मोहनीय की क्षपणा कर लेते हैं अत: उनका क्षायिक सम्यग्दर्शन निसर्गज है।[२]

---

१. दर्शनमोहोपशमादौ सत्यन्तरङ्गे हेतौ बहिरंगादपरोपदेशात्तत्त्वार्थज्ञानात् परोपदेशापेक्षाच्च प्रजायमानं तत्त्वार्थश्रद्धानं निसर्गजमधिगमजं च प्रत्येतव्यम्। **(श्लो २/८५)**

२. उपदेश और अनुपदेश रूप लक्षण की अपेक्षा तीनों ही सम्यग्दर्शन या क्षायिक सम्यग्दर्शन भी नैसर्गिक हो सकता है, यह मानने में कोई बाधा नहीं है। उपदेश के बिना और किसी निमित्त से जो सम्यग्दर्शन हुआ उसका नाम नैसर्गिक है।

९. प्रश्न : क्या दर्शन मोह के उपशम में भी द्रव्यादि हेतु होते हैं ?

उत्तर : हाँ, विष आदि के नाश की भाँति दर्शन मोह के उपशम में भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव हेतु होते हैं। जिनेन्द्र बिम्ब आदि तो द्रव्य हैं, समवसरण आदि क्षेत्र हैं, अर्ध पुद्गल परिवर्तन विशेष काल है, अध:प्रवृत्तकरण आदि भाव हैं। उस दर्शन मोहनीय कर्म का अभाव होने पर ही उपशमादि की प्रतिपत्ति होती है। दूसरे प्रकारों से उन उपशम आदि के होने का अभाव है।[१] **(श्लो. २/८)**

तत्त्वों के नाम कहते हैं –

जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् ।।४ ।।

जीव-अजीव-आस्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा-मोक्षा: तत्त्वम्।

अर्थ - जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये तत्त्व हैं।

जीव - जिसमें चेतना पायी जाती है उसे जीव कहते हैं।

अजीव - जीव से विपरीत लक्षण वाला अजीव है।

आस्रव - कर्मों के आने के द्वार को आस्रव कहते हैं।

बंध - आत्मा और कर्मप्रदेशों का परस्पर मिल जाना बन्ध है।

संवर - आते हुए कर्मों का रुक जाना संवर है।

निर्जरा - संचित कर्मों का तप विशेष के सन्निधान होने से एकदेश क्षय हो जाना निर्जरा है।

मोक्ष - कर्मों का मूल से उच्छेद हो जाना मोक्ष है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा है?

उत्तर : तत्त्वार्थ श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है अत: वे तत्त्व कौन-कौन से हैं ऐसा प्रश्न होने पर यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा. उ. ४)**

२. प्रश्न : तत्त्व कितने होते हैं ?

उत्तर : तत्त्व सामान्य रीति से एक प्रकार का है।

जीव और अजीव के भेद से तत्त्व दो प्रकार का है।

जीवों के संसारी और मुक्त ऐसे दो भेद करने पर (१) संसारी जीव (२) मुक्त जीव और (३) अजीव के भेद से तीन प्रकार का है।

संसारी जीव के दो भेद हैं भव्य और अभव्य। इस प्रकार भव्यजीव, अभव्य जीव, मुक्त जीव और अजीव के भेद से तत्त्व के चार भेद हैं। अथवा -

---

१. सम्यग्दर्शन के योग्य द्रव्य तो आसन्न भव्य जीव होता है और कर्मभूमि वगैरह क्षेत्र है।

जीव दो प्रकार के संसारी और मुक्त तथा अजीवों के भी दो भेद मूर्त्त और अमूर्त्त इस प्रकार (संसारी, मुक्त, मूर्त्त-अमूर्त्त) भी तत्त्व के चार भेद निश्चय किये जाते हैं।

पाँच अस्तिकायों के भेद से उस तत्त्व के पाँच भेद होते हैं।

पाँच अस्तिकायों में काल को मिलाने पर तत्त्व के छह भेद होते हैं।

इस प्रकार इस तत्त्व के अनन्त भेद होते हैं। **(म. पु. २४/८७-९१)**

तत्त्व के सात भेद होते हैं -

जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। **(त. सू. १/४)**

सात तत्त्वों में जीव और अजीव दो तत्त्व तो नियम से धर्मी हैं तथा आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये पाँच उन जीव तथा अजीव के धर्म हैं। इस प्रकार दो धर्मी स्वरूप और पाँच धर्म स्वरूप ये सात प्रकार के तत्त्व कहे हैं। **(श्लो पु. २ पृ. १५६)**

३. प्रश्न : जीव तत्त्व किसे कहते हैं ?

उत्तर : त्रैकालिक जीवन का अनुभवन करने वाला होने से जीव है। पाँच इन्द्रिय, मनोबल, वचनबल, कायबल, आयु और श्वासोच्छ्वास, इन दस प्राणों में से अपनी-अपनी पर्यायानुसार गृहीत प्राणों के द्वारा तीनों कालों में जीवन का अनुभव करने वाला होने से 'जीता है, जीता था और जीवेगा' इसलिए यह जीव है। **(रा.वा. ७)** शुद्ध निश्चय नय से यद्यपि जीव शुद्ध चैतन्य लक्षण निश्चय प्राणों से जीता है तथापि व्यवहार नय से कर्मोदयजनित द्रव्य व भाव प्राणों से जीता है। **(पं. का. ता. २७)**

चेतना स्वभाव होने से चेतना के विकल्प रूप ज्ञान-दर्शन लक्षण वाला जीव है। इस चेतना से ही जीव अन्य द्रव्यों से व्यावृत होता है। जिसके सन्निधान से आत्मा ज्ञाता-द्रष्टा, कर्त्ता, भोक्ता होता है वह जीव का लक्षण है। **(रा. वा. १४)**

आत्मा का लक्षण चेतना तथा उपलब्धि है और वह उपलब्धि ज्ञान-दर्शन लक्षण वाली है। **(न.च.वृ. ३९१)**

४. प्रश्न : जीव का ऐसा लक्षण करने पर सिद्धों में जीवत्व की सिद्धि नहीं हो सकती ?

उत्तर : ऐसी आशंका भी नहीं करनी चाहिए, क्योंकि सिद्धों में ज्ञान, दर्शनादि भाव-प्राणों का अनुभव वर्तमान में भी है अत: मुख्य ही जीवत्व है। अथवा- जीव शब्द की यह व्युत्पत्ति रूढ़ि से है और रूढ़ि में क्रिया, व्युत्पत्ति अर्थ रहता है। वह कदाचित् जीवन की अपेक्षा होकर सदा काल रहता है गौ शब्द के समान। जैसे 'गच्छतीति गौ', जो चले सो गाय, यहाँ बैठी हुई गौ में भी गौ व्यवहार होता है क्योंकि कभी तो वह चलती थी, उसी प्रकार कभी तो सिद्धों ने द्रव्य प्राणों को धारण किया था। अत: रूढ़िवश उनमें जीव व्यवहार होता रहता है। **(रा. वा. ७)**

५. प्रश्न : जीव का लक्षण चेतना मानने पर वनस्पति आदि में ज्ञान-दर्शन का अभाव होने से अजीवत्व का प्रसंग आयेगा। क्योंकि इनमें हित-प्राप्ति एवं अहित परिहार रूप शक्ति का अभाव होने से बुद्धिपूर्वक प्रवृति नहीं होती है।

उत्तर : ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि वनस्पति आदिक जीवों में भी सर्वज्ञ प्रत्यक्ष और छद्मस्थों के आगमगम्य ज्ञान-दर्शन पाये जाते हैं। इसलिए अनुमान से भी इनमें चेतना सिद्ध है। अण्डस्थ, गर्भस्थ, मूर्च्छितादि जीवों में जीवत्व होने पर भी बुद्धि पूर्वक स्थूल क्रिया दृष्टि-गोचर नहीं होती है। अत: क्रिया के नहीं दिखने से उनमें चेतनत्व का अभाव नहीं माना जा सकता है। इसलिए बुद्धिपूर्वक प्रवृत्ति नहीं होने से वनस्पति आदि में तथा द्वीन्द्रियादि में चेतना का अभाव सिद्ध करने के लिए दिया गया हेतु व्यभिचारी (सदोष) है। **(रा.वा.१५)**

६. प्रश्न : चेतना किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस शक्ति के सान्निध्य से आत्मा ज्ञाता-द्रष्टा अथवा कर्त्ता-भोक्ता होता है वह चेतना है और वही जीव का स्वभाव होने से उसका लक्षण है। **(रा.वा. १४)** चेतना, अनुभूति, उपलब्धि, वेदना इन सबका एक अर्थ है। **(पं. का. ३९)** अनुभवन रूप भाव का नाम चेतन है। **(न. च. ६३)** चेतना प्रतिभास रूप होती है। वह चेतना द्विरूपता का उल्लंघन नहीं करती है, क्योंकि समस्त वस्तुएँ सामान्य-विशेषात्मक हैं। उसके जो दो रूप हैं वे दर्शन और ज्ञान हैं। **(स.सा. ता. २९८-९९)**

७. प्रश्न : चेतना कितने प्रकार की होती है ?

उत्तर : चेतना दो प्रकार की होती है।

(१) ज्ञान चेतना (२) अज्ञान चेतना।

इसमें अज्ञान चेतना दो प्रकार की है - (१) कर्म चेतना (२) कर्मफल चेतना। **(स. सा. ता. वृ. ३८७)** (१) शुद्ध चेतना (२) अशुद्ध चेतना। ज्ञानानुभूतिरूप शुद्ध चेतना है और कार्यानुभूति स्वरूप तथा कर्मफलानुभूति स्वरूप अशुद्ध चेतना है। **(पं. का. ता. १६)**

केवलज्ञान रूप शुद्ध चेतना है। **(वृ.द्र.सं.टी. १५)**

८. प्रश्न : ज्ञान चेतना किसे कहते हैं ?

उत्तर : एक जीव राशि जिसने विशुद्ध आत्मानुभूति की भावना से कर्मकलंक को नष्ट कर दिया है, केवल (शुद्ध) ज्ञान का अनुभव करती है, वह ज्ञान चेतना है। **(पं. का. ता. ३८)**

९. प्रश्न : कर्म चेतना किसे कहते हैं ?

उत्तर : निज चेष्टा पूर्वक इष्ट, अनिष्ट विकल्परूप से विशेष राग-द्वेष रूप परिणाम कर्म चेतना है। **(वृ.द्र.सं.टी. १५)**

कर्म परिणति कर्म चेतना है **(प्र.सा.ता. १२३)** एक जीवराशि चैतन्य भाव से प्राप्त सामर्थ्य से इच्छा-पूर्वक इष्ट अनिष्ट विकल्परूप कर्म के कार्य को वेदन करती है वह कर्म चेतना है। **(पं.का.ता. ३८)** ज्ञान से अन्य ऐसा अनुभव करना कि इसे 'मैं करता हूँ' सो कर्म चेतना है। **(स. सा. आ. ३८७)**

१०. प्रश्न : कर्मफल चेतना किसे कहते हैं ?

उत्तर : अव्यक्त सुख-दुःखानुभव स्वरूप कर्मफल चेतना है। **(द्र.सं.टी. १५)** एक जीव राशि कर्मों के सुख-दुःख रूप फल को भोगती है, वह कर्मफल चेतना है। **(पं. का. ता. ३८)** कर्मफल परिणति कर्मफल चेतना है। आत्मा के द्वारा किया जाता है वह कर्म है और उस कर्म से उत्पन्न किया जाने वाला सुख-दुःख कर्मफल है। **(प्र.सा.ता. १२४)** ज्ञान से अन्य ऐसा अनुभव करना कि 'इसे मैं भोगता हूँ' सो कर्मफल चेतना है। **(स.सा.आ. ३८७)**

११. प्रश्न : ज्ञान एवं अज्ञान चेतना किसे कहते हैं ?

उत्तर : ज्ञान चेतना - ज्ञानी तो ज्ञानचेतनामय होने के कारण केवल ज्ञाता ही है, इसलिए वह शुभ तथा अशुभ कर्मबन्ध को तथा कर्मफल को मात्र जानता ही है। चारित्र स्वरूप होता हुआ अपने को अर्थात् ज्ञानमात्र को चेतता है इसलिए स्वयं ही ज्ञान चेतना है। **(स.सा.आ. ३८६)**

अज्ञान चेतना - ज्ञान से अन्य 'यह मैं हूँ' ऐसा अनुभव करना अज्ञान चेतना है। **(स. सा. आ. ३८७)**

१२. प्रश्न : ये तीनों चेतना किस-किस के होती हैं?

उत्तर : सर्व स्थावर जीव कर्मफल को वेदते हैं।

त्रस जीव कर्म और कर्मफल इन दो चेतनाओं को वेदते हैं।

जो प्राणित्व का अतिक्रम कर गये हैं ऐसे केवलज्ञानी ज्ञान चेतना को वेदते हैं। **(पं.का. ३९)**

१३. प्रश्न : जीव के पर्यायवाची नाम कौन-कौन से हैं ?

उत्तर : जीव कर्त्ता है, वक्ता है, प्राणी है, भोक्ता है, पुद्गलरूप है, वेत्ता है, विष्णु है, स्वयंभू है, शरीरी है, मानव है, सक्ता है, जन्तु है, मानी है, मायावी है, योग सहित है, संकुट है, असंकुट है, क्षेत्रज्ञ है और अन्तरात्मा है। **(ध. १/१२०)**

जीव, प्राणी, जन्तु, क्षेत्रज्ञ, पुरुष, पुमान्, आत्मा, अन्तरात्मा, ज्ञ और ज्ञानी ये सब जीव के पर्यायवाचक नाम हैं। **(म.पु. २४/१०३)**

कर्त्ता - व्यवहार नय से राग आदि भाव का कर्त्ता है।

वक्ता - सत्य, असत्य और योग्य-अयोग्य वचन बोलने से वक्ता है।

प्राणी - दश प्राण विद्यमान रहने से प्राणी है।

भोक्ता - चार गति रूप संसार में पुण्य-पाप के फल को भोगने से भोक्ता है।

पुद्गल - नाना प्रकार के शरीरों द्वारा छह संस्थानों को पूरण करने व गलाने से पुद्गल है।

वेद (वेत्ता) - सुख और दु:ख का वेदन करने से अथवा जानने के कारण वेत्ता (वेद) है।

विष्णु - प्राप्त हुए शरीर को व्याप्त करने से विष्णु है।

स्वयंभू - स्वत: ही उत्पन्न होने से स्वयंभू है।

शरीरी - संसारावस्था में शरीर सहित होने से शरीरी है।

मानव - मनु ज्ञान को कहते हैं, उसमें उत्पन्न होने से मानव है।

सक्ता - स्वजन, सम्बन्धी, मित्र आदि वर्ग में आसक्त रहने के कारण सक्ता है।

जन्तु - चतुर्गति रूप संसार में जन्म लेता और उत्पन्न कराता है अत: जन्तु है।

मानी - मान कषाय पायी जाने से मानी है।

मायी - माया कषाय पायी जाने से मायी है।

योगी - तीन योग पाये जाने से योगी है।

संकुट - अतिसूक्ष्म देह मिलने से संकुचित होता है इसलिए संकुट है।

अंसकुट - सम्पूर्ण लोकाकाश को व्याप्त करता है इसलिए असंकुट है।

क्षेत्रज्ञ - लोकालोक रूप क्षेत्र को अथवा अपने स्वरूप को जानने से क्षेत्रज्ञ है।

अन्तरात्मा - आठों कर्मों में रहने से अन्तरात्मा है। **(ध. १/१२०-१२१)**

प्राणी - दश प्राण विद्यमान रहने से यह जीव प्राणी है।

क्षेत्रज्ञ - इसके स्वरूप को क्षेत्र कहते हैं, उस क्षेत्र को जानने से वह क्षेत्रज्ञ है।

पुरुष - पुरु (महान्-अच्छे-अच्छे) भोगों में शयन करने से यह पुरुष कहा जाता है।

पुमान् - अपने आत्मा को पवित्र करने से पुमान् कहलाता है।

आत्मा - नर-नारकादि पर्यायों में अतति अर्थात् निरन्तर गमन करते रहने से आत्मा कहा जाता है।

ज्ञ-ज्ञानी - ज्ञान गुण सहित होने से 'ज्ञ' कहा जाता है और ज्ञानी कहा जाता है।

इसी प्रकार यह जीव अन्य भी अनेक शब्दों से जानने योग्य है। **(म. पु. २४/१०३-८)**

१४. प्रश्न : अजीव तत्त्व किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिसमें उपयोग के साथ रहने वाली, यथोक्त लक्षण वाली चेतना का अभाव होने से बाहर और भीतर अचेतनत्व अवतरित, प्रतिभासित होता है वह अजीव है। **(प्र.सा. ता. १२७)** पूर्वोक्त लक्षणवाली चेतना जहाँ नहीं है वह अजीव होता है ऐसा जानना चाहिए। **(द्र.सं. १५)** जीव से विपरीत लक्षणवाला अजीव है। **(सर्वा. १८)**

१५. प्रश्न : आस्रव किसे कहते हैं ?

उत्तर : पुण्य और पाप लक्षण रूप कर्मों के आगमन द्वार को आस्रव कहते हैं। जैसे-नदियों के द्वारा समुद्र प्रतिदिन जल से भरा जाता है, उसी प्रकार मिथ्या-दर्शन आदि स्रोतों से आत्मा कर्मों से भरा जाता है अर्थात् इनके द्वारा आत्मा में कर्म आते हैं। अत: मिथ्यादर्शनादि आस्रव हैं। **(रा.वा. १६)** जिसके द्वारा कर्म आते हैं वह या कर्मों का आना मात्र आस्रव है। **(रा.वा. ९)** जिस प्रकार समुद्र के भीतर छेदवाली नाव में पानी आता है, उसी प्रकार जीव में मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग इन चार कारणों से कर्म आस्रवित होता है। **(वसु.श्रा. ३९)**

१६. प्रश्न : बन्ध किसे कहते हैं ?

उत्तर : जीव के प्रदेश और कर्म के स्कन्धों का परस्पर मिलकर एकमेक हो जाना बन्ध है। **(वसु. श्रा. ४१)** आत्मा और कर्मप्रदेशों का प्रदेशानुप्रवेश होना बन्ध है। मिथ्यादर्शनादि कारणों के द्वारा आये हुए कर्म-पुद्गलों का आत्मप्रदेशों में एकक्षेत्रावगाह हो जाना बन्ध है। यह बन्ध के समान होने से बन्ध है। जैसे - बेड़ी आदि से बँधा हुआ जीव परतंत्र हो जाने से उसके अपने इच्छित देश, नगरादि में गमन का अभाव हो जाता है जिससे वह अत्यन्त दु:खी होता है उसी प्रकार कर्मबन्धनबद्ध आत्मा परतंत्र होने से अनेक प्रकार के शारीरिक एवं मानसिक दु:खों से दु:खी होता है। **(रा.वा. १६-१७)** जिनसे कर्म बँधते हैं वह वा कर्मों का बँधना बन्ध है। कर्म बँधना, जिनके द्वारा आत्मा परतंत्र हो जाता है वा परतंत्र कर दिया जाता है वह बंध है। **(रा. वा. १०)** द्रव्य का द्रव्य के साथ तथा द्रव्य और भाव का क्रम से जो संयोग और समवाय है वही बन्ध कहलाता है। **(ध. १४/२)**

१७. प्रश्न : संवर तत्त्व किसे कहते हैं ?

उत्तर : मिथ्यादर्शनादि आस्रव द्वारों के विरोध लक्षण वाला संवर है। पूर्वोक्त मिथ्यादर्शनादि आस्रवद्वारों का शुभ परिणामों के वश से निरोध करना संवर है। संवर के समान संवर है जैसे सुगुप्त, सुरक्षित तथा दृढ़ कपाटों से बन्द नगर शत्रुओं के द्वारा अगम्य होता है अर्थात् ऐसे सुरक्षित नगर में शत्रु प्रवेश नहीं कर सकते, उसी प्रकार सुगुप्ति, ईर्यादि पाँच समिति, उत्तम क्षमादि दस धर्म, बारह अनुप्रेक्षा, बाईस परीषहजय तथा सामायिक आदि पाँच चारित्र से सुसंवृत तथा कषाय, इन्द्रिय आदि के निरोध से सुरक्षित आत्मा नवीन कर्मागम द्वारों का संवरण हो जाने से कर्मशत्रुओं के द्वारा अगम्य हो जाता है। अत: नवीन

कर्मद्वार का निरोध ही संवर है। **(रा. वा. १८)** जिन सम्यग्दर्शनादि परिणामों से अथवा गुप्ति, समिति आदि परिणामों से मिथ्यादर्शनादि परिणाम रोके जाते हैं वे रोकने वाले परिणाम संवर शब्द से कहे जाते हैं। **(भ.आ.वि. ३७)**

जिस प्रकार नाव के छिद्र रुक जाने पर उसमें जल प्रवेश नहीं करता, उसी प्रकार मिथ्यात्वादि का अभाव हो जाने पर जीव में कर्मों का संवर होता है अर्थात् नवीन कर्मों का आस्रव नहीं होता है। **(न.च. वृ. १५५)**

१८. प्रश्न : निर्जरा किसे कहते हैं ?

उत्तर : पूर्व संचित कर्मों का तपो-विशेष का सन्निधान होने पर एकदेश क्षय होना अथवा क्रमश: अंश रूप में झड़ जाना निर्जरा है। जैसे मंत्र या औषधि आदि से नि:शक्त किया हुआ विष दोष उत्पन्न नहीं कर सकता, वैसे ही सविपाक और अविपाक निर्जरा के कारण भूत तपो-विशेष के द्वारा निरस्त किये गये वा नि:शक्त हुए कर्म संसारचक्र को नहीं चला सकते। **(रा.वा.१९)** पूर्वबद्ध कर्मों के क्रम से झड़ने को निर्जरा कहते हैं। **(भ.आ. १८४०)** आत्मप्रदेशों के साथ बँधे हुए कर्मप्रदेशों का उस आत्मा के प्रदेशों से झड़ना निर्जरा है। **(बा.अ.६६)** एकदेश रूप से कर्मों का जुदा होना निर्जरा है। **(सर्वा. १८)** यथाकाल या तपो विशेष से कर्मों की फलदानशक्ति को नष्ट कर उन्हें झड़ा देना निर्जरा है। **(वृ.द्र.सं. ३६)**

१९. प्रश्न : मोक्ष तत्त्व किसे कहते हैं ?

उत्तर : सम्यग्दर्शनादि कारण प्रयोग की प्रकर्षता होने पर प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बन्ध रूप चार प्रकार के कर्मों का आत्मा से अत्यन्त वियोग हो जाना मोक्ष है। जैसे-बेड़ी आदि बन्धन रहित प्राणी स्वतन्त्र होकर यथेच्छ गमन करता है और सुखी होता है उसी प्रकार सर्व कर्मबन्धन का वियोग होने पर मुक्त आत्मा स्वाधीन, अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान और अनुपम सुख का भोक्ता होता है। **(रा.वा.२०)** समस्त कर्मों के क्षय हो जाने को जिनशासन में मोक्ष कहा गया है। उस मोक्ष को प्राप्त करने पर यह जीव अनन्त सुख का अनुभव करता है। **(वसु.श्रा. ४५)** आत्म स्वभाव से मूल और उत्तर कर्म प्रकृतियों के संचय का छूट जाना मोक्ष है और यह अविरुद्ध है। **(न.च.वृ. १५८)** आत्मा और बन्ध को अलग-अलग कर देना मोक्ष है। **(स.सा. २८८ आ.)**

२०. प्रश्न : सूत्र में सात तत्त्वों का ही कथन क्यों किया है ?

उत्तर : एक को आदि लेकर द्रव्यों के अनन्त विकल्प होने पर शिष्यों के अभिप्राय के अनुसार मध्यम भेदों का कथन किया है। यदि अत्यन्त संक्षेप से कथन किया जाय तो विद्वज्जनों को ही प्रतीति हो सकती है और यदि अति विस्तार से निरूपण किया जाय तो चिरकाल तक भी प्रतिपत्ति नहीं हो सकेगी। अत: शिष्यों के आशयानुसार मध्यम क्रम से सात तत्त्वों का अभिधान किया है। **(रा.वा.१)**

अजीवतत्त्व के ग्रहण का (जीव अजीव का ग्रहण क्यों करता है) कारण होने से आस्रव तत्त्व कहा

गया है तथा छोड़ने योग्य अजीव तत्त्व के ग्रहण रूप होने से बन्ध तत्त्व का निर्देश हुआ है। संवर-निर्जरा ये दो तत्त्व, अजीव तत्त्व के छोड़ने में कारण होने से कहे गये हैं और छोड़ने योग्य अजीवतत्त्व के छोड़ देने से जीव की जो अवस्था होती है उसे बतलाने के लिए मोक्ष तत्त्व दिखाया गया है। **(त.सा. १/७-८)**

२१. प्रश्न : तत्त्वों के एक को आदि लेकर अनेक भेद कैसे होते हैं ?

उत्तर : एक ही पदार्थ अनन्त पर्याय वाला है **'द्रव्यमनन्तपर्यायम्'**। जीव और अजीव के भेद से पदार्थ दो प्रकार के हैं। अर्थ, शब्द और ज्ञान रूप से पदार्थ तीन प्रकार के हैं। इसी प्रकार शब्दों के प्रयोग की अपेक्षा संख्यात और ज्ञान के ज्ञेय के विकल्प-अपेक्षा पदार्थ के असंख्यात और अनन्त भेद होते हैं। **(रा.वा.१)**

२२. प्रश्न : सात तत्त्वों की आदि में जीव तत्त्व को क्यों रखा गया है ?

उत्तर : सम्पूर्ण फल जीव को मिलता है अत: सर्वप्रथम जीव तत्त्व का ग्रहण किया है। **(सर्वा. १८)** जो यह मोक्षमार्ग के उपदेश आदि का प्रयत्न है वह जीव के लिए किया जाता है। वह जीव ही मोक्ष-पर्याय रूप परिणत होता है। अथवा जो जीवादि के उपदेश का परिस्पन्द है वह आत्मा के लिए है क्योंकि उपयोग स्वभाव होने से आत्मा ही उसको ग्रहण कर सकता है इसलिए सूत्र में सर्व प्रथम जीव को ग्रहण किया है। **(रा.वा. २१)**

२३. प्रश्न : जीव के बाद अजीव का ग्रहण क्यों किया है?

उत्तर : अजीव जीव का उपकारी है यह बताने के लिए जीव के अनन्तर अजीव का ग्रहण है। **(सर्वा. १८)** जीव का अनुग्रह करने वाला होने से जीव के अनन्तर अजीव का ग्रहण है क्योंकि शरीर, वचन, मन, श्वासोच्छ्वास आदि उपकार के द्वारा अजीव, आत्मा का उपकार करता है। अत: जीव के बाद अजीव का ग्रहण किया है। **(रा.वा. २२)**

२४. प्रश्न : अजीव के समीप आस्रव का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : आस्रव जीव एवं अजीव दोनों को विषय करता है अत: इन दोनों के बाद आस्रव का ग्रहण किया है। **(सर्वा. १८)** आत्मा और पुद्गल के सम्बन्धाधीन होने से दोनों के समीप आस्रव को ग्रहण किया है क्योंकि आत्मा और पुद्गल वर्गणा रूप कर्मों का परस्पर संश्लेष होने पर ही आस्रव की प्रसिद्धि होती है इसलिए जीव और अजीव के समीप आस्रव को ग्रहण किया है। **(रा.वा.२३)**

२५. प्रश्न : आस्रव के बाद बन्ध एवं बन्ध के बाद संवर का ग्रहण क्यों किया है?

उत्तर : बंध आस्रव पूर्वक होता है, इसलिए आस्रव के बाद बन्ध का कथन किया है।

(सर्वा.१८) आस्रव पूर्वक ही बन्ध होने के कारण आस्रव के बाद बन्ध का ग्रहण है। **(रा.वा. २४)** संवृत जीव के बन्ध नहीं होता, अत: संवर बन्ध का उलटा हुआ, इस बात का ज्ञान कराने के लिए बन्ध के बाद संवर का कथन किया है। **(सर्वा. १८)** संवृत के बन्ध नहीं होता अत: बन्ध के प्रत्यनीक (विपरीत रूप संवर) का ज्ञान कराने के लिए बन्ध के समीप संवर का ग्रहण है। **(रा.वा. २५)**

२६. प्रश्न : संवर के बाद निर्जरा का एवं अन्त में मोक्ष का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : निर्जरा संवर पूर्वक ही होती है इसलिए संवर के निकट निर्जरा को कहा है। संवर के होने पर निर्जरा होती है इसलिए संवर के पास निर्जरा को कहा है तथा मोक्ष अन्त में प्राप्त होता है, इसलिए उसका कथन अन्त में किया है। **(सर्वा. १८)** सर्व कर्मों के निर्जरण होने पर अन्त में मोक्ष होता है इसलिए अन्त में मोक्ष को स्थान दिया है। **(रा.वा. २७)**

२७. प्रश्न : सूत्र में सात तत्त्वों का विभाग क्यों किया है ?

उत्तर : जीव और अजीव का परस्पर संश्लेष संसार का प्रधान कारण है अर्थात् इनका संश्लेष होने पर संसार होता है और इन दोनों के पृथक्-पृथक् हो जाने से मोक्ष होता है अत: संसार और मोक्ष के प्रधान कारणों के प्रतिपादन के लिए सात तत्त्व रूप से विभाग किया है। **(रा.वा. ३)**

२८. प्रश्न : जीव और अजीव में ही आस्रवादि का अन्तर्भाव हो जाता है अत: आस्रवादि का कथन नहीं करना चाहिए ?

उत्तर : वस्तुत: जीव-अजीव और आस्रवादि के भेदाभेद का अनेकान्त दृष्टि से विचार करना चाहिए। अनेकान्त से विचार करने पर भेदाभेद की शंका नहीं रहती, क्योंकि द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय में एक को प्रधान और एक को गौण करके विवक्षा और अविवक्षा के भेद से जीव और अजीव में आस्रवादि का अन्तर्भाव हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है। जैसे आस्रवादि द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार के हैं। द्रव्य आस्रवादि पुद्गल रूप हैं और भावास्रवादि जीवरूप हैं। पर्यायार्थिक नय की गौणता एवं द्रव्यार्थिक नय की मुख्यता तथा आस्रवादि प्रतिनियत पर्यायार्थ की अविवक्षा एवं अनादि पारिणामिक चैतन्य और अचैतन्य द्रव्यार्थ की विवक्षा से कथन करने पर भावास्रवादि का जीव द्रव्य में एवं द्रव्यास्रवादि का अजीव में अन्तर्भाव हो जाता है। तथा द्रव्यार्थिक नय की गौणता एवं पर्यायार्थिक नय की मुख्यता से एवं आस्रवादि प्रतिनियत पर्याय की विवक्षा एवं अनादि पारिणामिक चैतन्य और अचैतन्य द्रव्य की अविवक्षा करने पर जीव और अजीव में आस्रवादि का अन्तर्भाव नहीं होता है। अत: पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा इनका पृथक् निर्देश सार्थक है। **(रा.वा. ५)** यहाँ मोक्ष का प्रकरण है। मोक्ष संसार पूर्वक होता है, संसार के प्रधान कारण आस्रव बन्ध एवं मोक्ष के प्रधान कारण संवर-निर्जरा है। अत: प्रधान हेतुवाले एवं उनके फल को बताने के लिए पृथक्-पृथक् कथन किया है। **(सर्वा. १९)**

२९. प्रश्न : कौन-कौन से तत्त्व हेय एवं उपादेय हैं ?

उत्तर : सर्वज्ञ भगवान ने हेय और उपादेय ऐसे दो तत्त्व बताये हैं (१) कर्म बन्ध और उसका कारण हेय (त्यागने योग्य) तत्त्व कहा है, क्योंकि ये ही दोनों त्यागने योग्य सांसारिक दु:ख तथा सुख के बीज हैं। (२) मोक्ष और उसका साधन उपादेय (ग्रहण करने योग्य) तत्त्व है क्योंकि इसी से ही उपादेय मोक्ष सुख का प्रकाश होगा। **(त.सा. १/३-५)** सम्पूर्ण भव्य जीवों के हितेच्छु अर्हन्तादि पंच परमेष्ठी उपादेय हैं। निर्विकल्प पद पर पहुँचे मुनियों के लिए तो गुणसागर व सिद्ध पुरुषों के समान ज्ञानवान अपनी आत्मा ही उपादेय है।

शुद्ध निश्चयनय से सभी जीव उपादेय हैं। व्यवहारदृष्टि से सम्पूर्ण मिथ्यादृष्टि, अभव्य तथा विषयासक्त पापी व धूर्त जीव हेय हैं।

रागयुक्त जीवों को धर्मध्यान के निमित्त अजीव पदार्थ कहीं तो उपादेय कहे हैं परन्तु विकल्पहीन योगियों के लिए तो सभी अजीव तत्त्व हेय हैं।

रागी जीवों को पाप की अपेक्षा पुण्य कर्म का आस्रव-बन्ध उपादेय है एवं मुमुक्षुओं के लिए दोनों ही आस्रव-बन्ध हेय हैं। पापास्रव तो सर्वथा हेय है क्योंकि इनसे विविध दु:ख उत्पन्न होते हैं। संवर-निर्जरा सर्व अवस्था में सर्वथा ही उपादेय है। मोक्ष तत्त्व अनन्त-अक्षय सुखों का समुद्र है इसलिए पूर्ण रूप से उपादेय है। **(महा. पु. १७/११०)**

३०. प्रश्न : यहाँ मुमुक्षु से किसका ग्रहण करना चाहिए ?

उत्तर : जो मोक्ष के अभिलाषी, छोड़ने की इच्छा रखने वाले, संसार-समुद्र से पार उतरने के इच्छुक मुमुक्षु थे ऐसे आदिनाथ भगवान.....। अर्थात् इन गुणों से सम्पन्न मुमुक्षु कहलाता है। **(स्व. स्तो. ३ टी.)** सम्पूर्ण परिग्रहों का त्याग करने की इच्छा रखने वाले मुमुक्षु कहलाते हैं। **(स्व. स्तो. ८८/टी.)** जो पुण्य पाप से रहित है, उसे मुमुक्षु कहते हैं क्योंकि बंधन लोहे का हो या सोने का हो जो उनमें बँधता है, वह तो बद्ध ही है, अर्थात् पुण्य कर्म सोने का बंधन है और पाप कर्म लोहे का बंधन है, दोनों ही जीव को संसार में बाँधकर रखते हैं, अत: जो पापकर्म को छोड़कर पुण्यकर्म में लगा है, वह भी कर्मबंधन करता है। किन्तु जो पुण्य और पाप दोनों को छोड़कर शुद्धोपयोग में संलीन है, वही मुमुक्षु है। **(य.ति.च. ८/४०८)**

तत्त्वों को जानने के उपाय/निक्षेपों का कथन

नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यास: ॥५॥

नाम - स्थापना - द्रव्य - भावत: तत् - न्यास:।

(नामस्थापनाद्रव्यभावत:) नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव से (तत् तेषां) उन जीवादि पदार्थों का (न्यास:) निक्षेप करना चाहिए।

अर्थ - नाम से, स्थापना से, द्रव्य से और भाव से उन जीवादि पदार्थों का कथन करना चाहिए।

नाम - निमित्तान्तर की अपेक्षा बिना जो संज्ञा कर्म है वह नाम है।

स्थापना - 'यह वह है' इस प्रकार के सम्बन्धत्व से अन्य की व्यवस्थापना करना स्थापना है।

द्रव्य - अनागत परिणाम विशेष के प्रति अभिमुख को द्रव्य कहते हैं।

भाव - वर्तमान पर्याय से विशिष्ट द्रव्य को भाव कहते हैं। **(रा.वा. १-८)**

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : संज्ञा, स्वलक्षण आदि के द्वारा उपदिष्ट जीवादि तत्त्वों के संव्यवहार के लिए तथा व्यभिचार की निवृत्ति के लिए निक्षेप प्रक्रिया का निरूपण इस सूत्र द्वारा किया गया है। **(रा.वा.उ.५)** इस प्रकार पहले जो सम्यग्दर्शन आदि और जीवादि पदार्थ कहे हैं उनका शब्द प्रयोग करते समय विवक्षा भेद से जो गड़बड़ी होना सम्भव है उसको दूर करने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(सर्वा. २१)**

२. प्रश्न : निक्षेप किसे कहते हैं ?

उत्तर : अर्थ (पदार्थ) के निरीक्षण करने के उपाय को निक्षेप कहते हैं **(ति. प. १/८२-८३)**

नामादि के द्वारा वस्तु में भेद करने के उपाय को न्यास या निक्षेप कहते हैं **(ध.१/१७)** संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय में अवस्थित वस्तु को उनसे निकालकर जो निश्चय में क्षेपण करता है उसे निक्षेप कहते हैं। अर्थात् जो अनिर्णीत वस्तु का नामादि के द्वारा निर्णय करावे, उसे निक्षेप कहते हैं। **(ध. ४/२)**

अथवा, बाहरी पदार्थ के विकल्प को निक्षेप कहते हैं। अप्रकृत का निराकरण करके प्रकृत का निरूपण करने वाला निक्षेप है। **(ध.४/२)** प्रमाण या नय का आरोपण या निक्षेप नाम, स्थापना आदि रूप चार प्रकारों से होता है। यही निक्षेप की व्युत्पत्ति है। **(आ.प. १८३)** युक्तिमार्ग से प्रयोजनवश जो वस्तु को नाम आदि चार भेदों में क्षेपण करे उसे आगम में निक्षेप कहा जाता है। **(न.च. वृ. २७०)** किस शब्द का क्या अर्थ है, यह जिस विधि के द्वारा विस्तार से बताया जाता है, वह निक्षेप विधि है। **(सर्वा. २२)**

३. प्रश्न : निक्षेप कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : निक्षेप सामान्य से चार प्रकार के होते हैं-

नाम निक्षेप, स्थापना निक्षेप, द्रव्य निक्षेप और भाव निक्षेप। अनन्त पदार्थों के अनन्त निक्षेप विस्तार से होते हैं परन्तु उन सब का संक्षेप से चार में अन्तर्भाव होता है अर्थात् संक्षेप से निक्षेप चार होते हैं और विस्तार से अनन्त निक्षेप होते हैं। **(श्लो. पु. २/२८३)**

४. प्रश्न : निक्षेपों का कथन क्यों करना चाहिए ?

उत्तर : अप्रकृत विषय का निराकरण करने के लिए, प्रकृत विषय का प्ररूपण करने के लिए (संशय का निराकरण करने के लिए और तत्त्वार्थों का निश्चय करने के लिए) निक्षेपों का कथन करना चाहिए। **(सर्वा-२२)**

श्रोता तीन प्रकार के होते हैं -

(१) अव्युत्पन्न श्रोता (२) सम्पूर्ण विवक्षित पदार्थों को जानने वाला श्रोता

(३) एकदेश विवक्षित पदार्थ को जानने वाला श्रोता।

अव्युत्पन्न श्रोता यदि पर्याय का अर्थी है तो उसे प्रकृत विषय की व्युत्पत्ति के द्वारा अप्रकृत विषय के निराकरण के लिए निक्षेप का कथन करना चाहिए। यदि वह श्रोता द्रव्य का अर्थी है तो भी प्रकृत प्ररूपण के लिए सम्पूर्ण निक्षेप कहे जाते हैं। दूसरी व तीसरी जाति के श्रोताओं को यदि संदेह हो तो उनके सन्देह को दूर करने के लिए अथवा यदि उन्हें विपर्यय ज्ञान हो तो प्रकृत वस्तु के निर्णय के लिए सम्पूर्ण निक्षेपों का कथन किया जाता है। **(ध. १/३२)** नय, प्रमाण तथा निक्षेप से अर्थ का निरीक्षण करना चाहिए इस प्रकार आचार्य परम्परा से प्राप्त न्याय को मन से अवधारण करके पूर्व आचार्यों के आचार का अनुसरण करना रत्नत्रय का कारण है। **(ति.प. १/८२-८४)**

५. प्रश्न : निक्षेपों का कथन नहीं करने से क्या हानि है ?

उत्तर : जो नय और प्रमाण तथा निक्षेप से अर्थ का निरीक्षण नहीं करता है उसको अयुक्त पदार्थ युक्त और युक्त पदार्थ अयुक्त ही प्रतीत होता है। **(ति.प.१/८२)** निक्षेपों को छोड़कर वर्णन किया गया सिद्धान्त संभव है कि वक्ता और श्रोता दोनों को कुमार्ग में ले जावे, इसलिए भी निक्षेपों का कथन करना चाहिए। **(ध.१/३३)** द्रव्य विविध स्वभाव वाला है। उनमें से जिस-जिस स्वभाव रूप से वह ध्येय होता है, उस-उसके निमित्त ही एक द्रव्य को नामादि चार भेद रूप कर दिया जाता है जो निक्षेप, नय और प्रमाण को जानकर तत्त्व को भाते हैं वे तथ्य-तत्त्वमार्ग में संलग्न होकर तथ्य तत्त्व को प्राप्त करते हैं। जो व्यक्ति गुण व पर्यायों के लक्षण, उनके स्वभाव, निक्षेप, नय व प्रमाण को जानता है वही सर्व विशेषों से युक्त द्रव्य-स्वभाव को जानता है। **(न.च.वृ. २७१-२८३)**

६. प्रश्न : नाम निक्षेप किसे कहते हैं ?

उत्तर : निमित्तान्तर-जाति, द्रव्य, गुण और क्रिया आदि की अपेक्षा के बिना की जाने वाली संज्ञा नाम है। जैसे परमैश्वर्य रूप इन्दन क्रिया की अपेक्षा न करके किसी का भी 'इन्द्र' नाम रखना। वैसे ही जीवन क्रिया की और तत्त्व श्रद्धान रूप क्रिया की अपेक्षा न करके किसी का जीव एवं सम्यग्दर्शन नाम रखना नाम निक्षेप है। **(रा.वा. १)** संज्ञा के अनुसार गुणरहित (जिसमें गुण नहीं है) वस्तु में व्यवहार के लिए अपनी इच्छा से की गई संज्ञा को नाम निक्षेप कहते हैं। **(सर्वा.२२)**

७. प्रश्न : नाम निक्षेप में संज्ञा के कितने निमित्त होते हैं ?

उत्तर : नाम निक्षेप में संज्ञा के चार निमित्त होते हैं -

(१) जाति (२) द्रव्य (३) गुण (४) क्रिया।

जाति निमित्तक नाम - तद्भव और सादृश्य लक्षण वाले सामान्य को जाति कहते हैं। जैसे-गौ, मनुष्य, घट, पट आदि जाति निमित्तक नाम हैं।

द्रव्य निमित्तक नाम - द्रव्य निमित्तक नाम के दो भेद हैं -

(१) संयोग द्रव्य निमित्तक नाम (२) समवाय द्रव्य निमित्तक नाम।

संयोग द्रव्य निमित्तक नाम - दण्डी, छत्री इत्यादि संयोग द्रव्यनिमित्तक नाम है क्योंकि स्वतन्त्र सत्ता रखने वाले दण्ड आदि के संयोग से दण्डी आदि नाम व्यवहार में आते हैं।

समवाय निमित्तक नाम - गलगण्ड, काना, कुबड़ा आदि समवाय द्रव्य निमित्तक नाम है, क्योंकि जिसके लिए 'गलगण्ड' इस नाम का उपयोग किया गया है उससे गले का गण्ड भिन्न सत्ता वाला द्रव्य नहीं है।

गुण निमित्तक नाम - कृष्ण, रुधिर इत्यादि गुण निमित्तक नाम हैं, क्योंकि कृष्ण आदि गुणों के निमित्त से उन गुण वाले द्रव्यों में ये नाम व्यवहार में आते हैं।

क्रिया निमित्तक नाम - गायक, नर्तक इत्यादि क्रिया निमित्तक नाम हैं, क्योंकि गाना, नाचना आदि क्रियाओं के निमित्त से गायक नर्तक आदि नाम व्यवहार में आते हैं। इस प्रकार जाति आदि इन चार निमित्तों को छोड़कर संज्ञा की प्रवृत्ति में अन्य कोई निमित्त नहीं है। **(ध.१/१८-१९)**

८. प्रश्न : स्थापना निक्षेप किसे कहते हैं ?

उत्तर : काष्ठ कर्म, पुस्तकर्म, चित्रकर्म, अक्ष-निक्षेप आदि में 'यह वह है' इस प्रकार स्थापित करने को स्थापना कहते हैं। **(सर्वा. २२)**

कर लिया गया है नाम निक्षेप या संज्ञाकरण जिसका ऐसी वस्तु की उन वास्तविक धर्मों के अध्यारोप से 'यह वही है' ऐसी प्रतिष्ठा करना स्थापना निक्षेप माना गया है। **(श्लो. पु. २/२६३)**

'यह वह है' इस प्रकार के सम्बन्धत्व से अन्य की व्यवस्थापना करना स्थापना निक्षेप है। यथा-परमैश्वर्य लक्षण वाला जो शचीपति इन्द्र है। 'वह यह है' इस प्रकार अन्य वस्तु को किसी पदार्थ में प्रतिनिषित्व करना स्थापना है। **(रा.वा. २)**

९. प्रश्न : स्थापना निक्षेप कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : स्थापना निक्षेप दो प्रकार का होता है -

(१) साकार स्थापना (२) निराकार स्थापना **(गो.क.जी. ५१)**

(१) सद्भाव स्थापना (२) असद्भाव स्थापना। **(श्लो. २/२६३)** अथवा

(१) साकार स्थापना (२) अनाकार स्थापना। **(न. च. वृ. २७४)** अथवा-

जो स्थापनाकृति है वह काष्ठकर्मों में अथवा चित्रकर्मों में अथवा पोत कर्मों में, अथवा लेप्यकर्मों में अथवा लयनकर्मों में, अथवा शैलकर्मों में, अथवा गृह कर्मों में, अथवा भित्तिकर्मों में अथवा दन्तकर्मों में अथवा भेंडकर्मों में, अथवा अक्ष या वराटक (कौड़ी व शतरंज का पासा) तथा इनको आदि लेकर अन्य भी जो 'कृति' इस प्रकार स्थापना में स्थापित की जाती है, वह सब स्थापनाकृति कही जाती है। **(ध. ९/२४८)**

१०. प्रश्न : तदाकार एवं अतदाकार स्थापना किसे कहते हैं ?

उत्तर : साकार स्थापना - (इन्द्राकार प्रतिमा में 'यह इन्द्र है' ऐसी स्थापना करना साकार स्थापना है।) कृत्रिम-अकृत्रिम प्रतिबिम्बों में अर्हन्त की स्थापना साकार स्थापना है। **(न.च. २७४)**

निराकार स्थापना - अक्ष निक्षेप (शतरंज के मोहरों) में 'यह वह है' ऐसी कल्पना निराकार स्थापना है। क्षायिक गुणों में अर्हन्त की स्थापना को निराकार स्थापना कहते हैं। **(न.च. २७४)**

नोट : साकार को तदाकार एवं निराकार को अतदाकार स्थापना कहते हैं।

११. प्रश्न : सद्भाव एवं असद्भाव स्थापना किसे कहते हैं ?

उत्तर : भाव निक्षेप के द्वारा कहे गये अर्थात् वास्तविक पर्याय से परिणत इन्द्र आदि के समान बनी हुई काष्ठ आदि की प्रतिमा में इन्द्रादि की स्थापना करना **सद्भाव स्थापना** है। **(श्लो. २/२६३)**

बुद्धि के द्वारा स्थापित किया जाने वाला जो पदार्थ वर्ण और आकार आदि के द्वारा अन्य पदार्थ का अनुकरण करता है उसकी **सद्भाव स्थापना** यह संज्ञा है। **(ध. १३/४२)**

असद्भाव स्थापना - मुख्य आकारों से शून्य केवल वस्तु में 'यह वही है' ऐसी स्थापना कर लेना असद्भाव स्थापना है क्योंकि पदार्थ को देखने वाले जीव का भी दूसरों के उपदेश से ही 'यह वही है' ऐसा समीचीन ज्ञान होता है। **(श्लो. पु. २ /२६३)** और जो असदृश (वर्णाकार आदि से सदृश नहीं है) वह असद्भाव स्थापना है। **(ध. १३/४२)**

१२. प्रश्न : नाम निक्षेप एवं स्थापना निक्षेप में क्या अन्तर है ?

उत्तर : यद्यपि नाम और स्थापना दोनों निक्षेपों में संज्ञा रखी जाती है, बिना नाम रखे स्थापना हो ही नहीं सकती; तो भी स्थापित अर्हन्त, इन्द्र, स्कन्द और ईश्वर आदि की प्रतिमाओं में मनुष्य की जिस प्रकार की पूजा, आदर और अनुग्रह की अभिलाषा होती है, उस प्रकार केवल नाम में नहीं होती, अत: इन दोनों में अन्तर है। **(रा.वा.१२)** जैसे - ब्राह्मण मनुष्य अवश्य होता है; क्योंकि, ब्राह्मण में मनुष्य

जातिरूप सामान्य अवश्य पाया जाता है; पर मनुष्य ब्राह्मण हो न भी हो, क्योंकि मनुष्य के ब्राह्मण जाति आदि पर्यायात्मकपना नहीं देखा जाता। इसी प्रकार स्थापना तो नाम अवश्य होगी, क्योंकि बिना नामकरण के स्थापना नहीं होती; परन्तु जिसका नाम रखा है उसकी स्थापना हो भी, न भी हो, क्योंकि नामवाले पदार्थों में स्थापनायुक्तपना व स्थापनारहितपना दोनों देखे जाते हैं। **(रा.वा. २३)**

नाम में धर्म का उपचार करना नामनिक्षेप है, और जहाँ उस धर्म की स्थापना की जाती है, वह स्थापना निक्षेप है। इस प्रकार धर्म के विषय में भी नाम और स्थापना की अविशेषता अर्थात् एकता सिद्ध नहीं होती। **(ध. ५/१८६)**

१३. प्रश्न : द्रव्य निक्षेप किसे कहते हैं ?

उत्तर : आगामी पर्याय की योग्यता वाले उस पदार्थ को द्रव्य कहते हैं अथवा अतद्भाव को द्रव्य कहते हैं। जैसे इन्द्र की प्रतिमा बनाने के लिए काठ को इन्द्र प्रतिमा रूप पर्याय के प्रति सन्मुख होने से इन्द्र कहना, उसी प्रकार जीव पर्याय या सम्यग्दर्शन पर्याय के प्रति अभिमुख द्रव्य जीव या द्रव्य सम्यग्दर्शन कहा जायेगा। **(रा.वा. ३-४)**

आगे होने वाली पर्याय को ग्रहण करने के सन्मुख हुए द्रव्य को द्रव्य निक्षेप कहते हैं अथवा-वर्तमान पर्याय की विवक्षा से रहित द्रव्य को द्रव्य-निक्षेप कहते हैं। **(ध. पु. १/२१)**

१४. प्रश्न : आत्मा सदैव जीव पर्याय से युक्त रहता है अत: उसे जीव पर्याय के सम्मुख कहना कैसे सम्भव है ?

उत्तर : यह कोई दोष नहीं है क्योंकि मनुष्य जीवादि विशेष की अपेक्षा से यह व्यपदेश है, जैसे मनुष्य पर्याय के सन्मुख होने वाले देव को मनुष्य कहना। **(रा.वा.४)**

१५. प्रश्न : द्रव्य निक्षेप कितने प्रकार का होता है?

उत्तर : द्रव्य निक्षेप दो प्रकार का होता है-

(१) आगम द्रव्य निक्षेप (२) नोआगम द्रव्य निक्षेप।

आगमद्रव्य निक्षेप - जो जीवद्रव्य का वर्णन करने वाले शास्त्र का अभ्यासी तो है परन्तु वर्तमान में उसका उपयोग शास्त्र के प्रति नहीं है वह आगमद्रव्य जीव है। इसी प्रकार जो पुरुष सम्यग्दर्शन का वर्णन करने वाले शास्त्र का जानकार तो है परन्तु तत्काल तत्विषयक उपयोग से रहित है वह आगम द्रव्य सम्यग्दर्शन है।

नोआगम द्रव्य निक्षेप - नो आगम द्रव्य ज्ञायक शरीर, भावी एवं तद्व्यतिरिक्त के भेद से तीन प्रकार का है। इनका लक्षण, उत्तरोत्तर भेद आदि आगम से जानने चाहिए। **(रा.वा. ६-७)**

१६. प्रश्न : भाव निक्षेप किसे कहते हैं ?

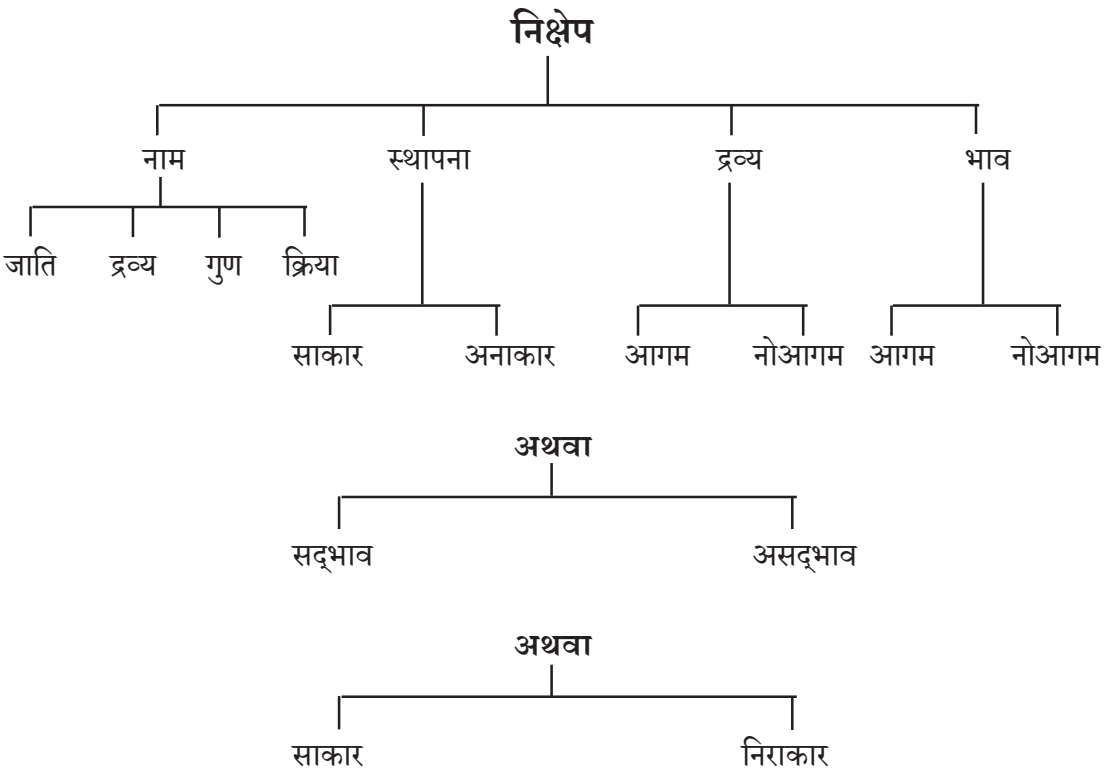
निक्षेप
नाम
स्थापना
द्रव्य
भाव
जाति
द्रव्य
गुण
क्रिया
साकार
अनाकार
आगम
नोआगम
आगम
नोआगम
अथवा
सद्भाव
असद्भाव
अथवा
साकार
निराकार

उत्तर : वर्तमान उस-उस पर्याय से विशिष्ट द्रव्य को भाव-निक्षेप कहते हैं, वर्तमान जीवन पर्याय से उपलक्षित द्रव्य भावजीव है। सम्यग्दर्शन पर्याय से उपलक्षित जीव भाव सम्यग्दृष्टि है, जैसे इन्द्र नाम कर्म से अपादित इन्दन क्रिया पर्याय से परिणत आत्मा भाव इन्द्र है। **(रा.वा. ८)**

द्रव्य के परिणाम को अथवा पूर्वापर कोटि से व्यतिरिक्त वर्तमान पर्याय से उपलक्षित द्रव्य को भाव कहते हैं। **(ध. पु. ५/१८७)**

१७. प्रश्न : भाव निक्षेप कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : भाव निक्षेप दो प्रकार का होता हैं-

(१) आगम भाव निक्षेप (२) नो आगम भाव निक्षेप।

आगम भाव निक्षेप - जीव शास्त्र का अभ्यासी तथा उसके उपयोग में लीन आत्मा आगम भाव जीव है। सम्यग्दर्शन सहित आत्मा आगमभाव सम्यग्दर्शन कहलाता है।

नो आगम भाव निक्षेप - जीवनादि पर्याय वाला आत्मा नो आगम भाव जीव है। **(रा.वा. १०.११)**

१८. प्रश्न : द्रव्य के बिना भाव एवं भाव के बिना द्रव्य नहीं होने से द्रव्य एवं भाव में एकता है ?

उत्तर : द्रव्य एवं भाव में एकत्व स्वीकार करना उचित नहीं है क्योंकि संज्ञा और स्व-लक्षण की अपेक्षा भेद होने से उन दोनों में पृथक्त्व है। इस लोक में जैसे जिनमें संज्ञा और स्वलक्षणकृत भेद है, उनमें नानात्व पाया जाता है; वैसे ही द्रव्य और भाव में भी संज्ञा, लक्षण आदि कृत भेद होने से पृथक्त्व है। अर्थात् यद्यपि द्रव्य और भाव की सत्ता पृथक् नहीं है, दोनों में अभेद है, फिर भी संज्ञा, लक्षण आदि की दृष्टि से इन दोनों में भिन्नता है। **(रा.वा. १३)**

१९. प्रश्न : किस-किस निक्षेप का किस-किस नय में अन्तर्भाव होता है ?

उत्तर : नाम, स्थापना और द्रव्य निक्षेप का द्रव्यार्थिक नय में तथा भाव निक्षेप का पर्यायार्थिक नय में अन्तर्भाव हो जाता है। **(सर्वा. २४)**

२०. प्रश्न : नाम निक्षेप का द्रव्यार्थिक नय में अन्तर्भाव कैसे होता है ?

उत्तर : वहाँ भी प्रवृत्ति के समय से लेकर विराम या विसर्जन करने के समय तक अन्वयपना विद्यमान है और वह असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि देवदत्त नाम के व्यक्ति में बालक, कुमार, युवा आदि अवस्था भेद होते हुए भी उस नाम का विच्छेद नहीं बनता है। **(श्लो. २/२७९)**

वाच्यवाचक दो शक्तियों वाला एक शब्द पर्यायार्थिक नय में असम्भव है, इसलिए नाम द्रव्यार्थिक नय का विषय है, ऐसा कहा जाता है। **(ध. ४/३)**

चूँकि एक ही द्रव्य में रहने वाले द्रव्यवाची शब्दों की, जिसने अतीत, अनागत व वर्तमान पर्यायों में संचार करने की अपेक्षा 'द्रव्य' व्यपदेश को प्राप्त किया है और जो पर्याय की प्रधानता से रहित है ऐसे तद्भाव सामान्य में प्रवृत्ति देखी जाती है; इसी प्रकार जाति, गुण व क्रियावाची शब्दों की, जिसने व्यक्ति विशेषों में अनुवृत्ति होने से 'द्रव्य' व्यपदेश को प्राप्त किया है और जो व्यक्ति भाव की प्रधानता से रहित है, ऐसे सादृश्य-सामान्य में प्रवृत्ति देखी जाती है। तथा सादृश्य सामान्यात्मक नाम के बिना शब्द व्यवहार भी घटित नहीं होता है, अत: नामनिक्षेप द्रव्यार्थिक नय में सम्भव है। **(ध. १०/१०)**

२१. प्रश्न : स्थापना निक्षेप का द्रव्यार्थिक नय में अन्तर्भाव कैसे होता है ?

उत्तर : क्षेत्रपाल आदि की स्थापना में काल भेद होते हुए भी, तिस प्रकार की स्थापनापने का अन्तराल नहीं पड़ता है। 'यह वह है' इस प्रकार के अन्वयज्ञान का विषय होते रहने से वहाँ भी अन्वयीपना बहुत काल तक बना रहता है। अत: व्यवहार नय की प्रधानता से (उसे अवान्तर द्रव्य स्वीकार करके) स्थापना निक्षेप में भी द्रव्यार्थिकपना बन जाता है। **(श्लो. २/२७९)**

स्थापना निक्षेप तदाकार और अतदाकार रूप से सर्व द्रव्यों में व्याप्त होने के कारण, अथवा प्रधान और अप्रधान द्रव्यों की एकता का कारण होने से द्रव्यार्थिकनय के अन्तर्गत है। **(ध.४/४)**

२२. प्रश्न : द्रव्य निक्षेप का द्रव्यार्थिकनय में एवं भाव निक्षेप का पर्यायार्थिक नय में अन्तर्भाव कैसे होता है ?

उत्तर : द्रव्य श्रुतज्ञान भी द्रव्यार्थिकनय का विषय है, क्योंकि आधार और आधेय के एकत्व की कल्पना से द्रव्यश्रुत का ग्रहण किया गया है। **(ध. ९/१८७)**

भाव निक्षेप पर्यायार्थिक नय का विषय है, क्योंकि वर्तमान पर्याय से उपलक्षित द्रव्य का यहाँ भाव रूप से ग्रहण किया गया है। **(ध. ९/१८७)**

२३. प्रश्न : निक्षेपों का नयों में अन्तर्भाव है और नयों को आगे कहेंगे ही अत: यहाँ निक्षेपों का कथन करने से पुनरुक्ति दोष प्राप्त होता है !

उत्तर : शिष्यों के मतिभेद के अधीनत्व से दो आदि नयों के विकल्प का कथन करना दोषयुक्त नहीं है। जो बुद्धिमान शिष्य हैं, वे द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दो नयों के द्वारा ही सभी नयों के वक्तव्य-प्रतिपाद्य अर्थ को जान लेते हैं, उनकी अपेक्षा पृथक् कथन करना उचित भी नहीं है, परन्तु जो मन्दबुद्धि शिष्य हैं उनके लिए तीन, चार, पाँच आदि भेदों से नयों और निक्षेपों का कथन करना उपयुक्त है। अत: विषय और विषयी का विशेष ज्ञान कराने के लिए नामादि निक्षेपों का कथन करने में पुनरुक्ति दोष नहीं है। **(रा.वा.३३)**

२४. प्रश्न : प्रकरण होने से सूत्र में 'तत्' देना निष्प्रयोजन है क्योंकि 'तत्' शब्द के बिना ही सम्यग्दर्शनादि तीनों की प्रधानता होने से नामादि के साथ सम्बन्ध हो ही जाता

है।

उत्तर : यद्यपि सूत्र में 'तत्' शब्द के बिना भी सम्यग्दर्शनादि का प्रकरण होने से सम्यग्दर्शनादि के साथ नामादि का सम्बन्ध हो जाता है फिर भी प्रधान सम्यग्दर्शनादि और गौणभूत जीव-अजीवादि सात तत्त्वों का नामादि के साथ सम्बन्ध द्योतित करने के लिए विशेष रूप से 'तत्' शब्द का ग्रहण है। अथवा-जीवादि सम्यग्दर्शन के विषयत्व से विशेषण है इसलिए प्रकृत सम्यग्दर्शन आदि बाधित नहीं होते। विशेष बात प्रकरणागत सामान्य में बाधा नहीं दे सकती। इस नियम के अनुसार विषय विशेष के रूप में कहे गये जीवादि पदार्थ प्रकरणागत सम्यग्दर्शनादि के ग्रहण के बाधक नहीं हो सकते। अथवा - सर्व भावों को ग्रहण करने के लिए 'तत्' शब्द को ग्रहण किया है। यदि 'तत्' शब्द नहीं देते तो प्रधानभूत सम्यग्दर्शनादि का ही नामादि निक्षेपों के साथ सम्बन्ध होता। जिस प्रकार सम्यग्दर्शन और जीव द्रव्य में नामादि चार निक्षेप कहें है, उसी प्रकार अजीव तत्त्वों में एवं सम्यग्ज्ञान और चारित्र में भी नामादि निक्षेपों का कथन करना चाहिए। **(रा.वा. ३६-३७)**

२५. प्रश्न : नामादि निक्षेपों का क्रम सूत्रोक्त क्यों कहा गया है ?

उत्तर : सर्व लोकव्यवहार संज्ञापूर्वक ही होता है। अत: सर्व लोकव्यवहार का हेतु होने से सर्व प्रथम नाम को ग्रहण किया है।

तदात्मकत्व में ही लोक-व्यवहार होता है। अनात्मकत्व में वस्तु व्यवहार का विच्छेद हो जाता है तथा स्तुति, निन्दा, राग, द्वेषादि सम्पूर्ण प्रवृत्तियाँ नामाधीन हैं अत: सर्वप्रथम नाम का ग्रहण है। जिसका नाम रख लिया गया है उसी की 'यही वही है' इस प्रकार स्थापना होती है। जिसका कोई नाम नहीं है, जो निर्नाम है उसकी स्थापना नहीं हो सकती है इसलिए नाम के बाद स्थापना का ग्रहण किया है।

पूर्वोत्तर कालवर्ती होने से द्रव्य और भाव का पूर्वापर न्यास किया गया है। पूर्व काल द्रव्य का विषय है और उत्तरकाल भाव का विषय है अत: पूर्व में द्रव्यनिक्षेप और उसके बाद भावनिक्षेप का ग्रहण किया है। अथवा - द्रव्य के साथ भाव का घनिष्ट सम्बन्ध होने से द्रव्य के बाद भाव को ग्रहण किया है। द्रव्य के पूर्व स्थापना का ग्रहण है क्योंकि जिस पदार्थ का अतद्भाव है उसको उसी रूप में मनवाने में प्रधान हेतु स्थापना है। उसके पूर्व नाम का ग्रहण है क्योंकि नाम भावों के प्रति विप्रकृष्ट (अतिदूर) है। **(रा.वा. १५-१८)**

२६. प्रश्न : चार निक्षेपों के उदाहरणों को बताने वाली आगम में कौनसी गाथा है?

उत्तर : चार निक्षेपों के उदाहरणों को बताने वाली गाथा-

णाम जिणा जिणणामा, ठवण जिणा पुण जिणिंद पडिमाए।
दव्व जिणा, जिण जीवा, भाव जिणा समवसरणस्था।।

अर्थ - जिनेन्द्र का नाम नामजिन है, जिनेन्द्र की प्रतिमा स्थापनाजिन है, जिनेन्द्र की आत्मा द्रव्यजिन है तथा समवसरण में स्थित भगवान जिनेन्द्र भाव जिन हैं। **(आ.प. १८३ टी)**

जीवादि पदार्थों के अधिगम के हेतु कहते हैं-

प्रमाणनयैरधिगमः ॥६॥

प्रमाण-नयैः अधिगमः।

उन जीवादि पदार्थों का (प्रमाणनयैः) प्रमाण एवं नयों के द्वारा (अधिगमः) ज्ञान होता है।

अर्थ - प्रमाण एवं नयों के द्वारा जीवादि पदार्थों का अधिगम होता है।[१]

प्रमाण - जिसके द्वारा पदार्थ जाना जाता है वह प्रमाण है। **(आ.प. १७७)**

नय - नाना स्वभावों से हटा कर वस्तु के एक स्वभाव में जो प्राप्त करावे वह नय है **(आ. प. १८१)**

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए लिखा गया है ?

उत्तर : जो अधिगमज सम्यक्त्व की उत्पत्ति में हेतुभूत है उन जीवादि तत्त्वों के अधिगम के उपाय का निरूपण करने के लिए यह सूत्र लिखा गया है। **(सुख बो.त.वृ. २५)** इस प्रकार नामादिक के द्वारा विस्तार को प्राप्त हुए और अधिकृत जीवादिक व सम्यग्दर्शनादिक के स्वरूप का ज्ञान किसके द्वारा होता है इस बात को बताने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(सर्वा. २३)**

२. प्रश्न : प्रमाण किसे कहते हैं ?

उत्तर : प्रतिषेधरूप से सम्बद्ध (सापेक्ष) विधि को प्रमाण कहा जाता है। **(स्व. ५२)**

स्व और पर के प्रकाशित करने वाले ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। **(स्व. ६३)**

सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण है। यहाँ सम्यक् पद संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय का निरास करने के लिए दिया गया है। **(न्या. दी. १/८)**

अपना और अपूर्वार्थ[२] का निश्चायक ज्ञान प्रमाण कहलाता है। जो हित (सुख) की प्राप्ति तथा अहित (दुःख) के दूर करने में समर्थ होता है उसे प्रमाण कहते हैं, ऐसा वह प्रमाण ज्ञान ही हो सकता है। **(प. मु. १/१-२)** 'प्रकर्षेण मीयतेऽनेन' इति प्रमाणम्। अर्थात् जो संशय, विपर्यय और अनध्यवसायरहित

---

१. दो प्रकार के प्रमाण और अनेक प्रकार के नय, इन प्रमाणों व नयों के द्वारा नामादि निक्षेपों से उपलक्षित होने वाले जीवादि पदार्थों का जानना होता है।

२. अनिश्चितोऽपूर्वार्थः जिस पदार्थ का पहले कभी किसी सच्चे ज्ञान से निर्णय नहीं हुआ हो उसे अपूर्वार्थ कहते हैं। 'दृष्टोपि समारोपात्तादृक्' किसी प्रमाण से निश्चित पदार्थ के विषय में भी जब संशय, विपर्यय आदि हो जाते है, तब वह पदार्थ भी अपूर्वार्थ कहा जाता है। **(प.मु. १/४-५)**

होकर वस्तु के स्वरूप को जानता है वह प्रमाण है। जो पदार्थ के सकल अंश-विधि पक्ष और निषेध पक्ष दोनों को ग्रहण करता है उसे प्रमाण कहते हैं, जैसा कि कहा है ''सकलादेश: प्रमाणाधीन:'' **(स्व. स्तो. ५१ टी.)** पदार्थ के समस्त विरोधी धर्मों का एक साथ वर्णन करना प्रमाण है। **(प.पु. १०५/१४३)**

३. प्रश्न : नय किसे कहते हैं ?

उत्तर : प्रमाण के द्वारा सम्यक् प्रकार से ग्रहण की गई वस्तु के एक धर्म (अंश) को ग्रहण करने वाले ज्ञान को नय कहते हैं।

अथवा - श्रुतज्ञान के विकल्प को नय कहते हैं। ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहते हैं। **अथवा** वस्तु का एक धर्म, उस धर्म का वाचक शब्द और उस धर्म को जानने वाला ज्ञान ये तीनों ही नय के भेद हैं।[१] **(का. अ. २६१-२६५)** इन्द्रियों के व्यापार और काय की चेष्टाओं से जो जीव को जानता है वह अनुमान ज्ञान है। यह भी नय है इसके अनेक भेद हैं। **(का.अ. २६७)** विरोधी धर्मों का निराकरण न करते हुए वस्तु के एक अंश या धर्म का ग्रहण करने वाला ज्ञाता का अभिप्राय नय है। **(प्रमे.मा. ६७६)**

साधर्मी का विरोध न करते हुए, साधर्म्य से ही साध्य को सिद्ध करने वाला तथा स्याद्वाद से प्रकाशित पदार्थों की पर्यायों को प्रगट करने वाला नय है। **(आ.मी. १०६)** दो विरुद्ध धर्म वाले तत्त्व में किसी एक धर्म का वाचक नय होता है। प्रमाण के द्वारा प्रकाशित न कि प्रमाणाभास के द्वारा गृहीत अस्ति-नास्ति, नित्य-अनित्य आदि अनेक धर्मात्मक जीवादि पदार्थों की जो पर्याय विशेष है उनका प्रकर्ष रूप से प्ररूपक, दोष रहित पदार्थ का कथन करने वाला नय है। **(रा.वा. ३३/१)** श्रुत नाम के प्रमाण द्वारा ग्रहण की हुई वस्तु का एकदेश जिसके द्वारा या जिसमें अथवा जिससे 'नीयते' प्राप्त किया जाता है, जाना जाता है वह नय है। उसको ले जाता है वह नय है, नीति नय है, इस प्रकार नीयते, नयति, नीति; इति नय: यह नय शब्द की निरुक्ति है। ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहते हैं। **(सुख बो.त. वृ. ५८-५९)** अनेकान्तात्मक वस्तु में विरोध के बिना हेतु की मुख्यता से साध्य विशेष की यथार्थता को प्राप्त कराने में समर्थ प्रयोग को नय कहते हैं। **(सर्वा. २४१)**

४. प्रश्न : अल्पाक्षर होने से नय को प्रथम ग्रहण करना चाहिए ?

उत्तर : 'पूज्य का पूर्व निपात होता है' इस नियम के अनुसार नय का प्रथम ग्रहण न करके 'प्रमाण' पद का प्रथम ग्रहण किया है। प्रमाण के द्वारा प्रकाशित पदार्थों में ही व्यवहार के कारण नयों की प्रवृत्ति होती है, अन्य में नहीं; अत: प्रमाण ही पूज्य है। **अथवा,** समुदाय एवं अवयव विशेष होने से पूज्यता है। प्रमाण समुदाय को विषय करता है तथा नय अवयव को। सो ही कहा है–सकलादेश को जानना प्रमाणाधीन है और विकलादेश को जानना नयाधीन है। **(रा.वा.२-३)** किसी भी वस्तु का सम्पूर्ण रूप से निर्णय करना प्रमाण ज्ञान से ही सम्भव है। समीचीन से भी समीचीन किसी नय का इस प्रकार वस्तु का निर्णय कर लेने का सर्वदा सामर्थ्य नहीं है। अत: प्रमाण पूज्य है।

---

१. प्रमाण के अनुसार जो चलता है, वह नय है।

५. प्रश्न : अधिगम के हेतु कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : अधिगम के हेतु दो प्रकार के होते हैं –

(१) स्वाधिगम हेतु (२) पराधिगम हेतु।

स्वाधिगम हेतु ज्ञानात्मक है, प्रमाण और नय उसके ये दो विकल्प हैं। तथा पराधिगम हेतु वचनात्मक है। उस वचनात्मक स्याद्वाद नय से संस्कृत श्रुत नामक प्रमाण के द्वारा जीवादि पदार्थ तथा उनकी प्रत्येक पर्याय सप्तभंगी रूप से जानी जाती है। **(रा.वा.४)**

६. प्रश्न : नय और प्रमाण सम्यक् ही होते हैं या मिथ्या भी ?

उत्तर : जिस प्रकार मिथ्यात्व के उदय से ज्ञान, अज्ञान हो जाता है, अविरति भाव उदित होते हैं और सम्यक् रूप भाव ढक जाता है वैसे ही सुनय, दुर्नय और प्रमाण, दु:प्रमाण हो जाते हैं। **(पं. का. ४३ ता. वृ.)** मिथ्यादृष्टि के भेद या उपचार का ज्ञान नियम से मिथ्या होता है और सम्यक्त्व हो जाने पर वही सम्यक् कहा गया है। तहाँ उस मिथ्यारूप ज्ञान से बंध और सम्यक् रूप ज्ञान से मोक्ष होता है। **(न.च.२३९)**

७. प्रश्न : सप्तभंगी किसे कहते हैं ?

उत्तर : प्रश्न के अनुसार एक ही वस्तु में प्रमाण से अविरुद्ध विधि, प्रतिषेध धर्मों की कल्पना करना सप्तभंगी है। एक ही वस्तु में प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण के अविरुद्ध अस्तिनास्ति की विकल्पना रूप सप्तभंगी जानना चाहिए। एक ही घट का गौण और मुख्य रूप नय की विवक्षा से (१) स्यात् घट (२) स्यात् अघट (३) स्यात् उभय (घट-अघट) (४) स्यात् अवक्तव्य (५) स्यात् घट अवक्तव्य (६) स्यात् अघट अवक्तव्य (७) स्यात् घट-अघट अवक्तव्य। **(रा.वा. ५)**

८. प्रश्न : एक समय में पदार्थ में अस्ति-नास्ति (स्यात् घटाघट) भंग कैसे घटित होता है?

उत्तर : घटत्व और अघटत्व दोनों परस्पर भिन्न नहीं हैं। यदि घटत्व और अघटत्व में भिन्नपना माना जाय तो घट में ही दोनों धर्मों के निमित्त से होने वाले बुद्धि और वचन के प्रयोग नहीं हो सकेंगे, घट और पट के समान। अत: परस्पर अविनाभाव के अभाव में दोनों का अभाव हो जाता है। तथा उन दोनों के आश्रय से होने वाले व्यवहार का भी लोप हो जायेगा। अत: घट उभयात्मक है। क्रमश: उभय धर्मों की विवक्षा होने पर घड़ा स्यात् घट भी है और कथंचित् अघट भी है। यदि उभयात्मक वस्तु को घट ही कहा जाय तो दूसरे स्वरूप का संग्रह नहीं होने से वह अतत्त्व ही हो जायेगा। यदि अघट ही है, ऐसा कहा जाय तो घट स्वरूप का संग्रह नहीं होने से असत्य ही होगा क्योंकि वस्तु का स्वरूप घट वा अघट (अस्ति वा नास्ति) मात्र नहीं है। **(रा.वा. ५)**

९. प्रश्न : वस्तु को अवक्तव्य आदि किस अपेक्षा कहा जाता है ?

उत्तर : अन्य कोई ऐसा शब्द नहीं है जो युगपत् उभयात्मक वस्तु का प्रधान भाव से कथन कर

सके। अत: घट वचनगोचर से अतीत होने से कथंचित् अवक्तव्य है, ऐसा कहा जाता है। घट पर्याय की मुख्यता से वर्णन करने पर भी वही अर्थ होता है कि कथंचित् घट अस्तिरूप से अवक्तव्य है। अघट भंग के साथ निरूपण करने पर अघट अवक्तव्य है। क्रमश: उभय धर्म और युगपद् उभय धर्म की विवक्षा होने पर घट स्याद् उभय और अवक्तव्य है। **(रा.वा. ५)**

१०. प्रश्न : सप्तभंगी प्रक्रिया किस-किस में होती है ?

उत्तर : यह सप्तभंगी प्रक्रिया द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र तथा जीव, अजीव आदि में भी लगा लेना चाहिए। जैसे स्यात् जीव, स्यात् अजीव, स्यात् जीवाजीव, स्यात् अवक्तव्य, स्यात् जीव-अवक्तव्य, स्यात् अजीव अवक्तव्य, स्यात् जीवाजीव अवक्तव्य। **(रा.वा.५)**

११. प्रश्न : अनेकान्त में सप्तभंगी का अभाव होने से सप्तभंगी योजना सर्वत्र होती है, इस नियम का अभाव हो जायेगा ?

उत्तर : ऐसा नहीं है, अनेकान्त में भी सप्तभंगी की योजना होती है जैसे स्याद् एकान्त, स्याद् अनेकान्त, स्याद् उभय, स्याद् अवक्तव्य, स्याद् एकान्त अवक्तव्य, स्याद् अनेकान्त अवक्तव्य, स्याद् उभय अवक्तव्य; इस प्रकार प्रमाण और नय की दृष्टि से अनेकांत रूप से अनेकमुखी कल्पनाएँ हो सकती हैं। **(रा.वा. ६)**

१२. प्रश्न : अनेकान्त किसे कहते हैं ?

उत्तर : जात्यन्तर भाव को अनेकान्त कहते हैं। **(ध.पु. १५/२५)** जो तत् है वही अतत् है, जो एक है वही अनेक है, जो सत् है वही असत् है, जो नित्य है वही अनित्य है, इस प्रकार एक वस्तु में वस्तुत्व का निष्पादन करने वाली परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशित होना अनेकान्त है। **(स.सा.आ. स्याद्वाद अधिकार)** जिसके सामान्य-विशेष, पर्याय व गुणरूप अनेक अन्त या धर्म है, वह अनेकान्त रूप सिद्ध होता है। **(न्या.दी. ३/७८)** एक वस्तु में वस्तुत्व के निष्पादक (मुख्यता और गौणता की अपेक्षा) अस्तित्व-नास्तित्व आदि परस्पर विरोधी धर्मों के सापेक्ष प्रतिपादन को अनेकान्त कहते है। **(स.सा.ता. स्याद्वाद अधिकार)**

१३. प्रश्न : अनेकान्त कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : अनेकान्त दो प्रकार का होता है – (१) सम्यग् अनेकान्त (२) मिथ्या अनेकान्त।

सम्यग् अनेकान्त - एक वस्तु में युक्ति और आगम से अविरुद्ध अनेक विरोधी धर्मों को ग्रहण करने वाला सम्यगनेकान्त है।

अनेकान्त भी प्रमाण और नय रूप साधनों से युक्त होने के कारण अनेकान्त स्वरूप है, प्रमाण की अपेक्षा अनेकान्त स्वरूप है और विवक्षित नय से अनेकान्त में एकान्त स्वरूप है। **(स्व.स्तो. १०३)**

मिथ्या अनेकान्त - वस्तु को तत्-अतत् आदि स्वभाव से शून्य कहकर उसमें अनेक धर्मों की मिथ्या-कल्पना करने वाला अर्थशून्य वाग्विलास मिथ्या अनेकान्त है। **(रा.वा. ७)**

१४. प्रश्न : जो अस्ति है वही नास्ति है, जो नित्य है वही अनित्य है, इस प्रकार अनेकांत की प्ररूपणा करना छल मात्र ही है ?

उत्तर : ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि छल के लक्षण का अनेकांत में अभाव है। अर्थों के विकल्प की उपपत्ति से वचनों का विघात होना छल है। जैसे 'नव-कम्बलो देवदत्त:' यहाँ नव शब्द के दो अर्थ हैं। एक नौ संख्या और दूसरा नया। 'नूतन' विवक्षा से कहे गये 'नव' शब्द का नौ संख्या रूप अर्थ विकल्प करके वक्ता के अभिप्राय से भिन्न अर्थ की कल्पना छल कही जाती है। जैसे इसके नव कम्बल हैं चार-पाँच नहीं। श्रोता ने अर्थ किया दूसरा, कम्बल नया है, पुराना नहीं। किन्तु सुनिश्चित उभय नय के वश के कारण मुख्य-गौण विवक्षा से संभव अनेक धर्मों का सुनिर्णीत रूप से प्रतिपादन करने वाला अनेकान्तवाद छल नहीं हो सकता, क्योंकि इसमें वचनविघात नहीं किया गया है अपितु यथावस्थित वस्तु तत्त्व का निरूपण किया गया है। **(रा.वा. ८)**

१५. प्रश्न : क्या अनेकान्तवाद संशय का हेतु है ?

उत्तर : नहीं, क्योंकि यहाँ विशेष लक्षण की उपलब्धि होती है। सामान्य धर्म का प्रत्यक्ष होने से विशेष धर्मों का प्रत्यक्ष न होने पर उभय विशेषों का स्मरण होने से संशय होता है। जैसे-धुंधली रात्रि में स्थाणु और पुरुष-गत ऊँचाई आदि सामान्य धर्म की प्रत्यक्षता होने पर स्थाणुगत कोटर पक्षिनिवास तथा पुरुषगत सिर खुजलाना, चोटी बाँधना, वस्त्र हिलाना आदि विशेष धर्मों के न दिखने पर किन्तु इन विशेषों का स्मरण रहने पर संशय उत्पन्न हो जाता है। किन्तु अनेकान्तवाद में विशेष धर्मों की अनुपलब्धि नहीं है। क्योंकि स्वरूपादि के आदेश से वशीकृत उक्त विशेष प्रत्यक्ष उपलब्ध होते हैं। अत: विशेष की उपलब्धि होने से अनेकांतवाद संशय का हेतु नहीं है। **(रा.वा. ९)**

१६. प्रश्न : द्रव्यार्थिक या पर्यायार्थिक नय का एकान्त से ग्रहण करने में क्या हानि है ?

उत्तर : यदि द्रव्यार्थिक नय का एकान्त से आग्रह किया जाता है तो अतत् को तत् कहने के कारण उन्मत्त के वाक्य के समान वह अग्राह्य हो जाएगा। इसी प्रकार यदि एकान्त से पर्यायार्थिक नय का आग्रह किया जाता है तो तत् को भी अतत् कहने के कारण असत्वाद हो जायेगा, वह उन्मत्त मानव के वचन के समान निरादरणीय होगा। स्याद्वाद अपेक्षा से वस्तु के यथार्थ स्वरूप का निर्णय कराने वाला होने से सद्वाद (समीचीन) है। वह चतुर मानव के वचन के समान आदरणीय होता है। वस्तु को सर्वथा अवक्तव्य कहना असद्वाद है। क्योंकि इस अवक्तव्य दशा में 'अवक्तव्य' यह वचन भी नहीं बोल सकेंगे; जैसे कि मौनव्रती ''मैं मौनव्रती हूँ'' ये शब्द भी नहीं बोल सकता, स्ववचनविरोधी होने से। अत: स्यात् अवक्तव्यवाद ही सत्यवाद है। कथंचित् वक्तव्य अवक्तव्यवादी होने के कारण सत्य एवं असत्य वचन विशेष को जानने वाले के वचन के समान। (अत: स्यात् अवक्तव्यवाद ही सत्य है।) **(रा.वा.५)**

१७. प्रश्न : एकान्त किसे कहते हैं ?

उत्तर : समस्त पदार्थ सत् रूप ही है, असत् रूप ही है, नित्य रूप ही है अथवा अनित्य रूप ही है, इत्यादि प्रकार का अभिप्राय रखना एकान्त दृष्टि है **(स्व. स्तो. टी. ५५)** दो विरोधी अन्तों-धर्मों में से किसी एक अन्त (धर्म) को ही स्वीकृत करना एकान्त कहलाता है। पदार्थ स्व रूप की अपेक्षा सत् रूप एवं पर रूप की अपेक्षा असत् रूप होता है, इस सापेक्ष कथन की उपेक्षा करके ऐसा कथन करना कि जिस प्रकार पदार्थ स्वरूप की अपेक्षा सद् रूप है उसी प्रकार पर रूप की अपेक्षा भी सद् रूप है। **(स्व. स्तो. टी. ४१)**

१८. प्रश्न : एकान्त कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : एकान्त दो प्रकार का होता है-

(१) सम्यगेकान्त (२) मिथ्या एकान्त।

सम्यगेकान्त - प्रमाण के द्वारा निरूपित वस्तु के एकदेश को हेतु विशेष के सामर्थ्य की अपेक्षा से ग्रहण करने वाला सम्यगेकान्त है।

मिथ्या एकान्त - एक धर्म का सर्वथा (एकान्त रूप से) अवधारण करके अन्य धर्मों का निराकरण करने वाला मिथ्या एकान्त है। **(रा.वा. ७)**

पदार्थों को जानने के अन्य उपाय कहते हैं-

निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानतः ॥७॥

निर्देश-स्वामित्व-साधन-अधिकरण-स्थिति-विधानतः।

अर्थ - निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान से जीवादि पदार्थों का ज्ञान होता है।

निर्देश - वस्तु के स्वरूप का निश्चय करना निर्देश है।

स्वामित्व - वस्तु के अधिपति को स्वामी कहते हैं।

साधन - वस्तु की उत्पत्ति के निमित्तों को साधन कहते हैं।

अधिकरण - वस्तु के आधार को अधिकरण कहते हैं।

स्थिति - कालकृत व्यवस्था को स्थिति कहते हैं।

विधान - वस्तु के भेद-प्रभेद को विधान कहते हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : मध्यम रुचि शिष्यों के अभिप्राय के अनुसार तत्त्वार्थों के जानने के अन्य उपायों को सूचित करते हुए यह सूत्र अवतरित हुआ है। **(सुख बो.त. वृ. २५)**

इस प्रकार प्रमाण और नय के द्वारा जाने गये जीवादि पदार्थों के जानने के दूसरे उपाय बताने के लिए यह सूत्र लिखा गया है। **(सर्वा. २५)**

२. प्रश्न : ये निर्देशादि प्रमाण रूप हैं या नय रूप ?

उत्तर : ये निर्देशादि छह अनुयोग सम्पूर्ण रूप से वस्तु को विषय करते हैं तो श्रुतज्ञान रूप प्रमाणात्मक बन जाते हैं और यदि उस वस्तु के एकदेश को विषय करते हैं तो नयात्मक बनते हैं। **(सुख बो.त.वृ. २७)**

३. प्रश्न : निर्देशादि का सूत्रोक्त क्रम क्यों कहा गया है ?

उत्तर : निश्चित पदार्थ के स्वरूप का निश्चय हो जाने पर ही उसके स्वामित्व, साधन आदि के जानने की इच्छा होती है अत: सर्वप्रथम निर्देश का ग्रहण किया गया है और स्वामी आदि का कथन प्रश्नों के अनुसार किया गया है। **(रा.वा.१-२)**

४. प्रश्न : सम्यग्दर्शन में निर्देशादि का कथन किस प्रकार करना चाहिए ?

उत्तर : सम्यग्दर्शन के निर्देशादि -

निर्देश - जीवादि पदार्थों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, ऐसा कथन करना निर्देश है। नामादि के द्वारा सम्यग्दर्शन का कथन करना सम्यग्दर्शन का निर्देश है।

स्वामी - सम्यग्दर्शन सामान्य से जीव के होता है, विशेष रूप से गति आदि मार्गणाओं में आगमानुसार कथन करना चाहिए।

साधन - साधन दो प्रकार का है : अभ्यन्तर एवं बाह्य।

दर्शनमोहनीय का उपशम, क्षय या क्षयोपशम सम्यग्दर्शन का अभ्यन्तर साधन है एवं बाह्य साधन जातिस्मरण आदि को जानना चाहिए।

अधिकरण - अधिकरण के दो भेद हैं - अभ्यन्तर एवं बाह्य।

जिस सम्यग्दर्शन का जो स्वामी है वही उसका अभ्यन्तर अधिकरण है तथा एक राजु चौड़ी एवं चौदह राजु लम्बी लोक (त्रस) नाड़ी बाह्य अधिकरण है।

स्थिति - सम्यग्दर्शन की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त एवं उत्कृष्ट स्थिति सादि-अनन्त है।

विधान - सम्यग्दर्शन एक, दो, तीन, संख्यात, असंख्यात एवं अनन्त प्रकार का होता है। **(सर्वा. २६-३१)**

५. प्रश्न : ज्ञान में निर्देशादि का कथन किस प्रकार करना चाहिए ?

उत्तर : ज्ञान निर्देश - जीवादि तत्त्वों के प्रकाशन को ज्ञान कहते हैं अथवा नाम ज्ञान, स्थापना ज्ञान आदि रूप भी ज्ञान होता है।

स्वामी - ज्ञान का स्वामी आत्मा या ज्ञान पर्याय है।

साधन-ज्ञानावरणादि कर्म का क्षयोपशम तथा ज्ञान गुण प्रकट होने की योग्यता ज्ञान का साधन है।

अधिकरण - आत्मा तथा स्वाकार (अपना आकार) ही अधिकरण है क्योंकि ज्ञान आत्मा में ही रहता है।

स्थिति - मति आदि चार ज्ञान सादि-सान्त हैं एवं केवलज्ञान सादि-अनन्त है।

विधान - सामान्य से ज्ञान एक है, प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो प्रकार का है; द्रव्य, गुण और पर्याय रूप ज्ञेय के भेद से तीन प्रकार का है, नामादि के भेद से चार प्रकार का है। इसी प्रकार ज्ञेयाकार परिणति के भेद से ज्ञान के संख्यात, असंख्यात और अनन्त विकल्प होते हैं। **(रा.वा. १४)**

६. प्रश्न : चारित्र में निर्देशादि का कथन किस प्रकार करना चाहिए ?

उत्तर : चारित्र **निर्देश**-कर्मों के आने के कारणों की निवृत्ति को चारित्र कहते हैं **अथवा** नामादि रूप चारित्र होता है।

स्वामी - चारित्र का स्वामी आत्मा या चारित्र पर्याय है।

साधन - चारित्र मोहनीय कर्म की उपशमादि अथवा चारित्र प्रगट करने की स्वशक्ति ही साधन है।

अधिकरण - स्वामिसम्बन्ध के योग्य (आत्मा) वस्तु चारित्र का अधिकरण है।

स्थिति - चारित्र की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट स्थिति कुछ कम पूर्व कोटि प्रमाण है **अथवा** - औपशमिक और क्षायोपशमिक चारित्र सादि-सान्त है और क्षायिकचारित्र शुद्धि की प्रगटता की अपेक्षा सादि और अनन्त है।

विधान - सामान्य से चारित्र (सर्व सावद्ययोग निवृत्तिरूप) एक प्रकार का है। अर्थात् चारित्रमोह के उपशम, क्षय व क्षयोपशम से होने वाली आत्मविशुद्धि की दृष्टि से चारित्र एक है। बाह्य-अभ्यन्तर निवृत्ति अथवा व्यवहार निश्चय के भेद से दो प्रकार का है। या प्राणिसंयम व इन्द्रियसंयम की अपेक्षा दो प्रकार का है।

औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक के भेद से तीन प्रकार का है। अथवा उत्कृष्ट, मध्यम व जघन्य विशुद्धि के भेद से तीन प्रकार का है।

चार प्रकार के यति की दृष्टि से या चतुर्यम की दृष्टि से चार प्रकार का है। अथवा छद्मस्थों का सराग और वीतराग तथा सर्वज्ञों का सयोग और अयोग इस तरह चार प्रकार का है।

सामायिक, छेदोपस्थापना आदि के भेद से पाँच प्रकार का है।

इस प्रकार विविध निवृत्ति रूप परिणामों की दृष्टि से चारित्र के संख्यात, असंख्यात और अनन्त विकल्प होते हैं। **(रा.वा. १४)**

इसी प्रकार आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष आदि में भी निर्देशादि का कथन करना चाहिए।

७. प्रश्न : जीव द्रव्य में निर्देश आदि का कथन किस प्रकार करना चाहिए ?

उत्तर : निर्देश-पर्यायार्थिक नय से आगे कहे जाने वाला औपशमिकादि भाव रूप जीव है तथा द्रव्यार्थिक नय से नाम जीव, स्थापना जीव, द्रव्य जीव, भाव जीव आदि निक्षेपों से जीव का वर्णन किया जाता है।

स्वामित्व - अग्नि में औष्ण्य के समान भेद करने से जीव अपनी पर्याय का स्वामी है तथा व्यवहार नय की विवक्षा से जीवादि सर्व पदार्थों का स्वामी जीव है।

साधन - व्यवहार नय से औपशमिकादि भाव साधन हैं तथा 'च' शब्द से माता-पिता के रज-वीर्य, आहारादि से स्वरूप लाभ करता है। इसलिए ये भी जीव के साधन हैं। जीवस्वरूप पारिणामिक भाव ज्ञान, दर्शन आदि से ही सदा काल जीव जीता रहता है, इसलिए निश्चय नय से तो पारिणामिक भाव जीव के कारण हैं।

अधिकरण - निश्चय से शरीर के छोटा-बड़ा होने से आत्मप्रदेशों में हीनाधिकता नहीं होती। इसलिए आकाश के समान अपने प्रदेशों में प्रतिष्ठित होने के कारण आत्मप्रदेश ही जीव का अधिकरण हैं और व्यवहार नय से शरीर अधिकरण है।

स्थिति - द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा जीवद्रव्य अनादिनिधन है क्योंकि कभी भी जीव चैतन्य, द्रव्यत्व, उपयोग, असंख्यात-प्रदेशित्व आदि सामान्य स्वरूप को छोड़ नहीं सकता। पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा जीव की स्थिति एक समयादि अनेक प्रकार की है क्योंकि उपयोग आदि की पर्यायें भिन्न-भिन्न होती हैं।

विधान - जीव नारकादि के भेद से संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रकार के हैं। **(रा.वा. ३-१३)**

८. प्रश्न : अजीव द्रव्यों में निर्देशादि का कथन किस प्रकार करना चाहिए ?

उत्तर : निर्देश - (व्यवहार नय की अपेक्षा) दस प्राणों से रहित अजीव होता है अथवा नामादि रूप भी अजीव है।

स्वामित्व - अजीव का स्वामी अजीव है अथवा जीव पुद्गलादि का भोक्ता होने से जीव भी अजीव का स्वामी है।

साधन - अणु का साधन भेद, स्कन्ध का साधन भेद और संघात है तथा बाह्य साधन कालादि

हैं। धर्मादि द्रव्यों में गतिहेतुता आदि रूप साधन अगुरुलघु गुण से अनुगृहीत एवं स्वात्मभूतसत्ता सम्बन्ध है अथवा जीव, पुद्गल भी साधन हैं। क्योंकि जीव एवं पुद्गल के निमित्त से गति आदि हेतुता की अभिव्यक्ति होती है।

अधिकरण - साधारणतया स्वात्मा में व्यवस्थित होने के कारण सभी द्रव्यों का अपना निज स्वरूप ही अधिकरण है, असाधारण आकाश द्रव्य सर्व द्रव्यों का अधिकरण है तथा जलादि वस्तुओं का आधार घटादि है।

स्थिति - द्रव्यदृष्टि से (सभी द्रव्यों की) स्थिति अनादि-अनन्त है और पर्याय अपेक्षा समय आदि की स्थिति है।

विधान - प्रतिनियत अनादि पारिणामिक द्रव्यार्थिक नय के आदेश से धर्मादि द्रव्य तथा पुद्गल एक-एक है तथा पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा अनेक हैं। **(रा.वा. १४)**

९. प्रश्न : पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा धर्मादि द्रव्य अनेक किस प्रकार हैं ?

उत्तर : पर्यायार्थिक दृष्टि से अनन्त जीवादि द्रव्यों के गति, स्थिति, अवगाहन आदि उपकार के कारण होने से ये धर्मादि द्रव्य एक, अनेक, संख्यात, असंख्यात और अनन्त हैं। परप्रत्यय की अपेक्षा काल संख्यात, असंख्यात और परिणमन का निमित्त होने से अनन्त है। पुद्गल द्रव्य प्रतिनियत एक, अनेक, संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश, पर्याय की अपेक्षा से एक, संख्यात, असंख्यात और अनन्त है। **(रा.वा. १४)**

१०. प्रश्न : औपशमिकादि सम्यग्दर्शन के स्वामी कौन हैं ?

उत्तर : औपशमिक सम्यक्त्व के स्वामी - प्रथमादि सातों पृथिवियों की पर्याप्त अवस्था में औपशमिक सम्यग्दर्शन होता है। तिर्यञ्च, मनुष्य तथा देवों की पर्याप्त अवस्था में औपशमिक सम्यक्त्व पाया जाता है। विशेष यह है कि देवों की अपर्याप्त अवस्था में भी यह पाया जाता है।

क्षायिक सम्यक्त्व के स्वामी- प्रथम नरक, भोगभूमिज तिर्यञ्च, भोगभूमिज एवं कर्मभूमिज मनुष्यों में तथा वैमानिक देवों में पर्याप्त एवं अपर्याप्त दोनों अवस्थाओं में क्षायिक सम्यक्त्व पाया जाता है। तथा द्वितीयादि नरकों में, कर्म-भूमियाँ तिर्यञ्चों में, लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्यों में, भवनत्रिक देवों में, सभी देवियों, सभी मनुष्यनी में एवं सभी तिर्यञ्चनी के किसी भी अवस्था में क्षायिक सम्यक्त्व नहीं पाया जाता है।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व के स्वामी- नरक गति में प्रथम पृथिवी के अतिरिक्त नीचे की छह पृथिवियों में, देवगति में, भवनत्रिक देवों में तथा सर्व प्रकार की स्त्रियों की पर्याप्त अवस्था में ही यह सम्यक्त्व होता है, अपर्याप्त अवस्था में नहीं। **(गो. जी. १२८)**

११. प्रश्न : नारकियों के कौन-कौन सा सम्यग्दर्शन होता है ?

उत्तर : प्रथम पृथ्वी से सातवीं पृथ्वी तक पर्याप्तक नारकियों के औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन होता है। पहली पृथ्वी में पर्याप्तक और अपर्याप्तक नारकियों के क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन होता है। **(सर्वा. २६)**

१२. प्रश्न : तिर्यञ्चों के कौन-कौनसा सम्यग्दर्शन होता है ?

उत्तर : तिर्यञ्चों में पर्याप्तक तिर्यञ्चों के औपशमिक सम्यग्दर्शन होता है। क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन पर्याप्त एवं अपर्याप्त दोनों अवस्थाओं में होता है।[१] तिर्यञ्चनी के औपशमिक एवं क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन पर्याप्तक के ही होता है, अपर्याप्तक अवस्था में नहीं। तिर्यञ्चनी के क्षायिक सम्यग्दर्शन नहीं होता है। **(सर्वा. २६)**

१३. प्रश्न : मनुष्यों में कौन-कौन सा सम्यग्दर्शन होता है ?

उत्तर : मनुष्यगति में क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन पर्याप्तक और अपर्याप्तक दोनों प्रकार के मनुष्यों के होते हैं।

औपशमिक सम्यग्दर्शन पर्याप्तक मनुष्य के ही होता है, अपर्याप्तक मनुष्य के नहीं। मनुष्यनियों के तीनों ही सम्यग्दर्शन होते हैं किन्तु ये पर्याप्तक मनुष्यनी के ही होते हैं, अपर्याप्तक मनुष्यनी के नहीं। **(सर्वा. २६)**

१४. प्रश्न : देवों में कौन-कौनसा सम्यग्दर्शन होता है ?

उत्तर : देवगति में पर्याप्तक और अपर्याप्तक दोनों प्रकार के देवों में तीनों ही सम्यग्दर्शन होते हैं। भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवों के, इन तीनों की देवांगनाओं के तथा सौधर्म-ऐशान कल्प में उत्पन्न हुई देवांगनाओं के क्षायिक सम्यग्दर्शन नहीं होता, औपशमिक और क्षायोपशमिक ये दो सम्यग्दर्शन होते हैं, वे भी पर्याप्त अवस्था में ही होते हैं। **(सर्वा. २६)**

१५. प्रश्न : देवों की अपर्याप्तक अवस्था में औपशमिक सम्यग्दर्शन कैसे होता है ?

उत्तर : जो मनुष्य चारित्र मोहनीय का उपशम करके या करते हुए उपशम श्रेणी में मरकर देव होते हैं उन देवों के अपर्याप्तक अवस्था में औपशमिक सम्यग्दर्शन होता है। **(सर्वा. २६)**

१६. प्रश्न : सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का साधन क्या है ?

उत्तर : सम्यग्दर्शन का निमित्त जिनसूत्र है, अथवा जिनसूत्र के जानने वाले पुरुष हैं। तथा अन्तरंग कारण दर्शनमोह के क्षय, उपशम व क्षयोपशम हैं। **(नि.सा. ५३)** जब देशनालब्धि और काललब्धि आदि बहिरंग कारण तथा करणलब्धि रूप अन्तरंग कारण-सामग्री प्राप्त होती है, तभी यह भव्य प्राणी विशुद्ध सम्यग्दर्शन का धारक होता है। **(म.पु. ९/११६)**

---

१. यहाँ भोगभूमि की अपेक्षा समझना चाहिए।

जिनेन्द्रदेव के अलावा कोई देव पूज्य नहीं, दया के बिना कोई धर्म नहीं, आत्मतत्त्व के अलावा कोई तत्त्व नहीं, निर्ग्रन्थ के अलावा कोई गुरु नहीं, समस्त तत्त्वों के प्रकाशक जिनागम के अलावा कोई आगम नहीं, धर्मात्माओं से प्रेम के अलावा कोई स्नेह नहीं, मोक्ष के समान कोई सुख नहीं, रत्नत्रय के समान कोई रत्न नहीं, सत्पात्र को दान के समान कोई दान नहीं तथा जिनेन्द्रपूजा के समान कोई पूजा नहीं है, ऐसा निश्चय करना सम्यग्दर्शन का मूल कारण है। **(शा. पु. ८/२७-३०)**

तीर्थंकर, केवली, श्रमण, भवस्मरण, शास्त्र, देवमहिमा आदि बहुत प्रकार के सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के बाह्य हेतु मानने चाहिए। **(न. च. ३१६)**

जातिस्मरण, जिनबिम्बदर्शन, धर्मश्रवण, जिनमहिमादर्शन, देव-ऋद्धि दर्शन व वेदना आदि सम्यग्दर्शन के बाह्य कारण हैं। **(धवल ६/४३३ के आधार से)**

१७. प्रश्न : नारकियों में सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का साधन क्या है ?

उत्तर : नारकियों में सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का अंतरंग साधन दर्शनमोह का उपशम, क्षय या क्षयोपशम है।

नारकियों में सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में बहिरंग साधन -

तीसरे नरक तक के नारकियों के जातिस्मरण, धर्मश्रवण और वेदनाभिभव ये तीन साधन हैं।

चौथे से सातवें तक जाति-स्मरण एवं वेदनाभिभव ये दो कारण हैं। **(सर्वा. २८)**

१८. प्रश्न : सभी नारकियों को जातिस्मरण होता है अत: सभी के सम्यग्दर्शन मानना चाहिए।

उत्तर : यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि सामान्य रूप से भवस्मरण के द्वारा सम्यक्त्व की उत्पत्ति नहीं होती। किन्तु धर्मबुद्धि से पूर्व-भव में किये गये अनुष्ठानों की विफलता के दर्शन से ही प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारणत्व इष्ट है, जिससे पूर्वोक्त दोष प्राप्त नहीं होता और इस प्रकार की बुद्धि सब नारकी जीवों के होती नहीं है, क्योंकि तीव्र मिथ्यात्व के उदय के वशीभूत नारकी जीवों के पूर्व भवों का स्मरण होते हुए भी उक्त प्रकार के उपयोग का अभाव है। इस प्रकार जातिस्मरण प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण है। **(ध. पु. ६/४२२)**

१९. प्रश्न : वेदना नारकियों के सम्यक्त्व का कारण कैसे है ?

उत्तर : यद्यपि वेदना सामान्य सम्यक्त्वोत्पत्ति का कारण नहीं है, किन्तु जिन जीवों के ऐसा उपयोग होता है कि अमुक वेदना अमुक मिथ्यात्व के कारण या अमुक असंयम से उत्पन्न हुई है उन्हीं जीवों की वेदना सम्यक्त्वोत्पत्ति का कारण होती है, अन्य जीवों की वेदना नरकों में सम्यक्त्वोत्पत्ति का कारण नहीं होती है; क्योंकि उसमें उक्त प्रकार के उपयोग का अभाव होता है। **(ध.६/४२३)**

२०. प्रश्न : नारकियों के धर्मश्रवण कैसे सम्भव है, क्योंकि वहाँ तो ऋषियों के गमन का अभाव है?

उत्तर : नहीं, क्योंकि अपने पूर्वभव के सम्बन्धी जीवों के धर्म उत्पन्न कराने में प्रवृत्ति और समस्त बाधाओं से रहित सम्यग्दृष्टि देवों का नरकों में गमन देखा जाता है। नीचे की चार पृथिवियों में धर्मश्रवण के द्वारा प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि वहाँ देवों के गमन का अभाव है। वहाँ स्थित सम्यग्दृष्टियों से धर्मश्रवण करके सम्यक्त्व की उत्पत्ति क्यों नहीं होती ? ऐसा पूछने पर उत्तर देते हैं कि नहीं होती, क्योंकि भव सम्बन्ध से या पूर्व वैर के सम्बन्ध से परस्पर विरोधी हुए नारकी जीवों के अनुग्राह्य-अनुग्राहक भाव उत्पन्न होना असंभव है। **(ध. ६/४२२-४२४)**

२१. प्रश्न : तिर्यञ्चों में सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का साधन क्या है ?

उत्तर : तिर्यञ्चों में कितने ही तिर्यञ्च जीव प्रतिबोध से और कितने ही स्वभाव से भी प्रथमोपशम और वेदक सम्यक्त्व को ग्रहण करते हैं। इसके अतिरिक्त कोई सुख-दु:ख को देखकर उत्पन्न हुए जाति-स्मरण से, कितने ही जिनबिम्ब के दर्शन से प्रथमोपशम और वेदक सम्यक्त्व ग्रहण करते हैं। **(ति.प. ५/३१०-११)** तिर्यञ्चों में कोई जातिस्मरण, कोई धर्मश्रवण और कोई जिनबिम्बदर्शन से सम्यग्दर्शन उत्पन्न करते हैं। **(सर्वा. २८)**

२२. प्रश्न : मनुष्यों में सम्यग्दर्शन-प्राप्ति का साधन क्या है ?

उत्तर : कर्मभूमि में कोई मनुष्य प्रतिबोधन से, कोई स्वभाव से, कितने ही बहुत प्रकार के सुख-दु:ख को देखकर उत्पन्न हुए जातिस्मरण से, कितने ही भगवान की कल्याणक आदि रूप महिमा के दर्शन से एवं कितने ही जिनबिम्ब के दर्शन से औपशमिकादि सम्यग्दर्शन प्राप्त करते हैं। **(ति.प. ४/३०००-१)** तिर्यंचों के समान मनुष्य में जानना चाहिए अर्थात् जातिस्मरण, धर्मश्रवण एवं जिनबिम्बदर्शन से मनुष्यों के सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। **(सर्वा. २८)** भोगभूमि में कोई जातिस्मरण से, कोई देवों के प्रतिबोध से तथा कोई चारण मुनि आदि के सदुपदेश से सम्यक्त्व ग्रहण करते हैं। **(ति.प. ४/३८५)**

२३. प्रश्न : मनुष्यों में जिनमहिमा-दर्शन को सम्यग्दर्शन का कारण क्यों नहीं कहा है ?

उत्तर : यह कोई दोष नहीं है क्योंकि जिनमहिमादर्शन का जिनबिंब के दर्शन में अंतर्भाव हो जाता है। अथवा मिथ्यादृष्टि मनुष्यों के आकाश में गमन करने की शक्ति न होने से उनके चतुर्विध देवनिकायों के द्वारा किये जाने वाले नन्दीश्वरद्वीपवर्ती जिनेन्द्रप्रतिमाओं के महामहोत्सव का देखना सम्भव नहीं है, इसलिए उनके जिनमहिमादर्शन रूप कारण का अभाव है। किन्तु मेरुपर्वत पर किये जाने वाले जिनेन्द्र-महोत्सवों को विद्याधर मिथ्यादृष्टि देखते हैं इसलिए उपर्युक्त अर्थ नहीं कहना चाहिए, ऐसा कितने ही आचार्य कहते हैं, अतएव पूर्वोक्त अर्थ ही ग्रहण करना योग्य है। **(ध. ६.४३०)**

२४. प्रश्न : मनुष्यों में सम्यक्त्व की उत्पत्ति के कारणों में ऋषियों एवं तीर्थ-क्षेत्रों के दर्शनों का निर्देश क्यों नहीं किया ?

उत्तर : लब्धिसम्पन्न ऋषियों के दर्शन का भी जिनबिम्बदर्शन में ही अन्तर्भाव हो जाता है। ऊर्जयन्त पर्वत तथा चम्पापुर वा पावापुर आदि के दर्शन का भी जिनबिम्बों के दर्शन तथा जिन भगवान के निर्वाण-गमन के कथन के बिना प्रथम सम्यक्त्व का ग्रहण नहीं है। **(ध.पु. ६/४३०)**

२५. प्रश्न : देवों में सम्यक्त्वोत्पत्ति के कौन-कौन से कारण हैं ?

उत्तर : भवनत्रिक एवं सौधर्म से सहस्रार स्वर्ग तक के देवों में सम्यक्त्व प्राप्ति के जिनमहिमादर्शन, धर्मश्रवण, जाति-स्मरण एवं देवऋद्धिदर्शन ये चार कारण हैं।

आनतादि चार स्वर्ग तक के देवों में देवर्द्धिदर्शन को छोड़कर शेष तीन कारण हैं।

नव ग्रैवेयक में जिनमहिमादर्शन को छोड़कर शेष दो कारण हैं।

अनुदिश व अनुत्तर विमानों में सभी सम्यग्दृष्टि ही उत्पन्न होते हैं अत: इनमें सम्यक्त्वप्राप्ति का कोई कारण नहीं है। **(सर्वा. २८)**

२६. प्रश्न : देवों में जिनबिम्बदर्शन सम्यग्दर्शन का कारण क्यों नहीं कहा ?

उत्तर : यह कोई दोष नहीं है क्योंकि जिनबिम्बदर्शन का जिनमहिमादर्शन में ही अन्तर्भाव हो जाता है, कारण जिनबिम्ब के बिना जिनमहिमा की उपपत्ति बनती नहीं है। **(ध. ६/४३२)** ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए कि स्वर्गावतरण, जन्माभिषेक और परिनिष्क्रमणरूप जिनमहिमाएँ जिनबिम्ब के बिना ही की जाती हैं अत: वह जिनमहिमा में गर्भित नहीं होता क्योंकि इनमें भी भावी जिनबिम्ब का दर्शन पाया जाता है। अथवा, इन महिमाओं में उत्पन्न होने वाला प्रथम सम्यक्त्व जिनबिम्ब-दर्शन निमित्तक नहीं है, किन्तु जिनगुणश्रवण निमित्तक है। **(ध. ६/४३३)**

२७. प्रश्न : आनतादि स्वर्गों में देवर्द्धि-दर्शन को सम्यक्त्व का कारण क्यों नहीं कहा ?

उत्तर : आनतादि चार स्वर्गों में महर्द्धि से युक्त ऊपर के देवों का आगमन नहीं होता, इसलिए वहाँ महर्द्धि दर्शन रूप प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण नहीं पाया जाता है। उन्हीं कल्पों में स्थित देवों की महर्द्धि का दर्शन प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति का निमित्त हो नहीं सकता, क्योंकि उसी ऋद्धि को बार-बार देखने से विस्मय हो नहीं सकता। अथवा - उक्त कल्पों में शुक्ल लेश्या के सद्भाव के कारण महर्द्धि के दर्शन से उन्हें कोई संक्लेश भाव उत्पन्न नहीं होता। अत: आनतादि चार स्वर्गों में महर्द्धिदर्शन को सम्यक्त्व-प्राप्ति का कारण नहीं कहा। **(ध.पु. ६-४३५)** विशेष वहीं देखें।

२८. प्रश्न : देवर्द्धिदर्शन का जातिस्मरण में समावेश क्यों नहीं होता ?

उत्तर : नहीं होता, क्योंकि अपनी अणिमादिक ऋद्धियों को देखकर जब यह विचार उत्पन्न होता

है कि ये ऋद्धियाँ जिन भगवान द्वारा उपदिष्ट धर्म के अनुष्ठान से उत्पन्न हुई हैं, तब प्रथम सम्यक्त्व की प्राप्ति जातिस्मरण निमित्तक होती है। किन्तु मैं सम्यक्त्व से रहित द्रव्य संयम के फल से वाहनादिक नीच देवों में उत्पन्न हुआ हूँ, तब प्रथम सम्यक्त्व का ग्रहण देवर्द्धिदर्शन निमित्तिक होता है। इससे ये दोनों कारण एक नहीं हो सकते।

(२) जातिस्मरण, उत्पन्न होने के प्रथम समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त काल के भीतर ही होता है। किन्तु देवर्द्धिदर्शन उत्पन्न होने के समय से अन्तर्मुहूर्त काल के पश्चात् ही होता है। इसलिए भी इन दोनों कारणों में एकत्व नहीं है। **(ध. ६/४३३-३४)**

२९. प्रश्न : नव ग्रैवेयक में जिनमहिमा दर्शन को सम्यक्त्व-प्राप्ति का कारण क्यों नहीं माना?

उत्तर : नव ग्रैवेयक में जिनमहिमादर्शन को सम्यक्त्व-प्राप्ति का कारण नहीं कहा क्योंकि ग्रैवेयक विमानवासी देव नन्दीश्वर आदि के महोत्सव देखने नहीं आते। वीतरागी होने के कारण अवधिज्ञान से जिन-महिमा को देखते हुए भी उन्हें विस्मय उत्पन्न नहीं होता। **(ध. पु. ६./४३६)**

३०. प्रश्न : सम्यग्दर्शन की स्थिति कितनी है ?

उत्तर : औपशमिक सम्यग्दर्शन की जघन्य एवं उत्कृष्ट स्थिति एक अन्तर्मुहूर्त है। क्षायिक सम्यग्दर्शन की संसार सापेक्ष जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति आठ वर्ष, अन्तर्मुहूर्त कम दो पूर्वकोटि अधिक तैंतीस सागरोपम प्रमाण है, मुक्त जीव के सादि अनन्त है।

क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त एवं उत्कृष्ट स्थिति छ्यासठ सागर प्रमाण है। **(सर्वा. ३०)**

३१. प्रश्न : सम्यग्दर्शन कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : सामान्य से सम्यग्दर्शन एक प्रकार का है। निसर्गज और अधिगमज के भेद से सम्यग्दर्शन दो प्रकार का है। औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक के भेद से तीन प्रकार का है। सम्यक्त्व दस प्रकार का है-

(१) आज्ञा (२) मार्ग (३) उपदेश (४) सूत्र (५) बीज (६) संक्षेप (७) विस्तार (८) अर्थ (९) अवगाढ़ (१०) परमावगाढ़ सम्यक्त्व। **(आ.अ. १०-११)**

इसी प्रकार विभिन्न परिणामों की दृष्टि से संख्यात, असंख्यात और अनन्त विकल्प सम्यग्दर्शन के होते हैं। (रा.वा. १४)

भेद की अपेक्षा-सम्यग्दर्शन सामान्य से एक है।

निसर्गज और अधिगमज के भेद से दो प्रकार का है।

औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक के भेद से तीन प्रकार का है।

शब्दों की अपेक्षा संख्यात प्रकार का है।

श्रद्धान करने वालों की अपेक्षा असंख्यात प्रकार का है।

श्रद्धान करने योग्य पदार्थों की अपेक्षा अनन्त प्रकार का है। **(सर्वा. ३१)**

साध्य और साधन के भेद से सम्यक्त्व दो प्रकार का कहा गया है।

उपशम और मिश्र ये दो सम्यक्त्व तो साधन माने गये हैं और मुक्ति को साक्षात् देने वाला क्षायिक सम्यक्त्व साध्य कहा गया है। **(यो.सा. १/१८)**

अथवा - सराग सम्यक्त्व और वीतराग सम्यक्त्व की अपेक्षा सम्यक्त्व दो प्रकार का है। **(स.कौ. १/२८)**

३२. प्रश्न : आज्ञादि सम्यक्त्व के क्या लक्षण हैं ?

उत्तर : आज्ञा सम्यक्त्व : भगवत् अर्हंत सर्वज्ञ की आज्ञामात्र को मानकर सम्यग्दर्शन को प्राप्त हुए जीव आज्ञारुचि हैं। जिस तत्त्वश्रद्धा में भगवान अर्हन्त सर्वज्ञ द्वारा रचे हुए आगम की आज्ञा को स्वीकार करने से उत्पन्न हुआ तत्त्वज्ञान पाया जाता है उसे आज्ञा सम्यक्त्व कहते हैं।

मार्ग सम्यक्त्व : अपरिग्रही मोक्षमार्ग के श्रवण मात्र से उत्पन्न रुचि वाला मार्गरुचि नामक सम्यक्त्व है। रत्नत्रय रूप मोक्षमार्ग के विचार से प्रकट होने वाले तत्त्वश्रद्धान को मार्ग सम्यक्त्व कहते हैं।

उपदेश सम्यक्त्व : तीर्थंकर, बलदेव आदि के चरित्रों के उपदेश को सुनकर जो श्रद्धान करते हैं, वे उपदेशरुचि हैं।

तिरेसठ शलाका में विभक्त तीर्थंकरादि पुराण पुरुषों के चरित को श्रवण करने से उत्पन्न होने वाली श्रद्धाविशेष को उपदेश सम्यक्त्व कहते हैं।

सूत्र-सम्यक्त्व : दीक्षा, मर्यादा आदि के निरूपक आचारांग आदि सूत्रों के सुनने से उत्पन्न सम्यग्दर्शन वाले सूत्ररुचि हैं।

साधुजनों के महाव्रत आदि आचार के निरूपण करने के भाजनप्राय आचाराङ्ग सूत्र के श्रवण से उत्पन्न हुए तत्त्वश्रद्धान को सूत्र सम्यक्त्व कहा है।

बीज सम्यक्त्व : बीजपदों के ग्रहण पूर्वक सूक्ष्मार्थ को सुनकर जो तत्त्वार्थ श्रद्धान को प्राप्त हुए हैं वे बीजरुचि हैं।

समस्त शास्त्रों के समूह की सूचना का लक्ष्य बीजपद है और उसके आधार से प्रकट होने वाली तत्त्व रुचि को बीज सम्यक्त्व कहते हैं।

संक्षेप सम्यक्त्व : जीवादि पदार्थों के संक्षेप कथन को सुनकर जो श्रद्धान को प्राप्त हुए हैं, वे संक्षेपरुचि हैं।

आप्त, श्रुत, व्रत व पदार्थों के स्वल्प वर्णन से उत्पन्न होने वाली तत्त्वश्रद्धा को संक्षेप सम्यक्त्व कहते हैं।

विस्तार सम्यक्त्व : अंगपूर्व के विषयभूत जीवादि पदार्थों के विस्तार, प्रमाण, नय आदि के निरूपण के बल से विस्तार रूप कथन सुनकर जो श्रद्धान को प्राप्त हुए हैं वे विस्ताररुचि हैं। बारह अंग, चौदह-पूर्व और सामायिक-आदि प्रकीर्णक आगमों के अर्थ का समर्थन सुनकर प्रकट होने वाली विस्तृत तत्त्व-रुचि को विस्तार सम्यक्त्व कहते हैं।

अर्थ सम्यक्त्व : वचन के विस्तार के बिना केवल अर्थग्रहण से जिन्हें सम्यग्दर्शन हुआ है, वे अर्थरुचि हैं।

आगम के विषयों को श्रवण करके उत्पन्न हुए आत्मश्रद्धान में समर्थ तत्त्वश्रद्धान को अर्थ-सम्यक्त्व कहते हैं।

अवगाढ़-सम्यक्त्व : आचारांग आदि द्वादशांग में जिनका अतिदृढ़ श्रद्धान है, वे अवगाढ़ रुचि हैं।

अंग, पूर्व और प्रकीर्णक इन तीनों आगमों के पूरी तरह से अवगाहन करने पर उत्पन्न होने वाली गाढ़श्रद्धा को अवगाढ़-सम्यक्त्व कहते हैं।

परमावगाढ़ सम्यक्त्व : परमावधि, केवलज्ञान-दर्शन से प्रकाशित जीवादि पदार्थों के विषय में जो आत्म निर्मलता होती है, वह परमावगाढ़ रुचि है।

अवधिज्ञानी, मन:पर्ययज्ञानी व केवलज्ञानी पूज्य महापुरुषों के विश्वास से उत्पन्न होने वाले प्रगाढ़ तत्त्वश्रद्धान को परमावगाढ़-सम्यक्त्व कहते हैं। **(रा.वा. ३/३६) (य.ति.च. ६/२३७)**

३३. प्रश्न : सराग सम्यक्त्व किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिसकी अभिव्यक्ति प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य से होती है, वह सराग सम्यग्दर्शन कहलाता है। यही व्यवहार सम्यक्त्व है। **(प. प्र.टी. २/१७)**

प्रशस्त राग सहित जीवों का सम्यक्त्व सराग सम्यक्त्व है। **(भ.आ.वि. ५०)**

सरागसम्यग्दृष्टि केवल अशुभ कर्म के कर्तापने को छोड़ता है। **(स.सा.ता. १०४)**

शुद्ध जीव आदि तत्त्वार्थों का श्रद्धानरूप सराग सम्यक्त्व व्यवहार जानना चाहिए। **(द्र.सं.टी. ४१)**

सराग जीव में पाये जाने वाले तत्त्वश्रद्धान को सराग सम्यक्त्व कहते हैं। **(य.ति.च. ६/२३०)**

३४. प्रश्न : प्रशमादिक का लक्षण क्या है ?

उत्तर : प्रशम - रागादि की तीव्रता का न होना अथवा रागादि की मंदता होना प्रशम भाव है। **(रा.वा.१/२)**

(२) राग, द्वेष, काम व क्रोधादि विकृत भावों का उदय न होने देना प्रशम गुण है। **(य.ति.च. ६/२३१)**

संवेग - संसार से भीरुता रूप परिणाम होना संवेग है। **(रा.वा. १/२)** शारीरिक, मानसिक और आगन्तुक दु:खों को उत्पन्न करने वाले और स्वप्न व इन्द्रजाल सरीखे संसार से भयभीत होने को 'संवेग' गुण कहा है। **(य.ति.च. ६/२३२)**

अनुकम्पा - प्राणी मात्र में मैत्री (दया भाव) रखकर प्रवृत्ति करना अनुकम्पा है। **(रा. वा.१/२)** समस्त प्राणियों में मनोवृत्ति को दयालुता से सरस रखने को दयालु विद्वान् अनुकम्पा कहते हैं, जो धर्मरूपी वृक्ष की उत्कृष्ट जड़ है। **(य. ति. च. ६/२३३)**

आस्तिक्य - जीवादि पदार्थों के यथार्थ स्वरूप में अस्ति जीवादि पदार्थ सत्रूप हैं। लोक अनादि-निधन है। आगम एवं गुरु के उपदेशानुसार ऐसी प्रांजल (निर्मल) बुद्धि का होना आस्तिक्य है। **(रा.वा. १/२)** आप्त, द्वादशांग, शास्त्र, व्रत और जीवादि तत्त्व इन पदार्थों के विषय में 'ये मौजूद हैं' इस प्रकार इनकी मौजूदगी स्वीकार करने वाली चित्तवृत्ति को आस्तिक्य कहा है। **(य.ति.च. ६/२३५)**

३५. प्रश्न : वीतराग सम्यग्दर्शन किसे कहते हैं ?

उत्तर : निज शुद्धात्मा ही उपादेय है, इस प्रकार की रुचि रूप निश्चय (वीतराग) सम्यग्दर्शन है **(प.प्र.टी. २/१७)** प्रशस्त व अप्रशस्त दोनों प्रकार के राग से रहित क्षीणमोह वीतरागियों का सम्यक्त्व वीतराग सम्यक्त्व है।[१] **(भ.आ.वि.५०)।** सर्व प्रकार के कर्मों के कर्त्तापने को छोड़कर निश्चय चारित्र की अविनाभूत दशा वीतराग सम्यग्दर्शन है। **(स.सा.ता. ९७)** वीतराग सम्यग्दर्शन निज शुद्धात्मानुभूति लक्षण वाला है और वीतराग चारित्र का अविनाभावी है, वही निश्चय सम्यक्त्व है। **(प.प्र.टी. २/१७)** वीतराग आत्मा में पाये जाने वाले तत्त्वश्रद्धान को वीतराग सम्यक्त्व कहते हैं। **(य.ति.च. ६/२३०)** आत्मा की शुद्धि मात्र वीतराग सम्यक्त्व है। **(स. कौ. १/२८)**

---

१. अनादिकाल से यह जीव विषय-कषायों से मलिन हो रहा है सो व्यवहार साधन के बिना उज्ज्वल नहीं हो सकता। जब मिथ्यात्व, अव्रत, कषायादिक की क्षीणता से देव, गुरु, धर्म की श्रद्धा करे, तत्त्वों को जाने, अशुभ क्रिया मिटे तब वह अध्यात्म का अधिकारी हो सकता है। जैसे मलिन कपड़ा धोने से रंगने योग्य होता है। बिना धोये रंग नहीं लगता, इसलिए परम्परा से मोक्ष का कारण व्यवहार रत्नत्रय कहा गया है। **(प.प्र.टी. २/१४)**
यहाँ वीतराग सम्यक्त्व का ग्रहण नहीं करना चाहिए क्योंकि मोह का क्षय हुए बिना वीतरागता नहीं होती। **(भ.आ.वि. १६)** जो वीतराग सम्यग्दृष्टि हैं उनके सम्पूर्ण दोषों के स्थानभूत मिथ्यात्व, विषय तथा कषाय रूप आयतनों के त्याग पूर्वक केवलज्ञान आदि अनंत गुणों के स्थानभूत निजशुद्ध आत्मा में जो निवास करना है, वही अनायतनों की सेवा का त्याग है। **(वृ.द्र.टी. ४१)**

३६. प्रश्न : निज शुद्धात्मा ही उपादेय हैं ऐसी रुचि रूप निश्चय सम्यक्त्व और वीतराग चारित्र के अविनाभावी निश्चय सम्यक्त्व में पूर्वापर विरोध है क्योंकि निजशुद्धात्मा ही उपादेय हैं ऐसी रुचि रूप निश्चय सम्यक्त्व गृहस्थावस्था में तीर्थंकर देव, रामचन्द्र, भरतादि को रहता है परन्तु उनके वीतराग चारित्र नहीं होता, यदि वीतराग चारित्र मानें तो उनके असंयतपना कैसे हो सकता है ?

उत्तर : तीर्थंकरदेव तथा भरतादि के गृहस्थावस्था में भी शुद्धात्मा की उपादेयता की भावना रूप निश्चय सम्यक्त्व रहता है किन्तु चारित्रमोह के उदय के कारण स्थिरता नहीं है, व्रत की प्रतिज्ञा भंग हो जाती है इस कारण उनको असंयत कहा जाता है। शुद्धात्मा से च्युत होकर वे भरतादि निर्दोष परमात्मा अरहन्त-सिद्ध का गुणस्तवन करते हैं, उनके चरित्र-पुराण आदि को सुनते हैं और उनके आराधक आचार्य, उपाध्याय, साधु की दान-पूजादि करने के कारण शुभ राग के योग से वे सराग सम्यग्दृष्टि होते हैं। उनके सम्यक्त्व को निश्चय सम्यक्त्व कहने का कारण यह है कि वह वीतराग चारित्र के अविनाभूत निश्चय सम्यक्त्व का परम्परा साधक है। वस्तुत: तो वह सम्यक्त्व भी सराग सम्यक्त्व नाम वाला व्यवहार सम्यक्त्व ही है अत: गृहस्थावस्था में परमार्थ से निश्चय सम्यक्त्व या वीतराग सम्यक्त्व नहीं होता है। **(प.प्र.टी. २/१७)**

३७. प्रश्न : सम्यग्दृष्टियों को 'वीतराग' विशेषण का क्या प्रयोजन ? 'रागादि हेय हैं, ये भाव मेरे नहीं हैं' इस तरह भेदविज्ञान होने पर उनको राग का अनुभव होने पर भी ज्ञान मात्र से मोक्ष हो जाता है ?

उत्तर : अंधकार में दो मनुष्य हैं। एक के हाथ में दीपक है और दूसरा दीपक रहित है। उस मनुष्य को कुए में गिरने अथवा सर्पादि का ज्ञान नहीं है, अत: उसका विनाश हो तो उसमें उसका दोष नहीं है। परन्तु जिसके हाथ में दीपक है वह कुए में गिरने आदि से विनाश को प्राप्त हो तो उसे दीपक का फल प्राप्त नहीं हुआ। जो कुए में गिरने आदि से बचता है, उसे दीपक रखने का फल है। उसी प्रकार कोई भी जीव 'रागादि हेय हैं, मेरे नहीं हैं', इस प्रकार भेदविज्ञान नहीं जानता है; तब तक तो वह कर्म से बँधता है। और अन्य कोई जीव रागादि से भेदविज्ञान होने पर भी जितने अंश में रागादि का अनुभव करता है उतने अंश में वह भी बँधता ही है उसे भी रागादि के भेदविज्ञान का फल नहीं है। जो रागादि से भेदविज्ञान होने पर रागादि का त्याग करता है उसे भेदविज्ञान का फल है ऐसा जानना, वही कहा है। चक्षु से देखने का फल सर्पादि दोष का त्याग है। देखने पर भी सर्प के बिल में पड़ने वाले के नेत्र निरर्थक हैं। **(वृ. द्र.सं. ३६ टी.)**

३८. प्रश्न : आस्रव कितने प्रकार का है ?

उत्तर : आस्रव दो प्रकार का है: (१) द्रव्य (२) भाव। (१) साम्परायिक आस्रव (२) ईर्यापथ आस्रव। (त.सू. ६/४) (१) शुभास्रव (२) अशुभास्रव।

आस्रव तीन प्रकार का है: (१) वाचनिक (२) मानसिक (३) कायिक।

आस्रव चार प्रकार का है: (१) मिथ्यात्व (२) अविरति (३) कषाय (४) योग (रा.वा. १४)।

आस्रव पाँच प्रकार का है- (१) हिंसा (२) असत्य (३) चोरी (४) कुशील (५) परिग्रह। **(बा.अ.४७)** (१) मिथ्यात्व (२) अविरति (३) प्रमाद (४) कषाय (५) योग। **(वृ.द्र.सं. ३० टी.)** राग, द्वेष, मोह, इन्द्रियाँ, संज्ञायें, गौरव और कषाय तथा मन, वचन, काय ये कर्म के आस्रव हैं। **(मू.गा. ७३०)** पाँच इन्द्रिय, चार कषाय, पच्चीस क्रियायें, पाँच अव्रत ये सभी कर्म के आस्रव के कारण हैं। **(वृ. द्र. सं. ३५ टी.)**

३९. प्रश्न : बन्ध कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : बन्ध सामान्य की अपेक्षा एक है।

अथवा - शुभ और अशुभ के भेद से दो प्रकार का है। **अथवा -**

द्रव्य, भाव और उभय के विकल्प से तीन प्रकार का है। **अथवा -**

प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के भेद से चार प्रकार का है। अथवा -

मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग रूप बंध के पाँच कारणों के भेद से बन्ध पाँच प्रकार का है। **अथवा -** नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा बन्ध छह प्रकार का है। **अथवा -** उपर्युक्त छह में एक भव और मिलाने से बन्ध सात प्रकार का हो जाता है। **अथवा** ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि आठ मूल प्रकृतियों के भेद से बन्ध आठ प्रकार का है। इस प्रकार कार्य-कारण की दृष्टि से बन्ध के संख्यात, असंख्यात और अनन्त विकल्प होते हैं। **(रा.वा. १४)**

एक-एक प्रकृति का प्रकृति बन्ध, स्थिति बन्ध, अनुभाग बन्ध और प्रदेश बन्ध, इस प्रकार चार तरह का बन्ध होता है। उनमें वह एक-एक बन्ध भी उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य के भेद से चार प्रकार का होता है। इन सोलह भेदों के द्वारा सर्व एक सौ बीस (१२०) प्रकृतियों को गुणित करने पर (१२०×१६= १९२०) अस्सी कम दो हजार बन्ध के भेद हो जाते हैं। **(ध. पु. ६/२०२)**

४०. प्रश्न : संवर कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : संवर के भेद एक से लेकर एक सौ आठ तक हैं। तीन गुप्ति, पाँच समिति, दस धर्म, बारह अनुप्रेक्षा, बाईस परीषहजय, बारहतप, नव-प्रायश्चित्त, चार विनय, दस प्रकार की वैयावृत्य, पाँच प्रकार का स्वाध्याय, दो व्युत्सर्ग, दस प्रकार का धर्म ध्यान और चार प्रकार का शुक्ल ध्यान, ये एक सौ आठ भेद हैं। **अथवा -**

निरोध्य और निरोधक की अपेक्षा संख्यात, असंख्यात आदि विकल्प भी हैं। **(रा.वा. १४)**

४१. प्रश्न : निर्जरा के कितने भेद होते हैं ?

उत्तर : सामान्य से निर्जरा एक प्रकार की है।

यथाकाल और औपक्रमिक के भेद से निर्जरा दो प्रकार की है।

ज्ञानावरण आदि मूल कर्मप्रकृतियों की दृष्टि से निर्जरा आठ प्रकार की है। इस प्रकार कर्म के रस को क्षीण करने के विभिन्न प्रकारों की अपेक्षा संख्यात, असंख्यात और अनन्त भेद वाली भी निर्जरा है। **(रा.वा. १४)**

४२. प्रश्न : मोक्ष कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : मोक्ष दो प्रकार का है। (१) द्रव्य मोक्ष, (२) भाव मोक्ष । **(द्र.सं. ३७)** (१) पर निःश्रेयस् (मोक्ष) (२) अपर मोक्ष। **(आप्त प.टी. २)**

(१) व्यवहार मोक्ष (२) निश्चय मोक्ष।

मोक्ष तीन प्रकार का है-

(१) जीव मोक्ष (२) पुद्गल मोक्ष (३) जीव पुद्गल मोक्ष। **(ध. १३/४८)**

सामान्य की अपेक्षा मोक्ष एक ही प्रकार का है। द्रव्य, भाव और भोक्तव्य की दृष्टि से मोक्ष अनेक प्रकार का है। **(रा.वा. १४)**

- संसार के किसी भी पदार्थ को जानने का क्रम निर्देश आदि से ही शुरू होता है। उदाहरण के लिए किसी के सामने कोई ऐसा पदार्थ रखा जावे जिसे उसने आज तक देखा नहीं है तो उस पदार्थ को देखते ही उसके मुख से सर्व-प्रथम यही निकलता है कि यह क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर **निर्देश** देता है अर्थात् उस पदार्थ का नाम और स्वरूप बतलाता है। देखने वाले के मुख से दूसरा प्रश्न यह निकलता है कि यह पदार्थ किसका है ? अर्थात् इसका स्वामी कौन है ? इसका उत्तर **स्वामित्व** देता है। देखने वाले के मुख से तीसरा प्रश्न यह निकलता है कि पदार्थ कैसे बनता है ? इसका उत्तर **साधन** देता है। चौथा प्रश्न निकलता है कि कहाँ मिलता है ? इसका उत्तर **अधिकरण** देता है। पाँचवाँ प्रश्न होता है कि कब तक मिलता है ? इसका उत्तर **स्थिति** देती है और छठा प्रश्न होता है कि यह एक ही प्रकार का है या इसके अन्य प्रकार भी हैं ? इसका उत्तर **विधान** देता है।

  कपड़े का एक व्यापारी कपड़ा खरीदने के लिए बाजार जाता है। कपड़े की दुकान पर पहुँचते ही उसका सबसे पहला प्रश्न होता है-कपड़ा है क्या ? **(सत्)** दुकान में नमूने के लिए रखे हुए दो-चार थानों को देखकर वह दूसरा प्रश्न करता है - कितना है ? **(संख्या)** दुकानदार कहता है, बहुत है। व्यापारी पूछता है, कहाँ रखा है ? कपड़े का क्षेत्र क्या है ? दुकानदार गोदाम में जाकर माल दिखाता है **(क्षेत्र)**। व्यापारी कपड़े से भरे हुए गोदाम को देखकर पूछता है- 'भाई! यह इतना माल कहाँ से आता है और कहाँ खपता है ? दुकानदार कपड़े आने के तथा खपने के स्थान बतलाता है **(स्पर्शन)**। व्यापारी पूछता है कि माल कब तक मिलता रहेगा-दुकान कब तक खुली रहती है ? दुकानदार दुकान का समय बतलाता है **(काल)**। व्यापारी पूछता है यदि अभी माल न उठा सकूँ तो कितने दिन बाद मिलेगा? दुकानदार दूसरे माह का कोटा मिलने का समय बताता है **(अन्तर)**। व्यापारी पूछता है कौनसा माल किस श्रेणी का है ? दुकानदार कपड़े की श्रेणी विशेषता बतलाता है। **(भाव)** व्यापारी इच्छानुसार माल निकलवा कर अलग रखवाता जाता है, पीछे दुकानदार माल संभालकर परचे पर नोट करता है, कौन कपड़ा कितना कम और अधिक है **(अल्पबहुत्व)**। **(तत्त्वार्थसार प्रस्तावना)**

पदार्थों के अधिगम के और भी उपाय बताते हैं-

सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च ॥८॥

सत्-संख्या-क्षेत्र-स्पर्शन-काल-अन्तर-भाव-अल्प-बहुत्वैः च।

अर्थ - सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व के द्वारा भी जीवादि पदार्थों का अधिगम होता है।

सत् - वस्तु के अस्तित्व को सत् कहते हैं।

संख्या - वस्तु के परिमाण का निश्चय करना संख्या है।

क्षेत्र - वस्तु के वर्तमान काल के निवासस्थान को क्षेत्र कहते हैं।

स्पर्शन - वस्तु के त्रिकाल सम्बन्धी निवासस्थान को स्पर्शन कहते हैं।

काल - किसी क्षेत्र में स्थित वस्तु के समय की मर्यादा का निश्चय करना काल है।

अन्तर - विरहकाल को अन्तर कहते हैं।

भाव - औपशमिकादि परिणामों को भाव कहते हैं।

अल्पबहुत्व - परस्पर हीनाधिकता का ज्ञान कराना अल्पबहुत्व हैं।

१. प्रश्न : सत् किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो सकल पदार्थों के अधिगम का मूल है, मिथ्यादर्शनादि गुणों के अस्तित्व वाले सामान्य-विशेषात्मक जीवादि द्रव्यों को विषय करता है, श्रुतज्ञान का निमित्त है वह सत् है। यह सकलादेशी सत् है **अथवा** संग्रह के व्यवहार का निमित्त होने से विकलादेशीरूप सत् है। **(सुख. बो.त. वृ. २७)** यद्यपि 'सत्' शब्द के प्रशंसा, अस्तित्व, प्रतिज्ञा आदि अनेक अर्थ होते हैं परन्तु यहाँ विवक्षा से सत् शब्द इच्छा से विद्यमानवाची ग्रहण किया गया है। **(रा.वा. १)**

२. प्रश्न : सूत्र में 'सत्' शब्द का सर्व प्रथम ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : अव्यभिचारी होने से और सबका मूल आधार होने से सत् का ग्रहण प्रथम किया है। सत् शब्द सर्व पदार्थ का विषय होने से अव्यभिचारी है, कोई भी पदार्थ सत्ता को नहीं छोड़ता है। यदि कोई भी पदार्थ सत्त्व के बिना हो जाता तो वचन और विज्ञान के गोचर से अतीत हो जाता। रूपादि एवं ज्ञानादि गुण किसी में है और किसी में नहीं है। जीव में ज्ञानादि है और पुद्गल में रूपादि। परिस्पंदात्मक क्रिया जीव और पुद्गल में है, इतर धर्म-अधर्म आदि में नहीं है इसलिए व्यापक नहीं है। परन्तु अस्तित्व तो सर्वगुण, द्रव्य तथा क्रियाओं का मूल आधार है, क्योंकि अस्तित्व के द्वारा निश्चित वस्तु की ही संख्यादि की चिंता होती है। अतः संख्यादि के आदि में सत् को ग्रहण किया है। **(रा.वा. २)**

३. प्रश्न : सूत्र में 'सत्' के बाद में संख्या का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : सत् के परिमाण निश्चय करने वाली संख्या का उपदेश है। जिसका सद्भाव प्रसिद्ध है, उसी पदार्थ की संख्यात, असंख्यात या अनन्त रूप से गुणों की गणना की जाती है, अत: सत् के बाद परिमाण निश्चय कराने वाली भेद-लक्षण संख्या का ग्रहण किया गया है। **(रा.वा. ३)**

४. प्रश्न : सूत्र में संख्या के बाद क्षेत्र का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : निर्ज्ञात संख्या वाले के निवास का ज्ञान कराने के लिए क्षेत्र का ग्रहण किया है। जिसकी संख्या का परिज्ञान हो गया है उस पदार्थ के ऊपर, नीचे, तिरछे आदि रूप से वर्तमान निवास की प्रतिपत्ति से ऊर्ध्व, अध: के निवास के निश्चय का ज्ञान कराने के लिए संख्या के बाद क्षेत्र का ग्रहण किया है। **(रा.वा.४)**

५. प्रश्न : सूत्र में क्षेत्र के बाद स्पर्शन का ग्रहण क्यों किया ?

उत्तर : अवस्थाविशेष की विचित्रता होने से त्रिकाल विषय के उपश्लेष (स्पर्श) का निर्णय करने के लिए स्पर्शन कहा है। पदार्थों की त्रिकोण, चतुष्कोणादि त्रैकालिक अवस्थायें विचित्र होती हैं अत: त्रैकालिक क्षेत्र की प्रतिपत्ति के लिए क्षेत्र के बाद स्पर्शन को स्थान दिया है। किसी का तत् क्षेत्र रूप ही स्पर्श किसी का (निगोद) द्रव्य ही स्पर्श है। किसी का सात राजू, आठ राजू आदि प्रमाण स्पर्श है। इन सबका निश्चय करने के लिए स्पर्शन का कथन किया है। **(रा. वा. ५)**

६. प्रश्न : स्पर्शन का निश्चय कैसे करना चाहिए ?

उत्तर : एक जीव और सर्व जीवों की सन्निधि में उसका निश्चय इस प्रकार करना चाहिए। जैसे- कोई जीव इस लोक में तप को तप करके अच्युत कल्प में उत्पन्न हुआ, वहाँ से च्युत होकर पुन: इस लोक में उत्पन्न हुआ, उस जीव का त्रिकालविषयक गमनागमन छह राजू हुआ। सोलहवें स्वर्ग का जीव तीसरे नरक तक गमन करके गया, वह विहार की अपेक्षा स्पर्श आठ राजू हुआ। इस प्रकार स्पर्श सबमें लगाना चाहिए। **(रा.वा. ५)**

७. प्रश्न : सूत्र में काल, भाव और अल्पबहुत्व का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : स्थितिमान की अवधि का ज्ञान कराने के लिए काल को ग्रहण किया है। परिणाम के प्रकार का निर्णय करने के लिए 'भाव' वचन ग्रहण किया है। औपशमिकादि परिणाम प्रकारों का निर्णय करने के लिए भाव का ग्रहण किया है। संख्यातादि अन्यतम का निश्चय होने पर भी परस्पर विशेष की प्रतिपत्ति के लिए अल्पबहुत्व वचन है। संख्यात, असंख्यात आदि अन्यतम किसी एक संख्या का निर्णय हो जाने पर भी परस्पर न्यूनाधिक्य का ज्ञान कराने के लिए अल्पबहुत्व वचन ग्रहण किया गया है। जैसे–यह इससे अधिक है, यह बहुत है, इत्यादि। **(रा.वा. ६-१०)**

८. प्रश्न : सूत्र में 'सत्' का ग्रहण निरर्थक है क्योंकि निर्देश वचन से ही उसकी सिद्धि हो जाती है?

उत्तर : सूत्र में 'सत्' का ग्रहण निरर्थक नहीं है; क्योंकि 'सत्' के द्वारा चौदह मार्गणास्थान कहाँ हैं, कहाँ नहीं है, ऐसा वर्णन है। इस सूत्र से सम्यग्दर्शन आदि सामान्य का ग्रहण करने के लिए सत्त्व का ग्रहण नहीं है अपितु गति, इन्द्रिय, काय आदि चौदह मार्गणास्थानों में सम्यग्दर्शन आदि कहाँ हैं और कहाँ नहीं है, इस प्रकार विशेष का ज्ञान कराने के लिए 'सत्' वचन ग्रहण किया है। अधिकृत सम्यग्दर्शनादि और जीवादि के अस्तित्व का यद्यपि निर्देश के द्वारा ग्रहण हो जाता है परन्तु अनधिकृत जो जीव की पर्याय क्रोधादि है या अजीव की पर्याय वर्णादि एवं घटादि है उसके अस्तित्व का ज्ञान कराने के लिए पुन: 'सत्' का ग्रहण करना आवश्यक है। **(रा.वा. १२-१३)**

९. प्रश्न : निर्देश से सत् का, विधान से संख्या का, अधिकरण से क्षेत्र का तथा स्पर्शन का, स्थिति से काल का तथा भाव का नामादि में संग्रह हो ही गया है फिर इनका अलग से ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : यह बात सही है कि निर्देश आदि के द्वारा 'सत्' आदि की सिद्धि हो जाती है तो भी शिष्यों के अभिप्रायानुसार तत्त्वदेशना में भेद पाया जाता है। कितने ही शिष्य संक्षेपरुचि वाले होते हैं, कितने ही शिष्य विस्ताररुचि वाले होते हैं और दूसरे शिष्य न तो अतिसंक्षेप कथन करने से समझते हैं और न अति विस्तृत कथन करने से समझते हैं। किन्तु सज्जनों का प्रयास सब जीवों का उपकार करना है, इसलिए यहाँ अलग से ज्ञान के उपाय के भेदों का निर्देश किया है। अन्यथा 'प्रमाणनयैरधिगम:' इतने से ही काम चल जाता है, अन्य उपायों का ग्रहण करना निष्फल होता है। **(सर्वा. ३३)**

१०. प्रश्न : यहाँ क्रोधादि, वर्णादि एवं घटादि का तो अधिकार भी नहीं है ?

उत्तर : ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि सामर्थ्य से उनका ग्रहण भी हो जाता है। यद्यपि अजीव पर्याय वर्णादि एवं घटादि तथा जीव पर्याय क्रोधादि का यहाँ स्पष्ट रूप से ग्रहण नहीं है तथापि सूत्र के सामर्थ्य से उनका ग्रहण हो ही जाता है। क्योंकि द्रव्य को छोड़कर पर्याय एवं पर्याय को छोड़कर द्रव्य नहीं रहता इसलिए ये जीवादि पदार्थों के ग्रहण के सामर्थ्य से क्रोधादि जीव पर्यायों का और घटादि अजीव पर्यायों का ग्रहण हो ही जाता है। **(रा.वा. १४)**

११. प्रश्न : विधान एवं संख्या में क्या अन्तर है ?

उत्तर : विधान के द्वारा सम्यग्दर्शनादि के प्रकारों की गिनती की जाती है और सभी प्रकार के पदार्थों की गिनती संख्या से की जाती है, इतने उपशम सम्यग्दृष्टि हैं, इतने क्षायिक सम्यग्दृष्टि हैं, आदि। **(रा.वा. १५)**

१२. प्रश्न : क्षेत्र और स्पर्शन में क्या भेद है ?

उत्तर : क्षेत्र शब्द विषयवाची है, जैसे-राजा जनपद क्षेत्र में रहता है, यहाँ राजा का विषय जनपद है न कि वह सम्पूर्ण जनपद का स्पर्श करता है, परन्तु स्पर्शन सम्पूर्ण विषयक होता है। स्पर्शन त्रिकालगोचर होता है। जैसे वर्तमान जल के द्वारा वर्तमान घट के क्षेत्र का स्पर्शन होता है। अतीत और अनागत क्षेत्र का स्पर्शन नहीं होता। इस प्रकार क्षेत्रस्पर्श में आत्मा के वर्तमान क्षेत्र के स्पर्शन का अभिप्राय है जबकि स्पर्शन का विषय त्रिकालगोचर है। **(रा.वा. १८-१९)**

१३. प्रश्न : स्थिति एवं काल में कोई अन्तर नहीं है अत: पुन: काल का कथन नहीं करना चाहिए ?

उत्तर : स्थिति और काल में कोई अन्तर नहीं है, ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि मुख्य काल के अस्तित्व का ज्ञान कराने के लिए पुन:काल का ग्रहण किया गया है। व्यावहारिक और मुख्य के भेद से काल दो प्रकार का है। उसमें निश्चय काल मुख्य है और व्यवहार काल गौण है। व्यवहार काल पर्याय और पर्यायी की अवधि का परिच्छेद करता है। **(रा.वा.२०)**

१४. प्रश्न : नामादि निक्षेप में भाव का ग्रहण है अत: पुन: भाव का ग्रहण निरर्थक है ?

उत्तर : नामादि निक्षेप में भाव का ग्रहण हो जाता है अत: पुन: भाव का ग्रहण नहीं करना चाहिए ऐसा नहीं कहना चाहिए। क्योंकि यहाँ पर औपशमिक आदि भावों की अपेक्षा से निरूपण किया गया है। पूर्व के भाव से द्रव्य का ग्रहण नहीं होता है। वहाँ तो पर्याय की अपेक्षा वर्णन है। और इस सूत्र में भाव का ग्रहण आगे कहे जाने वाले औपशमिकादि जीवभावों के कहने की विवक्षा है। **(रा.वा. २२)**

१५. प्रश्न : सम्यग्दृष्टियों की संख्या-प्ररूपणा किस प्रकार करनी चाहिए ?

उत्तर : क्षायिक सम्यग्दृष्टियों में असंयत सम्यग्दृष्टि जीव पल्योपम के असंख्यातवें भाग हैं।

संयतासंयत से लेकर उपशान्त कषाय तक जीव संख्यात हैं।

चारों क्षपक संचय की अपेक्षा संख्यात हैं।

सयोगकेवली संचय की अपेक्षा लक्ष पृथक्त्व तथा अयोगकेवली संचय की अपेक्षा संख्यात हैं।

क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टियों में-

असंयत सम्यग्दृष्टि एवं संयतासंयत क्रमश: पल्योपम के असंख्यातवें भाग हैं।

प्रमत्तसंयत कोटिपृथक्त्व हैं।

अप्रमत्तसंयत संख्यात हैं।

औपशमिक सम्यग्दृष्टियों में-

असंयत सम्यग्दृष्टि पल्योपम के असंख्यातवें भाग हैं।

संयतासंयत जीव पल्योपम के असंख्यातवें भाग हैं।

प्रमत्त और अप्रमत्त संयत संख्यात हैं।

चारों उपशामक संचय की अपेक्षा संख्यात हैं **(सर्वा. ५७)**

१६. प्रश्न : प्रमत्तादि गुणस्थानों में जीवों की संख्या कितनी है ?

उत्तर : प्रमत्तसंयतों की संख्या पाँच करोड़, तिरानवे लाख, अठानवे हजार दो सौ छह **(५, ९३, ९८, २०६)** प्रमाण है।

अप्रमत्तसंयतों की संख्या दो करोड़, छ्यानवे लाख, निन्यानवे हजार एक सौ तीन **(२, ९६, ९९, १०३)** प्रमाण है।

उपशम श्रेणी वाले चारों गुणस्थानवर्ती एक हजार एक सौ छ्यानवे (११९६) प्रमाण है।

क्षपक श्रेणी वाले चारों गुणस्थानवर्ती दो हजार तीन सौ बानवे (२३९२) प्रमाण हैं। सयोगी जिन आठ लाख, अठानवे हजार पाँच सौ दो **(८, ९८, ५०२)** प्रमाण हैं। अयोगी जिन का प्रमाण पाँच सौ अठानवे (५९८) है।

इस प्रकार कुल मिलाकर तीन कम नव करोड़ सर्व संयमियों का प्रमाण है। **(गो. जी. ६३३)**

१७. प्रश्न : सम्यग्दृष्टियों का क्षेत्र कितना है ?

उत्तर : असंयत सम्यग्दृष्टि से लेकर अयोगकेवली पर्यन्त प्रत्येक गुणस्थान वाले क्षायिक सम्यग्दृष्टियों का, असंयत से लेकर अप्रमत्तसंयत तक प्रत्येक गुणस्थान वाले क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टियों का तथा असंयत सम्यग्दृष्टि से लेकर उपशान्त कषाय गुणस्थान तक प्रत्येक गुणस्थान वाले औपशमिक सम्यग्दृष्टियों का क्षेत्र लोक के असंख्यातवें भाग प्रमाण है। विशेष यह है कि सयोग केवलियों का लोक के असंख्यातवें भाग प्रमाण, लोक के असंख्यात बहुभाग प्रमाण और सर्वलोक क्षेत्र है। **(सर्वा. ७२)**

१८. प्रश्न : सम्यग्दृष्टियों की स्पर्शन प्ररूपणा किस प्रकार करनी चाहिए ?

उत्तर : क्षायिक सम्यग्दृष्टियों में -

असंयतों ने लोक के असंख्यातवें भाग का और त्रसनाली के चौदह भागों में से कुछ कम आठ भाग का स्पर्श किया है।

संयतासंयतों ने लोक के असंख्यातवें भाग का स्पर्श किया है तथा त्रस नाली के चौदह भागों में से कुछ कम छह भाग का स्पर्श किया है।

प्रमत्त संयतों से लेकर अयोगकेवली पर्यन्त सर्व गुणस्थानवर्ती जीवों ने लोक के असंख्यातवें भाग का स्पर्श किया है।

विशेष इतना है कि सयोगकेवली ने लोक के असंख्यातवें भाग का, असंख्यात बहुभाग का एवं सर्वलोक का स्पर्श किया है।

क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टियों में-

असंयत सम्यग्दृष्टियों ने लोक के असंख्यातवें भाग का एवं लोक के चौदह भागों में से कुछ कम आठ भागों का स्पर्श किया है।

संयतासंयतों ने लोक के असंख्यातवें भाग का एवं लोक के चौदह भागों में से छह भागों का स्पर्श किया है।

प्रमत्त एवं अप्रमत्त संयतों ने लोक के असंख्यातवें भाग का स्पर्श किया है।

औपशमिक सम्यग्दृष्टियों में-

असंयतों ने लोक का असंख्यातवाँ भाग एवं लोक के चौदह भागों में से आठ भाग का स्पर्श किया है।

संयतासंयत से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक के जीवों ने लोक के असंख्यातवें भाग का स्पर्शन किया है। **(सर्वा. ८७)**

१९. प्रश्न : सम्यग्दृष्टियों में कालप्ररूपणा किस प्रकार करनी चाहिए ?

उत्तर : क्षायिक सम्यग्दृष्टियों में-

असंयत से लेकर अप्रमत्त पर्यन्त नाना जीवों की अपेक्षा सर्वकाल है।

एक जीव की अपेक्षा-

असंयतों का जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त एवं उत्कृष्ट काल साधिक तैंतीस सागर है। संयतासंयतों का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त एवं उत्कृष्ट काल कुछ कम एक पूर्वकोटी प्रमाण है।

प्रमत्त एवं अप्रमत्त का जघन्य काल एक समय एवं उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। चारों क्षपकों एवं अयोगी केवलियों का नाना जीवों एवं एक जीव की अपेक्षा जघन्य एवं उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है।

सयोगी केवलियों का नाना जीवों की अपेक्षा सर्वकाल है।

एक जीव की अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त एवं उत्कृष्ट काल कुछ कम एक पूर्व कोटी प्रमाण है।

चारों उपशामकों का नाना जीव एवं एक जीव की अपेक्षा जघन्य काल एक समय एवं उत्कृष्ट काल

अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। चारों क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टियों में भी इसी प्रकार (क्षायिक सम्यग्दृष्टियों के समान) जानना चाहिए।

औपशमिक सम्यग्दृष्टियों में -

असंयत एवं संयतासंयतों में नाना जीवों की अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त एवं उत्कृष्ट काल पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण है।

एक जीव की अपेक्षा -

असंयत एवं संयतासंयत का जघन्य एवं उत्कृष्ट काल अंतर्मुहूर्त है।

प्रमत्त, अप्रमत्त एवं चारों उपशामकों का नाना जीवों एवं एक जीव की अपेक्षा जघन्य काल एक समय एवं उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। **(सर्वा. १०५)**

२०. प्रश्न : अन्तर किसे कहते हैं ?

उत्तर : जब विवक्षित गुण गुणान्तर (अन्य गुण रूप से) संक्रमित हो जाता है और पुन: उसकी प्राप्ति होती है तो मध्य के काल को अन्तर या विरहकाल कहते हैं। **(सर्वा. सि. १०८)** किसी समर्थ द्रव्य की किसी निमित्त से विवक्षित पर्याय का अभाव होने पर अन्य निमित्त से जब तक वही विवक्षित पूर्व पर्याय पुन: प्रगट नहीं होती तब तक के काल को अन्तर कहते हैं। **(रा.वा. ८)**

नाना जीवनि की अपेक्षा विवक्षित गुणस्थान वा मार्गणास्थान नै छोड़ि अन्य कोई गुणस्थान वा मार्गणास्थान में प्राप्त होई बहुरि उसही विवक्षित स्थान वा मार्गणास्थान को यावत् काल प्राप्त न होई तिस काल का नाम अन्तर है। **(गो.जी.जी. १४३)**

२१. प्रश्न : सम्यग्दृष्टियों में अन्तर-प्ररूपणा किस प्रकार करनी चाहिए ?

उत्तर : क्षायिक सम्यग्दृष्टियों में -

नाना जीवों की अपेक्षा -

असंयत सम्यग्दृष्टियों का अन्तर नहीं है।

संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयतों में अन्तर नहीं है।

चारों उपशामकों (८, ९, १०, ११) का जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर वर्ष पृथक्त्व है।

एक जीव की अपेक्षा -

असंयत सम्यग्दृष्टि का जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम एक पूर्व कोटी प्रमाण है।

संयतासंयतों का जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट साधिक तैंतीस सागर है। चारों उपशामकों का जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम अर्द्ध पुद्गल परावर्तन है।

क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टियों में-

नाना जीवों की अपेक्षा -

असंयत से लेकर अप्रमत्त-संयत तक अन्तर नहीं है।

एक जीव की अपेक्षा -

असंयतों में जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम एक पूर्व कोटी है। संयतासंयतों में जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम छ्यासठ सागरोपम है।

प्रमत्त और अप्रमत्तसंयत का जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर साधिक तैंतीस सागर है।

औपशमिक सम्यग्दृष्टियों में -

नाना जीवों की अपेक्षा -

असंयत सम्यग्दृष्टियों का जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर सात दिन-रात है। संयतासंयतों का जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर चौदह दिन-रात है। प्रमत्त और अप्रमत्तसंयतों का जघन्य अन्तर एक समय एवं उत्कृष्ट अन्तर पन्द्रह दिन-रात हैं। तीन उपशामकों का जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर वर्ष पृथक्त्व है। उपशान्त कषाय का जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर वर्ष पृथक्त्व है।

एक जीव की अपेक्षा-

असंयत सम्यग्दृष्टियों का जघन्य एवं उत्कृष्ट अन्तर अन्तर्मुहूर्त है। इसी प्रकार संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्त संयत, तीन उपशामकों का भी जघन्य एवं उत्कृष्ट अन्तर अन्तर्मुहूर्त है एवं उपशान्त कषाय का अन्तर नहीं है। **(सर्वा. १२७-२९)**

२२. प्रश्न : सम्यग्दृष्टियों में भाव प्ररूपणा किस प्रकार करनी चाहिए ?

उत्तर : क्षायिक सम्यग्दृष्टियों में-

असंयत सम्यग्दृष्टि के क्षायिक (सम्यक्त्वापेक्षा) भाव एवं औदयिक (असंयतापेक्षा) भाव हैं। संयतासंयत, प्रमत्त और अप्रमत्तसंयत के क्षायोपशमिक (चारित्रापेक्षा) तथा क्षायिक भाव (सम्यक्त्वापेक्षा) हैं।

चारों उपशामकों के क्षायिक भाव (सम्यक्त्वापेक्षा) तथा औपशमिक भाव (चारित्रापेक्षा) है। चारों क्षपक, सयोगीकेवली एवं अयोगीकेवली के एक क्षायिक भाव है।

क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टियों में-

असंयत सम्यग्दृष्टि के क्षायोपशमिक भाव (सम्य.) तथा औदयिक भाव (असं.) है। संयतासंयत, प्रमत्त और अप्रमत्त संयत के क्षायोपशमिक भाव (चारि.) तथा क्षायोपशमिक सम्यक्त्व है।

औपशमिक सम्यग्दृष्टियों में-

असंयत सम्यग्दृष्टि के औपशमिक भाव (सम्य.) तथा औदयिक भाव (असंय.) है। संयतासंयत, प्रमत्त और अप्रमत्तसंयत के क्षायोपशमिक भाव (चारि.) और औपशमिक सम्यक्त्व है। चारों उपशामकों में औपशमिक भाव (चारि.) एवं औपशमिक सम्यक्त्व है। **(सर्वा. १४५)**

२३. प्रश्न : सम्यग्दृष्टियों में अल्पबहुत्व की प्ररूपणा किस प्रकार करनी चाहिए ?

उत्तर : क्षायिक सम्यग्दृष्टियों में-

चारों उपशामक सबसे कम हैं, इनसे अपूर्वकरणादि तीन गुणस्थानों के क्षपक संख्यातगुणे हैं, १२वें गुणस्थान वाले उतने ही हैं, १३, १४ वें गुणस्थानवाले प्रवेश की अपेक्षा समान संख्या वाले हैं, इनसे अपने काल में समुदित सयोगकेवली संख्यातगुणे हैं।

इनसे अप्रमत्तसंयत संख्यात गुणे हैं।

प्रमत्तसंयत अप्रमत्तों से संख्यात गुणे हैं।

संयतासंयत प्रमत्तसंयतों से संख्यातगुणे है।

असंयत सम्यग्दृष्टि संयतासंयतों से असंख्यात गुणे हैं।

क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टियों में-

अप्रमत्तसंयत सबसे कम हैं।

प्रमत्तसंयत अप्रमत्तसंयतों से संख्यात गुणे हैं।

संयतासंयत प्रमत्तसंयतों से असंख्यात गुणे हैं।

संयतासंयतों से असंख्यात गुणे असंयत सम्यग्दृष्टि हैं।

औपशमिक सम्यग्दृष्टियों में-

चारों उपशामक सबसे कम हैं।

अप्रमत्तसंयत उपशामकों से संख्यातगुणे हैं।

प्रमत्तसंयत अप्रमत्तसंयतों से संख्यातगुणे हैं।

संयतासंयत प्रमत्तसंयतों से असंख्यात गुणे हैं।

गुणस्थान	सम्यक्त्व	संख्या	क्षेत्र	स्पर्शन	काल				अन्तर				भाव	अल्पबहुत्व
					नाना जीव		एक जीव		नाना जीव		एक जीव			
					उत्कृष्ट	जघन्य	उत्कृष्ट	जघ.	उत्कृष्ट	जघन्य	उत्कृष्ट	जघ.		
मिथ्यात्व	मिथ्यादृष्टि	पल्य के असंख्यातवें भाग	सर्वलोक	सर्वलोक	सर्वकाल	सर्वकाल	अर्धपुद्गल परिवर्तन	अन्तर्मुहूर्त	नहीं है	नहीं है	नहीं है	नहीं है	औदयिक	नहीं है
सासादन सम्यक्त्व	सासादन सम्यग्दृष्टि		लोक के असंख्यातवें भाग	लोक के असं.वें भाग $\frac{8}{14}$ राजू तथा $\frac{12}{14}$ राजू लोक के असं.वें भाग तथा कुछ कम $\frac{8}{14}$ राजू	पल्य के असंख्यातवें भाग	१ समय	६ आवलि	१ समय	पल्य के असं.वें भाग	एक समय			पारिणामिक	नहीं है
सम्यग् मिथ्यादृष्टि	सम्यग् मिथ्यादृष्टि					अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त					क्षायोपशमिक	नहीं है
असंयत सम्यग्दृष्टि	क्षायिक क्षायोपशमिक औपशमिक				सर्वकालसाधिक ३३ सागर पल्य के असंख्यातवें भाग	सर्वकाल अन्तर्मुहूर्त	साधिक ३३ सागर अन्तर्मुहूर्त		नहीं है नहीं है ७ दिन रात	नहीं है नहीं है १ समय	कुछ कम एक पूर्व कोटि	अन्तर्मुहूर्त	क्षायिक-औद. क्षायो. औद. औप.औद.	संयतासंयत से असं. गुणे
संयता-संयत	क्षायिक क्षायोपशमिक औपशमिक	संख्यात पल्य के असंख्यात भाग		लोक का असं.वां भाग तथा $\frac{6}{14}$ राजू लोक का असं.वां भाग	सर्वकालसाधिक २३ पल्योपम के असंख्यातवें भाग	सर्वकाल अन्तर्मुहूर्त	कुछ कम १ पूर्व कोटि अन्तर्मुहूर्त		नहीं है नहीं है १४ दिन रात	नहीं है नहीं है १ समय	साधिक ३३ सागर कुछ कम ६६ सागर अन्तर्मुहूर्त		क्षा.क्षायो. क्षायो. क्षायो.औप.	प्रमत्तसंयत से संख्यात गुणे
प्रमत्त संयत	क्षायिक क्षायोपशमिक औपशमिक	संख्यात कोटि पृथक्त्व संख्यात			सर्वकाल अन्तर्मुहूर्त	सर्वकाल एक समय	अन्तर्मुहूर्त	एक समय	नहीं है नहीं है १५ दिन रात	नहीं है नहीं है १ समय	साधिक ३३ सागर अन्तर्मुहूर्त		क्षा.क्षायो. क्षायो. क्षायो.औप.	अप्रमत्तसंयत से संख्यात गुणे
अप्रमत्त संयत	क्षायिक क्षायोपशमिक औपशमिक					सर्वकाल एक समय			नहीं है नहीं है १५ दिन रात	नहीं है नहीं है १ समय	साधिक ३३ सागर अन्तर्मुहूर्त		क्षा.क्षायो. क्षायो. क्षायो.औप.	सयोग केवली से सं. गुणे / सबसे कम / चारों उपशामकों से संख्यात गुणे
चार उपशामक	क्षायिक				अन्तर्मुहूर्त	एक समय			वर्ष पृथक्त्व	एक समय	साधिक ३३ सागर		औपशमिक क्षायिक	सबसे कम
चार उपशामक	औपशमिक					एक समय				एक समय	साधिक ३३ सागर		औपशमिक	सबसे कम
चार क्षपक	क्षायिक					अन्तर्मुहूर्त		अन्तर्मुहूर्त	छह माह	एक समय	नहीं है	नहीं है	क्षायिक	चारों उपशामकों से संख्यात गुणे
सयोग केवली	क्षायिक	लक्ष पृथक्त्व	लोक के असं.वें बहुभाग सर्वलोक	लोक के असं.वें बहुभाग सर्वलोक	सर्वकाल	सर्वकाल	कुछ कम एक पूर्वकोटि		नहीं है	नहीं है				
अयोग केवली	क्षायिक	संख्यात	लोक के असंख्यातवें भाग	लोक के असं.वें भाग	अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त		छह माह	एक समय				

विशेष : ग्यारहवें गुणस्थान में एक जीव की अपेक्षा उपशामकों का अन्तर नहीं।

असंयतसम्यग्दृष्टि संयतासंयतों से असंख्यातगुणे हैं। **(सर्वा. १५९)**

२४. प्रश्न : सम्यग्दर्शन के लक्षणादि का वर्णन किस क्रम से किया गया है ?

उत्तर : आचार्य महाराज ने दूसरे सूत्र में सम्यग्दर्शन का लक्षण, तीसरे सूत्र में उसकी उत्पत्ति के कारण और स्वामी, चौथे सूत्र में सम्यग्दर्शन का विषय, पाँचवें सूत्र में सम्यग्दर्शन के न्यास और छठे, सातवें, आठवें सूत्र में उनके अधिगम के उपायों का वर्णन किया है और उसके सम्बन्ध से जीवादिकों के संज्ञा और परिमाण आदि को भी कहा है। **(सर्वा. १६३)**

सम्यग्ज्ञान के भेद

मतिश्रुतावधिमन:पर्ययकेवलानि ज्ञानम् ॥९॥

मति-श्रुत-अवधि-मन:पर्यय-केवलानि ज्ञानम्।

अर्थ : मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्यय ज्ञान और केवलज्ञान ये पाँच ज्ञान हैं।

मतिज्ञान - पाँच इन्द्रिय और मन की सहायता से जो ज्ञान होता है उसे मतिज्ञान कहते हैं।

श्रुतज्ञान - जो मतिज्ञान पूर्वक होता है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं।

अवधिज्ञान - अवधिज्ञानावरण के क्षयोपशम से मूर्तिक पदार्थों को जो एकदेशप्रत्यक्ष द्वारा सविकल्प जानता है वह अवधिज्ञान है। **(वृ.द्र.सं. ५)**

मन: पर्ययज्ञान - जो दूसरों के मनोगत मूर्तिक द्रव्यों को उस मन के साथ प्रत्यक्ष जानता है उसे मन:पर्ययज्ञान कहते हैं। **(ध.पु. १/९५)**

केवलज्ञान - अर्थीजन जिसके लिए बाह्य एवं अभ्यन्तर तप के द्वारा मार्ग का केवन अर्थात् सेवन करते है वह केवलज्ञान कहलाता है। **(सर्वा. १६४)**

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : इस प्रकार आदि में कथित सम्यग्दर्शन का लक्षण, उत्पत्ति, स्वामी, विषय, न्यास आदि अधिगम के उपायों का तथा तत्सम्बन्धी जीवादि की संज्ञा, परिणामादि का विचार किया। अब सम्यग्ज्ञान का विचार करने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा.उ. ९)**

२. प्रश्न : सम्यग्ज्ञान कितने होते हैं ?

उत्तर : ज्ञान पाँच होते हैं-

(१) मतिज्ञान (२) श्रुतज्ञान (३) अवधिज्ञान (४) मन:पर्यय ज्ञान (५) केवलज्ञान। **(त.सू. १/९)** सामान्य की अपेक्षा संग्रह रूप द्रव्यार्थिक नय के आश्रय से ज्ञान एक ही कहा है तथापि विशेष की अपेक्षा पर्यायार्थिक नय के आश्रय से ज्ञान पाँच ही कहे हैं। **(गो.जी.जी. ३००)**

३. प्रश्न : मतिज्ञान किसे कहते हैं ?

उत्तर : मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम से और इन्द्रिय तथा मन के अवलम्बन से मूर्त्त-अमूर्त्त द्रव्य का विकल अर्थात् एकदेशरूप से विशेषत: (सांव्यवहारिक प्रत्यक्षरूप से) जो अवबोध करता है, वह आभिनिबोधिक ज्ञान है। आभिनिबोधिक ज्ञान को ही मतिज्ञान कहते हैं। **(पं.का.ता. ४१)**

इन्द्रिय और मन के निमित्त से शब्द, रस, स्पर्श, रूप और गन्धादि विषयों में अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा रूप जो ज्ञान होता है वह मतिज्ञान है। **(वृ.द्र.सं.टी. ४४)** मतिज्ञानावरण एवं वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से और बहिरंग पाँच इन्द्रिय और मन की सहायता से जो मूर्त्त-अमूर्त्त वस्तु को एकदेश से विकल्पाकार परोक्षरूप से अथवा सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष रूप जो जानता है, वह क्षायोपशमिक मतिज्ञान है। **(वृ.द्र.सं. ५ गा.टी.)**

४. प्रश्न : मतिज्ञान कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : मतिज्ञान तीन प्रकार का होता है -

(१) उपलब्धि (२) भावना (३) उपयोग।

उपलब्धि - मतिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से जो पदार्थों को जानने की शक्ति प्राप्त होती है उसको उपलब्धि मतिज्ञान कहते हैं।

भावना - जाने हुए पदार्थ का बार-बार चिन्तन करना सो भावना मतिज्ञान है।

उपयोग - यह नीला है, यह पीला है इत्यादि रूप से जो पदार्थ के जानने रूप व्यापार है उसको उपयोग मतिज्ञान कहते हैं। **अथवा -**

अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा के भेद से चार प्रकार का मतिज्ञान है। **अथवा-** कोष्ठ बुद्धि, बीजबुद्धि, पादानुसारीबुद्धि और संभिन्नश्रोतृताबुद्धि के भेद से चार प्रकार भी हैं। **(पं. का. ता. ४३)**

श्रुतज्ञान असंख्यात लोक प्रमाण है, मतिज्ञान के भी इतने ही भेद हैं। क्योंकि श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक ही होता है, कारण के भेद से कार्य का भेद पाया जाता है। अतएव वह भी असंख्यात लोक प्रमाण है। **(ध. १२/४८०)**

५. प्रश्न : श्रुतज्ञान किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो परोक्ष रूप से सम्पूर्ण वस्तुओं को अनेकान्त रूप दर्शाता है; संशय, विपर्यय आदि से रहित है उस ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते हैं। **(का.अ. २६२)** श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से, नोइन्द्रिय के अवलम्बन से तथा प्रकाश, उपाध्याय आदि बहिरंग सहकारी कारण से जो मूर्त्तिक-अमूर्त्तिक वस्तु को लोक तथा अलोक को व्याप्ति ज्ञान रूप से अस्पष्ट जानता है, उसको श्रुतज्ञान कहते हैं। **(वृ.द्र.सं.५.टी.)**

शब्द सुनने के पश्चात् जो मन से अर्थ-ज्ञान होता है वह श्रुत है। इन्द्रिय और मन के बलाधान

से पूर्व में उपलब्ध अर्थ में जो मन की प्रधानता से अर्थज्ञान उत्पन्न होता है वह श्रुतज्ञान है। **(रा.वा. २७)**

अपूर्व अर्थ ही श्रुत का विषय है। एक घट को इन्द्रिय और मन से जानकर तज्जातीय विभिन्न देशकालवर्ती घटों के सम्बन्ध, जाति आदि से विलक्षण अपूर्व पदार्थ को जो जानता है वह श्रुतज्ञान है।

जो नाना-प्रकार के अर्थ की प्ररूपणा करने में तत्पर है वह श्रुतज्ञान है। **अथवा** - इन्द्रिय और मन के द्वारा एक जीव या अजीव को जानकर उसके सम्बन्ध के सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व आदि नाना प्रकार के अनुयोग के द्वारा अर्थ की प्ररूपणा करने में जो समर्थ है वह श्रुत है। **(रा.वा. २८-२९)**

६. प्रश्न : मतिज्ञान के समान श्रुतज्ञान भी जिह्वा, कान और मन से उत्पन्न होता है अत: मतिज्ञान को ही श्रुतज्ञान कहना चाहिए ?

उत्तर : ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि वक्ता की जिह्वा शब्दोच्चारण में निमित्त है न कि ज्ञान में, श्रोता के कान शब्दप्रत्यक्ष रूप मतिज्ञान में निमित्त हैं न कि अर्थज्ञान में। अत: श्रुत में उभयनिमित्तता असिद्ध है। क्योंकि सिद्ध हेतु ही साध्य अर्थ को सिद्ध कर सकता है, असिद्ध हेतु साध्य अर्थ को सिद्ध नहीं कर सकता है। **(रा.वा. २६)**

७. प्रश्न : सुनकर अवधारण करना श्रुत है, ऐसा मानने पर क्या हानि है ?

उत्तर : सुनकर अवधारण करना श्रुत है, ऐसा मानना उचित नहीं है क्योंकि ऐसा मानने से मतिज्ञान का प्रसंग आता है क्योंकि मतिज्ञान भी शब्द को सुनकर 'यह गो शब्द है' ऐसा प्रतिपादन करता ही है। लक्षण तो असाधारण होना चाहिए किन्तु श्रुतज्ञान मन और इन्द्रिय के द्वारा गृहीत-अगृहीत पर्याय वाले शब्द या उसके वाच्यार्थ को श्रोत्रेन्द्रिय के व्यापार बिना ही नय आदि योजना द्वारा विभिन्न विशेषों के साथ याथात्म्य रूप से जानता है। **(रा.वा. ३०)**

८. प्रश्न : 'मन से अर्थ ज्ञान होता है' वह श्रुत है, ऐसा मानने पर ईहादि ज्ञान को श्रुत का व्यपदेश होगा क्योंकि ईहादि ज्ञान भी मनोजन्य है ?

उत्तर : ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि अवग्रह के द्वारा गृहीत अर्थ को विषय करना ही ईहादिज्ञान का विषय है, परन्तु श्रुत का विषय अवग्रहीत मात्र ही नहीं है अपितु अपूर्व अर्थ ही श्रुत का विषय है अर्थात् श्रुतज्ञान अपूर्व पदार्थ को भी विषय करता है। एक घड़े को इन्द्रिय और मन से जानकर तज्जातीय विभिन्न देशकालवर्ती घटों के सम्बन्ध, जाति आदि विलक्षण अपूर्व पदार्थ को जो जानता है वह श्रुत है। **(रा.वा. २८)**

९. प्रश्न : अवधिज्ञान किसे कहते हैं ?

उत्तर : 'अव' पूर्वक 'धा' धातु से कर्मादि साधन में 'कि' प्रत्यय होता है। 'अव' शब्द 'अध:' वाची है, जैसे अध:क्षेपण को अवक्षेपण कहते हैं। अवधिज्ञान भी नीचे की ओर बहुत पदार्थों को विषय

करता है इसलिए अवधि है। अवधि ज्ञानावरण के क्षयोपशमादि अन्तरंग-बहिरंग साधनों के सन्निधान होने पर नीचे की ओर विशेष जानता है, जिसके द्वारा जाना जाता है वा नीचे की ओर जानना मात्र अवधिज्ञान है। **अथवा** - 'अवधि' शब्द मर्यादावाची है इसलिए मर्यादा (द्रव्य, क्षेत्रादि) से सीमित ज्ञान अवधिज्ञान है। **(रा.वा. ३)**। जो प्रत्यक्ष ज्ञान अन्तिम स्कन्ध पर्यन्त परमाणु आदि मूर्त द्रव्यों को जानता है उसको अवधिज्ञान जानना चाहिए। **(ति. प. ४/९८१)**

महास्कन्ध से लेकर परमाणु पर्यन्त समस्त पुद्गल द्रव्यों को, असंख्यात लोक-प्रमाण क्षेत्र, काल और भाव को तथा कर्म के सम्बन्ध से पुद्गल भाव को प्राप्त हुए जीवों को जो प्रत्यक्ष रूप से जानता है उसे अवधिज्ञान कहते हैं। **(ज.ध. १/४३)**

१०. प्रश्न : क्या अवधिज्ञान धर्मादि द्रव्यों को नहीं जानता है ?

उत्तर : धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश-द्रव्य, काल द्रव्य और सिद्ध जीव ये अवधिज्ञान के विषय नहीं हैं। **(ध. १५/७-८)** (क्योंकि अवधिज्ञान का विषय रूपी पदार्थ है।)

११. प्रश्न : मन:पर्यय ज्ञान किसे कहते हैं ?

उत्तर : मन:पर्यय ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशमादि अन्तरंग-बहिरंग सामग्री के सन्निधान होने पर जो दूसरों के मनोगत अर्थ को जानता है, वह मन:पर्ययज्ञान है। **(रा.वा. ४)** परकीय मन में स्थित पदार्थ मन कहलाता है। उसकी पर्यायों-विशेषों को मन:पर्यय कहते हैं। उसको जो जानता है वह मन:पर्ययज्ञान है। **(ध. ६/२८)** जो अपने मन के अवलम्बन द्वारा पर के मन में प्राप्त हुए मूर्त्त पदार्थ को एकदेश प्रत्यक्ष से सविकल्प जानता है, वह ईहा मतिज्ञान पूर्वक मन:पर्ययज्ञान है। **(वृ.द्र.सं. ५ टी.)** मन का आश्रय लेकर मनोगत पदार्थों के साक्षात्कार करने वाले ज्ञान को मन:पर्यय ज्ञान कहते हैं। **(ध. पु. १/३६०) अथवा** 'मन:पर्यय' यह संज्ञा रूढ़िजन्य है। इसलिए चिन्तित व अचिन्तित दोनों प्रकार के अर्थ में विद्यमान ज्ञान को विषय करने वाली यह संज्ञा है, ऐसा यहाँ ग्रहण करना चाहिए। **(ध. १३/२१२)**

चिन्ता, अचिन्ता और अर्धचिन्ता के विषयभूत अनेक भेद रूप पदार्थ को जो ज्ञान नरलोक के भीतर जानता है, वह मन:पर्ययज्ञान है। **(ति. प. ४/९८२)**

१२. प्रश्न : मनोनिमित्त होने से मन:पर्ययज्ञान को मानस मतिज्ञान कहना चाहिए ?

उत्तर : ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि मन:पर्ययज्ञान में स्व-पर के मन की अपेक्षा मात्र है। जैसे आकाश में चन्द्रमा को देखने में आकाश की साधारण अपेक्षा होती है, उसी प्रकार मन:पर्ययज्ञान में अपेक्षा मात्र है, जिस प्रकार मन मतिज्ञान में कारण है वैसे मन:पर्ययज्ञान में कारण नहीं है क्योंकि मन:पर्ययज्ञान मात्र आत्मविशुद्धिजन्य है। **(रा.वा.५)**

१३. प्रश्न : केवलज्ञान किसे कहते हैं ?

उत्तर : केवल असहाय को कहते हैं। जो ज्ञान असहाय है, इन्द्रिय और आलोक की अपेक्षा रहित

है, त्रिकालगोचर अनन्त पर्याय समवाय सम्बन्ध को प्राप्त अनन्त वस्तुओं को जानने वाला है, असंकुटित (सर्वव्यापक) है और असपत्न (प्रतिपक्षरहित) है उसे केवलज्ञान कहते हैं। **(ध. पु. ६/२९)**

असहाय ज्ञान को केवलज्ञान कहते हैं, क्योंकि वह इन्द्रिय, प्रकाश और मनस्कार अर्थात् मनोव्यापार की अपेक्षा रहित है। **अथवा**

केवलज्ञान आत्मा और अर्थ से अतिरिक्त इन्द्रियादिक सहायक की अपेक्षा रहित है इसलिए भी वह केवल असहाय है। इस प्रकार केवल, असहाय जो ज्ञान है उसे केवलज्ञान कहते हैं। **(ज. ध. १/२३)** बाह्य-अभ्यन्तर क्रियाविशेष से जो पदार्थों को जानता है वह केवलज्ञान है, जिसके लिए मन, वचन, काय के आश्रय से बाह्य और अभ्यन्तर विविध प्रकार के तप तपे जाते हैं, वह केवलज्ञान है। **(रा.वा. ६)**

१४. प्रश्न : सूत्र में सर्व प्रथम मतिज्ञान का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : 'मति' यह शब्द स्वन्त (धि) संज्ञक है, अल्प अच् वाला है अर्थात् अल्पाक्षर है, अवधि आदि की अपेक्षा मतिज्ञान का विषय अल्प है तथा चक्षु इन्द्रिय आदि के प्रति नियतविषयत्व वाला है, अत: मतिज्ञान का सूत्र में सर्वप्रथम ग्रहण किया है। **(रा.वा. १३)**

१५. प्रश्न : मतिज्ञान के अनन्तर श्रुतज्ञान का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : मतिज्ञान के अनन्तर श्रुतज्ञान कहा गया है क्योंकि मतिज्ञान पूर्वक ही श्रुतज्ञान होता है इसलिए मतिज्ञान के अनन्तर श्रुतज्ञान को कहा है। **(रा.वा. १४)** मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का निबंधन असर्व पर्याय और सर्व द्रव्य को जानना, ऐसा आगे कहेंगे - इसलिए तुल्य विषय होने से मतिज्ञान के अनन्तर श्रुतज्ञान को ग्रहण किया है। **(रा.वा. १५)**

ये दोनों साथ में रहते हैं। जैसे नारद और पर्वत में सहायत्व है, जहाँ नारद है वहाँ पर्वत है और जहाँ पर्वत है वहाँ नारद है, एक दूसरे को छोड़कर नहीं रहते हैं उसी प्रकार मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों साथ-साथ रहते हैं, एक दूसरे को छोड़कर नहीं रहते क्योंकि जहाँ मति है वहाँ श्रुत है और जहाँ श्रुतज्ञान है वहाँ मतिज्ञान है। **(रा.वा. १६)**

१६. प्रश्न : प्रत्यक्ष ज्ञानों के पहले परोक्ष ज्ञानों का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : प्रत्यक्ष ज्ञानों के पहले परोक्ष ज्ञानों का कथन किया है क्योंकि वह सुगम है। चूंकि मति-श्रुतपद्धति श्रुत, परिचित और अनुभूत होने से प्राय: सब प्राणियों के द्वारा प्राप्त करने योग्य हैं अत: वह सुगम है। **(सर्वा. १६४)**

१७. प्रश्न : प्रत्यक्ष ज्ञानों में सर्वप्रथम अवधिज्ञान का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : तीनों प्रत्यक्षज्ञानों में अवधिज्ञान सबसे कम विशुद्धि वाला है अत: इसका सर्व प्रथम निर्देश किया है। यद्यपि प्रत्यक्षज्ञान की अपेक्षा अवधिज्ञान अविशुद्ध है परन्तु प्रत्यक्ष होने से मति-श्रुत ज्ञान

की अपेक्षा विशुद्ध होने से अवधिज्ञान का मति-श्रुतज्ञान के बाद और प्रत्यक्षज्ञान की आदि में अवस्थान (ग्रहण किया) दिया है। **(रा.वा. १७)**

१८. प्रश्न : अवधिज्ञान के समीप मन:पर्यय ज्ञान का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : अवधिज्ञान से विशुद्धतर होने से अवधिज्ञान के बाद मन:पर्यय का निर्देश किया है क्योंकि मन:पर्ययज्ञान के विशुद्धतर होने का कारण संयम है। मन:पर्यय ज्ञान संयमी जनों के ही होता है। **(रा.वा. १७-१८)**

१९. प्रश्न : अन्त में केवलज्ञान का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : अन्त में केवलज्ञान का ग्रहण किया है क्योंकि उससे उत्कृष्ट ज्ञान का अभाव है। सर्व ज्ञानों के परिच्छेदन में केवलज्ञान का ही सामर्थ्य है। केवलज्ञान सर्व ज्ञानों को जानता है परन्तु केवलज्ञान को जानने का सामर्थ्य किसी ज्ञान में नहीं है। इसलिए यह सर्वोत्कृष्ट ज्ञान है क्योंकि इससे अधिक प्रकर्ष ज्ञान का अभाव है। **(रा.वा. १९)** केवलज्ञान के साथ ही निर्वाण होता है न कि क्षायोपशमिक मति आदि ज्ञानों के साथ। अत: केवलज्ञान का अन्त में निर्देश किया है। **(रा.वा. २०)**

मतिज्ञान आदि ही प्रमाण हैं, उसे कहते हैं-

तत्प्रमाणे ॥१०॥

(तत्) वे दो ज्ञान (प्रमाणे) प्रमाण स्वरूप हैं।

अर्थ - वे मति आदि ज्ञान दो प्रमाण रूप हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : प्रमाण के स्वरूप और संख्या में विवाद करने वाले प्रतिवादियों को संक्षेप से विशेष निश्चय कराने के लिए आचार्य महाराज ने यह सूत्र कहा है। 'तत्' कहने से ऊपर कहे गये ज्ञान ही प्रमाण हैं, इस प्रमाण के स्वरूप का निश्चय होता है। और 'प्रमाणे' कहने से वह ज्ञान दो प्रमाण रूप ही है तीन आदि संख्या वाला नहीं है; इस प्रकार प्रमाण की संख्या का निश्चय होता है। **(श्लोक ३/४२)**

प्रमाण और नय के द्वारा पदार्थों का अधिगम होता है, ऐसा सूत्र कहा है। कोई प्रमाण को ज्ञान मानते हैं, कोई सन्निकर्ष को प्रमाण मानते हैं अत: मतिज्ञानादि के ही प्रमाणत्व का प्रख्यापन करने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा.उ. १०)**

२. प्रश्न : सूत्र में 'तत्' पद किसलिए दिया है ?

उत्तर : सन्निकर्ष प्रमाण है, इन्द्रिय प्रमाण है ऐसा कितने ही लोग मानते हैं, इसलिए उनकी इस परिकल्पना का निराकरण करने के लिए सूत्र में 'तत्' पद दिया गया है, जिससे यह अर्थ स्पष्ट हो जाता है कि वे मति आदि ज्ञान ही प्रमाण हैं, अन्य नहीं। **(सर्वा. १६६)**

३. प्रश्न : सन्निकर्ष को प्रमाण मानने में क्या दोष है ?

उत्तर : यदि सन्निकर्ष को प्रमाण माना जाता है तो सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट पदार्थों के अग्रहण (ग्रहण नहीं होने) का प्रसंग प्राप्त होता है, क्योंकि इनका इन्द्रियों से सम्बन्ध नहीं होता है इसलिए सर्वज्ञता का अभाव हो जाता है। **(सर्वा. १६७)** सन्निकर्ष को प्रमाण मानने पर सकल पदार्थों के परिच्छेद का अभाव हो जाता है और परिच्छेद के अभाव में सन्निकर्ष का भी अभाव हो जाता है। जिस नैयायिक के सिद्धान्त में सन्निकर्ष प्रमाण है और अर्थाधिगम फल है उसके सकल पदार्थों का परिच्छेद नहीं हो सकता सन्निकर्ष का अभाव होने से। उसके सन्निकर्ष का अभाव है। **(रा.वा. १६)** वह सन्निकर्ष अचेतन है और अचेतन से सुख की प्राप्ति तथा दु:ख का परिहार नहीं होता। इसलिए सन्निकर्ष प्रमाण नहीं हो सकता है। **(परी. मु. १/२ टी.)**

४. प्रश्न : सन्निकर्ष का अभाव क्यों है ?

उत्तर : कोई सर्वज्ञ अवश्य होना चाहिए और उसके अर्थ के परिच्छेद में यदि सन्निकर्ष हेतु है तो वह सन्निकर्ष चतुष्टय (आत्मा, मन, इन्द्रिय और अर्थ) और त्रय सन्निकर्ष और दो सन्निकर्ष का विषय होगा। उसमें चतुष्टय विषय और त्रय विषय सन्निकर्ष तो हो नहीं सकता। क्योंकि मन और इन्द्रियाँ एक साथ प्रवृत्ति नहीं करती हैं तथा इनका विषय नियत है। क्योंकि ज्ञेय अनन्त हैं, त्रिकालविषयक हैं, सूक्ष्म, अन्तरित और विप्रकृष्ट रूप हैं, उनका उनके द्वारा सन्निकर्ष कैसे हो सकता है? **(रा.वा. १६) सूक्ष्म -** जो स्वभाव से विप्रकृष्ट है, दूर है। जैसे - परमाणु आदि। **अन्तरित -** जो काल से विप्रकृष्ट है, दूर है वह अन्तरित है जैसे - राम आदि। **विप्रकृष्ट -** जो देश से विप्रकृष्ट है, दूर है वह विप्रकृष्ट है जैसे - मेरु आदि। **(न्या. दी. २/२२)**

५. प्रश्न : सन्निकर्ष किसे कहते हैं ?

उत्तर : इन्द्रिय और पदार्थों का सम्बन्ध सन्निकर्ष कहलाता है। **(परी. मु. १/२ टी.)** चक्षु आदि इन्द्रियों के अपने-अपने क्षयोपशम प्रमाण अपने योग्य स्थान में स्थित रूपादि विषयों का ग्रहण करना वही सन्निपात सम्बन्ध अथवा सन्निकर्ष कहलाता है। **(बृ.द्र.सं.टी. ४४)**

सन्निकर्ष आकाशादि अमूर्त्तिक पदार्थों में, दूरदेशवर्ती मेरु आदि पदार्थों में, दूर कालवर्ती राम-रावणादि में, स्वभाव से अदृश्य भूतादि में, उसी प्रकार अत्यन्त सूक्ष्म परकीय मनोवृत्ति तथा पुद्गल परमाणु आदि में प्रवृत्ति नहीं करता, क्योंकि इन्द्रियों से स्थूल मूर्त्तिक विषय मात्र ज्ञात होते हैं। **(प्र.सा. ता. ४१)**

६. प्रश्न : सूत्र में 'प्रमाणे' द्विवचन का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : सूत्र में कहे जाने वाले भेदों की अपेक्षा द्विवचन का निर्देश किया है। आगे कहेंगे, 'आद्ये परोक्षं', 'प्रत्यक्षमन्यत्'। यह द्विवचन का प्रयोग प्रमाण की अन्य संख्या का निराकरण करने के लिए किया है। **(सर्वा. १७२)**

'प्रमाणे' इस प्रकार द्विवचन के प्रयोग से प्रमाण दो ही प्रकार का है, ऐसा नियम बनता है। प्रत्यक्ष और परोक्ष दो ही प्रमाण हैं। शेष अनुमान, उपमा आदि इन्हीं दो प्रमाणों में अन्तर्भूत हैं। **(सुख बो. त. वृ. ३१)**

७. प्रश्न : प्रमाण कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : प्रमाण सामान्य से दो प्रकार का है (१) प्रत्यक्ष प्रमाण (२) परोक्ष प्रमाण। **(न.च.गा. १६९ पृ. ९६)** प्रमाण पाँच प्रकार का है (१) द्रव्य प्रमाण (२) क्षेत्र प्रमाण (३) काल प्रमाण (४) भाव प्रमाण (५) नय प्रमाण।

द्रव्य प्रमाण : संख्यात, असंख्यात और अनन्त यह द्रव्य प्रमाण है।

क्षेत्र प्रमाण : एक प्रदेश आदि क्षेत्र प्रमाण है।

काल प्रमाण : एक समय, एक आवली आदि काल प्रमाण है।

भाव प्रमाण : आभिनिबोधिक (मति) ज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्यय ज्ञान और केवलज्ञान के भेद से भाव प्रमाण पाँच प्रकार का है।

नय प्रमाण : नैगम, संग्रह आदि के भेद से नय प्रमाण सात प्रकार का है। **(ध. १/८१)**

प्रमाण छह प्रकार का है-

(१) नाम प्रमाण (२) स्थापना प्रमाण (३) द्रव्य प्रमाण (४) क्षेत्र प्रमाण (५) काल प्रमाण (६) भाव प्रमाण। **(ध. १/८२)**

८. प्रश्न : प्रमाण का फल क्या है ?

उत्तर : यद्यपि आत्मा ज्ञ स्वभाव है तो भी वह कर्मों से मलिन है अत: इन्द्रियों के आलम्बन से पदार्थ का निश्चय होने पर उसके जो प्रीति उत्पन्न होती है वही प्रमाण का फल कहा जाता है। **अथवा-** उपेक्षा या अज्ञान का नाश प्रमाण का फल है। राग-द्वेष रूप परिणामों का नहीं होना उपेक्षा है और अन्धकार के समान अज्ञान का दूर हो जाना अज्ञान नाश है। सो ये भी प्रमाण के फल हैं। **(सर्वा. १७०)** परोक्ष प्रमाण का फल हेय पदार्थ को छोड़ने और उपादेय पदार्थ को ग्रहण करने की बुद्धि उत्पन्न होना है तथा प्रत्यक्ष प्रमाण का फल रागद्वेष का अभाव एवं उसके पूर्व मोह का क्षय होना है। **(हरि. पु. १०/१५५)**

प्रमाण ही हित की प्राप्ति और अहित का परिहार करने में समर्थ है। **(प. मु. १/२)** अज्ञान की निवृत्ति, त्यागना, ग्रहण करना और उपेक्षा करना यह प्रमाण का फल है। **(प. मु. ५/१ टी.)** युगपत् सर्वभासनरूप जो आद्य-प्रमाण केवलज्ञान है उसका फल उपेक्षा है। शेष क्रमश: भासन रूप जो प्रमाण मत्यादि ज्ञानसमूह है उसका फल ग्रहण और त्याग की बुद्धि है तथा पूर्व में कही गयी उपेक्षा भी उसका फल है और अपने विषय में अज्ञान का नाश होना इस सारे ही प्रमाण रूप ज्ञानसमूह का फल है। **(आ.मी. १०५)**

९. प्रश्न : प्रमाण का फल कितने प्रकार का है ?

उत्तर : प्रमाण का फल[1] दो प्रकार का है - (१) साक्षात् फल और (२) परम्परा फल।

अज्ञान की निवृत्ति का होना साक्षात् फल है।

किसी वस्तु का त्याग, किसी वस्तु का ग्रहण एवं उपेक्षा भाव परम्परा फल है। **(प.मु. ५/१ टी.)**

१०. प्रश्न : यदि जीवादि पदार्थों के ज्ञान में प्रमाण कारण है तो प्रमाण के ज्ञान के अन्य प्रमाण को कारण मानना चाहिए और ऐसा मानने पर अनवस्था दोष प्राप्त होगा?

उत्तर : जीवादि पदार्थों के ज्ञान के प्रमाण को कारण मानने पर अनवस्था दोष नहीं आता, जैसे दीपक। जिस प्रकार घटादि पदार्थों के प्रकाश करने में दीपक हेतु है और अपने स्वरूप को प्रकाश करने में भी वही हेतु है, इसके लिए प्रकाशान्तर नहीं ढूंढना पड़ता, उसी प्रकार प्रमाण भी है; यह बात अवश्य मान लेना चाहिए। अब यदि प्रमेय के समान प्रमाण के लिए अन्य प्रमाण माना जाता है तो स्व का ज्ञान नहीं होने से स्मृति का अभाव हो जाता है और स्मृति का अभाव हो जाने से व्यवहार का लोप हो जाता है। **(सर्वा. १७१)**

परोक्ष ज्ञानों का कथन करते हैं-

आद्ये परोक्षम् ॥११॥

(आद्ये) आदि के दो ज्ञान **(परोक्षं)** परोक्ष हैं।

अर्थ : आदि के दो (मति-श्रुत) ज्ञान परोक्ष हैं।

१. प्रश्न : परोक्ष ज्ञान किसे कहते हैं ?

उत्तर : उपात्त - अनुपात्त रूप प्रधानता से जो ज्ञान होता है वह परोक्ष कहलाता है। उपात्त - इन्द्रियाँ और मन तथा अनुपात्त-प्रकाश, उपदेशादि को 'पर' कहते हैं और पर के निमित्त से होने वाले अर्थावबोध को परोक्ष ज्ञान कहते हैं। **(रा.वा. ६)**

समुपात्त (गृहीत) अथवा अनुपात्त (अगृहीत) पर की प्रधानता से जो पदार्थों का ज्ञान होता है उसे परोक्ष प्रमाण कहा गया है। **(त.सा. १/१६)**

अविशद (अस्पष्ट) प्रतिभास को परोक्ष कहते हैं। **(न्या.दी.३/१)**

२. प्रश्न : क्या परोक्ष ज्ञान भी सामान्य-विशेष रूप वस्तु को जानता है ?

---

१. श्रुतज्ञान की भावना से ज्ञान रूपी सूर्य की किरणों के समान उद्योत रूप होता चारित्र चन्द्रमा के समान उज्ज्वल होता है। परमागम के पढ़ने का फल सुमेरु के समान निश्चल, लोक-मूढ़ता, देव-मूढ़ता, गुरु-मूढ़ता रहित, शंकादि दोषों से रहित अनुपम सम्यग्दर्शन की प्राप्ति है। **(ध. पु. १/५९-६०)**

उत्तर : प्रत्यक्ष की तरह परोक्ष भी सामान्य और विशेष रूप वस्तु को विषय करता है। सामान्य और विशेष में से किसी एक को विषय करने वाला मानने पर तो उसमें (परोक्ष प्रमाण में) प्रमाणता ही नहीं बन सकती है। क्योंकि सभी प्रमाण सामान्य और विशेष दोनों स्वरूप वस्तु को विषय करने वाले माने गये हैं। कहा भी गया है, सामान्य और विशेष रूप वस्तु प्रमाण का विषय है। **(न्या.दी. ३/२)**

३. प्रश्न : कौन-कौन से ज्ञान परोक्ष हैं ?

उत्तर : आदि के दो मति-श्रुत ज्ञान परोक्ष हैं। मति-श्रुत दोनों ज्ञान परोक्ष हैं। उपमान और आगमादिक भी ऐसे ही हैं अत: इनका भी इन्हीं में अन्तर्भाव हो जाता है। **(सर्वा. १७४)** उस परोक्ष ज्ञान के पाँच भेद हैं- स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम।

ये पाँचों ही परोक्ष प्रमाण ज्ञानान्तर की अपेक्षा से उत्पन्न होते हैं। स्मरण में पूर्व अनुभव की अपेक्षा होती है। प्रत्यभिज्ञान में स्मरण और अनुभव की, तर्क में अनुभव, स्मरण और प्रत्यभिज्ञान की, अनुमान में लिङ्गदर्शन, व्याप्ति, स्मरण आदि की और आगम में शब्दश्रवण, सङ्केतग्रहण आदि की अपेक्षा होती है। **(न्या. दी. ३/३)**

४. प्रश्न : मति और श्रुतज्ञान परोक्ष क्यों हैं ?

उत्तर : जिस प्रकार गमन शक्ति से युक्त और स्वयमेव गमन करने में असमर्थ भी पुरुष का लाठी आदि की सहायता से गमन होता है, उसी प्रकार मति एवं श्रुत ज्ञानावरण का क्षयोपशम होने पर भी स्वयमेव पदार्थों को जानने में असमर्थ 'ज्ञ' स्वभाव आत्मा के पूर्वोक्त इन्द्रियाँ, मन और प्रकाशादि पर प्रत्यय (कारण) की प्रधानता से ज्ञान होता है वह परायत्त्व (पर के निमित्त से) होने से मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष कहलाते हैं। ये दोनों ज्ञान पराधीन होने से परोक्ष हैं। परोक्ष का अर्थ अज्ञान या अनवबोध नहीं है। **(रा.वा. ६-७)**

५. प्रश्न : सूत्र में दिये गये 'आद्ये' पद का क्या अर्थ है ?

उत्तर : सूत्र में दिये गये 'आद्ये' पद से आदि के दो को ग्रहण करना चाहिए। आदि में होने वाला एक मतिज्ञान पहला मुख्य कल्पना से प्रथम है और श्रुतज्ञान भी उसके समीप होने से प्रथम है ऐसा उपचार किया जाता है। सूत्र में 'आद्ये' इस प्रकार द्विवचन का निर्देश है अत: उसकी सामर्थ्य से गौण का भी ग्रहण हो जाता है। इससे मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों लिये गये हैं। **(सर्वा. १७४)**

प्रत्यक्षज्ञानों को कहते हैं -

प्रत्यक्षमन्यत् ॥१२॥

प्रत्यक्षं - अन्यत्।

(अन्यत्) शेष बचे हुए ज्ञान **(प्रत्यक्ष)** प्रत्यक्ष हैं।

अर्थ - शेष बचे हुए अवधि, मन:पर्यय एवं केवलज्ञान प्रत्यक्ष हैं।

१. प्रश्न : प्रत्यक्षज्ञान किसे कहते हैं ?

उत्तर : इन्द्रिय और मन की अपेक्षा बिना व्यभिचार रहित जो साकार ग्रहण होता है उसे प्रत्यक्षज्ञान कहते हैं। अतीन्द्रिय, अव्यभिचारी और साकार ग्रहण करने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है।

अतीन्द्रिय - पाँच इन्द्रिय और मन की सहायता रहित होने वाला अतीन्द्रिय कहलाता है।

अव्यभिचारी - अतत् को तत् रूप ग्रहण करने वाला ज्ञान व्यभिचारी है। व्यभिचार का नहीं होना अव्यभिचारी है।

साकार - आकार का अर्थ विकल्प या भेद है। जो आकार के साथ है वह साकार है। **(रा.वा.१)** जो 'अक्षणोति' जगत् के सम्पूर्ण पदार्थों को प्रत्यक्ष करता है वह अक्ष-आत्मा जो प्रक्षीणावरण या क्षयोपशम प्राप्त आत्म-मात्र की अपेक्षा से होता है वह प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष का यह व्युत्पत्ति अर्थ करने से इन्द्रिय और मन रूप पर की अपेक्षा की निवृत्ति हो जाती है। **(रा.वा. २)**

विशद प्रतिभास को प्रत्यक्ष कहते हैं। जिस प्रमाणभूत ज्ञान का प्रतिभास विशद हो वह ज्ञान प्रत्यक्ष है। **(न्या. दी. २/१)**

स्पष्ट और सविकल्प (व्यभिचार आदि दोष रहित) होकर सामान्य रूप द्रव्य और विशेष रूप पर्याय अर्थों को तथा अपने स्वरूप को जानना ही प्रत्यक्ष का लक्षण है। **(न्या.वि. १/५७)**

यदि मात्र जीव के द्वारा ही जाना जाये तो वह ज्ञान प्रत्यक्ष है। **(प्र.सा. ५८)**

२. प्रश्न : ये ज्ञान अतीन्द्रिय कैसे कहे गये हैं ?

उत्तर : यदि यह ज्ञान (प्रत्यक्ष ज्ञान) इन्द्रियजन्य हो तो सम्पूर्ण पदार्थों को जानने वाला नहीं हो सकता है, क्योंकि इन्द्रियाँ अपने योग्य विषय में ही ज्ञान को उत्पन्न कर सकती हैं और सूक्ष्मादि पदार्थ इन्द्रियों के योग्य विषय नहीं हैं। अत: वह सम्पूर्ण पदार्थ विषयक ज्ञान अतीन्द्रिय ही है। इस प्रकार अतीन्द्रिय केवलज्ञान अरहन्त के ही है, यह सिद्ध हो गया। और उनके वचनों का प्रमाण होने से उनके द्वारा प्रतिपादित अतीन्द्रिय अवधि और मन:पर्यय ज्ञान भी सिद्ध हो गये। इस तरह अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष है उसके मानने में कोई दोष या बाधा नहीं है। **(न्या. दी. २/२३-२८)**

३. प्रश्न : प्रत्यक्ष ज्ञान किन-किन पदार्थों को जानता है ?

उत्तर : देखने वाले का जो ज्ञान अमूर्त्त, मूर्त्त में भी अतीन्द्रिय, प्रच्छन्न, संपूर्ण तथा स्व और पर को जानता है वह ज्ञान प्रत्यक्ष है। अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञान अमूर्त्तादि पदार्थों को जानता है।

अमूर्त्त-अमूर्त्त-अतीन्द्रिय, निरुपराग, सदानन्द, एक सुख स्वभाव वाले परमात्म द्रव्य प्रभृति सर्व अमूर्त्त द्रव्य समूह।

मूर्त्त-मूर्त्त पुद्गल द्रव्यों में जो अतीन्द्रिय पुद्गल परमाणु आदि को जानता है।

प्रच्छन्न - (१) द्रव्य प्रच्छन्न (२) क्षेत्र प्रच्छन्न (३) काल प्रच्छन्न (४) भाव प्रच्छन्न।

द्रव्य प्रच्छन्न - कालाणु आदि द्रव्य रूप से प्रच्छन्न है।

क्षेत्र प्रच्छन्न - व्यवहित - अन्तरित-सूक्ष्म, अलोकाकाश के प्रदेशों से लेकर (अन्य द्रव्यों के प्रदेश) क्षेत्र प्रच्छन्न है।

काल प्रच्छन्न - निर्विकार परमानंद एक सुख स्वाद रूप से परिणत परमात्मा के वर्तमान समयवर्ती परिणामों से लेकर जो संपूर्ण द्रव्यों के वर्तमान समयवर्ती परिणाम ये काल रूप से प्रच्छन्न हैं।

भाव प्रच्छन्न - उन्हीं परमात्मा की सिद्ध रूप शुद्ध व्यंजन पर्याय और शेष द्रव्यों की जो यथासंभव व्यंजन पर्यायें उनमें गर्भित प्रतिसमय होने वाली षट् प्रकार हानिवृद्धि रूप अर्थपर्याय भावप्रच्छन्न कही गई है। ये ज्ञेय स्वद्रव्यगत और अन्य परद्रव्यगत हैं। उन ज्ञेयों को जानने वाले प्रत्यक्ष ज्ञान हैं। **(प्र.सा.ता.५६)**

४. प्रश्न : विशद प्रतिभासत्व किसे कहते हैं ?

उत्तर : ज्ञानावरण कर्म के सर्वथा क्षय से अथवा विशेष क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाली और शब्द तथा अनुमानादि प्रमाणों से नहीं हो सकने वाली जो अनुभवसिद्ध निर्मलता है वही निर्मलता विशद प्रतिभासत्व है। किसी प्रामाणिक पुरुष के 'अग्नि' है इस प्रकार के वचन से और यह प्रदेश अग्निवाला है क्योंकि धुआँ है, इस प्रकार के धूमादि लिङ्ग से उत्पन्न हुए ज्ञान की अपेक्षा 'यह अग्नि है' इस प्रकार के उत्पन्न इन्द्रिय ज्ञान में विशेषता देखी जाती है। वही विशेषता निर्मलता, विशदता और स्पष्टता आदि शब्दों द्वारा कही जाती है। **(न्या. दी. २/२)**

५. प्रश्न : प्रत्यक्ष ज्ञान के अतीन्द्रिय आदि विशेषण क्यों दिये हैं ?

उत्तर : मति और श्रुतज्ञान का निषेध करने के लिए **अतीन्द्रिय** विशेषण दिया है। विभंगावधि का निराकरण करने के लिए **अव्यभिचारी** विशेषण दिया है। तथा अवधिदर्शन तथा केवलदर्शन का निराकरण करने के लिए **साकार ग्रहण** विशेषण दिया है। **(रा.वा. १)**

६. प्रश्न : प्रत्यक्ष ज्ञान कितने प्रकार का होता है?

उत्तर : प्रत्यक्षज्ञान दो प्रकार का होता है-

(१) सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष (२) पारमार्थिक प्रत्यक्ष। **(न्या. दी. २/११)**

७. प्रश्न : सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष किसे कहते हैं ?

उत्तर : स्पर्शनादि इन्द्रिय और मन की सहायता से होने वाले एकदेश विशद ज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं। **(प. मु. २/५)**

जो समीचीन व्यवहार है वह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है। संव्यवहार का लक्षण प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप है, संव्यवहार में जो हो सो सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है जैसे यह घट का रूप मैंने देखा आदि। **(वृ.द्र.सं. ५ टी.)** जो ज्ञान एकदेश स्पष्ट, कुछ निर्मल है वह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है। यह ज्ञान लोकव्यवहार में प्रत्यक्ष प्रसिद्ध है इसलिए सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा जाता है। यह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष अमुख्य (गौण) रूप से प्रत्यक्ष है क्योंकि उपचार से सिद्ध होता है। वास्तव में, परोक्ष ही है क्योंकि मतिज्ञान है। **(न्या.दी. २/११-१२)**

८. प्रश्न : पारमार्थिक प्रत्यक्ष किसे कहते हैं ?

उत्तर : सम्पूर्ण रूप से प्रत्यक्षज्ञान को पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहते हैं, जो ज्ञान सम्पूर्ण प्रकार से निर्मल है वह पारमार्थिक प्रत्यक्ष है। उसी को मुख्य प्रत्यक्ष कहते हैं। **(न्या. दी. २/१३)**

९. प्रश्न : सांव्यवहारिक एवं पारमार्थिक प्रत्यक्ष कितने-कितने प्रकार के हैं ?

उत्तर : सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के चार भेद हैं-

अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। इनका विशेष वर्णन सूत्र १५-१६ में है। पारमार्थिक प्रत्यक्ष दो प्रकार का है- (१) देशप्रत्यक्ष (२) सर्वप्रत्यक्ष। **(वृ.द्र.सं.५ टी)**

(१) विकल प्रत्यक्ष (२) सकल प्रत्यक्ष। **(ध. ९/१४२)**

१०. प्रश्न : विकल प्रत्यक्ष किसे कहते हैं ?

उत्तर : कुछ पदार्थों को विषय करने वाला ज्ञान विकल प्रत्यक्ष है। **(न्या. दी. २/१३)** जो ज्ञान, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव में परिमित तथा बहुत प्रकार के भेद-प्रभेदों से युक्त है, वह विकल प्रत्यक्ष है। **(ज. प. १३/५०)**

११. प्रश्न : सकल प्रत्यक्ष किसे कहते हैं ?

उत्तर : सकल प्रत्यक्ष क्षायिक, एक-अनंत, त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों को ग्रहण करने में समर्थ, बाधारहित और नित्य कहा गया है। **(ज. प. १३/४९)** समस्त द्रव्यों और उनकी समस्त पर्यायों को जानने वाले ज्ञान को सकल प्रत्यक्ष कहते हैं। **(न्या. दी. २/१४)**

१२. प्रश्न : कौनसे ज्ञान सकलप्रत्यक्ष एवं कौन से विकल प्रत्यक्ष हैं ?

उत्तर : केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है, क्योंकि वह त्रिकालविषयक समस्त पदार्थों को विषय करने वाला अतीन्द्रिय, अक्रमवर्ती, व्यवधान से रहित और आत्मा एवं पदार्थ की समीपता मात्र से प्रवृत्त होने वाला है। **(ध. ९/१४२)** अवधि और मन:पर्यय ज्ञान विकल प्रत्यक्ष हैं क्योंकि उनमें सकल प्रत्यक्ष का लक्षण नहीं पाया जाता है। (यह ज्ञान विनश्वर है तथा मूर्त्त पदार्थों में भी इसकी पूर्ण प्रवृत्ति नहीं देखी जाती है। **(ध. ९/१४३)**

१३. प्रश्न : केवलज्ञान को पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहना ठीक है, परन्तु अवधि व मन: पर्यय पारमार्थिक प्रत्यक्ष कैसे हो सकते हैं क्योंकि ये दोनों विकल प्रत्यक्ष हैं ?

उत्तर : ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि सकलपना और विकलपना यहाँ विषय की अपेक्षा है स्वरूप की अपेक्षा नहीं। स्पष्टीकरण - चूँकि केवलज्ञान समस्त द्रव्यों और पर्यायों को विषय करने वाला है इसलिए सकलप्रत्यक्ष कहा जाता है। परन्तु अवधि और मन:पर्यय ज्ञान कुछ पदार्थों को विषय करते हैं इसलिए वे विकल कहे जाते हैं। लेकिन इतने से उनमें पारमार्थिकता की हानि नहीं होती। क्योंकि पारमार्थिकता का कारण सकलार्थविषयता नहीं है, पूर्ण निर्मलता है और वह पूर्ण निर्मलता केवलज्ञान की तरह अवधि और मन:पर्यय ज्ञान में भी अपने विषय में विद्यमान है। इसलिए वे दोनों भी पारमार्थिक ही हैं। **(न्या. दी. २/१६)**

१४. प्रश्न : इन्द्रियज्ञान को प्रत्यक्ष मानने में क्या हानि है ?

उत्तर : इन्द्रियज्ञान को प्रत्यक्ष मान लेने पर आप्त के प्रत्यक्ष ज्ञान का अभाव प्राप्त होता है क्योंकि आप्त के इन्द्रियपूर्वक ज्ञान नहीं होता है। कदाचित् उनके इन्द्रियपूर्वक ज्ञान माना जाता है तो उनके सर्वज्ञता नहीं रहती। तथा मन के प्रयत्न से उनके ज्ञान की उत्पत्ति मानने पर भी उनके सर्वज्ञता का अभाव ही होता है। इसका विवरण १०वें सूत्र में कर दिया गया है। **(रा.वा. ६)**

१५. प्रश्न : शब्दात्मक एवं अभ्यन्तर में होने वाला विकल्पात्मक ज्ञान कौनसे ज्ञान में आता है ?

उत्तर : शब्दात्मक श्रुतज्ञान है, वह तो परोक्ष है ही, तथा स्वर्ग, मोक्ष आदि बाह्य विषयों का बोध कराने वाला विकल्परूप जो ज्ञान है वह भी परोक्ष है और जो अभ्यन्तर में सुख-दु:ख विकल्परूप मैं हूँ अथवा मैं अनन्त ज्ञान आदि रूप हूँ इत्यादि ज्ञान है, वह ईषत् परोक्ष है। तथा जो निश्चय भावश्रुत ज्ञान है वह शुद्ध आत्मा के अभिमुख होने से सुखसंवित्ति-सुखानुभव स्वरूप है और वह निज आत्मज्ञान के आकार से सविकल्प है तो भी इन्द्रिय तथा मन से उत्पन्न जो रागादि विकल्प समूह हैं उनसे रहित होने के कारण निर्विकल्प है और अभेदनय से वही ज्ञान आत्म शब्द से कहा जाता है तथा वह वीतराग सम्यक् चारित्र के बिना नहीं होता, वह ज्ञान यद्यपि केवलज्ञान की अपेक्षा परोक्ष है तथापि संसारियों के क्षायिक ज्ञान का अभाव होने से क्षायोपशमिक होने पर भी प्रत्यक्ष कहलाता है। **(वृ.द्र.सं. ५ टी.)**

१६. प्रश्न : सूत्र '११' में मतिश्रुत को परोक्ष कहा है फिर श्रुतज्ञान प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है?

उत्तर : सूत्र ग्यारहवें में जो श्रुत को परोक्ष कहा है सो उत्सर्ग व्याख्यान है और 'भावश्रुत ज्ञान प्रत्यक्ष है' यह अपवाद की अपेक्षा कथन है। यदि उत्सर्ग का कथन न होता तो तत्त्वार्थसूत्र में मतिज्ञान परोक्ष कैसे कहा जाता? और यदि वह सूत्र में परोक्ष ही कहा गया है तो तर्कशास्त्र में सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कैसे हुआ ? इसलिए जैसे अपवाद व्याख्यान से परोक्षरूप मतिज्ञान को भी सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा है वैसे ही अपने आत्मा के सन्मुख जो भावश्रुत ज्ञान है वह परोक्ष है तो भी प्रत्यक्ष कहा जाता है। यदि एकान्त

से ये मति-श्रुत दोनों परोक्ष ही हों तो सुख-दु:ख आदि जो स्वसंवेदन-स्वानुभव है वह भी परोक्ष ही होगा। किन्तु वह स्वसंवेदन परोक्ष नहीं है। **(वृ.द्र.सं. ५ टी.)**

१७. प्रश्न : जब तीन ज्ञान प्रत्यक्ष हैं तो सूत्र में 'अन्यानि प्रत्यक्षाणि' इस प्रकार बहुवचन क्यों नहीं कहा ?

उत्तर : 'ज्ञानं एवं प्रमाणं' ऐसे एक वचनान्त दो पदों की पूर्व सूत्रों से अनुवृत्ति हो रही है। इस कारण परोक्ष से बचे हुए अवधि आदि ज्ञानों का समूह प्रत्यक्ष ज्ञान है, सामान्य का आश्रय लेने से ही इष्ट की सिद्धि हो जाती है तथा ग्रन्थ के गौरव का भी परिहार हो जाता है। **(श्लो. ३/१७३)**

मतिज्ञान के नामान्तर कहते हैं -

मति: स्मृति: संज्ञाचिंताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् ॥१३॥

मति:-स्मृति:-संज्ञा-चिंता-अभिनिबोध-इति-अनर्थान्तरम्।

(मति: स्मृति: संज्ञाचिंताभिनिबोध) मति, स्मृति, संज्ञा, चिंता और अभिनिबोध **(इति)** ये सब **(अनर्थान्तर)** एकार्थवाची हैं।

अर्थ : मति, स्मृति, संज्ञा, चिंता और अभिनिबोध इत्यादि एकार्थवाची हैं।

१. प्रश्न : मतिज्ञान के कौन-कौन से नामान्तर हैं ?

उत्तर : मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध ये मतिज्ञान के नामान्तर हैं। **(त.सू. १/१३)** स्वसंवेदनज्ञान, इन्द्रियों से उत्पन्न ज्ञान, स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, स्वार्थानुमिति, बुद्धि और मेधा आदि जो ज्ञान हैं वे मतिज्ञान के भेद हैं। **(त.सा. १/१९-२०)**

२. प्रश्न : स्मृति किसे कहते हैं ?

उत्तर : 'वह' इस प्रकार से उल्लिखित होने वाले और पहले अनुभव किये हुए पदार्थ को विषय करने वाले ज्ञान को स्मृति कहते हैं। जैसे 'वह देवदत्त'। यहाँ पहले अनुभव किया हुआ ही देवदत्त 'वह' शब्द के द्वारा जाना जाता है। इसलिए यह ज्ञान 'वह' शब्द से उल्लिखित होने वाला और अनुभूत पदार्थ को विषय करने वाला है। जिसका अनुभव नहीं किया उसमें यह ज्ञान नहीं होता। **(न्या.दी. ३/४)** दृष्ट, श्रुत और अनुभूत अर्थ को विषय करने वाले ज्ञान से विशेषित जीव का नाम स्मृति है। **(ध. पु. १३/३३३)** पूर्व संस्कार की प्रकटता से 'वह देवदत्त' इस प्रकार के स्मरण को स्मृतिज्ञान कहते हैं। **(प.मु. ३/३-४)**

स्मरण को स्मृति कहते हैं। **(सर्वा. १८२)**

जिसके द्वारा स्मरण हो वह स्मृति है अथवा स्मरण मात्र स्मृति है। 'वह' इस तरह अतीत आकार अवभासिनी प्रतीति स्मृति है, ऐसा जानना चाहिए। **(सुख बो. त. वृ. ३२-३३)**

३. प्रश्न : संज्ञा किसे कहते हैं ?

उत्तर : संज्ञान संज्ञा है 'वही यह है' इस प्रकार अतीत और वर्तमान ऐसे दो आकारों के अवभासन रूप प्रत्यभिज्ञान संज्ञा है। **(सुख बो. त. वृ. ३३)**

अनुभव और स्मरण पूर्वक होने वाले जोड़ रूप ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। 'यह' का उल्लेख करने वाला ज्ञान अनुभव है और 'वह' का उल्लेखी ज्ञान स्मरण है। इन दोनों से पैदा होने वाला तथा पूर्व और उत्तर अवस्थाओं में वर्तमान एकत्व, सादृश्य और वैलक्षण्य आदि को विषय करने वाला जो जोड़रूप ज्ञान होता है, वह प्रत्यभिज्ञान है। **(न्या. दी. ३/८)** प्रत्यक्ष और स्मरण की सहायता से जो जोड़ रूप ज्ञान है, वह प्रत्यभिज्ञान है। **(प. मु. ३/५)** जिस शब्द समूह के द्वारा अर्थ का प्रतिपादन किया जाता है उसे संज्ञा कहा जाता है। 'यह वही है' इस प्रकार का जो ज्ञान होता है उसका नाम संज्ञा है। यह प्रत्यभिज्ञान का पर्याय नाम है।[१]

४. प्रश्न : प्रत्यभिज्ञान कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : प्रत्यभिज्ञान दो प्रकार का है –

(१) सम्यक् प्रत्यभिज्ञान (२) मिथ्या प्रत्यभिज्ञान।

सम्यक् प्रत्यभिज्ञान – जो प्रत्यभिज्ञान प्रमाण पूर्वक होता है जैसे जल में उठने वाले चक्रादि को न देखकर केवल जल मात्र में पूर्वगृहीत जल के साथ सादृश्यता देखने से 'यह जल ही है' ऐसा निर्णय होता है।

मिथ्याप्रत्यभिज्ञान – जो प्रत्यभिज्ञान प्रमाण पूर्वक नहीं होता बल्कि दृष्टिमन्दता आदि दोषों के कारण से कदाचित् मरीचिका में भी जल की अभिलाषा कर बैठता है। **(न्या. वि. २/५०-५१)** अथवा - प्रत्यभिज्ञान 'यह वही है', यह उसके सदृश है, यह उससे विलक्षण है, यह उससे दूर है, यह वृक्ष है आदि अनेक प्रकार का होता है। **(प. मु. ३/६)** जैसे वही यह जिनदत्त है, गौ के समान गवय है, गाय से भिन्न भैंस होती है, आदि।

(१) यहाँ पहले उदाहरण में जिनदत्त की पूर्व और उत्तर अवस्थाओं में रहने वाली एकता प्रत्यभिज्ञान का विषय है, इसको एकत्व प्रत्यभिज्ञान कहते हैं।

(२) दूसरे उदाहरण में पहले अनुभव की हुई गाय को लेकर गवय में रहने वाली सदृशता प्रत्यभिज्ञान का विषय है, इस ज्ञान को सादृश्य प्रत्यभिज्ञान कहते हैं।

(३) तीसरे दृष्टान्त में पहले अनुभव की हुई गाय को लेकर भैंस में रहने वाली विसदृशता

---

१. प्रत्यभिज्ञान में जोड़ रूप ज्ञान का सम्बन्ध भूत के साथ तो होता ही है, किन्तु भविष्यत् के साथ भी किन्हीं ने माना है। जैसे-यह वही राजकुमार है जो कल राजा बनेगा।

प्रत्यभिज्ञान का विषय है, इस तरह का ज्ञान वैसादृश प्रत्यभिज्ञान कहलाता है। इसी प्रकार और भी प्रत्यभिज्ञान के भेद अपने अनुभव से स्वयं विचार कर लेने चाहिए। **(न्या. दी. ३/८-९)**

(४) यह प्रदेश उस प्रदेश से दूर है इस प्रकार का ज्ञान तत्प्रतियोगी प्रत्यभिज्ञान कहलाता है।

(५) यह वही वृक्ष है (जिसके बारे में हमने सुना था) इत्यादि अनेक प्रकार का प्रत्यभिज्ञान होता है। **(प. मु. ३/६)**

५. प्रश्न : अनुभव और स्मरण से भिन्न कोई प्रत्यभिज्ञान नहीं है ?

उत्तर : यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि अनुभव तो वर्तमानकालीन पर्याय को ही विषय करता है और स्मरण भूतकालीन पर्याय का ही द्योतन करता है। इसलिए ये दोनों अतीत और वर्तमान पर्यायों में रहने वाली एकता, सदृशता आदि को कैसे विषय कर सकते हैं? अत: स्मरण और अनुभव से भिन्न उनके बाद में होने वाला तथा उन एकता सदृशता आदि को विषय करने वाला जो जोड़रूप ज्ञान होता है, वही प्रत्यभिज्ञान है। **(न्या.दी.३/१०)**

६. प्रश्न : चिंता किसे कहते हैं ?

उत्तर : चिन्तन करना चिंता है। **(सर्वा. १८२)**

वर्तमान अर्थ को विषय करने वाले मतिज्ञान से विशेषित जीव की चिन्ता संज्ञा है। **(ध. पु. १३/३३३)** किन्हीं दो पदार्थों में कार्य-कारण आदि सम्बन्ध के ज्ञान को चिन्ता (तर्क) कहते हैं। जैसे अग्नि के बिना धूम नहीं होता है, आत्मा के बिना शरीर के व्यापार, वचन आदि नहीं हो सकते हैं, इस प्रकार विचार कर उक्त पदार्थों में कार्य-कारण सम्बन्ध का ज्ञान कराना चिन्ता (तर्क) है।

७. प्रश्न : अभिनिबोध किसे कहते हैं ?

उत्तर : अभिमुख और नियमित अर्थ के अवबोध को अभिनिबोध कहते हैं। स्थूल, वर्तमान और अनन्तरित अर्थात् व्यवधान रहित अर्थों को अभिमुख कहते हैं। चक्षुरिन्द्रिय में रूप नियमित है, श्रोत्रेन्द्रिय में शब्द, घ्राणेन्द्रिय में गन्ध, जिह्वेन्द्रिय में रस, स्पर्शनेन्द्रिय में स्पर्श और नोइन्द्रिय अर्थात् मन में दृष्ट, श्रुत और अनुभूत पदार्थ नियमित हैं। इस प्रकार के अभिमुख और नियमित पदार्थों में जो बोध होता है, वह अभिनिबोध है। अभिनिबोध ही आभिनिबोधक[१] ज्ञान कहलाता है। **(ध. पु. ६. १५-१६)**

अभिनिबोध (अनुमान) है जैसे पर्वत पर प्रत्यक्ष धूम को देखकर उससे सम्बन्ध रखने वाली अप्रत्यक्ष अग्नि का ज्ञान करना।

---

१. अ इति द्रव्यपर्याय:, भि इति द्रव्याभिमुख:, निरिति निश्चयबोध इति। 'बुध्' अवगमने। धातु:। आभिनिबोधक एवं आभिनिबोधकं वा प्रयोजनं अस्य इति आभिनिबोधकम्। **(पं. सं. प्रा. १/२)**

लिङ्ग के अभिमुख नियत लिङ्गी का बोध अभिनिबोध कहलाता है। स्वार्थानुमान को अभिनिबोध कहते हैं। **(सुख. बो. त. वृ. ३३)**

व्याप्ति के ज्ञान को तर्क कहते हैं। साध्य और साधन में गम्य और गमक भाव का साधक और व्यभिचार की गन्ध से रहित जो सम्बन्ध विशेष है उसे व्याप्ति कहते हैं। उसी को अविनाभाव भी कहते हैं। **(न्या. दी. ३/१५)**

जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है, यह तर्क का उदाहरण है। यहाँ धूम के होने पर अनेक बार अग्नि की उपलब्धि और अग्नि के अभाव में धूम की अनुपलब्धि पाई जाने पर सब जगह और सब काल में धुआँ अग्नि का व्यभिचारी नहीं है अग्नि के होने पर ही होता है अग्नि के अभाव में नहीं होता है। **(न्या. दी. ३/१६)**

साध्य और साधन के सम्बन्ध विषयक अज्ञान को दूर करने रूप फल में जो साधकतम है वह तर्क है, ऊहा भी तर्क का ही दूसरा नाम है। **(न्या. दी.३/१५)**

साधन से साध्य का ज्ञान होने को अनुमान कहते हैं। साधन धूमादि लिङ्ग से साध्य-अग्नि आदिक लिङ्गी में जो ज्ञान होता है वह अनुमान है। क्योंकि वह साध्य ज्ञान ही अग्नि आदि के अज्ञान को दूर करता है। **(न्या.दी. ३/१७)**

अन्यथानुपपत्ति लक्षण साधन और शक्य, अभिप्रेत और अप्रसिद्ध साध्य कहा गया है। **(श्लोक ३/२६९)**

८. प्रश्न : सूत्र में दिये गये 'इति' शब्द का क्या अर्थ है ?

उत्तर : सूत्र में दिये गये 'इति' शब्द से प्रतिभा, बुद्धि, मेधा आदि को ग्रहण करना चाहिए।

प्रतिभा - दिन या रात्रि में कारण के बिना ही जो प्रकार स्वत: प्रतिभास हो जाता है वह प्रतिभा है। जैसे प्रात: मुझे इष्ट वस्तु की प्राप्ति होगी या कल मेरा कोई इष्ट आयेगा, आदि। **(रा.वा.१/१३ विशेषार्थ)**

बुद्धि - अर्थ ग्रहण करने की शक्ति को बुद्धि कहते हैं।

मेधा - पाठग्रहण करने की शक्ति का नाम मेधा है। बहुत दिनों तक धारणा करने वाली मनस्वियों की मति मेधा है।

अभाव - किसी स्थान विशेष पर पदार्थों के अभाव को बताने वाला ज्ञान अभाव है।

सम्भव - किसी की सम्भावनावश अर्थान्तर को जानने वाला ज्ञान सम्भव है।

उपमान-आप्त वाक्यार्थ का स्मरण कर सादृश्य को या सादृश्य विच्छिन्न को जानना उपमान है।

प्रज्ञा - जिसमें ऊहापोह करने वाली बुद्धि है वह प्रज्ञा है। **(श्लोक ३/१९९-२०२)**

९. प्रश्न : मति आदि शब्दों में अनर्थान्तरत्व कैसे हो सकता है ?

उत्तर : मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम के निमित्त से अर्थ की उपलब्धि का विषय होने से इनमें अनर्थान्तर है अथवा रूढ़ि से भी अनर्थान्तर है। **(रा.वा. २)** यद्यपि मति आदि शब्दों में अर्थभेद है तथापि रूढ़िवश इन शब्दों में एकार्थता है। जैसे 'गच्छतीति गौ:' इस प्रकार गौ शब्द की व्युत्पत्ति मान लेने पर भी गौ शब्द सभी के गमन का नियम रूप से कारण नहीं है- अपितु रूढ़िवश पशु विशेष गाय में ही प्रयुक्त होता है। उसी प्रकार ये मति, स्मृति आदि सभी ज्ञान अर्थाश्रय से व्युत्पत्ति अर्थ में भेद होने पर भी क्वचित् मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम की अपेक्षा उत्पन्न होते हैं अत: इनमें भेद नहीं है। **(रा.वा. २)**

यद्यपि इन शब्दों की प्रकृति अलग-अलग है तो भी रूढ़ि से पर्यायवाची हैं। **जैसे** - इन्द्र, शक्र, पुरन्दर। इनमें यद्यपि इन्दन आदि क्रिया की अपेक्षा भेद है, तो भी ये सब एक शचीपति की वाचक संज्ञाएँ है। अब यदि समभिरूढ़ नय की अपेक्षा इन शब्दों का अलग-अलग अर्थ लिया जाता है तो वह क्रम मति आदि शब्दों में भी पाया जाता है। किन्तु ये मति आदि मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशमरूप निमित्त से उत्पन्न हुए उपयोग का उल्लंघन नहीं करते हैं, यह अर्थ यहाँ पर विवक्षित है। **(सर्वा. १८३)**

यद्यपि मति-स्मृति आदि में परस्पर भेद एवं कार्य-कारण भाव है, फिर भी कार्य कारण के सदृश होता है अत: ये पाँचों ज्ञान मतिज्ञान के ही प्रकारान्तर हैं। **(श्लो. ३/२०३ के आधार से) (राजवार्तिक भी देखें)**

१०. प्रश्न : मति, स्मृति आदि में कार्य-कारण सम्बन्ध किस प्रकार है?

उत्तर : मति स्मृति में कारण है क्योंकि मति में ही अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा होती है और स्मृति का मूल कारण धारणा है। वर्तमान प्रत्यक्ष मति और भूतकाल की स्मृति का संयोग मिलने पर संज्ञा होती है इसलिए मति और स्मृति संज्ञाज्ञान में कारण है और संज्ञाज्ञान कार्य है। मति, स्मृति और संज्ञा इन तीनों के संयोग से चिन्ता होती है। भूतकालीन धूम का स्मरण वर्तमान धूम का दर्शन और भूतकालीन धूम के साथ वर्त्तमान-कालीन धूम की सदृशता दृष्टिगोचर होने पर ही चिन्ताज्ञान उत्पन्न होता है और तर्क के बल पर अनुमान ज्ञान की सिद्धि होती है इसलिए इन पाँचों ज्ञानों में परस्पर कार्य-कारण सम्बन्ध है। **(श्लो. ३/२०३ के आधार से) (राजवार्तिक भी देखें)**

मतिज्ञान की उत्पत्ति के निमित्त कहते हैं -

तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् ॥१४॥

तत् इन्द्रिय-अनिन्द्रिय-निमित्तम्।

(तत्) वह मति-ज्ञान **(इन्द्रियानिन्द्रिय)** इन्द्रिय और अनिन्द्रिय (मन) **(निमित्तं)** की सहायता से होता है।

अर्थ - वह मतिज्ञान पाँच इन्द्रिय और अनिन्द्रिय (मन) की सहायता से होता है।

१. प्रश्न : इस सूत्र की रचना क्यों की गयी है ?

उत्तर : इस सूत्र की रचना मतिज्ञान के बहिरंग कारणों को बताने के लिए एवं अन्य मतों का खण्डन करने के लिए की गई है। **(श्लो. ३/४१७)**

उपर्युक्त लक्षण वाले मतिज्ञान के आत्मलाभ में निमित्त क्या है ? ऐसा पूछने पर यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा.उ./१४)**

२. प्रश्न : इन्द्रिय किसे कहते हैं ?

उत्तर : इन्द्र शब्द का अर्थ आत्मा है। वह ज्ञ स्वभावी है। उसके मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम के रहते हुए भी वह स्वयं पदार्थों को जानने में असमर्थ है अत: उस पदार्थ के जानने में जो लिंग होता है वह इन्द्र का लिङ्ग इन्द्रियाँ कही जाती हैं। जिस प्रकार लोक में धूम अग्नि का ज्ञान कराने में कारण होता है उसी प्रकार स्पर्शनादि करण कर्त्ता आत्मा के अभाव में नहीं हो सकता है अत: उनसे ज्ञाता का अस्तित्व जाना जाता है। **(सर्वा. १८५)**

इन्द्र अर्थात् आत्मा के अर्थ की उपलब्धि के कारण को इन्द्रिय कहते हैं। इन्द्र अर्थात् आत्मा। कर्ममलीमस आत्मा सावरण होने से अर्थोपलब्धि में जो लिंग (कारण) होता है उसे इन्द्रिय कहते हैं। **(रा.वा. १)**

इन्द्र शब्द नाम कर्म का वाची है उस नाम कर्म से रची गई इन्द्रियाँ हैं। **(सर्वा. १८५)** आत्मा सूक्ष्म है वह दिखाई नहीं देता। अत: जिन चिह्नों से आत्मा का अस्तित्व जाना जाता है उसे इन्द्रिय कहते हैं। **(सर्वा. १८५)**

३. प्रश्न : सूत्र में 'तत्' शब्द का ग्रहण व्यर्थ है क्योंकि मतिज्ञान का प्रकरण चल रहा है ?

उत्तर : यद्यपि मतिज्ञान का प्रकरण होने से मतिज्ञान का सम्बन्ध हो ही जाता है इसलिए 'तत्' शब्द के ग्रहण की आवश्यकता नहीं है फिर भी आगे के सूत्र में कहे जाने वाले अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा मतिज्ञान के भेद हैं, इनको जानना अशक्य हो जाता, अत: 'तत्' शब्द का पुन: ग्रहण करने पर अवग्रह आदि भी मतिज्ञान के भेद हैं, यह सम्बन्ध सुगम हो जाता है। **(रा.वा. ४)**

इस सूत्र के लिए और अगले सूत्र के लिए 'तत्' पद का निर्देश किया है। मति आदि पर्यायवाची शब्दों के द्वारा जो ज्ञान कहा गया है वह इन्द्रिय और अनिन्द्रिय के निमित्त से होता है और उसी के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार भेद हैं। इसलिए पूर्वोक्त दोष प्राप्त नहीं होता। अर्थात् 'तत्' पद व्यर्थ नहीं है। **(सर्वा. १८८)**

४. प्रश्न : यदि सूत्र में 'तत्' पद नहीं देते तो क्या हानि होती ?

उत्तर : यदि 'तत्' पद नहीं दिया जाये तो मति आदि पर्यायवाची नाम प्रथम ज्ञान के हो जायेंगे

और इन्द्रिय-अनिन्द्रिय के नियम से होने वाला ज्ञान श्रुतज्ञान कहलायेगा और इसी के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार भेद प्राप्त होंगे। इस प्रकार अनिष्ट अर्थ के सम्बन्ध की प्राप्ति होगी। अत: इस अनिष्ट अर्थ के सम्बन्ध का निराकरण करने के लिए सूत्र में 'तत्' पद का निर्देश करना आवश्यक है। **(सर्वा. १८८)**

५. प्रश्न : अनिन्द्रिय (मन) आत्मा का लिंग कैसे हो सकता है क्योंकि अनिन्द्रिय शब्द इन्द्रिय का निषेधपरक है ?

उत्तर : अनिन्द्रिय में जो 'अन्' है वह 'ईषत् प्रतिषेध' को सूचित करता है। जिस प्रकार 'अनुदरा कन्या' ऐसा कहने पर जिसके उदर नहीं है ऐसी कन्या नहीं समझना चाहिए अपितु गर्भ के भार को धारण करने में समर्थ उदर का अभाव होने से अनुदरा समझना चाहिए। उसी प्रकार अनिन्द्रिय कहने से इन्द्रियत्व का अभाव नहीं है किन्तु मन, चक्षु: आदि के समान प्रति-नियत देशवर्ती विषय को नहीं जानकर अनियत विषय को जानता है, इसलिए मन को अनिन्द्रिय कहते हैं। **(रा.वा. २)**

६. प्रश्न : अनिन्द्रिय में 'नञ्' का निषेधरूप अर्थ न लेकर 'ईषद्' अर्थ कैसे लिया गया है?

उत्तर : ये इन्द्रियाँ नियत देश में स्थित पदार्थों को विषय करती हैं और कालान्तर में अवस्थित रहती हैं किन्तु मन इन्द्र का लिंग होता हुआ भी प्रतिनियत देश में स्थित पदार्थ को विषय नहीं करता और कालान्तर में अवस्थित नहीं रहता। अत: अनिन्द्रिय में 'नञ्' का निषेधरूप अर्थ न लेकर ईषद् अर्थ लिया गया है। **(सर्वा. १८६/१८७)**

७. प्रश्न : क्या मन का और कोई दूसरा नाम है ?

उत्तर : हाँ, मन को अन्त:करण भी कहते हैं। इसे गुण और दोषों के विचार और स्मरण करने आदि कार्यों में इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं लेनी पड़ती तथा चक्षु आदि इन्द्रियों के समान इसकी बाहर उपलब्धि भी नहीं होती इसलिए यह अन्तर्गत करण होने से अन्त:करण कहलाता है। **(सर्वा. १८७)**

मन को अन्त:करण भी कहते हैं, क्योंकि बाह्य स्पर्शनादि इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण का अभाव होने से अन्तर का करण अन्त:करण,ऐसा व्युत्पत्तिपरक अर्थ है। **(सुख बो. त. वृ. ३४)**

८. प्रश्न : कौनसा ज्ञान इन्द्रिय और मन से उत्पन्न होता है ?

उत्तर : मति, स्मृति, संज्ञा आदि ज्ञानों में से पहला मति रूप ज्ञान इन्द्रिय और मन के निमित्त से होता है। स्मृति आदिक (संज्ञा, चिंता, अभिनिबोध आदि) तो अनिन्द्रिय मन से होते हैं, ऐसा विशेष जानना चाहिए। **(सुख बो. त. वृ. ३४)**

९. प्रश्न : क्या मति-अज्ञान भी इन्द्रिय और मन से उत्पन्न होता है ?

उत्तर : नहीं, एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक जीवों में मति अज्ञान में बहिरंग कारण यथायोग्य इन्द्रियाँ ही हैं एवं संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव के भी मति-अज्ञान में पाँचों इन्द्रियाँ ही कारण हैं, मन नहीं, क्योंकि मिथ्यादृष्टि जीव के दर्शनमोह से नष्ट हुआ मन होते हुए भी नहीं हुए के बराबर है अत: किसी का

भी मति अज्ञान मन और इन्द्रिय दोनों से उत्पन्न नहीं होता। यहाँ सम्यग्ज्ञान का अधिकार होने से मति ज्ञान ही पाँचों इन्द्रियों एवं मन से होता है ऐसा जानना चाहिए। **(श्लो. ३/४३४)**

१०. प्रश्न : मतिज्ञान पाँचों इन्द्रियों एवं मन से ही होता है या मतिज्ञान ही पाँचों इन्द्रियों एवं मन से होता है। इनमें से कौनसा अर्थ ग्रहण करना चाहिए ?

उत्तर : दोनों अर्थ ग्रहण करने चाहिए। मतिज्ञान पाँचों इन्द्रियों एवं मन से ही होता है। ऐसा कहना अर्थजन्यत्व-ज्ञान (पदार्थ से ज्ञान की उत्पत्ति) मानने वाले बौद्धों का खण्डन करने के लिए है। एवं दूसरा मतिज्ञान ही पाँचों इन्द्रियों एवं मन से उत्पन्न होता है ऐसा कुमति, कुश्रुत, कुअवधि आदि ज्ञानों की निवृत्ति के लिए कहा है। वह मतिज्ञान संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के ही होता है। **(श्लो. ३/४२०-४२१)**

११. प्रश्न : मतिज्ञान की उत्पत्ति में अर्थ-आलोक आदि को कारण क्यों नहीं कहा ?

उत्तर : अन्वय (कारण के होने पर कार्य का होना) और व्यतिरेक (कारण के अभाव में कार्य का न होना) से कार्य-कारण-भाव जाना जाता है। इस व्यवस्था के अनुसार प्रकाश ज्ञान में कारण नहीं है क्योंकि उसके अभाव में भी रात्रि में विचरने वाले बिल्ली, चूहे आदि को ज्ञान पैदा होता है और उसके सद्भाव में उल्लू वगैरह को ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है। अत: जिस प्रकार प्रकाश का ज्ञान के साथ अन्वय और व्यतिरेक न होने से वह ज्ञान का कारण नहीं हो सकता है उसी प्रकार अर्थ (पदार्थ) भी ज्ञान के प्रति कारण नहीं हो सकता है क्योंकि अर्थ के अभाव में भी केश-मशकादिज्ञान उत्पन्न होता है। ऐसी दशा में ज्ञान अर्थजन्य कैसे हो सकता है अर्थात् नहीं हो सकता है। दूसरी बात यह है कि प्रमाणता में कारण अर्था-व्यभिचार (अर्थ के अभाव में ज्ञान का न होना) है अर्थजन्यता नहीं। कारण स्वसंवेदन प्रत्यक्ष विषय जन्य न होने पर भी प्रमाण माना गया है। यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि स्वसंवेदन प्रत्यक्ष चूंकि अपने से उत्पन्न होता है इसलिए वह भी विषयजन्य ही है क्योंकि कोई भी वस्तु अपने से पैदा नहीं होती। किन्तु अपने से भिन्न कारणों से पैदा होती है। **(न्या. दी. २/४)**

१२. प्रश्न : यदि ज्ञान अर्थ से उत्पन्न नहीं होता तो वह अर्थ का प्रकाशक कैसे हो सकता है?

उत्तर : दीपक घटादि पदार्थों से उत्पन्न नहीं होता फिर भी वह उनका प्रकाशक है, यह देखकर आपको सन्तोष कर लेना चाहिए। अर्थात् दीपक जिस प्रकार घटादिकों से उत्पन्न न होकर भी उन्हें प्रकाशित करता है उसी प्रकार ज्ञान भी अर्थ से उत्पन्न न होकर उसे प्रकाशित करता है। **(न्या.दी. २/५)**

विषय और विषयी का सम्पात होने के अनन्तर जो प्रथम ग्रहण होता है, वह अवग्रह है। रस आदिक अर्थ विषय है, छहों इन्द्रियाँ विषयी हैं, ज्ञानोत्पत्ति की पूर्वावस्था विषय व विषयी का सम्पात है, जो दर्शन नाम से कहा जाता है। यह दर्शन ज्ञानोत्पत्ति के कारणभूत परिणाम विशेष की सन्तति की उत्पत्ति से उपलक्षित होकर अन्तर्मुहूर्त्त कालस्थायी है। इसके बाद जो वस्तु का प्रथम ग्रहण होता है वह अवग्रह है। जहाँ घटादि के बिना रूप, दिशा और आकार आदि विशिष्ट वस्तु मात्र ज्ञान के द्वारा अनध्यवसायरूप

से जानी जाती है, वहाँ भी अवग्रह ही है, क्योंकि अनवगृहीत अर्थ में ईहादि ज्ञानों की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। **(ध. १३/२१६-१७)**

इन्द्रिय और पदार्थ का सम्बन्ध होने के बाद उत्पन्न हुए सामान्य अवभास के अनन्तर होने वाले और अवान्तर सत्ताजाति से युक्त वस्तु को ग्रहण करने वाले ज्ञान विशेष को अवग्रह कहते हैं। जैसे - 'यह पुरुष है'। **(न्या.दी. २/११)**

मतिज्ञान के भेद कहते हैं -

अवग्रहेहावायधारणाः ॥१५॥

अवग्रह-ईहा-अवाय-धारणाः।

अर्थ : अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये मतिज्ञान के भेद हैं।

अवग्रह - विषय और विषयी का सन्निधान होने के बाद जो प्रथम ग्रहण होता है वह अवग्रह है।

ईहा - अवग्रहीत अर्थ में विशेष जानने की इच्छा होना ईहा ज्ञान है।

अवाय - विशेष के द्वारा निर्ज्ञात के याथात्म्य अवगमन को अवाय कहते हैं।

धारणा - निर्णीत पदार्थ की अविस्मृति धारणा है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : जो इन्द्रिय और मन रूप दो कारणों के सन्निधान होने पर आत्मलाभ के प्रति तत्पर मतिज्ञान के अवर्णित भेद हैं, उन भेदों को कहने के लिए यह सूत्र कहा है। **(रा.वा. उ.१५)**

२. प्रश्न : अवग्रह किसे कहते हैं ?

उत्तर : विषय और विषयी के सम्बन्ध के बाद होने वाले प्रथम ग्रहण को अवग्रह कहते हैं। विषय और विषयी का सन्निपात होने पर दर्शन होता है। उसके पश्चात् जो पदार्थ का ग्रहण होता है वह अवग्रह कहलाता है। जैसे चक्षु इन्द्रिय के द्वारा 'यह शुक्ल रूप है' ऐसा ग्रहण करना अवग्रह है। **(सर्वा. १९०)** 'देवता' इस प्रकार सुनकर जिसके विचार रहित सामान्य से बुद्धि उत्पन्न होती है उसको अवग्रह निर्दिष्ट किया गया है। **(ज. प. १३/६१)** विषय और विषयी का सम्बन्ध होने पर सफेद आदि की विशेषता से रहित वस्तु की सत्तामात्र के अवभासन रूप निर्विकल्प दर्शन रूप प्रतीति उत्पन्न होती है तदनन्तर अवग्रह होता है। जैसे उसी दिन के जन्मे बालक के प्रथम बार नेत्र खोलने पर सफेद आदि विशेष वस्तु का प्रतिभास होता है वह सविकल्प अवग्रह स्वरूप है, जैसे यह देखी गई जो वस्तु है वह सफेद है। **(सुख बो. त. वृ. ३४-३५)**

३. प्रश्न : अवग्रह के नामान्तर कौन-कौन से हैं ?

उत्तर : अवधान, सान, अवलम्बना, मेधा तथा अवग्रह ये अवग्रह के पर्यायवाची नाम हैं-

अवधान - जिसके द्वारा 'अवधीयते खण्ड्यते' अर्थात् अन्य पदार्थों से पृथक् करके विवक्षित अर्थ जाना जाता है उसे अवधान कहते हैं।

सान - जो अनध्यवसाय को छेदता है, टुकड़े करता है, नष्ट करता है उस अवग्रह को ही सान कहते हैं।

अवलम्बना - जो अवग्रह ज्ञान अपनी उत्पत्ति के लिए इन्द्रिय, मन, प्रकाश आदि का अवलम्बन लेता है उसे अवलम्बना कहते हैं।

मेधा - अवग्रह के द्वारा पदार्थ जाना जाता है इसलिए इसे मेधा कहते हैं।

अवग्रह - जिसके द्वारा घटादि पदार्थ 'अवगृह्यते' जाने जाते हैं वह अवग्रह है। **(ध. १३/२४२)**

४. प्रश्न : अवग्रह और दर्शन में क्या अन्तर है ?

उत्तर : दर्शन और अवग्रह में परिछित्ति मात्र समान है तो भी निर्विकल्प और सविकल्पपने से भेद लक्षित होता ही है अर्थात् दर्शन निर्विकल्प है और अवग्रह सविकल्प है। **(सुख बो. त. वृ. ३५)**

दर्शन और अवग्रह के लक्षण भिन्न-भिन्न हैं। दर्शनावरण और वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम तथा अंगोपांग नामकर्म के अवलम्बन से विशेष शून्य सामर्थ्य से 'किंचिद् वस्तु है' ऐसा चक्षु के द्वारा जो निराकार प्रतिभास होता है वह दर्शन कहलाता है। जैसे-जन्म लेते ही बालक के प्राथमिक उन्मेष है वह विशेष शून्य प्रतिभास होने से दर्शन विवक्षित है उसी प्रकार सर्व जीवों के निराकार दर्शन होता है और उसके दो, तीन आदि समय भावी उन्मेषों में चक्षु से अवग्रह मतिज्ञानावरण, वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम तथा अंगोपाङ्ग नामकर्म के अवलम्बन से 'यह रूप है' 'यह पुरुष है' आदि रूप से विशेषांश का निश्चय अवग्रह है। **अथवा** - कारण के नानात्व से कार्य में भी नानात्व सिद्ध होता है जैसे - मिट्टी और तंतु रूप कारण भेद से घट-पट (वस्त्र) आदि कार्यों में भेद है, उसी प्रकार दर्शनावरण और ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम रूप कारण के भेद से दर्शन और ज्ञान में भी भेद है। **(रा.वा. १३)**

५. प्रश्न : अवग्रह और संशय में क्या भेद है ?

उत्तर : लक्षणभेद से अग्नि और जल के समान संशय और अवग्रह में भेद है। जैसे-अग्नि और जल के दहन-प्रकाशन आदि हैं और द्रवता, स्निग्धतादि प्रतिनियत लक्षण के भेद से अन्यत्व है ; उसी प्रकार अवग्रह और संशय के लक्षणभेद होने से भिन्नता है।

अनेकार्थ, अनिश्चित और अपर्युदासात्मक संशय होता है और उससे विपरीत अवग्रह है।

स्थाणु पुरुषादि अनेक पदार्थों के अवलम्बन के सन्निधान से अनेकार्थात्मक और अनिश्चयात्मक संशय होता है।

संशय स्थाणु, पुरुषादि अनेक पदार्थों के अवलम्बन के सन्निधान से अनेक अर्थात्मक है और अवग्रह एक पुरुषादि अन्यतम (किसी एक) का ग्रहण करता है। संशय स्थाणु पुरुषादि अनेक धर्मावलम्बित पुरुष धर्मों का और स्थाणु धर्मों का निश्चय नहीं कर सकता अत: अनिश्चयात्मक है परन्तु अवग्रह तो पुरुषादि किसी एक धर्म का निश्चयात्मक होता है।

संशय स्थाणु और पुरुष के अनेक धर्मों का अपर्युदासात्मक (अनिर्णयात्मक) होता है और अवग्रह एक ही अर्थ का निर्णय करता है। यह अवग्रह निर्णयात्मक है, अन्य ध्रुवादि पर्यायों का पर्युदास्य 'पुरुष' इस प्रकार एक पर्याय का अवलम्बनात्मक है। संशय निर्णय का विरोधी है। इसमें निर्णय नहीं होता है और अवग्रह निर्णय का विरोधी नहीं है इसमें निर्णय देखा जाता है। **(रा.वा. ८-१०)**

६. प्रश्न : ईहा किसे कहते हैं ?

उत्तर : अवग्रह के अनन्तर यह सफेद वस्तु बलाका है या पताका ? इत्यादि रूप से संशय-विच्छेद के लिए अवग्रह के द्वारा ज्ञात वस्तु में विशेष जानने की कांक्षा रूप आत्मा का प्रयत्नविशेष ईहा कहलाती है।

अवगृहीत अर्थ में विशेष जानने की इच्छा होना ईहा ज्ञान है, जैसे 'यह पुरुष है' ऐसा अवगृहीत अर्थ में भाषा, वय, रूपादि विशेषों के द्वारा उसको जानने की ओर झुकना ईहा है। **(रा.वा. २)**

अवग्रह के द्वारा ग्रहण किये गये पदार्थों में उसके विशेष के जानने की इच्छा ईहा कहलाती है। जैसे जो शुक्ल रूप देखा है 'वह क्या बकपंक्ति है' इस प्रकार विशेष जानने की इच्छा या 'वह क्या पताका है' इस प्रकार विशेष जानने की इच्छा ईहा है। **(सर्वा. १९०)** संशय के बाद और अवाय के पहले बीच की अवस्था में विद्यमान तथा हेतु के अवलम्बन से उत्पन्न हुए विमर्शरूप प्रत्यय को ईहा कहते हैं। **(ध. १३/२१७)**

७. प्रश्न : ईहा के पर्यायवाची नाम कौन-कौनसे हैं ?

उत्तर : ईहा, ऊहा, अपोहा, मार्गणा, गवेषणा और मीमांसा, ये ईहा के पर्यायवाची नाम हैं।

ईहा - अवग्रह के द्वारा गृहीत पदार्थ में उत्पन्न हुए संशय का नाश करने के लिए 'ईहते' अर्थात् चेष्टा की जाती है वह ईहा है।

ऊहा - अवग्रह से अवधृत पदार्थ के विशेष को जानने के लिए 'ऊह्यते' तर्कणा की जाती है, इसलिए ईहा को ही ऊहा कहते हैं।

अपोहा - अवग्रह से अध्यवसित पदार्थ के संशय के कारणभूत विकल्पों का 'अपोह्यते' निराकरण किया जाता है, इसलिए ईहाज्ञान का नाम अपोहा भी है।

मार्गणा - अवग्रह से अवलम्बित पदार्थ के विशेष का मार्गण अर्थात् अन्वेषण किया जाता है इसलिए इसे मार्गणा कहते हैं।

गवेषणा - अवग्रह से गृहीत पदार्थ की गवेषणा की जाती है इसलिए इसे गवेषणा कहते हैं।

मीमांसा - उसी अर्थ की विशेष रूप से मीमांसा (विचार) की जाती है इसलिए ईहा को मीमांसा भी कहते हैं। **(ध. १३/२४२)**

८. प्रश्न : निर्णयात्मक नहीं होने से ईहा को संशय कहना चाहिए ?

उत्तर : ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि ईहाज्ञान में पदार्थ का ग्रहण होता है। अवग्रह से गृहीत पदार्थ के विशेष उपलब्धि की या निर्णय की ओर झुकाव होता है वह ईहा है जबकि संशय में किसी एक कोटि की ओर झुकाव नहीं होता। **(रा.वा. ११)** ईहा के पूर्व संशय होता है क्योंकि यह 'पुरुष' है ऐसा अवग्रह के द्वारा निश्चय हो जाने पर 'यह दक्षिणदेशीय है या उत्तरदेशीय' ऐसा प्रथम प्रतिपत्ति में संशय होता है। उस संशयालु पुरुष का उत्तर काल में विशेष उपलिप्सा (उपलब्धि) के प्रति जो यत्न होता है वह ईहा है इसलिए ईहा संशय से भिन्न है। **(रा.वा. १२)**

९. प्रश्न : ईहा गृहीतग्राही होने से प्रमाण नहीं है ?

उत्तर : इसका उत्तर कहते हैं कि गृहीत-ग्रहण अप्रामाण्य का कारण नहीं है क्योंकि उसका (अप्रमाण का) कारण संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय है। दूसरे ईहा प्रत्यय सर्वथा गृहीतग्राही भी नहीं है, क्योंकि अवग्रह से गृहीत वस्तु के उस अंश के निर्णय की उत्पत्ति में निमित्तभूत लिङ्ग को, जो कि अवग्रह से नहीं ग्रहण किया है, ग्रहण करने वाला ईहाज्ञान गृहीत ग्राही भी नहीं हो सकता और एकान्तत: अगृहीत को ही प्रमाण ग्रहण कहते हो सो भी बात नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर अगृहीत होने के कारण खरविषाण के समान असत् होने से वस्तु के ग्रहण का विरोध होगा। **(ध. पु. ९/१४६-४७)**

१०. प्रश्न : ईहा संशयात्मक होने से प्रमाण नहीं है ?

उत्तर : ईहा प्रत्यय संशय भी नहीं हो सकता, क्योंकि निर्णय की उत्पत्ति में निमित्तभूत लिंग के ग्रहण द्वारा संशय को दूर करने वाले विमर्श प्रत्यय के संशयरूप होने में विरोध है। संशय के आधारभूत जीव में समवेत होने से भी वह ईहा प्रत्यय अप्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि संशय के विरोधी और स्वरूपत: संशय से भिन्न उक्त प्रत्यय के अप्रमाण होने का विरोध है। अनध्यवसाय रूप होने से भी ईहा अप्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि कुछ विशेषों का अध्यवसाय करते हुए संशय को दूर करने वाले उक्त प्रत्यय के अनध्यवसाय रूप होने का विरोध है अतएव परीक्षा प्रत्यय प्रमाण है, यह सिद्ध होता है। **(ध. पु. ९-१४७)**

११. प्रश्न : अवाय किसे कहते हैं ?

उत्तर : विशेष के निर्णय द्वारा जो यथार्थ ज्ञान होता है उसे अवाय कहते हैं, जैसे उत्पतन, निपतन और पक्षविक्षेप (पंख हिलना) आदि के द्वारा 'यह बकपंक्ति ही है, ध्वजा नहीं है' ऐसा निश्चय होना अवाय है। **(सर्वा. १९०)**

जो कर्ममल से रहित है वह देव है, इसमें कोई सन्देह नहीं है, इस प्रकार जिसके निश्चय रूप बुद्धि होती है उसके अवायज्ञान होता है। **(ज.प. २३/६३)** भाषा आदि विशेषों के द्वारा उसकी उस विशेषता का यथार्थ ज्ञान कर लेना अवाय है, जैसे यह मानव दक्षिणी है, युवा है या गौर है आदि। **(रा.वा. ३)**

१२. प्रश्न : अवाय कहना उचित है या अपाय ?

उत्तर : दोनों ही कहना उचित है, दोनों में ही दोष नहीं है। एक के कहने से दूसरे के अर्थ का ग्रहण हो ही जाता है। जब 'दक्षिणी ही है' यह अवाय निश्चय करता है तब 'उत्तरी नहीं है' यह अपाय त्याग हो ही जाता है। इसी प्रकार 'उत्तरी नहीं है' इस प्रकार अपाय का त्याग होने पर 'दक्षिणी है' यह अवाय निश्चय हो ही जाता है अत: एक से दूसरे का ग्रहण हो जाने से दोनों ही ठीक है। **(रा.वा. १३)**

१३. प्रश्न : अवाय के पर्यायवाची नाम कौन-कौन से है ?

उत्तर : अवाय, व्यवसाय, बुद्धि, विज्ञप्ति, आमुंडा और प्रत्यामुंडा, ये अवाय के पर्यायवाची नाम हैं।

अवाय - ईहाज्ञान के द्वारा मीमांसित अर्थ अवेयते अर्थात् निश्चित किया जाता है, उसे अवाय कहते हैं।

व्यवसाय - ईहा से अन्वेषित अर्थ 'व्यवसीयते' अर्थात् निश्चित किया जाता है। इसलिए व्यवसाय ही अवाय का नाम है।

बुद्धि - इसके द्वारा ईहा से ऊहित अर्थ 'बुद्ध्यते' अर्थात् जाना जाता है, इसलिए इसे बुद्धि कहते हैं।

विज्ञप्ति - इसके द्वारा ईहा से तर्कित अर्थ विशेष रूप से जाना जाता है इसलिए इसे विज्ञप्ति भी कहते हैं।

आमुंडा - इसके द्वारा ईहा से तर्कित अर्थ संकोचित किया जाता है इसलिए अवाय को आमुंडा भी कहते हैं।

प्रत्यामुंडा - इस अवाय ज्ञान के द्वारा ही ईहा ज्ञान के द्वारा मीमांसित अर्थ संकोचित किया जाता है इसलिए इसे प्रत्यामुंडा भी कहते हैं। **(ध. १३/२४३)**

१४. प्रश्न : अवग्रह और अवाय इन दोनों ज्ञानों के निर्णयत्व के सम्बन्ध में कोई भेद न होने से एकता क्यों नहीं ?

उत्तर : निर्णयत्व के सम्बन्ध में कोई भेद न होने से अवग्रह और अवाय में एकता भले ही रही आवे किन्तु विषय और विषयी के सन्निपात के अनन्तर उत्पन्न होने वाला प्रथम ज्ञान विशेष अवग्रह है और ईहा के अनन्तर काल में उत्पन्न होने वाले संदेह के अभाव रूप अवाय ज्ञान होता है। इसलिए अवग्रह और अवाय इन दोनों ज्ञानों में एकता नहीं है। **(ध. ६/१८)**

१५. प्रश्न : धारणा किसे कहते हैं ?

उत्तर : भाषा, आयु, रूपादि विशेषों के द्वारा यथार्थ निर्णीत पुरुष का उत्तर काल में 'वह यह है' इस प्रकार जिससे अविस्मरण होता है, वह धारणा है। **(रा.वा. ४)**

अवाय ज्ञान के द्वारा जानी हुई वस्तु का जिस कारण कालान्तर में विस्मरण नहीं होता उसे धारणा[१] कहते हैं। जैसे यह वही बकपंक्ति है जिसे प्रात:काल मैंने देखा था, ऐसा जानना धारणा है। **(सर्वा. १९०)**

१६. प्रश्न : धारणा के पर्यायवाची नाम कौन-कौन से है ?

उत्तर : धरणी, धारणा, स्थापना, कोष्ठा और प्रतिष्ठा ये धारणा के पर्यायवाची नाम हैं।

धरणी - धरणी के समान बुद्धि का नाम धरणी है। जैसे धरणी (पृथ्वी) गिरि, नदी, सागर, वृक्ष, पत्थर आदि पदार्थों को धारण करती है वैसे ही जो बुद्धि अवाय के द्वारा निर्णीत कार्य को धारण करती है, धरणी कहलाती है।

धारणा - अवाय से निर्णीत पदार्थ बहुत काल तक धारण किया जाता है, इसलिए धारणा कहलाती है।

स्थापना - अवाय से निर्णीत पदार्थ बहुत काल तक स्थापित किया जाता है इसलिए स्थापना कही जाती है।

कोष्ठा - कोष्ठा कुस्थली को कहते हैं, कुस्थली में धान्य रखा जाता है, कोष्ठा के समान जिसमें अवाय ज्ञान के द्वारा निर्णीत अर्थ बहुत काल तक रखा जाता है, विस्मृत नहीं होता है इसलिए धारणा को ही कोष्ठा कहते हैं।

प्रतिष्ठा - जिस बुद्धि में अवाय से निर्णीत अर्थ बहुत काल तक सुरक्षित रहता है, नष्ट या विस्मृत नहीं होता है उस ज्ञान को प्रतिष्ठा कहते हैं। **(ध. १३/२४३)**

नोट - ये अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा के नामान्तर अवश्य हैं परन्तु अर्थान्तर नहीं हैं। मंद-बुद्धि वाले शिष्यों को समझाने के लिए इनके नामान्तर कहे हैं।

१७. प्रश्न : ईहादि मतिज्ञान नहीं हैं क्योंकि वे अवग्रह आदि के कार्य हैं। जैसे अवग्रह कारण है ईहा कार्य, ईहा कारण है अवाय कार्य, आदि ?

उत्तर : ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि ईहादि ज्ञान मन से उत्पन्न होते हैं अत: मतिज्ञान हैं। यद्यपि श्रुतज्ञान भी मन से उत्पन्न होता है पर ईहा आदि में परम्परया जनितता भी है क्योंकि इन्द्रियज (इन्द्रिय से

---

१. धारणा को अन्त्यदीपक माना जाय तो ठीक है। क्योंकि अवग्रह की भी धारणा होती है जो ईहा के लिए कारण है और इसकी धारणा अवाय के लिए कारण है और इसकी धारणा, धारणा के लिए कारण है, जो स्मृति, प्रत्यभिज्ञान आदि के लिए कारण है।

उत्पन्न) अवग्रह के बाद ही ईहादि ज्ञान की परम्परा चलती है और तब भी इन्द्रियव्यापार रुकता नहीं है इसलिए ईहादि के अनिन्द्रिय निमित्त का उपचार होता है। **(रा.वा. १३)**

१८. प्रश्न : अवग्रह आदि का क्रम इस प्रकार (सूत्रोक्त) क्यों कहा गया है ?

उत्तर : अवग्रह आदि क्रम से उत्पन्न होते हैं अत: उनका सूत्र में क्रमश: ग्रहण किया है। अवग्रह पूर्वक ईहा होती है इसलिए आदि में अवग्रह का ग्रहण किया गया है। इस प्रकार ईहा पूर्वक अवाय और अवाय पूर्वक धारणा होती है, ऐसा कथन करना चाहिए इसलिए इनके क्रम का ग्रहण है। **(रा.वा. ५)**

१९. प्रश्न : क्या अवग्रह आदि की क्रम से उत्पत्ति होती है ?

उत्तर : अवग्रह आदि चारों ही ज्ञानों की सर्वत्र क्रम से उत्पत्ति नहीं होती है, क्योंकि उस प्रकार की व्यवस्था पायी नहीं जाती है। इसलिए कहीं तो केवल अवग्रह ज्ञान ही होता है, कहीं अवग्रह और ईहा, ये दो ज्ञान ही होते है, कहीं पर अवग्रह, ईहा और अवाय ये तीनों भी ज्ञान होते हैं। **(ध. ६/१८)**

२०. प्रश्न : अवग्रहादि की क्रम से उत्पत्ति क्यों नहीं होती है ?

उत्तर : अवग्रहादि चारों की सर्वत्र से उत्पत्ति का नियम भी नहीं है, क्योंकि अवग्रह के पश्चात् नियम से संशय की उत्पत्ति नहीं देखी जाती है और संशय के बिना विशेष की आकांक्षा होती नहीं है, जिससे कि अवग्रह के पश्चात् नियम से ईहा उत्पन्न हो। न ही ईहा से नियमत: निर्णय उत्पन्न होता है, क्योंकि कहीं पर निर्णय को उत्पन्न न करने वाला ईहा प्रत्यय ही देखा जाता है। अवाय से धारणा भी नियम से नहीं उत्पन्न होती, उसमें भी व्यभिचार पाया जाता है। **(ध. ९/१४८)**

२१. प्रश्न : अवग्रह आदि को किस प्रकार समझा जा सकता है ?

उत्तर : अवग्रह: - 'देवता' इस प्रकार सुनकर जिसे विचार रहित सामान्य से बुद्धि उत्पन्न होती है उसके अवग्रह निर्दिष्ट किया गया है।

ईहा - विष्णु, शिव और हिरण्यगर्भ ये देव कहे जाते हैं, इनमें सर्वज्ञ कौन है? इस प्रकार जिसके बुद्धि होती है उसके ईहा ज्ञान होता है।

अवाय - जो कर्ममल से रहित होता है वह देव है, इसमें संदेह नहीं है इस प्रकार जिसके निश्चय रूप बुद्धि होती है, उसके अवाय ज्ञान होता है।

धारणा - राग-द्वेष रहित सर्वज्ञ होता है इस बात को जो कभी नहीं भूलता है उसके धारण ज्ञान होता है। **(ज. द्वी. प. १३/६१-६४)**

मतिज्ञान के विशेष भेद दिखाते हैं -

बहुबहुविधक्षिप्रानि:सृतानुक्तध्रुवाणां सेतराणाम् ।।१६ ।।

बहु-बहुविध-क्षिप्र-अनि:सृत-अनुक्त-ध्रुवाणां स-इतराणाम्।

अर्थ : बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनि:सृत, अनुक्त, ध्रुव और (सेतराणाम्) प्रतिपक्ष सहित अर्थात् अल्प, अल्पविध, अक्षिप्र, नि:सृत, उक्त और अध्रुव के अवग्रह आदि होते हैं।

बहु - बहुत पदार्थों का ज्ञान होना बहुज्ञान है।

बहुविध - बहुत प्रकार के पदार्थों का ज्ञान होना बहुविध ज्ञान है।

क्षिप्र - शीघ्र ही जान लेना क्षिप्र है।

अनि:सृत - वस्तु के कुछ भाग को देखकर पूरी वस्तु का ज्ञान होना अनि:सृत है।

अनुक्त - बिना कहे अभिप्राय से जानना अनुक्त है।

ध्रुव - यथार्थ ग्रहण को ध्रुव कहते हैं।

अल्प - अल्प पदार्थों का ज्ञान होना अल्प है।

अल्पविध - अल्प प्रकार के पदार्थों का ज्ञान होना अल्पविध है।

अक्षिप्र - धीरे-धीरे जानना अक्षिप्र है।

नि:सृत - पूर्ण वस्तु को देखकर जानना नि:सृत है।

उक्त - मुख से कहने पर जानना उक्त है।

अध्रुव - दीपक की लौ, बिजली आदि में उत्पाद विनाश युक्त वस्तु का ज्ञान अध्रुव प्रत्यय है। **(ध. १३/२३९)**

१. प्रश्न : इस सूत्र का अवतार क्यों हुआ है ?

उत्तर : बहु-बहुविध आदि कर्मों के द्वारा अवग्रह आदि के विशेष भेद-प्रभेदों का निश्चय कराने के लिए इस सूत्र का अवतार हुआ है। **(श्लो. ३/४७३)**

२. प्रश्न : बहु-ज्ञान किसे कहते हैं ?

उत्तर : बहु शब्द संख्यावाची और वैपुल्यवाची दोनों प्रकार का है। इन दोनों का यहाँ ग्रहण किया है, क्योंकि उनमें कोई विशेषता नहीं है। संख्यावाची बहु शब्द यथा एक, दो, बहुत। वैपुल्यवाची बहु शब्द जैसे - बहुत भात, बहुत दाल आदि। **(सर्वा. १९२)** श्रोत्रेन्द्रियावरण और वीर्यान्तराय कर्म का उत्कृष्ट क्षयोपशम होने पर तदनुकूल अंगोपांग नाम कर्म के उदय से उन-उन अंग-उपांगों के सद्भाव से कोई श्रोता एक साथ तत-वितत, घन, सुषिर आदि बहुत शब्दों को सुनता है। **(रा.वा. १६)**

३. प्रश्न : बहुविध ज्ञान किसे कहते हैं ?

उत्तर : 'विध' शब्द प्रकार अर्थ में है। विध, युक्त, गत और प्रकार ये समान अर्थवाची हैं।

बहुविध - बहुत प्रकार वाले पदार्थ का ज्ञान बहुविध ज्ञान है। **(रा.वा. ९)** विध शब्द प्रकारवाची है इससे बहुविध - बहुत प्रकार का। उससे शालि, साठी, कंगु (वरिया चावल), कोद्रव, आदि के भेद से भिन्न-भिन्न जाति के चावलों, भातों को देखने से उत्तर काल में बहुत प्रकार का भात अवगृहीत होता है, इसी प्रकार गाय, भैंस आदि जाति के सम्बन्ध से नाना प्रकार का घी उपलब्ध होता है। इसलिए बहुत प्रकार का घी ऐसा अवग्रह होता है। **(सुख बो. त. वृ. ३६)** श्रोत्रेन्द्रियावरण का प्रकृष्ट क्षयोपशम होने पर तत, वितत आदि शब्दों के एक, दो, तीन, संख्यात, असंख्यात आदि प्रकारों को ग्रहण करता है। **(रा.वा. १६)** तीन आदि प्रकार के या विपुल प्रकारों को जानना बहुविध ज्ञान है। **(श्लोक ३/४७४)**

४. प्रश्न : बहु और बहुविध ज्ञान में क्या अन्तर है ?

उत्तर : बहु और बहुविध में एक प्रकार और नाना प्रकार कृत विशेषता है। जैसे कोई बहुत से शास्त्रों की मौलिकता से, अविशेषता से सामान्य रूप से अर्थ की व्याख्या करता है और दूसरा कोई उन्हीं बहुत से शास्त्रों की परस्पर अतिशय अनेक युक्तियों के द्वारा और अनेक विकल्पों से अनेक प्रकार के अर्थों की व्याख्याएँ करता है, उसी प्रकार तत, वितत आदि शब्द के ग्रहण करने में अविशेषता होने पर भी एक, दो, तीन, चार, संख्यात, असंख्यात, अनन्त गुण परिणत तत आदि शब्दों का जो भिन्न-भिन्न रूप से ग्रहण होता है वह बहुविध का ग्रहण है और तत, वितत आदि शब्दों का सामान्य रूप से ग्रहण होता है, वह बहु ग्रहण है। **(रा.वा. १६)** बहु और बहुविध में एक प्रकार और नाना प्रकार की अपेक्षा अन्तर है अर्थात् बहु में प्रकार भेद इष्ट नहीं हैं और बहुविध में प्रकार भेद इष्ट हैं। **(सर्वा. १९४)**

५. प्रश्न : अल्पज्ञान किसे कहते हैं ?

उत्तर : एक पदार्थ का ज्ञान होना एक ज्ञान है, जैसे यह एक वन है अथवा एक मनुष्य है। **(आ.सा. ४/१७)** श्रोत्रेन्द्रियावरण कर्म के अल्प क्षयोपशम से परिणत आत्मा तत आदि एक या अल्प शब्दों को सुनता है वह अल्प है। **(रा.वा. १६)** इसी प्रकार अन्य घ्राणादि इन्द्रियों में लगाना चाहिए।

कहे जाने वाले सेतर पद से उस बहु के प्रतिपक्षीभूत पदार्थों का भी ग्रहण हो जाता है अत: थोड़ा भात, थोड़ा घी आदि रूप अल्प अवग्रह है। **(सुखबो.त.वृ. ३६)** एक ही वस्तु के उपलम्भ को एक अवग्रह कहते हैं। **(ध. ६/१९)**

६. प्रश्न : अल्पविध किसे कहते हैं ?

उत्तर : सेतर शब्द से बहुविध से इतर एकविध का ग्रहण होता है, उससे नाना बर्तनों में स्थित शालि चावल का भात एक ही जातीय होने से यह सब भात एक ही जातीय है, ऐसा बोध होता है। इसी प्रकार बहुत भाजनों में रखा हुआ एक जाति की गाय का घी एकविध कहलाता है। **(सुखबो.त. वृ. ३६)** श्रोत्रेन्द्रियावरण के अल्प क्षयोपशम से परिणत आत्मा तत, वितत, घन, सुषिर आदि शब्दों के प्रकारों को ग्रहण करता है यह अल्पविध है। **(रा.वा. १६)** एक जाति एकविध ज्ञान कहलाता है। जैसे - गायें सब गोत्व जाति से एक प्रकार की हैं। **(आ.सा. ४/१८)**

७. प्रश्न : बहुज्ञान और एकविध ज्ञान में क्या अंतर है ?

उत्तर : नाना जाति के एक-एक पदार्थ को एकत्र कर जो बहुत पदार्थों का ज्ञान होता है वह बहु ज्ञान है एवं एक ही जाति के जो अनेक पदार्थों का ज्ञान होता है वह एकविध ज्ञान है। **(श्लो. ३/४७६)**

८. प्रश्न : एक और एकविध में क्या अन्तर है ?

उत्तर : एक व्यक्ति रूप पदार्थ का ग्रहण करना एक अवग्रह है और एक जाति में स्थित एक पदार्थ का अथवा बहुत पदार्थों का ग्रहण करना एकविध अवग्रह है। **(ध. पु. ६/२०)**[१]

९. प्रश्न : क्षिप्र किसे कहते हैं ?

उत्तर : प्रकृष्ट श्रोत्रेन्द्रियावरण के क्षयोपशम आदि परिणाम के कारण शीघ्रता से शब्दों को सुनता है वह क्षिप्र है। **(रा.वा. १६)**

शीघ्रता पूर्वक वस्तु को ग्रहण करना क्षिप्र अवग्रह है। **(ध. पु. ६/२०)**

शीघ्रता से पड़ी हुई जलधारा आदि का ग्रहण क्षिप्र है। **(गो. जी. जी. ३११)**

ये बहु आदि पदार्थ जब शीघ्रता से जाने जाते हैं तब क्षिप्र अवग्रह ज्ञान होता है। **(सुख बो. त. वृ. ३६)**

१०. प्रश्न : अक्षिप्र ज्ञान किसे कहते हैं ?

उत्तर : जब इन बहु आदि पदार्थों को धीरे-धीरे जाना जाता है तब अक्षिप्र अवग्रह ज्ञान होता है। **(सुख बो. त. वृ. ३६)**

श्रोत्रेन्द्रियावरण के क्षयोपशम की न्यूनता में देरी से शब्दों को सुनता है, इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों पर भी लागू कर लेना चाहिए। **(रा.वा. १६)**

मन्दगति से चलते हुए घोड़े आदि का अक्षिप्र अवग्रह होता है। **(गो. जी. जी. ३११)**

शनैः शनैः वस्तु का ग्रहण करना अक्षिप्र अवग्रह है। **(ध. पु. ६/२०)**

११. प्रश्न : अनिःसृत किसे कहते हैं ?

उत्तर : श्रोत्रेन्द्रिय के अतिविशुद्ध परिणमन से, उच्चारण न होने पर भी उसका ज्ञान कर लेना अनिःसृत अवग्रह है। **(रा.वा. १६)** वस्तु के एकदेश को देखकर पूर्णदेश (पूरी वस्तु) का बोध होना अनिःसृत अवग्रह है। जैसे-जल में डूबे हुए हाथी के एकदेश रूप सूंड के देखने पर 'यह हाथी है' ऐसा समस्त रूप से ग्रहण होता है। **(सुख बो. त. वृ. ३६)** अनभिभुख अर्थ का ग्रहण करना अनिःसृत अवग्रह

---

१. बहुत हंसों में से एक हंस का ग्रहण करना एक ज्ञान है। विद्यमान बहुत प्रकारों में से एक प्रकार का ग्रहण करना एकविध ज्ञान है जैसे वीणा, मृदङ्ग आदि में से वीणा के शब्द का ग्रहण करना। **(पं.सं. प्रा. १/२)**

है। अथवा उपमान-उपमेय भाव के बिना ग्रहण करना अनि:सृत अवग्रह है। **(ध. पु. ६/२०)** वस्तु के एकदेश का अवलम्बन करके पूर्ण रूप से वस्तु को ग्रहण करने वाला तथा वस्तु के एकदेश अथवा समस्त वस्तु का अवलम्बन करके वहाँ अविद्यमान अन्य वस्तु को विषय करने वाला भी अनि:सृत प्रत्यय[१] है। तालाब में जलमग्न हस्ती की सूंड को देखने पर पूरे का ज्ञान होना अथवा किसी स्त्री का मुख देखने पर चन्द्रमा का या 'इसका मुख चन्द्रमा के समान है' ऐसी उपमा का ज्ञान होना, अथवा गवय को देखकर गाय का ज्ञान होना, ये सब अनि:सृत अवग्रह हैं। **(गो. जी. ३१३)**

१२. प्रश्न : नि:सृत किसे कहते हैं ?

उत्तर : क्षयोपशम की न्यूनता में पूरे रूप से उच्चारित शब्द का ही ज्ञान करना नि:सृत अवग्रह है। **(रा.वा. १६)**

अभिमुख अर्थ का ग्रहण करना नि:सृत अवग्रह है। अथवा-उपमान-उपमेय भाव के द्वारा ग्रहण करना नि:सृत अवग्रह है। जैसे -कमलदल-नयना। **(ध. पु. ६/२०)** समस्त अवयवों को देख लेने पर जो ज्ञान होता है वह नि:सृत कहलाता है। **(सुख बो. त. वृ. ३६)**

१३. प्रश्न : अर्वाग्भाग के अवलम्बन से अनालम्बित पर-भागादिकों के होने वाले ज्ञान को अनुमान ज्ञान ही कहना चाहिए ?

उत्तर : नहीं, क्योंकि अनुमान ज्ञान लिंग से भिन्न अर्थ को विषय करता है। अर्वाग्भाग के ज्ञान के समान काल में होने वाला पर-भाग का ज्ञान तो अनुमान ज्ञान हो नहीं सकता, क्योंकि वह अवग्रह स्वरूप ज्ञान है। भिन्न काल में होने वाला भी उक्त ज्ञान अनुमान ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि ईहा के पश्चात् उत्पन्न होने से उसका अवाय ज्ञान में अन्तर्भाव होता है। **(ध. पु. १३/२३८)**

१४. प्रश्न : अनुक्त ज्ञान किसे कहते हैं ?

उत्तर : क्षयोपशम की प्रकृष्टता में एक भी शब्द का उच्चारण किए बिना अभिप्राय मात्र से अनुक्त शब्द को जान लेता है। बिना कहे ही अभिप्राय से कहना-आप इस शब्द को बोलोगे, अथवा स्वर-संचारण के पूर्व वीणा आदि के तारों को संभालते समय ही यह जान लेना कि इसके द्वारा यह राग बजाया जायेगा यह अनुक्त ज्ञान है। **(रा.वा. १६)**

---

१. अनि:सृतस्य इतरं नि:सृतम् यथाऽभ्रगर्जनवत् कुञ्जरगर्जनम्, शङ्खवद्दधिकं, उत्पलगन्धवत् कुष्टगन्ध:, द्राक्षवद्गुड:, उत्पलनालवत् सर्पस्पर्श इति ग्रहणम्। **(पं. सं. प्रा. १/२)**

अबुद्धिपूर्वापेक्षायामिष्टानिष्ट स्वदैवत:।
बुद्धिपूर्वमपेक्षायामिष्टानिष्टं स्वपौरुषात्॥ **(आ.मी. ९१)**

अनियमित गुणविशिष्ट द्रव्य का ग्रहण करना अनुक्त अवग्रह है, जैसे चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा रूप देखकर गुड़ आदि के रस का ग्रहण करना अथवा घ्राणेन्द्रिय के द्वारा दही के गन्ध के ग्रहणकाल में ही उसके रस का ग्रहण करना। **(ध. पु. ६/२०)** ''अग्नि को लाओ'' ऐसा किसी के कहने पर, अग्नि को खप्पर आदि में रखकर लाना, ऐसा पर (किसी दूसरे) ने नहीं कहा है तो भी उस अनुक्त खप्पर आदि के अग्नि को लाने के उपाय का स्वयं विचार कर लेना अनुक्त अवग्रह ज्ञान है। **(सुख बो. त. वृ. ३७)**

१५. प्रश्न : उक्त ज्ञान किसे कहते हैं ?

उत्तर : ''अग्नि को लाओ'' ऐसा किसी के कहने पर अग्नि को खप्पर आदि में लाने का उपाय स्वयं नहीं सोच पाता है, पर के कहने पर ही उस उपाय को करता है वह उक्त अवग्रह है। **(सुख बो.त. वृ. ३७)**

कहे हुए पदार्थ को जानना उक्त अवग्रह है, जैसे 'यह घट है' ऐसा कहने पर घट को जानता है। **(गो. जी. जी. ३११)** नियमित गुणविशिष्ट द्रव्य का ग्रहण करना उक्त अवग्रह है जैसे चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा धवल अर्थ का ग्रहण करना और घ्राण इन्द्रिय के द्वारा सुगन्ध द्रव्य का ग्रहण करना। **(ध. पु. ६/२०)**

१६. प्रश्न : उक्त और नि:सृत में क्या विशेषता है ?

उत्तर : परोपदेश पूर्वक शब्दों का ग्रहण उक्त हैं, जैसे ''यह गाय है'' ऐसा शब्द सुनकर गौ का ज्ञान होता है और अपने आप गाय को देखकर गाय का ज्ञान होना नि:सृत है। **(रा.वा. १६)** उक्त और नि:सृत में कोई विशेषता नहीं है ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि उक्त प्रत्यय नि:सृत और अनि:सृत दोनों रूप है अत: उसका नि:सृत के साथ एकत्व होने का विरोध है। **(ध. पु. ९/१५४)**

१७. प्रश्न : अनुक्त और अनि:सृत ज्ञान में क्या अन्तर है ?

उत्तर : अनुक्त अवग्रह अनि:सृत अवग्रह के अन्तर्गत नहीं है क्योंकि एक वस्तु के ग्रहण काल में ही उससे पृथग्भूत वस्तु का, उपरिम भाग में ग्रहणकाल में ही परभाग का और अंगुलि के ग्रहणकाल में ही देवदत्त का ग्रहण करना अनि:सृत अवग्रह है। (और चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा रूप का ग्रहण करके रस का ग्रहण करना अनुक्त अवग्रह है।) **(ध. पु. ६/२०)**

१८. प्रश्न : ध्रुव ज्ञान किसे कहते हैं ?

उत्तर : संक्लेश परिणाम से निरुत्सुक प्राणी के यथानुरूप श्रोत्रेन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम आदि परिणाम रूप कारणों से जैसा प्रथम समय में शब्द ग्रहण करता है वैसा ही दूसरे आदि समय में ग्रहण करता है, न न्यून ग्रहण करता है और न अधिक, उसे ध्रुव कहते हैं। **(रा.वा. १६)**[१]

---

१. ध्रुवग्रहण नित्य पदार्थों का ग्रहण। जैसे आकाश, धर्मास्तिकाय आदि का ग्रहण। **(पं. सं. प्रा. १/२)**

नित्यत्व विशिष्ट स्तम्भ आदि का ज्ञान स्थिर अर्थात् ध्रुवप्रत्यय है। ऐसा भी निश्चय नहीं करना चाहिए कि स्थिर (ध्रुव) प्रत्यय एकान्त रूप है क्योंकि विधि निषेध के द्वारा यहाँ पर भी अनेकान्त की विषयता देखी जाती है। **(ध. पु. १३/२३९)** ''वह यही है'' इत्यादि प्रकार से ग्रहण करने को ध्रुवावग्रह कहते हैं। **(ध. १/३५९)**

१९. प्रश्न : अध्रुव ज्ञान किसे कहते हैं ?

उत्तर : बिजली, दीपक की लौ आदि में उत्पाद-विनाश युक्त वस्तु का ज्ञान अध्रुव प्रत्यय है। उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य युक्त वस्तु का ज्ञान भी अध्रुव प्रत्यय है, क्योंकि यह ज्ञान ध्रुवज्ञान से भिन्न है। **(ध. १३/२३९)** पुन: पुन: संक्लेश और विशुद्ध परिणामों से स्वीकृत श्रोत्रेन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम का ईषद्-ईषद् आविर्भाव होने से पुन: पुन: प्रकृष्टाप्रकृष्ट श्रोत्रेन्द्रियावरण के क्षयोपशम के कारण अध्रुव रूप को ग्रहण करता है, कभी बहु शब्द को ग्रहण करता है, कभी अल्प को, कभी एकविध रूप को, कभी एक रूप को, कभी क्षिप्र, कभी अक्षिप्र, कभी नि:सृत, कभी अनि:सृत, कभी अनुक्त, कभी उक्त को ग्रहण करता है इसलिए इसको अध्रुव कहते हैं। इसी प्रकार घ्राणादि इन्द्रियों में लगाना चाहिए। **(रा.वा. १६)** ''वह यह नहीं है'' इस प्रकार से ग्रहण करने को अध्रुवावग्रह कहते हैं। **(ध. १/३५९)**

२०. प्रश्न : ध्रुवावग्रह और धारणा में क्या अन्तर है ?

उत्तर : क्षयोपशम की प्राप्ति के समय विशुद्ध परिणामों की परम्परा के कारण प्राप्त हुए क्षयोपशम से प्रथम समय में जैसा अवग्रह होता है वैसा ही द्वितीयादिक समयों में भी होता है, न न्यून होता है न अधिक, यह ध्रुवावग्रह है। किन्तु धारणा तो गृहीत अर्थ के नहीं भूलने के कारणभूत ज्ञान को कहते हैं, अत: ध्रुवावग्रह और धारणा में बड़ा अन्तर है। **(सर्वा. १९६)**

२१. प्रश्न : सूत्र में बहु आदि को प्रधानता से एवं अल्पादि को गौण रूप से ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : बहु, बहुविध आदि ज्ञानों की प्राप्ति में ज्ञानावरण कर्म के विशिष्ट क्षयोपशम की आवश्यकता होती है एवं बहु आदि का ज्ञान हो जाने पर अल्प, अल्पविध आदि ज्ञानों को प्राप्त करने में सुगमता हो जाती है इसलिए सूत्र में बहु आदि का मुख्यता से एवं अल्प आदि का गौण रूप से ग्रहण किया गया है। **(श्लो. ३/४७८)**

२२. प्रश्न : अनि:सृत और अनुक्त शब्दों का अवग्रहादि रूप ज्ञान कैसे होता है ?

उत्तर : अनि:सृत और अनुक्त शब्दों के अवग्रहादि होने में कोई बाधा नहीं है क्योंकि इन इन्द्रियों से भी किसी-न-किसी रूप में पदार्थों का सम्बन्ध अवश्य हो जाता है, जैसे चींटी आदि को घ्राण और रसना के प्रदेश का साक्षात् सम्बन्ध न होने पर भी सुदूरवर्ती गुड़ आदि द्रव्य में गन्ध और रस का ज्ञान हो जाता है; क्योंकि वहाँ अत्यन्त सूक्ष्म जिन्हें हम देख नहीं सकते ऐसे गुड़ आदि द्रव्यों के अवयवों के साथ

पिपीलिकादि की घ्राण और रसना इन्द्रिय में किसी भी अन्य पदार्थ के बिना प्रवृत्ति हो जाती है अर्थात् सूक्ष्म गुड़ के अवयवों का चींटी आदि की इन्द्रियों के साथ जैसे सम्बन्ध हो जाता है वैसे ही अनुक्त और अनि:सृत का भी ज्ञान स्पर्शन आदि इन्द्रियों से हो जाता है, इसमें कोई दोष नहीं है। **(रा.वा. १७.१८)**

२३. प्रश्न : क्षिप्र और अध्रुव में क्या अन्तर है ?

उत्तर : बहुत कम समय या शीघ्र ही ग्रहण कर लेना क्षिप्र ज्ञान है और चलित-चंचल पदार्थ को ग्रहण करना अध्रुव ज्ञान है। **(श्लोक ३/४७६)**

बहु आदि किसके विशेषण हैं, उसे कहते हैं -

अर्थस्य ॥१७॥

अर्थ - ये बहु आदि विशेषण पदार्थ के होते हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किस प्रयोजन से लिखा गया है ?

उत्तर : बहु, बहुविध और इतर अल्प, अल्पविध आदि धर्म किस धर्मी के हैं ? ऐसी शंका होने पर इसका निराकरण करने के लिए यह सूत्र लिखा है अथवा जो कोई धर्म को मानते हुए भी धर्मी को नहीं मानते हैं उनके मत का खण्डन करने के लिए यह सूत्र लिखा है कि ये बहु आदि ज्ञान सामान्य-विशेषात्मक पदार्थों के होते हैं। **(श्लोक. ३/५०७-८)**

यद्यपि बहु आदिक अर्थ ही हैं तो भी अन्य वादियों की कल्पना का निराकरण करने के लिए **'अर्थस्य'** सूत्र कहा है। कितने ही प्रवादी मानते हैं कि रूपादि गुण ही इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं। अत: उन्हीं का ग्रहण होता है किन्तु उनका ऐसा मानना ठीक नहीं है क्योंकि वे रूपादि गुण अमूर्त्त हैं अत: उनका इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता है। **(सर्वा. १९८)**

२. प्रश्न : यदि रूपादि गुण अमूर्त्त हैं तो मैंने रूप देखा, मैंने गंध सूंघा, 'यह व्यवहार नहीं हो सकता, किन्तु होता है', इसका क्या कारण है ?

उत्तर : जो पर्यायों को प्राप्त होता है या पर्यायों के द्वारा जो प्राप्त किया जाता है, वह अर्थ है। इसके अनुसार अर्थ द्रव्य ठहरता है। उसके इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध को प्राप्त होने पर चूंकि रूपादिक उससे अभिन्न है अत: रूपादिक में भी ऐसा व्यवहार बन जाता है कि मैंने रूप देखा, मैंने गन्ध सूंघा, आदि **(सर्वा. १९८)**

३. प्रश्न : अर्थ किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो अन्तरंग एवं बहिरंग निमित्त के कारण से उत्पत्ति के प्रति तत्पर स्वकीय पर्यायों को प्राप्त होता है वा पर्यायों के द्वारा प्राप्त किया जाता है उसे अर्थ कहते हैं और वह अर्थ ही द्रव्य है। **(रा.वा.१)**

४. प्रश्न : सूत्र में 'अर्थ' पद का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : अर्थ का ग्रहण गुण-ग्रहण की निवृत्ति के लिए है। नैयायिक कहता है कि रूपादि गुण ही इन्द्रियों के द्वारा गृहीत होते हैं, इसलिए रूपादि गुणों का ही ग्रहण मानना चाहिए और कोई दूसरा द्रव्य नहीं है। नैयायिक के इस मत का निराकरण करने के लिए **'अर्थस्य'** यह कहा गया है क्योंकि अमूर्त्तिक रूपादि गुणों का इन्द्रियों से सम्बन्ध नहीं हो सकता है। **(रा.वा. २)**

५. प्रश्न : पंचेन्द्रिय के विषय रूप पदार्थ होने पर ही मतिज्ञान उत्पन्न होता है अत: 'अर्थस्य' यह षष्ठी विभक्ति न होकर 'अर्थे' यह सप्तमी होनी चाहिए ?

उत्तर : ऐसा नहीं कहना चाहिए। यह एकान्त नहीं है कि पदार्थ के होने पर ज्ञान होता है क्योंकि अवनितल भवन (तलघर) में संभूत, उसी में वृद्धिंगत बालक के घट के सामने रहने पर भी घट या घट सम्बन्धी रूपादि मतिज्ञान का अभाव है। अथवा - यह भी एकान्त नहीं है कि अधिकरण का सत्व होने से सप्तमी विभक्ति का प्रसंग हो क्योंकि यहाँ सप्तमी की विवक्षा नहीं है जब कि विवक्षा के अनुसार ही कारक होते हैं। **(रा.वा. ४)**

६. प्रश्न : बहु आदि के साथ सामान्य अधिकरण होने से बहुवचन होना चाहिए ?

उत्तर : ऐसा नहीं कहना चाहिए। बहु आदि के साथ अर्थ का सम्बन्ध नहीं करना चाहिए, अपितु अवग्रहादि के साथ अर्थ का सम्बन्ध करना चाहिए। अर्थ के विशेषण के लिए बहु आदि का ग्रहण करना चाहिए। अथवा सर्व के ही अर्यमाणत्व होने से अर्थपना है। अथवा अर्यते इति अर्थ: अर्यते गम्यते ज्ञानविषयी क्रियते इति अर्थ:। जो जाना जाता है - ज्ञान का विषय किया जाता है वह अर्थ है। बहु आदि सभी ज्ञान के विषय होने के कारण अर्थ हैं। अत: जाति की प्रधानता से निर्दिष्ट होने से **'अर्थस्य'** इस प्रकार एक वचन का निर्देश किया **अथवा** - प्रत्येक के साथ सम्बन्ध होने से एक वचन का निर्देश है अथवा बहु आदि एक से एक वचन वाले 'अर्थ' का सम्बन्ध कर लेना चाहिए। जैसे बहु अर्थ का अवग्रह बहुविध अर्थ का अवग्रह आदि। **(रा.वा. ७-९)**

अवग्रह के विशेष कहते हैं -

व्यंजनस्यावग्रह: ॥१८॥

व्यंजनस्य-अवग्रह:।

(व्यंजनस्य) व्यंजन **(अव्यक्त पदार्थ)** का **(अवग्रह:)** अवग्रह ही होता है।

अर्थ - अव्यक्त पदार्थ का अवग्रह ही होता है ईहादि नहीं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : अवग्रह ही होता है ईहादि नहीं होते, इस प्रकार का नियम करने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(सर्वा. २००)**

अवग्रहादि सभी इन्द्रिय और मन से होते हैं या इनमें विषय की अपेक्षा कुछ भेद है। ऐसी आशंका का निराकरण इस सूत्र के द्वारा किया गया है। **(रा.वा. ३)**

२. प्रश्न : व्यंजनावग्रह किसे कहते हैं ?

उत्तर : व्यक्त ग्रहण से पहले व्यंजनावग्रह होता है। **(सर्वा. २००)** प्राप्त अर्थ के ग्रहण करने को व्यंजनावग्रह कहते हैं, जैसे स्पर्शनेन्द्रिय के द्वारा स्पर्श को ग्रहण करना। **(ध. ६/१६)** व्यक्त शब्दादि के समूह को व्यंजन कहते हैं। छूकर जो रस, स्पर्श, शब्द और गन्ध विषय का ग्रहण होता है, उसे व्यंजनावग्रह निर्दिष्ट किया गया है। **(ज.प. १३/६७)**

३. प्रश्न : अर्थावग्रह किसे कहते हैं ?

उत्तर : अप्राप्त अर्थ के ग्रहण करने को अर्थावग्रह कहते हैं। **(ध. ६/१६)** जो चक्षु आदि इन्द्रियों तथा मन के द्वारा विषयों का ग्रहण होता है उसे संक्षेप से अर्थावग्रह ज्ञान जानना चाहिए। **(ज.प. १३/६६)** व्यक्त ग्रहण अर्थावग्रह होता है। **(सर्वा. २००)**

४. प्रश्न : सूत्र में एवकार का अभाव है अत: कैसे जाना जाता है कि अव्यक्त पदार्थ का अवग्रह ही होता है ?

उत्तर : 'किसी कार्य के सिद्ध रहते हुए यदि उसका विधान पुन: किया जाता है तो वह नियम के लिए होता है' इस नियम के अनुसार सूत्र में एवकार न करने पर भी वह नियम का प्रयोजक हो जाता है। **(सर्वा. २००)**

सूत्र में एवकार नहीं रहने पर भी सामर्थ्य से अवधारणा की प्रतीति हो जाती है। जैसे पानी पीता है। इस वाक्य में एवकार नहीं रहने पर भी अवधारणात्मक ज्ञान से 'पानी ही पीता है' ऐसा ज्ञान हो जाता है, उसी प्रकार सूत्र में एवकार नहीं होने पर भी अवग्रह ही होता है ऐसी अवधारणा समझ लेनी चाहिए। **(रा.वा.१)**

५. प्रश्न : व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह में क्या अन्तर है ?

उत्तर : व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह में अव्यक्त ग्रहण और व्यक्त ग्रहण की अपेक्षा अन्तर है। जैसे माटी का नया सकोरा जल के दो तीन कणों से सींचने पर गीला नहीं होता और पुन: पुन: सींचने पर वह धीरे-धीरे गीला हो जाता है, इसी प्रकार श्रोत्र आदि इन्द्रियों के द्वारा किये गये शब्दादि रूप पुद्गल स्कन्ध दो, तीन समय में व्यक्त नहीं होते हैं, किन्तु पुन:पुन: ग्रहण होने पर वे व्यक्त हो जाते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि व्यक्त ग्रहण से पहले-पहले व्यंजनावग्रह होता है और व्यक्त अवग्रह का नाम अर्थावग्रह है। **(रा.वा. २)**

६. प्रश्न : जिस प्रकार इन्द्रियों से स्पष्ट अर्थ ग्रहण करने वाला अर्थावग्रह है उसी प्रकार व्यंजनावग्रह भी स्पष्ट ग्रहण करने वाला क्यों नहीं है ?

उत्तर : अव्यक्त अर्थ का ज्ञान करते समय स्पष्ट रूप से जानने के योग्य क्षयोपशम का अभाव होता है इसलिए व्यंजनावग्रह अस्पष्ट स्वरूप सामान्य पदार्थ को ही ग्रहण करता है, स्पष्ट रूप विशेष पदार्थ को नहीं। **(श्लो. ३/५१७)**

७. **प्रश्न : अवग्रह कितने प्रकार का होता है ?**

उत्तर : अवग्रह दो प्रकार का है -

(१) अर्थावग्रह (२) व्यंजनावग्रह । **(ध. १/३५६)** अथवा

(१) विशदावग्रह (२) अविशदावग्रह। **(ध. ९/१४५)**

८. **प्रश्न : विशदावग्रह और अविशदावग्रह किसे कहते हैं?**

उत्तर : विशदावग्रह - विशद अवग्रह निर्णय रूप होता हुआ अनियम से ईहा, अवाय और धारणा ज्ञान की उत्पत्ति का कारण है।

अविशदावग्रह - भाषा, आयु व रूपादि विशेषों को ग्रहण न करके व्यवहार के कारणभूत पुरुष मात्र के सत्त्वादि विशेष को ग्रहण करने वाला तथा अनियम से जो ईहा आदि की उत्पत्ति में कारण है वह अविशदावग्रह है। **(ध. ९/१४५)**

व्यंजनावग्रह के स्वामी बताते हैं -

न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम् ॥१९॥

न चक्षुः अनिन्द्रियाभ्याम्।

व्यंजनावग्रह **(चक्षुरनिन्द्रियाभ्यां)** चक्षु और मन के द्वारा (न) नहीं होता है।

अर्थ - चक्षु और मन के द्वारा व्यंजनावग्रह नहीं होता है।

१. **प्रश्न : यह सूत्र किसलिए लिखा गया है ?**

उत्तर : पूर्व में कहे गये 'व्यंजनस्यावग्रहः' इस सूत्र से चक्षु और मन के निमित्त से भी व्यंजनावग्रह हो जाने का प्रसंग आता है जो कि इष्ट नहीं है। अतः उस अनिष्ट की निवृत्ति के लिए यह सूत्र लिखा गया है। **(श्लो. ३/५२८)**

अविशेष से सर्व इन्द्रियों के द्वारा व्यंजनावग्रह के ग्रहण का प्रसंग होने पर जिन इन्द्रियों से व्यंजनावग्रह होना असंभव है उनका प्रतिषेध करने के लिए यह सूत्र कहा है। **(रा.वा.उ. सू. १९)**

२. **प्रश्न : चक्षु और मन के द्वारा व्यंजनावग्रह क्यों नहीं होता है ?**

उत्तर : अप्राप्यकारी होने से चक्षु और मन से व्यंजनावग्रह का अभाव है क्योंकि चक्षु अप्राप्त, दूरस्थित योग्य सन्निकर्ष देश में अवस्थित और बाह्य प्रकाश से अभिव्यक्त पदार्थ को जानती है और मन भी अप्राप्त अर्थ को जानता है इसलिए इन दोनों से व्यंजनावग्रह नहीं होता है। **(रा.वा. १)**

३. प्रश्न : चक्षु इन्द्रिय अप्राप्यकारी है, यह कैसे जाना जाता है ?

उत्तर : आगम और युक्ति से जाना जाता है कि चक्षु-इन्द्रिय अप्राप्यकारी है। **आगम** से श्रोत्र स्पृष्ट शब्द को सुनता है, नेत्र अस्पृष्ट रूप को ही देखता है तथा घ्राण, रसना और स्पर्शन इन्द्रियाँ क्रम से स्पृष्ट गन्ध, रस और स्पर्श को ही जानती हैं।

युक्ति से - चक्षु इन्द्रिय अप्राप्तकारी है क्योंकि वह स्पृष्ट पदार्थ को ग्रहण नहीं करती। यदि चक्षु इन्द्रिय प्राप्यकारी होती तो वह त्वचा इन्द्रिय के समान स्पृष्ट हुए अंजन को ग्रहण करती किन्तु वह स्पृष्ट अंजन को ग्रहण नहीं करती है, इससे मालूम होता है कि मन के समान चक्षु इन्द्रिय अप्राप्यकारी है। **(सर्वा.२०३-४)**

४. प्रश्न : चक्षु को प्राप्यकारी कहना चाहिए क्योंकि वह ढके हुए पदार्थ को नहीं देखती ?

उत्तर : यह पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि चक्षु काँच, अभ्रक, स्फटिक आदि से आवृत ढके हुए पदार्थों का अवग्रह करती है। अत: इस पक्ष में ही अव्यापक होने से **हेतु असिद्ध** है। जैसे वनस्पति में चैतन्य सिद्ध करने के लिए दिया जाने वाला ''स्वाप-सोना'' हेतु। क्योंकि किन्हीं वनस्पतियों में पत्र का संकोच आदि चिह्नों से सोना स्पष्ट जाना जाता है और किन्हीं के नहीं। तथा यह **हेतु संशय** भी है क्योंकि अप्राप्यकारी लोह चुम्बक साध्य विपक्ष में भी देखा जाता है। अर्थात् चुम्बक तो दूर से लोहे को खींचने के कारण अप्राप्यकारी है फिर भी वह ढके हुए लोहे को नहीं खींचता है। अत: संशय भी होता है कि आवृत को नहीं देखने के कारण चक्षु इन्द्रिय स्पर्शन की तरह प्राप्यकारी है या चुम्बक के समान अप्राप्यकारी **(रा.वा. २)**

५. प्रश्न : इन्द्रियाँ और मन पदार्थ को किस प्रकार जानते हैं ?

उत्तर : पुट्ठं सुणेइ सद्दं अप्पुट्ठं चेय पस्सदे रूवं।
गंधं रसं च फासं बद्धं पुट्ठं च जाणादि॥५८॥

चक्षु रूप को अस्पृष्ट ही ग्रहण करती है, च शब्द से मन भी अस्पृष्ट ही वस्तु को ग्रहण करता है। शेष इन्द्रियाँ गन्ध, रस और स्पर्श को बद्ध व स्पृष्ट ग्रहण करती हैं, च शब्द से अस्पृष्ट भी ग्रहण करती हैं। 'स्पृष्ट शब्द को सुनता है' यहाँ भी बद्ध और च शब्दों को जोड़ना चाहिए, क्योंकि ऐसा न करने से दूषित व्याख्यान की आपत्ति आती है। **(ध. ९/१६०)**

६. प्रश्न : अप्रत्यक्ष मन कैसे जाना जाता है ?

उत्तर : अनुमान ज्ञान से मन जाना जाता है। लोक में अप्रत्यक्ष पदार्थों की जानकारी अनुमान से होती है। जैसे सूर्य का गमन, वनस्पतियों का वृद्धि-ह्रास। वैसे ही मन का अस्तित्व अनुमान से जाना जाता है। **(रा.वा. ५)**

शक्तिमान चक्षु आदि इन्द्रियों के होने पर भी रूपादि बाह्य पदार्थों की उपस्थिति तथा उनके युगपत् जानने का प्रयोजन होने पर भी जिसके नहीं होने से युगपत् ज्ञान और क्रिया नहीं होती, वही मन है ऐसा अनुमान से जाना जाता है। **(रा.वा. ६)**

जिससे एक बार देखे हुए और सुने हुए पदार्थों का अनुस्मरण होता है अत: उस अनुस्मरण के देखने से ही मन का अस्तित्व जाना जाता है। **(रा.वा. ७)**

७. प्रश्न : मतिज्ञान द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा कितना-कितना जानता है ?

उत्तर : मतिज्ञान द्रव्य दृष्टि से किसी के उपदेश से सभी द्रव्यों की कुछ पर्यायों को जानता है। क्षेत्र की दृष्टि से उपदेश से सभी क्षेत्र को जानता है। **अथवा -** क्षेत्र का अर्थ विषय है। चक्षु इन्द्रिय का उत्कृष्ट क्षेत्र विषय - सैंतालीस हजार दो सौ त्रेसठ योजन तथा इक्कीस योजन के साठ भाग में से एक भाग है। **(४७२६३ $\frac{२१}{६०}$ योजन)**

कर्णेन्द्रिय का उत्कृष्ट क्षेत्र - बारह योजन।

घ्राण, रसना, स्पर्शन का उत्कृष्ट क्षेत्र - नव योजन।

अर्थात् चक्षु आदि इन्द्रियाँ इतने दूर तक की वस्तु को देख सकती हैं, सुन सकती हैं, गंध ले सकती हैं।

काल की दृष्टि से उपदेश के द्वारा सर्वकाल को जानता है।

भाव की अपेक्षा औदयिकादि भावों को जानता है। **(रा.वा. ९)**

८. प्रश्न : बहु आदि विषयों की अपेक्षा मतिज्ञान कितने प्रकार का है।

उत्तर : मतिज्ञान सामान्य से एक है, इन्द्रिय-अनिन्द्रिय की अपेक्षा दो प्रकार का है। अवग्रहादि के भेद से चार प्रकार का है। अवग्रहादि को पाँच इन्द्रिय और मन से गुणा करने पर मतिज्ञान चौबीस प्रकार का है। इसमें व्यंजनावग्रह के चार भेद मिला देने पर मतिज्ञान के अट्ठाईस **(२८)** भेद हैं। इन अट्ठाईस भेदों में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव या सामान्य अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ज्ञान के मिलाने से मतिज्ञान के बत्तीस भेद होते हैं। इन तीनों विकल्पों **(२४, २८, ३२)** को बहु आदि छह भेदों से गुणा करने पर क्रमश: १४४, १६८, १९२ भेद मतिज्ञान के हो जाते हैं और इन तीनों विकल्पों को बहु आदि बारह विकल्पों से गुणा करने पर क्रमश: २८८, ३३६, ३८४ भेद भी होते हैं। **(रा.वा. ९)**[१]

---

१. पाँच इन्द्रियों संबंधी २७ और एक मन इस प्रकार २८ भेद करके इनमें गुणा करें तो भी मतिज्ञान के भेद बन सकते हैं।

२८८ × २८ = ८०३४।

३३६ × २८ = ९४०८।

३८४ × २८ = १०७५२।

मतिज्ञान

१			२		३		४	
अवग्रह			ईहा		अवाय		धारणा	
व्यञ्जनावग्रह		अर्थावग्रह						
बहु	स्पर्शन, रसना, घ्राण, कर्ण	बहु	बहु	स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण, मन	बहु	स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण, मन	बहु	स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण, मन
बहुविध		बहुविध	बहुविध		बहुविध		बहुविध	
क्षिप्र		क्षिप्र	क्षिप्र		क्षिप्र		क्षिप्र	
अनि:सृत		अनि:सृत	अनि:सृत		अनि:सृत		अनि:सृत	
अनुक्त		अनुक्त	अनुक्त		अनुक्त		अनुक्त	
ध्रुव		ध्रुव	ध्रुव		ध्रुव		ध्रुव	
एक		एक	एक		एक		एक	
एकविध		एकविध	एकविध		एकविध		एकविध	
अक्षिप्र		अक्षिप्र	अक्षिप्र		अक्षिप्र		अक्षिप्र	
नि:सृत		नि:सृत	नि:सृत		नि:सृत		नि:सृत	
उक्त		उक्त	उक्त		उक्त		उक्त	
अध्रुव		अध्रुव	अध्रुव		अध्रुव		अध्रुव	
१२×४		१२×६	१२×६		१२×६		१२×६	
४८	+	७२	+	७२	+	७२	+	७२

९. प्रश्न : व्यंजनावग्रह कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : व्यंजनावग्रह सामान्य से (चक्षु और मन के बिना) चार इन्द्रियों की अपेक्षा से उत्पन्न होने के कारण चार प्रकार का है। इनको बहु आदि छह से गुणा करने पर (६×४) चौबीस प्रकार का एवं बहु आदि बारह से गुणा करने पर (१२×४) अड़तालीस प्रकार का होता है।

१०. प्रश्न : अर्थावग्रह कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : सम्पूर्ण मतिज्ञान के भेदों में से व्यंजनावग्रह के भेदों को घटा देने पर अर्थावग्रह के २८८-४८=२४०, ३३६-४८=२८८, ३८४-४८=३३६ भेद होते है।

श्रुतज्ञान के कारण एवं भेदों को कहते हैं -

श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम् ॥२०॥

श्रुतं-मतिपूर्वं-द्वि-अनेक-द्वादश-भेदम्।

(श्रुतं) श्रुतज्ञान **(मतिपूर्वं)** मतिज्ञान पूर्वक होता है। उसके **(द्व्यनेक द्वादश भेदम्)** दो, अनेक और बारह भेद होते हैं।

अर्थ - श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक[1] होता है। उसके दो भेद होते हैं, उनमें से पहले अंग बाह्य श्रुतज्ञान के अनेक एवं अंगप्रविष्ट के बारह भेद होते हैं।

१. प्रश्न : इस सूत्र की रचना किस प्रयोजन से की गई है ?

उत्तर : परोक्ष श्रुतज्ञान का निमित्त कारण क्या है और उस श्रुतज्ञान के भेद कौन-कौन से और कितने हैं तथा उस परोक्ष श्रुतज्ञान के भेदों के भी प्रभेद कौन-कौन से हैं, इस प्रकार की जिज्ञासाओं का निर्णय करने के लिए इस सूत्र की रचना की गई है। **(श्लो. ३/५९७)**

२. प्रश्न : श्रुतज्ञान कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : श्रुतज्ञान दो प्रकार का है- (१) शब्द लिंगज (२) अर्थ लिंगज। **(गो. जी. जी. ३१५)**

(२) अक्षरात्मक श्रुतज्ञान (२) अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान। **(गो.जी.जी. ३१५)**

(१) द्रव्य श्रुत (२) भाव श्रुत। **(गो. जी.जी. ३४८)**

(१) प्रमाण रूप (२) नय रूप। **(पं. का. ता. ४३)**

श्रुतज्ञान तीन प्रकार का भी है -

(१) लब्धि रूप श्रुतज्ञान (२) भावना रूप श्रुतज्ञान (३) उपयोग। **(पं. का. ता. ४३)**

---

१. पूरयति अर्थात् जो सम्पादन करता है, पैदा करता है, उसे पूर्व कहते हैं। इस तरह कारण का नाम पूर्व होता है।

श्रुतज्ञान चार प्रकार का भी है -

(१) प्रथमानुयोग (२) चरणानुयोग (३) करणानुयोग (४) द्रव्यानुयोग **(वृ.द्र.सं. टी. ४२)**

(१) प्रथमानुयोग (२) करणानुयोग (३) चरणानुयोग (४) द्रव्यानुयोग। **(र. क. श्रा. ४३-४६)**

३. प्रश्न : शब्द लिंगज एवं अर्थ लिंगज श्रुतज्ञान किसे कहते हैं ?

उत्तर : शब्द लिंगज श्रुतज्ञान दो प्रकार का है - लौकिक और लोकोत्तर।

(१) लौकिक शब्द लिंगज श्रुतज्ञान - सामान्य पुरुष के मुख से निकले हुए वचन समुदाय से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह लौकिक शब्द लिंगज श्रुतज्ञान है।

(२) लोकोत्तर शब्द लिंगज श्रुतज्ञान - असत्य बोलने के कारणों से रहित पुरुष के मुख से निकले हुए वचन समुदाय से जो श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है वह लोकोत्तर शब्द लिंगज श्रुत-ज्ञान है।

अर्थ लिंगज/श्रुतज्ञान - धूमादिक पदार्थरूप लिंग से जो श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है वह अर्थ लिंगज श्रुतज्ञान है। इसका दूसरा नाम अनुमान भी है। **(ज. ध. १/३४१)**

४. प्रश्न : अक्षरात्मक एवं अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान किसे कहते हैं ?

उत्तर : अक्षरात्मक श्रुतज्ञान - 'जीव: अस्ति' ऐसा शब्द कहने पर कर्ण इन्द्रिय रूप मतिज्ञान के द्वारा 'जीव: अस्ति' यह शब्द ग्रहण किया गया। इस शब्द से जो 'जीव नामक पदार्थ है' ऐसा ज्ञान हुआ सो श्रोत्रेन्द्रिय से उत्पन्न मतिज्ञान है। इस शब्द के वाच्य रूप आत्मा के अस्तित्व में वाच्य वाचक सम्बन्ध के संकेत ग्रहण पूर्वक जो ज्ञान उत्पन्न है वह अक्षरात्मक श्रुतज्ञान है, क्योंकि अक्षरात्मक शब्द से उत्पन्न हुआ है, इस प्रकार कार्य में कारण का उपचार किया है।

अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान - परमार्थ ज्ञान कोई अक्षर रूप नहीं है। जैसे 'शीतल पवन का स्पर्श होने पर' तहाँ शीतल पवन का जानना तो मतिज्ञान है और उस ज्ञान से वायु की प्रकृति वाले को 'यह पवन अनिष्ट है' ऐसा जानना श्रुतज्ञान है। सो यह अनक्षरात्मक लिंगजन्य श्रुतज्ञान है। क्योंकि यह अक्षर के निमित्त से उत्पन्न नहीं हुआ है। **(गो. जी. जी. ३१६)**

५. प्रश्न : द्रव्य एवं भावश्रुत किसे कहते हैं ?

उत्तर : द्रव्यश्रुत - पुद्गल द्रव्यस्वरूप वर्ण, पद, वाक्यात्मक द्रव्य श्रुत है। आचारांग आदि बारह अंग, उत्पाद पूर्व आदि चौदह पूर्व और चकार से सामायिकादि चौदह प्रकीर्णक का स्वरूप द्रव्यश्रुत जानना।

भावश्रुत - द्रव्यश्रुत के सुनने से उत्पन्न हुआ जो ज्ञान है सो भावश्रुत है। अक्षर, पदादि को सुनने से श्रुतज्ञान ही अनक्षरात्मक पर्याय और पर्यायसमास ज्ञानों को मिलाने पर बीस प्रकार का श्रुतज्ञान होता है। **(गो. जी. जी. ३४८)**

६. प्रश्न : लोकोत्तर शब्द लिंगज श्रुतज्ञान कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : लोकोत्तर शब्द लिंगज श्रुतज्ञान दो प्रकार का है-

अंगबाह्य - श्रुत अर्थ के ज्ञाता गणधर देव के शिष्य-प्रशिष्यों के द्वारा कालदोष से अल्प आयु और अल्प बुद्धि वाले प्राणियों के अनुग्रह के लिए अंगों के आधार से रचे गये संक्षिप्त ग्रन्थ अंगबाह्य हैं। **(रा.वा.१३)**

अंगप्रविष्ट : भगवान अर्हन्त सर्वज्ञ देवरूपी हिमाचल से निकली हुई वचनरूपी गंगा के अर्थ रूपी निर्मल जल से प्रक्षालित है अन्त:करण जिनका ऐसे बुद्धि आदि ऋद्धियों के धनी गणधरों के द्वारा ग्रन्थरूप से रचित आचारादि बारह अंगों को अंगप्रविष्ट कहते हैं, जैसे - आचारांग, सूत्रकृतांग आदि। **(रा.वा. १२)** यह गणधरों द्वारा सर्वज्ञ की वाणी से रचा गया श्रुत है। यह ११ अंग और १४ पूर्वरूप होता है। **(हरि. पु. २/९२-१००)**

७. प्रश्न : अंगबाह्य श्रुतज्ञान कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : अंगबाह्य श्रुतज्ञान कालिक, उत्कालिक आदि के भेद से अनेक प्रकार का है।

कालिक - स्वाध्याय काल में जिनके पठन-पाठन का नियम है वे कालिक कहलाते हैं। **(रा.वा. १४)** जो श्रुतकाल आदि शुद्धिपूर्वक पढ़ा जाता है वह कालिक है। **(सुख. बो. त. वृ. ४२)**

उत्कालिक - जिनके पठन-पाठन का कोई नियत समय न हो वे उत्कालिक हैं। **(रा.वा. १४)** जिस श्रुत को पढ़ने में कालादि की शुद्धि का नियम नहीं है वे उत्कालिक हैं। **(सुख बो. त. वृ. ४२)** उत्तराध्ययन आदि अनेक प्रकार के अंगबाह्य ग्रंथ है। **(रा.वा. १४)**

८. प्रश्न : अंगबाह्य के कितने अर्थाधिकार हैं ?

उत्तर : अंग बाह्य के चौदह अर्थाधिकार हैं। अंगबाह्य के १४ भेद होते हैं –

(१) सामायिक (२) चतुर्विंशति स्तव (३) वन्दना (४) प्रतिक्रमण (५) वैनयिक (६) कृतिकर्म (७) दशवैकालिक (८) उत्तराध्ययन (९) कल्प व्यवहार (१०) कल्प्याकल्प (११) महाकल्प्य (१२) पुण्डरीक (१३) महापुण्डरीक (१४) निषिद्धिका।

सामायिक - जो समता भाव के विधान का वर्णन करता है वह सामायिक है।

चतुर्विंशतिस्तव - इसमें चौबीस तीर्थंकरों की वन्दना करने की विधि, उनके नाम, संस्थान, उत्सेध, पाँच महाकल्याणक, चौंतीस अतिशयों के स्वरूप और तीर्थंकरों की वन्दना की सफलता का वर्णन है।

वन्दना - यह एक जिनेन्द्र देव सम्बन्धी और उन एक जिनेन्द्र देव के अवलम्बन से जिनालय सम्बन्धी वन्दना का वर्णन करता है।

प्रतिक्रमण - यह सात प्रकार के प्रतिक्रमणों का वर्णन करता है।

वैनयिक - यह पाँच प्रकार के विनयों का वर्णन करता है।

कृतिकर्म - यह अरहन्त, सिद्ध, आचार्य और साधु की पूजाविधि का वर्णन करता है।

दशवैकालिक - यह दशवैकालिकों का वर्णन करता है तथा मुनियों की आचार विधि और गोचर विधि का भी वर्णन करता है।

उत्तराध्ययन - जिसमें अनेक प्रकार के उत्तर पढ़ने को मिलते हैं वह उत्तराध्ययन है। इसमें चार प्रकार के उपसर्ग कैसे सहन करने चाहिए, बाईस परीषहों को सहन करने की विधि क्या है, आदि प्रश्नों के उत्तरों का वर्णन है।

कल्प्य व्यवहार - यह साधुओं के योग्य आचरण का और अयोग्य आचरण के होने पर प्रायश्चित्त विधि का वर्णन करता है।

कल्प्याकल्प्य - द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा 'मुनियों के लिए यह योग्य है और यह अयोग्य है' इस तरह इन सबका वर्णन करता है।

महाकल्प्य - काल और संहनन का आश्रय कर साधु के योग्य द्रव्य और क्षेत्रादि का वर्णन करता है।

पुण्डरीक - भवनवासी आदि चार प्रकार के देवों में उत्पत्ति के कारण रूप दान, पूजा, तपश्चरण आदि अनुष्ठानों का वर्णन करता है।

महापुण्डरीक - समस्त इन्द्रों और प्रतीन्द्रों में उत्पत्ति के कारण रूप तपोविशेष आदि आचरण का वर्णन करता है।

निषिद्धिका - बहुत प्रकार के प्रायश्चित्त के प्रतिपादन करने वाले शास्त्र को निषिद्धिका कहते हैं। **(ध. १/९७-९९)**

९. प्रश्न : अनुमान आदि ज्ञान का पृथक् ग्रहण क्यों नहीं किया है ?

उत्तर : अनुमान आदि का अन्तर्भाव श्रुत में हो जाता है अत: उनका पृथक् उपदेश नहीं किया गया है। प्रत्यक्ष पूर्वक अनुमान तीन प्रकार का है -

(१) पूर्ववत् (२) शेषवत् (३) सामान्यतोदृष्ट।

पूर्ववत् - अग्नि और धूम के अविनाभाव को जिस व्यक्ति ने पहले ग्रहण कर लिया है, उसे पीछे धूम को देखकर अग्नि का ज्ञान होना पूर्ववत् अनुमान है।

शेषवत् - जिसने पूर्व में सींग और सींग वाले के सम्बन्ध को देखा है, पश्चात् सींग के रूप को देखकर सींग वाले का अनुमान होना शेषवत् अनुमान है।

सामान्यतोदृष्ट - देवदत्त की देशान्तर की प्राप्ति गमनपूर्वक देखकर सूर्य में देशान्तर प्राप्ति रूप हेतु से गति का अनुमान करना सामान्यतोदृष्ट अनुमान है।

इन तीनों प्रकार के अनुमानादिक का स्वप्रतिपत्ति काल में अनक्षर श्रुत में एवं पर-प्रतिपत्ति काल में अक्षरश्रुत में अन्तर्भाव होता है।

उपमान प्रमाण का भी स्वपर-प्रतिपत्ति विषय में अक्षर और अनक्षर श्रुत में अन्तर्भाव हो जाता है। **शब्द प्रमाण** तो श्रुत ही है। **ऐतिह्य प्रमाण** का भी **श्रुत प्रमाण** में अन्तर्भाव है।

अर्थापत्ति प्रमाण, संभव प्रमाण, अभाव प्रमाण इन सब अनुक्त अनुमान समान अर्थापत्ति प्रमाणों का पूर्व के समान श्रुतज्ञान में अन्तर्भाव हो जाता है। **(रा.वा. १५)**

१०. प्रश्न : उपमान, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, संभव प्रमाण एवं अभाव प्रमाण किसे कहते हैं ?

उत्तर : उपमान - 'गाय सरीखा गवय होता है' केवल सास्नारहित है। इस उपमान वाक्य को सुनकर जंगल में गवय को देखकर उससे गवय संज्ञा के सम्बन्ध को जान लेना उपमान है।

ऐतिह्य - 'भगवान ऋषभ ने यह कहा' इत्यादि प्राचीन परम्परागत तथ्य ऐतिह्य प्रमाण है।

अर्थापत्ति - प्रकृतिपुष्ट यह मानव दिन में नहीं खाकर भी जीता है। इस वाक्य को सुनकर अर्थात् यह 'रात्रि में खाता है' इस प्रकार रात्रिभोजन का ज्ञान कर लेना अर्थापत्ति है।

संभव प्रमाण - 'चार प्रस्थ का आढ़क होता है' इस ज्ञान के होने पर आधे आढ़क का एक कुड़व होता है, ऐसी संभावना संभव प्रमाण है।

अभाव प्रमाण - वनस्पतियों में स्नेह, पर्ण, फलादि के अभाव को देखकर अनुमान लगाना कि यहाँ वर्षा नहीं हुई है, यह अभाव प्रमाण है। **(रा.वा. १५)**

११. प्रश्न : अंगप्रविष्ट श्रुतज्ञान कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : अंगप्रविष्ट श्रुतज्ञान बारह प्रकार का होता है-

(१) आचारांग (२) सूत्रकृतांग (३) स्थानांग (४) समवायांग (५) व्याख्या प्रज्ञप्ति अंग (६) ज्ञातृधर्म कथांग (७) उपासकाध्ययनांग (८) अन्तकृद्दशांग (९) अनुत्तरोपपादिक दशांग (१०) प्रश्न व्याकरणांग (११) विपाक सूत्रांग (१२) दृष्टि प्रवादांग।

आचारांग - इसमें आठ प्रकार की शुद्धि, पाँच समिति, तीन गुप्ति रूप चर्या का विधान किया जाता है।

सूत्रकृतांग - जिसमें ज्ञान विनय, प्रज्ञापना, कल्प्य-अकल्प्य, छेदोपस्थापना आदि व्यवहार धर्म की क्रियाओं का निरूपण है वह सूत्रकृतांग है।

स्थानांग - जिसमें अर्थों के एक-एक, दो-दो आदि अनेक आश्रय रूप से पदार्थों का कथन किया जाता है, वह स्थानांग है।

समवायांग - जिसमें सर्व पदार्थों की समानता रूप से समवाय का विचार किया गया है, वह समवायांग है।

व्याख्याप्रज्ञप्ति - इस अंग में ''जीव है कि नहीं'' इत्यादि साठ हजार प्रश्नों का उत्तर या निरूपण है।

ज्ञातृधर्मकथांग - इस अंग में अनेक आख्यानों और उपाख्यानों का वर्णन है।

उपासकाध्ययनांग - इस अंग में श्रावक धर्म का विशेष रूप से विवेचन किया गया है।

अन्त:कृद्दशांग - संसार का अन्त जिन्होंने कर दिया है वे अन्तकृत् हैं। ऋषभादि चौबीस तीर्थंकरों के समय में दश-दश मुनि घोरोपसर्ग सहन करके अन्त:कृत् केवली हुए हैं। उन दस-दस मुनियों का वर्णन जिसमें है उसको अन्तकृद्दशांग कहते हैं। **अथवा** - अन्त:कृतों की दशा अन्तकृद्दशा, उसमें अर्हद्, आचार्य होने की विधि तथा सिद्ध होने वालों की अन्तिम विधि का वर्णन है।

अनुत्तरोपपादिकदशांग - उपपाद जन्म ही है प्रयोजन जिसका वह औपपादिक है। विजय आदि पाँच अनुत्तरों में उत्पन्न होने वालों को अनुत्तरोपपादिक कहते हैं। उन अनुत्तरोपपादिकों की दशा का वर्णन जिसमें किया जाता है उस अंग का नाम अनुत्तरोपपादिक दशा है। इस अंग में विजय आदि अनुत्तर विमानों की आयु, विक्रिया, क्षेत्र आदि का वर्णन है।

प्रश्नव्याकरणांग - इस अंग में युक्ति और नयों के द्वारा अनेक आक्षेप, विक्षेप रूप प्रश्नों का उत्तर है तथा उसमें सभी लौकिक और वैदिक अर्थों का निर्णय किया गया है।

विपाक सूत्रांग - इस अंग में पुण्य और पाप के विपाक का विचार है।

दृष्टिवादांग - इसमें तीन सौ त्रेसठ कुवादियों के मतों का निरूपण पूर्वक खण्डन है **(रा.वा. १२)**

नोट - ३६३ मतों का विशेष देखें **(८/१)**

१२. प्रश्न : समवाय कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : समवाय चार प्रकार के होते हैं-

(१) द्रव्य समवाय (२) क्षेत्र समवाय (३) काल समवाय (४) भाव समवाय।

द्रव्य समवाय - धर्म-अधर्म, लोकाकाश और एक जीव द्रव्य के तुल्य असंख्यात प्रदेश होने से इन्हें द्रव्य रूप समवाय कहा जाता है।

क्षेत्र समवाय - जम्बूद्वीप, सर्वार्थसिद्धि, अप्रतिष्ठान नरक, नन्दीश्वर द्वीप की वापिका ये सब एक लाख योजन विस्तार वाले होने से इनके क्षेत्र की दृष्टि से समवाय है।

काल समवाय - उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी ये दोनों दस कोड़ा कोड़ी सागर प्रमाण होने से इनका काल की दृष्टि से समवाय है।

भाव समवाय - क्षायिक सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन, यथाख्यात चारित्र ये सब अनन्त विशुद्धि रूप से भाव समवाय वाले हैं। **(रा.वा. १२)**

१३. प्रश्न : वर्द्धमान स्वामी के समय में होने वाले अन्तकृत केवली कौन-कौन से हैं ?

उत्तर : वर्द्धमान स्वामी के समय में होने वाले नमि, मतंग, सोमिल, रामपुत्र, सुदर्शन, यमलीक, वलीक, किष्कम्बल, पाल और अम्बष्ठपुत्र ये दस अन्तकृत केवली हुए हैं। **(रा.वा. १२)**

१४. प्रश्न : महावीर स्वामी के काल में कितने अनुत्तरोपपादिक हुए ?

उत्तर : महावीर स्वामी के समय में (१) ऋषिदास, (२) वान्य, (३) सुनक्षत्र, (४) कार्तिक, (६) नन्द, (७) नन्दन, (७) शालिभद्र, (८) अभय, (९) वारिषेण और (१०) चिलातपुत्र, ये दस मुनि घोर उपसर्ग सहन करके विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित एवं सर्वार्थसिद्धि में उत्पन्न हुए हैं। **(रा.वा.१२)**

१५. प्रश्न : अनुत्तरोपपादिकदशांग एवं अन्तकृद्दशांग में बताये गये दस प्रकार के उपसर्ग कौन-कौन से हैं ?

उत्तर : स्त्री, पुरुष और नपुंसक के भेद से तीन प्रकार के तिर्यञ्च और तीन प्रकार के मनुष्य कृत तथा स्त्री और पुरुष के भेद से दो प्रकार के देवकृत इस प्रकार कुल आठ चेतनकृत तथा कुष्ठादि शारीरिक और अचेतनकृत शिला आदि का पतन इस प्रकार कुल मिलाकर दश प्रकार के उपसर्ग हैं जिनको सहन कर दस-दस मुनि अनुत्तरोपपादिक एवं अन्तकृद्दशांग में उत्पन्न होते हैं। **(हरि. पु. १०/४२)**

१६. प्रश्न : बारहवें दृष्टिवाद अंग के कितने भेद हैं ?

उत्तर : बारहवें दृष्टिवाद अंग के ५ भेद हैं-

परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका।

परिकर्म - जिसमें चन्द्रप्रज्ञप्ति आदि पाँच प्रज्ञप्तियों का विवरण है वह परिकर्म है।

सूत्र - यह अर्थाधिकार जीव अबन्धक ही है, अवलेपक ही है, अकर्त्ता ही है, अभोक्ता ही है, आदि रूप से तीन सौ त्रेसठ मतों का पूर्व पक्ष रूप से वर्णन करता है।

प्रथमानुयोग - जो पुराण पुरुषों का वर्णन करता है वह प्रथमानुयोग है।

पूर्वगत - जो पूर्वों को प्राप्त हो अथवा जिसने पूर्वों के स्वरूपों को प्राप्त कर लिया है। उसे पूर्वगत कहते हैं, यह पूर्वगत गोण्यनाम है। **(ध. १/११०-१५)**

चूलिका - विशेष व्याख्यान, कहे हुए और न कहे हुए की व्याख्यान, तथा कहे हुए और न कहे हुए से मिश्रित व्याख्यान इस प्रकार तीन प्रकार का व्याख्यान चूलिका शब्द से कहा जाता है। **(स.सा.चू.)**

किसी पदार्थ के विशेष व्याख्यान को, कहे हुए विषय में जो अनुक्त विषय है उसके व्याख्यान को अथवा उक्त, अनुक्त विषय से मिले हुए कथन को 'चूलिका' कहते हैं। **(बृ.द्र. सं. चू.)** कालविधान द्वारा सूचित अर्थ का विशेष वर्णन करना चूलिका है। जिससे अर्थ प्ररूपणा किये जाने पर पूर्व में वर्णित पदार्थ के विषय में शिष्यों को निश्चय उत्पन्न हो उसे चूलिका कहते हैं। **(ध. पु. ११/१४०)**

१७. प्रश्न : परिकर्म कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : परिकर्म पाँच प्रकार का होता है -

(१) चन्द्र प्रज्ञप्ति (२) सूर्य प्रज्ञप्ति (३) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति (४) द्वीपसागर प्रज्ञप्ति (५) व्याख्या प्रज्ञप्ति।

चन्द्र प्रज्ञप्ति - इसमें चन्द्रमा की आयु, परिवार, ऋद्धि, गति और बिम्ब की ऊँचाई आदि का वर्णन है।

सूर्य प्रज्ञप्ति - इसमें सूर्य की आयु, भोग, उपभोग, परिवार, ऋद्धि, गति, बिम्ब की ऊँचाई आदि का वर्णन है।

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति - इसमें जम्बूद्वीपस्थ भोगभूमि और कर्मभूमि में उत्पन्न हुए नाना प्रकार के मनुष्य और दूसरे तिर्यञ्च आदि का, पर्वत, द्रह, नदी आदि का वर्णन है।

द्वीपसागर प्रज्ञप्ति - इसमें द्वीप और समुद्रों के प्रमाण का तथा द्वीप-सागर के अन्तर्भूत नाना प्रकार के दूसरे पदार्थों का वर्णन है।

व्याख्याप्रज्ञप्ति - इसमें पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल, भव्यसिद्ध और अभव्यसिद्ध इन सबका वर्णन है। **(हरि. पु. १०/६२-६८)**

१८. प्रश्न : सूत्र में किसका वर्णन है ?

उत्तर : जीव अणु प्रमाण है, नास्ति स्वरूप ही है, अस्ति स्वरूप ही है, पृथिवी आदि पाँच भूतों के समुदाय रूप से जीव उत्पन्न होता है, चेतना रहित है, ज्ञान के बिना भी सचेतन है, नित्य ही है, अनित्य ही है इत्यादि रूप से क्रियावादी आदि तीन सौ त्रेसठ मतों का पूर्व पक्ष रूप से वर्णन है। त्रैराशिकवाद, नियतिवाद, विज्ञानवाद, शब्दवाद, प्रधानवाद, द्रव्यवाद और पुरुषवाद का भी वर्णन है। **(ध. १/१११-१२)**

सूत्र के अनेक भेदों में से प्रथम भेद में अबन्धक भावों का वर्णन है, दूसरे में श्रुति, स्मृति और पुराण के अर्थ का निरूपण है, तीसरे भेद में नियति पक्ष का कथन है, चौथे भेद में नाना-प्रकार के पर समयों-अन्य दर्शनों का निरूपण है। **(हरि.पु. १०/६९-७०)**

१९. प्रश्न : पुराण किसे कहते हैं ?

उत्तर : पुरातन महापुरुषों से उपदिष्ट मुक्तिमार्ग की ओर ले जाने वाले त्रेसठ शलाका पुरुषों के

चारित्र के वर्णन से युक्त रचनाएँ। ये ऋषि-प्रणीत होने से आर्ष, सत्यार्थ की निरूपक होने से सूक्त, धर्म की प्ररूपक होने से धर्म शास्त्र तथा **'इति-ह्-आस्'** यहाँ ऐसा हुआ, यह बताने के कारण इतिहास कहलाती हैं। **(म. पु. १/२४-२५)**

इनमें क्षेत्र, काल, तीर्थ, सत्पुरुष और उनकी चेष्टाओं का वर्णन रहता है। क्षेत्र रूप से ऊर्ध्व, मध्य और पाताल लोक का, काल रूप से भूत, भविष्यत् और वर्तमान का, तीर्थ रूप से सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र का तथा तीर्थसेवी सत्पुरुष (शलाका पुरुष) और उनके आचरण का वर्णन होता है। **(म. पु. २/३८-४०)**

२०. प्रश्न : पुराण कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : जिनेन्द्र भगवान ने जगत् में बारह प्रकार के पुराणों का उपदेश दिया है। वे समस्त पुराण जिनवंश और राजवंशों का वर्णन करते हैं। पहला अरिहन्त (तीर्थंकरों) का, दूसरा चक्रवर्तियों का, तीसरा विद्याधरों का, चौथा नारायण-प्रतिनारायणों का, पाँचवाँ चारणों का (चारण ऋद्धिधारी मुनिराज का) छठा श्रमणों का वंश है। सातवाँ कुरुवंश, आठवाँ हरिवंश, नवाँ इक्ष्वाकुवंश, दसवाँ काश्यपवंश, ग्यारहवाँ वादियों का वंश और बारहवाँ नाथवंश। **(ध. १/११३)**

२१. प्रश्न : पूर्वगत कितने प्रकार का है ?

उत्तर : पूर्वगत चौदह प्रकार का है -

(१) उत्पाद पूर्व (२) अग्रायणी पूर्व (३) वीर्यप्रवाद पूर्व (४) अस्ति-नास्तिप्रवाद पूर्व (५) ज्ञान प्रवाद पूर्व (६) सत्यप्रवाद पूर्व (७) आत्मप्रवाद पूर्व (८) कर्मप्रवाद पूर्व (९) प्रत्याख्यान पूर्व (१०) विद्यानुवाद पूर्व (११) कल्याणवाद पूर्व (१२) प्राणावाय पूर्व (१३) क्रियाविशाल पूर्व (१४) लोकबिन्दु सार पूर्व।

(१) उत्पाद पूर्व - काल, पुद्गल, जीव आदि की जिस काल में, जिस क्षेत्र में, जिस पर्याय से उत्पत्ति होती है, उन सबका वर्णन जिसमें है, वह उत्पाद पूर्व है।

(२) अग्रायणी पूर्व - जिसमें क्रियावादियों की प्रक्रिया, अग्रणी के समान अंगादि तथा स्वसमय के विषय का विवेचन किया गया है वह अग्रायणी पूर्व है।

(३) वीर्यप्रवाद पूर्व - जिसमें छद्मस्थ और केवलियों की शक्ति, सुरेन्द्र - असुरेन्द्र आदि की ऋद्धि वा नरेन्द्र, चक्रवर्ती, बलदेव आदि के सामर्थ्य और द्रव्यों के समीचीन लक्षण आदि का वर्णन है वह वीर्यप्रवाद पूर्व है।

(४) अस्तिनास्तिप्रवाद पूर्व - जिसमें पाँचों अस्तिकायों का और नयों का अस्ति-नास्ति आदि अनेक पर्यायों द्वारा विवेचन है उसे अस्तिनास्तिप्रवाद कहते हैं।

(५) ज्ञानप्रवाद पूर्व - जिसमें प्रादुर्भाव विषयों के आयतन स्वरूप ज्ञानियों के पाँच ज्ञानों का और अज्ञानियों के विषयों के आयतन इन्द्रियों का विभाग किया जाता है वह ज्ञानप्रवाद पूर्व है।

(६) सत्यप्रवाद पूर्व - जिसमें वाग्गुप्ति, वचन संस्कार के कारण, वचन प्रयोग, बारह प्रकार की भाषा, वक्ता के अनेक प्रकार, मृषाभिधान और दस प्रकार के सत्य के सद्भाव का वर्णन है वह सत्य प्रवाद पूर्व है।

(७) आत्मप्रवाद पूर्व - जिसमें आत्मा के अस्तित्व, नास्तित्व, नित्यत्व, अनित्यत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि धर्म और षट् जीवनिकाय के भेदों का युक्ति से निरूपण किया गया है वह आत्मप्रवाद है।

(८) कर्मप्रवाद पूर्व - जिसमें कर्मों के बन्ध, उदय, उदीरणा, उपशम आदि दशाओं का तथा जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट आदि स्थिति का तथा प्रदेशों के समूह का वर्णन किया जाता है, वह कर्मप्रवाद पूर्व है।

(९) प्रत्याख्यान पूर्व - जिसमें व्रत, नियम, प्रतिक्रमण, प्रतिलेखन, तप, कल्प, उपसर्ग, आचार, आराधना, विशुद्धि का उपक्रम आदि व मुनियों के आचरण का कारण तथा परिमित-अपरिमित द्रव्य के प्रत्याख्यान आदि का वर्णन है उसे प्रत्याख्यान पूर्व कहते हैं।

(१०) विद्यानुवाद पूर्व - जिसमें समस्त विद्याएँ आठ महानिमित्त, उनका विषय, रज्जु-राशिविधि, क्षेत्र, श्रेणी, लोक, प्रतिष्ठा, समुद्घात आदि का विवेचन है वह विद्यानुवाद पूर्व है।

(११) कल्याणवाद पूर्व - जिसमें सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र, तारागणों का गमन क्षेत्र, उपपाद क्षेत्र, शकुन आदि का वर्णन है तथा अर्हत्, बलदेव, वासुदेव, चक्रवर्ती आदि का एवं गर्भ आदि पाँच कल्याणकों का वर्णन किया गया है, वह कल्याणवाद पूर्व है।

(१२) प्राणावाय पूर्व - काय चिकित्सा आदि आठ अंग, आयुर्वेद, भूतिकर्म, जांगुलिप्रक्रम, प्राणापान के विभाग का जिसमें विस्तार पूर्वक वर्णन किया जाता है वह प्राणावाय पूर्व है।

(१३) क्रियाविशाल पूर्व - लेखन क्रिया आदि पुरुषों की बहत्तर कलाओं का, स्त्रियों की चौंसठ कलाओं का तथा शिल्प, काव्य गुण-दोष, छन्द, क्रिया, क्रिया का फल व उसके भोक्ता आदि का जिसमें विस्तार पूर्वक वर्णन है वह क्रियाविशाल पूर्व है।

(१४) लोकबिन्दुसार पूर्व - आठ प्रकार का व्यवहार, चार बीज राशि, परिकर्म आदि गणित तथा सारी श्रुत सम्पत्ति का जिसमें विवरण है वह लोकबिन्दुसार है। **(रा.वा. १२)**

२२. प्रश्न : समुद्घात किसे कहते हैं ?

उत्तर : 'हन्' धातु का अर्थ गमन क्रिया है। इसलिए एकत्र होकर आत्मप्रदेशों का शरीर के बाहर निकलना समुद्घात है। **(रा.वा. १२)**

(समुद्घात शब्द की निष्पत्ति इस प्रकार से है - यहाँ 'सम्' और 'उत्' उपसर्ग पूर्वक 'हन्' धातु है और भाव अर्थ में 'घञ्' प्रत्यय लगा है, इस तरह समुद्घात शब्द बना है।) मूल शरीर को न छोड़कर कार्मण और तैजस रूप उत्तर शरीर से युक्त जीव के प्रदेश समूह का शरीर से बाहर निकलना समुद्घात है। **(गो.जी.६६८)**

२३. प्रश्न : समुद्घात कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : समुद्घात सात प्रकार के होते हैं -

(१) वेदना (२) कषाय (३) मारणान्तिक (४) तैजस (५) विक्रिया (६) आहारक और (७) केवली समुद्घात।

(१) वेदना समुद्घात - वात-पित्तादि विकारजनित रोग या विषादि द्रव्य के सम्बन्ध से उत्पन्न तीव्र वेदना के कारण आत्मप्रदेशों का मूल शरीर को नहीं छोड़कर बाहर निकलना वेदना समुद्घात है। **(रा.वा. १२)**

तीव्र वेदना के अनुभव से मूल शरीर को न छोड़कर आत्मप्रदेशों का शरीर से बाहर निकलना वेदना समुद्घात है। जैसे - सीता आदि के द्वारा पीड़ित रामचन्द्र आदि की चेष्टा हुई थी। वह चेष्टा वेदना समुद्घात है। **(का. अ. १७६)**

२४. प्रश्न : कषाय समुद्घात किसे कहते हैं ?

उत्तर : दूसरे के कारण या बाह्य और आभ्यन्तर दोनों निमित्तों के प्रकर्ष उत्पन्न क्रोधादि कषाय के कारण आत्मप्रदेशों का बाहर निकलना कषाय समुद्घात है। **(रा.वा १२)**

मूल शरीर को न छोड़ते हुए तीव्र कषाय के उदय से दूसरे के घात के लिए आत्मप्रदेशों का बाहर निकलना कषाय समुद्घात है। जैसे - संग्राम में सुभटों के लाल नेत्र आदि के द्वारा कषाय समुद्घात प्रत्यक्ष दिखलाई देता है। **(का.अ. १७६)**

कषाय की तीव्रता से जीवप्रदेशों का अपने शरीर से तिगुने प्रमाण फैलने को कषाय समुद्घात कहते हैं। **(ध. ७/२९९)**

क्रोध-भय आदि के द्वारा जीवों के प्रदेशों का उत्कृष्टत: शरीर से तिगुने प्रमाण प्रसर्पण का नाम कषाय समुद्घात है। **(ध. ४/२६)**

२५. प्रश्न : मारणान्तिक समुद्घात किसे कहते हैं ?

उत्तर : औपक्रमिक व अनुपक्रमिक रूप से होने वाले मरण के पूर्व या मरण ही है प्रयोजन जिसका ऐसे मरण के निमित्त से आत्मप्रदेशों का बाहर निकलना मारणान्तिक समुद्घात है। **(रा.वा.१२)**

अपने वर्तमान शरीर को नहीं छोड़कर ऋजुगति द्वारा अथवा विग्रहगति द्वारा आगे जिसमें उत्पन्न

होना है ऐसे क्षेत्र तक जाकर शरीर से तिगुने विस्तार से या अन्य प्रकार से अन्तर्मुहूर्त तक रहने का नाम मारणान्तिक समुद्घात है। **(धवल ४/२६)** मरण के अन्त में होने वाला तथा उत्तर भव की उत्पत्ति के स्थान पर्यन्त जीव के प्रदेशों का फैलना है लक्षण जिसका, वह मारणान्तिक समुद्घात है। **(गो. जी. जी. १९९)**

२६. प्रश्न : तैजस समुद्घात किसे कहते हैं ?

उत्तर : जीवों के अनुग्रह या निग्रह करने में समर्थ तैजस शरीर की रचना होना तैजस समुद्घात है। **(रा.वा. १२)** तैजस शरीर के विसर्पण का नाम तैजस्क शरीर समुद्घात है। **(ध. ४/२७)**

२७. प्रश्न : वैक्रियिक समुद्घात किसे कहते हैं ?

उत्तर : एकत्व, पृथक् आदि नाना प्रकार की विक्रिया के निमित्त से शरीर और वचन के प्रचार, प्रहरण आदि की विक्रिया के अर्थ वैक्रियिक समुद्घात होता है। **(रा.वा. १२)** वैक्रियिक शरीर के उदयवाले देव और नारकी जीवों का अपने स्वाभाविक आकार को छोड़कर अन्य आकार से रहने तक का नाम वैक्रियिक समुद्घात है। **(ध. ४/२६)** विविध ऋद्धियों के माहात्म्य से संख्यात व असंख्यात योजनों को शरीर से व्याप्त करके जीव प्रदेशों के अवस्थान को वैक्रियिक समुद्घात कहते हैं। **(ध. ७/२९९)** किसी प्रकार की विक्रिया उत्पन्न करने के लिए अर्थात् शरीर को छोटा-बड़ा या अन्य शरीर रूप करने के लिए मूल शरीर का त्याग न कर जो आत्मा के प्रदेशों का बाहर जाना है उसको 'विक्रिया' समुद्घात कहते हैं। **(वृ.द्र.सं.टी. १०)**

२८. प्रश्न : आहारक समुद्घात किसे कहते हैं ?

उत्तर : अल्प हिंसा और सूक्ष्मार्थ परिज्ञान आदि प्रयोजनों के लिए आहारक शरीर की रचना के निमित्त आहारक समुद्घात होता है। **(रा.वा. १२)**

हस्त प्रमाण सर्वांग सुन्दर, समचतुरस्र-संस्थान से युक्त, हंस के समान धवल, रस, रुधिर, मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा और शुक्र इन सात धातुओं से रहित, विष-अग्नि एवं शस्त्रादि समस्त बाधाओं से मुक्त, वज्र, शिला, स्तम्भ, जल व पर्वतों में से गमन करने में दक्ष तथा अपने मस्तक से उत्पन्न हुए शरीर से तीर्थंकर के पादमूल में जाने का नाम आहारक समुद्घात है **(ध. ७/३००)** पद और पदार्थ में जिसको कुछ संशय उत्पन्न हुआ हो, उस परम ऋषि के मस्तक में से मूल शरीर को न छोड़कर निर्मल स्फटिक के रंग का एक हाथ का पुतला निकल कर अन्तर्मुहूर्त में जहाँ कहीं भी केवली को देखता है तब उन केवली के दर्शन से अपना आश्रय जो मुनि उसके पद और पदार्थ का निश्चय उत्पन्न कर अपने स्थान में प्रवेश कर जावे सो आहारक समुद्घात है। **(वृ. द्र. सं. १० टी)**

२९. प्रश्न : केवली समुद्घात किसे कहते हैं ?

उत्तर : जैसे मदिरा में फेन आकर शान्त हो जाता है उसी तरह समुद्घात में देहस्थ आत्म-प्रदेश बाहर निकलकर फिर शरीर में समा जाते हैं, ऐसा समुद्घात केवली करते हैं। **(रा.वा. १२)** दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण रूप जीवप्रदेशों की अवस्था को केवली-समुद्घात कहते हैं। **(ध. ७/३००)**

जब वेदनीय कर्म की स्थिति अधिक हो और आयुकर्म की अल्प, तब दोनों के स्थिति समीकरण के लिए केवली भगवान के केवली समुद्घात होता है। **(रा.वा. १२)**

३०. प्रश्न : आहारक एवं मारणान्तिक समुद्घात कौनसी दिशा में होता है ?

उत्तर : आहारक एवं मारणान्तिक समुद्घात एक दिशा में होते हैं, क्योंकि आहारक शरीर की रचना के समय श्रेणिगति होने के कारण एक ही दिशा में असंख्य आत्मप्रदेश निकलकर एक अरत्नि प्रमाण आहारक शरीर को बनाते हैं, अन्य क्षेत्र में समुद्घात के कारणों का अभाव होने से जिस नरकादि क्षेत्र में जीव की उत्पत्ति होनी है, उसी दिशा में मारणान्तिक समुद्घात के प्रदेश जाते हैं अन्य क्षेत्रों में नहीं, अत: ये दोनों समुद्घात एक दिशा में ही होते हैं। **(रा.वा. १२)**

३१. प्रश्न : शेष पाँच समुद्घात कौनसी दिशा में होते हैं ?

उत्तर : शेष पाँच (वेदना, कषाय, तैजस, वैक्रियिक, केवली) समुद्घात श्रेणि के अनुसार छहों दिशाओं में होते हैं। आत्मप्रदेशों का गमन आकाश श्रेणी के अनुसार होता है। अत: वेदना, कषायादि समुद्घात के निमित्त शरीर से बाहर निकले हुए आत्मप्रदेशों का ऊपर, नीचे, पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर इन छहों दिशाओं में गमन होता है। **(रा.वा. १२)**

३२. प्रश्न : वेदना आदि समुद्घात का समय कितना-कितना है ?

उत्तर : वेदना, कषाय, मारणान्तिक, तैजस, वैक्रियिक और आहारक इन छह समुद्घातों का काल असंख्यात समय है और केवली समुद्घात का काल आठ समय है। दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण के चार समय और चार समयों में पुन: प्रतर, कपाट, दंड और स्व शरीर में प्रवेश, इस प्रकार आठ समय होते हैं। **(रा.वा. १२)**

३३. प्रश्न : कौन-कौनसे गुणस्थान में कौन-कौनसा समुद्घात होता है ?

उत्तर : प्रथम गुणस्थान से छठे गुणस्थान तक वेदना, कषाय तथा वैक्रियिक समुद्घात होता है, आगे नहीं होते हैं। मारणान्तिक समुद्घात पहले एवं दूसरे, चौथे, पाँचवें, छठे, सातवें, आठवें, नवें, १०वें, ११वें (उपशामकों) में होता है। तैजस एवं आहारक समुद्घात छठे गुणस्थान में ही होता है आगे-पीछे नहीं। **(ध. ४/४७)** केवली समुद्घात सयोगी केवली के ही होता है, अन्य स्थान पर नहीं। **(ध. ४/४६-४८)**

३४. प्रश्न : चूलिका कितने प्रकार की होती है ?

उत्तर : चूलिका पाँच प्रकार की है -

जलगता, थलगता, मायागता, रूपगता और आकाशगता।

जलगता चूलिका - यह जल में गमन, जलस्तम्भन के कारणभूत मन्त्र, तन्त्र और तपश्चरण रूप अतिशय आदि का वर्णन करती है।

स्थलगता चूलिका - यह पृथिवी के भीतर गमन करने के कारणभूत मंत्र, तंत्र और तपश्चरण रूप आश्चर्य आदि का तथा वास्तु विद्या और भूमि सम्बन्धी दूसरे शुभ-अशुभ कारणों का वर्णन करती है।

मायागता चूलिका - यह इन्द्रजाल आदि के कारणभूत मंत्र तंत्र और तपश्चरण का वर्णन करती है।

रूपगता चूलिका - सिंह, घोड़ा और हरिण आदि के स्वरूप के आकाररूप से परिणमन करने के कारणभूत मंत्र-तंत्र और तपश्चरण तथा चित्र-काष्ठ-लेप्य-लेन कर्म आदि के लक्षण का वर्णन करती है।

आकाशगता चूलिका - आकाश में गमन करने के कारणभूत मंत्र, तंत्र और तपश्चरण का वर्णन करती है। **(ध. १/११४)**

३५. प्रश्न : पद कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : पद तीन प्रकार के होते हैं -

(१) प्रमाण पद (२) मध्यम पद (३) अर्थ पद।

प्रमाण पद - आठ अक्षर व इससे अधिक अक्षरों के समुदाय को प्रमाण पद कहते हैं। इससे अंग बाह्य श्रुत की संख्या कही जाती है जैसे अनुष्टुप् श्लोक के प्रत्येक चरण में आठ-आठ अक्षर होते हैं ?

मध्यम पद - अंग प्रविष्ट श्रुत की संख्या के निरूपण करने वाले पद हैं उनको मध्यम पद कहते हैं।

अर्थ पद - जितने अक्षरों से कहने का अभिप्राय पूर्ण हो जाए उतने अक्षरों का एक अर्थपद होता है। इस पद के अक्षर नियत नहीं होते हैं। इससे अंग प्रविष्ट श्रुतज्ञान का विवेचन मध्यम पदों के द्वारा किया गया है। **(गो.जी.जी. ३३६)**

३६. प्रश्न : मध्यम पद की वर्ण संख्या कितनी है ?

उत्तर : मध्यम पद की वर्ण संख्या सोलह सौ चौंतीस करोड़ तेरासी लाख, सात हजार आठ-सौ अठासी **(१६, ३४, ८३, ०७, ८८८) वर्ण हैं। (गो. जी. ३३६)**

३७. प्रश्न : अंग बाह्य श्रुत में कितने अक्षर हैं ?

उत्तर : अंग बाह्य के वर्णों की संख्या से एक पद (मध्यम पद) भी नहीं बन पाता। इस अंग बाह्य श्रुत में तो आठ करोड़, एक लाख, आठ हजार, एक सौ पचहत्तर ही वर्ण होते हैं इसके समस्त श्लोकों की संख्या पच्चीस लाख तीन हजार तीन सौ अस्सी (२५, ०३, ३८०) तथा शेष पन्द्रह अक्षर प्रमाण है। **(हरि. पु. १०/१२६-२८).**

३८. प्रश्न : सम्पूर्ण अंग प्रविष्ट श्रुत के पदों की संख्या कितनी है ?

उत्तर : सम्पूर्ण अंग प्रविष्ट श्रुत के पदों की संख्या एक सौ बारह करोड़, तेरासी लाख अठावन हजार पाँच (११२, ८३, ५८,००५) है। **(गो. जी. ३५०)**

३९. प्रश्न : समस्त श्रुत के अपुनरुक्त अक्षरों का प्रमाण कितना है ?

उत्तर : सम्पूर्ण अंग प्रविष्ट एवं अंग बाह्य श्रुत के समस्त अक्षरों की संख्या एक लाख कोड़ा-कोड़ी, चौरासी हजार, चार सौ सड़सठ करोड़, चवालीस लाख, सात सौ सैंतीस, पंचानवें लाख, इकावन हजार, छह सौ पन्द्रह **(१८४४६७४४०७३७०९५५१६१५) है। (गो. जी. ३५४)**

४०. प्रश्न : आचारांगादि के पदों की संख्या किस प्रकार है ?

उत्तर : (१) आचारांग में १८००० पद (२) सूत्रकृतांग में ३६००० पद, (३) स्थानांग में ४२००० पद, (४) समवायांग में १,६४,००० पद (५) व्याख्याप्रज्ञप्ति में २,२८,००० पद (६) ज्ञातृधर्म-कथांग में ५,५६,००० पद (७) उपासकाध्ययनांग में ११,७०,००० पद (८) अन्त:कृद्दशांग में २३,२८,००० पद (९) अनुत्तरोपपादिक दशांग में ९२,४४,००० पद (१०) प्रश्न व्याकरणांग में ९३,१६,००० पद (११) विपाक सूत्र में १,८४,००,००० पद तथा दृष्टिवादांग में १,०८,६८,५६,००५ पद हैं इस प्रकार कुल मिलाकर १,१२,८३,५८,००५ पद हैं। **(गो. जी. ३५५-६०)**

४१. प्रश्न : पूर्व गतों में कितने-कितने पद हैं ?

उत्तर : उत्पाद पूर्व में एक करोड़, अग्रायणी पूर्व में छ्यानवे लाख, वीर्यानुवाद पूर्व में सत्तर लाख, अस्ति-नास्ति प्रवाद में साठ लाख, ज्ञानप्रवाद में निनानवे लाख निनानवे हजार नौ सौ निनानवें, सत्य प्रवाद में एक करोड़ छह, आत्मप्रवाद में छब्बीस करोड़, कर्मप्रवाद में एक करोड़ अस्सीलाख, प्रत्याख्यानवाद में चौरासीलाख, विद्यानुवाद में एक करोड़, दस लाख, कल्याणवाद में छब्बीस करोड़, प्राणावाय प्रवाद में तेरह करोड़, क्रिया विशाल में नौ करोड़, लोकबिन्दुसार में बारह करोड़ पचास लाख पद हैं। **(गो. जी. ३६५-६६)**

४२. प्रश्न : परिकर्म आदि में कितने-कितने पद हैं ?

उत्तर : परिकर्म में चन्द्र प्रज्ञप्ति में ३६ लाख ५ हजार, सूर्य प्रज्ञप्ति में ५ लाख ३ हजार, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में ३ लाख २५ हजार, द्वीपसमुद्र प्रज्ञप्ति में ५२ लाख ३६ हजार तथा व्याख्या प्रज्ञप्ति में ८४ लाख ३६ हजार पद हैं।

सूत्र में ८८ लाख, प्रथमानुयोग में ५ हजार पद हैं।

चूलिका में, जलगता आदि पाँचों चूलिकाओं में २ करोड़ ९ लाख ८९ हजार २ सौ पद हैं। अत: इनको ५ से गुणा करने पर कुल १० करोड़ ४९ लाख ४६ हजार पद हैं। **(गो. जी. ३६३-६४)**

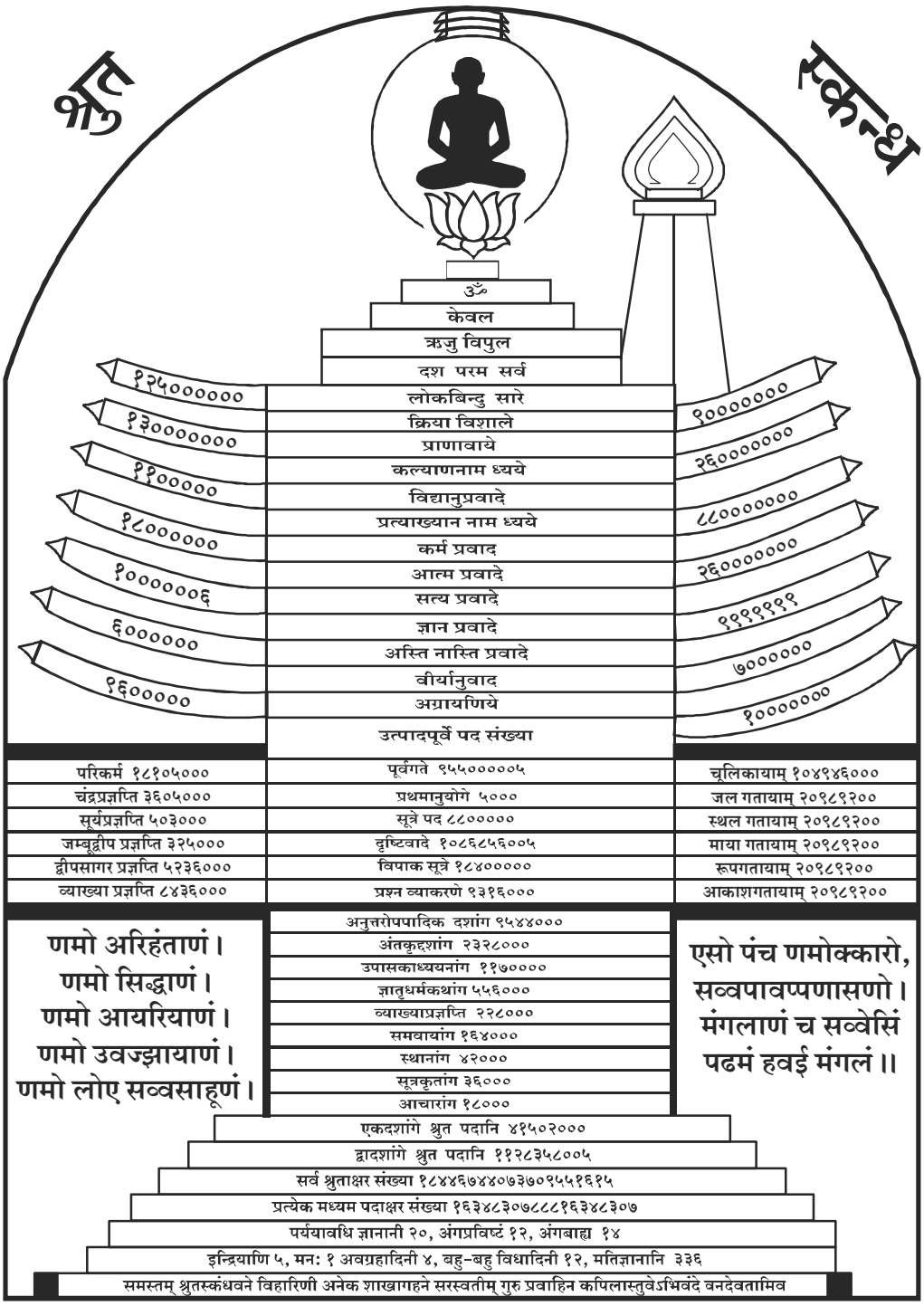
श्रुत
स्कन्ध
ॐ
केवल
ऋजु विपुल
दश परम सर्व
लोकबिन्दु सारे
क्रिया विशाले
प्राणावाये
कल्याणनाम ध्यये
विद्यानुप्रवादे
प्रत्याख्यान नाम ध्यये
कर्म प्रवाद
आत्म प्रवादे
सत्य प्रवादे
ज्ञान प्रवादे
अस्ति नास्ति प्रवादे
वीर्यानुवाद
अग्रायणिये
उत्पादपूर्वे पद संख्या
१२५०००००० ९०००००००
१३००००००० २६००००००००
११००००००० ८८००००००००
१८०००००० ३६००००००००
१०००००६ ९९९९९९९९
६०००००० ७०००००००
१६००००० १००००००००
परिकर्म १८१०५००० पूर्वगते ९५५००००००५ चूलिकायाम् १०४९४६०००
चंद्रप्रज्ञप्ति ३६०५००० प्रथमानुयोगे ५००० जल गतायाम् २०९८९२००
सूर्यप्रज्ञप्ति ५०३००० सूत्रे पद ८८००००० स्थल गतायाम् २०९८९२००
जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति ३२५००० दृष्टिवादे १०८६८५६००५ माया गतायाम् २०९८९२००
द्वीपसागर प्रज्ञप्ति ५२३६००० विपाक सूत्रे १८४००००० रूपगतायाम् २०९८९२००
व्याख्या प्रज्ञप्ति ८४३६००० प्रश्न व्याकरणे ९३१६००० आकाशगतायाम् २०९८९२००
णमो अरिहंताणं।
णमो सिद्धाणं।
णमो आयरियाणं।
णमो उवज्झायाणं।
णमो लोए सव्वसाहूणं।
अनुत्तरोपपादिक दशांग ९५४४०००
अंतकृद्दशांग २३२८०००
उपासकाध्ययनांग ११७००००
ज्ञातृधर्मकथांग ५५६०००
व्याख्याप्रज्ञप्ति २२८०००
समवायांग १६४०००
स्थानांग ४२०००
सूत्रकृतांग ३६०००
आचारांग १८०००
एसो पंच णमोक्कारो,
सव्वपावप्पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं
पढमं हवई मंगलं।।
एकदशांगे श्रुत पदानि ४१५०२०००
द्वादशांगे श्रुत पदानि ११२८३५८००५
सर्व श्रुताक्षर संख्या १८४४६७४४०७३७०९५५१६१५
प्रत्येक मध्यम पदाक्षर संख्या १६३४८३०७८८८१६३४८३०७
पर्ययावधि ज्ञानानी २०, अंगप्रविष्टं १२, अंगबाह्य १४
इन्द्रियाणि ५, मन: १ अवग्रहादिनी ४, बहु-बहु विधादिनी १२, मतिज्ञानानि ३३६
समस्तम् श्रुतस्कंधवने विहारिणी अनेक शाखागहने सरस्वतीम् गुरु प्रवाहिन कपिलास्तुवेऽभिवंदे वनदेवतामिव

४३. प्रश्न : आचारांगादि के पदों की समीक्षा किस प्रकार है ?

उत्तर : मुनियों के आचरण का वर्णन करने वाले आचारांग से गृहस्थों के आचरण का वर्णन करने वाले सातवें उपासकाध्ययनांग में पैसठ (६५) गुणे पद हैं। अर्थात् आचारांग पदों को पैंसठ से गुणा करने पर उपासकाध्ययनांग के पदों का प्रमाण आता है। आचारांग के सम्पूर्ण पदों से ५१३$\frac{५}{९}$ गुणे पदों के द्वारा उपसर्ग जीत करके समाधिमरण से शरीर का त्याग कर विजय आदि विमानों में उत्पन्न होने वाले मुनियों का वर्णन नौवें अनुत्तरोपपादिक दशांग में है तथा आचारांग के पदों से १०२२$\frac{२}{९}$ गुणे पदों के द्वारा शुभाशुभ कर्मों के उदय और उनके फलों का वर्णन ग्यारहवें विपाकसूत्र में किया है। शेष पदों की समीक्षा आगम से जाननी चाहिए।

४४. प्रश्न : समस्त श्रुतज्ञान के अक्षरों का प्रमाण कितना है ?

उत्तर : समस्त श्रुतज्ञान १ लाख ८४ हजार ४ सौ ६७ कोड़ा कोड़ी, ४४ लाख ७ हजार ३ सौ ७० करोड़, ९५ लाख ५१ हजार ६ सौ १५ अक्षर प्रमाण है। १८४ शंख, ४६ पद्म ७४ नील, ४० खरब, ७३ अरब ७० करोड़, ९५ लाख, ५१ हजार ६१५ प्रमाण श्रुतज्ञान के अक्षर हैं। **(गो. जी. ३५४)**

४५. प्रश्न : दृष्टिवाद अंग में कितने पद हैं एवं वे ग्यारह अंगों के पदों से कितने गुणे अधिक हैं ?

उत्तर : दृष्टिवाद के परिकर्म में १,८१,५०००, सूत्र में ८८ लाख, प्रथमानुयोग ५ हजार, पूर्वगत के ९५ करोड़ ५० लाख ५ और पाँचवें चूलिका के १० करोड़ ४९ लाख ४६ हजार पद हैं, इन सबका योग १ अरब ८ करोड़ ६८ लाख ५६ हजार ५ पद प्रमाण हैं। **(गो. जी. ३६०-६५)**

इनमें यदि ग्यारह अंगों के ४ करोड़ १५ लाख २ हजार पद प्रमाण पदों का भाग दिया तो १०८६८५६००५/४१५०२००० = २६ गुणे से कुछ अधिक आता है अर्थात् ग्यारह अंगों के पदों से बारहवें अंग के पद कुछ अधिक २६ गुणे है।

४६. प्रश्न : अंग प्रविष्ट श्रुतज्ञान के पदों की प्राप्ति कैसे होती है ?

उत्तर : सम्पूर्ण श्रुत के एक कम इकट्ठी प्रमाण अपुनरुक्त अक्षरों में मध्यम पद प्रमाण संख्या का भाग देने पर अंगप्रविष्ट श्रुतज्ञान के पदों की प्राप्ति होती है।

$$\frac{१८४४६७४४०७३७०९५५१६१५}{१६,३४,८४,०७,८८८} = \text{अंग प्रविष्ट श्रुत के पद ।}$$

४७. प्रश्न : क्या श्रुतज्ञान भी सम्पूर्ण पदार्थों को जान सकता है ?

उत्तर : हाँ, द्वादशांग और चौदह पूर्व रूप परमागम संज्ञावाला द्रव्यश्रुत है, वह मूर्त्त और अमूर्त्त दोनों प्रकार के द्रव्यों के ज्ञान के विषय में परोक्ष भी व्याप्ति ज्ञान रूप से केवलज्ञान के सदृश है, ऐसा अभिप्राय है। **(पं. का. ता. ९९)**

स्याद्वाद और केवलज्ञान में तत्त्वों को जानने में मात्र साक्षात् (प्रत्यक्ष) एवं असाक्षात् (परोक्ष) ही भेद है। इन दोनों में से एक हो और एक अन्यतम न हो तो वह अवस्तु ठहरे। **(आ. मी. १०५)** वे विचित्र गुण पर्यायों सहित समस्त पदार्थ श्रमणों को स्वयमेव ज्ञेयभूत होते हैं, क्योंकि श्रमण विचित्र गुण पर्याय वाले सर्व द्रव्यों में व्यापक अनेकान्तात्मक श्रुत ज्ञानोपयोग रूप होकर परिणमित होते हैं। इसलिए कहा गया है कि आगम चक्षु वालों को कुछ अदृश्य नहीं है। **(प्र.सा. ता. २३५)**

४८. प्रश्न : श्रुतज्ञान समस्त पदार्थों को नहीं जानता है, क्योंकि वचन के अगोचर ऐसे जीवादि पदार्थों के अनन्तवें भाग प्रज्ञापनीय अर्थात् तीर्थंकर की सातिशय दिव्यध्वनि में प्रतिपाद्य (प्रतिपादन करने योग्य) होते हैं तथा प्रज्ञापनीय पदार्थों के अनन्तवें भाग द्वादशांग के विषय होते हैं, ऐसा वचन है ?

उत्तर : इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि समस्त पदार्थों का अनन्तवाँ भाग द्रव्य श्रुतज्ञान का विषय भले ही हो, किन्तु भाव श्रुतज्ञान का विषय समस्त पदार्थ हैं क्योंकि ऐसा माने बिना तीर्थंकरों के वचनातिशय का अभाव होगा। **(ध. पु. ९/५७)**

४९. प्रश्न : श्रुतज्ञान के अंगबाह्य एवं अंगप्रविष्ट भेद किस कारण से हैं ?

उत्तर : ये अंगबाह्य एवं अंगप्रविष्ट भेद वक्ता विशेष कृत हैं। **(सर्वा. २११)**

५०. प्रश्न : इन दोनों की प्रमाणता किस प्रमाण से सिद्ध है ?

उत्तर : वक्ता तीन प्रकार के हैं -

(१) सर्वज्ञ (२) श्रुतकेवली (३) आरातीय।

इनमें से परम ऋषि सर्वज्ञ उत्कृष्ट और अचिन्त्य केवलज्ञान रूपी विभूति विशेष से युक्त हैं। इस कारण उन्होंने अर्थ रूप से आगम का उपदेश दिया, वे सर्वज्ञ प्रत्यक्षदर्शी और दोषमुक्त हैं इसलिए प्रमाण हैं।

सर्वज्ञ के साक्षात् शिष्य और बुद्धि के अतिशय रूप ऋद्धि से युक्त गणधर, श्रुतकेवलियों ने अर्थ रूप आगम का स्मरण कर अंग और पूर्व ग्रन्थों की रचना की। सर्वज्ञदेव की प्रमाणता के कारण ये भी प्रमाण हैं।

आरातीय आचार्यों ने कालदोष से जिनकी आयु, मति और बल घट गया है ऐसे शिष्यों का उपकार करने के लिए दशवैकालिक आदि ग्रन्थ रचे। जिस प्रकार क्षीरसागर का जल घट में भर लिया जाता है उसी प्रकार ये ग्रंथ भी अर्थ रूप से वे ही हैं इसलिए प्रमाण हैं। **(सर्वा. २११)**

५१. प्रश्न : श्रुतज्ञान अनादिनिधन कहा है, ऐसी अवस्था में उसे मतिपूर्वक कैसे मान सकते हैं ?

उत्तर : यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि द्रव्य आदि सामान्य की अपेक्षा से श्रुत को अनादि-निधन कहा है। किसी पुरुष ने कहीं और कभी किसी भी प्रकार से उसे किया नहीं है। हाँ, उन्हीं द्रव्य आदि विशेष नय की अपेक्षा उसका आदि और अन्त सम्भव है। इसलिए वह मतिपूर्वक होता है, ऐसा कहा जाता है। जैसे कि अंकुर बीजपूर्वक होता है, फिर भी वह सन्तान की अपेक्षा अनादि-निधन है। दूसरे, जो यह कहा है कि पुरुष का कार्य होने से वह अप्रमाण है सो अपौरुषेयता प्रमाणता का कारण नहीं है। यदि अपौरुषेयता को प्रमाणता का कारण माना जाय तो जिसके कर्त्ता का स्मरण नहीं होता ऐसे चोरी आदि के उपदेश भी प्रमाण हो जाएँगे। प्रत्यक्ष आदि ज्ञान अनित्य होकर भी यदि प्रमाण माने जाते हैं तो इसमें क्या विरोध है। **(सर्वा. २०७)**

५२. प्रश्न : सूत्र में 'श्रुत' शब्द किस अर्थ को सूचित करता है ?

उत्तर : सूत्र में दिये गये श्रुत शब्द से मुख्य रूप से श्रुतज्ञान का ग्रहण करना चाहिए एवं उपचार से शब्दात्मक श्रुत को ग्रहण करना चाहिए। **(श्लो. ३/५९८-९९)**

५३. प्रश्न : मतिज्ञान सदृश ही श्रुतज्ञान होता है, ऐसा मानना चाहिए क्योंकि कारण सदृश ही कार्य होता है ?

उत्तर : ऐसा एकान्त नियम नहीं है क्योंकि कथंचित् कारण सदृश कार्य नहीं भी होता है। जैसे - घट कथंचित् मिट्टी पिण्ड सदृश नहीं है। जिस प्रकार मिट्टी पिण्ड अजीव और अज्ञानयुक्त है और घट द्रव्य भी अजीव और अज्ञान युक्त है। अत: अजीव और अज्ञान युक्त की अपेक्षा मिट्टी कारण सदृश ही घट रूप कार्य हुआ है परन्तु घट पिण्ड, घट का आकार, जलधारण आदि क्रिया रूप पर्याय की अपेक्षा मिट्टी रूप कारण सदृश घट रूप कार्य नहीं है। यदि सर्वथा एकान्त से कारण सदृश ही कार्य होता है, ऐसा मानते हैं तो मिट्टी के पिण्ड में जैसे जल नहीं भर सकते वैसे घट में भी जलधारण व्यापार नहीं होना चाहिए। उसी प्रकार श्रुत सामान्य की दृष्टि से कारण सदृश ही कार्य होता है। अर्थात् मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान एक हैं किन्तु नाना प्रकार की प्ररूपणा के सामर्थ्य वाली ज्ञानग्रहण पर्याय की दृष्टि से कारण सदृश कार्य नहीं है, ऐसा समझना चाहिए। **(रा.वा. ५)**

५४. प्रश्न : मतिज्ञान पूर्वक श्रुतज्ञान होता है, इस लक्षण में अव्याप्ति दोष आता है क्योंकि श्रुतज्ञान पूर्वक भी श्रुतज्ञान देखा जाता है ?

उत्तर : जहाँ श्रुतज्ञान पूर्वक श्रुतज्ञान होता है वहाँ प्रथम श्रुतज्ञान को उपचार से मतिज्ञान माना गया है। क्योंकि श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक ही होता है। यह नियम है।

अथवा - पूर्व शब्द व्यवहित पूर्व को ही कहता है जैसे 'मथुरा से पटना पूर्व में है' यहाँ अनेक नगरों से व्यवहित भी पटना पूर्व में कहा जाता है उसी प्रकार साक्षात् या परम्परा मतिज्ञान से उत्पन्न होने वाला श्रुतज्ञान भी मतिपूर्वक ही कहलाता है अत: यह लक्षण अव्याप्ति दोष से दूषित नहीं है। **(रा.वा. १०)**

५५. प्रश्न : क्या श्रुतज्ञान की उत्पत्ति में भी उपादान एवं निमित्त दोनों कारण होते हैं ?

उत्तर : हाँ, श्रुतज्ञान की उत्पत्ति में अन्तरंग उपादान कारण श्रुतज्ञानावरण कर्म का प्रकर्ष क्षयोपशम है तथा निमित्त कारण मतिज्ञान है क्योंकि श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होता है। **(सर्वा. २०६)**

५६. प्रश्न : श्रुतज्ञान अनादिनिधन है या अनादि-सान्त ?

उत्तर : यह सम्पूर्ण श्रुत द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से किसी के द्वारा रचित नहीं होने से अनादि-निधन है और पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से अनुवाद द्वार से रचित कृतक होने से सादि-सान्त भी है। **(सुख बो. त. वृ. ४४)**

५७. प्रश्न : प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन के साथ ही ज्ञान की उत्पत्ति होती है अतः श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक कैसे हो सकता है ?

उत्तर : यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञान में समीचीनता सम्यग्दर्शन के निमित्त से प्राप्त होती है। इन दोनों का आत्मलाभ तो क्रम से ही होता है, इसलिए श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होता है। इस कथन का व्याघात नहीं है। **(सर्वा. २०८)**

५८. प्रश्न : अर्थलिङ्गज श्रुतज्ञान कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : अर्थलिङ्गज श्रुतज्ञान बीस प्रकार का होता है -

(१) पर्याय (२) पर्याय समास (३) अक्षर (४) अक्षर समास (५) पद (६) पद समास (७) संघात (८) संघात-समास (९) प्रतिपत्ति (१०) प्रतिपत्ति-समास (११) अनुयोग (१२) अनुयोग समास (१३) प्राभृत-प्राभृत (१४) प्राभृत-प्राभृत समास (१५) प्राभृत (१६) प्राभृत समास (१७) वस्तु (१८) वस्तु समास (१९) पूर्व (२०) पूर्व समास। **(श्रु. भ. ५-६)**

(१) पर्याय - सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक के जो सबसे जघन्य ज्ञान होता है उसको पर्याय ज्ञान कहते हैं।

(२) पर्याय समास - अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान में असंख्यात लोक प्रमाण षट्स्थान होते हैं, ये सब ही पर्यायसमास ज्ञान के भेद हैं।

(३) अक्षर ज्ञान - अन्त के उर्वंक का अर्थाक्षर समूह में भाग देने से जो लब्ध आवे उसको अन्त के उर्वंक से गुणा करने पर अर्थाक्षर ज्ञान का प्रमाण होता हैं।

(४) अक्षर समास - अक्षर ज्ञान के ऊपर और पदज्ञान के पूर्व तक जितने ज्ञान के विकल्प हैं वे सब अक्षर समास ज्ञान के भेद हैं।

(५) पद ज्ञान - अक्षर ज्ञान के ऊपर क्रम से एक-एक अक्षर की वृद्धि होते-होते जब संख्यात अक्षरों की वृद्धि हो जाय तब पद नामक श्रुतज्ञान होता है।

(६) पदसमास ज्ञान - एक पद के ऊपर और संघातनामक ज्ञान के पूर्व जितने ज्ञान के भेद हैं वे सब पदसमास के भेद हैं।

(७) संघात ज्ञान - एक पद के आगे भी क्रम से एक-एक अक्षर की वृद्धि होते-होते संख्यात हजार पदों की वृद्धि हो जाय उसको संघातनामक श्रुतज्ञान कहते हैं।

(८) संघात समास - संघात और प्रतिपत्ति श्रुतज्ञान के मध्य में ज्ञान के जितने विकल्प हैं उतने ही संघात समास के भेद हैं।

(९) प्रतिपत्ति ज्ञान - चार गति में से एक गति का निरूपण करने वाले संघात श्रुतज्ञान के ऊपर पूर्व की तरह क्रम से एक-एक अक्षर की तथा पदों और संघातों की वृद्धि होते-होते जब संख्यात हजार संघात की वृद्धि हो जाय तब एक प्रतिपत्ति नामक श्रुतज्ञान होता है।

(१०) प्रतिपत्ति समास - अनुयोग के पहले और प्रतिपत्ति ज्ञान के ऊपर सम्पूर्ण प्रतिपत्ति समास ज्ञान के भेद हैं।

(११) अनुयोग - चारों गतियों के स्वरूप का निरूपण करने वाले प्रतिपत्ति ज्ञान के ऊपर क्रम से पूर्व की तरह एक-एक अक्षर की वृद्धि होते-होते जब संख्यात हजार प्रतिपत्ति की वृद्धि हो जाय तब एक अनुयोग श्रुतज्ञान होता है।

(१२) अनुयोग समास - प्राभृत-प्राभृत ज्ञान के पहले और अनुयोग ज्ञान के ऊपर जितने ज्ञान के विकल्प हैं वे सब अनुयोग समास के भेद जानना।

(१३) प्राभृत-प्राभृत - चौदह मार्गणाओं का निरूपण करने वाले अनुयोग ज्ञान के ऊपर पूर्वोक्त क्रम के अनुसार एक-एक अक्षर की वृद्धि होते-होते जब चतुरादि अनुयोगों की वृद्धि हो जाय तब प्राभृत-प्राभृत श्रुतज्ञान होता है।

(१४) प्राभृत-प्राभृत समास - प्राभृत के पहले और प्राभृत प्राभृत के ऊपर जितने ज्ञान के विकल्प हैं वे सब ही प्राभृत-प्राभृत समास के भेद जानना।

(१५) प्राभृत - प्राभृत-प्राभृत ज्ञान के ऊपर पूर्वोक्त क्रम से एक-एक अक्षर की वृद्धि होते-होते जब चौबीस प्राभृत-प्राभृत की वृद्धि हो जाय तब एक प्राभृत श्रुतज्ञान होता है।

(१६) प्राभृत समास - वस्तु ज्ञान के पहले और प्राभृत ज्ञान के ऊपर जितने विकल्प हैं वे सब प्राभृत समास ज्ञान के भेद हैं।

(१७) वस्तु - पूर्वोक्त क्रमानुसार प्राभृतज्ञान के ऊपर एक-एक अक्षर की वृद्धि होते-होते जब क्रम से बीस प्राभृत की वृद्धि हो जाय तब एक वस्तु अधिकार पूर्ण होता है।

(१८) वस्तु समास - वस्तु श्रुत के ऊपर एक-एक अक्षर की वृद्धि लिये अनुक्रम से पद आदि

वृद्धि करते हुए क्रम से दश आदि वस्तु की वृद्धि होते हुए उनमें से एक-एक अक्षर घटाने तक वस्तु समास के भेद जानने चाहिए।

(१९) पूर्व - वस्तु समास के अन्तभेद में एक अक्षर मिलाने पर चौदह पूर्व नाम का श्रुतज्ञान होता है।

(२०) पूर्व समास - पूर्व ज्ञान से आगे पूर्व समास ज्ञान होता है। **(गो.जी. ३२१-४३)**

५९. प्रश्न : प्रथमानुयोग किसे कहते हैं ?

उत्तर : धर्मबुद्धि गृहस्थ जिससे अपना सिद्धान्त भली भाँति जानता है, वह प्रथमानुयोग है, जो पुराण और चरित के आधार वाला है। (**य.ति.च. ८/४५९**) जिसमें एक पुरुष से सम्बन्ध रखने वाली कथा होती है, उसे **चरित** कहते हैं। **(र.क.श्रा.टी. ४३)**

प्रथमानुयोग में २ लाख करोड़ ५५ हजार करोड़ ४४२ करोड़ ३१ लाख ७ हजार ५ सौ श्लोक है। **(महा पु. २/१०९-११०)**

पुराण - त्रेसठ शलाका पुरुषों से सम्बन्ध रखने वाली कथा होती है उसे पुराण कहते हैं। चरित और पुराण, दोनों ही प्रथमानुयोग शब्द से कहे जाते हैं। यह प्रथमानुयोग कल्पित अर्थ का वर्णन न कर परमार्थ विषय का वर्णन करता है इसलिए इसे **अर्थाख्यान** कहते हैं। इसके पढ़ने और सुनने वाले जीवों को पुण्यबन्ध होता है, इसलिए इसे **पुण्य** कहते हैं। इसके अलावा यह प्रथमानुयोग बोधि अर्थात् रत्नत्रय की प्राप्ति और समाधि, धर्म और शुक्ल ध्यान की प्राप्ति का निधान है। सम्यग्ज्ञान ऐसे प्रथमानुयोग को जानता है। **(र.क.श्रा.टी. ४३)**

तीर्थंकर, चक्रवर्ती, अर्धचक्री और बलभद्र आदि महापुरुषों के कथानकों को **प्रथमानुयोग** कहते हैं। यह गुण-दोष की परीक्षा करता है। **(गुण.श्रा. २/७)**

दृष्टिवाद के तीसरे भेद अनुयोग में पाँच हजार पद हैं तथा इसके अवान्तर भेद प्रथमानुयोग में त्रेसठ शलाका पुरुषों के पुराण का वर्णन है। **(हरि. पु. १०/७१)**

प्रथमानुयोग अर्थाधिकार पाँच हजार पदों के द्वारा पुराणों का वर्णन करता है। **(ध. १/११३)**

६०. प्रश्न : करणानुयोग किसे कहते हैं ?

उत्तर : लोक-अलोक के विभाग को, युगों के परिवर्तन को तथा चारों गतियों को दर्पण के समान प्रगट करने वाले करणानुयोग को सम्यग्ज्ञान जानता है।

जिस प्रकार सम्यक् श्रुतज्ञान प्रथमानुयोग को जानता है उसी प्रकार करणानुयोग को भी जानता है। करणानुयोग में लोक-अलोक का विभाग तथा पंचसंग्रह आदि का समावेश होता है। यह करणानुयोग दर्पण के समान है। जिस प्रकार दर्पण मुख आदि के यथार्थ स्वरूप का प्रकाशक होता है उसी प्रकार करणानुयोग

भी अपने विषय का प्रकाशक होता है। करणानुयोग लोक और अलोक के विभाग, युगों के परिवर्तन और चार गतियों के स्वरूप को प्रकाशित करने के लिए दर्पण के समान है। जहाँ तक जीव आदि पदार्थ देखे जाते हैं उसे **लोक** कहते हैं। यह लोक ३४३ राजू प्रमाण है। इससे विपरीत अनन्त प्रमाण से विशिष्ट जो शुद्ध पर-द्रव्यों के संसर्ग से रहित आकाश है वह **अलोक** कहलाता है। उत्सर्पिणी आदि काल के भेदों को **युग** कहते हैं। उनका सुषमासुषमा आदि छह कालों में जो परिणमन होता है उसे **युगपरिवर्तन** कहते हैं। नरक आदि चार गतियाँ हैं। करणानुयोग इन सबका विशद वर्णन करता है। **(र.क.श्रा.टी.४४)** त्रिलोकसार में तीर्थंकरों का अन्तराल और लोक विभाग आदि व्याख्यान हैं। ऐसे ग्रन्थ करणानुयोग रूप जानने चाहिए। **(वृ.द्र.सं.टी. ४२)**

६१. प्रश्न : चरणानुयोग किसे कहते हैं ?

उत्तर : चारित्र का प्रतिपादन करने वाले आचाराङ्ग आदि शास्त्र चरणानुयोग शास्त्र कहलाते हैं। इन शास्त्रों में गृहस्थ और मुनियों के चारित्र की उत्पत्ति, वृद्धि और रक्षा के कारणों का वर्णन रहता है। सम्यक् श्रुतज्ञान इन सब शास्त्रों को विशेष रूप से जानता है। **(र.क.श्रा.टी. ४५)**

यह मेरा अनुष्ठान (अणुव्रत या महाव्रत) है और उसके संरक्षण व संवर्धन का यह क्रम है, इस प्रकार आत्मा के चारित्र का निरूपण जिसमें किया गया है वह चरणानुयोग है। **(य.ति.च. ८/४६१)**

उपासकाध्ययन आदि में श्रावक का धर्म और मूलाचार, भगवती आराधना आदि में यति का धर्म जहाँ मुख्यता से कहा गया है, वह दूसरा चरणानुयोग कहा जाता है। **(वृ.द्र.सं.टी. ४२)**

६२. प्रश्न : द्रव्यानुयोग किसे कहते हैं ?

उत्तर : द्रव्यानुयोग रूपी दीपक जीव, अजीव प्रमुख तत्त्वों को, पुण्य और पाप को, बन्ध और मोक्ष को (तथा चकार से आस्रव, संवर और निर्जरा को) भावश्रुत ज्ञान रूप प्रकाश को फैलाता हुआ विस्तृत करता है। **(र. क. श्रा. ४६)**

जिसमें शुद्ध-अशुद्ध स्वभाव वाले जीवादि षड् द्रव्यों का निरूपण किया गया है वह द्रव्यानुयोग कहा गया है। **(गु. श्रा. २/१०)**

सत्प्ररूपण में जो पदार्थों का अस्तित्व कहा गया है उनके प्रमाण का वर्णन द्रव्यानुयोग करता है। यह लक्षण अनुयोगद्वारों के अन्तर्गत द्रव्यानुयोग का है। **(ध. १/१५८)** समयसार आदि प्राभृत और तत्त्वार्थ सूत्र तथा सिद्धान्त आदि शास्त्रों में मुख्यता से शुद्ध-अशुद्ध जीव आदि छह द्रव्य का जो वर्णन किया गया है वह द्रव्यानुयोग कहलाता है। **(वृ.द्र.सं. टी. ४२)**

६३. प्रश्न : श्रुतज्ञान के पर्यायवाची नाम कौन-कौन से हैं ?

उत्तर : प्रावचन, प्रवचनीय, प्रवचनार्थ, गतियों में मार्गणता, आत्मा, परम्परा, लब्धि, अनुत्तर, प्रवचन, प्रवचनी, प्रवचनाद्धा, प्रवचन सन्निकर्ष, नयविधि, नयान्तरविधि, भंगविधि, भंगविधिविशेष,

पृच्छाविधि, पृच्छाविधिविशेष, तत्त्व, भूत, भव्य, भविष्य, अवितथ, अविहत, वेद, न्याय, शुद्ध, सम्यग्दृष्टि, हेतुवाद, नयवाद, प्रवरवाद, मार्गवाद, श्रुतवाद, परवाद, लौकिकवाद, लोकोत्तरीयवाद, अग्रय, मार्ग, यथानुमार्ग, पूर्व, यथानुपूर्व और पूर्वातिपूर्व ये श्रुतज्ञान के पर्याय नाम हैं। **(ध. १३/२८०)**

भवप्रत्यय अवधिज्ञान को कहते हैं -

भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम् ॥२१॥

भव-प्रत्यय:-अवधि:-देव-नारकाणाम्।

(भवप्रत्यय:) भव ही है कारण जिसमें ऐसा **(अवधि:)** अवधिज्ञान **(देवनारकाणां)** देव और नारकियों के होता है।

अर्थ - भवप्रत्यय अवधिज्ञान देव और नारकियों के होता है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किस फल की सिद्धि के लिए लिखा है ?

उत्तर : स्वामी भेद की अपेक्षा न करते हुए अवधिज्ञान के बहिरंग कारणों का कथन करने के लिए आचार्य महाराज ने इस सूत्र का प्रज्ञापन किया है। **(श्लो. ४/२)** परोक्षज्ञान का वर्णन कर दिया है। अब प्रत्यक्षज्ञान का वर्णन करना चाहिए। देश-प्रत्यक्ष और सकल प्रत्यक्ष के भेद से प्रत्यक्ष दो प्रकार का है। अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान देशप्रत्यक्ष हैं, केवलज्ञान सर्वप्रत्यक्ष है। आत्मप्रसाद की विशेषता होने पर सार्थक नाम होने से अवधिज्ञान है। इसका लक्षण द्रव्य, क्षेत्र, काल की मर्यादा से वस्तु को जानना है अवधिज्ञान दो प्रकार के हैं, गुणप्रत्यय और भवप्रत्यय। इनमें से भवप्रत्यय अवधिज्ञान का निरूपण इस सूत्र के द्वारा किया गया है। **(रा.वा.उ. २१)**

२. प्रश्न : भव किसे कहते हैं ?

उत्तर : आयु नामकर्म के उदय का निमित्त पाकर जो जीव की पर्याय होती है, उसे भव कहते हैं। **(सर्वा. २१३)** उत्पन्न होने के प्रथम समय से लेकर अन्तिम समय तक जो विशेष अवस्था रहती हैं, उसे भव कहते हैं। **(ध. पु. १५/६-७)**

आत्मा की जो पर्याय आयु नामकर्म के उदय विशेष तथा शेष कारणों की अपेक्षा से उत्पन्न होती है वह साधारण लक्षण भव कहलाती है। **(रा.वा. १)**

नामकर्म एवं आयु कर्म के उदय की अपेक्षा रखने वाले जीव की पर्याय को भव कहते हैं। **(श्लो. ४/२)**

३. प्रश्न : भवप्रत्यय अवधिज्ञान किसे कहते हैं ?

उत्तर : प्रत्यय, कारण और निमित्त ये एकार्थवाची नाम हैं। जिस अवधिज्ञान के होने में भवनिमित्त है वह भवप्रत्यय अवधिज्ञान है। **(सर्वा. २१३)**

४. प्रश्न : यदि भव मात्र ही अवधिज्ञान का कारण है तो देव-नारकियों में उत्पन्न होने के प्रथम समय में ही अवधिज्ञान उत्पन्न क्यों नहीं होता है ?

उत्तर : यह कोई दोष नहीं है क्योंकि छह पर्याप्तियों से पर्याप्त भव को ही यहाँ अवधिज्ञान की उत्पत्ति का कारण माना गया है। **(ध. १३-२९०)**

५. प्रश्न : भव प्रत्यय अवधिज्ञान किस-किसके होता है ?

उत्तर : भव प्रत्यय अवधिज्ञान देव, नारकियों एवं तीर्थंकरों के पाया जाता है। (यद्यपि तीर्थंकर कोई भव नहीं है तथापि तीर्थंकर नरक या स्वर्ग से आकर ही उत्पन्न होते हैं। नरक व स्वर्ग में भवप्रत्यय अवधिज्ञान होता है और वह भवप्रत्यय अवधिज्ञान उनके साथ आता है। इसलिए पंच कल्याणक वाले तीर्थंकरों के भव प्रत्यय अवधिज्ञान कहा जाता है)।[१] **(गो. जी. ३७१)**

६. प्रश्न : देव-नारकियों के भव ही अवधिज्ञान का कारण है तो क्या उनके अवधि ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम नहीं होता है ?

उत्तर : ऐसा नहीं है, देव और नारकियों के जन्म लेते ही अवधिज्ञानावरण का क्षयोपशम हो ही जाता है। जैसे - पक्षियों का गमन। जैसे आकाश के रहने पर ही पक्षी उड़ सकता है उसी प्रकार अन्तरंग हेतु अवधिज्ञानावरण का क्षयोपशम होने पर 'भव' बाह्य निमित्त होता है। यदि सर्वथा भव ही निमित्त होता तो सबके समान रूप से अवधिज्ञान होता। परन्तु देव-नारकियों में अपने-अपने क्षयोपशम के अनुसार अवधिज्ञान में आगम में तरतमता स्वीकार की गयी है। **(रा.वा. ३-४)**

७. प्रश्न : यदि क्षयोपशम के अनुसार देव-नारकियों के अवधिज्ञान में तरतमता पाई जाती है तो भव को कारण क्यों कहा ?

उत्तर : जैसे तिर्यञ्च और मनुष्यों में अहिंसादिव्रत अवधिज्ञान के कारण हैं वैसे देव-नारकियों में अहिंसादि व्रत नियम कारण नहीं हैं। क्योंकि उनके तो उस पर्याय के कारण ही क्षयोपशम प्रगट हो जाता है इसलिए देव-नारकियों के भव बाह्य साधन है- प्रधान नहीं। **(रा.वा. ५)**

८. प्रश्न : देव-नारकियों के अवधिज्ञान को भवप्रत्यय अवधिज्ञान क्यों कहते हैं ?

उत्तर - देव-नारकियों के भव के आश्रय से क्षयोपशम की सिद्धि हो जाती है ऐसा समझ कर भव प्रधान कारण है, ऐसा उपदेश दिया जाता है। जैसे-पक्षियों का आकाश में गमन करना भवनिमित्तक होता है, शिक्षा गुण की अपेक्षा से नहीं होता, वैसे ही देव-नारकियों के व्रत-नियमादि के अभाव में भी अवधिज्ञान

---

१. तीर्थंकरों का अवधिज्ञान भवप्रत्यय न होकर भवान्तरायात अवधिज्ञान होता है। क्योंकि वे या तो स्वर्ग से आकर या नरक से आकर जन्म धारण करते हैं, सो सम्यग्दर्शन और अवधिज्ञान युक्त ही जन्म लेते हैं, न कि यहाँ पर अवधिज्ञान प्राप्त करते हैं।

होता है इसलिए इसे भव-निमित्तक कहते हैं। यदि ऐसा न माना जाय तो भव तो सबके साधारण रूप से पाया जाता है। अत: सबके अवधिज्ञान के होने में विशेषता नहीं रहेगी। परन्तु वहाँ पर अवधिज्ञान न्यूनाधिक कहा ही जाता है, इससे ज्ञात होता है कि वहाँ पर अवधिज्ञान होता तो क्षायोपशमिक ही है पर वह क्षयोपशम भव के निमित्त से प्राप्त होता है अत: उसे भवप्रत्यय कहते हैं। **(सर्वा. २१३)**

९. प्रश्न : क्या सभी देव-नारकियों के अवधिज्ञान होता है ?

उत्तर : ऐसा नहीं है क्योंकि यहाँ सम्यग्दर्शन का अधिकार है। 'सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान' इस सूत्र की अनुवृत्ति है इसलिए उसका सम्बन्ध है अत: सम्यग्दृष्टियों के अवधिज्ञान होता है और मिथ्यादृष्टियों के विभंगावधि होती है, ऐसा जानना चाहिए। **अथवा** - आगे कहे जाने वाले सूत्र ''मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च'' (३१) का सम्बन्ध होने से भी सभी देव-नारकियों के अवधिज्ञान का प्रसंग नहीं आता। अथवा - आगे कहे जाने वाले सूत्र ३१ से विशेष प्रतिपत्ति होती है। **(रा.वा. ६)**

१०. प्रश्न : सूत्र में नारकियों को पहले रखना चाहिए क्योंकि आगम में सत्-संख्यादि प्ररूपणाओं में नारकियों की प्ररूपणा प्रथम की गई है।

उत्तर : ऐसा कथन समुचित नहीं है, क्योंकि समास करते समय जो शब्द अल्प स्वर वाला और पूज्य होता है उसका व्याकरण के अनुसार पूर्व में प्रयोग किया जाता है। देव शब्द में दोनों ही लक्षण प्राप्त हैं अत: अल्पस्वर और पूज्य होने से समास से देव शब्द का पूर्व में प्रयोग करना उचित ही है। आगम में तो क्रम से गतियों का निरूपण है वहाँ नियम की अपेक्षा नहीं है। **(रा.वा. ७)**

११. प्रश्न : भवनवासी देवों में अवधिज्ञान का क्षेत्र कितना है ?

उत्तर : दस प्रकार के भवनवासी देवों का अवधिक्षेत्र जघन्य में २५ योजन है। उत्कृष्ट असुरकुमारों के अवधिज्ञान का विषय नीचे की ओर तथा तिरछा असंख्यात कोड़ाकोड़ी योजन है और ऊपर ऋतु विमान के ऊपरी भाग तक है। नागकुमारादि नव भवनवासियों के अवधिज्ञान का उत्कृष्ट विषय नीचे की तरफ असंख्यात हजार योजन है, ऊपर सुमेरु पर्वत के शिखर तक तथा तिरछा असंख्यात हजार योजन है। **(रा.वा. ७)**

१२. प्रश्न : व्यंतरों में अवधिज्ञान का विषयक्षेत्र कितना है ?

उत्तर : आठ प्रकार के व्यन्तरों का अवधिज्ञान का विषय जघन्य से पच्चीस योजन है। उत्कृष्ट नीचे असंख्यात हजार योजन, ऊपर अपने विमान के ऊपरी भाग तक तथा तिरछे असंख्यात कोड़ाकोड़ी योजन है। **(रा.वा. ७)**

१३. प्रश्न : इन देवों का काल, द्रव्य और भाव की अपेक्षा अवधिज्ञान का विषय कितना है?

उत्तर : जिस अवधिज्ञान का जितना क्षेत्र है, उतने आकाशप्रदेश प्रमाण काल और द्रव्य होते हैं अथवा - उतने समय प्रमाण अतीत और अनागत का ज्ञान होता है और उतने भेद वाले अनन्तप्रदेशी पुद्गल

स्कन्धों में और सकर्मक जीवों में (द्रव्यापेक्षा) अवधिज्ञान की प्रवृत्ति होती है। भाव की दृष्टि से अपने विषयभूत पुद्गल स्कन्धों के रूपादि विकल्पों को और जीव के औदयिक, औपशमिक और क्षायिक आदि भावों को अवधिज्ञान जानता है, क्योंकि ये सब पौद्गलिक हैं। **(रा.वा. ७)**

१४. प्रश्न : ज्योतिष्क देवों में अवधिज्ञान का विषय कितना है ?

उत्तर : ज्योतिषी देवों के अवधिज्ञान का जघन्य विषय नीचे की ओर संख्यात योजन, उत्कृष्ट असंख्यात हजार योजन, ऊपर की ओर उत्कृष्ट अपने विमान के ऊपरी भाग तक तथा तिरछे असंख्यात कोड़ाकोड़ी योजन है। **(रा.वा. ७)**

इनका उत्कृष्ट विषय क्षेत्र असंख्यात हजार योजन है। इनका क्षेत्र नीचे-नीचे कम एवं तिर्यग् रूप से अधिक है। उत्कृष्ट काल असुरों की अवधि के उत्कृष्ट काल से संख्यातवें भाग मात्र है। **(गो. जी. ४२६-२९)**

१५. प्रश्न : वैमानिक देवों में अवधिज्ञान का क्षेत्र कितना है ?

उत्तर : वैमानिक देवों में सौधर्म-ईशान स्वर्गवासी देवों के जघन्य अवधि का विषय ज्योतिषियों के उत्कृष्ट क्षेत्र प्रमाण है। उत्कृष्ट अवधि नीचे की ओर रत्नप्रभा के अन्तिम पटल तक है। सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गवासियों के अवधिज्ञान का जघन्य क्षेत्र रत्नप्रभा के अन्तिम पटल तक है और उत्कृष्ट क्षेत्र शर्कराप्रभा के अन्तिम पटल तक है। ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर, लान्तव-कापिष्ट में जघन्य अवधि का क्षेत्र नीचे की ओर शर्कराप्रभा के अन्तिम पटल तक है और उत्कृष्ट बालुकाप्रभा का अन्तिम भाग है।

शुक्र-महाशुक्र, शतार-सहस्रार में नीचे की ओर जघन्य अवधि बालुकाप्रभा का अन्तिम भाग और उत्कृष्ट पंकप्रभा का अन्तिम भाग है।

आनत-प्राणत, आरण-अच्युत स्वर्ग में नीचे की ओर जघन्य अवधि पंकप्रभा का अंतिम भाग और उत्कृष्ट धूमप्रभा का अन्तिम भाग है।

नव ग्रैवेयकों की जघन्य अवधि धूमप्रभा के अन्तिम भाग तक और उत्कृष्ट तम:प्रभा के अन्तिम भाग प्रमाण है।

नव अनुदिश और पाँच अनुत्तर विमानवासी देवों के अवधिज्ञान का क्षेत्र लोकनाली पर्यन्त है। सौधर्मादि अनुत्तर पर्यन्त विमानवासियों की अवधि का क्षेत्र ऊपर की ओर अपने-अपने विमानों के ऊपरी भाग तक है। तिरछा असंख्यात कोड़ाकोड़ी योजन है। **(रा.वा. ७)**

१६. प्रश्न : नारकियों में अवधिज्ञान का क्षेत्र कितना है ?

उत्तर : नारकियों में एक योजन से लेकर अर्ध-अर्ध कोश कम करना, जब तक एक गव्यूति (कोस) न रह जाय। जैसे-रत्नप्रभा स्थित नारकियों के अवधिज्ञान का विषय नीचे एक योजन प्रमाण है।

शर्कराप्रभा में साढ़े तीन कोस, बालुका प्रभा में नीचे तीन कोस, पंकप्रभा में ढाई कोस, धूमप्रभा में दो कोस, तम: प्रभा में डेढ़ कोस और महातम:प्रभा में एक कोस प्रमाण अवधिज्ञान का क्षेत्र है।

सातों ही पृथिवियों के नारकियों के ऊपर की ओर अवधिज्ञान के क्षेत्र का विषय अपने-अपने बिल के ऊपरी भाग तक है और तिरछे असंख्यात कोड़ाकोड़ी योजन है। द्रव्य, काल और भावपरिणाम पूर्व के समान जानने चाहिए। **(रा.वा. ७)**

क्षयोपशम निमित्तक अवधिज्ञान कहते हैं -

क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम् ॥२२॥

(शेषाणां) शेष तिर्यञ्च और मनुष्यों के **(क्षयोपशमनिमित्तः)** क्षयोपशम के निमित्त से होने वाला **(षड् विकल्पः)** छह प्रकार का अवधिज्ञान होता है।

अर्थ - शेष तिर्यञ्च और मनुष्यों के क्षयोपशम के निमित्त से होने वाला छह प्रकार का अवधिज्ञान होता है।

१. प्रश्न : क्षयोपशम निमित्तक अवधिज्ञान किसे कहते हैं ?

उत्तर : अवधि ज्ञानावरण कर्म के देशघाती स्पर्धकों का उदय होने पर, सर्वघातिस्पर्धकों का उदयाभावी क्षय और आगामी उदय में आने वाले उन्हीं का सदवस्था रूप उपशम, इन दो निमित्तों से होने वाला अवधिज्ञान क्षयोपशम निमित्तक अवधिज्ञान कहलाता है। **(रा.वा.उ. २२)**

२. प्रश्न : क्षयोपशम निमित्तक अवधिज्ञान कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : क्षयोपशम निमित्तक अवधिज्ञान छह प्रकार का होता है -

अनुगामी, अननुगामी, वर्द्धमान, हीयमान, अवस्थित और अनवस्थित। अथवा - इसके आठ भेद हैं-

(१) वर्द्धमान (२) हीयमान (३) अवस्थित (४) अनवस्थित (५) अनुगामी (६) अननुगामी (७) अप्रतिपाती (८) प्रतिपाती। अथवा -

इसके तीन भेद हैं -

(१) देशावधि (२) परमावधि (३) सर्वावधि। अथवा -

इसके दो भेद हैं - (१) देशावधिज्ञान (२) सर्वावधिज्ञान । **(रा.वा. ४)** अथवा इसके १३ भेद हैं–

(१) देशावधि (२) परमावधि (३) सर्वावधि (४) हीयमान (५) वर्धमान (६) अवस्थित (७) अनवस्थित (८) अनुगामी (९) अननुगामी (१०) सप्रतिपाती (११) अप्रतिपाती (१२) एक क्षेत्र (१३) अनेक क्षेत्र। **(ध. १३/२९२)**

३. प्रश्न : अवधिज्ञान के सर्वावधि और देशावधि भेद किस कारण से होते हैं ?

उत्तर : सर्व शब्द सकलवाचित्व होने से द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा सर्वावधि के अन्त:पाति (अन्तर्भूत) परमावधिज्ञान है अत: परमावधि भी देशावधि है इसलिए अवधिज्ञान के देशावधि और सर्वावधि ये ही दो भेद हैं। **(रा.वा. ४)**

४. प्रश्न : अनुगामी आदि अवधिज्ञान के लक्षण क्या हैं ?

उत्तर : अनुगामी - कोई अवधि सूर्य के प्रकाश के समान भवान्तर में जाने वाले के पीछे जाता है वह अनुगामी है। **(रा.वा. ४)**

जो अवधिज्ञान परिणाम की विशुद्धि से सूर्य के प्रकाश के समान देशान्तर में जाने वाले के साथ जाता है वह अनुगामी है। **(सुख बो. त. वृ. ४७)**

अननुगामी - विशुद्धि के नहीं होने से जो देशान्तर में साथ नहीं जाता, वहीं रह जाता है जैसे - शून्य हृदय वाले पुरुष का किया गया प्रश्न वहीं समाप्त हो जाता है उसका कोई उत्तर नहीं मिलता, वह अननुगामी अवधिज्ञान है। **(सुख बो. त. वृ. ४७)**

मूर्ख के प्रश्न के समान वहीं गिर जाता है, भवान्तर में साथ नहीं जाता है, वह अननुगामी अवधिज्ञान है। **(रा.वा. ४)**

वर्द्धमान - सम्यग्दर्शनादि गुणों की विशुद्धि के कारण अरणी के निर्मथन से उत्पन्न शुष्क पत्रों से उपचीयमान ईंधन के समूह में वृद्धिंगत अग्नि के समान बढ़ता रहता है वह वर्द्धमान अवधिज्ञान है। **(रा.वा.४)**

हीयमान - जो ईंधन रहित अग्नि के समान जिस परिणाम से उत्पन्न हुआ था उससे प्रतिदिन सम्यग्दर्शनादि गुणों की हानि, संक्लेश परिणामों की वृद्धि के योग से अंगुल के असंख्यातवें भाग तक घटता रहे, वह हीयमान अवधिज्ञान है। **(रा.वा. ४)**

अवस्थित - सम्यग्दर्शनादि गुणों के अवस्थान से अवधिज्ञान मुक्तिप्राप्ति या केवलज्ञान पर्यन्त जैसे का तैसा बना रहे, न बढ़े और न घटे वह अवस्थित अवधिज्ञान है। जैसे -तिलादि चिह्न न घटते हैं और न बढ़ते हैं। **(रा.वा.४)**

अनवस्थित - जिस परिमाण में उत्पन्न हुआ अवधिज्ञान सम्यग्दर्शनादि गुणों की वृद्धि एवं हानि के कारण वायु से प्रेरित जल की तरंगों के समान जहाँ तक घट सकता है वहाँ तक घटता रहे और जहाँ तक बढ़ सकता है वहाँ तक बढ़ता रहे वह अनवस्थित अवधिज्ञान है। **(रा.वा. ४)**

सप्रतिपाती - जो अवधिज्ञान उत्पन्न होकर निर्मूल विनाश को प्राप्त होता है वह सप्रतिपाती अवधिज्ञान है।

अप्रतिपाती - जो अवधिज्ञान उत्पन्न होकर केवलज्ञान के उत्पन्न होने पर ही विनष्ट होता है अन्यथा विनष्ट नहीं होता वह अप्रतिपाती अवधिज्ञान है। **(ध. १३/२९५)**

५. **प्रश्न : अनुगामी अवधिज्ञान कितने प्रकार का होता है ?**

उत्तर : अनुगामी अवधिज्ञान तीन प्रकार का है -

(१) क्षेत्रानुगामी (२) भवानुगामी (३) क्षेत्रभवानुगामी।

क्षेत्रानुगामी - जो अवधिज्ञान एक क्षेत्र में उत्पन्न होकर स्वत: या पर-प्रयोग से जीव के स्वक्षेत्र या परक्षेत्र में विहार करने पर विनष्ट नहीं होता वह क्षेत्रानुगामी अवधिज्ञान है।

भवानुगामी - जो अवधिज्ञान उत्पन्न होकर उस जीव के साथ अन्य भव में जाता है वह भवानुगामी अवधिज्ञान है।

क्षेत्रभवानुगामी - जो भरत, ऐरावत और विदेह आदि क्षेत्रों में तथा देव, नारक, मनुष्य और तिर्यञ्च भव में भी साथ जाता है वह क्षेत्रभवानुगामी अवधिज्ञान है। **(ध. १३/२९४)**

६. **प्रश्न : अननुगामी अवधिज्ञान कितने प्रकार का होता है ?**

उत्तर : अननुगामी अवधिज्ञान तीन प्रकार का है-

(१) क्षेत्राननुगामी (२) भवाननुगामी (३) क्षेत्रभवाननुगामी।

क्षेत्राननुगामी - जो क्षेत्रान्तर में साथ नहीं जाता, भवान्तर में साथ जाये या न जाये, वह क्षेत्राननुगामी अवधिज्ञान है।

भवाननुगामी - जो भवान्तर में साथ नहीं जाता, क्षेत्रान्तर में साथ जाये या न जाये, वह भवाननुगामी अवधिज्ञान है।

क्षेत्रभवाननुगामी - जो क्षेत्रान्तर और भवान्तर दोनों में साथ नहीं जाता, किन्तु एक ही क्षेत्र और भव के साथ सम्बन्ध रखता है वह क्षेत्रभवाननुगामी अवधिज्ञान कहलाता है। **(गो. जी. जी. ३७२)**

७. **प्रश्न : देशावधिज्ञान किसे कहते हैं ?**

उत्तर : देश का अर्थ सम्यक्त्व है, क्योंकि वह संयम का अवयव है वह जिस ज्ञान की अवधि अर्थात् मर्यादा है वह देशावधिज्ञान है। **(ध. १३/३२३)**

८. **प्रश्न : देशावधिज्ञान कितने प्रकार का है ?**

उत्तर : देशावधिज्ञान तीन प्रकार का है-

(१) उत्कृष्ट (२) मध्यम (३) जघन्य । अथवा

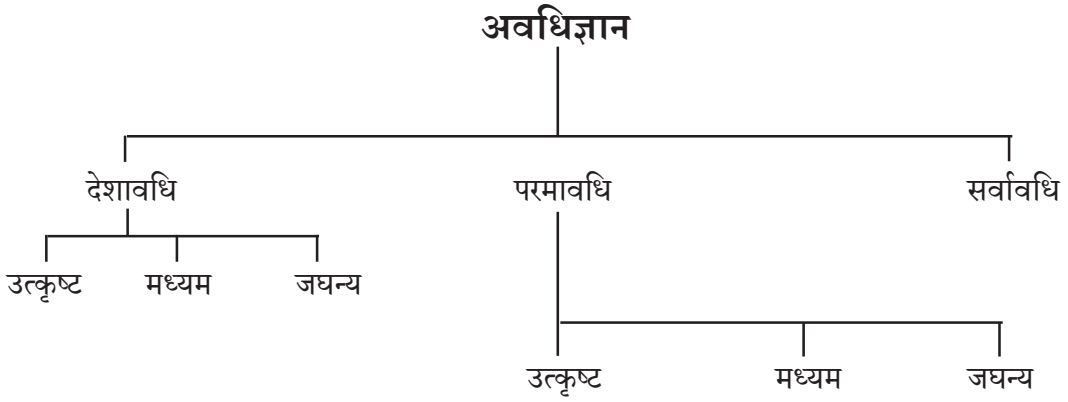
अवधिज्ञान
देशावधि
परमावधि
सर्वावधि
उत्कृष्ट
मध्यम
जघन्य
उत्कृष्ट
मध्यम
जघन्य

अथवा

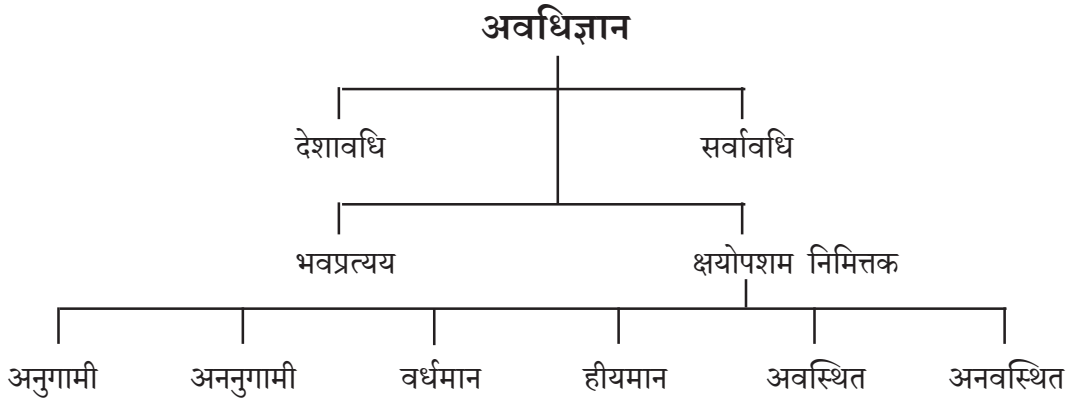
अवधिज्ञान
देशावधि
सर्वावधि
भवप्रत्यय
क्षयोपशम निमित्तक
अनुगामी
अननुगामी
वर्धमान
हीयमान
अवस्थित
अनवस्थित

अथवा

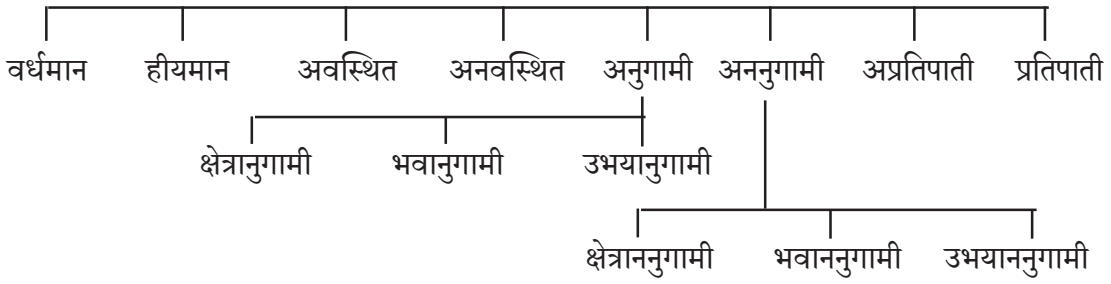
वर्धमान
हीयमान
अवस्थित
अनवस्थित
अनुगामी
अननुगामी
अप्रतिपाती
प्रतिपाती
क्षेत्रानुगामी
भवानुगामी
उभयानुगामी
क्षेत्राननुगामी
भवाननुगामी
उभयाननुगामी

देशावधि छह प्रकार का है- (१) वर्द्धमान (२) हीयमान (३) अनुगामी (४) अननुगामी (५) अवस्थित (६) अनवस्थित। **(गो.जी. ३७२)** अथवा आठ प्रकार का है-

वर्द्धमान, हीयमान, अवस्थित, अनवस्थित, अनुगामी, अननुगामी, अप्रतिपाती, प्रतिपाती। **(गो. जी. जी. ३७२-७५)**

९. प्रश्न : देशावधिज्ञान किसको होता है ?

उत्तर : उत्कृष्ट देशावधि ज्ञान संयत मनुष्यों को ही होता है असंयतों को नहीं। **(रा.वा. ४)** देशावधि का जघन्य भेद संयमी व असंयमी मनुष्य-तिर्यञ्च के ही होता है, देव-नारकी के नहीं। देशावधि का उत्कृष्ट भेद संयमी महाव्रती मनुष्य के ही होता है शेष तीन गतियों में नहीं होता क्योंकि वहाँ महाव्रत संभव नहीं हैं। **(गो. जी.जी. ३७४)** देशावधि भी दर्शनविशुद्धि आदि लक्षण वाले सम्यग्दर्शनादि गुण होते संते हो है। **(गो. जी. जी. ३७३)**

१०. प्रश्न : देशावधि का क्षेत्र, काल, द्रव्य और भाव की अपेक्षा कितना विषय है ?

उत्तर : देशावधि ज्ञान का सर्व जघन्य **क्षेत्र** उत्सेधांगुल के असंख्यातवें भाग, उत्कृष्ट क्षेत्र सर्व लोक तथा मध्यम क्षेत्र जघन्य और उत्कृष्ट के बीच का असंख्यात प्रकार का है।

देशावधि का जघन्य **काल** आवलि के असंख्येयभाग और उत्कृष्ट काल असंख्यात वर्ष की बात को जानता है।

देशावधि का **द्रव्य** अंगुल के असंख्यातवें भाग क्षेत्र प्रदेश प्रमाण है अर्थात् अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण क्षेत्र में स्थित असंख्यात और अनन्त प्रदेशों में इस ज्ञान की प्रवृत्ति होती है।

देशावधि ज्ञान **भाव** की अपेक्षा स्व विषय स्कन्धगत अनन्त वर्ण, रस आदि भाव को जानता है। **(रा.वा. ४)**

११. प्रश्न : तिर्यञ्चों में उत्कृष्ट रूप से देशावधि का कितना विषय है ?

उत्तर : तिर्यञ्चों में उत्कृष्ट देशावधि असंख्यात द्वीप-समुद्र प्रमाण आकाशप्रदेशों से परिमित असंख्यात तेजो शरीर द्रव्य वर्गणाओं से रचित असंख्यात स्कन्धों के अनन्त प्रदेशों को जानता है।

क्षेत्र की अपेक्षा असंख्यात द्वीप समुद्र को जानता है।

काल की अपेक्षा असंख्यात वर्ष की बात को जानता है।

भाव की अपेक्षा स्वविषय स्कन्धगत अनन्त वर्ण रस आदि भाव को जानता है। **(रा.वा.४)**

१२. प्रश्न : मनुष्यों के उत्कृष्ट अवधिज्ञान का विषय कितना है ?

उत्तर : मनुष्यों के उत्कृष्ट देशावधि का **क्षेत्र** - असंख्यात द्वीप-समुद्र प्रमाण है।

काल - असंख्यात वर्ष प्रमाण है। **द्रव्य** - असंख्यात द्वीप-समुद्र प्रमाण आकाश प्रदेशों से परिमित असंख्यात ज्ञानावरणादि कार्माण द्रव्य की वर्गणाओं को जानता है।

भाव - स्वविषयक स्कन्ध के अनेक रूपादि भाव को जानता है। **(रा.वा. ४)**

१३. प्रश्न : परमावधिज्ञान किसे कहते हैं ?

उत्तर : परम, असंख्यात लोक मात्र संयमभेद ही जिस ज्ञान की अवधि अर्थात् मर्यादा है वह परमावधि-ज्ञान कहा जाता है। **(ध. १३/३२३)**

परम शब्द का अर्थ ज्येष्ठ है। परम ऐसा जो अवधि वह परमावधि है। **(ध. ९/४१)**

१४. प्रश्न : परमावधि ज्ञान में ज्येष्ठता क्यों है ?

उत्तर : चूँकि यह परमावधिज्ञान देशावधि की अपेक्षा महाविषयवाला है। मन:पर्ययज्ञान के समान संयत मनुष्यों में ही उत्पन्न होता है, अपने उत्पन्न होने के भव में ही केवलज्ञान की उत्पत्ति का कारण है और अप्रतिपाती है इसलिए उसके ज्येष्ठपना सम्भव है। **(ध. ९/४१)**

१५. प्रश्न : परमावधि ज्ञान कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : परमावधि ज्ञान तीन प्रकार का है -

(१) जघन्य परमावधि (२) मध्यम परमावधि (३) उत्कृष्ट परमावधि।

ये तीन ही प्रकार के परमावधिज्ञान वर्द्धमान ही होते हैं, हीयमान नहीं। अप्रतिपाती ही होते हैं प्रतिपाती नहीं। यह अवधिज्ञान जितने लोक में, लोकप्रमाण असंख्यात लोक क्षेत्र में उत्पन्न हुआ है उतना ही अवस्थित होता है अथवा वृद्धि के प्रति अनवस्थित भी होता है परन्तु हानि के प्रति नहीं। इस लोक में क्षेत्रांतर गमन के कारण अनुगामी है, परन्तु परलोकरूप देशान्तरगमन का अभाव होने के कारण अननुगामी है। **(रा.वा.४)**

१६. प्रश्न : परमावधिज्ञान किसके होता है ?

उत्तर : जघन्यादि तीनों प्रकार का अवधिज्ञान उत्कृष्ट चारित्र युक्त के ही होता है **(रा.वा. ४)** अन्य के नहीं। परमावधि ज्ञान की उत्पत्ति संयतों के ही होती है, इस ज्ञान के उत्पन्न होने पर वह जीव न कभी मिथ्यात्व को प्राप्त होता है और न कभी असंयम को भी प्राप्त होता है। **(ध. १३/३२३)**

परमावधिज्ञान चरम शरीरी विरत के ही होते हैं। **(प. का. ४१ ता. प्रक्षे. ३)**

देव, नारकी और गृहस्थ तीर्थंकर इनके परमावधि एवं सर्वावधि नहीं होती। **(गो. जी. जी. ३७३)**

१७. प्रश्न : परमावधिज्ञान का विषय कितना है ?

उत्तर : परमावधिज्ञान का जघन्य क्षेत्र एक प्रदेश अधिक लोकप्रमाण है तथा उत्कृष्ट क्षेत्र अग्नि-

काय के जीवों की संख्या के समान लोकालोक-प्रमाण असंख्येय लोक है। मध्यम के विकल्प जघन्योत्कृष्ट है। **(रा.वा. ४)**

परमावधि का काल एक प्रदेश अधिक लोकाकाश के प्रदेशों से अवधृत प्रमाण अविभागी असंख्यात प्रदेश प्रमाण संवत्सर है।

परमावधि का द्रव्य एक प्रदेश अधिक लोकाकाश के प्रदेशों के द्वारा अवधृत द्रव्य है। परमावधि भाव की अपेक्षा पूर्व के समान स्व विषय स्कन्धगत अनन्त वर्ण, रस आदि को जानता है। **(रा.वा.४)**

१८. प्रश्न : सर्वावधिज्ञान किसे कहते हैं ?

उत्तर : विश्व और कृत्स्न में सर्व शब्द के समानार्थक शब्द है। सर्व है मर्यादा जिस ज्ञान की वह सर्वावधि है। यहाँ सर्व शब्द समस्त द्रव्य का वाचक नहीं ग्रहण करना चाहिए क्योंकि जिसके परे अन्य द्रव्य न हो उसके अवधिपना नहीं बनता। किन्तु सर्व शब्द सर्व के एकदेशरूप रूपी द्रव्य में वर्तमान ग्रहण करना चाहिए। अथवा जो आकुंचन और विसर्पणादिकों को प्राप्त हो वह पुद्गल द्रव्य सर्व है। वही जिसकी मर्यादा है वह सर्वावधि है। **(ध. पु. ९/४७)**

सर्व का अर्थ केवलज्ञान है, उसका विषय जो-जो अर्थ होता है, वह भी उपचार से सर्व कहलाता है। सर्व अवधि अर्थात् मर्यादा जिस ज्ञान की होती है वह सर्वावधिज्ञान है। **(ध. १३-३२३)**

१९. प्रश्न : सर्वावधिज्ञान किसके होता है ?

उत्तर : वह सर्वावधिज्ञान भी निर्ग्रन्थों के ही होता है। **(ध. १३/३२३)**

यह सर्वावधिज्ञान चरमशरीरी तपोधनों के ही होता है जैसे कि कहा भी है - परमावधि व सर्वावधि चरम शरीरी विरत अर्थात् संयत के होते हैं। **(प. का. ४१ ता. प्रक्षे. ३)**

२०. प्रश्न : सर्वावधि ज्ञान कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : अविकल्प होने से सर्वावधिज्ञान एक ही प्रकार का होता है।

सर्वावधि वर्धमान, हीयमान, अनवस्थित और प्रतिपाती नहीं है। जब तक सर्वावधि ज्ञानधारी मुनि के संसार का क्षय नहीं होता तब तक वह अवस्थित रहता है इसलिए प्रतिपाती नहीं है। भवान्तर में साथ नहीं जाता अत: अननुगामी है, इस पर्याय में जब मुनि एक देश से देशान्तर में जाता है तब सर्वावधिज्ञान साथ में जाता है। इसलिए अनुगामी है। **(रा.वा. ४)**

२१. प्रश्न : सर्वावधि का विषय कितना है ?

उत्तर : असंख्यात के भी असंख्यात भेद होने से सर्वावधिज्ञान का क्षेत्र उत्कृष्ट परमावधि के क्षेत्र से असंख्यात गुणित है। काल, द्रव्य और भाव पूर्व के समान हैं। **(रा.वा. ४)**

२२. प्रश्न : अवधिज्ञानोपयोग कितने प्रकार का है ?

उत्तर : अवधिज्ञानोपयोग दो प्रकार का है -

(१) अनेक क्षेत्र (२) एक क्षेत्र।

अनेक क्षेत्र - श्रीवृक्ष, स्वस्तिक, नन्द्यावर्त आदि अनेक क्षेत्रों से प्रकट होना अनेक क्षेत्र अवधिज्ञानोपयोग है।

एक क्षेत्र - श्रीवृक्षादि में से किसी एक चिह्न के स्थान से उपयोग करना एकक्षेत्र अवधिज्ञानोपयोग है। **(रा. वा. ४)**

२३. प्रश्न : अवधिज्ञानी के श्रीवत्सादि चिह्न कहाँ होते हैं ?

उत्तर : एक जीव के एक ही स्थान में अवधिज्ञान का करण (चिह्न) होता है, ऐसा कोई नियम नहीं है क्योंकि किसी भी जीव के एक, दो, तीन, चार, पाँच और छह आदि क्षेत्र रूप शंखादि शुभ संस्थान संभव हैं। ये संस्थान तिर्यञ्च और मनुष्यों में उपरिम भाग में होते हैं, नीचे के भाग में नहीं होते, क्योंकि शुभ संस्थानों का अधोभाग के साथ विरोध है तथा तिर्यञ्च और मनुष्य विभंगज्ञानियों के नाभि के नीचे गिरगिट आदि अशुभ संस्थान होते हैं। ऐसा गुरु का उपदेश है, इस विषय में कोई सूत्रवचन नहीं है। **(ध. पु. १३/२९७)**

२४. प्रश्न : क्या अवधिज्ञान सभी जीवों के सर्वांगों से उत्पन्न होता है ?

उत्तर : नहीं, नारकी, देव और तीर्थंकर इनका जो अवधि क्षेत्र है उसके भीतर ये सर्वांग से जानते हैं और शेष जीव एकदेश से जानते हैं ऐसा नियम नहीं करना चाहिए क्योंकि परमावधिज्ञानी और सर्वावधिज्ञानी गणधरादिक अपने शरीर के सब अवयवों से अपने विषयभूत अर्थ को ग्रहण करते हुए देखे जाते हैं इसलिए शेष जीव शरीर के एकदेश से और सर्वांग से जानते हैं, ऐसा यहाँ ग्रहण करना चाहिए। **(ध. पु. १३/२९५-९६)**

२५. प्रश्न : सूत्र में 'शेषाणां' पद क्यों दिया है ?

उत्तर : यद्यपि सभी जीवों के अवधिज्ञान क्षयोपशम निमित्तक होता है तथापि नियम बताने के लिए 'शेष' शब्द दिया है, जैसे 'पानी नहीं पीता है' ऐसा कोई नहीं है तथापि पानी ही पीता है और कुछ नहीं खाता, ऐसा नियम बताने के लिए पानी ही पीता है ऐसा कहा जाता है उसी प्रकार क्षयोपशम निमित्त सबके होने पर भी मनुष्य और तिर्यञ्चों के क्षयोपशमनिमित्तक ही अवधिज्ञान होता है भवप्रत्यय नहीं, इसलिए सूत्र में 'शेष' शब्द दिया गया है। **(रा.वा. ३)**

२६. प्रश्न : क्या सभी तिर्यञ्च-मनुष्यों के अवधिज्ञान होता है ?

उत्तर : नहीं, क्योंकि असंज्ञी जीवों (एकेन्द्रिय से असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यन्त) तथा अपर्याप्तक (सम्मूर्च्छन तिर्यञ्च मनुष्य) जीवों में अवधिज्ञान की उत्पत्ति के सामर्थ्य का अभाव है। इसलिए संज्ञी और पर्याप्त जीवों को ही अवधिज्ञान होता है उनमें भी सभी संज्ञी और पर्याप्तकों के नहीं होता है। **(रा.वा.१)**

२७. प्रश्न : भवप्रत्यय एवं गुणप्रत्यय अवधिज्ञान में क्या अन्तर है ?

उत्तर : भवप्रत्यय अवधिज्ञान दैवनिकै, नारकीनिके अर चरम शरीरी तीर्थंकर देवनि कै पाइये है। सो यहु उनके सर्वांग तैं उत्पन्न हो है। बहुरि गुणप्रत्यय अवधिज्ञान है सो मनुष्य और संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यञ्च के संभव है। सो यहु उनके शंखादि चिह्नों से उत्पन्न हो है। भवप्रत्यय अवधिज्ञान विषै भी सम्यग्दर्शनादि गुण का सद्भाव है तथापि उन गुणों की अपेक्षा नाहीं करने तैं भवप्रत्यय कह्या। अर गुण-प्रत्यय विषै मनुष्य-तिर्यञ्च का सद्भाव है, तथापि उन पर्यायनि की अपेक्षा नाहीं करने तैं गुणप्रत्यय कहा है। **(गो. जी. जी. ३७१)**

२८. प्रश्न : क्षयोपशम निमित्तक अवधिज्ञान किसके होता है ?

उत्तर : ऊपर कथित सम्यग्दर्शनादि निमित्त कारणों के मिलने पर जिनके अवधि-ज्ञानावरण का क्षयोपशम हो गया है, उन्हीं संज्ञी पर्याप्तकों को इस (क्षयोपशम निमित्तक) अवधिज्ञान की उपलब्धि होती है। **(रा.वा. २)** आभिनिबोधिकज्ञान, श्रुतज्ञान एवं अवधिज्ञान असंयत सम्यग्दृष्टि से क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान तक होते हैं। **(ध. १/३६६)** जो गुणप्रत्यय अवधिज्ञान है वह तिर्यञ्च और मनुष्यों के होता है। **(ध. १३/२९२ त. सू. १/२२)**

२९. प्रश्न : यह अवधिज्ञान किन निमित्तों से उत्पन्न होता है ?

उत्तर : सम्यक्त्व से अधिष्ठित अणुव्रत और महाव्रत गुण जिस अवधिज्ञान के कारण हैं वह गुण-प्रत्यय अवधिज्ञान है। **(ध. १३/२९१)** देशावधि, परमावधि व सर्वावधि ये तीनों ही गुणप्रत्यय अवधिज्ञान निश्चय से विशिष्ट सम्यक्त्वादि गुणों के द्वारा होते है। **(पं. का. ता. ४१ प्रक्षे. ३)**

मन:पर्ययज्ञान को कहते हैं -

ऋजुविपुलमती मन:पर्यय: ॥२३॥

अर्थ - मन:पर्यय ज्ञान ऋजुमति एवं विपुलमति के भेद से दो प्रकार का है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसकी प्रसिद्धि के लिए कहा गया है ?

उत्तर : यह सूत्र मन:पर्यय ज्ञान के भेद एवं बहिरंग कारणों की प्रसिद्धि के लिए कहा गया है। मन:पर्ययज्ञान का स्वरूप बताने के लिए नहीं क्योंकि स्वरूप तो पूर्व में बता चुके हैं। **(श्लो. ४/२२)**

२. प्रश्न : मन:पर्यय ज्ञान कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : मन:पर्यय ज्ञान दो प्रकार का होता है-

(१) ऋजुमति मन:पर्यय (२) विपुलमति मन:पर्यय। **(त.सू. १/२३)**

३. प्रश्न : ऋजुमति मन:पर्यय ज्ञान किसे कहते हैं ?

उत्तर : ऋजु का अर्थ निर्वर्तित और प्रगुण है। दूसरे के मन को प्राप्त हुए वचन, काय और मनकृत

अर्थ के विज्ञान से निर्वर्तित जिसकी मति ऋजु है वह ऋजुमति कहलाता है। **(सर्वा. २१७)** निर्वर्तित और सरल रूप जो मति है वह ऋजु कहलाती है क्योंकि सरल रूप से चिन्तित वचन, काय और मन द्वारा स्मृत ऐसे पर के मन में स्थित पदार्थ को जानती है, ऋजु है मति जिसकी वह ऋजुमति कहलाती है। **(सुख. बो. त. वृ. ४८)**

४. **प्रश्न : ऋजुमति मन:पर्यय ज्ञान कितने प्रकार का है ?**

उत्तर : ऋजुमति मन:पर्ययज्ञान तीन प्रकार का है -

(१) ऋजुमनस्कृतार्थज्ञ (२) ऋजुवाक्कृतार्थज्ञ (३) ऋजुकायकृतार्थज्ञ।

जैसे - किसी ने किसी समय सरल मन से किसी पदार्थ का स्पष्ट विचार किया, स्पष्ट वचन से धर्मादि युक्त वचन का उच्चारण किया और उभय लोक के फल का निष्पादन करने के लिए अंगोपांग आदि प्रत्येक अंग की निपातन, आकुंचन, प्रसारण, लक्षण रूप शरीर की क्रियाओं को किया और क्रिया करके पुन: दूसरे समय में वा कालान्तर में उसी अर्थ के चिंतन, उच्चारण और काय क्रियाओं को भूल जाने से उस प्रकार के अर्थ का चिंतन करने में समर्थ नहीं है - परन्तु यदि ऋजुमति मन:पर्ययज्ञानी से पूछा जाय कि इसने अमुक समय में क्या चिंतन किया था, क्या कहा था और क्या किया था? या न भी पूछा जाय तो भी ऋजुमति मन:पर्ययज्ञानी सभी बातों को स्पष्ट रूप से प्रत्यक्ष जान कर बता देगा कि यह इसका अर्थ है, तूने उस समय यह विचार किया था, यह कहा था और इस प्रकार से शारीरिक चेष्टा की थी। **(रा.वा.७)**

५. **प्रश्न : ऋजुमति मन:पर्यय ज्ञान कितने द्रव्य को जानता है ?**

उत्तर : ऋजुमति मन:पर्यय ज्ञान जघन्य से एक समय सम्बन्धी औदारिक शरीर की तद्व्यतिरिक्त निर्जरा को जानता है अर्थात् उसकी जघन्य व उत्कृष्ट निर्जरा को न जान कर अजघन्योत्कृष्ट को जानता है। क्योंकि यहाँ सामान्य निर्देश है। उक्त ज्ञान उत्कर्ष से चक्षुरिन्द्रिय की निर्जरा को जानता है, क्योंकि शेष इन्द्रियों की अपेक्षा यह इन्द्रिय अल्प परिमाण वाली है और वह अपने आरम्भक पुद्गलों की श्लक्ष्णता (सूक्ष्मता) से भी युक्त है। यह तद्व्यतिरिक्त निर्जरा को जानता है, ऐसा कथन करना चाहिए क्योंकि यहाँ भी सामान्य निर्देश है। जघन्य और उत्कृष्ट द्रव्य के मध्यम द्रव्य विकल्पों को तद्व्यतिरिक्त को ऋजुमति मन:पर्यय ज्ञानी जानता है। **(ध. पु. ९-६३-६४)**

६. **प्रश्न : ऋजुमति मन:पर्यय ज्ञान कितने क्षेत्र को जानता है ?**

उत्तर : ऋजुमति मन:पर्ययज्ञान क्षेत्र की अपेक्षा जघन्य से गव्यूति पृथक्त्व प्रमाण (आठ-नौ घन कोस प्रमाण) जानता है और उत्कर्ष से योजन पृथक्त्व (आठ-नौ घन योजन) के भीतर की बात जानता है, बाहर की नहीं। **(रा.वा. ७)**

७. **प्रश्न : ऋजुमति मन:पर्यय ज्ञान कितने काल की बात जानता है ?**

उत्तर : ऋजुमति मन:पर्ययज्ञान काल की अपेक्षा जघन्य से अपने और दूसरों के दो-तीन भवों को और उत्कृष्ट से सात-आठ भवों को गति-आगति के द्वारा निरूपित करता है जानता है। **(रा.वा. ७)**

८. प्रश्न : ऋजुमति मन:पर्ययज्ञान कितने भाव को जानता है ?

उत्तर : भाव की अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट द्रव्यों में उनके योग्य असंख्यात पर्यायों को जघन्य व उत्कृष्ट ऋजुमति जानता है। **(ध. पु. ९-६५)**

ऋजुमति का विषयभूत भाव जघन्यपने आवली के असंख्यातवें भाग प्रमाण है और उत्कृष्टपने उससे असंख्यात गुणा आवली प्रमाण है। **(गो. जी. ४५८)**

९. प्रश्न : ऋजुमतिमन:पर्यय ज्ञान किस-किस को जानता है ?

उत्तर : ऋजुमति मन:पर्ययज्ञान मन के द्वारा दूसरे के मन को जानकर उसके मन की चिंता, जीवन-मरण, सुख-दु:ख, लाभ-अलाभ को जान लेता है। यह ज्ञान स्पष्ट एवं सरल मन वालों की संज्ञा आदि को जानता है, अव्यक्त मनवालों की नहीं। **(रा.वा. ७)** अपने मन के द्वारा दूसरे के मानस को जानकर ऋजुमति मन:पर्ययज्ञान काल से विशेषित दूसरों की संज्ञा (शब्द कलाप), स्मृति (अतीतकालगत दृष्ट, श्रुत, अनुभूत विषय), मति (अनागत काल विषयक), चिन्ता (वर्तमान कालगत विषय), इन सबको तथा उनके जीवित-मरण, लाभ-अलाभ, सुख-दु:ख को तथा नगर, देश, जनपद, खेट, कर्वट आदि के विनाश को तथा अतिवृष्टि-अनावृष्टि, सुवृष्टि-दुर्वृष्टि, सुभिक्ष-दुर्भिक्ष, क्षेम-अक्षेम, भय और रोग रूप पदार्थों को भी प्रत्यक्ष जानता है। और भी व्यक्त मन वाले अपने और दूसरे जीवों से सम्बन्ध रखने वाले अर्थ को वह जानता है, अव्यक्त मन वाले जीवों से सम्बन्ध रखने वाले अर्थ को नहीं जानता। **(ध. १३/३३२-३३७)**

१०. प्रश्न : व्यक्त एवं अव्यक्त मन किसे कहते हैं ?

उत्तर : व्यक्त का अर्थ 'निष्पन्न' होता है। जिनका मन संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से रहित है वे व्यक्त मन वाले जीव हैं। **(ध. १३/३३७)**

चिन्तित अर्थ युक्त मन व्यक्त है। **(ध. १३/३३७)**

(जिनके द्वारा व्यक्त स्पष्टीकृत अर्थ चिंतन से भली प्रकार व्यवस्थित है वे जीव व्यक्त मन वाले कहलाते हैं।)

अचिन्तित व अर्धचिन्तित अर्थ युक्त मन अव्यक्त है। इससे विपरीत व्यक्त मन कहलाता है। **(ध. पु. १३/३४२ के आधार से)**

११. प्रश्न : विपुलमति मन:पर्ययज्ञान किसे कहते हैं ?

उत्तर : विपुल का अर्थ अनिर्वर्तन और कुटिल है, क्योंकि परकीय मनोगत अनिर्वर्तित या वक्र मन-वचन-काय सम्बन्धी पदार्थ को जानता है वह विपुलमति मन:पर्ययज्ञान है। दूसरे की मति में स्थित पदार्थ मति कहा जाता है। **(रा.वा.३)** विपुल का अर्थ विस्तीर्ण है। **(ध. ९/६६)** सरल या वक्र मन-वचन-काय के द्वारा किया गया कोई अर्थ, उसके चिन्तन युक्त किसी अन्य जीव के मन को जानने से निष्पन्न

या अनिष्पन्न मति को विपुल कहते हैं। (ऐसी विपुल या कुटिल मति है जिसकी सो विपुलमति है)। **(गो. जी. ४३९)**

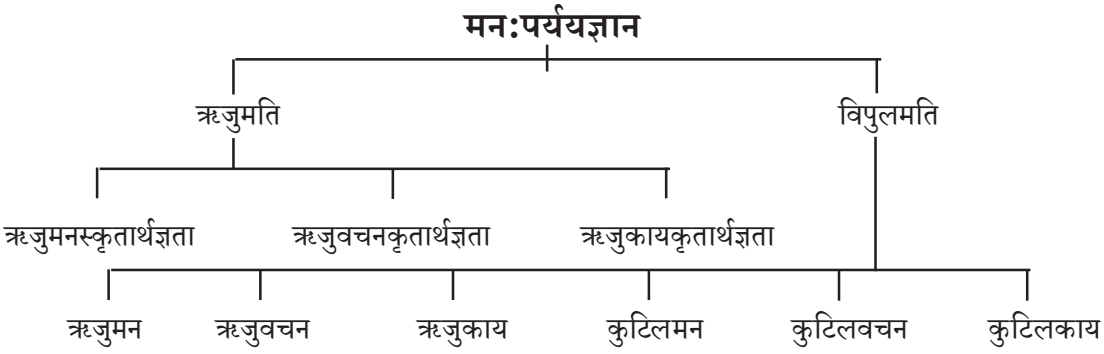

१२. प्रश्न : विपुलमति में विपुलता किस कारण है ?

उत्तर : यथार्थ, अयथार्थ व उभय तीनों प्रकार के मन, तीनों प्रकार के वचन और तीनों प्रकार के काय को प्राप्त होने से इसमें विपुलता है। **(ध. पु. ९/६६)**

१३. प्रश्न : विपुलमति मन:पर्यय ज्ञान कितने प्रकार का है ?

उत्तर : जो विपुलमति मन:पर्ययज्ञान है वह छह प्रकार का है-

(१) सरल मनोगत पदार्थ को जानता है, (२) सरल वचनगत पदार्थ को जानता है। (३) सरल कायगत पदार्थ को जानता है। (४) कुटिल कायगत पदार्थ को जानता है। (५) कुटिल मनोगत पदार्थ को जानता है। (६) कुटिल वचनगत पदार्थ को जानता है। **(गो. जी. ४४०)**

सरल और कुटिल मन-वचन-काय के विषय के जानने से विपुलमति मन:पर्यय ज्ञान छह प्रकार का है। **(रा.वा. ८)**

१४. प्रश्न : विपुलमति मन:पर्ययज्ञान किस-किस को जानता है ?

उत्तर : भूत, भविष्यत् व वर्तमान जीव के द्वारा चिंतन किये गये त्रिकालगत रूपी पदार्थों को विपुलमति जानता है। **(गो.जी. ४४१)**

यह विपुलमतिज्ञान स्व और पर के व्यक्त मन के और अव्यक्त मन के द्वारा चिंतित, अचिंतित या अर्धचिंतित सभी प्रकार से चिंता, जीवन-मरण, सुख-दु:ख, लाभ-अलाभ आदि को जानता है। **(रा.वा.८)**

१५. प्रश्न : विपुलमति मन:पर्यय ज्ञान कितने द्रव्य को जानता है ?

उत्तर : द्रव्य की अपेक्षा विपुलमति मन:पर्यय ज्ञान एक समय रूप इन्द्रिय निर्जरा (चक्षु-इन्द्रिय की निर्जरा) को जानता है। उत्कृष्ट द्रव्य के ज्ञापनार्थ उसके योग्य असंख्यात कल्पों के समयों को शलाका रूप से स्थापित करके, मनो द्रव्य वर्गणा के अनन्तवें भाग का विरलन करके विस्रसोपचय रहित आठ कर्मों से सम्बद्ध अजघन्यानुत्कृष्ट एकसमयप्रबद्ध को समखण्ड करके देने पर उनमें एक खण्ड द्रव्य का द्वितीय

विकल्प होता है। इस समय शलाका राशि में से एक रूप कम करना चाहिए। इस प्रकार इस विधान से शलाका राशि समाप्त होने तक ले जाना चाहिए। इसमें अन्तिम द्रव्य विकल्प को उत्कृष्ट विपुलमति जानता है। जघन्य और उत्कृष्ट द्रव्य के मध्यम विकल्पों को तद्व्यतिरिक्त अर्थात् मध्यम विपुलमति जानता है। **(ध. ९/६६-६७)**

१६. प्रश्न : विपुलमति मन:पर्ययज्ञान कितने क्षेत्र की बात जानता है ?

उत्तर : विपुलमति मन:पर्ययज्ञान क्षेत्र की अपेक्षा जघन्य से योजन पृथक्त्व प्रमाण क्षेत्र को जानता है उत्कर्ष से मानुषोत्तर शैल के भीतर जानता है, बाहर नहीं जानता। (अर्थात् ४५००००० यो. घनप्रतर को जानता है) मानुषोत्तर पर्वत के भीतर स्थित प्रश्न करने वाले मानव के मन की बात जानता है, न कि उतने क्षेत्र में स्थित पदार्थों को जानता है। **(रा.वा. ८)**

१७. प्रश्न : विपुलमति मन:पर्ययज्ञान कितने काल की बात को जानता है ?

उत्तर : विपुलमति मन:पर्ययज्ञान काल की अपेक्षा जघन्य से स्व-पर के सात-आठ भव और उत्कृष्ट से असंख्यात गति-आगति के द्वारा भवों का निरूपण करता है। **(रा.वा. ८)**

१८. प्रश्न : विपुलमति मन:पर्ययज्ञान कितने भावों को जानता है ?

उत्तर : विपुलमति का विषयभूत भाव जघन्य तो ऋजुमति के उत्कृष्ट भाव से असंख्यातगुणा है और उत्कृष्ट से असंख्यात लोक प्रमाण है। **(गो. जी. ४५८)** भाव की अपेक्षा जो-जो द्रव्य इसे (विपुलमति को) ज्ञात है, उस-उस की असंख्यात पर्यायों को जानता है। **(ध. पु. ९-६९)**

१९. प्रश्न : क्या अवधिज्ञान के समान मन:पर्यय ज्ञान भी किन्हीं विशेष चिह्नों से जानता है?

उत्तर : नहीं, क्योंकि वह (मन:पर्ययज्ञान) विकसित अष्ट पांखुड़ीयुक्त कमल के आकार वाले द्रव्य मन के प्रदेशों में उत्पन्न होता है। **(ध. पु. १३-३३२)** जिस प्रकार भव प्रत्यय अवधिज्ञान सर्वांग से और गुणप्रत्यय करण चिह्नों से उत्पन्न होता है इसी प्रकार मन:पर्यय ज्ञान द्रव्यमन से उत्पन्न होता है। **(गो.जी. ४४२)** अंगोपांग नामकर्म के उदय से मनोवर्गणा के स्कन्धों के द्वारा हृदयस्थान में नियम से विकसित आठ पांखुड़ी के कमल के आकार में द्रव्यमन उत्पन्न होता है। इस द्रव्यमन की नो-इन्द्रिय संज्ञा भी है, क्योंकि दूसरी इन्द्रियों की तरह यह व्यक्त नहीं है। इस द्रव्य मन के निमित्त से भावमन तथा मन:पर्यय ज्ञान उत्पन्न होता है। **(गो. जी. ४४३-४४)**

२०. प्रश्न : मन:पर्यय ज्ञान एवं मानस मतिज्ञान में क्या अन्तर है ?

उत्तर : मन:पर्यय ज्ञान में दूसरे के मन की अपेक्षा मात्र है। जैसे 'आकाश में चन्द्रमा को देखो' इसमें आकाश निमित्त मात्र है, वह चक्षु आदि के समान, चन्द्रज्ञान का उत्पादक नहीं है। उसी प्रकार दूसरे के मन की मन:पर्ययज्ञान में अपेक्षा मात्र है। मन:पर्ययज्ञान दूसरे के मन में स्थित पदार्थ को जानता है। यह मन:पर्ययज्ञान मन की आधीनता से उत्पन्न नहीं होता। इसलिए इसमें मतिज्ञान का प्रसंग नहीं आता। अथवा - चक्षु में स्थित आत्मप्रदेशों में अवधिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होने पर चक्षु की अपेक्षा मात्र होने

से जैसे चक्षु में अवधि व्यपदेश इष्ट है परन्तु वह अवधिज्ञान मतिज्ञान नहीं हो जाता, उसी प्रकार स्वकीय मन:स्थित आत्मप्रदेशों में मन:पर्यय ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होने से मन:पर्यय यह व्यपदेश होता है। उसको मतिज्ञान नहीं कह सकते हैं। **(रा.वा.२-३)**

ऋजुमति और विपुलमति में विशेषता बताते हैं -

विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेष: ॥२४॥

विशुद्धि-अप्रतिपाताभ्यां तत्-विशेष:।

अर्थ - विशुद्धि और अप्रतिपात की अपेक्षा इन दोनों में विशेषता है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : उपर्युक्त अपने नाम (ऋजुमति-विपुलमति) से ही दोनों में भेद कह दिया गया है फिर भी उन दोनों में विशेषताओं के कारणों को बताने के लिए विशुद्ध्यप्रति---॥२४॥ सूत्र कहा गया है। **(श्लोक ४/३०)**

२. प्रश्न : विशुद्धि किसे कहते हैं ?

उत्तर : ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होने पर आत्मपरिणामों में जो निर्मलता आती है उसको विशुद्धि कहते हैं। **(रा.वा.उ.)**

३. प्रश्न : किन जीवों के प्रतिपाती एवं किनके अप्रतिपाती मन:पर्ययज्ञान होता है ?

उत्तर : चारित्र मोहनीय कर्म के उद्रेक से संयम के शिखर से च्युत हुए उपशांत कषायी जीवों का मन:पर्ययज्ञान प्रतिपाती होता है परन्तु क्षीणकषायी बारहवें गुणस्थानवर्ती जीवों के प्रतिपाती कारणों का अभाव होने से अप्रतिपाती है। **(रा.वा.उ.)**

४. प्रश्न : विशुद्धि एवं अप्रतिपात की अपेक्षा दोनों में क्या अन्तर है ?

उत्तर : विशुद्धि की अपेक्षा ऋजुमति मन:पर्यय ज्ञान से विपुलमति मन:पर्ययज्ञान द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा विशुद्धतर है। तथा अप्रतिपाती की अपेक्षा विपुलमति विशिष्ट है क्योंकि इसमें स्वामियों के प्रवर्धमान चारित्र पाया जाता है। परन्तु ऋजुमति प्रतिपाती है, क्योंकि इनके स्वामियों के कषाय के उदय से घटता हुआ चारित्र पाया जाता है। **(सर्वा. २२०)**

५. प्रश्न : ऋजुमति की अपेक्षा विपुलमति विशुद्धतर किस कारण है ?

उत्तर : यहाँ जो कार्मण द्रव्य का अनन्तवाँ अन्तिम भाग सर्वावधिज्ञान का विषय है उसके भी अनन्त भाग करने पर जो अन्तिम भाग प्राप्त होता है वह ऋजुमति का विषय है और इस ऋजुमति के विषय के अनन्त भाग करने पर जो अन्तिम भाग प्राप्त होता है वह विपुलमति का विषय है। इस प्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल की विशुद्धि कही। (क्षेत्र, काल का कथन पूर्व सूत्र में कर दिया गया है) भाव की अपेक्षा विशुद्धि

उत्तरोत्तर सूक्ष्म द्रव्य को विषय करने वाला होने से ही जान लेनी चाहिए। क्योंकि इनके उत्तरोत्तर प्रकृष्ट क्षयोपशम रूप विशुद्धि पाई जाती है। इसलिए ऋजुमति से विपुलमति की विशुद्धि अधिक है। **(सर्वा.२२०)**

६. **प्रश्न : कैसे जाना जाता है कि इस सूत्र में ऋजुमति एवं विपुलमति ज्ञान में विशेषता बताई गई है ?**

उत्तर : सूत्र में दिये गये 'तत्' शब्द से जाना जाता है कि इस सूत्र में उन पूर्व सूत्र में कहे गये ऋजुमति एवं विपुलमति मन:पर्यय ज्ञान की विशेषता बताई गयी है। **(श्लो. ४/३१)**

अवधि और मन:पर्ययज्ञान में विशेषता कहते हैं -

विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमन:पर्ययो: ।।२५।।

विशुद्धि-क्षेत्र-स्वामि-विषयेभ्य:-अवधि-मन:पर्ययो: ।

अर्थ - विशुद्धि, क्षेत्र, स्वामी और विषय की अपेक्षा अवधि और मन:पर्यय ज्ञान में विशेषता है।

विशुद्धि - परिणामों की निर्मलता को विशुद्धि कहते हैं।

क्षेत्र - जानने योग्य पदार्थों के आधार को क्षेत्र कहते हैं।

स्वामी - वस्तु को जानने वाले को स्वामी कहते हैं।

विषय - ज्ञान के द्वारा जानने योग्य पदार्थ को विषय कहते हैं।

१. **प्रश्न : यह सूत्र किस प्रयोजन से लिखा गया है ?**

उत्तर : मन:पर्ययज्ञान का अवधिज्ञान से विशेष किन-किन विशेषताओं से है, इस बात को बताने के लिए सूत्रकार ने ''विशुद्धि क्षेत्र-----'' आदि सूत्र को आगम के अनुसार स्पष्ट कहा है। **(श्लो. ४/३६)**

२. **प्रश्न : अवधि और मन:पर्यय ज्ञान में विशुद्धि की अपेक्षा क्या विशेषता है ?**

उत्तर : इन दोनों ज्ञानों में अवधिज्ञान की अपेक्षा मन:पर्यय ज्ञान विशुद्धतर है। क्योंकि मन:पर्यय ज्ञान का विषय सूक्ष्म है। **(सर्वा. २२२)**

३. **प्रश्न : अवधिज्ञान से मन:पर्ययज्ञान विशुद्ध कैसे हो सकता है क्योंकि सर्वावधिज्ञान के अनन्तवें भाग द्रव्य को मन:पर्यय जानता है ।**

उत्तर : यद्यपि सर्वावधि ज्ञान का अनन्तवाँ भाग मन:पर्ययज्ञान का विषय होता है, अत: अल्प विषय है, फिर भी वह उस द्रव्य की बहुत पर्यायों को जानता है; जैसे एक विद्वान् बहुत शास्त्रों को जानता

है परन्तु एकदेश जानता है, उस शास्त्र के सर्व अर्थ को जानने में समर्थ नहीं है। एक विद्वान् एक शास्त्र जानता है परन्तु पूर्ण रूप से जानता है। जैसे बहुत शास्त्रों का थोड़ा-थोड़ा परिचय रखने वाले पल्लवग्राही पंडित से एक शास्त्र के यावत् सूक्ष्म अर्थों को तलस्पर्शी गंभीर व्याख्याओं से जानने वाला प्रगाढ़ विद्वान् विशुद्धतर माना जाता है उसी प्रकार अवधिज्ञान के विषय से अनन्तवें भाग जानने वाला मन:पर्ययज्ञान विशुद्धतर है क्योंकि वह रूपादि बहुत सी पर्यायों के द्वारा अनन्त भाग का प्ररूपण करता है। **(रा.वा.१)**

४. प्रश्न : अवधि और मन:पर्ययज्ञान में क्षेत्र की अपेक्षा क्या विशेषता है ?

उत्तर : क्षेत्रापेक्षा मन:पर्ययज्ञान से अवधिज्ञान का क्षेत्र परमक्षेत्रपने को प्राप्त हो रहा है। (क्योंकि अवधिज्ञान असंख्यात लोकस्थित पदार्थों को जानता है और मन:पर्ययज्ञान मात्र मानुषोत्तर पर्वत तक स्थित प्राणियों के मन की बात जानता है।) **(श्लो. ४/३७)**

नोट : अवधिज्ञान का विषय देखें **(१/२२)**

५. प्रश्न : इन दोनों ज्ञानों में स्वामी की अपेक्षा क्या विशेषता है ?

उत्तर : इन दोनों ज्ञानों में स्वामी की अपेक्षा अवधिज्ञान से मन:पर्ययज्ञान विशिष्ट है क्योंकि वह विशिष्ट संयमी के ही होता है और अवधिज्ञान अविशिष्ट क्योंकि वह चारों गतियों के जीवों में पाया जाता है। **(श्लो. ४/३७)**

६. प्रश्न : मन:पर्ययज्ञान किसको होता है ?

उत्तर : मन:पर्ययज्ञान मनुष्यों में ही उत्पन्न होता है, नरक-तिर्यञ्चादि में नहीं होता। मनुष्यों में पर्याप्त मनुष्यों में ही होता है, सम्मूर्च्छनों में नहीं। कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों में ही होता है भोगभूमिज मनुष्यों में नहीं। कर्मभूमिजों में भी पर्याप्त मनुष्यों में ही होता है, अपर्याप्तकों (निवृत्यपर्याप्तकों) में नहीं। पर्याप्तकों में भी सम्यग्दृष्टि संयमी मनुष्यों के ही होता है मिथ्यादृष्टि आदि पंचम गुणस्थान तक के जीवों को नहीं। प्रमत्त से लेकर बारहवें गुणस्थान तक के संयमियों में होता है ऊपर के गुणस्थानों में नहीं। जो संयमी प्रवर्द्धमान चारित्र वाले हैं उनके ही होता है। जिनका चारित्र हीयमान है वे मन:पर्ययज्ञान के पात्र नहीं हैं। प्रवर्द्धमान चारित्र वाले संयमियों में सात ऋद्धियों में से किसी एक ऋद्धिप्राप्त मुनि के ही मन:पर्ययज्ञान होता है सर्वसंयमियों के नहीं। ऋद्धिप्राप्त मुनियों में भी सर्वऋद्धिधारी मुनियों के नहीं होता, विशिष्ट संयमियों के ही होता है। **(रा.वा.२)**

७. प्रश्न : इन दोनों में विषय की अपेक्षा क्या विशेषता है ?

उत्तर : सम्पूर्ण रूपी और अरूपी (पुद्गल से बँधे) अर्थों को विषय करने वाला मन:पर्ययज्ञान रूपी पदार्थों को विषय करने वाले अवधिज्ञान से विशिष्ट है। **(श्लो. ४/३७)**

८. प्रश्न : मन:पर्ययज्ञान कौनसे गुणस्थान में उत्पन्न होता है ?

उत्तर : ऋजुमति और विपुलमति दोनों मन:पर्ययज्ञान उपेक्षा संयम रूप संयम लब्धि होने पर ही

होते हैं और वह भी विशुद्धि परिणामों में तथा वीतराग आत्मतत्त्व के सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान व चारित्र की भावना सहित, पन्द्रह प्रकार के प्रमाद से रहित अप्रमत्त मुनि के ही उत्पन्न होते हैं। यहाँ अप्रमत्तपने का नियम उत्पत्तिकाल में ही है, पीछे प्रमत्त अवस्था में भी सम्भव है। **(पं.का.ता. ४१ प्रक्षे.४)**

९. प्रश्न : क्या उपशम सम्यक्त्व के साथ भी मन:पर्ययज्ञान होता है ?

उत्तर : जो वेदक सम्यक्त्व के पीछे द्वितीयोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त होता है उस उपशम सम्यग्दृष्टि के प्रथम समय में भी मन:पर्ययज्ञान पाया जाता है। किन्तु मिथ्यात्व से पीछे आये हुए (प्रथम) उपशम सम्यग्दृष्टि जीव में मन:पर्ययज्ञान नहीं पाया जाता है, क्योंकि मिथ्यात्व से पीछे आये हुए उपशम सम्यग्दृष्टि के उपशम सम्यक्त्व के उत्कृष्ट काल से भी ग्रहण किये गये संयम के प्रथम समय से लगा कर सर्व जघन्य मन:पर्ययज्ञान को करने वाला संयमकाल बहुत बड़ा है। **(ध. २/७२८-२९)**

मति-श्रुतज्ञान का विषय बताते हैं -

मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु ॥२६॥

मति-श्रुतयो:- निबन्ध:- द्रव्येषु-असर्वपर्यायेषु।

(मति-श्रुतयो:) मति और श्रुतज्ञान का (निबन्ध:) नियम (सम्बन्ध) (द्रव्येष्वसर्व-पर्यायेषु) द्रव्यों की कुछ पर्यायों में है।

अर्थ - मति और श्रुतज्ञान की प्रवृत्ति कुछ पर्यायों से युक्त सब द्रव्यों में होती है।

१. प्रश्न : इस सूत्र का प्रादुर्भाव क्यों हुआ है ?

उत्तर : आदि में कहे गये मति-श्रुत ज्ञानों के विषयों की विप्रतिपाती का अर्थात् अन्य वादियों के विवाद का निवारण करने के लिए इस सूत्र का प्रादुर्भाव हुआ है। **(श्लो. ४/३९)**

२. प्रश्न : अन्य वादी दोनों ज्ञानों के विषय में क्या मानते हैं जिसका निराकरण करने के लिए यह सूत्र कहा गया है ?

उत्तर : यौगाचार और बौद्ध अर्थात् शून्यवादी ज्ञान को निर्विषय मानते हैं अर्थात् स्वप्न ज्ञान के समान निर्विषय मानते हैं (अथवा कोई मानते हैं कि ये ज्ञान पदार्थों को तो जानते हैं परन्तु द्रव्यों को नहीं जानते) कोई वादीगण दोनों ज्ञानों का नियत विषय स्वीकार नहीं करके चाहे जिस किसी पदार्थ को विषय करने वाला मानते हैं, उपर्युक्त प्रतिवादियों की मिथ्या मान्यताओं का खण्डन करने के लिए इस सूत्र का प्रतिपादन किया गया है। **(श्लो. ४२)**

३. प्रश्न : कैसे जाना जाता है कि इस सूत्र में मति-श्रुतज्ञान का विषय बताया गया है?

उत्तर : यद्यपि इस सूत्र में विषय शब्द नहीं है फिर भी पूर्व सूत्र ''विशुद्धिक्षेत्र----'' ॥२६॥ में कहे गये 'विषय' शब्द का प्रयोजनवश अनुवर्तन कर लेने से यह जान लिया जाता है कि इस सूत्र में मतिश्रुत ज्ञान का विषय बताया गया है। **(श्लो. ४/४०)**

४. प्रश्न : सूत्र में 'द्रव्येषु' एवं 'असर्वपर्यायेषु' विशेषण किस प्रयोजन से दिये हैं ?

उत्तर : सूत्र में 'द्रव्येषु' यह विशेषण देने से मति-श्रुतज्ञान मात्र पर्यायों को ही नहीं जानते, द्रव्यों को भी जानते हैं, इससे केवल पर्यायों को ही मानने वालों के मत का खण्डन किया है। तथा 'असर्वपर्यायेषु' विशेषण से मतिश्रुत ज्ञान मात्र द्रव्य को ही नहीं जानते हैं, पर्यायों को भी जानते हैं, इससे मात्र द्रव्य को मानने वालों के मत का खण्डन किया है। **(श्लो. ४/४३)**

५. प्रश्न : मति-श्रुतज्ञान द्रव्य की अनन्त पर्यायों को क्यों नहीं जान सकते ?

उत्तर : (सर्व पर्यायों को जानने की शक्ति ज्ञानावरण कर्म के अत्यन्त क्षय होने पर ही होती है) और मति-श्रुतज्ञान क्षायोपशमिक होने से उनमें इस प्रकार की योग्यता नहीं है। इसलिए वे दोनों ज्ञान द्रव्य की अनन्त पर्यायों को नहीं जान सकते। (इसी प्रकार अवधिज्ञान और मन:पर्यय ज्ञान भी क्षायोपशमिक होने से अनन्त पर्यायों को नहीं जान सकते हैं।) **(श्लो. ४/५८)**

सर्व अनन्त पर्याय मतिज्ञान का विषय नहीं है क्योंकि मतिज्ञान चक्षुआदि इन्द्रियों के अवलम्बनभूत है इसलिए जिस द्रव्य में रूपादि है उसी को जानते हैं, उसकी भी सर्व पर्यायों को नहीं जान सकते हैं। श्रुतज्ञान भी प्राय: शब्द निमित्तक होता है। वे शब्द संख्यात ही हैं और द्रव्य-पर्यायें संख्यात, असंख्यात, अनन्त भेद रूप हैं अत: वे संख्यात शब्द सर्व पर्यायों को विषय नहीं कर सकते। कहा भी है – शब्दों के द्वारा प्रज्ञापनीय पदार्थों से वचनातीत पदार्थ अनन्तगुणे हैं और जितने प्रज्ञापनीय (कहने योग्य) पदार्थ हैं उसके अनन्तवें भाग पदार्थ श्रुत में निबद्ध होते हैं। **(रा.वा. ४)**

अवधिज्ञान का विषय कहते हैं -

रूपिष्ववधेः ॥२७॥

रूपिषु - अवधेः।

अर्थ - अवधिज्ञान रूपी पदार्थों को ही जानता है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किस प्रयोजन से लिखा गया है ?

उत्तर : (आदि के दो मति-श्रुत इन परोक्ष ज्ञानों का नियम कर) प्रत्यक्ष ज्ञान स्वरूप अवधिज्ञान का किन विषयों में नियम है, इसका निर्णय करने के लिए 'रूपिष्ववधेः' इस सूत्र वचन को कहा है। **(श्लो. ४/६२)**

२. प्रश्न : क्या अवधिज्ञान रूपी द्रव्यों की सर्व पर्यायों को जानता है ?

उत्तर : नहीं, असर्वपर्याय विशेषण का सम्बन्ध लगाने से सर्व पर्याय को जानने की निवृत्ति हो जाती है। इस सूत्र में ऊपरी कथित 'असर्वपर्यायेषु' की अनुवृत्ति कर लेनी चाहिए। जैसे - 'जिनदत्त के लिए कम्बल और देवदत्त के लिए गाय दो', इसमें 'दो' इस शब्द की अनुवृत्ति जिनदत्त और देवदत्त दोनों के लिए होती है उसी प्रकार इस सूत्र में 'असर्वपर्याय' की अनुवृत्ति कर लेनी चाहिए। **(रा.वा.४)**

(२) अवधिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम पदार्थों को जानने का कारण है। अथवा - अवधिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से अवधिज्ञान की निज शक्ति मानी है। उस शक्ति के वश से असम्पूर्ण-पर्यायों में ही प्रवृत्ति होती है। उसकी प्रवृत्ति न तो अनन्त पर्यायों में होती है और न ही अमूर्तिक आकाश आदि द्रव्यों में होती है। **(श्लो. ४/६४)**

३. प्रश्न : क्या अवधिज्ञान रूप की मुख्यता से ही पदार्थों को ग्रहण करता है ?

उत्तर : रूपी पुद्गल का ग्रहण उपलक्षण मात्र होने से उसके अविनाभावी रस का तो ग्रहण हो ही जाता है। **(रा.वा. ३)**

४. प्रश्न : अवधिज्ञान का विषय क्या है ?

उत्तर : अवधिज्ञान रूपी द्रव्यों की कुछ पर्यायों को और जीव के औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक भावों को जानता है। क्योंकि इनमें रूपी कर्म का सम्बन्ध है तथा रूपी कर्म के सम्बन्ध का अभाव होने से क्षायिक भाव, पारिणामिक भाव तथा धर्मादि द्रव्यों को अवधिज्ञान विषय नहीं करता, अवधिज्ञान इनको नहीं जानता है। **(रा.वा. ४)**

मन:पर्ययज्ञान का विषय कहते हैं -

तदनन्तभागे मन:पर्ययस्य ॥२८॥

तत्-अनन्त-भागे मन:पर्ययस्य ॥२८॥

(तत्) अवधिज्ञान के विषयभूत पदार्थ के (अनन्तभागे) अनन्तवें भाग में (मन:पर्ययस्य) मन:पर्ययज्ञान की प्रवृत्ति होती है।

अर्थ - अवधिज्ञान के विषयभूत रूपी द्रव्य के (सूक्ष्म) अनन्तवें भाग में मन:पर्यय ज्ञान की प्रवृत्ति होती है।

१. प्रश्न : इस सूत्र को लिखने का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर : मन:पर्ययज्ञान का विषय कौनसे अर्थ में नियमित हो रहा है, इस बात को दिखलाते हुए आचार्य महाराज ने अभीष्ट अर्थ के संग्रह की सिद्धि के लिए 'तदनन्त.....' आदि श्रेष्ठ सूत्र को स्पष्ट कहा है। **(श्लो. ४/६५)**

२. प्रश्न : सूत्र में दिये गये 'तत्'[१] शब्द से किसका ग्रहण करना चाहिए ?

उत्तर : सूत्र में दिये गये 'तत्' शब्द से सर्वावधिज्ञान के विषयभूत सूक्ष्म पदार्थ का ग्रहण करना चाहिए। देशावधि के विषयभूत पदार्थ का नहीं क्योंकि यहाँ उसके प्रयोजन का अभाव है। **(श्लो. ४/६६)**

१. 'गोम्मटसार' कार के मत से तो सर्वावधिज्ञान का विषय शुद्ध पुद्गल परमाणु होता है और विपुलमति मन:पर्ययज्ञान का सर्वोत्कृष्ट विषय भी एक समय में चक्षुरिन्द्रिय का निर्जरा योग्यद्रव्य जो पुद्गल स्कन्ध है, वह होता है अर्थात् विपुलमति मन:पर्यय ज्ञान से सर्वावधिज्ञान का विषय सूक्ष्म होता है। अत: यदि हम उनके मत को लक्ष्य में रखकर व्याख्या करें तो 'तत्' शब्द से अवधिज्ञान सामान्य का ग्रहण करेंगे जिससे देशावधि के अनन्तवें भाग सूक्ष्म पुद्गल स्कन्ध को भी मन:पर्ययज्ञान जान लेता है।

३. प्रश्न : मन:पर्ययज्ञान का विषय क्या है ?

उत्तर : जो रूपी द्रव्य सर्वावधिज्ञान का विषय है उसके अनन्त भाग करने पर उसके एक भाग में मन:पर्यय ज्ञान का निबन्ध (नियम) है। **(रा.वा.उ.)**

४. प्रश्न : सर्वावधिज्ञान का विषयभूत पदार्थ क्या है ?

उत्तर : देशावधिज्ञान का उत्कृष्ट विषयभूत द्रव्य कार्माण वर्गणा है। उसमें असंख्यात बार अनन्त संख्या वाले ध्रुवाहारों का भाग देने पर परमावधि ज्ञान का विषयभूत द्रव्य प्राप्त होता है। उस परमावधिज्ञान के द्रव्य में अनन्त का भाग देने पर अनन्त भागपने को प्राप्त स्कन्ध सर्वावधिज्ञान का विषय होता है। **(श्लो. ४/६७)**

५. प्रश्न : ऋजुमति एवं विपुलमति मन:पर्ययज्ञान का विषय कितना है ?

उत्तर : सर्वावधिज्ञान के विषयभूत कार्माण द्रव्य के अनन्तवें भाग प्रमाण द्रव्य की ऋजुमति-मन:पर्ययज्ञान की द्रव्य अपेक्षा व्यवस्था नियत है। विशेष यह है कि वह छोटा स्कन्ध सरल रूप से दूसरे के मन में स्थित होना चाहिए और ऋजुमति मन:पर्यय ज्ञान के विषयभूत सूक्ष्म स्कन्ध के अनन्त भाग करने पर जो परम सूक्ष्मपने को प्राप्त स्कन्ध है वह विपुलमति मन:पर्ययज्ञान का विषय है। **(श्लो. ४/६६-६७)**

६. प्रश्न : क्या मन:पर्ययज्ञान अनन्त पर्यायों को जानता है ?

उत्तर : नहीं जानता, क्योंकि अनादि-अनन्त पर्यायों को जानने वाले ज्ञान का आवरण करने वाले कर्मों का क्षयोपशम होना असंभव है। त्रिकाल सम्बन्धी अनन्तानन्त पर्यायों को ज्ञानावरण कर्म के क्षय से वृद्धि को प्राप्त केवलज्ञान ही जान सकता है। इसलिए 'असर्वपर्यायेषु' पद की अनुवृत्ति पूर्व सूत्र २६ से करके मन:पर्यय ज्ञान को भी कुछ पर्यायों को जानने वाला ही मानना चाहिए। **(श्लो. ४/६७)**

केवलज्ञान का विषय बताते हैं -

सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य ॥२९॥

(केवलस्य) केवलज्ञान का विषय **(सर्वद्रव्यपर्यायेषु)** सर्वद्रव्यों की सर्व पर्यायों में है।

अर्थ - केवलज्ञान का विषय सर्व द्रव्यों की सर्व पर्यायों में है।

द्रव्य - जो स्वतंत्र कर्त्ता होकर अपनी पर्यायों को प्राप्त होता है अथवा अपनी पर्याय के द्वारा प्राप्त किया जाता है वह द्रव्य है।

पर्याय - स्वाभाविक या नैमित्तिक विरोधी या अविरोधी धर्मों में अमुक शब्द व्यवहार के लिए विवक्षित द्रव्य की अवस्था विशेष को पर्याय कहते हैं।

१. प्रश्न : विरोधी और अविरोधी धर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : जीव के अनादि पारिणामिक चैतन्य, जीवत्व, भव्यत्व, अभव्यत्व, ऊर्ध्व गति

स्वभावत्व, अस्तित्व आदि के साथ औदयिक भाव रहते हैं। इसलिए वे अविरोधी भाव हैं तथा नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसक वेद, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय बाल्यावस्था, कौमार्यावस्था, क्रोध, प्रसन्नता आदि भाव एक साथ नहीं रहते अत: परस्पर विरोधी हैं। **(रा.वा.४)**

२. प्रश्न : क्या ये विरोधी और अविरोधी भाव जीव में ही पाये जाते हैं ?

उत्तर : नहीं, जीव के समान पुद्गलादि सभी द्रव्यों में विरोधी और अविरोधी भाव पाये जाते हैं। **जैसे -** पुद्गल द्रव्य के अनादि पारिणामिक रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द, अचेतनत्व, अस्तित्वादि सामान्य गुण पुद्गल में एक साथ रहते हैं, इसलिए परस्पर अविरोधी हैं। तथा नीलादि पाँच रूप, तिक्तादि पाँच रस, दो गन्ध (सुगन्ध-दुर्गन्ध), शीत-उष्णादि आठ स्पर्श, तत-वितत आदि छह शब्द पुद्गल पर्याय प्रत्येक, एक, दो, संख्यात, असंख्यात, अनन्तगुण परिणाम आदि पर्यायों के यथासम्भव साथ रहते हैं। इसलिए परस्पर अविरोधी हैं। परन्तु शुक्ल के साथ कृष्ण-नील, तिक्त-कटु, सुगन्ध-दुर्गन्ध, प्रायोगिक-वैस्रसिक परमाणु और स्कन्धों में परस्पर एक साथ नहीं रहते हैं इसलिए विरोधी हैं। इसी प्रकार धर्मादि द्रव्यों में जानना चाहिए। **(रा.वा. ४)**

३. प्रश्न : उपात्त एवं अनुपात्त हेतुक किसे कहते हैं ?

उत्तर : इन सामान्य-विशेष, विरोधी-अविरोधी पर्यायों में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के निमित्त से होने वाले औदयिक, क्षायोपशमिकादि पर्याय उपात्त हेतुक हैं और तीनों ही कालों में अविकारी पारिणामिक चैतन्यादि भाव अनुपात्त हेतुक हैं। **(रा.वा. ४)**

४. प्रश्न : सूत्र में 'सर्व' शब्द का ग्रहण किसलिए किया ? बहुवचन का निर्देश होने से बहुत्व का ज्ञान तो स्वयमेव हो जाता है ?

उत्तर : निरवशेष का ज्ञान कराने के लिए 'सर्व' शब्द को ग्रहण किया है। लोक और अलोक में त्रिकालविषयक जितने भी अनन्तानन्त द्रव्य और पर्यायें हैं उन सबमें केवलज्ञान के विषय का निबन्ध है। जितने ये अनन्तानन्त लोक-अलोक द्रव्य हैं इनसे भी अनन्त-गुणे लोक और अलोक और भी होते तो भी केवलज्ञान जान सकता है। क्योंकि केवलज्ञान का माहात्म्य अपरिमित है ऐसा जानना चाहिए। **(रा.वा. ९)**

५. प्रश्न : सूत्र में 'द्रव्येषु' एवं 'पर्यायेषु' बहुवचन क्यों किया है ?

उत्तर : आत्मा ही तत्त्व है ऐसा मानने वालों के मत का खण्डन करने के लिए 'द्रव्येषु' बहुवचन किया है एवं सर्वज्ञ वर्तमान पर्याय को ही जानते हैं, क्योंकि भूत भविष्य की पर्याय द्रव्य में नहीं है ऐसा मानने वालों के मत का खण्डन करने के लिए 'पर्यायेषु' बहुवचन दिया है। **(श्लोक ४/७४)**

६. प्रश्न : केवलज्ञान का विषय क्या है ?

उत्तर : स्वयं उत्पन्न हुए ज्ञान और दर्शन से युक्त भगवान देवलोक और असुरलोक के साथ मनुष्यलोक की आगति, गति, चयन, उपपाद, बन्ध, मोक्ष, ऋद्धि, स्थिति, युति, अनुभाग, तर्क, कल, मन, मानसिक, भुक्त, कृत, प्रतिसेवित आदि कर्म, अरह:कर्म, सब लोकों, सब जीवों और सब भावों को सम्यक् प्रकार से युगपत् जानते हैं, देखते हैं और विहार करते हैं। **(ध. १३/३४६)** जो अमूर्त्त है, जो मूर्त्त पदार्थों में भी अतीन्द्रिय है, और जो प्रच्छन्न (ढका हुआ) है, उस सबको जो कि स्व व पर इन दो भेदों में समा जाता है उसे अतीन्द्रिय ज्ञान अवश्य देखता है। अमूर्त्त द्रव्य धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि, मूर्त्त पदार्थों में अतीन्द्रिय परमाणु आदि तथा द्रव्य में प्रच्छन्न काल इत्यादि क्षेत्र में प्रच्छन्न अलोकाकाश के प्रदेश इत्यादि काल में प्रच्छन्न (अतीत-अनागत) पर्यायें तथा भाव प्रच्छन्न स्थूल पर्यायों में अन्तर्लीन सूक्ष्म पर्यायें हैं उन सबको जो कि स्व और पर के भेद से विभक्त है उन सबका वास्तव में उस अतीन्द्रिय ज्ञान के दृष्टपना है। **(प्र.सा.ता. ५४)**

७. प्रश्न : सूत्र में ''सर्वद्रव्यपर्यायेषु'' पद क्यों दिया है ?

उत्तर : जीव द्रव्य अनन्तानन्त है। पुद्गल द्रव्य इनसे भी अनन्तानन्तगुणे हैं। जिनके अणु और स्कन्ध ये भेद हैं। धर्म, अधर्म और आकाश ये तीन हैं और काल असंख्यात है। इन सब द्रव्यों की पृथक्-पृथक् तीनों कालों में होने वाली अनन्तानन्त पर्यायें हैं। इन सबमें केवलज्ञान की प्रवृत्ति होती है। ऐसा न कोई द्रव्य है और न पर्याय समूह है जो केवलज्ञानविषय के परे हो। केवलज्ञान का माहात्म्य अपरिमित है इसी बात का ज्ञान कराने के लिए सूत्र में 'सर्वद्रव्यपर्यायेषु' पद कहा है। **(सर्वा. २३०)**

८. प्रश्न : ऐसा विशिष्ट ज्ञान कैसे हो सकता है ?

उत्तर : इस तरह का विशिष्ट ज्ञान सम्भव नहीं है ऐसी आशंका भी नहीं करना चाहिए। इस केवलज्ञान की अनुमान से सिद्धि करते हैं, किसी पुरुष का ज्ञान उत्कृष्टता की चरम सीमा को प्राप्त होता है क्योंकि वह बढ़ते हुए परिमाण वाला है, जो परिमाण बढ़ता हुआ रहता है वह चरम सीमा तक बढ़ जाता है जैसे बढ़ता हुआ छोटा-बड़ा माप आकाश में पूर्ण रूप बढ़ जाता है अर्थात् आकाश सर्वोत्कृष्ट परिमाण वाला है वैसे हम जैनों का केवलज्ञान सर्वोत्कृष्ट प्रमाण वाला ज्ञान है। इस सप्रमाण सिद्धि के लिए प्रमेयकमलमार्तण्ड, अष्टसहस्री आदि देखने चाहिए। **(सुख बो. त. वृ. ५४-५५)**

आत्मा में एक साथ लब्धि रूप से रहने योग्य ज्ञानों को कहते हैं -

एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ॥३०॥

एक-आदीनि-भाज्यानि-युगपत्-एकस्मिन्-आ-चतुर्भ्यः।

(एकादीनि) एक को आदि लेकर **(युगपदेकस्मिन्)** एक साथ एक-एक आत्मा में **(आचतुर्भ्यः)** चार ज्ञान तक **(भाज्यानि)** भजनीय हैं।

अर्थ - एक साथ एक आत्मा में एक से लेकर चार ज्ञान तक भजनीय (हो सकते) हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : जो एक आत्मा में एक समय में एक ही विज्ञान मानते हैं उनके प्रति एक समय में सम्भावित ज्ञान को बताने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(श्लो. ४/९४)**

२. प्रश्न : आत्मा में एक ज्ञान रहेगा तो कौनसा रहेगा ?

उत्तर : सूत्र में दिया गया एक शब्द संख्यावाची है इसलिए एक है आदि में जिसके वह 'एकादीनि' इससे आत्मा में एक अकेला मतिज्ञान भी हो सकता है क्योंकि जो उपदेश पूर्वक दो, बारह, एक, अनेक भेदरूप अक्षर श्रुत है वह भजनीय है अर्थात् किसी के होता है और किसी के नहीं। किसी आचार्य के अभिप्राय में संख्या, असहाय और प्रधानवाची एक शब्द को मानकर 'एकादीनि केवलादीनि' एक आत्मा में अकेला, असहाय और प्रधान एक केवलज्ञान होगा। **(रा.वा. १०)** यदि आत्मा में एक ज्ञान होगा तो केवलज्ञान होगा। **(सर्वा. २३२)**

३. प्रश्न : केवलज्ञान अकेला ही क्यों रहता है ?

उत्तर : केवलज्ञान असहाय है इसलिए क्षायोपशमिक के निमित्त से होने वाले ज्ञानों के साथ इस ज्ञान का अभाव है क्योंकि केवलज्ञान क्षायिक है और शेष मति आदि चार ज्ञान क्षायोपशमिक हैं अत: क्षायिक और क्षायोपशमिक का परस्पर विरोध होने से युगपत् होना असंभव है। **(रा.वा. ७)**

४. प्रश्न : केवलज्ञान होने पर मति आदि ज्ञानों का अभाव नहीं होता अपितु दिन में सूर्य से तिरोहित नक्षत्र, तारा आदि के समान ये अपना काम नहीं करते ?

उत्तर : जिस प्रकार सूर्य के उदय होने पर तारागण अपना व्यापार नहीं करते, ऐसा इनमें नहीं है क्योंकि जिनके सम्पूर्ण ज्ञानावरण कर्म नष्ट हो गया है ऐसे क्षायिकज्ञानी भगवान अर्हन्त में क्षायोपशमिकज्ञान की असंभवता है, जैसे परम विशुद्धि प्राप्त हो जाने पर लेशत: अशुद्धि की कल्पना नहीं हो सकती है। **(रा.वा. ८)**

५. प्रश्न : एक आत्मा में एक समय में कितने ज्ञान पाये जा सकते हैं ?

उत्तर : (एक आत्मा में एक ज्ञान होगा तो केवलज्ञान या मतिज्ञान), दो होंगे तो मति-ज्ञान श्रुतज्ञान; तीन होंगे तो मति-श्रुत-अवधि या मति-श्रुत-मन:पर्यय ज्ञान तथा चार होंगे तो मति-श्रुत-अवधि एवं मन:पर्ययज्ञान। एक आत्मा में पाँचों ज्ञान एक साथ नहीं हो सकते हैं। **(रा.वा. ९)**

६. प्रश्न : एक छद्मस्थ आत्मा में एक समय में एक ही ज्ञान हो सकता है, दो आदि कैसे हो सकते हैं ?

उत्तर : एक छद्मस्थ आत्मा के एक समय में एक ही ज्ञान हो सकता है यह कथन उपयोगात्मक ज्ञान की अपेक्षा है, क्षायोपशमिक ज्ञानों का अपने क्षयोपशम के एक साथ एक आत्मा में रहने का स्याद्वाद

में कोई विरोध नहीं है अत: (लब्धि स्वरूप) शक्ति की अपेक्षा दो आदि ज्ञान के एक साथ होने में कोई बाधा नहीं है लेकिन पाँच ज्ञान तो लब्धि रूप से भी एक आत्मा में एक साथ नहीं हो सकते हैं। **(श्लो. ४/१०५)**

मति आदि ज्ञान सम्यक् ही होते हैं या मिथ्या भी, इसे बताते हैं -

मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च ॥३१॥

मति-श्रुत-अवधय:-विपर्यय: च।

(मतिश्रुतावधय:) मति, श्रुत और अवधिज्ञान **(विपर्यय:)** विपरीत होते हैं और सम्यक् भी होते हैं।

अर्थ - मति, श्रुत और अवधिज्ञान विपरीत भी होते हैं और सम्यक् भी होते हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किस प्रयोजन से लिखा गया है ?

उत्तर : विस्तार से पाँचों ज्ञानों का व्याख्यान कर दिया गया है। उसमें किसी का इस प्रकार शंका रूप विचार है कि क्या सभी ज्ञान कभी-कभी समीचीन ही अथवा मिथ्या भी हो जाते हैं ? इस प्रकार मिथ्या आशंकाओं की निवृत्ति के लिए और अपने इष्ट सिद्धान्त पक्ष की सिद्धि के लिए 'मतिश्रुता....' आदि सूत्र को स्पष्ट कहा है। **(श्लो. ४/११४)**

२. प्रश्न : मिथ्याज्ञान किसे कहते हैं ?

उत्तर : बौद्ध, नैयायिक, सांख्य, मीमांसक, चार्वाक और वैशेषिक आदि दर्शनों की रुचि से सम्बद्ध ज्ञान मिथ्याज्ञान कहलाता है। **(ध. १२/२८६)**

जो वस्तु के स्वभाव को नहीं पहचानता है अथवा उलटा पहिचानता है या निरपेक्ष पहिचानता है वह मिथ्याज्ञान है। **(न.च.वृ.गा. २४०)**

अर्हन्त मार्ग से प्रतिकूल मार्ग में कही हुई अवस्तु में वस्तुबुद्धि वह मिथ्याज्ञान है। **(नि.सा.ता. ९१)**

३. प्रश्न : सूत्र में दिये गये 'च' शब्द का क्या अर्थ है ?

उत्तर : सूत्र में दिया गया 'च' शब्द समुच्चय रूप अर्थ में आया है उसका यह अर्थ होता है कि मति श्रुत अवधि ये तीनों ज्ञान विपरीत भी होते हैं और सम्यक् भी होते हैं। (मति आदि तीन ज्ञान ही मिथ्यारूप होते हैं मन:पर्यय और केवलज्ञान नहीं), **(सर्वा. २३४)** ऐसी सूचना देने के लिए ही सूत्र में अवधारणार्थ 'च' शब्द दिया है। ये दोनों ज्ञान नियम से सम्यक् ही होते हैं क्योंकि मिथ्यात्व के कारणभूत मोहनीय कर्म का अभाव होने से विशुद्धात्मा में ही सम्भव हैं। मति आदि तीन ज्ञान कभी-कभी मिथ्या हो जाते हैं। इसी कारण सूत्र में उन्हें विपर्यय भी कहा है। 'च' शब्द से ऐसा भी संग्रह हो जाता है कि यद्यपि

मिथ्यादृष्टियों के भी मति आदि ज्ञान व्यवहार में समीचीन कहे जाते हैं, परन्तु मुख्य रूप से तो वे मिथ्या ही हैं। यदि सूत्र में 'च' शब्द का ग्रहण न किया जाता तो वे तीनों भी सदा सम्यक् रूप समझे जा सकते थे। विपर्यय और 'च' इन दोनों शब्दों से उनके मिथ्यापने की भी सूचना मिलती है। **(श्लो. पु. ४/११४-१७)**

४. प्रश्न : कुमतिज्ञान किसे कहते हैं ?

उत्तर : दूसरे के उपदेश के बिना विष, मंत्र, कूट, पंजर तथा बन्ध आदि के विषय में जो बुद्धि प्रवृत्त होती है उसे मत्यज्ञान कहते हैं।

विष - जिसको खाने से जीव मर सके उस द्रव्य को विष कहते हैं।

यंत्र - भीतर पैर रखते ही जिसके किवाड़ बंद हो जाँय और जिसके भीतर बकरी आदि को बाँध कर पकड़ा जाता है उसको यन्त्र कहते हैं।

कूट - जिसमें चूहे आदि पकड़े जाते हैं उसको कूट कहते हैं।

पंजर - रस्सी में गाँठ लगाकर जो जाल बनाया जाता है उसको पंजर कहते हैं।

बन्ध - हाथी आदि को पकड़ने के लिए जो गः आदि बनाये जाते हैं उनको बन्ध कहते हैं। **(गो.जी.जी. ३०३)**

५. प्रश्न : कुश्रुतज्ञान किसे कहते हैं ?

उत्तर : चौर शास्त्र तथा हिंसा शास्त्र आदि के परमार्थ शून्य अतएव अनादरणीय उपदेशों को मिथ्या श्रुतज्ञान कहते हैं। आदि शब्द से सभी हिंसादि पापकर्मों के विधायक तथा असमीचीन तत्त्व के प्रतिपादक ग्रन्थों को कुश्रुत और उनके ज्ञान को कुश्रुतज्ञान समझना चाहिए। **(गो. जी. ३०४)**

६. प्रश्न : विभंगावधि ज्ञान किसे कहते हैं ?

उत्तर : मिथ्यादृष्टि जीव के अवधि ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से उत्पन्न हुआ, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की मर्यादा को लिये हुए रूपी द्रव्य को विषय करने वाला, किन्तु देव-शास्त्र और पदार्थों को विपरीत रूप से ग्रहण करने वाला अवधिज्ञान केवलज्ञानियों के द्वारा प्रतिपादित आगम में विभंग कहा जाता है।, 'वि' अर्थात् विशिष्ट अवधिज्ञान का भंग अर्थात् विपर्यय विभंग होता है यह निरुक्ति-सिद्ध अर्थ भी है। **(गो. जी.जी. ३०५ टी.)**

७. प्रश्न : विभंगावधि ज्ञान गुणप्रत्यय है या भवप्रत्यय है ?

उत्तर : यह विभंगज्ञान तिर्यञ्चगति और मनुष्यगति में तीव्र कायक्लेश रूप द्रव्य-संयम से उत्पन्न होता है इसलिए गुणप्रत्यय है, देवगति और नरकगति में भवप्रत्यय है तथा मिथ्यात्व आदि कर्मों के बन्ध का बीज है। नरकगति आदि में पूर्वजन्म में किये गये दुराचार में से संचित खोटे कर्मों के फल तीव्र दु:ख-

वेदना के भोगने से होने वाले सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान रूप धर्म का भी बीज है। क्योंकि नारकियों के विभंगज्ञान के द्वारा वेदनाभिभव और उसके कारणों के दर्शन, स्मरण आदि रूप ज्ञान के बल से सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होती है। **(गो. जी.जी. ३०५ टी.)**

८. प्रश्न : इन ज्ञानों में विपरीतता कैसे आती है ?

उत्तर : मिथ्यादर्शन के परिग्रह से मति आदि में विपरीतता आती है। दर्शनमोहनीय कर्म के उदय से जो मिथ्यादर्शन परिणाम होते हैं, उस मिथ्यात्व के साथ एकार्थ समवाय होने से मति-श्रुत और अवधिज्ञान विपरीत हो जाते हैं। **(रा.वा.१)**

९. प्रश्न : जिस प्रकार मणि आदि मलस्थान में गिरकर भी अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते उसी प्रकार मति आदि को भी अपना स्वभाव नहीं छोड़ना चाहिए ?

उत्तर : रज सहित कड़वी तूँबी में गये हुए दुग्ध के समान स्वगुणों का विनाश होता है। जैसे - रज सहित कटुक तूँबी में रखा हुआ दूध अपने मधुर गुण को छोड़ देता है, वैसे ही मिथ्यादर्शन रूपी भाजन की संगति से मतिज्ञान-श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान भी दूषित हो जाते हैं। आधार के दोष से आधेय के भी दोष हो जाते हैं। **(रा.वा.२)**

१०. प्रश्न : कैसे जाना जाता है कि अलाबू में रखे हुए दूध के समान मिथ्यात्व के संयोग से मति आदि दूषित हो जाते हैं ?

उत्तर : परिणामक शक्ति विशेष के कारण होने से ऐसा होता है। परिणामक (परिणमन कराने वाले की) शक्ति के अनुसार वस्तुओं में परिणमन होता है। जैसे-अलाबू द्रव्य दूध को परिणमन कराने में समर्थ है, वैसे ही मिथ्यादर्शन मति आदि ज्ञान को विपरीत कर देने में समर्थ है। यद्यपि वचोगृह (मलस्थान) मणि आदि में विकार उत्पन्न करने में समर्थ नहीं है परन्तु मणि आदि को विपरिणामक अन्य द्रव्यों का संयोग मिलने पर मणि आदि पदार्थों में भी अन्यथा भाव देखा जाता है। जब सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है तब ज्ञान के मिथ्या-परिणमन का अभाव हो जाता है। मिथ्यादर्शन के परिणाम का अभाव होने पर उन मति आदि ज्ञानों में सम्यक्त्व आ जाता है। अत: सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन के उदय विशेष से उन तीनों ज्ञानों की दो प्रकार की परिणति हो जाती है। **(रा.वा. ३)**

११. प्रश्न : मन:पर्यय ज्ञान एवं केवलज्ञान का विपर्यय क्यों नहीं होता ?

उत्तर : मन:पर्ययज्ञान और केवलज्ञान कभी विपर्यय ज्ञान करके संगृहीत नहीं हो पाते हैं। क्योंकि उन मन:पर्यय ज्ञान और केवलज्ञान में सदा ही नियम रूप से समीचीन भाव ही होता है। ये दोनों ज्ञान विशेषरूप से विशुद्ध आत्मा में ही उत्पन्न होते हैं। दर्शन-चारित्र मोहनीय कर्म के क्षय या उपशम अथवा क्षयोपशम होने पर ही मन:पर्यय ज्ञान होता है वह मिथ्या कभी नहीं हो सकता तथा ज्ञानावरण कर्म की सर्वघाति प्रकृतियों के अत्यन्त क्षय हो जाने पर उत्पन्न हुआ तथा परम विशुद्धि को धारण करने वाला केवलज्ञान कैसे मिथ्या रूप हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता । **(श्लो. ४/११४-१५)**

१२. प्रश्न : सूत्र में 'विपर्यय' पद किसलिए दिया है ?

उत्तर : इस सूत्र में आये हुए विपर्यय शब्द का अर्थ मिथ्या है। **(सर्वा. २३४)** सूत्र में विपर्यय शब्द सामान्य रूप से सभी मिथ्याज्ञानों स्वरूप होता हुआ मिथ्याज्ञान के संशय-विपर्यय और अनध्यवसाय इन तीन भेदों का संग्रह करने के लिए दिया गया है। **(श्लो. ४/११५)**

१३. प्रश्न : मति आदि में कौनसी विपरीतता होती है ?

उत्तर : मति और श्रुतज्ञान में संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रूप तीनों ही प्रकार की विपरीतता होती है। क्योंकि मतिज्ञान पाँच इन्द्रिय और मन की सहायता से उत्पन्न होता है और श्रुतज्ञान भी मन की सहायता से होता है किन्तु अवधिज्ञान में संशय रूप विपरीतता नहीं होती है। क्योंकि वह इन्द्रिय और अनिन्द्रिय की सहायता से नहीं होता है, मात्र स्वभाव से होता है। अवधिज्ञानावरण का क्षयोपशम होने पर वह सामान्य विशेषात्मक वस्तु का ग्रहण कर लेता है। अत: अवधिज्ञान में संशय के बिना विपर्यय एवं अनध्यवसाय रूप दो प्रकार की विपरीतता होती है। **(श्लो. ४/११८)**

१४. प्रश्न : अवधिज्ञान में अनध्यवसाय कैसे हो सकता है ?

उत्तर : अवधिज्ञानी के शीघ्र ही अपने उपयोग का संकोच करने से या दूसरे विज्ञान में उपयोग के चले जाने से चलते हुए पुरुष के तृण छू जाने पर हुए अनध्यवसाय के समान अवधिज्ञान भी अनध्यवसाय रूप हो जाता है ज्ञेय विषय में दृढ़ रूप लगे हुए उपयोग की अवस्था से अवधिज्ञान अनध्यवसाय रूप नहीं होता। **(श्लो. ४/११९)**

नोट - मिथ्यात्व के कारण अवधिज्ञान का विपर्यय होता है।

१५. प्रश्न : संशय दोष किसे कहते हैं ?

उत्तर : विरुद्ध अनेक पक्षों का अवगाहन करने वाले ज्ञान को संशय कहते हैं। जैसे यह स्थाणु है या पुरुष है, स्थाणु और पुरुष में सामान्य रूप से रहने वाले ऊँचाई आदि साधारण धर्मों को देखने और स्थाणुगत टेढ़ापन, कोटरत्व आदि तथा पुरुषगत शिर, पैर आदि विशेष धर्मों के साधक प्रमाणों का अभाव होने से नाना कोटियों का अवगाहन करने वाला यह संशय ज्ञान उत्पन्न होता है। **(न्या.दी. १/९)**

१६. प्रश्न : विपर्यय दोष किसे कहते हैं ?

उत्तर : विपरीत एक पक्ष का निश्चय करने वाले ज्ञान को विपर्यय कहते हैं। जैसे सीप में 'यह चाँदी है' इस प्रकार का ज्ञान होना। **(न्या.दी. १/९)** यहाँ पर सादृश्य निमित्तादि के वश से सीप से विपरीत चाँदी में निश्चय होता है। **(न्या.दी. १/९)** विवक्षित विषय में विविध रूप से सब ओर से गमन करने को विपर्यय कहते हैं। **(न्याय. वि. १/५/१३०)**

१७. प्रश्न : अनध्यवसाय किसे कहते हैं ?

उत्तर : 'यह क्या है' इस प्रकार का जो आलोचन मात्र होता है, उसको अनध्यवसाय कहते हैं। जैसे रास्ता चलने वाले को तृण या काँटे आदि के स्पर्श मात्र से 'यह कुछ पदार्थ है,' ऐसा ज्ञान होता है उसको अनध्यवसाय कहते हैं। **(न्या. दी. १/९)**

अनध्यवसाय रूप प्रतिभास प्रमाण भी है और अप्रमाण भी है, क्योंकि उसमें विसंवाद अर्थात् 'यह क्या है' ऐसा अनिश्चय तथा अविसंवाद अर्थात् 'कुछ है अवश्य' ऐसा निश्चय दोनों पाये जाते हैं। **(ध. १/१४९)**

मति आदि ज्ञानों में विपरीतता का कारण बताते हैं -

सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् ॥३२॥

सत् असतो:-अविशेषात्-यद्-ऋच्छा-उपलब्धे: उन्मत्तवत्।

(सदसतो:) सत् और असत् में (अविशेषात्) भेद नहीं करके (उन्मत्तवत्) उन्मत्त पुरुष के समान (यदृच्छोपलब्धे:) अपनी इच्छा के अनुसार ग्रहण करता है।

अर्थ - सत् और असत् में भेद न करके इच्छानुसार उन्मत्त पुरुष के समान अपनी इच्छानुसार पदार्थ को ग्रहण करता है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किस प्रयोजन से लिखा गया है ?

उत्तर : सम्यग्दृष्टि आत्मा के अर्थों की परिच्छित्ति के समान ही मिथ्यादृष्टि आत्मा के भी अर्थों का परिच्छेद होता है तो फिर यह कैसे जाना जाता है कि मिथ्यादृष्टि के ये तीनों ज्ञान विपर्ययज्ञान होते हैं। इस प्रकार जिज्ञासा होने पर दृष्टान्त सहित ज्ञापक हेतु को दिखाते हुए आचार्य महाराज ने ''सदसतो....।'' आदि सूत्र को कहा है। **(श्लो. ४/१२६-२७)**

२. प्रश्न : सूत्र में दिये गये सत् और असत् से किसको ग्रहण करना चाहिए ?

उत्तर : सूत्र में दिया गया 'सत्' शब्द उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य से युक्त पदार्थ है। इसका वर्णन आगे (पाँचवें अध्याय में) करेंगे। तथा असत् का अर्थ इससे विपरीत होता है, यह व्याख्यात सत् की सामर्थ्य से सिद्ध होता है। **(श्लो. ४/१२७)**

सत् शब्द के अनेक अर्थ होने पर भी यहाँ पर विवक्षा से प्रशंसा अर्थ ग्रहण करना चाहिए। प्रशस्त-तत्त्वज्ञान और असत्-अज्ञान। **(रा.वा. १)**

अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से सभी वस्तु विद्यमान रहती है अत: स्वद्रव्यादि से वस्तु सत् है, पर द्रव्य, क्षेत्र-काल-भाव से अविद्यमान होने से उक्त वस्तु असत् है। **(सुख बो.त. वृ. ५७)** प्रकृत में सत् का अर्थ विद्यमान एवं असत् का अर्थ अविद्यमान है। **(सर्वा. २३६)**

३. प्रश्न : विपर्यय किसे कहते हैं ?

उत्तर : सत् और असत् में विशेषता न करके इच्छानुसार ग्रहण करने को विपर्यय कहते हैं। **(सर्वा. २३६)**

४. **प्रश्न : विपर्यय कितने प्रकार का है ?**

उत्तर : विपर्यय दो प्रकार का होता है -

(१) आहार्य विपर्यय (२) सहज विपर्यय।

आहार्य विपर्यय - परोपदेश पूर्वक होने वाला विपर्यय आहार्य विपर्यय है। कुश्रुतज्ञान आहार्य विपर्यय है क्योंकि कुशास्त्रों से उत्पन्न होता है।

सहज विपर्यय - जो परोपदेश के बिना होता है वह सहज विपर्यय है। मति अज्ञान एवं विभंगज्ञान ये सहज विपर्यय होते हैं क्योंकि ये परोपदेश रहित हैं तथा कुश्रुत भी कभी-कभी परोपदेश रहित होने पर सहज विपर्यय होता है। **(श्लो. ४/१३०)**

५. **प्रश्न : विपर्ययास कितने प्रकार का होता है ?**

उत्तर : विपर्ययास तीन प्रकार का होता है -

(१) कारण विपर्ययास (२) भेदाभेद विपर्ययास (३) स्वरूप विपर्ययास।

कारण विपर्ययास - कार्य की उत्पत्ति के कारणों को विपरीत मानना कारण विपर्ययास है।

भेदाभेद विपर्ययास - कारण से कार्य को सर्वथा भिन्न या अभिन्न मानना भेदाभेद विपर्ययास है।

स्वरूप विपर्ययास - वस्तु के स्वरूप को विपरीत मानना स्वरूप विपर्ययास है।

६. **प्रश्न : क्या सभी अवधिज्ञान मिथ्या हो सकते हैं ?**

उत्तर : नहीं, मन:पर्ययज्ञान के समान परमावधिज्ञान और सर्वावधिज्ञान विशेष संयमी मुनिराज के ही उत्पन्न होते हैं, (ये दोनों तद्भव मोक्षगामी जीवों के होते हैं तथा अप्रतिपाती भी हैं।) अत: ये कभी विपरीत नहीं होते हैं, लेकिन देशावधिज्ञानी के मिथ्यात्व का उदय होने पर उस का अवधिज्ञान मिथ्या हो जाता है। **(श्लो. ४/२०६)**

७. **प्रश्न : लक्षणादि के द्वारा ज्ञान शब्द का व्याख्यान कर दिया गया अब क्रमप्राप्त चारित्र का वर्णन क्यों नहीं किया गया है ?**

उत्तर : यद्यपि क्रमप्राप्त ज्ञान के बाद चारित्र का वर्णन करना चाहिए लेकिन मोक्ष के प्रसंग में उसका वर्णन करेंगे क्योंकि मोक्ष के प्रति चारित्र ही प्रधान कारण है, सम्पूर्ण कर्म रूपी ईन्धन को जलाने में चारित्र ही समर्थ है क्योंकि चतुर्थ शुक्लध्यान रूप चारित्र से युक्त आत्मबल सारे कर्म रूपी ईंधन को जलाने में समर्थ होता है। क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक केवलज्ञान के बल से मुक्ति नहीं होती। यदि

सम्यक्त्व और केवलज्ञान से मुक्ति होती तो क्षायिक सम्यक्त्व और केवलज्ञान उत्पन्न होते ही व्युपरतक्रिया-निवृत्ति रूप ध्यान के बिना ही सर्व कर्मों का क्षय होकर मुक्ति हो जानी चाहिए। कर्मादान क्रियाओं से व्युपरमण ही चारित्र का लक्षण कहा है- चारित्र मोक्ष का प्रधान कारण है। अत: मोक्ष के प्रधान कारण चारित्र का वर्णन मोक्ष के प्रसंग में किया जायेगा। **(रा.वा. ४)**

नयों को कहते हैं -

नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवं भूतानया: ।।३३ ।।

नैगम-संग्रह-व्यवहार-ऋजुसूत्र-शब्द-समभिरूढ-एवंभूता: नया:।

अर्थ - नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ तथा एवंभूत, ये नय हैं।

[1]**नैगम नय** - नैगम का अर्थ संकल्प है। संकल्प मात्र के ग्राहक को नैगम नय कहते हैं।

संग्रह नय - स्वजाति के अविरोध से एक रूप से सबको ग्रहण करना संग्रह नय है।

व्यवहार नय - संग्रहनय से गृहीत वस्तु में विधिपूर्वक विभाजन करना व्यवहार नय है।

ऋजुसूत्र नय - सूत्रपात के समान ऋजु होने से ऋजुसूत्र नय कहलाता है।

शब्द नय - जो अर्थज्ञान कराता है वह शब्द नय है।

समभिरूढ़ नय - अनेक अर्थों को छोड़कर किसी एक अर्थ में मुख्यता से रूढ़ होने को समभिरूढ़ नय कहते हैं।

एवंभूत नय - जो जिस रूप में है उसका उसी रूप से निश्चय करना एवंभूत नय है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किस प्रयोजन से लिखा गया है ?

उत्तर : 'प्रमाणनयैरधिगम:' सूत्र में प्रमाण और नय पदार्थों के जानने के उपाय बताये थे। उन उपायों में से प्रमाण रूप अधिगम के उपाय का विस्तार से वर्णन करके अब दूसरे उपायभूत नयों के सामान्य लक्षण रूप, संक्षेप से विशेष लक्षण रूप, विस्तार से तथा भेद-प्रभेद करके अतिविस्तार से व्याख्यान करने के लिए यह सूत्र लिखा गया है। **(श्लो. ४/२११)**

शब्द की अपेक्षा नयों के एक से लेकर असंख्यात विकल्प होते हैं। उसमें जिनको ज्ञान नहीं होता है ऐसे अल्पज्ञानियों पर अनुग्रह करने के लिए न अति संक्षेप से और न अति-विस्तार से मध्यम रीति से सात नय कहे हैं। **(रा.वा.उ.)**

२. प्रश्न : नय कितने प्रकार के होते हैं ?

---

१. 'भूत' शब्द सबके साथ सूत्र में लगा लें तो और भी समीचीनता आ जाती है। नैगम निश्चयात्मक नय है। भूत का अर्थ समीचीनात्मक या निश्चयात्मक लेना।

उत्तर : संग्रह अर्थात् सामान्य से नय एक है। **अथवा** - नय के दो भेद हैं -

(१) द्रव्यार्थिक नय (२) पर्यायार्थिक। इन्हीं दोनों के भेद नैगम आदि ज्ञान हैं। **(का.अ. २६८)**

(१) भूतार्थ नय (२) अभूतार्थ नय।

अथवा - (१) सुनय (२) दुर्नय।

अथवा - (१) सविकल्प नय (२) निर्विकल्प नय। **(आ. प. १८२)**

(१) निश्चय नय (२) व्यवहार नय। **(आ.प. २१५)**

नय के छह भेद हैं।

(१) अन्वय नय (२) व्यतिरेक नय (३) पृथक्त्व नय (४) अपृथक्त्व नय (५) निश्चय नय। (६) व्यवहार नय।

अथवा - (१) पृथक्त्व नय (२) उपचार नय (३) शुद्ध नय (४) द्रव्यार्थिक नय (५) पर्यायार्थिकनय। **(सुख बो. त. वृ. ६४-७०)**

नय पन्द्रह प्रकार के होते हैं -

(१) अर्थ पर्याय नैगम (२) व्यंजन पर्याय नैगम (३) अर्थ - व्यंजन पर्याय नैगम (४) शुद्ध द्रव्य नैगम (५) अशुद्ध द्रव्य नैगम (६) शुद्ध द्रव्यार्थ - पर्याय नैगम (७) शुद्ध द्रव्य व्यंजन पर्याय नैगम (८) अशुद्ध द्रव्यार्थ - पर्याय नैगम (९) अशुद्ध द्रव्यव्यञ्जनपर्यायनैगम (१०) संग्रह नय (११) व्यवहार नय (१२) ऋजुसूत्र नय (१३) शब्द नय (१४) समभिरूढ़ नय (१५) एवंभूत नय **(श्लो. ४/२३९)**

नय के सात भेद हैं -

(१) नैगम (२) संग्रह (३) व्यवहार (४) ऋजुसूत्र (५) शब्द नय (६) समभिरूढ़ नय (७) एवं-भूत नय। **(त. सू. १/३३)** जितने वचन मार्ग हैं, उतने ही नय हैं इसलिए नय इतने हैं, इस प्रकार यथार्थ में नयों की संख्या निश्चित नहीं है। **(हरि. पु. ५८/५२)** द्रव्य की शक्ति अनन्त है। इसलिए प्रत्येक शक्ति की अपेक्षा भेद को प्राप्त होकर ये नय अनेक (अनन्त) विकल्प रूप हो जाते हैं। **(सर्वा. २४९)**

सामान्य से नय एक ही होता है। **(श्लो. ४/२११)**

संक्षेप से नय दो प्रकार के हैं - (१) द्रव्यार्थिक नय (२) पर्यायार्थिक नय। विस्तार से नैगमादि सात प्रकार हैं और अतिविस्तार से संख्यात शरीर वाले इन नयों के भेद हो जाते हैं। **(श्लो. ४/२१५)** संक्षेप में नय सात प्रकार के हैं और अवान्तर भेदों से असंख्यात प्रकार के समझना चाहिए। **(ध. पु. १/९२)**

अथवा - नय के नौ भेद हैं -

(१) द्रव्यार्थिकनय (२) पर्यायार्थिकनय (३) नैगम (४) संग्रह (५) व्यवहार (६) ऋजुसूत्र (७) शब्द (८) समभिरूढ़ (९) एवंभूत। **(आ. प. ४१ सू.)**

नोट - नय का लक्षण देखें - **(१/६)**

३. प्रश्न : द्रव्यार्थिक नय किसे कहते हैं ?

उत्तर : द्रव्य, सामान्य, अभेद, उत्सर्ग और अन्वय ये शब्द एकार्थवाची हैं, वह द्रव्य है प्रयोजन जिसका उसे द्रव्यार्थिक नय कहते हैं। द्रव्य विषय वाला द्रव्यार्थ नय है। इसे द्रव्यास्तिक भी कहते हैं। द्रव्य के अस्तित्व को स्वीकार करे वह द्रव्य है इस प्रकार की बुद्धि है जिसकी वह नय द्रव्यास्तिक है। **(सुख. बो. त. वृ. ५९)** जो नय वस्तु के विशेष रूपों से अविनाभूत सामान्य रूप को नाना युक्तियों के बल से साधता है, वह द्रव्यार्थिक नय है। **(का. अ. २६९)** द्रव्य का अर्थ सामान्य, उत्सर्ग और अनुवृत्ति है और इसको विषय करने वाला नय द्रव्यार्थिकनय है। **(सर्वा. २४१)**

द्रव्यमात्र के अस्तित्व का ग्रहण अथवा द्रव्य है ऐसी जिसकी मति है वह द्रव्यार्थिक है। द्रव्य का होना ही द्रव्य है - अन्य भाव का विकार द्रव्य नहीं है क्योंकि द्रव्य से भिन्न गुणादि की उपलब्धि नहीं होती है अत: द्रव्य जिसका विषय है वह द्रव्यार्थिक है। **(रा.वा. १)**

द्रव्य ही जिसका प्रयोजन है, गुण कर्म आदि द्रव्य रूप ही है ऐसा कथन करने वाला द्रव्यार्थिक नय है। **(रा.वा. १)**

तीर्थंकरों के वचनों के सामान्य प्रस्तार का मूल व्याख्यान करने वाला द्रव्यार्थिक नय है।

४. प्रश्न : द्रव्यार्थिक नय कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : द्रव्यार्थिक नय दो प्रकार के होते हैं-

(१) शुद्ध द्रव्यार्थिक नय (२) अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय। **(आ. प. १/२०३ सू.)**

द्रव्यार्थिक नय के १० भेद हैं -

(१) कर्मोपाधि निरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिक (२) उत्पादव्यय गौण सत्ता ग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिक (३) भेद कल्पना निरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिक (४) कर्मोपाधि सापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय। (५) उत्पाद व्यय सापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय (६) भेद कल्पना सापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय। (७) अन्वयसापेक्ष द्रव्यार्थिक (८) स्वद्रव्यादि ग्राहक द्रव्यार्थिक नय। (९) पर द्रव्यादि ग्राहक द्रव्यार्थिक नय (१०) परमभाव ग्राहक द्रव्यार्थिक नय।

(१) कर्मोपाधि निरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिक नय - शुद्ध द्रव्यार्थिक नय का विषय कर्मोपाधि की अपेक्षा रहित जीवद्रव्य है, जैसे संसारी जीव सिद्ध समान शुद्धात्मा है।

(२) उत्पाद व्यय गौण सत्ता ग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिक नय - उत्पाद-व्यय को गौण करके सत्ता को ग्रहण करने वाला शुद्ध द्रव्यार्थिक नय है। **जैसे** - द्रव्य नित्य है।

(३) भेदकल्पना निरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिक नय - जो नय भेद कल्पना की अपेक्षा से रहित है वह भेद कल्पना निरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिक नय है। जैसे निज गुण-पर्याय और स्वभाव से द्रव्य अभिन्न है।

(४) कर्मोपाधि सापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय - कर्मोपाधि की अपेक्षा सहित अशुद्ध जीव द्रव्य अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय का विषय है। जैसे कर्मजनित क्रोधादि भाव रूप आत्मा।

(५) उत्पाद व्यय सापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय - उत्पाद-व्यय की अपेक्षा सहित द्रव्य अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय का विषय है। जैसे एक ही समय में उत्पाद-व्यय ध्रौव्यात्मक द्रव्य है।

(६) भेद कल्पना सापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय - भेद कल्पना की अपेक्षा सहित द्रव्य अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय का विषय है - जैसे आत्मा के ज्ञान-दर्शनादि गुण हैं।

(७) अन्वय सापेक्ष द्रव्यार्थिक नय - सम्पूर्ण गुण-पर्याय और स्वभावों में द्रव्य को अन्वय रूप से ग्रहण करने वाला अन्वय सापेक्ष द्रव्यार्थिक नय है। **(आ. प. ४६-५३)** जो सम्पूर्ण गुणों और पर्यायों में से प्रत्येक को द्रव्य बताता है वह अन्वय द्रव्यार्थिक नय है। जैसे - कड़े आदि पर्यायों में तथा पीतत्व आदि गुणों में अन्वय रूप से रहने वाला स्वर्ण। **(न. च. पृ. ५) अथवा** - मनुष्य, देव आदि नाना पर्यायों में यह जीव है, यह जीव है ऐसा अन्वर्थ द्रव्यार्थिक नय का विषय है। **(न. च. संस्कृत, ४१ पृ.)।**

(८) स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक नय - स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल, स्वभाव की अपेक्षा द्रव्य को अस्ति रूप से ग्रहण करने वाला नय स्वद्रव्यादि ग्राहक द्रव्यार्थिक नय है।

(९) पर द्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक नय - पर द्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव की अपेक्षा द्रव्य नास्ति रूप है ऐसा पर द्रव्यादि ग्राहक द्रव्यार्थिक नय है।

(१०) परम भाव ग्राहक द्रव्यार्थिक नय - ज्ञान स्वरूप आत्मा ऐसा कहना परम भाव ग्राहक द्रव्यार्थिक नय का विषय है, क्योंकि इसमें जीव के अनेक स्वभावों में से ज्ञान नामक परमभाव का ही ग्रहण किया गया है। **(आ. प. ५४-५६)**

५. प्रश्न : शुद्ध द्रव्यार्थिक नय किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो नय आत्मा को बन्ध रहित और पर के स्पर्श से रहित, अन्यत्व रहित, चलाचलता-रहित, विशेष रहित, अन्य के संयोग से रहित ऐसे पाँच भाव रूप से देखता है, उसे हे शिष्य ! तू शुद्ध नय जान। **(स. सा. १४)**

जो सत्ता आदि की अपेक्षा से पर्यायरूप कलंक का अभाव होने के कारण सबकी अद्वैतता को विषय करता है वह शुद्ध द्रव्यार्थिक संग्रह है। **(ध. पु. ९/१७०)** शुद्ध द्रव्य ही है अर्थ, प्रयोजन जिसका

वह शुद्ध द्रव्यार्थिक नय है। **(आ. प. १८५)** जो शुद्ध द्रव्य के अर्थ रूप से आचरण करता है वह शुद्ध द्रव्यार्थिक नय है। **(न. च.)**

६. प्रश्न : अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय किसे कहते हैं ?

उत्तर : पर्यायकलंक से युक्त होने से व्यवहार नय अशुद्ध द्रव्यार्थिक है। **(ध. पु. ९/१७१)** अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय से अशुद्ध स्वभाव है। अशुद्ध द्रव्य है प्रयोजन जिसका सो अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय है। **(आ. प. १८६)**

७. प्रश्न : पर्यायार्थिक नय किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो नय अनेक प्रकार के सामान्य सहित सब विशेषों को साधक लिंग के बल से साधता है वह पर्यायार्थिक नय है। **(का. अ. २७०)**

रूपादि उत्क्षेपणादि लक्षण पर्याय जिसका अर्थ है, पर्याय से भिन्न द्रव्य नहीं है यह प्रयोजन पर्यायार्थिक है। **(रा.वा. १)**

पर्याय, विशेष, भेद, अपवाद, व्यतिरेक ये शब्द एकार्थवाची हैं, वह पर्याय है प्रयोजन जिसका उसे पर्यायार्थिक नय कहते हैं। अथवा पर्याय विषय वाला पर्यायार्थ है। इसे पर्यायास्तिक भी कहते हैं। पर्याय है, इस प्रकार की बुद्धि है जिसकी वह पर्यायास्तिक है। **(सुख बो. त. वृ. ५९)**

पर्याय का अर्थ विशेष, अपवाद और व्यावृत्ति है और इसको विषय करने वाला नय पर्यायार्थिक नय कहलाता है। **(सर्वा. २४१)**

जब पर्यायार्थिक नय की विवक्षा होती है तब द्रव्यार्थिक नय को गौण करके प्रवृत्त होने वाले पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से 'कुण्डल लाओ' यह कहने पर लाने वाला कड़ा आदि के लाने में प्रवृत्त नहीं होता, क्योंकि कड़ा आदि पर्याय से कुण्डल पर्याय भिन्न है। **(न्या.दी. ३/८४)**

तीर्थंकरों के वचनों के विशेष प्रस्तार का मूल व्याख्याता पर्यायार्थिक नय है। शेष सभी नय इन दोनों नयों के विकल्प अर्थात् भेद हैं।

८. प्रश्न : पर्यायार्थिक नय कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : पर्यायार्थिक नय दो प्रकार का होता है -

(१) अर्थ नय (२) व्यञ्जन नय। **(ध. १/८६)**

(१) शुद्ध पर्यायार्थिक नय (२) अशुद्ध पर्यायार्थिक नय। पर्यायार्थिकनय ४ प्रकार का है-

(१) ऋजुसूत्र (२) शब्द (३) समभिरूढ़ (४) एवंभूत। **(ध. ९/१७१)**

पर्यायार्थिक नय छह प्रकार का है-

(१) अनादि नित्य पर्यायार्थिकनय (२) सादि नित्य पर्यायार्थिक नय (३) अनित्य शुद्ध पर्यायार्थिक नय (४) नित्य अशुद्ध पर्यायार्थिक नय (५) नित्य शुद्ध पर्यायार्थिक नय (६) अनित्य अशुद्ध पर्यायार्थिक नय। **(आ. प. ५८-६३)**

(१) अनादि नित्य पर्यायार्थिक नय - जैसे मेरु आदि की पर्याय नित्य है। **(आ. प. ५८)** जो नय चन्द्रमा, सूर्य आदि अकृत्रिम, अविनाशी पुद्गल पर्यायों को ग्रहण करता है, वह अनादि नित्य पर्यायार्थिक नय है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है। **(न. च. १९९)**

(२) सादि नित्य पर्यायार्थिक नय - जैसे सिद्ध पर्याय। कर्मों के क्षय से उत्पन्न होने वाले भाव अविनाशी हैं, क्योंकि कर्मोदय रूप बाधक कारण का अभाव है। इन क्षायिक भावों को विषय करने वाली सादि नित्य पर्यायार्थिक नय है। **(न. च. २००)**

(३) अनित्य शुद्ध पर्यायार्थिक नय - ध्रौव्य को गौण करके उत्पाद-व्यय को ग्रहण करने वाला नय अनित्य शुद्ध पर्यायार्थिक नय है जैसे प्रतिसमय पर्याय विनष्ट होती है।

(४) नित्य अशुद्ध पर्यायार्थिक नय - ध्रौव्य की अपेक्षा सहित ग्रहण करने वाला नय नित्य अशुद्ध पर्यायार्थिक नय है जैसे - एक समय में पर्याय उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक है।

(५) नित्य शुद्ध पर्यायार्थिक नय - कर्मोपाधि से निरपेक्ष ग्रहण करने वाला नय नित्य शुद्ध पर्यायार्थिक नय है। जैसे - संसारी जीवों की पर्याय सिद्ध समान शुद्ध है।

(६) अनित्य अशुद्ध पर्यायार्थिक नय - कर्मोपाधि सापेक्ष स्वभाव को ग्रहण करने वाला अनित्य अशुद्ध-पर्यायार्थिक नय है, जैसे संसारी जीवों का जन्म तथा मरण होता है। **(आ. प. ५७-६३)**

९. प्रश्न : कौन-कौन सी पर्यायें अनादि नित्य हैं ?

उत्तर : भरत आदि क्षेत्र, हिमवत आदि पर्वत, पद्मादि सरोवर, सुदर्शन आदि मेरु, लवण-कालोदधि आदि समुद्रों के मध्य में स्थित असंख्यात द्वीप, समुद्र, नरक के पटल, भवनवासियों के विमान, व्यंतरों के विमान, चन्द्र-सूर्य आदि मण्डल ज्योतिषियों के विमान, सौधर्मकल्पादि स्वर्गों के पटल, यथायोग्य स्थानों में परिणत अकृत्रिम चैत्य-चैत्यालय, मोक्ष शिला और वृहद्वातवलय आदि अनेक आश्चर्य से युक्त परिणत पुद्गलों की अनेक द्रव्य-पर्याय सहित परिणत लोक महास्कन्ध आदि पर्यायें त्रिकालस्थित हैं इसलिए अनादि-अनिधन हैं। **(न. च. १ सं.)**

१०. प्रश्न : शुद्ध पर्यायार्थिक नय किसे कहते हैं ?

उत्तर : शुद्ध पर्याय अर्थात् समय मात्र स्वामी, षड्गुण हानि वृद्धि द्वारा उत्पन्न, सूक्ष्म अर्थ पर्याय ही है प्रयोजन जिसका वह शुद्ध पर्यायार्थिक नय है। **(आ. प. ९)** जो सत्ता को गौण करके उत्पाद-व्यय को ग्रहण करता है उसे अनित्य स्वभाव को ग्रहण करने वाला शुद्ध पर्यायार्थिक नय कहते हैं। **(न. च. २०१)**

११. प्रश्न : अशुद्ध पर्यायार्थिक नय किसे कहते हैं ?

उत्तर : अशुद्ध पर्याय (चिरकाल स्थायी पर्याय, संयोगी व स्थूल व्यंजन पर्याय) ही है प्रयोजन जिसका वह अशुद्धपर्यायार्थिक नय है। **(आ. प. १९५)** अशुद्ध पर्याय के अर्थ रूप से आचरण करने वाला अशुद्ध पर्यायार्थिक नय है। **(न. च.)**

१२. प्रश्न : निश्चय (भूतार्थ) नय किसे कहते हैं ?

उत्तर : भूत-वास्तविक आश्रय की विवक्षा रखने वाला निश्चय नय है जैसे - किसी ने पूछा आपका आधार कौन है ? अपना आत्मा ही आधार है।

अथवा - चेतन-अचेतन, सूक्ष्म-स्थूल, मूर्त्त-अमूर्त्त रूप जो द्रव्य तथा गुण है उनको विषय करने वाला निश्चय नय है। **अथवा** - यथार्थग्राही भूतनय है यह सत्य रूप होने से नामान्तर से निश्चय नय रूप कहा जाता है। (पृथक्त्व, उपचार, शुद्ध, द्रव्य और पर्याय इन विषयों को जैसे का तैसा जो नय ग्रहण करता है वह भूतार्थ नय है) **(सुख बो. त. वृ. ६७-६९)**

१३. प्रश्न : व्यवहार (अभूतार्थ) नय किसे कहते हैं ?

उत्तर : वास्तविक एवं अवास्तविक आश्रयों की विवक्षा रखने वाला व्यवहारनय है। जैसे - चेतन और अचेतन के समुदाय पिण्ड आत्मा आधार है, आदि कहना व्यवहार नय है **अथवा** - भिन्नसाध्य साधनविषयो व्यवहार:। **अथवा** - शुद्ध उपचार भी व्यवहार नय कहलाता है जैसे मैं देहादिक होता हूँ, देहादिक में मैं होता हूँ, मेरे देहादिक होते हैं। **अथवा** - प्राय: करके इन्द्रियों के विषय में प्रवृत्ति और निवृत्ति करने वाला व्यवहार नय है। **अथवा** - भूतार्थ नय से विपरीत लक्षण वाला अभूतार्थ नय है। **(सुख. बो. त. वृ. ६६-६९)**

१४. प्रश्न : अन्वयादि नयों के लक्षण किस प्रकार हैं ?

उत्तर - अन्वय नय - जो सर्वत्र अविकल्प अभेद रूप से अनुगमन करता है वह अन्वयनय है जैसे आत्मा अस्तित्व रूप से अस्ति है, ज्ञातृत्व रूप से ज्ञाता है इत्यादि, इसमें अस्तित्व का अभेद रूप से अन्वय है।

व्यतिरेक नय - उत्पाद और व्यय के उत्कर्ष को अविकल्प, अभेद रूप से अनुगमन करना व्यतिरेक नय है, जैसे सुख से सुखी, दु:ख से दु:खी आदि।

पृथक्त्व नय - निर्देश, प्रवृत्ति और फल द्वारा द्रव्य और पर्याय में भेद का ज्ञान करना पृथक्त्व नय है **जैसे** - ज्ञान ज्ञाता ही है, ज्ञाता आत्मा को कहते हैं, वह आत्मा तो ज्ञान भी है और अन्य दर्शन आदि रूप भी होता है, आदि।

अपृथक्त्व नय - द्रव्य और पर्यायों में सत् आदि के द्वारा अभेद का ज्ञान करना अपृथक्त्व नय है। जैसे ज्ञान विशिष्ट ज्ञाता है, अन्य प्रकार से नहीं। क्रोध विशिष्ट क्रोधन जीव है, अन्य प्रकार से नहीं।

निश्चय नय - साध्य और साधन एक ही विषयभूत है ऐसा स्वीकार करने वाला निश्चय नय है जैसे आत्मा अपने आत्मा को जानता है, देखता है, करता है, भोगता है, आदि।

व्यवहार नय - साध्य और साधन को भेद रूप से विषय करने वाला व्यवहार नय है। जैसे - आत्मा पर द्रव्य के स्वरूप को जानता है, देखता है, करता है तथा भोगता है। **(सुख बो. त.वृ. ६४-६६)**

१५. प्रश्न : नैगम नय किसे कहते हैं ?

उत्तर : अनिष्पन्न अर्थ में संकल्पमात्र को ग्रहण करने वाला नैगम है। यथा-हाथ में फरसा लेकर जाते हुए किसी पुरुष को देखकर कोई अन्य पुरुष पूछता है, आप किस काम के लिए जा रहे हैं ? वह कहता है प्रस्थ लेने जा रहा हूँ। उस समय वह प्रस्थ पर्याय सन्निहित नहीं है, केवल उसके बनाने का संकल्प होने से उसमें प्रस्थ व्यवहार किया गया है। इस प्रकार का जितना लोक व्यवहार अनिष्पन्न अर्थ के आलम्बन से संकल्पमात्र को विषय करता है वह सब नैगम नय का विषय है। **(सर्वा. २४२)** जो एक को विषय नहीं करता उसे नैगमनय कहते हैं। जो मुख्य गौण रूप से दो धर्मों को, दो धर्मियों को अथवा धर्म व धर्मी दोनों को विषय करता है, वह नैगम नय है। **(श्लो. ४/२३२)** जो नय अतीत, अनागत और वर्तमान को विकल्प रूप से साधता है वह नैगम नय है। **(का. अ. २७१)** नैगम शब्द को भव अर्थ या प्रयोजन अर्थ में (तद्धित का 'अण्' प्रत्यय कर बनाया गया) है। निगम का अर्थ संकल्प है, उस संकल्प में जो उत्पन्न हो, वह संकल्प जिसका प्रयोजन हो वह नैगमनय है। **(श्लो. ४/२३०)**

नैगमनय

- पर्यायनैगम
  - अर्थपर्याय नैगम
  - व्यंजन पर्याय नैगम
  - अर्थ-व्यंजन पर्याय नैगम
- द्रव्यनैगम
  - शुद्ध द्रव्य नैगम
  - अशुद्ध द्रव्य नैगम
- द्रव्यपर्याय नैगम
  - शुद्ध द्रव्य अर्थ पर्याय नैगम
  - अशुद्ध द्रव्य अर्थ पर्याय नैगम
  - शुद्ध द्रव्य व्यंजन पर्याय नैगम
  - अशुद्ध द्रव्य व्यंजन पर्याय नैगम

१६. प्रश्न : नैगम नय कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : नैगम नय तीन प्रकार का है -

(१) पर्याय नैगम (२) द्रव्य नैगम (३) द्रव्य पर्याय नैगम। **(श्लो. ४/२३४)**

(१) भूत नैगम नय (२) भावी नैगमनय (३) वर्तमान नैगमनय। **(आ. प. ६४)**

(१) अर्थ व्यञ्जन पर्यायार्थ नैगम (२) संग्रह व्यवहार द्रव्यार्थ नैगम (३) द्रव्य पर्यायार्थ नैगम। **(सुख बो. त. वृ. ६०)**

१७. प्रश्न : पर्याय नैगम, द्रव्य नैगम एवं द्रव्य पर्याय नैगम किसे कहते हैं ?

उत्तर : पर्याय नैगम - जो एक को विषय न करे अर्थात् भेद व अभेद दोनों को विषय करे वह नैगमनय है। इस न्याय से जो शुद्ध व अशुद्ध दोनों पर्यायार्थिक नयों के विषय को ग्रहण करने वाला हो वह पर्यायार्थिक नैगमनय है। **(ध. ९/१८१)** ऋजुसूत्र आदि चार नयों के विषय को युक्ति से स्वीकार करने वाला पर्यायार्थिक नैगम नय है। **(ज. ध. १/२४५)**

द्रव्य नैगम - शुद्ध व अशुद्ध द्रव्यार्थिक नयों के विषय को ग्रहण करने वाला द्रव्यार्थिक नैगम नय है। **(ध. पु. ९/१८१)**

युक्ति रूप आधार के बल से संग्रह और व्यवहार इन दोनों नयों के विषय को स्वीकार करने वाला द्रव्यार्थिक नैगम नय है। **(ज.ध. १/२४४) द्रव्यपर्यायार्थिक नैगमनय** - द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों नयों के विषय को ग्रहण करने वाला द्वन्द्वज अर्थात् द्रव्य पर्यायार्थिक नैगमनय है। **(ध. पु. ९/१८१)** द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक इन दोनों के विषय को स्वीकार करने वाला द्रव्यपर्यायार्थिक नैगमनय है। **(ज. ध. १/२४५)**

१८. प्रश्न : पर्याय नैगम कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : पर्याय नैगम तीन प्रकार का है -

(१) अर्थपर्याय नैगम (२) व्यञ्जनपर्याय नैगम (३) अर्थव्यञ्जनपर्याय नैगम।

अर्थ पर्याय नैगम - एक वस्तु में दो अर्थ पर्यायों को गौण-मुख्य रूप से जानने के लिए नयज्ञानी का जो अभिप्राय उत्पन्न होता है उसे अर्थ-पर्याय नैगम नय कहते हैं। जैसे शरीरधारी आत्मा का सुख-संवेदन प्रतिक्षणध्वंसी है, यह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप सत्ता सामान्य की अर्थपर्याय तो विशेषण हो जाने से गौण है और संवेदन रूप अर्थपर्याय विशेष्य होने से मुख्य है, अन्यथा किसी कथन द्वारा इस अभिप्राय की ज्ञप्ति नहीं हो सकती।

व्यंजन पर्याय नैगम - एक धर्मी में दो व्यंजन पर्यायों को गौण-मुख्य रूप से विषय करने वाला व्यंजन पर्याय नैगम नय है। जैसे आत्मा में सत्त्व और चैतन्य है। यहाँ विशेषण होने के कारण सत्ता की गौण रूप से और विशेष्य होने के कारण चैतन्य की प्रधानरूप ज्ञप्ति होती है।

अर्थ व्यंजनपर्याय नैगम नय - एक धर्मी में अर्थ व व्यंजन दोनों पर्यायों के विषय करने वाला अर्थव्यंजनपर्याय नैगम नय है। जैसे धर्मात्मा व्यक्ति में सुख-पूर्वक जीवन वर्त रहा है। (यहाँ धर्मात्मरूप धर्मी में सुखरूप अर्थपर्याय तो, विशेषण होने के कारण गौण है और जीवनपना रूप व्यंजनपर्याय विशेष्य होने के कारण मुख्य है।) **(श्लो. ४/२३४-३६)**

१९. प्रश्न : द्रव्य नैगम नय कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : द्रव्य नैगम नय दो प्रकार का है -

(१) शुद्ध द्रव्य नैगम (२) अशुद्ध द्रव्य नैगम।

शुद्ध द्रव्य नैगम नय - शुद्ध द्रव्य को विषय करने वाले संग्रह नय से उत्पन्न होने वाला अभिप्राय ही शुद्ध द्रव्य नैगम नय हैं। जैसे अन्वय का निश्चय हो जाने से सम्पूर्ण वस्तुओं को सत् द्रव्य कहना शुद्ध द्रव्य नैगमनय है।

अशुद्ध द्रव्य नैगमनय - अशुद्ध द्रव्य को विषय करने वाले व्यवहार नय से उत्पन्न होने वाला अभिप्राय ही अशुद्ध द्रव्य नैगमनय हैं। जो नय 'पर्यायवान् द्रव्य है' अथवा 'गुणवान् द्रव्य है' इस प्रकार निर्णय करता है, वह व्यवहार नय से उत्पन्न होने वाला अशुद्ध द्रव्य नैगम नय है। **(श्लो. वा. ४/२३६-३७)**

२०. प्रश्न : द्रव्य-पर्याय नैगम कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : द्रव्य-पर्याय नैगम नय चार प्रकार के होते हैं -

(१) शुद्ध द्रव्यार्थ पर्याय नैगमनय, (२) अशुद्ध द्रव्यार्थ पर्याय-नैगमनय। (३) शुद्ध द्रव्य व्यंजन पर्याय नैगमनय (४) अशुद्ध व्यंजन पर्याय नैगमनय।

शुद्ध द्रव्यार्थ पर्याय नैगमनय - शुद्ध द्रव्य व उसकी किसी एक अर्थ पर्याय को गौण मुख्य रूप से विषय करने वाला शुद्ध द्रव्य अर्थपर्याय नैगम है। जैसे संसार में सुख पदार्थ शुद्ध सत् रूप होता हुआ क्षणमात्र में नष्ट हो जाता है।

अशुद्ध द्रव्य अर्थपर्याय नैगमनय - अशुद्ध द्रव्य व उसकी किसी एक अर्थ पर्याय को गौण मुख्य रूप से विषय करने वाला अशुद्ध द्रव्य अर्थ पर्याय नैगम नय है। जैसे संसारी जीव क्षणमात्र को सुखी है।

शुद्ध द्रव्य व्यंजन पर्याय नैगमनय - शुद्ध द्रव्य व उसकी किसी एक व्यंजन पर्याय को गौण मुख्य रूप से विषय करने वाला शुद्ध द्रव्य व्यंजन पर्याय नैगम नय है जैसे-यह सत् सामान्य चैतन्य स्वरूप है।

अशुद्ध द्रव्य व्यंजन पर्याय नैगम नय - अशुद्ध द्रव्य और उसकी किसी एक व्यंजन पर्याय को गौण मुख्य रूप से विषय करने वाला अशुद्ध द्रव्य व्यंजन पर्याय नैगमनय है। जैसे - मनुष्य गुणी है ऐसा कहना। **(श्लो. ४/२३७-३९)**

२१. प्रश्न : भूत नैगम नय किसे कहते हैं ?

उत्तर : अतीत कार्य में 'आज हुआ है' ऐसा वर्तमान का आरोप या उपचार करना भूत-नैगम नय है जैसे-आज दीपावली के दिन भगवान वर्धमान मोक्ष गये हैं, ऐसा कहना भूत-नैगम नय है। **(आ. प.६५)**

भूत नैगम नय की अपेक्षा से भगवन्त सिद्धों को भी व्यंजन पर्यायवानपना और अशुद्धपना सम्भावित होता है, क्योंकि पूर्वकाल में वे भगवन्त संसारी थे, ऐसा व्यवहार है। **(नि.सा.ता. १९)**

अन्तरात्मा की अवस्था में बहिरात्मा और परमात्मा की अवस्था में अन्तरात्मा व बहिरात्मा दोनों घी के घड़े के समान भूतपूर्व न्यास से जानने चाहिए। **(द्र. सं. १४ टी.)**

२२. प्रश्न : भावी नैगम नय किसे कहते हैं ?

उत्तर : होने वाला कार्य ''हो चुका'' ऐसा भूतवत् कथन करना भावी नैगम नय है। जैसे भावी नैगम नय की अपेक्षा अर्हन्त भगवान् सिद्ध ही हैं। **(आ. प. ६६)** जो पदार्थ अभी अनिष्पन्न है और भावी

काल में निष्पन्न होने वाला है उसे निष्पन्नवत् कहना भावी नैगम नय है, जैसे जो अभी प्रस्थ नहीं बना है ऐसे काठ के टुकड़े को ही प्रस्थ कह देना। **(न.च.वृ. २०५)**

बहिरात्मा की दशा में अन्तरात्मा तथा परमात्मा ये दोनों शक्ति रूप से तो रहते ही हैं। परन्तु भावी नैगमनय से व्यक्तिरूप से भी रहते हैं। इसी प्रकार अन्तरात्मा की दशा में परमात्मा स्वरूप शक्ति रूप से रहता है, परन्तु भावी नैगम नय से व्यक्ति रूप से भी रहता है। **(वृ.द्र.सं.१४ टी.)**

२३. प्रश्न : भावी संज्ञा के विषय में राजा आदि के द्वारा उपकार की उपलब्धि है परन्तु नैगम नय में उपकार की उपलम्भता नहीं है अत: नैगमनय संव्यवहार के अनुपयुक्त है?

उत्तर : नयों के विषय के प्रकरण में यह आवश्यक नहीं है कि उनकी उपयोगिता का विचार किया जाए - हमारा अभिप्राय यह नहीं है कि नय उपकारी ही होते हैं क्योंकि यहाँ तो केवल उनका विषय बताना है। पुन: संकल्प के अनुसार निष्पन्न वस्तु से उपकारादि की संभावना भी है ही। **(रा.वा. ४)**

२४. प्रश्न : वर्तमान नैगमनय किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो कार्य करना प्रारम्भ कर दिया गया है, परन्तु अभी तक जो निष्पन्न नहीं हुआ है, कुछ निष्पन्न है और कुछ अनिष्पन्न है उस कार्य को 'हो गया' ऐसा निष्पन्नवत् कथन करना वर्तमान नैगम नय है; जैसे - वर्तमान नैगम नय से अधपके चावलों को भी 'भात पकता है' ऐसा कह दिया जाता है। **(आ.प. ६७)** पाक क्रिया के आरम्भ करने पर ही किसी के पूछने पर यह कह दिया जाता है कि भात पक गया है या भात पकाता हूँ ऐसा वर्तमान नैगमनय है। **(न.च.वृ. २०८)**

२५. प्रश्न : अर्थ व्यञ्जन पर्यायार्थ आदि तीन नय किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो सूक्ष्म है, क्षण-क्षण में नष्ट होती है और वचन के गोचर नहीं है वह अर्थ पर्याय कहलाती है जो कि वस्तु का धर्म है। जो स्थूल है, कालान्तर स्थायी है, वचन के गोचर है, वह व्यंजन पर्याय कहलाती है, ये दो धर्म-अर्थ पर्याय और व्यंजन पर्याय हैं, इनके अस्तित्व का अवलम्बन लेने वाला, इनको विषय करने वाला नय **अर्थ व्यंजन पर्यायार्थ नैगमनय** कहलाता है।

एक समस्त संग्रह रूप द्रव्यार्थ होता है और एक भेद रूप द्रव्यार्थ होता है, इस तरह दो द्रव्यार्थ या धर्मी के अस्तित्व का अवलम्बन लेने वाला **संग्रह व्यवहार द्रव्यार्थ** नाम का नैगम नय है। द्रव्यार्थ है और पर्यायार्थ है, इस प्रकार द्रव्य और पर्याय के अस्तित्व का अवलम्बन लेने वाला **द्रव्य पर्यायार्थ नैगमनय** है। **(सुख बो. त. वृ. ६०)**

२६. प्रश्न : संग्रह नय[1] किसे कहते हैं ?

---

१. संग्रहनय कहता है कि मनुष्य मनुष्य सब एक से हैं। मनुष्यता के नाते उनमें कोई भेद नहीं है। धोबी-धोबी का काम देगा, कुम्भकार का नहीं। बस, यह नय पदार्थ की विशेषता पर ध्यान देता है। धोबी को धोबी तो बढ़ई को बढ़ई समझता है।

उत्तर : स्वजाति के अविरोध से अभेद रूप समस्त भेदों का ग्रहण करना संग्रह नय है। जैसे सत् द्रव्य है घट-पटादि। 'सत्' ऐसा कहने पर सत्ता सम्बन्ध के योग्य द्रव्य, गुण, कर्म, पर्याय आदि सत् के भेद-प्रभेदों का 'सत्' से अभिन्न होने से 'सत्' शब्द से संग्रह हो जाता है अथवा 'द्रव्य' ऐसा कहने पर द्रव्यत्व के साथ अविरोधी होने से जीव, अजीव आदि सब द्रव्यों का संग्रह हो जाता है। 'घट' ऐसा कहने पर 'मिट्टी का घट', 'सुवर्ण का घट' आदि कारण विशेषों से, नाम भेद से और रंग, संस्थान, आकार आदि की अपेक्षा से भिन्न घट शब्द वाच्यों का घटत्व की अपेक्षा एकत्व होने से घट शब्द से सर्व घटों का संग्रह हो जाता है। इसी प्रकार सबमें योजना करनी चाहिए। **(रा.वा. ५)**

व्यवहार की अपेक्षा न करके जो सत्तादि रूप से सकल पदार्थों का संग्रह करता है वह संग्रह नय है। **(ध. १३/१९९)**

अभेद रूप से समस्त वस्तुओं को जो संग्रह करके कथन करता है वह संग्रह नय है। **(आ. प. १९७)** जो नय समस्त वस्तु का अथवा उसके एकदेश का अनेक द्रव्य पर्याय सहित अन्वय लिंग विशिष्ट संग्रह करता है उसे संग्रह नय कहते हैं। **(का.अ. २७२)**

२७. प्रश्न : संग्रह नय से गृहीत पदार्थों में भेद करने की विधि क्या है ?

उत्तर : संग्रह नय से 'सत्' ऐसा सामान्य ग्रहण किया था पर यह सत् सामान्य-विशेष रहित होने से संव्यवहार के लिए समर्थ नहीं है। अत: व्यवहार का आश्रय लिया जाता है कि जो सत् है वह द्रव्य है कि गुण ? संगृहीत से गृहीत 'द्रव्य' है। इसमें व्यवहार नय का आश्रय लिया जाता है कि द्रव्य भी जीव है या अजीव ? क्योंकि जीव या अजीव रूप विशेष के बिना द्रव्य सामान्य से व्यवहार करना शक्य नहीं है। जीव और अजीव सामान्य से भी व्यवहार नहीं चल सकता अत: उसके भी देव-नारकी आदि जीव और घट-पटादि अजीव हैं, इस प्रकार भेद करने वाले व्यवहार का आश्रय लेना चाहिए। **(रा.वा. ६)**

२८. प्रश्न : संग्रह नय कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : संग्रह नय दो प्रकार का होता है -

(१) पर संग्रह (२) अपर संग्रह। **(श्लो. ४/२४०-४१)** अथवा -

(१) सामान्य संग्रह (२) विशेष संग्रह । **(आ. प. ६८)** अथवा -

(१) शुद्ध संग्रह (२) अशुद्ध संग्रह । **(न. च. वृ. २०८)**

२९. प्रश्न : पर संग्रह और अपर संग्रह नय किसे कहते हैं ?

उत्तर : सम्पूर्ण जीवादि विशेष पदार्थों में उदासीनता धारण करके जो सबके सत्तामात्र शुद्ध द्रव्य रूप को ग्रहण करता है वह **परसंग्रह** है। तथा अपने से प्रतिकूल पक्ष का निराकरण न करते हुए जो पर संग्रह के व्याप्तभूत सर्व द्रव्यों व सर्व पर्यायों को द्रव्यत्व व पर्यायत्व रूप सामान्य धर्मों द्वारा और इसी प्रकार उनके भी व्याप्तभूत अवान्तर भेदों का एकपने संग्रह करता है वह **अपर संग्रह नय** है। **(श्लो. ४/२४०-४१)**

३०. प्रश्न : सामान्य संग्रह नय एवं विशेष संग्रह नय किसे कहते हैं ?

उत्तर : परस्पर अविरोधरूप से सम्पूर्ण पदार्थों के संग्रह रूप एक वचन के प्रयोग के चातुर्य से कहा जाने वाला 'सब सत् स्वरूप है', इस प्रकार सेना-समूह, वन, नगर वगैरह को आदि लेकर अनेक जाति के समूह को एक वचन रूप से स्वीकार करके कथन करने को **सामान्य संग्रह नय** कहते हैं। जीव समूह, अजीव समूह, हाथियों का झुण्ड, आम, जामुन, वणिक्, श्रेष्ठी, कोटपाल आदि अठारह श्रेणियों का समूह इत्यादि दृष्टान्तों के द्वारा प्रत्येक जाति के समूह को नियम से एकवचन के द्वारा स्वीकार करके कथन करना विशेष संग्रहनय है। कहा भी है - जो परस्पर अविरोध रूप से सब-के-सब को कहता है, वह सामान्य संग्रह नय है तथा जो एक जातिविशेष के ग्राहक अभिप्राय वाला है वह **विशेष संग्रह नय** है। **(सं. न. च. पृ. १३)**

३१. प्रश्न : शुद्ध एवं अशुद्ध संग्रह नय किसे कहते हैं ?

उत्तर : संग्रह नय की अपेक्षा ज्ञानावरणीय की वेदना जीव के होती है, यह कथन शुद्ध संग्रह नय की अपेक्षा है क्योंकि जीवों के और उनके साथ नोजीवों की एकता स्वीकार की गयी है। **(ध.१२/२९९)**

समीचीन रूप से अपनी जाति का विरोध नहीं करते हुए सभी का एक रूप से ग्रहण करना संग्रहनय है, जैसे सभी सत् हैं, इस प्रकार सर्व ही पदार्थों में सत्व की अपेक्षा समानता होने से शुद्ध सत् मात्र का ग्राहक यह **शुद्ध संग्रह नय** है तथा द्रव्य है, घट है इस प्रकार द्रव्यत्व और घटत्व रूप अवान्तर सामान्य की अपेक्षा सर्व ही जीव आदि द्रव्यों को ग्रहण करना तथा सुवर्ण का घट, रजत का घट, मिट्टी का घट आदि सर्व ही घट व्यक्तियों का संग्रह कर लेने से **अशुद्ध संग्रह नय** है। **(सुख बो. त. वृ. ६१)**

३२. प्रश्न : व्यवहार नय[1] किसे कहते हैं ?

उत्तर : संग्रह नय से संगृहीत पदार्थों का विधि पूर्वक अर्थात् आनुपूर्वी रूप से (विरोध रहित) विभाजन करना व्यवहार है। जो नय संग्रहनय के द्वारा अभेद रूप से गृहीत वस्तुओं का परमाणु पर्यन्त भेद करता है वह व्यवहार नय है। **(का. अ. २७३)**

जो संग्रह नय के द्वारा ग्रहण किये गये शुद्ध या अशुद्ध पदार्थ का भेद करता है, वह व्यवहार नय है। **(न. च. २०९)** वस्तु के प्रत्येक भेद के प्रति शब्द का निश्चय करना व्यवहार है। **(ध. १/१२)** एक अभेद वस्तु में जो धर्मों का भेद रूप उपचार करता है वह व्यवहार नय है। **(न. च. २६२)** जो पुद्गल परिणाम आत्मा का कर्म है वही पुण्य-पाप रूप द्वैत है, आत्मा पुद्गल परिणाम का कर्त्ता है, उसका ग्रहण करने वाला और छोड़ने वाला है, यह अशुद्ध द्रव्यों के निरूपण स्वरूप व्यवहार नय है। **(प्र.सा.त. १८९)**

---

१. व्यवहार नय योनिमती को स्त्री और मेहनवान को पुरुष कहता है किन्तु ऋजुसूत्रनय उन्हें विवाह होने पर ही स्त्री पुरुष कहता है, कुमारावस्था में नहीं।

३३. प्रश्न : व्यवहार नय वस्तु में कहाँ तक विभाग करता है ?

उत्तर : संग्रह से गृहीत अर्थ को विधिपूर्वक भेद करते हुए इस नय की प्रवृत्ति वहाँ तक होती है जहाँ तक कि वस्तु में अन्य कोई विभाग करना संभव नहीं रहता। इस प्रकार उत्तरोत्तर हो रहा संग्रह और व्यवहार नय का प्रपंच ऋजुसूत्र नय से पहले-पहले और पर संग्रह से उत्तर-उत्तर अंशों की विवक्षा करने पर समझ लेना चाहिए, क्योंकि जगत् की सब वस्तुएँ कथंचित् सामान्य-विशेषात्मक हैं। **(श्लो. ४/२४४-४५)**

३४. प्रश्न : व्यवहार नय कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : व्यवहार नय दो प्रकार का है -

(१) सद्भूत व्यवहार नय (२) असद्भूत व्यवहार नय। **(आ. प. २२०)**

सद्भूत व्यवहार एक विषयक होता है और असद्भूत व्यवहार भिन्न वस्तु विषयक है। **(न.च.श्रुत. २५५)**

(१) शुद्धार्थ भेदक (२) अशुद्धार्थ भेदक। **(न. च. वृ. २०९)**

(१) सामान्य संग्रह भेदक (२) विशेष संग्रह भेदक। **(आ. प. ५)**

(१) एक पृथक्त्व व्यवहार नय (२) एकत्व व्यवहार नय। **(पं. का. ४७)**

व्यवहार नय परसंग्रह से उत्तरवर्ती होकर ऋजुसूत्र नय से पहले वर्तन करता हुआ अनेक प्रकार का है। **(श्लो. ४/२४४)**

३५. प्रश्न : सद्भूत व्यवहार नय किसे कहते हैं ?

उत्तर : एक वस्तु को विषय करने वाला सद्भूत व्यवहार है। **(आ. प. २२१)**

गुण-गुणी में अथवा पर्याय व द्रव्य में कर्त्ता, कर्म, करण व सम्बन्ध आदि कारकों का कथंचित् सद्भाव होता है। उसे जानकर जो द्रव्यों में भेद करता है वह सद्भूत व्यवहार नय है। **(न. च. २१९)**

गुण-गुणी में, पर्याय-पर्यायी में, स्वभाव-स्वभावी में, कारक-कारकी में भेद करना सद्भूत व्यवहार नय है। **(आ.प. २०९)** (जैसे - उष्ण स्वभाव एवं अग्नि स्वभावी में भेद करना)। संज्ञा, संख्या, लक्षण और प्रयोजन के भेद से जो नय गुण-गुणी में भेद करता है। वह सद्भूत व्यवहार नय है। **(आ. प. २०६)**

३६. प्रश्न : सद्भूत व्यवहार नय कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : सद्भूत व्यवहार दो प्रकार का होता है -

(१) अशुद्ध सद्भूत व्यवहारनय (२) शुद्ध सद्भूत व्यवहार नय। **(आ. प. ८१)**

३७. प्रश्न : अशुद्ध (उपचरित) सद्भूत व्यवहारनय किसे कहते हैं ?

उत्तर : अशुद्ध गुण व अशुद्धगुणी में अथवा अशुद्ध पर्याय व अशुद्ध पर्यायी में भेद का कथन करना अशुद्ध सद्भूत व्यवहार नय है। **(आ.प. ८३)**

अशुद्ध सद्भूत व्यवहार से मतिज्ञानादि विभावगुणों का आधार होने के कारण अशुद्ध जीव है। **(नि.सा.ता.९)** छद्मस्थ जीव के अपूर्ण ज्ञान-दर्शन की अपेक्षा से अशुद्ध सद्भूत शब्द से वाच्य उपचरित सद्भूत व्यवहार है। **(वृ.द्र.सं.टी.६)**

३८. प्रश्न : शुद्ध सद्भूत व्यवहार नय किसे कहते हैं ?

उत्तर : निरुपाधि गुण व गुणी (ज्ञान और जीव) तथा शुद्ध पर्याय पर्यायी (सिद्ध पर्याय और सिद्ध जीव) में भेद को विषय करने वाला शुद्ध सद्भूत व्यवहारनय है। **(आ. प. ८२)** परमाणु पर्याय पुद्गल की शुद्ध पर्याय है जो पारिणामिक भाव स्वरूप है, वस्तु में होने वाली छह प्रकार की हानि-वृद्धि रूप है, अति सूक्ष्म है, अर्थ पर्यायात्मक है और सादि-सान्त होने पर भी पर-द्रव्य से निरपेक्ष होने के कारण शुद्ध सद्भूत व्यवहारनयात्मक है। **(नि.सा.ता.२८)**

यहाँ जीव का लक्षण कहते समय केवलज्ञान व केवलदर्शन के प्रति शुद्ध सद्भूत शब्द से वाच्य अनुपचरित सद्भूत व्यवहार है। **(वृ.द्र.सं. ६ टी)**

३९. प्रश्न : उपचरित असद्भूत व्यवहार नय से जीव का कथन किस प्रकार होता है ?

उत्तर : उपचरित असद्भूत व्यवहार नय से आत्मा घट, पट, रथ आदि का कर्त्ता है। **(नि.सा.ता. १८)** उपचरित असद्भूत व्यवहार नय से यह आत्मा काष्ठ के आसन आदि पर बैठे हुए देवदत्त की भाँति अथवा समवशरण में स्थित वीतराग सर्वज्ञ की भाँति, विवक्षित किसी एक ग्राम या घर आदि में स्थित है। (प्र.सा. ता. परि.) उपचरित असद्भूत व्यवहार नय से सिद्ध जीव मोक्ष शिला पर तिष्ठते हैं। जीव इष्टानिष्ट पंचेन्द्रियों के विषयों से उत्पन्न सुख-दु:ख को भोगता है। बाह्य विषयों-पंचेन्द्रिय के विषयों का त्याग कहना भी उपचरित असद्भूत व्यवहार नय है। **(वृ.द्र.सं. ४५ टी)**

४०. प्रश्न : अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय से जीव का कथन किस प्रकार होता है ?

उत्तर : (अनुपचरित असद्भूत) व्यवहार नय से यथासंभव द्रव्य प्राणों के द्वारा जीता है, जीवेगा और पहले जीता था, इसलिए आत्मा जीव कहलाता है। **(पं. का. ता. २७)** जीव के औदयिक आदि चार भाव (अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय से) कर्मकृत **(पं.का. ५८ ता.)** अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय से द्विअणुक आदि स्कन्धों में संश्लेष सम्बन्ध रूप से स्थित परमाणु की भाँति अथवा वीतराग सर्वज्ञ की भाँति, यह आत्मा औदारिक आदि शरीरों में से किसी एक विवक्षित शरीर में स्थित है। **(प्र.सा.ता. परि.)** अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय से यह जीव मूर्त्त है। **(वृ.द्र.सं. ७ टी.)** अनुपचरित

असद्भूत व्यवहार नय से जीव द्रव्यकर्म व नोकर्म से रहित है। द्रव्य कर्मों का दहन करने वाला है, देह से अभिन्न है। **(प.प्र.टी. १/७, १, १४)**

४१. प्रश्न : असद्भूत व्यवहार नय किसे कहते हैं ?

उत्तर : भिन्न वस्तु को विषय करने वाला असद्भूत व्यवहार नय है। **(आ. प. २२२ पृ.)** अन्य द्रव्य के अन्य गुण कहना असद्भूत व्यवहार नय है। वह तीन प्रकार का है - स्वजाति, विजाति और मिश्र। ये तीनों भी द्रव्य, गुण व पर्याय में परस्पर उपचार होने से तीन-तीन प्रकार के हो जाते हैं। **(न.च.वृ. २२२-२३)** मन, वचन, काय, इन्द्रिय, आनप्राण और आयु ये जो दश प्रकार के प्राण जीव के हैं, ऐसा असद्भूत व्यवहार नय कहता है। **(न.च.वृ. ११२)**

ज्ञेय को ज्ञान कहना (जैसे घटज्ञान), श्रद्धेय को दर्शन कहना (जैसे देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा सम्यग्दर्शन है), आचरण करने योग्य को चारित्र कहते हैं। (जैसे - हिंसा आदि का त्याग चारित्र है) यह सब कथन असद्भूत व्यवहार जानना चाहिए। **(न.च. ३२०)** जिनेन्द्र भगवान को नमस्कार हो, ऐसा वचनात्मक द्रव्य नमस्कार भी असद्भूत व्यवहार नय से होता है। **(पं. का. ता. १)**

आत्मा द्रव्य कर्म को करता है, उनको भोगता है, ऐसा जो अशुद्ध द्रव्य का निरूपण उस रूप असद्भूत व्यवहार नय कहा जाता है। **(प्र.सा.ता. २०२)**

४२. प्रश्न : असद्भूत व्यवहार नय कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : असद्भूत व्यवहार नय दो प्रकार का है -

(१) उपचरित असद्भूत व्यवहार नय (२) अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय। **(आ.प. २२६)**

उपचरित असद्भूत - संश्लेष रहित वस्तुओं के सम्बन्ध को विषय करने वाला उपचरित असद्भूत व्यवहार नय है। जैसे देवदत्त का धन, ऐसा कहना। **(आ. प. २२७)**

असद्भूत व्यवहार ही उपचार है। उपचार का भी जो उपचार करता है वह उपचरित असद्भूत व्यवहार नय है। **(सं. न. च. ४८) विशेषार्थ**

अनुपचरित असद्भूत - संश्लेष सहित वस्तुओं के सम्बन्ध को विषय करने वाला अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय है, जैसे 'जीव का शरीर है' ऐसा कहना। **(आ. प. २२८)** जीव के औदयिक आदि चार भाव अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय से कर्मकृत हैं। **(पं.का.ता. ५८)**

४३. प्रश्न : ऋजुसूत्र नय किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो सामान्य शक्ति की अपेक्षा वस्तु की वर्त्तमान पर्याय को सरल रूप से सूचित करता है, जानता है, वह ऋजुसूत्र नय है। **(सुख बो. त.वृ. ६१)** यह नय पहले और पीछे वाले तीनों कालों के विषयों को ग्रहण न करके वर्तमान काल के विषयभूत पदार्थों को ग्रहण करता है, क्योंकि अतीत के विनष्ट

और अनागत के अनुत्पन्न होने से उनमें व्यवहार नहीं हो सकता है। **(सर्वा. २४५)** सरल सूत डाले जाने के समान ऋजुसूत्र नय एकसमयवर्ती वर्तमान पर्याय को विषय करता है। तीन काल के विषय का उल्लंघन करता है। क्योंकि अतीत और अनागत विनष्ट और अनुत्पन्न होने से व्यवहार के लिए उपयुक्त नहीं हैं। इस नय का विषय एक समय मात्र कहा गया है। जैसे बैठे हुए किसी प्राणी से पूछा, 'तू इस समय कहाँ से आ रहा है।' वह (ऋजुसूत्र नय) मानता है कि कहीं से नहीं आ रहा है क्योंकि उस समय तात्कालिक क्रिया परिणाम का अभाव है अर्थात् उस समय गमन क्रिया नहीं हो रही है। जितने आकाशप्रदेशों में वह ठहरने में समर्थ है उतने ही आकाशप्रदेशों में उसका निवास है वा स्वात्मा में ही अपना निवास है अत: इस नय की अपेक्षा ग्राम निवास, गृह निवास आदि व्यवहार नहीं हो सकते हैं। **(रा.वा. ७)**

इसी प्रकार 'कौआ काला', 'पलाल का जलना', 'श्वेत वस्तु काली हो जाती है' आदि व्यवहार को ऋजुसूत्र नय नहीं मानता है। इनका विशेष विवरण तत्त्वार्थ वार्त्तिक से जानना चाहिए। **(रा.वा. ७)**

४४. प्रश्न : ऋजुसूत्र नय कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : ऋजुसूत्र नय दो प्रकार का होता है -

(१) शुद्ध ऋजुसूत्र नय (२) अशुद्ध ऋजुसूत्र नय। **(ध.पु. ९/२४४)**

अथवा - (१) सूक्ष्म ऋजुसूत्र नय (२) स्थूल ऋजुसूत्र नय। **(आ. प. ७३)**

४५. प्रश्न : शुद्ध एवं अशुद्ध ऋजुसूत्र नय किसे कहते हैं ?

उत्तर : अर्थ-पर्याय को विषय करने वाला शुद्ध ऋजुसूत्र नय है। वह प्रत्येक क्षण में परिणमन करने वाले समस्त पदार्थों को विषय करता हुआ अपने विषय से सादृश्य सामान्य व तद्भाव रूप सामान्य को दूर करने वाला है तथा जो अशुद्ध ऋजुसूत्र नय है, वह चक्षु इन्द्रिय की विषयभूत व्यंजन पर्यायों को विषय करने वाला है। **(ध. ९/२४४)**

४६. प्रश्न : सूक्ष्म एवं स्थूल ऋजुसूत्र नय किसे कहते हैं ?

उत्तर : सूक्ष्म ऋजुसूत्र नय एक समय अवस्थायी पर्याय को विषय करता है और स्थूल ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा मनुष्यादि पर्यायें स्व-स्व आयु प्रमाण काल पर्यन्त ठहरती हैं। **(आ.प. ७४-७५)**

४७. प्रश्न : ऋजुसूत्र की अपेक्षा तो व्यवहार का लोप हो जायेगा ?

उत्तर : यह नय व्यवहार-लोप की चिंता नहीं करता। यहाँ तो उसका विषय बताया गया है। व्यवहार तो पूर्वोक्त व्यवहार आदि नयों से ही सध जाता है अथवा व्यवहार एक नय के आधीन नहीं है। **(रा.वा. ७)**

४८. प्रश्न : शब्द नय किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो अर्थज्ञान कराता है वह शब्द नय है। जिस व्यक्ति ने शब्द उच्चारण किया है या संकेत

ग्रहण किया है उस पुरुष के स्वाभिधेय (अर्थ) में प्रतीति कराने वाला वा अर्थ का बोध कराने वाला शब्द नय है। **(रा.वा. ८)**

लिंग, संख्या और साधन आदि के व्यभिचार की निवृत्ति करने वाला शब्द नय है। **(सर्वा. २४६)**। शब्द अर्थात् व्याकरण से प्रकृति-प्रत्यय आदि के द्वारा सिद्ध कर लिये गये शब्द का यथायोग्य प्रयोग करना शब्द नय है। **(आ. प. २००)** जो नय काल, कारक आदि के भेद से अर्थ के भेद को समझता है, वह शब्द प्रधान होने के कारण शब्द नय कहा जाता है। **(श्लो. ४/२५५)** जो भिन्न लिंग आदि वाले शब्दों की एक अर्थ में वृत्ति नहीं मानता वह शब्द नय है, जैसे पुरुष, स्त्री आदि।

काल, कारक, लिंग, संख्या, साधन और उपग्रह आदि के भेदों से जो नय भिन्न अर्थ समझाता है वह नय शब्द प्रधान होने से शब्द नय कहा जाता है और इसके पूर्व जो व्यवहार नय कहा गया है वह तो काल आदि के भेद होने पर भी अभिन्न अर्थ को समझाने का अभिप्राय रखता है। **(श्लो. ४/२५५)**

४९. प्रश्न : लिङ्ग व्यभिचार किसे कहते हैं ?

उत्तर : स्त्रीलिङ्ग के साथ पुल्लिंग का प्रयोग करना, जैसे तारका स्वाति: (इसमें तारका स्त्रीलिङ्ग के साथ स्वाति: पुल्लिंग) पुल्लिग के साथ स्त्रीलिंग का प्रयोग। जैसे 'अवगमो विद्या'। स्त्रीलिंग में नपुंसकत्व का विधान जैसे 'वीणा आतोद्यं'। नपुंसक लिंग के साथ स्त्रीलिंग का प्रयोग जैसे 'आयुधं शक्ति:'। पुल्लिग में नपुंसकत्व विधान **जैसे** - 'पटो वस्त्रं' इसमें पट शब्द पुल्लिग है उसके स्थान में वस्त्र नपुंसकत्व आदेश हुआ है। नपुंसक लिंग में पुल्लिग का प्रयोग 'द्रव्यं परशु:' इसमें द्रव्य नपुंसक है और परशु पुल्लिग का उसके स्थान में प्रयोग हुआ है। यह सब लिंग व्यभिचार है। **(रा.वा. ९)**

५०. प्रश्न : संख्या व्यभिचार किसे कहते हैं ?

उत्तर : एकवचन के स्थान में द्विवचन का प्रयोग करना जैसे 'नक्षत्रं पुनर्वसू'। इसमें नक्षत्र एकवचन है उसके स्थान में 'पुनर्वसू' द्विवचन का प्रयोग करना संख्या व्यभिचार है। एक वचन के स्थान पर बहुवचन का प्रयोग जैसे 'नक्षत्रं शतभिषज:' इसमें नक्षत्र एकवचन के स्थान में 'शतभिषज:' बहुवचन का प्रयोग है। द्विवचन के स्थान में एकवचन का प्रयोग 'गौदौ ग्राम:' द्विवचन के स्थान में बहुवचन का प्रयोग जैसे 'पुनर्वसू पंचतारका:' इसमें पुनर्वसू द्विवचन के स्थान पर 'पंचतारका:' बहुवचन का प्रयोग है। इसी प्रकार बहुवचन के स्थान में एकवचन का प्रयोग जैसे ''आम्रा: वनं''। बहुवचन के स्थान में द्विवचन 'देवमनुष्या:' 'उभौ राशी' इत्यादि संख्या व्यभिचार है। **(रा.वा. ९)**

५१. प्रश्न : साधन व्यभिचार किसे कहते हैं ?

उत्तर : परिहास में मध्यम पुरुष के स्थान में उत्तम पुरुष और उत्तम पुरुष के स्थान में मध्यम पुरुष का प्रयोग करना, जैसे 'एहि मन्ये रथेन यास्यसि, नहि यास्यसि यातस्ते पिता' इसमें प्रकृत रूप यह है 'त्वं एहि', त्वं मन्यसे यत् अहं रथेन यास्यामि, त्वं नहि यास्यसि, ते पिता अग्रे यात:। यहाँ 'मन्यसे' के स्थान

में मन्ये का तथा यास्यामि के स्थान में यास्यसि का प्रयोग हुआ है। यह साधन व्यभिचार है। **(रा.वा. ९)**

५२. प्रश्न : काल व्यभिचार किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिसने विश्व को देख लिया ऐसा विश्वदृश्वा पुत्र उत्पन्न होगा। इसमें भावी काल का, भविष्यकाल में विश्व को देखेगा इस शब्द का वर्तमान में प्रयोग किया है। इस प्रकार और भी काल व्यभिचार हैं। **(रा.वा. ९)**

५३. प्रश्न : उपग्रह व्यभिचार किसे कहते हैं ?

उत्तर : उपसर्ग (प्र, परा, अप् आदि) के कारण धातुओं में परस्मैपद के स्थान पर आत्मनेपद का प्रयोग और आत्मनेपद के स्थान में परस्मैपद का प्रयोग करना। जैसे - 'स्था' धातु परस्मैपद है उसका तिष्ठति रूप बनता है उसमें सं वा प्र उपसर्ग लगा देने से आत्मनेपद हो जाता है जैसे संतिष्ठते, प्रतिष्ठते। 'रमते' आत्मनेपद का है 'वि' उपसर्ग से विरमति और उप से उपरमति आदि। ये सब उपग्रह व्यभिचार के दृष्टान्त हैं। **(रा.वा.९)**

५४. प्रश्न : कारक व्यभिचार किसे कहते हैं ?

उत्तर : वैयाकरण जन कर्त्ताकारक वाले 'करोति' और कर्मकारक वाले 'क्रियते' इन दोनों शब्दों में कारकभेद होने पर भी, इनका अभिन्न अर्थ मानते हैं, कारण कि देवदत्त कुछ करता है 'और' देवदत्त के द्वारा कुछ किया जाता है इन दोनों वाक्यों का एक अर्थ प्रतीत हो रहा है। परीक्षा करने पर इस प्रकार मानना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर तो 'देवदत्त चटाई को बनाता है' इस वाक्य में प्रयुक्त कर्त्ताकारक रूप देवदत्त और कर्म कारक रूप चटाई में भी अभेद का प्रसंग आता है। **(श्लो. २५९)**

५५. प्रश्न : ऐसा मानने पर व्याकरण शास्त्र का विरोध आयेगा ?

उत्तर : यह नय लोक और व्याकरण शास्त्र के विरोध की चिंता नहीं करता। यहाँ तो नय का विषय बताया जा रहा है, मित्रों की खुशामद नहीं की जा रही है। **(रा.वा. ९)** यदि विरोध होता है तो होने दो, इससे हानि नहीं, क्योंकि यहाँ तत्त्व की मीमांसा की जा रही है। दवा कुछ पीड़ित पुरुष की इच्छा का अनुकरण करने वाली नहीं होती है। **(सर्वा. २४६)**

५६. प्रश्न : समभिरूढ़ नय[१] किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो नाना अर्थों को छोड़कर प्रधानता से एक अर्थ में रूढ़ होता है वह समभिरूढ़ नय है। जैसे 'गो' शब्द के अनेक अर्थ पाये जाते हैं तो भी वह 'पशु' इस अर्थ में रूढ़ है।

---

१. समभिरूढ़ शब्दनय की अपेक्षा पशु, पक्षी, औरत, मर्द वगैरह सभी गोशब्द के वाच्य हो जाते हैं क्योंकि वे सभी चलते हैं। किन्तु समभिरूढ़ नय सिर्फ सास्नादिमान को ही गो कहता है।

अथवा - अर्थ का ज्ञान कराने के लिए शब्दों का प्रयोग किया जाता है। ऐसी स्थिति में एक अर्थ का एक शब्द से ज्ञान हो जाता है, इसलिए पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग करना निष्फल है। यदि शब्दों में भेद है तो अर्थभेद अवश्य होना चाहिए। इस प्रकार नाना अर्थों का समभिरोहण करने वाला होने से समभिरूढ़ नय कहलाता है। जैसे इन्द्र, शक्र और पुरन्दर ये तीन शब्द होने से इनके अर्थ भी तीन हैं। इन्द्र का अर्थ आज्ञा-ऐश्वर्यवान् है, शक्र का अर्थ समर्थ है और पुरन्दर का अर्थ नगर का दारण करने वाला है। **अथवा** - जो जहाँ अभिरूढ़ है वह वहाँ सम् अर्थात् प्राप्त होकर प्रमुखता से रूढ़ होने के कारण समभिरूढ़ नय कहलाता है। यथा - आप कहाँ रहते हैं ? अपने में, क्योंकि अन्य वस्तु की अन्य वस्तु में वृत्ति नहीं हो सकती। यदि अन्य की अन्य में वृत्ति होती है ऐसा माना जाय तो ज्ञानादिक की और रूपादिक की आकाश में वृत्ति होने लगे। **(सर्वा. २४७)**

५७. प्रश्न : यह नय पर्यायवाची शब्द क्यों नहीं मानता है ?

उत्तर : जब एक अर्थ का एक शब्द से ज्ञान हो जाता है तो पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग निष्फल है। यदि शब्दों में भेद है तो अर्थभेद अवश्य होना चाहिए। **(रा.वा. १०)** इस नय में पर्यायवाची शब्द नहीं पाये जाते हैं क्योंकि यह नय प्रत्येक पद का भिन्न अर्थ स्वीकार करता है। दो शब्द एक अर्थ में रहते हैं, ऐसा मानना भी ठीक नहीं है क्योंकि भिन्न दो शब्दों का एक अर्थ में सद्भाव मानने में विरोध आता है। यदि कहा जाये कि उन दोनों शब्दों में समान शक्ति पाई जाती है, इसलिए वे एक अर्थ में रहते हैं, सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि दो शब्दों में सर्वथा समान शक्ति मानने से वे वास्तव में दो न रहकर एक ही हो जायेंगे। इसलिए जब वाचक शब्दों में भेद पाया जाता है तो उनके वाच्यभूत अर्थ में भी भेद होना चाहिए। **(ज.ध. १/२४०)**

५८. प्रश्न : शब्द एवं समभिरूढ़ नय में क्या भेद है ?

उत्तर : जो विश्व को देख चुका है या जो सबको देख चुका है, इन शब्दों में पर्यायभेद होने पर भी शब्द नय इनके अर्थ को अभिन्न मानता है। भविता और भविष्यति इस प्रकार पर्याय भेद होने पर भी कालभेद न होने के कारण शब्द नय दोनों का एक अर्थ मानता है तथा किया जाता है, विधान किया जाता है, इन शब्दों का तथा इसी प्रकार पुष्य व तिष्य इन दोनों पुल्लिंग शब्दों का, तारका व उडुका इन दोनों स्त्रीलिङ्गी शब्दों का स्त्रीलिंगी अप व वार, इन दोनों का, नपुंसक लिङ्गी अभस् और सलिल आदि शब्दों में पर्याय भेद होने पर भी शब्दों का वह एक ही अर्थ मानता है। वह केवल कारक आदि का भेद हो जाने से ही पर्यायवाची शब्दों में अर्थभेद मानता है परन्तु कारकादि का भेद न होने पर पर्यायवाची शब्द में अभिन्न अर्थ स्वीकार करता है किन्तु समभिरूढ़ नय तो पर्यायभेद होने पर भी उन शब्दों में अर्थभेद मानता है। (जैसे कि इन्द्र, पुरन्दर व शक्र आदि पर्यायवाची शब्द उसी प्रकार भिन्नार्थ गोचर हैं) जैसे कि वाजि (घोड़ा) व वारण (हाथी) ये शब्द। **(श्लो. ४/२६३-६४)**

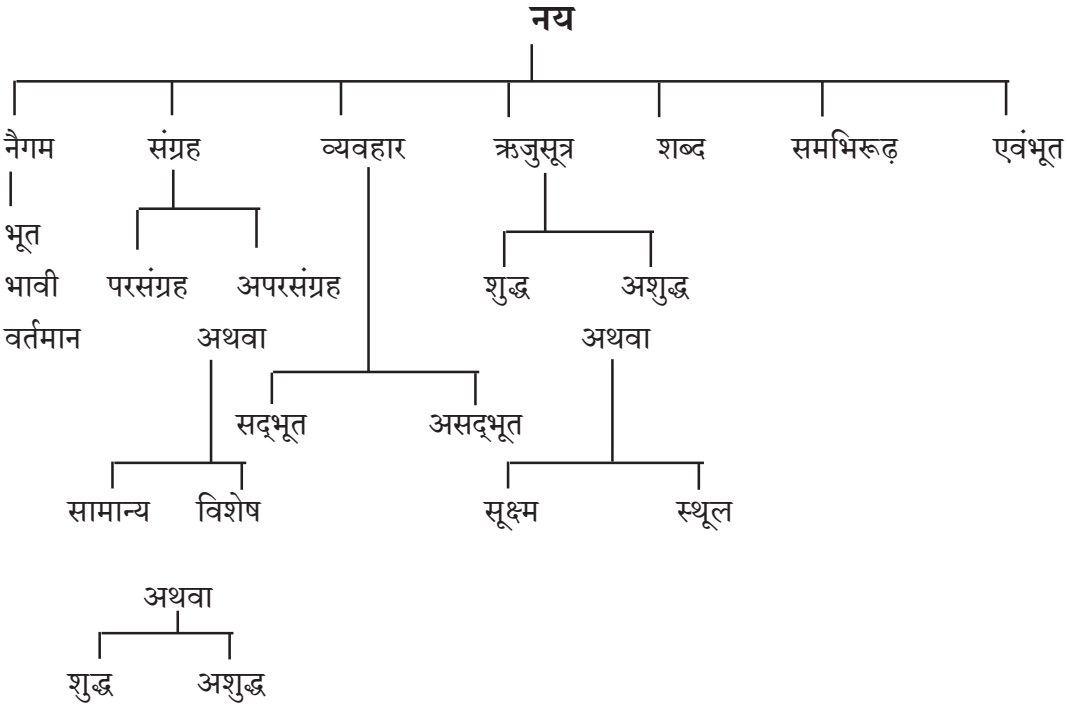
नय
नैगम
संग्रह
व्यवहार
ऋजुसूत्र
शब्द
समभिरूढ़
एवंभूत
भूत
भावी
वर्तमान
परसंग्रह
अपरसंग्रह
अथवा
शुद्ध
अशुद्ध
अथवा
सद्भूत
असद्भूत
सामान्य
विशेष
सूक्ष्म
स्थूल
अथवा
शुद्ध
अशुद्ध

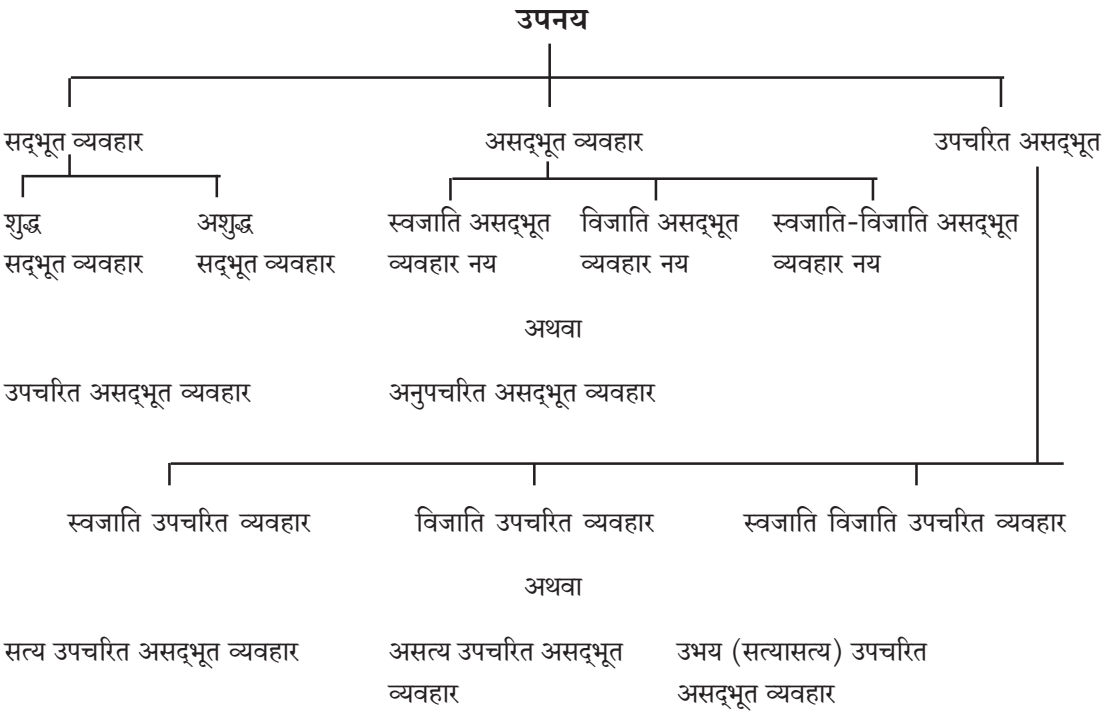
उपनय
सद्भूत व्यवहार
असद्भूत व्यवहार
उपचरित असद्भूत
शुद्ध सद्भूत व्यवहार
अशुद्ध सद्भूत व्यवहार
स्वजाति असद्भूत व्यवहार नय
विजाति असद्भूत व्यवहार नय
स्वजाति-विजाति असद्भूत व्यवहार नय
अथवा
उपचरित असद्भूत व्यवहार
अनुपचरित असद्भूत व्यवहार
स्वजाति उपचरित व्यवहार
विजाति उपचरित व्यवहार
स्वजाति विजाति उपचरित व्यवहार
अथवा
सत्य उपचरित असद्भूत व्यवहार
असत्य उपचरित असद्भूत व्यवहार
उभय (सत्यासत्य) उपचरित असद्भूत व्यवहार

नय

	व्यवहार नय	निश्चय नय
अथवा	द्रव्यार्थिक नय	पर्यायार्थिक नय
अथवा	सुनय	दुर्नय
अथवा	भूतार्थनय	अभूतार्थ नय

अथवा

अर्थनय	शब्द नय	ज्ञान नय

अथवा

द्रव्यार्थिक नय	पर्यायार्थिक नय	नैगम नय	संग्रह नय	व्यवहार नय	ऋजुसूत्र नय	शब्द नय	समभिरूढ़ नय	एवंभूत नय

अथवा

अन्वयनय	व्यतिरेकनय	पृथक्त्वनय	अपृथक्त्वनय	निश्चयनय	व्यवहारनय

अथवा

पृथक्त्वनय	उपचारनय	शुद्धनय	द्रव्यार्थिक नय	पर्यायार्थिक नय

अथवा

अर्थ पर्याय नैगम	शुद्ध द्रव्य अर्थ पर्याय नैगम	व्यवहार
व्यंजन पर्याय नैगम	शुद्ध द्रव्य व्यंजन पर्याय नैगम	ऋजुसूत्र
अर्थ व्यंजन पर्याय नैगम	अशुद्ध द्रव्य अर्थ पर्याय नैगम	शब्द
शुद्ध द्रव्य नैगम	अशुद्ध द्रव्य व्यंजन पर्याय नैगम	समभिरूढ
अशुद्ध द्रव्य नैगम	संग्रह	एवंभूत

५९. प्रश्न : एवंभूत नय किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो वस्तु जिस पर्याय को प्राप्त हुई है उसी रूप से निश्चय करने वाले नय को एवंभूत नय कहते हैं। जिस शब्द का जो वाच्य है उस रूप क्रिया के परिणमन के समय ही उस शब्द का प्रयोग करना युक्त है, अन्य समयों में नहीं। जैसे जिस समय आज्ञा व ऐश्वर्यवान हो उस समय ही इन्द्र है, अभिषेक या पूजन करते समय नहीं। जब गमन करती है तभी गाय है, बैठी या सोती हुई नहीं। **(सर्वा. २४८)** एवंभूत नय की दृष्टि से ज्ञानक्रिया में परिणत आत्मा ही ज्ञान है और दर्शन क्रिया में परिणत आत्मा दर्शन है, जैसे उष्ण परिणत आत्मा ही अग्नि है। **(रा.वा. ११)**

६०. प्रश्न : समभिरूढ़ एवं एवंभूत नय में क्या अन्तर है ?

उत्तर : समभिरूढ़ नय सामर्थ्य धारण रूप क्रिया के होने पर अथवा नहीं होने पर भी देवों के राजा इन्द्र को 'शक्र' कहने का तथा गमन क्रिया के होने पर अथवा नहीं होने पर भी अर्थात् बैठी या सोती अवस्था में भी पशु विशेष को गौ कहने का अभिप्राय रखता है, क्योंकि उस प्रकार रूढ़ि का सद्भाव पाया जाता है। किन्तु एवंभूत नय तो सामर्थ्य धारण रूप क्रिया से परिणत ही देवराज को शक्र और गमन क्रिया से परिणत ही पशु विशेष को 'गौ' कहने का अभिप्राय रखता है, अन्य अवस्थाओं में नहीं। **(श्लो. ४/२६६)**

६१. प्रश्न : नैगमादि नयों का क्रम किस कारण रखा गया है ?

उत्तर : ये नय उत्तरोत्तर सूक्ष्म विषयक तथा पूर्व-पूर्व हेतुक हैं अत: इनका निर्दिष्ट क्रम के अनुसार निर्देश किया है। ये नय पूर्व-पूर्व में विरुद्ध और महाविषय वाले हैं और उत्तरोत्तर अनुकूल एवं अल्प विषय वाले हैं। **(रा.वा. १२)**

६२. प्रश्न : कैसे जाना जाता है कि संग्रहादि आगे-आगे के नय-नैगमादि पूर्व-पूर्व के नयों से सूक्ष्म विषय वाले हैं ?

उत्तर : संग्रह नय सत्ता मात्र को जानता है और नैगम नय संकल्प द्वारा विद्यमान व अविद्यमान दोनों को जानता है इसलिए संग्रह नय की अपेक्षा नैगम का विषय अधिक है। व्यवहार नय संग्रह नय से जाने हुए पदार्थ को विशेष रूप से जानता है। संग्रह नय समस्त सत् सामान्य पदार्थ को जानता है। इसलिए संग्रह नय की अपेक्षा व्यवहार नय का विषय अधिक नहीं है।

व्यवहार नय तीनों कालों के पदार्थों को जानता है और ऋजुसूत्र नय से केवल वर्त्तमान पदार्थों का ज्ञान होता है अत: व्यवहार नय का विषय ऋजुसूत्र नय से अधिक है।

शब्द नय काल आदि के भेद से वर्तमान पर्याय को जानता है और ऋजुसूत्र में कालादि का भेद नहीं है इसलिए शब्द से ऋजुसूत्र नय का विषय अधिक है।

समभिरूढ़ नय इन्द्र, शक्र आदि एकार्थवाची शब्दों को भी व्युत्पत्ति की अपेक्षा भिन्न-भिन्न रूप

से जानता है। परन्तु शब्द नय में यह सूक्ष्मता नहीं होती अतएव समभिरूढ़ से शब्द नय का विषय अधिक है। समभिरूढ़ नय से जाने हुए पदार्थों में क्रिया के भेद से वस्तु में भेद मानना एवंभूत नय है। जैसे समभिरूढ़ नय की अपेक्षा पुरन्दर और शचीपति में भेद होने पर भी नगरों का नाश न करने के समय भी पुरन्दर शब्द इन्द्र के अर्थ में प्रयुक्त होता है परन्तु एवंभूत नय की अपेक्षा नगरों का नाश करते समय ही इन्द्र को पुरन्दर नाम से कहा जा सकता है अतएव एवंभूत नय से समभिरूढ़ नय का विषय अधिक है।

एवंभूत नय का विषय सर्वत: स्तोक है क्योंकि इसके आगे वाचक शब्द में किसी अपेक्षा भी भेद किया जाना सम्भव नहीं है। **(श्लो. ४/२७०-७२)**

६३. प्रश्न : क्या ये नय भी सम्यग्दर्शन के कारण हैं ?

उत्तर : ये सब नय गौण मुख्य रूप से एक दूसरे की अपेक्षा करके ही सम्यग्दर्शन के हेतु हैं। जिस प्रकार पुरुष की अर्थक्रिया और साधनों के सामर्थ्यवश यथायोग्य निवेशित किये गये तन्तु आदिक पट आदिक संज्ञा को प्राप्त होते हैं और स्वतन्त्र रहने पर कार्यकारी नहीं होते उसी प्रकार ये नय समझने चाहिए। **(सर्वा. २४९)**

६४. प्रश्न : तन्तु का दृष्टान्त विषम है, क्योंकि भिन्न-भिन्न तन्तु भी त्वचा की रक्षा करने आदि कार्यों में समर्थ है। लेकिन निरपेक्ष नय तो सम्यग्दर्शनादि उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हैं ?

उत्तर : ऐसा कहने वाला हमारे अभिहित अर्थ के अवबोध से अनभिज्ञ है अथवा हमारे अभिहित अर्थ को नहीं समझकर के ही दूसरे के द्वारा उपालम्भ देता है। यह कहा भी है कि निरपेक्ष तन्तु आदि में पटादि कार्य नहीं है तन्तु आदि कार्य है ? वह तन्तु आदि कार्य भी निरपेक्ष तन्तु आदि अवयवों में नहीं है अर्थात् तन्तु तन्तुसाध्य अर्थक्रिया भी अपने अंशुओं की अपेक्षा रखकर के ही करता है। इससे जैनमत की सिद्धि होती है। **अथवा -**

शक्ति की अपेक्षा तन्तु आदि में पट कार्य है, ऐसा कहा जाता है तो निरपेक्ष बुद्धि अभिधान रूप नयों में भी कारणवशात् शक्ति की अपेक्षा सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति की हेतु की सम्भावना का सद्भाव है। इसलिए शक्ति रूप से अस्तित्व की अपेक्षा दृष्टान्त साम्य है, विषम नहीं। **(रा.वा. १२)**

६५. प्रश्न : जब द्रव्य में गुण भी होते हैं तो गुणार्थिक नय का कथन क्यों नहीं किया है ?

उत्तर : यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि द्रव्य के सामान्य और विशेष ये दो स्वरूप हैं। सामान्य, उत्सर्ग, अन्वय और गुण ये एकार्थ शब्द हैं। विशेष, भेद और पर्याय ये पर्यायवाची शब्द हैं। सामान्य को विषय करने वाला द्रव्यार्थिक नय है और विशेष को विषय करने वाला पर्यायार्थिक नय है। दोनों से समुचित अयुत-सिद्ध रूप द्रव्य है। अत: गुण जब द्रव्य का ही सामान्य रूप है तब उसके लिए द्रव्यार्थिक से पृथक् गुणार्थिक नय की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि नय विकलादेशी है और समुदाय रूप सकलादेशी प्रमाण का विषय होता है। **(श्लो. ४/२२०-२१)**

६६. प्रश्न : कौन-कौन से नय पर्यायार्थिक हैं एवं कौन-कौन से द्रव्यार्थिक हैं ?

उत्तर : द्रव्यार्थिक नय तीन हैं नैगम, संग्रह और व्यवहार। पर्यायार्थिक नय चार प्रकार के हैं- ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ एवं एवंभूत। **(श्लो. ४/२१५)**

६७. प्रश्न : इन नयों में शब्द नय एवं अर्थ नय का विभाजन किस प्रकार करना चाहिए ?

उत्तर : इन सातों में से नैगम, संग्रह, व्यवहार एवं ऋजुसूत्र ये चार नय तो अर्थनय माने गये हैं और शेष तीन (शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत) वाचकशब्द द्वारा अर्थ को विषय करने वाले शब्द नय है। **(श्लो. ४/२६९)**

ऋजुसूत्र पर्यन्त अर्थात् नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र ये अर्थनय हैं और शेष (शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत) शब्द (व्यंजन) नय हैं। **(श्लो. ४/२६९)**

६८. प्रश्न : इन नयों की सूक्ष्मता को किस उदाहरण से समझ सकते हैं ?

उत्तर : यहाँ नयों का अभिप्राय बतलाते हैं, वह इस प्रकार है –

किसी मनुष्य को पापी लोगों का समागम करते हुए देखकर **नैगमनय** से कहा जाता है कि यह पुरुष नारकी है (जब वह मनुष्य प्राणिवध करने का विचार कर सामग्री संग्रह करता है तब वह संग्रहनय से नारकी कहा जाता है)। **व्यवहार नय** का वचन इस प्रकार है - जब कोई मनुष्य हाथ में धनुष और बाण लेकर मृगों की खोज में भटकता फिरता है, तब वह नारकी कहलाता है। **ऋजुसूत्र** नय का वचन इस प्रकार है - जब आखेट स्थान पर बैठकर पापी, मृगों पर आघात करता है तब वह नारकी कहलाता है। **शब्दनय** का वचन इस प्रकार है जब जन्तु प्राणों से विमुक्त कर दिया जाता है, तभी वह आघात करने वाला हिंसा कर्म से संयुक्त मनुष्य नारकी कहा जाता है।

समभिरूढ़ का वचन - जब मनुष्य नारक (गति व आयु) कर्म का बन्धक होकर नारक कर्म से संयुक्त हो जाये तभी वह नारकी कहा जाये।

एवंभूत नय का वचन - जब वही मनुष्य नरक गति को पहुँच कर नरक के दुःख अनुभव करने लगता है,तभी वह नारक है। **(ध. ७/२८-२९)**

६९. प्रश्न : नयों के द्वारा वस्तु का निरूपण करने से क्या लाभ है ?

उत्तर : जो पुरुष द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक और उनके भेद नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़, एवंभूत नयों से तथा निश्चयनय और व्यवहार नय से वस्तु तत्त्व को जानकर वस्तु का व्यवहार करता है, उसे ठीक रूप से जानता है तथा कहता है वही रत्नत्रय को तथा स्वर्ग-मोक्ष को प्राप्त करता है। **(का. अ. २७८)**

इस प्रकार तत्त्वार्थमञ्जूषा में प्रथम अध्याय पूर्ण हुआ।

❋ ❋ ❋

तत्त्वार्थमञ्जूषा

तत्त्वार्थसूत्र : द्वितीय अध्याय

❋ विषय-परिचय ❋

कुल सूत्र : ५३ कुल प्रश्न : ६०७

- आदि के सात सूत्रों में जीव के भावों के भेद-प्रभेदों का कथन है।
- ८वें एवं ९वें सूत्र में जीव का लक्षण एवं उपयोग के भेद-प्रभेदों का कथन है।
- १०वें से १४वें सूत्र तक जीवों के भेदों का कथन है।
- १५वें से १९वें सूत्र तक इन्द्रियों की संख्या, भेद एवं नामों का उल्लेख है।
- २०वें से २४वें सूत्र तक इन्द्रियों के विषय एवं उनके स्वामियों का कथन है।
- २५वें से ३०वें सूत्र तक भवान्तर-विग्रहगति का विशेष विवेचन है ।
- ३१वें से ३५वें सूत्र तक जन्म, योनि एवं जन्म के स्वामी का कथन है।
- ३६वें से ४३वें सूत्र तक शरीरों के नाम, प्रदेश, अन्तिम दो शरीरों की विशेषता एवं उनके स्वामियों का कथन है।
- ४४वें एवं ४५वें सूत्र में एक जीव के सम्भावित शरीर एवं अन्तिम शरीर की विशेषता का कथन है।
- ४६वें से ४९वें सूत्र तक जन्म के आधार से शरीरों के स्वामी एवं लब्धि से प्राप्त शरीरों का वर्णन है।
- ५०वें से ५२वें सूत्र तक चतुर्गति के जीवों के वेद का कथन है।
- अंतिम सूत्र में उनका संकेत है जिनका अकालमरण नहीं होता है।

❑❑❑

भाव

जीव के असाधारण भाव का कथन करते हैं -

औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च ॥१॥

औपशमिक-क्षायिकौ-भावौ-मिश्रः च जीवस्य-स्वतत्त्वं औदयिक-पारिणामिकौ-च (औपशमिक क्षायिकौ भावौ) औपशमिक, क्षायिक भाव (मिश्रश्च) मिश्र भाव (औदयिक पारिणामिकौ च) औदयिक और पारिणामिक, ये भाव (जीवस्य) जीव के (स्वतत्त्वं) स्वयं के भाव हैं।

अर्थ - औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक, ये जीव के स्वतत्त्व हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किस प्रयोजन से कहा गया है ?

उत्तर : सम्यग्दर्शन के विषयरूप से जीवादि पदार्थों का कथन किया। उनकी आदि में जीव पदार्थ आया है, उसका स्वतत्त्व क्या है ? इस सूत्र द्वारा इसका उत्तर कहा गया है। **(सर्वा. २५१)** मोक्षमार्ग की व्याख्या के प्रसंग में सम्यग्दर्शन आदि का उपदेश किया गया तथा उसके लक्षण, उत्पत्ति, विषय-निबन्धन आदि का व्याख्यान किया गया। उसमें तत्त्वार्थ-श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है। तत्त्वार्थ जीवादि है। उनकी आदि में उपदिष्ट जीव का क्या श्रद्धान करना चाहिए, जिससे जीवादि की अवधारणा की प्रतिपत्ति व उपासनादि के द्वारा उसकी निष्पत्ति हो जाए ? आत्मा को स्वभाव तत्त्व कहा जाता है, उसका श्रद्धान करना चाहिए। यदि ऐसा है तो कहो स्वतत्त्व क्या है, इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा.उ.१)**

प्रमाण और नय का कथन कर दिया गया है। वे प्रमाण और नय प्रमेयाधिगमरूप हैं। इस समय प्रमेय रूप जीवादि पदार्थों का निरूपण करना चाहिए। यदि ऐसा है तो प्रथम कथित इस जीवादि का स्वतत्त्व क्या है, ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर स्वरूप यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा.१)**

२. प्रश्न : जीव के कितने प्रकार के भाव होते हैं ?

उत्तर : जीव गुण पाँच हैं, उनमें उपाधि का चतुर्विधपना जिनका कारण है ऐसे चार हैं, तथा स्वभाव जिसका कारण है ऐसा एक है। उपाधि के भेद से एवं स्वरूप के भेद से भेद करने पर उन्हें अनेक प्रकारों से विस्तृत किया जाता है। **(पं. का. अमृ. ५६ टी.)** उदय से, उपशम से, क्षय से, क्षयोपशम से और परिणाम से युक्त ऐसे जीव गुण हैं। **(पं.का. ५६)** जीव के पाँच भाव हैं –

(१) औपशमिक (२) क्षायिक (३) क्षायोपशमिक (४) औदयिक (५) पारिणामिक। **(त.सू. २/१)** जीव के औपशमिकादि पाँचों भाव होते हैं एवं इन पाँच भावों के परस्पर संयोग से उत्पन्न हुआ सान्निपातिक नाम का एक छठा भाव भी आचार्यों ने माना है। **(ज्ञा. ६/४२)**

३. प्रश्न : औपशमिक भाव किसे कहते हैं ?

उत्तर : नीचे स्थित कीचड़ के समान अनुद्भूत स्ववीर्य की वृत्ति से कर्मों का उपशमन होना औपशमिक भाव है। जैसे कतक फल या निर्मली के डालने से मैले पानी का मैल नीचे बैठ जाता है और जल निर्मल हो जाता है उसी प्रकार परिणामों की विशुद्धि से कर्मों की शक्ति का अनुद्भूत (प्रकट न होना) रहना उपशम है तथा उपशम जिसका प्रयोजन है वह औपशमिक भाव है। **(रा.वा. १, ६)** जो कर्मों के उपशम से उत्पन्न होता है उसे औपशमिक भाव कहते हैं क्योंकि गुणों के साहचर्य से आत्मा भी गुण संज्ञा को प्राप्त होता है। **(ध. १/१६२)** प्रतिपक्षी कर्म का उपशम होने पर औपशमिक भाव होता है। **(गो.क.जी. ८१४)**

४. प्रश्न : सूत्र में सर्वप्रथम औपशमिक भाव का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : सर्वप्रथम औपशमिक सम्यक्त्व होता है, तदनन्तर क्षायोपशमिक और क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है इसलिए सूत्र में सर्व प्रथम औपशमिक भाव का ग्रहण है।

औपशमिक भाव वाले जीवों की संख्या सबसे अल्प होने से सर्व प्रथम औपशमिक भाव का ग्रहण है। **(रा.वा. ८-९)** सम्यग्दर्शन का प्रकरण होने से उसके तीन भेदों में से सर्वप्रथम औपशमिक सम्यग्दर्शन होता है अतएव औपशमिक भाव का आदि में ग्रहण किया है। **(सर्वा. २५३)**

५. प्रश्न : औपशमिक भाव वाले सबसे कम क्यों हैं ?

उत्तर : औपशमिक सम्यक्त्व का संचयकाल बहुत कम है, जैसे उपशम सम्यक्त्व का काल अन्तर्मुहूर्त्त है, वह अन्तर्मुहूर्त्त असंख्यात समय का है और उन समय-समय में अन्तर्मुहूर्त्त काल तक निरन्तर संचीयमान उपशम सम्यग्दृष्टि अधिक-से-अधिक पल्य के असंख्यातवें भाग प्राप्त हो सकते हैं इसलिए संख्या की दृष्टि से उपशम सम्यग्दृष्टि सभी सम्यग्दृष्टियों से अल्प हैं। **(रा.वा. ९)**

६. प्रश्न : क्षायिक भाव किसे कहते हैं ?

उत्तर : कर्मों की अत्यन्त निवृत्ति को क्षय कहते हैं। जैसे-जिस जल का मैल नीचे बैठा हो, उसे यदि दूसरे पवित्र पात्र में रख दिया जाय तो उसमें अत्यन्त निर्मलता आ जाती है, उसी प्रकार आत्मा से कर्मों की अत्यन्त निवृत्ति होने से जो आत्यन्तिक विशुद्धि होती है, वह क्षय कहलाती है तथा कर्मों का क्षय जिसमें प्रयोजनभूत है वह क्षायिक भाव है। **(रा.वा. २)** कर्मों का क्षय होने पर उत्पन्न होने वाला भाव क्षायिक भाव है तथा कर्मों के क्षय के लिए उत्पन्न हुआ क्षायिक भाव है, ऐसी दो प्रकार की शब्द व्युत्पत्ति ग्रहण करना चाहिए। **(ध. ५/२०६)**

७. प्रश्न : औपशमिक भाव के बाद क्षायिक भाव का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : विशुद्धि की प्रकर्षता से युक्त होने के कारण औपशमिक भाव के बाद क्षायिक भाव का ग्रहण किया है। क्षायिक सम्यक्त्व मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति के अत्यन्त क्षय होने से

होता है अत: सूत्र में औपशमिक के बाद क्षायिक भाव का ग्रहण किया है। **(रा. वा. १०)** क्षायिक भाव औपशमिक भाव का प्रतियोगी है और संसारी जीवों की अपेक्षा औपशमिक सम्यग्दृष्टियों से क्षायिक सम्यग्दृष्टि असंख्यातगुणे हैं अत: औपशमिक भाव के पश्चात् क्षायिक भाव का ग्रहण किया है। **(सर्वा. २५३)** औपशमिक और क्षायिक भाव भव्य जीवों के ही स्वभाव हैं अर्थात् भव्य जीवों के ही होते हैं अभव्यों के कभी नहीं होते, इस बात की प्रसिद्धि के लिए औपशमिक भाव के पास क्षायिक भाव का ग्रहण किया है। औपशमिक की अपेक्षा क्षायिक सम्यग्दृष्टि असंख्यात गुणे होने से औपशमिक के पास क्षायिक का ग्रहण किया है। **(श्लो ५/७)**

८. प्रश्न : क्षायिक सम्यग्दृष्टि औपशमिक सम्यग्दृष्टियों से अधिक क्यों हैं ?

उत्तर : औपशमिक सम्यग्दृष्टियों को आवलि के असंख्यातवें भाग से गुणित करने पर क्षायिक सम्यग्दृष्टि प्राप्त होते हैं। क्योंकि उनका संचय काल बहुत है। क्षायिक सम्यक्त्व का काल तैंतीस सागर से कुछ अधिक है। उस काल के प्रथम समय से लेकर समय-समय में संचीयमान काल की समाप्ति तक क्षायिक सम्यग्दृष्टि बहुत अधिक होते हैं। **(रा.वा. ११)**

९. प्रश्न : क्षायोपशमिक भाव किसे कहते हैं ?

उत्तर : क्षीणाक्षीण मद शक्ति वाले कोदों के समान उभयात्मक परिणाम को मिश्रभाव कहते हैं। जैसे जल से प्रक्षालन करने पर कुछ कोदों की मद शक्ति कुछ क्षीण हो जाती है और कुछ अक्षीण। उसी प्रकार यथोक्त क्षय के कारणों के सन्निधान होने पर कर्मों के एकदेश क्षय और एकदेश कर्मों की शक्ति का उपशम होने पर उभयात्मक मिश्र भाव होता है। क्षय व उपशम प्रयोजन होने से क्षायोपशमिक भाव होता है। **(रा.वा. ३, ६)**

कर्मों के उदय के साथ चेतन गुणों का प्रकट होना क्षायोपशमिक भाव है। **(पर.सा. ९८)**

जो क्षयोपशम में हो उसे क्षायोपशमिक भाव कहते हैं अथवा देशघाती स्पर्धकों का उदय होने पर जीव एकदेश ज्ञानादिगुण प्राप्त करता है वह क्षायोपशमिक भाव है। **(वृ.द्र.सं.टी. ३४)** सर्वघातिस्पर्धकों के उदय के अभाव रूप जो क्षय है उस क्षय सहित उपशम और उनके देशघाति स्पर्धकों का उदय, सो क्षयोपशम, ऐसे समुदाय से क्षयोपशम (भाव) कहा है। **(वृ.द्र.सं.टी. ३४)**

सर्वघाती स्पर्धक अनन्तगुणे हीन होकर और देशघाती स्पर्धकों में परिणत होकर उदय में आते हैं। उन सर्वघाती स्पर्धकों का अनन्तगुण हीनत्व ही क्षय कहलाता है और उनका देशघाती स्पर्धकों के रूप से अवस्थान होना उपशम है। उन्हीं क्षय और उपशम से संयुक्त उदय क्षयोपशम कहलाता है। **(ध. ७/९२)**

१०. प्रश्न : क्षायिक भाव के पास मिश्र भाव का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : द्रव्य की अपेक्षा क्षायिक सम्यग्दृष्टि से क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि असंख्यातगुणे अधिक हैं, भाव की अपेक्षा नहीं, क्योंकि विशुद्धि की पराकाष्ठा होने से औपशमिक की अपेक्षा भाव से अनन्त

गुणे विशुद्ध क्षायिक सम्यग्दृष्टि हैं। इसलिए क्षायिक भाव के बाद क्षायोपशमिक का ग्रहण किया है। **(रा.वा. १२)**

मिश्र भाव औपशमिक और क्षायिक दोनों रूप होता है और क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि जीव औपशमिक और क्षायिक सम्यग्दृष्टियों से असंख्यात गुणे होते हैं, अत: क्षायिक के बाद मिश्र भाव का ग्रहण किया है। **(सर्वा. २५३)**

११. प्रश्न : क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि क्षायिक सम्यग्दृष्टि से कितने अधिक हैं ?

उत्तर : क्षायिक सम्यग्दृष्टियों से क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टियों का प्रमाण प्राप्त करने के लिए गुणकार आवलि का असंख्यातवाँ भाग है। (क्योंकि इनमें संचय-काल की अधिकता है। क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि के छ्यासठ सागर काल में संचित क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टियों की संख्या क्षायिक सम्यग्दृष्टियों से आवलि के असंख्यातवें भाग गुणित है।) **(गो. सा. जी. ६५८)**

१२. प्रश्न : औदयिक भाव किसे कहते हैं ?

उत्तर : द्रव्यादि के निमित्त से विपच्यमान कर्मों के फल देने को **उदय** कहते हैं और उदय ही जिसका प्रयोजन है वह औदयिक भाव है। **(रा.वा. ४, ६)**

कर्म में फलदान का सामर्थ्य प्रगट होना उदय है, उदय में जो हो वह औदयिक भाव है। **(सुख.बो.त.वृ. ७७)**

१३. प्रश्न : पारिणामिक भाव किसे कहते हैं ?

उत्तर : कर्मों की उपाधि से रहित ऐसा जो परिणाम में हुआ भाव है वह पारिणामिक भाव है। **(नि.सा.टी. ४१)** जिस भाव में द्रव्यात्म लाभ मात्र ही हेतु होता है, अन्य किसी भी कर्म के उपशम आदि की अपेक्षा नहीं है, वह परिणाम कहलाता है और परिणाम ही जिसका प्रयोजन है वह पारिणामिक भाव है। **(रा.वा. ५-६)** जो कर्मजनित औदयिकादि भावों से अतीत है तथा मात्र ज्ञायक भाव ही जिसका विशेष आधार है, वह जीव का पारिणामिक भाव है और अचेतन भाव शेष द्रव्यों का पारिणामिक भाव है। **(न.च.वृ. ३७५)** जो क्षायिकादि चारों भावों से व्यतिरिक्त जीव-अजीवगत भाव है, वह पारिणामिक भाव है। **(ध. ५/१८५)**

१४. प्रश्न : सूत्र में औदयिक एवं पारिणामिक भाव का अन्त में ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : औपशमिक आदि तीनों भावों से औदयिक और पारिणामिक भाव वाले जीव अनन्तगुणे हैं इसलिए इन तीनों के अन्त में इन दोनों भावों को ग्रहण किया है।

(२) औदयिक एवं पारिणामिक भावों के द्वारा आत्मा का ज्ञान होता है तथा इनसे ही अतीन्द्रिय और अमूर्त्त आत्मा का ज्ञान किया जाता है। मनुष्यगति, तिर्यञ्चगति आदि औदयिक भाव तथा चैतन्य आदि पारिणामिक भाव ही जीव के परिचायक हैं (अत: अन्त में इन दोनों का ग्रहण किया है)

(३) सर्व जीवों के तुल्य होने से सभी भावों के अन्त में इन दोनों को ग्रहण किया है। **(रा.वा. १३-१५)**

१५. प्रश्न : औपशमिकादि भाव वाले जीव कितने हैं ?

उत्तर : औपशमिक भाव वाले जीव पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं क्योंकि चौथे गुणस्थान से ग्यारहवें गुणस्थान वाले जीव इस भाव के स्वामी हैं। क्षायिक भाव वाले संसारी जीवों की अपेक्षा असंख्यात हैं क्योंकि ये चौथे गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान तक पाये जाते हैं तथा सिद्धों की अपेक्षा अनन्त हैं।

क्षायोपशमिक भाव वाले जीव अनन्त हैं क्योंकि ये पहले गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक पाये जाते हैं।

औदयिक भाव वाले जीव अनन्त हैं, क्योंकि ये पहले गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान तक पाये जाते हैं।

पारिणामिक भाव वाले जीव अनन्तानन्त हैं, क्योंकि यह भाव सम्पूर्ण संसारी जीवों एवं सिद्धों के भी पाया जाता है।

१६. प्रश्न : सूत्र के मध्य में 'मिश्र' पद का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : सूत्र के मध्य में 'मिश्र' शब्द के ग्रहण का प्रयोजन यह है कि भव्य जीवों के औपशमिक सम्यक्त्व, औपशमिक चारित्र, क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक चारित्र के साथ क्षायोपशमिक ज्ञान, दर्शन, चारित्र भाव होते हैं तथा अभव्यों के औदयिक पारिणामिक भाव के साथ क्षायोपशमिक ज्ञानादि पाये जाते हैं। भव्य व अभव्य मिथ्यादृष्टियों के सम्यक्त्व, चारित्र आदि को छोड़कर क्षायोपशमिक ज्ञान, दर्शन के विकल्प होते हैं (अर्थात् ज्ञान, दर्शन आदि भाव पाये जाते हैं)। **(रा.वा. २१)**

१७. प्रश्न : सूत्र में दिये गये 'च' का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर : सूत्रोक्त 'च' शब्द से छठे सान्निपातिक भाव का ग्रहण होता है। वह सान्निपातिक भाव इन औपशमिक आदि भावों को पूर्वोत्तर रूप से संयोग करने पर बनता है। इनके संयोगों के द्विसंयोगी, त्रिसंयोगी, चतु:संयोगी और पंचसंयोगी ऐसे भेद होते हैं। **(सुख बो. त.वृ. ७५)**

१८. प्रश्न : ये भाव कितने काल तक रहते हैं ?

उत्तर : इन भावों की काल की अपेक्षा चार प्रकार से प्ररूपणा है –

(१) अनादि अनन्त (२) अनादि सान्त (३) सादि अनन्त और (४) सादि सान्त।

अनादिनिधन - (अनादि अनन्त : जो अनादि से हैं और अनन्त काल तक रहेंगे) अभव्य जीवों के असिद्धता, धर्मास्तिकाय के गमन हेतुता, अधर्मास्तिकाय के स्थिति हेतुता, आकाश द्रव्य के अवगाहन-

स्वरूपता और काल के परिणमन हेतुता ये अनादिनिधन भाव हैं।

अनादि सान्त - (जो अनादि से हैं लेकिन नष्ट होने वाले हैं) भव्य जीव की असिद्धता, भव्यत्व भाव, मिथ्यात्व, असंयम इत्यादि अनादि सान्त भाव हैं।

सादि अनन्त - (जो नये उत्पन्न हुए हैं लेकिन अनन्त काल तक रहेंगे) केवलज्ञान, केवलदर्शन आदि सादि अनन्त भाव हैं।

सादि सान्त - (जो नये उत्पन्न हुए हैं और नष्ट हो जायेंगे) सम्यक्त्व और संयम धारण कर पीछे (नीचे) आये हुए जीवों के मिथ्यात्व, असंयम आदि। **(ध. ५/१८८)**

१९. प्रश्न : पाँचों भावों में समानाधिकरण होने से 'तत्त्व' में बहुवचन होना चाहिए ?

उत्तर : ऐसा कहना युक्ति संगत नहीं है क्योंकि भाव सामान्यत्व की अपेक्षा एकत्व है इसलिए 'तत्त्व' यह एक भाव है। जैसे गाय को धन कहा जाता है, 'गायें धन हैं' यहाँ गायों की भीतरी संख्या की विवक्षा नहीं होने से सामान्य रूप से एकवचन धन के साथ समानाधिकरण बन जाता है, उसी प्रकार औपशमिक आदि भीतरी भेद की विवक्षा न करके सामान्य स्वतत्त्व की दृष्टि से 'स्वतत्त्वं' यह एकवचन का निर्देश हो जाता है अथवा - प्रत्येक के साथ स्वतत्त्व का सम्बन्ध लगा लेना चाहिए। जैसे औपशमिक स्वतत्त्व, क्षायिक स्वतत्त्व आदि। **(रा.वा. १६-१८)**

२०. प्रश्न : औपशमिकादि भाव कर्मों के उपशमादि से होते हैं, वे जीव के स्वतत्त्व कैसे हो सकते हैं ?

उत्तर : औपशमिकादि भाव चेतनात्मक होने से जीव के स्वतत्त्व कहलाते हैं। ऐसा समुदाय अर्थ जानना चाहिए। **(सुख. बो.त.वृ. ७७)**

सूत्र में 'जीवस्य' पद यह सूचित करता है कि ये भाव जीव के ही हैं, अन्य द्रव्य के नहीं। **(रा.वा. २२)**

२१. प्रश्न : आत्मा औपशमिकादि भावों का त्याग करता है या नहीं, यदि त्याग करता है, तो शून्यता का एवं त्याग नहीं करता है तो क्रोधादि औदयिक भावों के बने रहने से मुक्ति के अभाव का प्रसंग आयेगा ?

उत्तर : ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि अनेकान्तवाद में अनादि पारिणामिक चैतन्य द्रव्य की दृष्टि से स्वभाव का अपरित्याग और आदिमान औदयिकादि पर्यायों की दृष्टि से स्वभाव का त्याग ये दोनों ही पक्ष पूर्व के समान सप्तभंगी रूप में बन जाते हैं। एकान्तवाद में ही दोष आता है, अनेकान्तवाद में नहीं। **अथवा** - शंकाकार ने आचार्यों का अभिप्राय नहीं समझा, ज्ञानावरणादि अष्ट प्रकार के कर्मों से बद्ध आत्मा के द्रव्य-क्षेत्रादि बाह्य निमित्त के सन्निधान होने पर, अन्तरंग में सम्यग्दर्शनादि मोक्षमार्ग की प्रकर्षता होने पर सम्पूर्ण कर्मों का क्षय हो जाने से मोक्ष होता है, यह आचार्य का अभिप्राय है इसलिए स्वभाव के

त्याग या अत्याग में दिये गये उपर्युक्त दोष नहीं आते। उष्णता को छोड़ देने पर भी अग्नि का सर्वथा अभाव नहीं होता, क्योंकि द्रव्य रूप से उसका अवस्थान रहता है। पुद्गल द्रव्य की उष्ण पर्याय का अभाव होने पर भी सत् स्वरूप अचेतनत्वादि के द्वारा उसका अवस्थान रहता ही है। **अथवा** - जैसे रूप को ग्रहण करना है स्वभाव जिसका ऐसा नेत्र जिस समय रूप को ग्रहण नहीं करता है, उस समय नष्ट नहीं हो जाता अथवा कर्मों के क्षयोपशम होने पर रूप को ग्रहण करने वाले नेत्रों का सम्पूर्ण आवरण के क्षय अवस्थावाली केवली अवस्था में मतिज्ञान रूप रूपोपलब्धि के न होने पर भी सद्भाव पाया जाता है, केवली अवस्था में द्रव्य नेत्र का अभाव नहीं है। उसी प्रकार कर्म निमित्तज औदयिकादि भावों का अभाव हो जाने पर भी क्षायिक भावों का सन्निधान होने से आत्मा के अभाव या निर्मोक्ष का प्रसंग नहीं आता, क्योंकि विशेष स्वभाव की उपलब्धि होती है। **(रा.वा. २३-२५)**

२२. प्रश्न : बन्ध और मोक्ष के कारणभूत भाव कौन-कौन से हैं ?

उत्तर : औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक भाव मोक्ष के कारण हैं। औदयिक भाव बन्ध के कारण हैं। पारिणामिक भाव बन्ध और मोक्ष दोनों के कारण से रहित है। **(ध. ७/९)**

२३. प्रश्न : क्या सभी औदयिक भाव बन्ध के कारण हैं ?

उत्तर : नहीं, सभी औदयिक भाव बन्ध के कारण नहीं हैं, क्योंकि ऐसा मानने पर गति, जाति आदि नाम कर्म सम्बन्धी (अर्हन्त भगवान पुण्य वाले हैं और उनकी क्रिया औदयिकी है, मोहादि से रहित है इसलिए वह क्षायिकी मानी गई है।) औदयिक भावों के भी बन्ध के कारण होने का प्रसंग आयेगा। **(ध. ७/१०)** अरहंत भगवान का विहार, उपदेश आदि सभी क्रियाएँ यद्यपि पुण्योदय से उत्पन्न होने के कारण औदयिकी हैं परन्तु ऐसा होने पर भी वह औदयिकी क्रिया राग, द्वेष रूपी उपरंजकों का अभाव होने से चैतन्य के विकार का कारण नहीं होती हैं इसलिए कार्यभूत बन्ध की अकारणभूतता एवं कार्यभूत मोक्ष की कारणभूतता से क्षायिकी ही क्यों न मान ली जाय। **(प्र.सा.त. ४५)**

२४. प्रश्न : छह द्रव्यों में कौन-कौन से भाव पाये जाते हैं ?

उत्तर : जीवों में पाँचों भाव पाये जाते हैं किन्तु शेष द्रव्यों में तो पाँच भाव नहीं हैं, क्योंकि पुद्गल द्रव्यों में औदयिक और पारिणामिक, इन दोनों ही भावों की उपलब्धि होती है और धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल द्रव्यों में केवल एक पारिणामिक भाव ही पाया जाता है। **(ध.५/१८६)**

२५. प्रश्न : औपशमिकादि भावों में अनादि-अनन्तादि प्ररूपणा कैसे करनी चाहिए ?

उत्तर : औपशमिक भाव का काल सादि सान्त है। क्षायिक भाव सादि-अनन्त है। क्षायोपशमिक भाव अभव्य की अपेक्षा अनादि-अनन्त, भव्य की अपेक्षा अनादि-सान्त तथा मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदि की अपेक्षा सादि-सान्त है।

औदयिक भाव भव्य की अपेक्षा अनादि-सान्त, अभव्य की अपेक्षा अनादि-अनन्त एवं अशुद्ध पारिणामिक भाव की अपेक्षा अनादि-सान्त है।

भावों के उत्तर भेद बताते हैं -

द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा यथाक्रमम् ॥२॥

द्वि-नव-अष्टादश-एकविंशति-त्रि-भेदाः यथाक्रमम्।

औपशमिकादि भावों के (यथाक्रम) क्रम से (द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदाः) दो, नौ, अठारह, इक्कीस और तीन भेद जानने चाहिए।

अर्थ - औपशमिकादि भावों के क्रम से दो, नौ, अठारह, इक्कीस और तीन भेद होते हैं।

१. प्रश्न : औपशमिकादि भावों के उत्तर भेद कितने-कितने हैं ?

उत्तर : औपशमिक भाव के दो, क्षायिक भाव के नौ, क्षायोपशमिक भाव के अठारह, औदयिक भाव के इक्कीस और पारिणामिक भाव के तीन भेद हैं इस प्रकार भावों के क्रम से जानना चाहिए। **(त.सू.२/२)**

२. प्रश्न : सूत्र में 'यथाक्रमं' पद क्यों दिया है ?

उत्तर : सूत्र में 'यथाक्रमं' पद अक्रम का निराकरण करने के लिए दिया है क्योंकि क्रम शब्द आनुपूर्वी का सूचक है। जो क्रम है वह यथाक्रम है जैसे औपशमिकादि भावों का निर्देश है उसी प्रकार द्वि, नव आदि का निर्देश जानना चाहिए। **(रा.वा. ३)**

औपशमिक भावों के नाम कहते हैं -

सम्यक्त्वचारित्रे ॥३॥

अर्थ - औपशमिक भाव के सम्यक्त्व और चारित्र, ये दो भेद हैं।

औपशमिक सम्यक्त्व - सात प्रकृतियों के उपशम से औपशमिक सम्यक्त्व होता है।

औपशमिक चारित्र - सर्व मोहनीय कर्म के उपशम से औपशमिक चारित्र होता है।

१. प्रश्न : औपशमिक भाव कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : औपशमिक भाव के दो भेद हैं -

(१) औपशमिक सम्यक्त्व (२) औपशमिक चारित्र। **(त.सू. २/३)**

औपशमिक भाव के उपशान्त क्रोध, उपशान्त मान, उपशान्त माया, उपशान्त लोभ, उपशान्त राग, उपशान्त द्वेष, उपशान्त मोह, उपशान्त कषाय वीतराग छद्मस्थ, औपशमिक सम्यक्त्व, औपशमिक चारित्र ये सब औपशमिक भाव हैं। ये पूर्वोक्त भाव और दूसरे भी अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण,

सूक्ष्मसाम्पराय और उपशान्तकषाय गुणस्थानों में प्रत्येक समय में उत्पन्न होने वाले जो जीव के भाव हैं, वे सब औपशमिक जीवभाव हैं। **(ध.१४/१४-१५)**

२. प्रश्न : औपशमिक सम्यक्त्व किसे कहते हैं ?

उत्तर : दर्शन मोहनीय के उपशम से कीचड़ के नीचे बैठ जाने से निर्मल जल के समान पदार्थों का जो निर्मल श्रद्धान होता है, वह उपशम सम्यग्दर्शन है। **(ध.१/३५८)**

अनन्तानुबन्धी चार और दर्शन मोह की तीन प्रकृतियों के उपशम से औपशमिक सम्यक्त्व होता है। **(सर्वा. २५७)** प्रथम अर्थात् औपशमिक सम्यग्दर्शन उस जलधारा के समान होता है जिसमें कीचड़ नीचे बैठ भर गया है। **(व.चा. ११/२७)**

पूर्वोक्त दर्शनमोह की सात प्रकृतियों के उपशम से उपशम-सम्यग्दर्शन होता है। यह क्षायिक जैसा ही निर्मल व सन्देह रहित होता है। **(ध. १/१७२)**

उपशम सम्यक्त्व के होने पर जीव के, सत्यार्थ देव में अनन्य भक्ति भाव, विषयों से विराग, तत्त्वों का श्रद्धान और विविध मिथ्या दृष्टियों में असम्मोह प्रगट होता है, इसे क्षायिक सम्यक्त्व से कुछ भी कम नहीं जानना चाहिए। जिस प्रकार पंकादि-जनित कालुष्य के प्रशान्त होने पर जल निर्मल हो जाता है, उसी प्रकार दर्शनमोह के उदय के उपशान्त होने पर जो सत्यार्थ श्रद्धान उत्पन्न होता है उसे उपशम सम्यक्त्व कहते हैं। **(पं.सं. १/१६५-६६)**

३. प्रश्न : उपशम सम्यग्दृष्टि किन-किन गुणस्थानों में होते हैं ?

उत्तर : उपशम सम्यग्दृष्टि जीव असंयत-सम्यग्दृष्टि से लेकर उपशान्त कषाय वीतराग छद्मस्थ नामक ग्यारहवें गुणस्थान तक होते हैं। **(ध. १/४००)**

४. प्रश्न : उपशम सम्यग्दर्शन कितने प्रकार का है ?

उत्तर : उपशम सम्यग्दर्शन दो प्रकार का होता है -

(१) प्रथमोपशम सम्यक्त्व (२) द्वितीयोपशम सम्यक्त्व। **(गो.क.जी. ५५०)**

५. प्रश्न : प्रथमोपशम सम्यक्त्व किस प्रकार होता है ?

उत्तर : प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन के पूर्व पाँच लब्धियाँ होती हैं -

(१) क्षयोपशम लब्धि (२) विशुद्धि लब्धि (३) देशना लब्धि (४) प्रायोग्य लब्धि और (५) करण लब्धि **(गो.जी.जी. ६५१)** लब्धि, काल, करण, उपदेश, उपशम और प्रायोग्यता रूप भेदों के कारण पाँच प्रकार का है। **(नि.सा.ता. १५६)**

६. प्रश्न : क्षयोपशम लब्धि किसे कहते हैं ?

उत्तर : ज्ञान के विनाश का नाम क्षय हैं। उस क्षय का उपशम हुआ एकदेश क्षय। इस प्रकार ज्ञान के एकदेशीय क्षय की क्षयोपशम संज्ञा मानी जा सकती है। ऐसा क्षयोपशम होने पर जो ज्ञान या अज्ञान उत्पन्न होता है उसी को क्षायोपशमिक लब्धि कहते हैं। उदय में आये हुए तथा अत्यन्त अल्पदेश घातित्व के रूप से उपशान्त हुए सम्यक्त्व मोहनीय प्रकृति के देशघाती स्पर्धकों का चूंकि क्षयोपशम नाम दिया गया है इसलिए उस क्षयोपशम से उत्पन्न जीवपरिणाम को क्षयोपशम लब्धि कहते हैं। **(ध. ७/८७,१०८)** पूर्व संचित कर्मों के मलरूप पटल के अनुभाग स्पर्धक जिस समय विशुद्धि के द्वारा प्रतिसमय अनन्तगुणे हीन होते हुए (उदय) उदीरणा को प्राप्त किये जाते हैं उस समय क्षयोपशम लब्धि होती है। **(ध. ६/२०४)**

७. प्रश्न : विशुद्धि लब्धि किसे कहते हैं ?

उत्तर : प्रतिसमय अनन्तगुणित हीनक्रम से उदीरित अनुभाग स्पर्धकों से उत्पन्न हुआ, साता आदि शुभ कर्मों के बन्ध का निमित्तभूत और असाता आदि अशुभ कर्मों के बन्ध का विरोधी जो जीव का परिणाम है, उसे विशुद्ध कहते हैं। उसकी प्राप्ति का नाम विशुद्धि लब्धि है। **(ध. ६/२०४)**

क्षयोपशम लब्धि से उत्पन्न जीव के जो परिणाम साता आदि प्रशस्त प्रकृतियों के बंध के कारणभूत हैं वे विशुद्ध परिणाम विशुद्धि लब्धि हैं। **(ल.सा. ५)**

८. प्रश्न : देशना लब्धि किसे कहते हैं ?

उत्तर : छह द्रव्यों और नौ पदार्थों के उपदेश का नाम देशना है। उस देशना से परिणत आचार्य आदि की उपलब्धि की और उपदिष्ट अर्थ के ग्रहण, धारण तथा विचारण की शक्ति के समागम को देशना-लब्धि कहते हैं। **(ध. ६/२०४)**

('तु' शब्द करि नारकादि विषै जहाँ उपदेश देने वाला नाहीं तहाँ पूर्व भव विषै घट्या हुआ तत्त्वार्थ के संस्कार बल तैं सम्यग्दर्शन की प्राप्ति जाननी।) **(ल.सा. ६)**

९. प्रश्न : किसके उपदेश से देशना लब्धि हो सकती है ?

उत्तर : सम्यक्त्व का हेतु जिनसूत्र है, जिनसूत्र को जानने वाले पुरुषों को अन्तरंग हेतु कहा है, क्योंकि उनको दर्शनमोह के क्षयादिक हैं। **(नि.सा. ५३)**

अज्ञानी की उपासना से अज्ञान की और ज्ञानी की उपासना से ज्ञान की प्राप्ति होती है। **(इष्टो २३)** जिसने सम्पूर्ण वस्तुविषयक ज्ञान को जान लिया है वही आगम का व्याख्याता हो सकता है। **(ध. १/१९७)** ज्ञान-विज्ञान से रहित होने के कारण जिसने स्वयं प्रमाणता को प्राप्त नहीं किया, ऐसे व्याख्याता के वचन प्रमाणरूप नहीं हो सकते। **(ध. १/१९६)**

जो जीव छद्मस्थ विहित वस्तुओं में, व्रत-नियम, अध्ययन-ध्यान-दान में रत होता है वह मोक्ष को प्राप्त नहीं होता, किन्तु सातात्मक भाव को प्राप्त होता है। **(प्र.सा. २५६)**

जिन-शास्त्र द्वारा प्रत्यक्षादि प्रमाणों से पदार्थों को जानने वाले के नियम से मोहसमूह क्षय हो जाता है, इसलिए शास्त्र का सम्यक् प्रकार से अध्ययन (मनन) करना चाहिए। **(प्र.सा. ८६)**

१०. प्रश्न : प्रायोग्यलब्धि किसे कहते हैं ?

उत्तर : सर्व कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति और उत्कृष्ट अनुभाग को घात करके अन्त:कोड़ाकोड़ी स्थिति में और द्विस्थानीय अनुभाग में अवस्थान करने को प्रायोग्यलब्धि कहते हैं। क्योंकि इन अवस्थाओं के होने पर जीव करण लब्धि के योग्य होता है। **(ध. ६/२०४-५)** पूर्वोक्त तीन लब्धियुक्त जीव प्रति समय विशुद्धि में वृद्धि होने के कारण आयु के अतिरिक्त शेष सात कर्मों की स्थिति को काटकर अन्त:कोड़ाकोड़ी मात्र कर देता है और अप्रशस्त कर्मों का अनुभाग द्विस्थानिक अर्थात् लता-दारु रूप कर देता है। इस योग्यता की प्राप्ति प्रायोग्य लब्धि है। **(ल.सा. ७)**

११. प्रश्न : प्रायोग्य लब्धि में क्या-क्या कार्य होते हैं ?

उत्तर : प्रायोग्य लब्धि में चौंतीस बन्धापसरण होते हैं -

(१) प्रथम स्थान में नरकायु, (२) द्वितीय में तिर्यञ्चायु, (३) तृतीय में मनुष्यायु, (४) चतुर्थस्थान में देवायु, (५) पाँचवें में नरकगति नरकगत्यानुपूर्वी, (६) छठे में सूक्ष्म-अपर्याप्त-साधारण, (७) सातवें में संयोग रूप सूक्ष्म-अपर्याप्त-प्रत्येक (८) आठवाँ संयोगरूप बादर-अपर्याप्तसाधारण, (९) नौवें में संयोगरूप बादर-अपर्याप्त-प्रत्येक, (१०) दशवाँ संयोग रूप बेन्द्री जाति-अपर्याप्त, (११) ग्यारहवाँ संयोगरूप तेंद्री-अपर्याप्त, (१२) संयोगरूप चतुरिन्द्रिय-अपर्याप्त, (१३) संयोग रूप असंज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त, (१४) संयोगरूप संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक, (१५) संयोगरूप सूक्ष्म पर्याप्त साधारण, (१६) संयोगरूप सूक्ष्म पर्याप्त प्रत्येक, (१७) संयोग रूप बादर पर्याप्त साधारण, (१८) संयोगरूप बादर पर्याप्त प्रत्येक एकेन्द्री आतप स्थावर, (१९) संयोग रूप द्वीन्द्रिय पर्याप्त (२०) संयोगरूप त्रीन्द्रिय पर्याप्त, (२१) चतुरिन्द्रिय पर्याप्त, (२२) असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त, (२३) संयोगरूप तिर्यञ्च गति, तिर्यञ्चगत्यानुपूर्वी उद्योत, (२४) नीच गोत्र, (२५) संयोगरूप अप्रशस्त विहायोगति दुर्भग, दु:स्वर, अनादेय, (२६) हुण्डसंस्थान सृपाटिका संहनन, (२७) नपुंसकवेद, (२८) वामन संस्थान, कीलित संहनन, (२९) कुब्जक संस्थान, अर्धनाराच संहनन, (३०) स्त्रीवेद, (३१) स्वाति संस्थान नाराच संहनन, (३२) न्यग्रोध संस्थान वज्रनाराच संहनन, (३३) संयोग रूप मनुष्यगति-मनुष्यगत्यानुपूर्वी, औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग, वज्रवृषभ नाराच संहनन, (३४) संयोगरूप अस्थिर, अशुभ, अयशस्कीर्ति, अरति, शोक, असाता वेदनीय की बन्ध व्युच्छित्ति होती है। **(ल.सा. ११-१५)**

१२. प्रश्न : करणलब्धि किसे कहते हैं ?

उत्तर : अभव्य के भी योग्य ऐसी चार लब्धियों रूप परिणामों को समाप्त करके जो भव्य है,

वह जीव अध:प्रवृत्त, अपूर्वकरण एवं अनिवृत्तिकरण को करता है। **(ल.सा. ३३)** करण लब्धि भव्य के ही होती है। **(गो.जी.जी. ६५१)**

नोट - तीन करणों की परिभाषा देखें **(त. सू. ९/१)**

१३. प्रश्न : दर्शन मोहनीय का उपशम कौन करता है ?

उत्तर : दर्शन मोहनीय कर्म को उपशमाता हुआ यह जीव चारों गतियों में उपशमाता है। चारों ही गतियों में पंचेन्द्रियों में उपशमाता है, एकेन्द्रिय व विकलत्रयों में नहीं। पंचेन्द्रियों में उपशमाता हुआ संज्ञियों में उपशमाता है असंज्ञियों में नहीं। संज्ञियों में उपशमाता हुआ गर्भोपक्रान्तिकों में उपशमाता है सम्मूर्च्छिमों में नहीं, गर्भोपक्रान्तिकों में उपशमाता हुआ पर्याप्तकों में उपशमाता है अपर्याप्तकों में नहीं। पर्याप्तकों में उपशमाता हुआ संख्यात वर्ष एवं असंख्यात वर्ष की आयु वालों में उपशमाता है। **(ध. ६/२३८)** चारों गतियों में से किसी भी गति वाला, भव्य, सैनी, पर्याप्त, विशुद्ध साकारोपयोगी, जागृत, शुभ लेश्या वाला,तथा करण लब्धि रूप परिणमा जीव यथासम्भव सम्यक्त्व को प्राप्त होता है। **(गो. जी. ६५२)**

जो भाषाशुद्धि, विवेक और वाक्यों के उच्चारण में कुशल है, शङ्का आदि दोषों से रहित है, गम्भीर है, शान्तभाव रूपी लक्ष्मी से युक्त है, जितेन्द्रिय है, धैर्यवान् है, निश्चय और व्यवहार में चतुरता रखता है, देव और गुरु में जिसकी भक्ति है और औचित्य आदि गुणों से जिसका शरीर अलंकृत है, ऐसा जीव सम्यक्त्व प्राप्ति के योग्य होता है। **(स.कौ. १/२३)**

१४. प्रश्न : दर्शनमोह का उपशम कहाँ-कहाँ होता है ?

उत्तर : दर्शनमोह का उपशम चारों गतियों के संज्ञी, पंचेन्द्रिय, पर्याप्तकों के होता है। इन्द्रक, श्रेणीबद्ध आदि सर्व नरकों में, सर्व प्रकार के भवनवासी देवों में, सर्व द्वीप-समुद्रों में (तिर्यञ्चों की अपेक्षा सर्व द्वीप-समुद्र एवं मनुष्यों की अपेक्षा ढाई द्वीप-समुद्रों में) सर्व व्यंतर देवों में, समस्त ज्योतिष्क देवों में, सौधर्म से लेकर सर्व आभियोग्य अर्थात् वाहनादि रूप नीच देवों में, उनसे भिन्न किल्विष आदि अनुत्तम तथा पारिषद आदि उत्तम देवों में दर्शनमोह का उपशम होता है। **(ज.ध. १२/२९६-३००)**

१५. प्रश्न : क्या भवनवासी से लेकर सर्वार्थसिद्धि तक प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है ?

उत्तर : नहीं, देवगति में भवनवासियों से लेकर उपरिम ग्रैवेयक तक के देवों में ही प्रथमोपशम सम्यक्त्व उत्पन्न होता है, आगे नहीं क्योंकि आगे के अनुदिशों से लेकर सर्वार्थसिद्धि तक के विमानवासी देव नियम से सम्यग्दृष्टि ही होते हैं। (ध. ६/४३४-३७)

१६. प्रश्न : (कर्मोदय से कालुष्यभाव से व्याप्त) अनादि मिथ्यादृष्टि के इन प्रकृतियों का उपशम कैसे होता है ?

उत्तर : अनादि मिथ्यादृष्टि भव्य के काललब्धि आदि के निमित्त से इनका उपशम होता है। वह

काललब्धि अनेक प्रकार की है– समय की अपेक्षा काल लब्धि, कर्म स्थिति की अपेक्षा काल लब्धि, भव की अपेक्षा काल लब्धि आदि। आदि शब्द से जातिस्मरण आदि का ग्रहण करना चाहिए। **(सर्वा. २५८)**

नोट : विशेष के लिए देखें १/ ७।

१७. प्रश्न : समय आदि की अपेक्षा काललब्धि से क्या समझना चाहिए ?

उत्तर : कर्म संयुक्त भव्यात्मा अर्ध पुद्गल परिवर्तन मात्र काल के अवशिष्ट रहने पर प्रथम सम्यक्त्व को ग्रहण करने के योग्य होता है अधिक रहने पर नहीं। यह एक काललब्धि है। जब कर्म उत्कृष्ट स्थिति में बँध रहे हों या जघन्य स्थिति में बँध रहे हों उस समय प्रथम सम्यक्त्व का लाभ नहीं होता, अपितु जब कर्म अन्त: कोड़ाकोड़ी सागरोपम स्थिति के बँध रहे हों तथा पूर्वबद्ध कर्म परिणामों की निर्मलता के द्वारा संख्यात हजार सागर कम अन्त:कोड़ाकोड़ी सागर की स्थिति वाले कर दिये गये हों तब प्रथम सम्यक्त्व ग्रहण करने की योग्यता होती है। यह दूसरी (कर्मस्थिति) काललब्धि है।

भव्य, पंचेन्द्रिय, संज्ञी, मिथ्यादृष्टि पर्याप्तक जीव परिणामों की विशुद्धि से प्रथम सम्यक्त्व उत्पन्न करने के योग्य होता है, यह तीसरी काललब्धि है। **(रा.वा. २)**

१८. प्रश्न : सम्यक्त्व प्राप्त करने वाले में और क्या विशेषता होनी चाहिए ?

उत्तर : दर्शनमोह के उपशम के प्रतिष्ठापक की कुछ विशेषताएँ इस प्रकार हैं-

(१) साकारोपयोग में वर्तमान जीव ही दर्शनमोहनीय कर्म के उपशमन का प्रस्थापक होता है किन्तु निष्ठापक और मध्यस्थानवर्ती जीव भजितव्य है।

(२) तीनों योगों में से किसी एक योग में वर्तमान हो।

(३) तेजो लेश्या के जघन्य अंश को प्राप्त जीव दर्शनमोह का उपशम करता है। **(ज.ध. १२/ ३०४)**

(४) असंयत होता है।

(५) मति व श्रुतज्ञान रूप साकारोपयोगी होता है, अनाकारोपयोगी नहीं होता, क्योंकि अनाकार उपयोग की बाह्य अर्थ की प्रवृत्ति का अभाव है।

(६) कृष्णादि छहों लेश्याओं में से किसी एक लेश्या वाला हो, किन्तु यदि अशुभ लेश्या वाला हो तो हीयमान होना चाहिए और यदि शुभ लेश्या हो तो वर्धमान होना चाहिए। **(ध. ६/२०७)**

(७) यहाँ पर प्रथमोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त होने वाले जीव के अध:प्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण के भेद से तीन प्रकार की विशुद्धियाँ होती हैं। **(ध. ६/२१४)**

(८) जागृत होना चाहिए, स्त्यानगृद्धि आदि तीनों प्रकृतियों के उदय का अभाव होना चाहिए। **(ल.सा.जी. २)**

(९) सर्व कर्मों की (आयु के बिना) जब अन्त:कोड़ा कोड़ी स्थिति को बाँधता है, तब यह जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। **(ध. ६/२०३)**

(१०) जिस समय इन सर्व कर्मों की संख्यात हजार सागरोपमों से हीन अन्त:कोड़ा कोड़ी सागरोपम प्रमाण स्थिति (सत्ता में) स्थापित करता है उस समय यह जीव प्रथम सम्यक्त्व को उत्पन्न करता है। **(ध.६/२२२)**

१९. प्रश्न : जन्म के कितने समय के पश्चात् सम्यक्त्व-प्राप्ति की योग्यता होती है ?

उत्तर : नारकी मिथ्यादृष्टि पर्याप्तकों में सम्यक्त्व उत्पन्न करने वाले अन्तर्मुहूर्त्त से लगाकर अपने योग्य अन्तर्मुहूर्त्त पश्चात् सम्यक्त्व उत्पन्न करते हैं, उससे नीचे नहीं। इस प्रकार सातों पृथिवियों में जानना चाहिए। **(ध. ६/४१९)**

तिर्यञ्च मिथ्यादृष्टि पर्याप्तकों में सम्यक्त्व उत्पन्न करने वाले जीव दिवस पृथक्त्व से लगाकर उपरिम काल में उत्पन्न करते हैं, नीचे के काल में नहीं। इस प्रकार सर्व द्वीप-समुद्रों में जानना चाहिए। **(ध.६/४२६)**

मनुष्य मिथ्यादृष्टि पर्याप्तकों में सम्यक्त्व उत्पन्न करने वाले जीव आठ वर्ष से लेकर ऊपर किसी भी समय उत्पन्न करते हैं इससे नीचे के काल में नहीं। इस प्रकार ढाई द्वीप-समुद्र में जानना चाहिए। **(ध.६/४२९)**

देव मिथ्यादृष्टि पर्याप्तकों में प्रथम सम्यक्त्व उत्पन्न करने वाले जीव अन्तर्मुहूर्त्त काल से लेकर ऊपर उत्पन्न करते हैं, उससे नीचे के काल में नहीं। इस प्रकार भवनवासी से लेकर उपरिम ग्रैवेयक विमानवासी देवों में जानना चाहिए। **(ध. ६/४३१-३२)** उत्तम भोगभूमिया जीव इक्कीस दिन के पश्चात्, मध्यम भोगभूमिया जन्म से पैंतीस दिन के पश्चात् एवं जघन्य भोगभूमिया जन्म से उनचास (४९) दिन के पश्चात् सम्यक्त्व-प्राप्ति के योग्य होते हैं। **(ति. प. ४ पृष्ठ १२६)**

२०. प्रश्न : असंख्यात द्वीप-समुद्रों में तिर्यञ्चों के प्रथमोपशम सम्यक्त्व उत्पन्न करना कैसे बन सकता है ?

उत्तर : नहीं, क्योंकि वहाँ पर भी पूर्व के वैरी देवों के प्रयोग से ले जाये गये तिर्यञ्च सम्यक्त्व की उत्पत्ति में प्रवृत्त हुए पाये जाते हैं। **(ज.ध. १२/२९९)**

२१. प्रश्न : क्या सादि मिथ्यादृष्टि भी प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्राप्त कर सकता है ?

उत्तर : हाँ, सादि मिथ्यादृष्टि (एक बार सम्यक्त्व को प्राप्त कर पुन: मिथ्यात्व को प्राप्त जीव) में से जिसने त्रस जीवों में रह कर सम्यक्त्व प्रकृति एवं सम्यक्त्व मिथ्यात्व प्रकृति का उद्वेलन किया है, वह जीव सम्यक्त्व एवं सम्यग्मिथ्यात्व के सत्त्वस्वरूप सागरोपम पृथक्त्व के पश्चात् उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त होता है। यदि इससे ऊपर की स्थिति रहने पर सम्यक्त्व ग्रहण करता है तो वेदक सम्यक्त्व को ही

प्राप्त करता है और एकेन्द्रियों में जाकर जिसने सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व की उद्वेलना की है वह पल्योपम के असंख्यातवें भाग से कम सागरोपम काल मात्र सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व का स्थिति सत्त्व अवशेष रहने पर त्रस जीवों में उत्पन्न होकर उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त होता है। **(ध. १/३३)**

२२. प्रश्न : सादि मिथ्यादृष्टि के कितनी प्रकृतियों का उपशम होने पर प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है ?

उत्तर : सादि मिथ्यादृष्टि के यदि सम्यक्त्व मोहनीय और मिश्र मोहनीय इन दो प्रकृतियों का सत्त्व हो तो उसके सात प्रकृतियाँ हैं और इन दोनों का सत्त्व नहीं है अर्थात् इनकी उद्वेलना कर दी है तो उसके दर्शनमोह की पाँच प्रकृतियाँ हैं। (ऐसा जीव भी अनादि मिथ्यादृष्टि ही है।) वह भी मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी चतुष्क इन पाँच प्रकृतियों को प्रशस्त उपशम (या सर्वोपशम) विधान के द्वारा युगपत् उपशमा कर अन्तर्मुहूर्त्त काल पर्यन्त उपशम सम्यक्त्व को अंगीकार करता है। **(गो. क. जी. ५५०)**

२३. प्रश्न : उद्वेलना किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस प्रकार रस्सी को बलपूर्वक उधेड़ने से उसका रस्सीपना नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार जिस प्रकृति का बन्ध किया था उसका उद्वेलन भागहार के द्वारा अपकर्षण करके, अन्य प्रकृतिरूप करना और इस प्रकार उनको नष्ट करने का नाम उद्वेलना संक्रमण है। **(गो. क. जी. ३४९)**

अध:प्रवृत्त आदि तीन करण रूप परिणामों के बिना ही कर्म प्रकृतियों के परमाणुओं का अन्य प्रकृति रूप परिणमन होना वह उद्वेलन संक्रमण है। **(गो.क.जी. ४१३)**

२४. प्रश्न : उद्वेलन प्रकृतियाँ कितनी हैं ?

उत्तर : उद्वेलन प्रकृतियाँ तेरह हैं-

(१) आहारक शरीर (२) आहारक शरीर अंगोपांग (३) सम्यक् प्रकृति (४) सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति (५) देवगति (६) देवगत्यानुपूर्वी (७) नरकगति (८) नरकगत्यानुपूर्वी (९) वैक्रियिक शरीर (१०) वैक्रियिक शरीर अंगोपांग (११) मनुष्यगति (१२) मनुष्यगत्यानुपूर्वी (१३) उच्च गोत्र। **(गो. क. ३५०)**

२५. प्रश्न : प्रथमोपशम सम्यक्त्व कौन-कौनसे गुणस्थान में उत्पन्न होता है ?

उत्तर : सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि अथवा वेदक सम्यग्दृष्टि जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त नहीं होते हैं, क्योंकि इन जीवों के उस प्रथमोपशम सम्यक्त्वरूप पर्याय के द्वारा परिणमन होने की शक्ति का अभाव है। उपशम श्रेणी चढ़ने वाले वेदक सम्यग्दृष्टि जीव यद्यपि उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करने वाले होते हैं, किन्तु उस सम्यक्त्व का 'प्रथमोपशम सम्यक्त्व' यह नाम नहीं है, क्योंकि उस उपशम सम्यक्त्व की उत्पत्ति वेदक सम्यक्त्व से होती है। इसलिए प्रथमोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करने वाला जीव मिथ्यादृष्टि ही होना चाहिए। **(ध. ६/२०६-२०७)**

२६. प्रश्न : प्रथमोपशम सम्यक्त्व से गिरकर जीव कहाँ-कहाँ जा सकता है ?

उत्तर : अप्रमत्त को छोड़कर शेष चौथे, पाँचवें, छठे गुणस्थानवर्ती जीव उस प्रथमोपशम सम्यक्त्व के अन्तर्मुहूर्त्त मात्र काल में जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट छह आवली शेष रह जाने पर, अनन्तानुबन्धी चतुष्क में से किसी एक के उदय से सासादन होते हैं **अथवा** - वे चारों ही गुणस्थानवर्ती यदि भव्यतागुण की विशेषता से सम्यक्त्व की विराधना नहीं करते हैं, तो सम्यक्त्वप्रकृति के उदय से वेदक सम्यग्दृष्टि हो जाते हैं। **अथवा** - वे चारों मिश्र प्रकृति के उदय से सम्यग्मिथ्यादृष्टि हो जाते हैं **अथवा**- वे चारों मिथ्यात्व के उदय से मिथ्यादृष्टि हो जाते हैं। **(गो.जी.जी. ७०४)**

२७. प्रश्न : प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्राप्त होने के बाद कितने काल तक जीव संसार में रह सकता है ?

उत्तर : जो जीव मुहूर्त्तकाल पर्यन्त भी सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर अनन्तर छोड़ देते हैं, वे भी इस संसार में अनन्तानन्तकाल पर्यन्त नहीं रहते हैं। **(भ.आ. ५२)** जो सम्यग्दर्शन से पतित नहीं होते उनके उत्कृष्टत: सात या आठ भवों का ग्रहण होता है और जघन्य से दो-तीन भवों का। इतने भवों के पश्चात् उनके संसार का उच्छेद हो जाता है। जो सम्यक्त्व से च्युत हो गये हैं उनके लिए कोई नियम नहीं है। **(प.पु. १४/२२४)**

२८. प्रश्न : द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन किसके होता है ?

उत्तर : द्वितीयोपशम सम्यक्त्व पर्याप्त मनुष्य व निर्वृत्यपर्याप्त वैमानिक देवों में ही होता है **(गो. क. जी. ५५०)** पहले उपशम विधि कहते हैं - अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, सम्यक् प्रकृति, सम्यग्मिथ्यात्व तथा मिथ्यात्व इन सात प्रकृतियों का असंयत-सम्यग्दृष्टि से अप्रमत्तसंयत गुणस्थान तक इन चार गुणस्थानों में रहने वाला कोई भी जीव उपशम करने वाला होता है। **(ध. १/२११-१२)** लब्धिसार आदि ग्रन्थों में द्वितीयोपशम सम्यक्त्व की उत्पत्ति अप्रमत्तसंयत गुणस्थान तक ही बतलायी है।

२९. प्रश्न : द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि गिर कर कहाँ-कहाँ जाता है ?

उत्तर : द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि होकर, उपशम श्रेणी पर आरोहण करके, उपशान्त कषाय गुणस्थान में जाकर और वहाँ तत् योग्य अन्तर्मुहूर्त्त काल तक स्थित रहकर वहाँ से नीचे गिरता हुआ अर्थात् क्रम पूर्वक दसवें, नौवें, आठवें गुणस्थानों में से होता हुआ अप्रमत्तसंयत गुणस्थान को प्राप्त करता है। वहाँ प्रमत्त व अप्रमत्त में हजारों बार उतरना-चढ़ना करता है। **अथवा** नीचे देशसंयत होकर रहता है, **अथवा** असंयत होकर रहता है, या मरण करके असंयत देव होता है, **अथवा** मिश्र प्रकृति के उदय से मिश्र-गुणस्थानवर्ती होता है। अनन्तानुबन्धी चतुष्क में से किसी एक का उदय आने पर द्वितीयोपशम की विराधना करके किन्हीं आचार्यों के मत से सासादन भी हो जाता है, **अथवा** मिथ्यात्व के उदय से मिथ्यादृष्टि हो जाता है। **(गो.जी.जी. ७०४)**

३०. प्रश्न : औपशमिक चारित्र किसे कहते हैं ?

उत्तर : समस्त मोहनीय कर्म के उपशम से औपशमिक चारित्र होता है। **(सर्वा. २५९)** मोहनीय

कर्म की अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान, संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ ये सोलह कषाय, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसक वेद ये नौ नोकषाय, ये चारित्रमोह के विकल्प हैं। मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति के भेद से दर्शन मोहनीय के तीन भेद हैं। मोहनीय कर्म के इन अट्ठाईस विकल्पों के उपशमन से आत्म परिणामों की जो निर्मलता होती है, उसको औपशमिक चारित्र कहते हैं। **(रा.वा.३)**

३१. प्रश्न : औपशमिक चारित्र कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : औपशमिक चारित्र सात प्रकार का है -

(१) नपुंसक वेद के उपशमन काल में।

(२) स्त्रीवेद के उपशमन काल में।

(३) पुरुषवेद और छह नोकषायों के उपशमन काल में।

(४) क्रोध संज्वलन के उपशमनकाल में।

(५) मान संज्वलन के उपशमन काल में।

(६) माया संज्वलन के उपशमन काल में।

(७) लोभ संज्वलन के उपशमन काल में होता है।

भिन्न-भिन्न कार्यों का सूचक होने से कारणों के भेद की सिद्धि होती है। इसलिए औपशमिक चारित्र सात प्रकार का होता है। अथवा - प्रति समय उपशम श्रेणी में पृथक्-पृथक् असंख्यात गुणश्रेणी निर्जरा के निमित्तभूत परिणाम पाये जाते हैं। (अत: प्रति समय निर्जरा की अपेक्षा अनेक प्रकार भी हैं।) **(ध. ५/१९०)**

३२. प्रश्न : सूत्र में सम्यक्त्व का पूर्व में ग्रहण क्यों किया गया है ?

उत्तर : सम्यक्त्व पूर्वक ही चारित्र होता है इसलिए प्रथम सम्यग्दर्शन को सूत्र में ग्रहण किया है। **अथवा** पहले आत्मा सम्यक्त्व पर्याय से परिणत होता है, पुन: क्रम से चारित्र पर्याय से परिणत होता है इसलिए सम्यक्त्व को आदि में ग्रहण करना उचित ही है। **(रा.वा. ४)**

क्षायिक भावों का कथन करते हैं -

ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च ॥४॥

ज्ञान-दर्शन-दान-लाभ-भोग-उपभोग-वीर्याणि च।

अर्थ - क्षायिक ज्ञान, क्षायिक दर्शन, क्षायिक दान, क्षायिक लाभ, क्षायिक भोग, क्षायिक उपभोग, क्षायिक वीर्य और 'च' से क्षायिक सम्यक्त्व एवं क्षायिक चारित्र।

क्षायिक ज्ञान - ज्ञानावरण कर्म के अत्यन्त क्षय से क्षायिक केवलज्ञान होता है।

क्षायिक दर्शन - दर्शनावरण कर्म के अत्यन्त क्षय से क्षायिक केवलदर्शन होता है।

क्षायिक दान - दानान्तराय कर्म के अत्यन्त क्षय से क्षायिक दान होता है।

क्षायिक लाभ - समस्त लाभान्तराय कर्म के अत्यन्त क्षय से क्षायिक लाभ होता है।

क्षायिक भोग - भोगान्तराय कर्म के अत्यन्त क्षय से क्षायिक भोग होता है।

क्षायिक उपभोग - उपभोगान्तराय कर्म के अत्यन्त क्षय से क्षायिक उपभोग होता है।

क्षायिक वीर्य - वीर्यान्तराय कर्म के क्षय से क्षायिक वीर्य होता है।

क्षायिक सम्यक्त्व - मोहनीय कर्म की सात प्रकृतियों के क्षय से क्षायिक सम्यक्त्व होता है।

क्षायिक चारित्र - समस्त मोहनीय कर्म के क्षय से क्षायिक चारित्र होता है।

१. प्रश्न : क्षायिक भाव कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : क्षायिक भाव नौ प्रकार का होता है - क्षायिक ज्ञान, क्षायिक दर्शन, क्षायिक दान, क्षायिक लाभ, क्षायिक भोग, क्षायिक उपभोग, क्षायिक वीर्य, क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक चारित्र। **(ध. ५/१९१)** क्षायिक भाव के क्षीण क्रोध, क्षीण मान, क्षीण माया, क्षीण लोभ, क्षीण राग, क्षीण द्वेष, क्षीण मोह, क्षीण कषाय, वीतराग छद्मस्थ, क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक चारित्र, क्षायिक दान, क्षायिक लाभ, क्षायिक भोग, क्षायिक परिभोग, क्षायिक वीर्य, केवलज्ञान, केवलदर्शन, सिद्ध, बुद्ध, परिनिर्वृत्त, सर्व दु:ख अन्तकृत, इसी प्रकार अन्य भी जो क्षायिक भाव (अपूर्वकरणादि क्षीणकषाय पर्यन्त) होते हैं वे सब क्षायिक अविपाक-प्रत्ययिक जीवभाव बन्ध है। **(ध. १४/१५)**

क्षायिक भाव स्थान की अपेक्षा पाँच प्रकार का है -

(१) दानादि लब्धियाँ (२) क्षायिक सम्यक्त्व (३) क्षायिक चारित्र (४) क्षायिक दर्शन (५) क्षायिक ज्ञान।

२. प्रश्न : सूत्र में दिये गये 'च' से किसका ग्रहण करना चाहिए ?

उत्तर : सूत्र में दिया गया 'च' समुच्चयार्थ में है उस 'च' से पूर्व सूत्र में कहे गये सम्यक्त्व और चारित्र को ग्रहण करना चाहिए अर्थात् क्षायिक सम्यक्त्व एवं क्षायिक चारित्र ये दो भाव 'च' से ग्रहण किये गये हैं। **(श्लो. ५/१६)**

३. प्रश्न : क्षायिक सम्यक्त्व किसे कहते हैं ?

उत्तर : पूर्वोक्त सात प्रकृतियों के अत्यन्त विनाश से क्षायिक सम्यक्त्व होता है। **(सर्वा. २६१)** दर्शन मोहनीय कर्म के क्षीण हो जाने पर जो निर्मल श्रद्धान होता है उसे क्षायिक सम्यक्त्व कहते हैं। यह

सम्यक्त्व नित्य है एवं कर्मक्षय का कारण है। **(गो. जी. ६४६)** सात प्रकृतियों के क्षय से क्षायिक सम्यक्त्व होता है। वह मेरु की भाँति निष्प्रकम्प, निर्मल व अक्षय-अनन्त है। **(ल.सा. १६४)** क्षायिक सम्यग्दर्शन उदीयमान सूर्य के समान है। **(व.चा. ११/२७)** शुद्ध आत्मा तथा जीवादि पदार्थों के विषय में विपरीत अभिनिवेश रहित परिणाम क्षायिक सम्यक्त्व कहा जाता है। **(वृहत् द्र.सं.टी. १४)**

४. प्रश्न : सात प्रकृतियों के क्षय का प्रतिष्ठापक कौन होता है ?

उत्तर : सात प्रकृतियों के क्षय के प्रतिष्ठापक की विशेषताएँ -

(१) नियम से कर्मभूमि में उत्पन्न और मनुष्यगति में वर्तमान जीव ही दर्शनमोह की क्षपणा का प्रतिष्ठापक होता है।

(२) मिथ्यात्ववेदनीय कर्म के सम्यक्त्व प्रकृति में अपवर्तित अर्थात् संक्रमित कर देने पर जीव दर्शन-मोह की क्षपणा का प्रस्थापक कहलाता है।

(३) दर्शनमोह की क्षपणा के प्रस्थापक को जघन्य तेजोलेश्या में वर्तमान होना चाहिए। **(ज.ध. १३/२-४)** क्षायिक सम्यक्त्व का प्रस्थापक असंयत से अप्रमत्त पर्यन्त के चार गुणस्थानवर्ती मनुष्य ही होते हैं। **(गो.क.जी. ५५७)**

(४) जिस काल में जिन सम्भव है उस ही काल में दर्शनमोह की क्षपणा का प्रस्थापक होता है, अन्य काल में नहीं। **(ध. ६/२४६)**

(५) अढ़ाई द्वीप-समुद्रों में स्थित पन्द्रह कर्मभूमियों में जहाँ जिस काल में जिन केवली और तीर्थंकर होते हैं उस काल में दर्शनमोह क्षपण प्रारम्भ करता है। **(ध. ६/२४३)**

(६) तीर्थंकर के पादमूल में, केवली-श्रुतकेवली के पादमूल में ही प्रस्थापक होता है। **(ल.सा. ११०)**

(७) वेदक सम्यग्दृष्टि को ही क्षायिक सम्यक्त्व होता है। **(गो.जी.जी. ७०४)**

५. प्रश्न : सात प्रकृतियों के क्षय का निष्ठापक कौन होता है ?

उत्तर : दर्शन मोह की क्षपणा का निष्ठापक -

(१) दर्शन मोह की क्षपणा का निष्ठापक चारों गतियों में निष्ठापन करता है। **(ध. ६/२४७)**

(२) दर्शनमोह की क्षपणा का निष्ठापक तो उसी स्थान में अर्थात् जहाँ प्रारम्भ किया है ऐसी उस मनुष्य गति में, विमानवासी देवों में, भोगभूमिज मनुष्य-तिर्यञ्चों में और घर्मा नामक प्रथम नरक पृथ्वी में भी होता है। क्योंकि (बद्धायुष्क) कृतकृत्यवेदक सम्यग्दृष्टि मरकर चारों ही गतियों में उत्पन्न होता है। **(ल.सा. ११०-११)**

६. प्रश्न : क्षायिक सम्यक्त्व कहाँ-कहाँ नहीं पाया जाता है ?

उत्तर : भवनवासी, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्कदेव, द्वितीयादि छह पृथिवियों के नारकी, सर्व विकलेन्द्रिय, सर्व लब्ध्यपर्याप्तक और स्त्रीवेदियों में सम्यग्दृष्टि जीवों की उत्पत्ति नहीं होती है, तथा मनुष्यगति के अतिरिक्त अन्य गतियों में दर्शन-मोहनीय की क्षपणा का अभाव है। **(ध. ५/२१५)** तिर्यञ्चों में क्षायिक सम्यक्त्व के साथ संयमासंयम नहीं पाया जाता है। **(ध. ५/२५६)**

७. प्रश्न : तिर्यञ्चों में क्षायिक सम्यग्दृष्टि संयतासंयत क्यों नहीं होते हैं ?

उत्तर : नहीं, क्योंकि तिर्यञ्चों में यदि क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न होते हैं तो वे भोगभूमि में ही उत्पन्न होते हैं दूसरी जगह नहीं। परन्तु भोगभूमि में उत्पन्न हुए जीवों के अणुव्रत की उत्पत्ति नहीं होती है, क्योंकि वहाँ पर अणुव्रत के होने में आगम से विरोध आता है। **(ध. १/४०५)**

८. प्रश्न : क्षायिक सम्यग्दृष्टि का श्रद्धान कैसा होता है ?

उत्तर : क्षायिक सम्यग्दृष्टि का श्रद्धान, श्रद्धान को भ्रष्ट करने वाले वचन या हेतुओं से अथवा इन्द्रियों को भय उत्पन्न करने वाले आकारों से या बीभत्स पदार्थों के देखने से उत्पन्न हुई ग्लानि से किंबहुना त्रैलोक्य से भी वह चलायमान नहीं होता है। **(गो.जी. ६४७)**

९. प्रश्न : क्षायिक सम्यग्दृष्टि कितने भवों में मोक्ष चला जाता है ?

उत्तर : दर्शन मोहनीय कर्म का क्षय हो जाने पर उसी भव में या तीसरे भव में जीव सिद्ध पद को प्राप्त होता है, किन्तु चौथे भव का उल्लंघन नहीं करता तथा औपशमिक व क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की तरह नाश को प्राप्त नहीं होता है अथवा - मनुष्य तिर्यञ्च की पूर्व में आयु बाँध ली हो तो भोगभूमि की अपेक्षा चौथे भव में सिद्धि प्राप्त करते हैं। **(ल. सा. १६५)**

जो जिस भव में दर्शनमोह की क्षपणा का प्रस्थापन करता है, वह दर्शनमोह के क्षीण होने पर तीन भव में नियम से मुक्त हो जाता है। **(ज.ध. १३/९)**

१०. प्रश्न : ज्ञानावरणादि कर्मों का क्षय किस कारण से होता है?

उत्तर : अनंतानंत अविभागि प्रतिच्छेदों को धारण करने वाली आत्मविशुद्धि के प्रगट होने से, अनंत सिद्धि की प्रसिद्धि होने से ज्ञानावरणादि कर्मों का अत्यंत क्षय होता है। जैसे अचूक औषधि के प्रयोग से प्रतिपक्षी रोग का वर्तमान और भविष्य में अंश नहीं रहता है। **(श्लो. ५/१८)**

११. प्रश्न : क्षायिक चारित्र किसे कहते हैं ?

उत्तर : दर्शनमोह की सम्यक्त्वप्रकृति, सम्यक्त्व मिथ्यात्व प्रकृति और मिथ्यात्व प्रकृति ये **तीन** और पूर्वोक्त अनन्तानुबन्धी आदि **सोलह** कषाय और हास्य आदि **नव** नोकषाय, इस प्रकार पच्चीस, इन अट्ठाईस प्रकृतियों के निरवशेष विनाश से क्षायिक चारित्र होता है। **(रा.वा. ७)**

१२. प्रश्न : क्षायिक ज्ञान किसे कहते हैं ?

उत्तर : मूर्त्त-अमूर्त्त, चेतन-अचेतन आदि विविध जाति विशेषों से असमान सभी पदार्थों को एक साथ एक समय में और सब ओर से सर्व आत्मप्रदेशों से अथवा सर्व प्रकार से जो ज्ञान जानता है वह क्षायिक ज्ञान कहा गया है।

१३. प्रश्न : क्षायिक दर्शन किसे कहते हैं ?

उत्तर : तीव्र, मध्यम, मंद आदि अनेक अवस्थाओं की अपेक्षा तथा चन्द्र-सूर्य आदि पदार्थों की अपेक्षा अनेक प्रकार के प्रकाश जगत् में पाये जाते हैं, परन्तु वे परिमित क्षेत्र में ही रहते हैं और काम करते हैं, किन्तु जो लोक-अलोक दोनों जगह प्रकाश करता है ऐसे आत्मा के सामान्य आभास रूप प्रकाश को केवलदर्शन कहते हैं। **(गो.जी. ४८६)** सहज शुद्ध अविनाशी आनन्द रूप एक स्वरूप के धारक परमात्म तत्त्व के ज्ञान तथा प्राप्ति के बल से केवल दर्शनावरण के क्षय होने पर समस्त मूर्त्त, अमूर्त्त, वस्तुओं के सत्ता सामान्य को सकल प्रत्यक्ष रूप से एक समय में विकल्प रहित जो देखता है उसको उपादेय रूप क्षायिक केवलदर्शन जानना चाहिए। **(बृ.द्र.सं.टी. ४)** 'केवल' यह नाम प्रतिपक्ष रहित का है। प्रतिपक्ष रहित जो दर्शन होता है उसे केवलदर्शन कहते हैं। **(ध. ६/३३)**

१४. प्रश्न : क्षायिक दान किसे कहते हैं ?

उत्तर : दानान्तराय कर्म के अत्यन्त क्षय से आविर्भूत त्रिकालगोचर अनन्त प्राणियों का हितकारक, भगवान का अहिंसामय उपदेश होता है जिससे जीवों को अभय मिलता है, भगवान का वह उपदेश क्षायिक दान है। **(रा.वा. २)**

प्रतिप्रश्न : अरिहन्तों के दानान्तराय का क्षय हो जाने पर भी सब जीवों को इच्छित अर्थ क्यों नहीं देते ?

उत्तर : नहीं, क्योंकि उन जीवों के लाभान्तराय कर्म का सद्भाव पाया जाता है। **(ध. १४/१७)**

१५. प्रश्न : यदि क्षायिक दानादि भावों के निमित्त से अभयदानादि कार्य होते हैं तो सिद्धों में भी उनका प्रसंग प्राप्त होता है ?

उत्तर : यह कोई दोष नहीं, क्योंकि इन अभयदानादि के होने में शरीर नामकर्म और तीर्थंकर नामकर्म के उदय की अपेक्षा रहती है परन्तु सिद्धों के शरीर नहीं होते अत: उनके अभयदानादि नहीं प्राप्त होते। **(सर्वा. २६१)** यह कोई दोष नहीं है। क्योंकि दानादि लब्धियों के कार्य के लिए शरीर नामकर्म और तीर्थंकर प्रकृति के उदय की भी अपेक्षा रहती है इसलिए शरीर एवं तीर्थंकर प्रकृति का अभाव होने से सिद्धों में दानादि नहीं है। सिद्धों में जैसे केवलज्ञान में अनन्तवीर्य है उसी प्रकार परमानन्द, अव्याबाध सुख रूप से लब्धियाँ होती हैं। **(रा.वा. ७)**

१६. प्रश्न : क्षायिक लाभ किसे कहते हैं ?

उत्तर : सकल लाभान्तराय कर्म के अत्यन्त नष्ट हो जाने पर परम शुभ पुद्गलों का ग्रहण क्षायिक

लाभ है। सम्पूर्ण लाभान्तराय कर्म का अत्यन्त क्षय होने पर कवलाहार न करने वाले केवली भगवान के शरीर की स्थिति में कारणभूत अन्य मनुष्यों में नहीं पाये जाने वाले असाधारण परमशुभ, सूक्ष्म, दिव्य, अनन्त पुद्गल परमाणुओं का प्रतिसमय केवली के शरीर में सम्बन्धित होना क्षायिक लाभ है। इससे कवलाहार के बिना कुछ कम पूर्वकोटी वर्ष तक औदारिक शरीर की स्थिति कैसे रह सकती है ? यह शंका निराधार हो जाती है। **(रा.वा. ३)**

लाभान्तराय कर्म के सम्पूर्ण क्षय हो जाने से अन्य मनुष्यों के असम्भव कवलाहार के बिना भी कुछ कम पूर्व कोटी पर्यन्त शरीरस्थिति के कारणभूत, सप्त धातु से रहित, परम औदारिक शरीर सम्बन्धी नोकर्माहार के योग्य सूक्ष्म, सुरस, सुगन्धमय पुद्गल प्रतिक्षण आते रहते हैं। यही क्षायिक लाभ है। **(प्र. सा. २१ ता. वृ.)**

१७. प्रश्न : क्षायिक भोग किसे कहते हैं ?

उत्तर : सम्पूर्ण भोगान्तराय कर्म के तिरोभाव (नाश) हो जाने से प्रकृष्ट भोग की प्राप्ति होती है। वह सातिशय क्षायिक भोग है। इसी से पुष्पवृष्टि, गन्धोदकवृष्टि, चरणनिक्षेप स्थान में सप्त कमलों की पंक्ति की रचना, सह्य धूप, सुगन्धित शीतल वायु का चलना आदि अतिशय होते हैं। **(रा.वा. ४)**

१८. प्रश्न : क्षायिक उपभोग किसे कहते हैं ?

उत्तर : सम्पूर्ण उपभोगान्तराय कर्म के प्रलय (नाश) हो जाने से प्रकृष्ट उपभोग की प्राप्ति होती है। वह सातिशय क्षायिक उपभोग है। इसीसे सिंहासन, चमर, अशोक वृक्ष, छत्र-त्रय, प्रभामण्डल, गम्भीर, स्निग्ध, मधुर दिव्य ध्वनि, दुंदुभि आदि क्षायिक उपभोग प्राप्त होते हैं। **(रा.वा. ५)**

१९. प्रश्न : क्षायिक वीर्य किसे कहते हैं ?

उत्तर : आत्मा की शक्ति के प्रतिबन्धक वीर्यान्तराय कर्म के अत्यन्त क्षय होने से अनन्तवीर्य उत्पन्न होता है वह क्षायिक अनन्त वीर्य है। **(रा.वा.६)** हे ईश ! आप संसार के समस्त पदार्थों को जानते हैं फिर भी आपको कुछ भी परिश्रम या खेद नहीं होता है। यह अनन्त बल (क्षायिक वीर्य) का माहात्म्य है। **(म.पु. २४/६२)** केवलज्ञान के विषय में अनन्त पदार्थों को जानने की जो शक्ति है वही अनन्तवीर्य है। **(प. प्र. १/६१)**

२०. प्रश्न : अनन्तवीर्य किस कारण प्रकट होता है ?

उत्तर : आत्मस्वरूप चलित होने का कोई कारण उत्पन्न होने पर घोर परीषह अथवा उपसर्गादि में निजनिरंजन परमात्मा के ध्यान में पहले जो धैर्य का अवलम्बन किया था उसी के फलभूत, अनन्त पदार्थों को जानने में खेद के अभाव रूप अनन्तवीर्य है। **(वृ.द्र.सं.टी. १४)**

२१. प्रश्न : सिद्धत्व भी क्षायिक भाव है उसका यहाँ ग्रहण क्यों नहीं किया ?

उत्तर : ऐसा नहीं है क्योंकि विशेष का कथन कर देने पर सामान्य बिना कथन किये ही अपने

आप सिद्ध हो जाता है। जैसे पौरों के पृथक् निर्देश से अंगुलि सामान्य का कथन हो ही जाता है उसी प्रकार सभी क्षायिक भावों में व्यापक सिद्धत्व का भी कथन उन विशेष क्षायिक भावों के कथन से हो ही गया है, उसके पृथक् कथन की आवश्यकता नहीं है। **(रा.वा. ७)**

अद्भुत वीर्य के कारण सिद्धों को संसार के समस्त पदार्थों को जानने में कोई परिश्रम या खेद नहीं होता, कोई पदार्थ प्रतिघातक भी नहीं होता।

क्षायोपशमिक भावों का कथन करते हैं -

ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्धयश्चतुस्त्रित्रिपञ्चभेदाः सम्यक्त्व-चारित्र-संयमासंयमाश्च ।।५ ।।

ज्ञान-अज्ञान-दर्शन-लब्धयः- चतुः त्रि-त्रि-पञ्च-भेदाः सम्यक्त्व-चारित्र-संयमासंयमाः च।

(ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्धयः) ज्ञान, अज्ञान, दर्शन लब्धियों के क्रमशः (चतुस्त्रित्रिपञ्चभेदाः) चार, तीन, तीन और पाँच भेद हैं तथा (सम्यक्त्व चारित्र संयमासंयमाश्च) क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, क्षायोपशमिक चारित्र और संयमासंयम, इस प्रकार अठारह भेद हैं।

अर्थ - क्षायोपशमिक भाव के चार ज्ञान, तीन अज्ञान, तीन दर्शन, पाँच लब्धियाँ, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, क्षायोपशमिक चारित्र और संयमासंयम ये अठारह भेद हैं।

ज्ञान - ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से जो होता है वह ज्ञान है।

अज्ञान - मिथ्यात्व के उदय के साथ जो ज्ञान होता है वह (क्षायोपशमिक) अज्ञान है।

दर्शन - दर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम से जो सामान्य अवलोकन होता है वह दर्शन है।

लब्धि - दानान्तरायादि कर्मों के क्षयोपशम से दानादि लब्धियाँ होती हैं।

सम्यक्त्व - दर्शन मोहनीय के क्षयोपशम से जो श्रद्धान होता है वह क्षायोपशमिक सम्यक्त्व है।

चारित्र - चारित्रमोहनीय कर्म के क्षयोपशम से जो चारित्र होता है वह क्षायोपशमिक चारित्र है।

संयमासंयम - विरत-अविरत परिणाम संयमासंयम है।

१. **प्रश्न : क्षायोपशमिक भाव कितने प्रकार का होता है ?**

उत्तर : क्षायोपशमिक भाव अठारह प्रकार का है-

चार ज्ञान, तीन अज्ञान, तीन दर्शन, पाँच लब्धि, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, क्षायोपशमिक चारित्र एवं क्षायोपशमिक संयमासंयम। **(त.सू. २/५)**

अथवा - क्षायोपशमिक भाव अनेक प्रकार का है -

क्षायोपशमिक एकेन्द्रिय लब्धि, क्षायोपशमिक द्वीन्द्रिय लब्धि, क्षायोपशमिक त्रीन्द्रिय लब्धि, क्षायोपशमिक चतुरिन्द्रिय लब्धि, क्षायो. पंचेन्द्रिय लब्धि, क्षायो. मत्यज्ञानी, क्षायो. श्रुताज्ञानी, क्षायो.

विभंगज्ञानी, क्षायो. मति आदि चार ज्ञान, क्षायो. चक्षु-अचक्षु अवधि दर्शन, क्षायो. सम्यग्मिथ्यात्व लब्धि, क्षायो. सम्यक्त्व लब्धि, क्षायो. संयमासंयम लब्धि, क्षायो. संयम लब्धि, क्षायो. दान-लाभ-भोग-उपभोग-वीर्य लब्धि, क्षायो. आचारधर, क्षायो. सूत्रकृत्धर, क्षायो. स्थानधर, क्षायो. समवायधर, क्षायो. व्याख्या प्रज्ञप्तिधर, क्षायो. नाथधर्मधर, क्षायो. उपासकाध्ययनधर, क्षायो. अन्तकृत्धर, क्षायो. अनुत्तरौपपादिक दशधर, क्षायो. प्रश्न-व्याकरणधर, क्षायो. विपाकसूत्रधर, क्षायो. दृष्टिवादधर, क्षायो. गणी, क्षायो. वाचक, क्षायो. दशपूर्वधर, क्षायो. चतुर्दशपूर्वधर तथा इसी प्रकार और भी अन्य क्षायोपशमिक भाव हैं। **(ध. १४/१८/१९)**

२. **प्रश्न : क्षायोपशमिक भाव के कितने स्थान हैं ?**

उत्तर : क्षायोपशमिक भाव के सात स्थान एवं अठारह भेद हैं।

क्षायोपशमिक भाव के सात स्थान -

(१) ज्ञान (२) अज्ञान (३) दर्शन (४) लब्धि (५) सम्यक्त्व (६) चारित्र (७) संयमासंयम। (ध. ५/१९१) क्षायोपशमिक भाव के अठारह भेद ऊपर कह दिये गये हैं।

३. **प्रश्न : सूत्र में चार ज्ञान आदि के साथ सम्बन्ध करने के लिए 'यथाक्रमं' वचन क्यों नहीं कहा?**

उत्तर : यह कोई आवश्यक नहीं है क्योंकि चार ज्ञान, तीन अज्ञान आदि अनुक्रम से सम्बन्ध ज्ञापन कराने के लिए 'यथाक्रमं' शब्द का अनुवर्तन ''द्विनवाष्टा'' इसी अध्याय के द्वितीय सूत्र से कर लेना चाहिए। **(रा.वा. २)**

४. **प्रश्न : किसके क्षय से एवं किसके उपशम से क्षायोपशमिक भाव होता है ?**

उत्तर : उदय प्राप्त सर्वघाती स्पर्धकों का क्षय होने पर, अनुदय प्राप्त सर्वघाती स्पर्धकों का सदवस्थारूप उपशम होने पर तथा देशघाती स्पर्धकों का उदय होने पर क्षायोपशमिक भाव होता है। **(रा.वा. ३)**

५. **प्रश्न : उदयाभावी क्षय किसे कहते हैं ?**

उत्तर : जब सर्वघाती स्पर्धकों का उदय होता है तब तनिक भी आत्मा के गुण की अभिव्यक्ति नहीं होती, इसलिए उस उदय के अभाव को उदयाभावी क्षय कहते हैं। **(रा.वा. ३)** सर्वघाती स्पर्धक अनन्तगुणे हीन होकर और देशघाती स्पर्धकों में परिणत होकर उदय में आते हैं। उन सर्वघाती स्पर्धकों का अनन्तगुणहीनत्व ही क्षय कहलाता है। **(ध. ७/९२)**

६. **प्रश्न : सदवस्थारूप उपशम किसे कहते हैं ?**

उत्तर : अनुदय प्राप्त सर्वघाती स्पर्धकों की सदवस्था उपशम संज्ञा कहलाती है, क्योंकि उनकी शक्ति अभी प्रकट नहीं है। **(रा.वा. ३)**

सत्ता में स्थित आगामी सर्वघाती कर्मस्पर्धकों को असमय में उदय में नहीं आने देना सदवस्था रूप उपशम कहलाता है। **(सुख बो. त. वृ. ८१)**

७. प्रश्न : स्पर्धक किसे कहते हैं ?

उत्तर : सर्व जीवराशि के अनन्तगुणे प्रमाण ऐसे सर्व जघन्य अविभागी परिच्छेदों की राशि को एक वर्ग कहते हैं। इसी प्रकार सर्व जघन्य अविभागी परिच्छेदों के सर्व जीवराशि से अनन्तगुणे प्रमाण राशि रूप वर्ग बनाने चाहिए।

इस समगुण वाले समसंख्यक वर्गों के समूह को वर्गणा कहते हैं। पुन: एक अविभागी परिच्छेद अधिक गुणवालों के, सर्व जीवराशि के अनन्तगुणे प्रमाण राशि रूप वर्ग बनाने चाहिए। उन वर्गों के समूह की वर्गणा बनाना चाहिए। इस प्रकार एक-एक अविभाग परिच्छेद बढ़ाकर वर्ग और वर्गसमूह रूप वर्गणाएँ तब तक बनानी चाहिए जब तक एक अधिक अविभागी प्रतिच्छेद मिलता जाय। इस क्रम से वृद्धि और हानि वाली वर्गणाओं के समुदाय को एक स्पर्धक कहते हैं। **(रा.वा. ४)**

८. प्रश्न : स्पर्धक कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : स्पर्धक दो प्रकार के होते हैं -

(१) सर्वघाती स्पर्धक (२) देशघाती स्पर्धक।

सर्वघाती स्पर्धक - आत्मा के सर्व प्रकार के गुणों को आच्छादन करने वाली जो कर्मों की शक्तियाँ हैं उनको सर्वघाती स्पर्धक कहते हैं। **(वृ.द्र.सं.टी. ३४)** (जैसे केवल ज्ञानावरण कर्म के सर्वघाती स्पर्धकों का उदय रहने से किञ्चित् भी केवलज्ञान प्रकट नहीं होता है।)

देशघाती स्पर्धक - विवक्षित एकदेश से जो आत्मा के गुणों का आच्छादन करने वाली कर्म-शक्तियाँ हैं वे देशघाती स्पर्धक कहलाती हैं। **(बृ.द्र.सं.टी. ३४)** जैसे मतिज्ञानावरण कर्म के देशघाती स्पर्धकों का उदय रहते हुए मतिज्ञान प्रगट रहता है। **(रा.वा. ५)**

९. प्रश्न : एक उदयस्थान (समय) में कितने स्पर्धक होते हैं ?

उत्तर : एक उदयस्थान में सिद्धों के अनन्तवें भाग और अभव्यराशि से अनन्तगुणे स्पर्धक होते हैं। **(रा.वा. ४)**

१०. प्रश्न : क्षायोपशमिक ज्ञान कौन-कौन से हैं एवं इनमें क्षायोपशमिकपना क्यों है ?

उत्तर : क्षायोपशमिक ज्ञान चार हैं -

(१) मतिज्ञान (२) श्रुतज्ञान (३) अवधिज्ञान (४) मन:पर्यय ज्ञान।

वीर्यान्तराय और मति-श्रुत ज्ञानावरण के सर्वघाती स्पर्धकों का उदय-क्षय एवं आगामी उदय में आने वाले उन्हीं का (सर्वघाती स्पर्धकों का) सदवस्था रूप उपशम होने पर तथा देशघाती स्पर्धकों का उदय

होने पर मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान होता है। इसी प्रकार अवधिज्ञान एवं मन:पर्यय के भी स्वावरण क्षयोपशम के भेद से क्षायोपशमिकपना जानना चाहिए। **(रा.वा. ५)** देशघाती स्पर्धकों के अनुभाग तारतम्य (हीनाधिकता) से क्षायोपशमिक ज्ञान में भेद होता है। जैसे किसी का मतिज्ञान अधिक और किसी का कम होता है। **(रा.वा. ५)** [**नोट :** मतिज्ञान आदि के लक्षण देखें **(१/९)**]

११. प्रश्न : क्षायोपशमिक अज्ञान कौन-कौन से हैं एवं उनमें क्षायोपशमिकत्व क्यों है ?

उत्तर : क्षायोपशमिक अज्ञान तीन हैं -

(१) मति अज्ञान (२) श्रुत अज्ञान (३) विभंगावधि ज्ञान। इनमें मतिज्ञान आदि के समान ही क्षायोपशमिकत्व समझना चाहिए। इनमें ज्ञान एवं अज्ञान का विभाग मिथ्यात्व कर्म के उदय और अनुदय से होता है। **(रा.वा. ६)** आवरण के रहते हुए भी आवरणीय ज्ञान का एकदेश जहाँ पर उदय में पाया जाता है उसी भाव को क्षायोपशमिक नाम दिया गया है। इसलिए अज्ञान को क्षायोपशमिकपना विरोध को प्राप्त नहीं होता। अथवा - ज्ञान के विनाश का नाम क्षय है उस क्षय के उपशम का नाम एकदेश क्षय है। उसकी क्षयोपशम संज्ञा है। ऐसा क्षयोपशम होने पर जो ज्ञान या अज्ञान उत्पन्न होता है उसी को क्षयोपशम लब्धि कहते हैं। **(ध. ७/८७)**

नोट : अज्ञानों का विशेष देखें **(१/३२)**

१२. प्रश्न : क्षायोपशमिक दर्शन कौन-कौन से हैं ?

उत्तर : क्षायोपशमिक दर्शन तीन हैं -

(१) चक्षुदर्शन (२) अचक्षु दर्शन (३) अवधि दर्शन। **(रा.वा. ७)** ये तीनों अपने-अपने आवरणकर्म के क्षयोपशम से होने के कारण क्षायोपशमिक हैं।

१३. प्रश्न : चक्षुदर्शन किसे कहते हैं ?

उत्तर : अनादि कर्मबन्ध के आधीन होकर चक्षुदर्शनावरण के क्षयोपशम से तथा बहिरंग द्रव्येन्द्रिय के आलम्बन से मूर्त्तिक पदार्थ के सत्ता सामान्य को एकदेश से विकल्प रहित जो देखता है वह चक्षुदर्शन है। **(बृ.द्र.सं. ४ टी.)** चक्षुरिन्द्रिय सम्बन्धी जो सामान्य प्रकाश-आभास अथवा देखना, अथवा गृहीत विषय का प्रकाश मात्र जिसके द्वारा हो - जिसके द्वारा वह देखा जाय अथवा उसके कर्त्ता, देखने वाले को चक्षु दर्शन कहते हैं। **(गो. जी. ४८४)** अपने आवरण के क्षयोपशम से और चक्षुरिन्द्रिय के आलम्बन से मूर्त्त द्रव्य को विकलरूप से जो सामान्य अवबोध करता है वह चक्षुदर्शन है। **(प.का.ता. ४२)** चक्षुरिन्द्रिय सम्बन्धी ज्ञान के उत्पन्न करने वाले प्रयत्न से संयुक्त स्वसंवेदन के होने पर 'मैं रूप देखने में समर्थ हूँ' इस प्रकार की सम्भावना के हेतु को चक्षुदर्शन कहते हैं। **(ध. ६/३३)** चाक्षुष विज्ञान को उत्पन्न करने वाला जो स्वसंवेदन है वह चक्षु दर्शन है। **(ध. १३/३५५)** चक्षु के द्वारा वस्तु का सामान्य ग्रहण चक्षुदर्शन कहलाता है। **(क.प्र. ४४)**

१४. प्रश्न : अचक्षुदर्शन किसे कहते हैं ?

उत्तर : चक्षु के सिवाय दूसरी इन्द्रियों के द्वारा अर्थात् चार इन्द्रियों और मन के द्वारा जो पदार्थ का सामान्य रूप ग्रहण होता है उसको अचक्षुदर्शन कहते हैं। **(गो. जी. ४८४)** स्पर्शन, रसना, घ्राण तथा कर्ण इन्द्रिय के आवरण के क्षयोपशम में और अपनी-अपनी बहिरंग द्रव्येन्द्रिय के आलम्बन से मूर्त्तिक पदार्थ के सत्ता सामान्य को परोक्ष रूप एकदेश से जो विकल्परहित देखता है वह अचक्षुदर्शन है। इसी प्रकार मन: इन्द्रिय के आवरण के क्षयोपशम में तथा सहकारी कारण रूप जो आठ पाँखड़ी के कमल के आकार रूप द्रव्य मन है, उसके अवलम्बन से मूर्त्त तथा अमूर्त्त समस्त वस्तुओं में विद्यमान सत्ता सामान्य को परोक्ष रूप से विकल्प रहित जो देखता है वह मानस अचक्षुदर्शन है। **(वृ.द्र.सं.टी.४)** अपने-अपने आवरण कर्म के क्षयोपशम से तथा चक्षु के अतिरिक्त शेष चार इन्द्रियों और मन के अवलम्बन से मूर्त्त-अमूर्त्त द्रव्यों को निर्विकल्प रूप से जो सामान्यत: अवबोध करता है वह अचक्षुदर्शन है। **(पं.का.ता. ४२)**

चक्षु इन्द्रिय के अतिरिक्त शेष चार इन्द्रियों के और मन के दर्शन को अचक्षुदर्शन कहते हैं। **(ध. ६/३३)** चक्षु के अतिरिक्त शेष स्पर्शनादि इन्द्रियों तथा मन के द्वारा अपने-अपने विषयभूत वस्तु का सामान्य प्रकाश अचक्षुदर्शन है। **(क. प्र. ४४)**

१५. प्रश्न : चक्षु के अतिरिक्त चार इन्द्रिय और मन विषयक, इन दर्शनों के लिए अचक्षुदर्शन ऐसा एक निर्देश किसलिए किया है ?

उत्तर : इन पाँचों दर्शनों की परस्पर प्रत्यासत्ति जतलाने के लिए एक निर्देश किया है। विषयी से पृथग्भूत अतएव युगपत् स्व और पर को प्रत्यक्ष होने वाले ऐसे चक्षुदर्शन के विषय के समान उन पाँचों दर्शनों के विषय का दूसरों के लिए ज्ञान कराने का कोई उपाय नहीं है। इसकी समानता पाँचों ही दर्शनों में है। यही उनमें प्रत्यासत्ति है। **(ध. १५/१०)**

१६. प्रश्न : अवधिदर्शन किसे कहते हैं ?

उत्तर : अवधिज्ञान होने के पूर्व समय में अवधि के विषयभूत परमाणु से लेकर महास्कन्ध पर्यन्त मूर्त्त द्रव्य का जो सामान्य रूप से प्रत्यक्ष देखना-ग्रहण-प्रकाश-अवभासन होता है उसको अवधिदर्शन कहते हैं, इस अवधिदर्शन के अनन्तर प्रत्यक्ष अवधिज्ञान होता है। **(गो.जी. ४८५)** आत्मा अवधिदर्शनावरण के क्षयोपशम में मूर्त्त वस्तु में सत्ता सामान्य को एकदेश प्रत्यक्ष से विकल्परहित जो देखता है वह अवधिदर्शन है। **(वृ.द्र.सं.टी. ४)** अपने आवरण के क्षयोपशम से ही मूर्त्त द्रव्य को अविकल्परूप से जो सामान्यत: अवबोध करता है वह अवधिदर्शन है। **(प.का.त.४२)**

१७. प्रश्न : क्षायोपशमिक लब्धियाँ कौन-कौन सी हैं ?

उत्तर : क्षायोपशमिक लब्धियाँ पाँच हैं।

(१) दान (२) लाभ (३) भोग (४) उपभोग (५) वीर्य।

ये लब्धियाँ अपने-अपने आवरण के क्षयोपशम से होती हैं। यथा - दानान्तरायादि कर्म के

सर्वघाती स्पर्धकों का क्षयोपशम होने पर और देशघाती स्पर्धकों के उदय का सद्भाव होने पर ये पाँचों लब्धियाँ होती हैं। **(रा.वा. ८)**

१८. प्रश्न : क्षायोपशमिक सम्यक्त्व किसे कहते हैं ?

उत्तर : अनन्तानुबन्धी चतुष्क, मिथ्यात्व और सम्यक् मिथ्यात्व इन छह प्रकृतियों का उदयाभावी क्षय और आगामी काल में उदय में आने वाले इन्हीं के स्पर्धकों का सदवस्थारूप उपशम तथा सम्यक्त्व प्रकृति रूप देशघातिस्पर्धकों का उदय होने पर जो तत्त्वार्थ श्रद्धान होता है वह क्षायोपशमिक सम्यक्त्व है। **(रा.वा. ८)**

क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन की तुलना वैडूर्यरत्न की ज्योति (रंगयुक्त प्रकाश) के साथ की गयी है **(व.चा.११/२७) नोट** - इसको वेदक सम्यक्त्व भी कहते हैं।

१९. प्रश्न : वेदक सम्यक्त्व किसे कहते हैं ?

उत्तर : सम्यक्त्व मोहनीय प्रकृति के उदय से पदार्थों का जो चल, मलिन और अगाढ़ रूप श्रद्धान होता है उसे वेदक सम्यग्दर्शन कहते हैं। **(ध. १/३९८)** जिसकी सम्यक्त्व संज्ञा है ऐसी दर्शन-मोहनीय कर्म की भेद रूप प्रकृति के उदय से यह जीव वेदक सम्यग्दृष्टि कहलाता है। **(ध.१/१७२)** सम्यक्त्व का एकदेशघात रूप से वेदन कराने वाली सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से उत्पन्न होने वाला वेदक सम्यक्त्व क्षायोपशमिक है। **(ध. १/१७३)** सम्यक्त्व प्रकृति रूप देशघातिस्पर्धकों की अनन्तगुणी हानि होने से उदय में आये हुए अति-अल्प देशघातिपने की अपेक्षा उपशान्त हुए उनका चूंकि क्षयोपशम नाम दिया है इसलिए उस क्षयोपशम से उत्पन्न जीव परिणाम को क्षयोपशम लब्धि कहते हैं, उसी क्षयोपशम लब्धि से वेदक सम्यक्त्व होता है। **(ध. ७/१०८)**

२०. प्रश्न : वेदक सम्यक्त्व को सम्यक्त्व-प्रकृति का उदय होने से औदयिक कहना चाहिए, क्षायोपशमिक नहीं ?

उत्तर : यथास्थित अर्थ के श्रद्धान को घात करने वाली शक्ति जब सम्यक्त्व प्रकृति के स्पर्धकों में क्षीण हो जाती है, तब उनकी क्षायिक संज्ञा है। क्षीण हुए स्पर्धकों के उपशम को अर्थात् प्रसन्नता को क्षयोपशम कहते हैं। उसमें उत्पन्न होने से वेदक सम्यक्त्व क्षायोपशमिक है। **(ध. ५/२००)** सम्यक्त्व प्रकृति का तत्त्वार्थ श्रद्धान में मल उत्पन्न करने मात्र में व्यापार होता है। इसी कारण से वह देशघाती है। इस प्रकार सम्यक्त्व प्रकृति के उदय को अनुभवन करने वाले जीव के होने वाला तत्त्वार्थ श्रद्धान वेदक सम्यक्त्व कहा जाता है। इसी का नाम क्षायोपशमिक सम्यक्त्व है, क्योंकि दर्शनमोह के सर्वघातिस्पर्धकों का उदयाभाव रूप क्षय होने पर तथा देशघातिस्पर्धक रूप सम्यक्त्व प्रकृति का उदय होने पर और उसी के ऊपर के अनुदय प्राप्त निषेकों का सदवस्था रूप उपशम होने पर वेदक सम्यक्त्व होता है। **(गो.जी.जी.२५)**

२१. प्रश्न : चल दोष किसे कहते हैं ?

उत्तर : अपने ही नाना विषयों में, आप्त-आगम और पदार्थ विषयक श्रद्धान के विकल्पों में जो चलित होता है उसे चल कहते हैं। जैसे अपने द्वारा कराये (बनवाये) गये जिनबिम्ब आदि में 'ये मेरे देव हैं' इस प्रकार अपनेपने से और दूसरे के द्वारा कराये गये जिनबिम्ब आदि में 'यह पराया है' इस प्रकार भेद करने से चल दोष कहा है। इसमें दृष्टान्त देते हैं कि जल की नाना तरंगों में जल एक ही अवस्थित है तथापि नाना रूप से चल है। उसी प्रकार मोह से अर्थात् सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से श्रद्धान भ्रमण रूप चेष्टा करता है। **(गो.जी.जी. २५)**

२२. प्रश्न : मल दोष किसे कहते हैं ?

उत्तर : जैसे मल के योग से शुद्ध स्वर्ण मलिन हो जाता है वैसे ही सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से अपने माहात्म्य को न पाकर मल के संग से मलिन होता है। **(गो.जी.जी. २५)**

२३. प्रश्न : अगाढ़ दोष किसे कहते हैं ?

उत्तर : स्थान अर्थात् आप्त-आगम और पदार्थ की श्रद्धान रूप अवस्था में ही रहते हुए भी जो काँपता है, स्थिर नहीं रहता, उसे अगाढ़ कहते हैं। जैसे सब अर्हन्त परमेष्ठियों में अनन्त शक्तिपना समान रूप से स्थित होते हुए भी 'इस शान्तिक्रिया में शान्तिनाथ भगवान समर्थ हैं' 'इस विघ्न विनाश आदि क्रिया में पार्श्वनाथ भगवान समर्थ हैं' इत्यादि प्रकार से रुचि में शिथिलता होने से तीव्र रुचि से रहित होता है। जैसे - वृद्ध पुरुष के हाथ की लकड़ी शिथिल होने से अगाढ़ होती है वैसे ही वेदक सम्यक्त्व भी अगाढ़ होता है। **(गो.जी.जी. २५)**

२४. प्रश्न : चारित्र किसे कहते हैं ?

उत्तर : अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान इन बारह कषायों का उदयाभावी क्षय होने से और इन्हीं के सदवस्थारूप उपशम होने से तथा चार संज्वलन कषायों में से किसी एक देशघाती प्रकृति के उदय होने पर और नव नोकषायों का यथासम्भव उदय होने पर जो संसार से पूर्ण निवृत्ति रूप परिणाम होता है वह क्षायोपशमिक चारित्र है। **(सर्वा. २६३)**

२५. प्रश्न : संयमासंयम किसे कहते हैं ?

उत्तर : अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यान रूप आठ कषायों के स्पर्धकों का उदयाभावी क्षय तथा आगामी काल में उदय में आने वाले सर्वघातिस्पर्धकों का सदवस्थारूप उपशम, प्रत्याख्यान कषाय का उदय, संज्वलन कषाय के देशघातिस्पर्धकों का उदय और यथासम्भव नोकषाय का उदय होने पर विरत-अविरत (संयमासंयम) परिणाम उत्पन्न करने वाला क्षायोपशमिक संयमासंयम होता है। **(रा.वा.८)**

चार संज्वलन और नव नोकषायों के क्षयोपशम संज्ञा वाले देशघातिस्पर्धकों के उदय से संयमासंयम की उत्पत्ति होती है इसीलिए क्षयोपशम लब्धि से संयमासंयम होता है। **(ध. ७/९४)**

२६. प्रश्न : चार संज्वलन और नव नोकषाय इन तेरह प्रकृतियों के देशघातिस्पर्धकों का उदय तो संयम की प्राप्ति में निमित्त है वह संयमासंयम का निमित्त कैसे हो सकता है?

उत्तर : नहीं, क्योंकि प्रत्याख्यानावरण के सर्वघातिस्पर्धकों के उदय से जिन चार संज्वलनादिक के देशघातिस्पर्धकों का उदय प्रतिहत हो गया है, उस उदय के संयमासंयम को छोड़कर संयम उत्पन्न करने का सामर्थ्य नहीं होता। **(ध. ७/९४)**

२७. प्रश्न : संज्ञित्व, सम्यग्मिथ्यात्व तथा योग का ग्रहण करना चाहिए क्योंकि वे भी क्षायोपशमिक भाव हैं।

उत्तर : ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि ज्ञान, सम्यक्त्व और लब्धि के ग्रहण करने से इनका ग्रहण हो ही जाता है। जैसे - क्षायोपशमिक संज्ञित्व भाव नोइन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम की अपेक्षा रखने के कारण मतिज्ञान में अन्तर्भूत हो जाता है। सम्यग्मिथ्यात्व यद्यपि दूध-पानी के समान उभयात्मक है फिर भी सम्यक्त्वपना उसमें विद्यमान होने से सम्यक्त्व में अन्तर्भूत हो जाता है। वीर्य लब्धि के ग्रहण से योग का ग्रहण हो जाता है। अथवा 'च' शब्द से समुच्चय से योग आदि का ग्रहण हो जाता है। **(रा.वा.९)**

२८. प्रश्न : पंचेन्द्रियत्व समान होने पर भी उनमें संज्ञित्व-असंज्ञित्व का भेद क्यों होता है ?

उत्तर : संज्ञिजाति नामकर्म विशेष के उदय के बल का लाभ होने पर और नोइन्द्रियावरणकर्म के क्षयोपशम विशेष की अपेक्षा से संज्ञी होता है और उसके अभाव में संज्ञित्व नहीं होता है, यह विशेषता है। जैसे एकेन्द्रिय जाति नाम-कर्म के उदय विशेष की अपेक्षा एकेन्द्रियादि के क्षयोपशम होता है, उससे एकेन्द्रियादि के भेद होते हैं। **(रा.वा.९)**

औदयिक भावों का कथन करते हैं -

गतिकषायलिङ्ग-मिथ्यादर्शनाज्ञाना-संयतासिद्धलेश्याश्चतुश्चतुस्त्र्ये-कैकैकैकषड्भेदाः ॥६॥

गति-कषाय-लिङ्ग-मिथ्यादर्शन-अज्ञान-असंयत-असिद्ध-लेश्याः चतुः-चतुःत्रि-एक-एक-एक-एक-षड्-भेदाः।

(गतिकषायलिङ्गमिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्धलेश्याः) गति, कषाय, लिङ्ग, मिथ्यादर्शन, अज्ञान, असंयत, असिद्ध और लेश्या इनके क्रमशः (चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैकषड् भेदाः) चार, चार, तीन, एक, एक, एक, एक और छह भेद हैं।

अर्थ - गति, कषाय, लिङ्ग मिथ्यादर्शन, अज्ञान, असंयत, असिद्ध और लेश्या इनके क्रमशः चार, चार, तीन, एक, एक, एक, एक और छह भेद जानने चाहिए।

१. प्रश्न : औदयिक भाव के कितने भेद हैं ?

उत्तर : औदयिक भाव स्थान की अपेक्षा आठ प्रकार का है -

(१) गति (२) कषाय (३) लिङ्ग (४) मिथ्यादर्शन (५) असिद्धत्व (६) अज्ञान (७) लेश्या (८) असंयम। तथा -

विकल्प की अपेक्षा इक्कीस भेद हैं -

चार गति, चार कषाय, तीन लिङ्ग, मिथ्यादर्शन, अज्ञान, असंयत, असिद्धत्व और छह लेश्या। **(ध. ५/१८९)**

२. प्रश्न : गति को औदयिक क्यों कहा है ?

उत्तर : नरक-तिर्यञ्च-मनुष्य और देव, ये चारों गतियाँ अपने-अपने नाम कर्म के उदय से होती हैं इसलिए इन्हें औदयिक भाव कहा है। जैसे नरकगति नामकर्म के उदय से नारकभाव होता है, तिर्यञ्चगति नामकर्म के उदय से तिर्यञ्च भाव होता है, आदि **(रा.वा. १)**

३. प्रश्न : कषाय को औदयिक क्यों कहा है ?

उत्तर : कषाय नामक चारित्रमोह के उदय से होने वाली क्रोधादिरूप कलुषता कषाय कहलाती है। यह आत्मा को कष देती है। क्रोध, मान, माया, लोभ ये चारों कषायें एवं इनके उत्तरभेद चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से होते हैं इसलिए इन्हें औदयिक कहा है। **(रा.वा. २)**

४. प्रश्न : वेद किसे कहते हैं ?

उत्तर : वेद के उदय से उत्पन्न अभिलाषा विशेष को वेद कहते हैं। **(रा.वा. ३)** वेद कर्म की उदीरणा होने पर यह जीव नाना प्रकार के बाल भाव अर्थात् चांचल्य को प्राप्त होता है और स्त्रीभाव, पुरुष भाव और नपुंसक भाव का वेदन करता है। अतएव वेद कर्म के उदय से होने वाले भाव को वेद कहते हैं। **(पं. सं. प्राकृत १/१०१)** जो वेदा जाय, अनुभव किया जाय उसे वेद कहते हैं। **(ध. १/१४१)** आत्मा की चैतन्य रूप पर्याय में सम्मोह अर्थात् राग-द्वेष रूप चित्तविक्षेप के उत्पन्न होने को मोह कहते हैं। यहाँ पर मोह शब्द वेद का पर्यायवाची है। **(ध. ७/१४२)** आत्मा की चैतन्य रूप पर्याय में मैथुन रूप चित्त विक्षेप के उत्पन्न होने को वेद कहते हैं। **(ध. १/१४२)** वेदन करने को वेद कहते हैं। **(ध. १/३४२)** मोहनीय के द्रव्यकर्म स्कन्ध को अथवा मोहनीय कर्म से उत्पन्न होने वाले जीव के परिणाम को वेद कहते हैं। **(ध. ५/२२२)**

५. प्रश्न : वेद कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : वेद मार्गणा के अनुवाद से स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद और अपगत वेद वाले जीव होते हैं। **(ध. १/३४२)**

लिंग तीन प्रकार का होता है।

(१) स्त्री वेद (२) पुरुष वेद (३) नपुंसक वेद। **(सर्वा. २६५)**

ये तीनों वेद दो-दो प्रकार के हैं-

(१) द्रव्य वेद (२) भाव वेद।

वेद के नौ भेद हैं -

(१) द्रव्य पुरुष-भाव पुरुष (२) द्रव्य पुरुष- भाव स्त्री (३) द्रव्य पुरुष - भाव नपुंसक (४) द्रव्य स्त्री-भाव स्त्री (५) द्रव्य स्त्री-भाव पुरुष (६) द्रव्य स्त्री-भाव नपुंसक (७) द्रव्य नपुंसक-भाव नपुंसक (८) द्रव्य नपुंसक-भाव पुरुष (९) द्रव्य नपुंसक-भाव स्त्री। **(शा.सा.स. द्रव्या. ३५-३६)**

नोट - आदि के तीन वेद वाले मोक्ष जा सकते हैं।

६. प्रश्न : द्रव्य से पुरुष वेदी के भाव स्त्री वेद पाया जाता है (यह किस प्रमाण से जाना जाता है।)

उत्तर : मनुष्यनियों के स्त्रीवेद और अपगतवेद स्थान भी होता है। यहाँ भाववेद से प्रयोजन है, द्रव्यवेद से नहीं। इसका कारण यह है कि यदि यहाँ द्रव्य वेद से प्रयोजन होता तो अपगतवेद रूप स्थान नहीं बन सकता था, क्योंकि द्रव्यवेद चौदहवें गुणस्थान के अन्त तक होता है। परन्तु 'अपगतवेद भी होता है' इस प्रकार वचन निर्देश नौवें गुणस्थान के अवेद भाग से किया गया है। **(ध. २/५१५)** इससे प्रतीत होता है कि यहाँ भाववेद से प्रयोजन है द्रव्यवेद से नहीं। देवों और नारकियों की उत्कृष्ट आयु के बन्ध का तीनों वेदों के साथ विरोध नहीं है। यहाँ भाव-वेद का ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि (१) द्रव्यवेद का ग्रहण करने पर द्रव्य स्त्रीवेद के साथ भी नारकियों की उत्कृष्ट आयु के बंध का प्रसंग आता है। परन्तु उसके साथ नारकियों की उत्कृष्ट आयु के बन्ध होता नहीं है, क्योंकि पाँचवीं पृथिवी तक सिंह और छठी पृथिवी तक स्त्रियाँ जाती हैं इस सूत्र के साथ विरोध आता है। देवों के भी उत्कृष्ट आयु द्रव्य स्त्रीवेद के साथ नहीं बँधती, क्योंकि अन्यथा '(अच्युत कल्प से ऊपर) नियमत: निर्ग्रन्थ लिंग से ही उत्पन्न होते हैं' इस सूत्र के साथ विरोध आता है और द्रव्य स्त्रियों के निर्ग्रन्थता सम्भव नहीं है। **(ध. ११/११४)**

७. प्रश्न : किन-किन जीवों के द्रव्य एवं भाव वेद समान या असमान होते हैं ?

उत्तर : द्रव्य एवं भाव दोनों प्राय: प्रचुररूप से देव-नारकियों में तथा सर्व ही भोगभूमिज मनुष्य-तिर्यञ्चों में समान ही होते हैं। परन्तु क्वचित् कर्मभूमिज मनुष्य व तिर्यञ्च इन दोनों गतियों में विषम या विसदृश भी होते हैं, इस प्रकार की विषमता होने से वहाँ द्रव्य और भाववेद का कोई नियम नहीं है। क्योंकि आगम में नवें गुणस्थान के सवेद भाग पर्यन्त द्रव्य से पुरुष वेद एवं भाव से तीनों वेद हैं, ऐसा कथन किया है। **(गो. जी. जी. २७१)**

८. प्रश्न : वेद औदयिक भाव क्यों है ?

उत्तर : स्त्री आदि की अभिलाषा चूँकि चारित्र मोह के विकल्प नोकषाय के भेद स्त्री, पुरुष एवं नपुंसक वेद के उदय से होती है, इसलिए वेद औदयिक भाव है। **(रा.वा. ३)**

९. प्रश्न : मिथ्यादर्शन औदयिक क्यों है ?

उत्तर : दर्शनमोह के उदय से तत्त्वार्थ में अश्रद्धान परिणाम मिथ्यादर्शन है। तत्त्वरुचि स्वभाव वाले आत्मा के श्रद्धान के प्रतिबन्धक कारण दर्शनमोह के उदय से, तत्त्वार्थ का निरूपण करने पर भी तत्त्व में श्रद्धान उत्पन्न नहीं होता इसलिए मिथ्यादर्शन औदयिक भाव है। **(रा.वा.४)**

नोट : मिथ्यादर्शन का लक्षण देखें **(८/१)**

१०. प्रश्न : अज्ञान किसे कहते हैं, एवं वह औदयिक क्यों है ?

उत्तर : ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से अज्ञान होता है। जैसे - प्रकाशमान सूर्य का तेज सघन मेघों द्वारा तिरोहित हो जाने पर अभिव्यक्त नहीं होता है, उसी प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से ज्ञानस्वभावी आत्मा के ज्ञान गुण की अनभिव्यक्ति होती है, वह अज्ञान है और वह अज्ञानभाव ज्ञानावरण कर्म के उदय से होता है इसलिए औदयिक है। **(रा.वा. ५)**

११. प्रश्न : जैसे अज्ञान औदयिक है वैसे ही (अदर्शन, निद्रानिद्रा) शरीरादि भी औदयिक हैं उनका यहाँ ग्रहण क्यों नहीं किया है ?

उत्तर : यह आत्मपरिणामों का अधिकार है, इसलिए शरीरादि औदयिक होने पर भी पुद्गल-विपाकी होने से उनका यहाँ ग्रहण नहीं किया है। **(रा.वा. ८)**

१२. प्रश्न : यदि पुद्गलविपाकी का ग्रहण न किया तो जीवविपाकी जाति आदि का तो ग्रहण करना चाहिए ?

उत्तर : मिथ्यादर्शन में दर्शनावरण कर्म के उदय से होने वाले अदर्शन, निद्रा-निद्रा आदि का अन्तर्भाव सामान्यदर्शन का आवरक होने से हो जाता है। लिङ्ग के सहचारी होने से हास्य, रति आदि छह नोकषायों का अन्तर्भाव लिङ्ग में हो जाता है क्योंकि जैसे सहचर होने से नारद का ग्रहण करने से पर्वत का ग्रहण हो जाता है। **(रा.वा. ९-१०)** गति अघाती कर्मोदय का उपलक्षण है। जैसे-कौओं से घृत की रक्षा करना, इसमें 'काक' का ग्रहण उपघातक का उपलक्षण है। उसी प्रकार अघातिया नाम कर्म के उदय से होने वाले गति रूप औदयिक भाव से नामकर्म के उदय से होने वाली जाति आदि तथा आयु, गोत्र और वेदनीय कर्म के उदय से होने वाले जीवविपाकी सर्व भाव गृहीत हो जाते हैं। **(रा.वा. ११)**

१३. प्रश्न : तत्त्वार्थ के अश्रद्धान रूप मिथ्यादर्शन में दर्शनावरण का अन्तर्भाव कैसे हो सकता है ?

उत्तर : यद्यपि मिथ्यादर्शन तत्त्वार्थ के अश्रद्धान रूप है तथापि अदर्शन सामान्य में दर्शनाभाव रूप दोनों प्रकार के अदर्शनों का अभाव ले लिया जाता है। यह भी एक विशेष है, दूसरा विशेष यह है कि अदर्शन, अप्रतिपत्ति और मिथ्यादर्शन एकार्थवाची हैं। **(रा.वा. ९)**

१४. प्रश्न : कौन-कौन सा अज्ञान औदयिक है ?

उत्तर : एकेन्द्रिय के रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्रेन्द्रियावरण के सर्वघातिस्पर्धकों का उदय होने से रस, गन्ध, रूप, शब्द का जो अज्ञान रहता है वह औदयिक अज्ञान है। इसी प्रकार द्वीन्द्रियादि में भी जानना चाहिए। शुक-सारिकादि (तोता-मैनादि) को छोड़कर पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चों में तथा कुछ तिर्यञ्चों तथा मनुष्यों में अक्षर श्रुतावरण के सर्वघातिस्पर्धकों का उदय होने से अक्षर श्रुतज्ञान नहीं होता। वह अक्षर श्रुतज्ञान औदयिक है। नोइन्द्रियावरण कर्म के सर्वघातिस्पर्धकों का उदय होने पर जीव हिताहित की परीक्षा करने में असमर्थ होता है, वह असंज्ञित्व अज्ञान औदयिक भाव में गर्भित है। इसी प्रकार अवधिज्ञानावरण, मन:पर्यय ज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण कर्म के उदय से होने वाला अज्ञान औदयिक है **(रा.वा.५)**

१५. प्रश्न : असंयम भाव औदयिक क्यों है ?

उत्तर : चारित्र मोह के उदय से होने वाले हिंसादि पापों से एवं इन्द्रिय विषयों से अनिवृत्ति परिणाम असंयम है। चारित्रमोह कर्म के सर्वघातिस्पर्धकों का उदय होने से प्राणिघात तथा इन्द्रियों के विषयों में द्वेष एवं अभिलाषा रूप परिणामों की निवृत्ति नहीं होना असंयम भाव है। यह चारित्रमोह के उदय से होता है इसलिए औदयिक है। **(रा.वा. ६)**

१६. प्रश्न : असिद्धत्व भाव किसे कहते हैं एवं वह औदयिक क्यों है ?

उत्तर : कर्मोदय सामान्य की अपेक्षा असिद्धत्व भाव होता है। अनादि कर्मबन्ध सन्तान के कारण परतंत्र हुए आत्मा के सामान्यत: सभी कर्मों का उदय होने पर असिद्धत्व पर्याय होती है। यह कर्मों के उदय की अपेक्षा से होती है इसलिए औदयिक है। **(रा.वा. ७)** प्रत्येक जन्म में ज्ञानादि गुणों का अन्य-अन्य रूप होते रहना असिद्धता कहलाती है। **(म.पु. ४२/९३)**

१७. प्रश्न : किस-किस गुणस्थान में किन-किन कर्म निमित्तक औदयिक भाव होता है ?

उत्तर : यह असिद्धत्व पर्याय मिथ्यादृष्टि से लेकर सूक्ष्म साम्पराय नामक दसवें **(१० वें)** गुणस्थान तक आठों कर्मों के उदय की अपेक्षा से है। उपशान्तमोह और क्षीणमोह गुणस्थान में सात कर्मों के उदय की अपेक्षा से और सयोग केवली एवं अयोग केवली गुणस्थान में चार अघातिया कर्मों के उदय के कारण असिद्धत्व भाव है। **(रा.वा. ७)**

१८. प्रश्न : लेश्या किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिसके द्वारा जीव पुण्य-पाप से अपने को लिप्त करता है, उनके आधीन करता है उसको लेश्या कहते हैं। **(गो. जी. ४८९)** जिस प्रकार आमपिष्ट से मिश्रित गेरु मिट्टी के लेप द्वारा दीवाल रंगी जाती है, उसी प्रकार शुभ और अशुभ भाव रूप लेप के द्वारा जो आत्मा का परिणाम लिप्त किया जाता है, उसको लेश्या कहते हैं। **(पं.सं. १४३)** जो लिम्पन करती है उसको लेश्या कहते हैं। अथवा जो कर्मों से आत्मा को लिप्त करती है उसको लेश्या कहते हैं। **(ध. १/१५०)** अथवा, जो आत्मा और कर्म का

सम्बन्ध करने वाली है उसको लेश्या कहते हैं। यहाँ प्रवृत्ति शब्द कर्म का पर्यायवाची है। **(ध. ७/७)** आत्म प्रवृत्ति में संश्लेषण करने वाली लेश्या है। **(ध. ७/७)** जीव व कर्म का सम्बन्ध कराती है वह लेश्या कहलाती है। अभिप्राय यह है कि मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग ये लेश्या हैं। **(ध. ८/३५६)**

१९. प्रश्न : लेश्या कितने प्रकार की होती है ?

उत्तर : लेश्या दो प्रकार की होती है। (१) द्रव्य लेश्या और (२) भाव लेश्या।

दोनों प्रकार की लेश्या के छह-छह भेद हैं-

(१) शुभ लेश्या (२) अशुभ लेश्या

लेश्या छह प्रकार की होती है :

(१) कृष्ण लेश्या (२) नील लेश्या (३) कापोत लेश्या (४) पीतलेश्या (५) पद्म लेश्या (६) शुक्ल लेश्या। **(रा.वा. ८)**

अशुभ लेश्या तीन हैं - कृष्ण, नील, कापोत।

शुभ लेश्या तीन हैं - पीत, पद्म, शुक्ल। **(गो.जी.जी. ७०४)**

कषाय के छह भेद हैं - (१) तीव्रतम (२) तीव्रतर (३) तीव्र (४) मन्द (५) मन्दतर (६) मन्दतम। इन छह प्रकार के कषाय के उदय से उत्पन्न हुई परिपाटी क्रम से लेश्या भी छह होती है। **(ध. १/३९०)** जिस प्रकार कृष्णवर्ण हीन-उत्कृष्ट पर्यन्त अनन्त भेदों को लिये है उसी प्रकार छहों द्रव्य लेश्या के जघन्य से उत्कृष्ट पर्यन्त शरीर के वर्ण की अपेक्षा संख्यात, असंख्यात व अनन्त तक भेद हो जाते हैं। **(गो.जी. ४९४-९५)**

नोट : षट् लेश्याओं की परिभाषा देखें **(४/२२)**

२०. प्रश्न : द्रव्य एवं भाव लेश्या किसे कहते हैं ?

उत्तर : वर्ण नाम कर्मोदय से उत्पन्न हुआ जो शरीर का वर्ण है उसको द्रव्य लेश्या कहते हैं। **(गो.जी. ५३६)** मोहनीय कर्म के उदय, क्षयोपशम, उपशम अथवा क्षय से उत्पन्न हुआ जो जीव का स्पन्दन है वह भावलेश्या है। जीव के परिणामों एवं प्रदेशों का चंचल होना भाव लेश्या है। परिणामों का चंचल होना कषाय है और प्रदेशों का चंचल होना योग है। इसी से योग और कषाय से भावलेश्या कही है। **(गो.जी.जी. ५३६)** कषाय से अनुरंजित मन-वचन-काय की प्रवृत्ति लेश्या है। **(ध. १/१५०)**

२१. प्रश्न : लेश्या औदयिकी क्यों है ?

उत्तर : यहाँ भाव लेश्या का ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि भावलेश्या कषाय के उदय से अनुरंजित योगप्रवृत्ति का निमित्त पाकर होती है। इसलिए लेश्या औदयिकी कही जाती है। **(रा.वा. ८)**

जीव के ५३ भाव

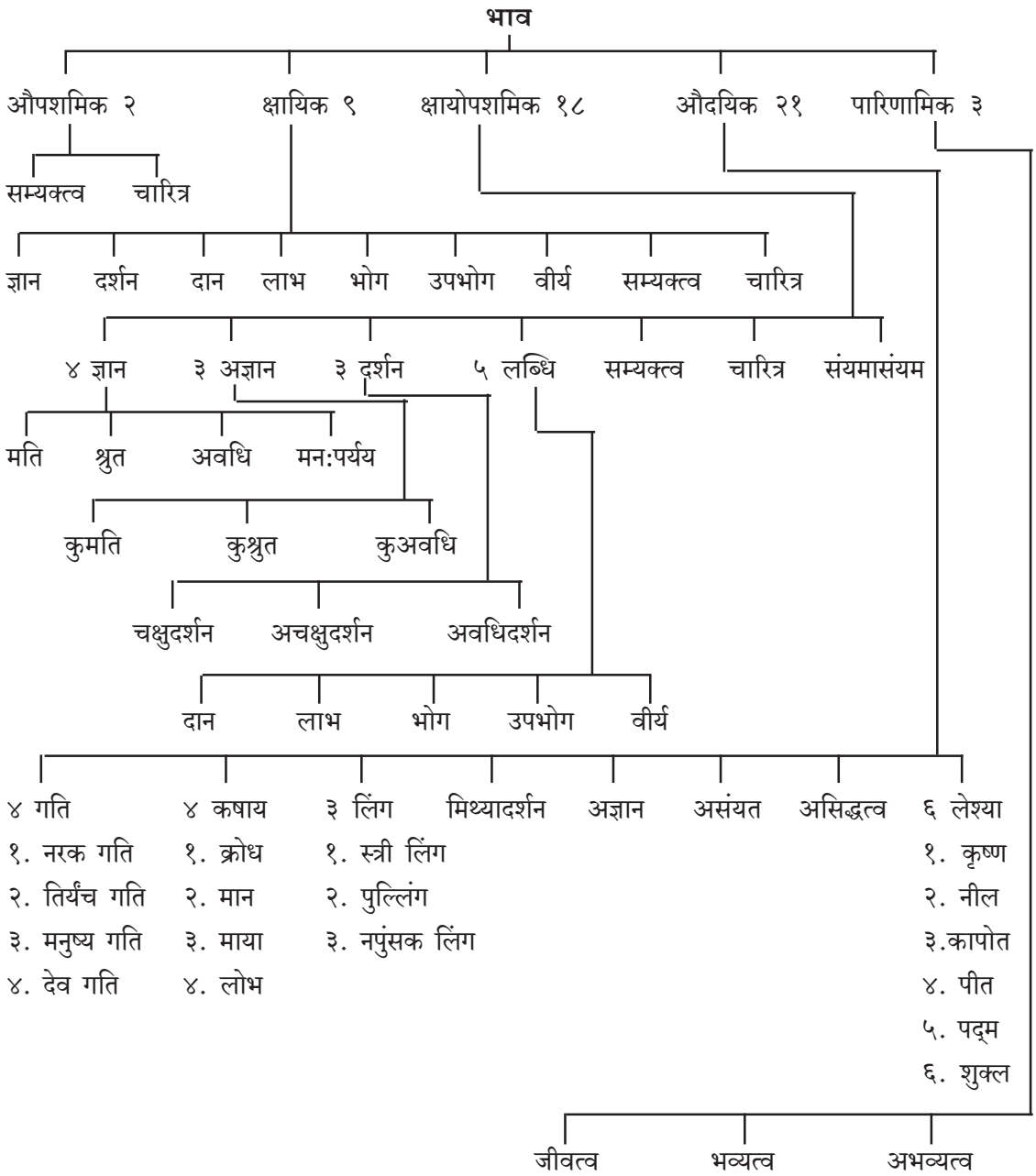
भाव
औपशमिक २
क्षायिक ९
क्षायोपशमिक १८
औदयिक २१
पारिणामिक ३
सम्यक्त्व
चारित्र
ज्ञान
दर्शन
दान
लाभ
भोग
उपभोग
वीर्य
सम्यक्त्व
चारित्र
४ ज्ञान
३ अज्ञान
३ दर्शन
५ लब्धि
सम्यक्त्व
चारित्र
संयमासंयम
मति
श्रुत
अवधि
मन:पर्यय
कुमति
कुश्रुत
कुअवधि
चक्षुदर्शन
अचक्षुदर्शन
अवधिदर्शन
दान
लाभ
भोग
उपभोग
वीर्य
४ गति
१. नरक गति
२. तिर्यंच गति
३. मनुष्य गति
४. देव गति
४ कषाय
१. क्रोध
२. मान
३. माया
४. लोभ
३ लिंग
१. स्त्री लिंग
२. पुल्लिंग
३. नपुंसक लिंग
मिथ्यादर्शन
अज्ञान
असंयत
असिद्धत्व
६ लेश्या
१. कृष्ण
२. नील
३.कापोत
४. पीत
५. पद्म
६. शुक्ल
जीवत्व
भव्यत्व
अभव्यत्व

गुणस्थान की अपेक्षा उत्तर भाव सम्बन्धी सन्दृष्टि

गुणस्थान	औपशमिक भाव के २ भेदों में से	क्षायिक भाव के ९ भेदों में से	मिश्र (क्षायोपशमिक) भाव के १८ भेदों में से	औदयिक भाव के २१ भेदों में से	पारिणामिक भाव के ३ भेदों में से	भावों की कुल संख्या
१. मिथ्यात्व	०	०	१० (३ अज्ञान, २ दर्शन व ५ लब्धि	२१	३	३४
२. सासादन	०	०	१० (उपर्युक्त)	उपर्युक्त २१ में से मिथ्यात्व के बिना शेष २०	उपर्युक्त ३ में से अभव्य के बिना शेष २	३२
३. मिश्र	०	०	१० (३ मिश्र ज्ञान २ दर्शन व ५ लब्धि	,,	२ ,,	३२
४. असंयत	उपशम सम्यक्त्व	क्षायिक सम्यक्त्व	१२ (३ मति ज्ञान आदिज्ञान ३ दर्शन ५ लब्धि व वेदक सम्यक्त्व)	,,	२ ,,	३६
५. देशसंयत	१ ,,	१ ,,	उपर्युक्त १२ व १ देश-संयम (१३)	१४ (तिर्यञ्च व मनुष्यगति, ४ कषाय ३ वेद, ३ शुभ लेश्या असिद्धत्व और अज्ञान	२ ,,	३१
६. प्रमत्तसंयत	१ ,,	१ ,,	१२ चतुर्थ गुणस्थान सम्बन्धी तथा मन:-पर्यय ज्ञान, सराग चारित्र (१४)	१३ (उपर्युक्त १४ में से एक तिर्यञ्च गति कम करने से	२ ,,	३१
७. अप्रमत्त-संयत	१ ,,	१ ,,	१४	१३ ,, ,,	२ ,,	३१
८. अपूर्व करण	उपशम सम्यक्त्व उपशम चारित्र	क्षायिक सम्यक्त्व क्षायिक चारित्र	१२ (उपर्युक्त १४ में से वेदक सम्यक्त्व और सराग चारित्र कम किया	११ (उपर्युक्त १३ में से पीत व पद्म लेश्या कम की)	२ ,,	२६
९. अनिवृत्ति-करण	२ ,,	२ ,,	१२ ,,	११ ,,	२ ,,	२६

गुणस्थान	औपशमिक भाव के २ भेदों में से	क्षायिक भाव के ९ भेदों में से	मिश्र (क्षायोपशमिक) भाव के १८ भेदों में से	औदयिक भाव के २१ भेदों में से	पारिणामिक भाव के ३ भेदों में से	भावों की कुल संख्या
१०. सूक्ष्म साम्पराय	२ ,,	२ ,,	१२ ,,	५ (मनुष्य गति लोभ, अज्ञान, असिद्धत्व व शुक्ल लेश्या १)	२ ,,	२३
११. उपशान्त कषाय	२ ,,	क्षायिक सम्यक्त्व	१२ ,,	४ (उपर्युक्त ५ में से १ लोभ को कम किया)	२ ,,	२१
१२. क्षीण कषाय	०	क्षायिक सम्यक्त्व क्षायिक चारित्र	१२ ,,	४ ,,	२ ,,	२०
१३. सयोग केवली	०	सभी	० ,,	३ (मनुष्यगति, असिद्धत्व और शुक्ल लेश्या)	२ (अभव्यत्व विना शेष)	१४
१४. अयोग केवली	०	,,	० ,,	२ (मनुष्य गति व असिद्धत्व)	२ ,,	१३
सिद्ध	०	५ (सम्यक्त्व दर्शन, ज्ञान चारित्र व वीर्य	०	०	१ जीवत्व	६

२२. प्रश्न : योगप्रवृत्ति वीर्य लब्धि रूप होने से क्षायोपशमिकी कही गई है और कषाय औदयिकी अत: लेश्या कषाय और योग रूप ही होनी चाहिए, पृथक् नहीं ?

उत्तर : यह कोई दोष नहीं है। यद्यपि योगप्रवृत्ति आत्मप्रदेश-परिस्पन्द रूप होने से क्षायोपशमिक वीर्य लब्धि में अन्तर्भूत हो जाती है और कषाय औदयिक होती है तथापि कषायोदय के तीव्रमन्द आदि तारतम्य से अनुरंजित लेश्या पृथक् ही है। यह लेश्या कृष्णादि के भेद से छह प्रकार की है। आत्मपरिणामों की अशुद्धि के तारतम्य की अपेक्षा कृष्णादि शब्दों का उपचार किया जाता है। **(रा.वा. ८)**

२३. प्रश्न : यहाँ द्रव्य वेद एवं द्रव्य लेश्या का ग्रहण क्यों नहीं किया है ?

उत्तर : यहाँ आत्मा के भावों का प्रकरण है इसलिए नामकर्म के उदय से होने वाले द्रव्यलिङ्ग

की विवक्षा नहीं है तथा इसी प्रकार द्रव्य लेश्या भी पुद्गलविपाकी शरीर नामकर्म के उदय से होती है अत: आत्मभावों के प्रकरण में उनका ग्रहण नहीं किया है। **(रा.वा. ८)**

२४. प्रश्न : ग्यारहवें आदि गुणस्थानों में शुक्ललेश्या आगम में कही है परन्तु वहाँ कषाय से अनुरंजित प्रवृत्ति नहीं है इसलिए लेश्या औदयिकी नहीं हो सकती ?

उत्तर : यह कोई दोष नहीं है। यद्यपि ग्यारहवें, बारहवें, तेरहवें गुणस्थानों में कषाय के उदय से अनुरंजित योगप्रवृत्ति नहीं है, तथापि वहाँ भूतप्रज्ञापन नय की अपेक्षा शुक्ललेश्या उपचार से कही है। जो योगप्रवृत्ति पहले कषाय से अनुरंजित थी वही यह है, इस प्रकार एकत्व उपचार का निमित्त होता है। इसलिए उपचार से औदयिक है तथा योगप्रवृत्ति का अभाव होने से अयोगकेवली अलेश्य कहे जाते हैं। **(रा.वा.८)**

जिन जीवों के कषाय क्षीण अथवा उपशान्त हो गयी है उनमें कर्मलेप का कारण योग पाया जाता है, इसलिए इस अपेक्षा से उनके (११, १२, १३वें गुणस्थान में) शुक्ल लेश्या का सद्भाव मानने में विरोध नहीं आता है। **(ध. १/३९३)**

२५. प्रश्न : आनुपूर्वी का ज्ञान कराने के लिए सूत्र में 'यथाक्रमं' पद देना चाहिए ?

उत्तर : ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि यथाक्रम यह अनुवर्त्तन पूर्व सूत्र से करके गति चार, कषाय चार आदि क्रमश: सम्बन्ध कर लेना चाहिए। **(रा.वा. ११)**

पारिणामिक भावों का कथन करते हैं -

जीवभव्याभव्यत्वानि च ॥७॥

जीव-भव्य-अभव्यत्वानि च।

अर्थ - जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व, ये तीन पारिणामिक भाव हैं।

जीवत्व - चैतन्य को जीवत्व कहते हैं। सुख-दु:ख का ज्ञान, हित का उद्यम और अहित का भय ये चैतन्य विशेष हैं। **(पं.का.स. १२५)**

भव्यत्व - जिसमें सम्यग्दर्शनादि भाव प्रकट होने की योग्यता है वह भव्यत्व भाव है।

अभव्यत्व - भव्यत्व से विपरीत अभव्यत्व भाव है।

१. प्रश्न : पारिणामिक भाव कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर - पारिणामिक भाव दो प्रकार का होता है-

(१) शुद्ध पारिणामिक भाव (२) अशुद्ध पारिणामिक भाव । **(बृ.द्र.सं. टी. १३)**

(१) साधारण पारिणामिक भाव (२) असाधारण पारिणामिक भाव।

पारिणामिक भाव तीन प्रकार का है -

(१) जीवत्व (२) भव्यत्व (३) अभव्यत्व। **(त.सू. २/७)**

२. प्रश्न : इन भावों में पारिणामिकत्व क्यों है ?

उत्तर : कर्मों के उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम की अपेक्षा न होने से इनके पारिणामिकत्व है। क्योंकि कर्मों के उदय, क्षय, उपशम और क्षयोपशम के निमित्त से आत्मा अभव्य या भव्य नहीं कहलाता है, अपितु कर्मों के उदय आदि की अपेक्षा बिना अनादि द्रव्यभवन सम्बन्ध परिणाम के निमित्त से होने वाले होने से 'पारिणामिक' इस संज्ञा को प्राप्त होते हैं। **(रा.वा. २)**

३. प्रश्न : शुद्ध एवं अशुद्ध पारिणामिक भाव किसे कहते हैं ?

उत्तर : शुद्ध पारिणामिक भाव - शुद्ध चैतन्य रूप जो जीवत्व है वह अविनश्वर होने के कारण शुद्ध द्रव्य के आश्रित होने से शुद्ध द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा शुद्ध पारिणामिक भाव कहा जाता है।

अशुद्ध पारिणामिक भाव - जो कर्म से उत्पन्न दश प्रकार के प्राणों रूप जीवत्व है वह जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व के भेद से तीन प्रकार का है और ये तीनों विनाशशील होने के कारण पर्याय के आश्रित होने से पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा अशुद्ध-पारिणामिक भाव कहे जाते हैं। **(बृ.द्र.सं.टी. १३)**

४. प्रश्न : शुद्ध और अशुद्ध भेद से पारिणामिक भाव दो प्रकार का नहीं है किन्तु पारिणामिक भाव शुद्ध ही है ?

उत्तर - यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि यद्यपि सामान्य रूप से उत्सर्ग व्याख्यान से शुद्ध पारिणामिक भाव है ऐसा कहा जाता है तथापि अपवाद व्याख्यान से अशुद्ध पारिणामिक भाव भी है। इसी कारण ''जीव....'' **(त.सू. २/७)** इस सूत्र में पारिणामिक भाव तीन प्रकार का कहा है। **(बृ.द्र.सं.टी. १३)**

५. प्रश्न : इसकी अशुद्धता किस प्रकार से है ?

उत्तर : यद्यपि ये तीनों अशुद्ध पारिणामिक भाव व्यवहार नय से संसारी जीव में है तथापि ''सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया'' इस वचन से तीनों भाव शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा नहीं हैं, और मुक्त जीवों में तो सर्वथा ही नहीं है, इस कारण उनकी अशुद्धता कही जाती है। **(बृ.द्र.सं. १३ टी.)**

शुद्ध पारिणामिक भाव ध्यान के समय ध्येय यानी ध्यान करने योग्य होता है, ध्यान रूप नहीं होता। क्योंकि ध्यान पर्याय विनश्वर है और शुद्ध पारिणामिक द्रव्यरूप होने के कारण अविनाशी है, यह सारांश है। **(बृ.द्र.सं.टी. १३)**

६. प्रश्न : जीवत्व भाव आयु कर्म के उदय से होता है अत: वह पारिणामिक नहीं है ?

उत्तर : ऐसा नहीं है क्योंकि पुद्गल द्रव्य का सम्बन्ध तो धर्म, अधर्म, आकाशादि अन्य द्रव्यों के साथ होने पर भी उनमें जीवत्व के सामर्थ्य का अभाव है। आयु पौद्गलिक द्रव्य है। यदि आयु नामक कर्म पौद्गलिक द्रव्य के सम्बन्ध से जीव का जीवत्व माना जायेगा तो उस कर्म-पुद्गल का सम्बन्ध तो

धर्मादि द्रव्यों से भी है अत: उनमें भी जीवत्व हो जायेगा। **अथवा** - यदि आयु के सम्बन्ध से जीवत्व स्वीकार करेंगे तो सिद्धों में आयु कर्म का अभाव होने से जीवत्व के अभाव का प्रसंग आयेगा। सिद्धों में आयु के उदय की अपेक्षा बिना जीवत्व है इसलिए जीवत्व पारिणामिक भाव है। **(रा.वा. ३-४)**

७. प्रश्न : ग्रन्थान्तरों में जीवत्व भाव को औदयिक कहा है, यहाँ पारिणामिक कहा है, यह कैसे ?

उत्तर : आयु आदि प्राणों का धारण करना जीवन है। वह अयोगी के अन्तिम समय से आगे नहीं पाया जाता, क्योंकि सिद्धों के प्राणों के कारणभूत आठ कर्मों का अभाव है। सिद्धों में प्राणों का अभाव अन्यथा बन नहीं सकता, इससे मालूम पड़ता है कि जीवत्व पारिणामिक नहीं है, किन्तु वह कर्म के विपाक से उत्पन्न होता है, क्योंकि जो जिसके सद्भाव और असद्भाव का अविनाभावी होता है, वह उसका है, यह सिद्ध होता है। यहाँ इस सूत्र में जो जीवत्व को पारिणामिक भाव कहा है वह प्राणों के धारण करने की अपेक्षा नहीं कहा है किन्तु चैतन्य गुण की अपेक्षा से कहा है। इसलिए यह कथन विरोध को प्राप्त नहीं होता। **(ध. १४/१३)**

८. प्रश्न : भव्य जीव किसे कहते हैं ?

उत्तर : सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र रूप पर्याय से भविष्यकाल में आत्मा परिणमन करेगी वा जिसमें सम्यग्दर्शनादि पर्याय रूप परिणमन करने की शक्ति है वह 'भव्य' इस व्यपदेश को प्राप्त होता है। **(रा.वा. ७)**

भविष्यकाल में स्वभाव-अनन्त चतुष्टयात्मक सहज ज्ञानादि गुणों रूप से होने के योग्य है वे भव्य हैं। **(नि.सा.ता. १५६)** (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की प्राप्तिपूर्वक मोक्ष पाने की योग्यता वाला भव्य जीव जिनेंद्र भगवान द्वारा कहे गये तत्त्वों पर श्रद्धान करता है, वह भव्य जीव है।) **(प.पु.२/१५८)** निज शुद्ध आत्मा के सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान तथा आचरण रूप से जो होगा उसे भव्य कहते हैं। **(बृ. द्र. सं. टी. २८)** जिस प्रकार कनकपाषाण शुद्ध करने से सुवर्ण हो जाता है उसी प्रकार जो आगामी काल में सिद्ध हो सके उसे भव्य कहते हैं। **(म.पु. २४/१२८)** तीर्थंकर प्रणीत तत्त्वों पर जो श्रद्धा करते हैं, उन्हें मानकर उनके अनुकूल आचरण करते हैं, वे श्रद्धालु पुरुष दिनोंदिन अपनी आन्तरिक शुद्धि को बढ़ाते हैं, उनका संसार अनादि से है किन्तु शुभ अवसर आते ही रत्नत्रय को धारण करते हैं तब उनका आगामी संसार सान्त हो जाता है, उन्हें भव्य जीव कहते हैं, यह मलिन मूल धातु के समान है, जो शुद्धि के उपाय जुटते शुद्ध स्वर्ण हो जाते हैं। **(व.चा. २६/१०-११)**

९. प्रश्न : भव्य जीव कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : भव्य जीव तीन प्रकार के होते हैं -

(१) आसन्न भव्य (२) दूर भव्य (३) अभव्यसम भव्य **(गो. जी. जी. ५५७)**

१०. प्रश्न : आसन्न भव्य किसे कहते हैं ?[१]

उत्तर : जो जीव 'केवली भगवान का सुख सर्वसुखों में उत्कृष्ट है', इस वचन की इसी समय इच्छा (श्रद्धा) करते हैं वे शिवश्री के भाजन आसन्न भव्य हैं। **(प्र.सा. ता. ६२)** सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र का धारक चौदहवें गुणस्थान का मोक्षगामी निकट भव्य जीव आसन्न भव्य है। **(ध.१/३९४)**

११. प्रश्न : दूर भव्य किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो जीव आगे जाकर 'केवली भगवान का सुख सर्व सुखों में उत्कृष्ट है' इस वचन की इच्छा करेंगे वे दूर भव्य हैं। **(प्र.सा.ता. ६२)**

१२. प्रश्न : अभव्यसमभव्य (दूरानुदूर भव्य) किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो भव्य जीव भव्यत्व के अर्थात् सम्यग्दर्शनादि सामग्री को प्राप्त करके अनंत-चतुष्टय स्वरूप से परिणमने के योग्य हैं अर्थात् केवल योग्यता रखते हैं वे भवसिद्ध संसारी ही होते हैं। क्योंकि जैसे कुछ स्वर्णपाषाण ऐसे होते हैं जिनका मल दूर करना शक्य नहीं होता, उस प्रकार की सामग्री नहीं मिलती, उसी तरह उनके भी मल का विनाश करने वाली सामग्री नियम से नहीं मिलती है अत: उसे अभव्यसमभव्य (दूरानुदूर भव्य) कहते हैं। **(गो.जी.जी. ५५८)**

दूरानुदूर भव्य को सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती है। उनको भव्य इसलिए कहा गया है कि उनमें शक्ति रूप से तो संसार-विनाश की सम्भावना है, किन्तु उसकी व्यक्ति नहीं होगी। **(ध. ७/१७६)**

१३. प्रश्न : जो अनन्त काल में भी सिद्ध नहीं होगा उसे अभव्य ही कहना चाहिए ?

उत्तर : ऐसा नहीं है, क्योंकि कभी भी मोक्ष में नहीं जाने वालों का भी भव्य राशि में ही अन्तर्भाव होता है। जैसे कि उस कनक पाषाण को जो कभी भी सोना नहीं बनेगा, अन्ध-पाषाण नहीं कह सकते क्योंकि उसमें कनकपाषाणत्व शक्ति की योग्यता है। अथवा - आगामी काल को जो अनन्त काल में भी नहीं आयेगा अनागामी (नहीं आने वाला) नहीं कह सकते; उसी प्रकार सिद्धि व्यक्त न होने पर भी भव्यत्व शक्ति की योग्यता से भव्य को अभव्य नहीं कहते? वे भव्य राशि में ही आयेंगे। **(रा.वा. ९)**

१४. प्रश्न : जीव में भव्यत्व भाव की अनादि-अनन्त आदि रूप प्ररूपणा किस प्रकार करनी चाहिए ?

उत्तर : पर्यायार्थिक नय के अवलम्बन से जब तक सम्यक्त्व ग्रहण नहीं किया तब तक जीव का भव्यत्व अनादि-अनन्त रूप है, क्योंकि तब तक उसका संसार अन्तरहित है, किन्तु सम्यक्त्व के ग्रहण कर लेने पर अन्य ही भव्य भाव उत्पन्न हो जाता है, क्योंकि सम्यक्त्व उत्पन्न हो जाने पर फिर उसके केवल अर्धपुद्गल परिवर्तन मात्र काल तक संसार में स्थिति रहती है। इसी प्रकार एक समय कम अर्धपुद्गल

१. जो संसार से भयभीत हुआ है, वही आसन्न भव्य है। (आचार्य विद्यासागर)

परिवर्तन संसारवाले, दो समय कम उपार्धपुद्गल परिवर्तन संसार वाले आदि जीवों के पृथक्-पृथक् भव्य भाव का कथन करना चाहिए। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि भव्य जीव सादि-सान्त भी होते हैं। भव्यत्व भाव अनादिसान्त है। क्योंकि अनादि स्वरूप से आये हुए भव्यभाव का अयोगी केवली के अन्तिम समय में विनाश पाया जाता है। **(ध. ७/१७६-७७)**

१५. प्रश्न : अभव्यों के समान भी भव्य जीव होते हैं, तब भव्य भाव को अनादि-अनन्त क्यों नहीं कहा ?

उत्तर : नहीं, क्योंकि भव्यत्व में अविनाश शक्ति का अभाव है। यद्यपि अनादि से अनन्तकाल तक रहने वाले (नित्य निगोदिया) भव्य जीव है तो सही, किन्तु उनमें शक्ति रूप से तो संसारविनाश की सम्भावना है, अविनाशत्व की नहीं। **(ध. ७/१७६)**

१६. प्रश्न : अभव्य जीव किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो भविष्यकाल में स्वभाव-अनन्त चतुष्टयात्मक सहज ज्ञानादि गुणों रूप से परिणमन के योग्य नहीं हैं वे अभव्य हैं। **(नि.सा.टी. १५६)** ''केवली भगवान का सुख सर्व सुखों में उत्कृष्ट है'' जिन्हें ऐसी श्रद्धा नहीं है वे मोक्षसुख के सुधापान से दूर रहने वाले अभव्य मृगतृष्णा के जलसमूह को ही देखते हैं। **(प्र.सा.ता. ६२)** जिस प्रकार अंध पाषाण शुद्ध करने पर भी कभी शुद्ध नहीं होता है उसी प्रकार जो कभी सिद्ध न हो सके उसे अभव्य कहते हैं। **(म.पु. २४/१२९)** जो प्रयत्न करने पर भी सिद्ध नहीं हो पाते वे अभव्य कहलाते हैं। **(हरि. पु. ३/१०१)** जो भविष्य काल में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप पर्याय से परिणमन नहीं करेंगे अथवा जिसमें सम्यग्दर्शनादि पर्याय रूप परिणमन करने की शक्ति नहीं है वह अभव्य है। **(रा.वा. ८)**

१७. प्रश्न : अभव्य जीव कैसे होते हैं ?

उत्तर : मोक्ष प्राप्त करने के लिए अयोग्य जीव अभव्य है। ऐसे प्राणी जिनेन्द्रप्रतिपादित बोधि प्राप्त नहीं कर पाते, रत्नत्रय मार्ग भी इन्हें नहीं मिल पाता और ये मिथ्यात्व के उदय से दूषित रहते हैं। ऐसे जीवों का संसार-सागर अनादि और अनन्त होता है। (ये उचित समय पर सुपात्रों को दान नहीं दे पाते और कुक्षेत्र में इनकी मृत्यु होती है) **(म.पु.)**

१८. प्रश्न : सिद्ध भगवान भव्य हैं या अभव्य ?

उत्तर : सिद्ध जीव भव्य सिद्धिक नहीं हो सकते, क्योंकि भव्य भाव का अयोगिकेवली के अन्तिम समय में विनाश पाया जाता है। **(ध. ७/१७६)** सिद्ध अभव्य भी नहीं हो सकते क्योंकि उनमें संसार अविनाश शक्ति का अभाव है, जो संसार का विनाश नहीं कर सकते वे अभव्य सिद्धिक हैं, किन्तु सिद्ध जीवों ने तो संसार का विनाश करके सिद्ध अवस्था प्राप्त कर ली है। इसलिए ''सिद्ध अभव्य भी नहीं हो सकते। सिद्ध जीव न तो भव्य हैं और न अभव्य हैं, क्योंकि उनका स्वरूप भव्य और अभव्य दोनों से विपरीत है।'' **(ध. ७/२४२)**

१९. प्रश्न : क्या पुद्गलादि द्रव्यों में भी भव्य-अभव्य भाव पाया जाता है ?

उत्तर : हाँ, सभी द्रव्यों में भव्यत्व एवं अभव्यत्व भाव पाया जाता है क्योंकि जो भावीकाल में पर (आगामी पर्याय) रूप होने से भव्य स्वभाव वाला है। **(आ.प. ११४)** द्रव्य सर्वदा अभूत (भावी) पर्यायों से भाव्य है अर्थात् भावी पर्याय रूप होने योग्य है अत: द्रव्य में भव्य भाव है। **(पं.का. ता. ३७)** **अभव्यत्व** - त्रिकाल में भी परस्वरूप आकार (दूसरे द्रव्य रूप) नहीं होगा अत: अभव्य स्वभाव है। कहा भी है। वे द्रव्य एक-दूसरे में प्रवेश करते हैं, अन्य-अन्य को अवकाश देते हैं, परस्पर मिल जाते हैं तथापि सदा अपने-अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते। **(पं.का.ता.७)**

२०. प्रश्न : भव्यत्व एवं अभव्यत्व भाव औदयिक है या पारिणामिक ?

उत्तर : चार अघाती कर्मों के उदय से उत्पन्न हुआ असिद्ध भाव है। वह दो प्रकार का है (१) अनादि अनन्त (२) अनादि सान्त। इनमें से जिनके असिद्ध भाव अनादि-अनन्त है वे अभव्य जीव हैं और जिनके दूसरे प्रकार का है वे भव्य जीव हैं। इसलिए भव्यत्व और अभव्यत्व ये भी विपाक प्रत्ययिक (औदयिक) हैं। तत्त्वार्थ सूत्र के २/७ में (भव्यत्व और अभव्यत्व) असिद्धत्व का अनादि-अनन्तपना और अनादि सान्तपना निष्कारण है, ऐसा समझकर पारिणामिक स्वीकार किया गया है। **(ध. १४/१३-१४)**

२१. प्रश्न : आगम में दूसरे गुणस्थान में पारिणामिक भाव कहा है, उसका यहाँ ग्रहण क्यों नहीं किया है ?

उत्तर : दूसरे गुणस्थान वाले पारिणामिक भाव की यहाँ विवक्षा नहीं है क्योंकि सासादन में अनन्तानुबन्धी का उदय होने पर भी मिथ्यात्व कर्म के उदय, क्षय, उपशम और क्षायोपशमिक की अपेक्षा नहीं है इसलिए वहाँ पारिणामिक भाव कहा है परन्तु यहाँ पर तो दूसरे गुणस्थान में औदयिक भाव कहा है - अनन्तानुबन्धी का उदय होने से। **(रा.वा.११)**

२२. प्रश्न : सूत्र में 'च' शब्द का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : अस्तित्व, अन्यत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, पर्यायवत्व असर्वगतत्व, अनादि सन्तति बन्धन बद्धत्व, प्रदेशवत्व, अरूपत्व, नित्यत्व आदि के समुच्चय के लिए सूत्र में 'च' शब्द का ग्रहण किया गया है। क्योंकि अस्तित्वादि भाव भी पारिणामिक हैं। **(रा.वा. १२)**

२३. प्रश्न : यदि अस्तित्वादिक पारिणामिक भाव हैं तो सूत्र में उनका ग्रहण क्यों नहीं किया?

उत्तर : अस्तित्वादि भाव अन्य द्रव्यों में भी पाये जाते हैं इसलिए साधारण होने से सूत्र में इनका ग्रहण नहीं किया है। जैसे अस्तित्व छहों द्रव्यों में पाया जाता है। यद्यपि यह भाव कर्मों के उदय, क्षय और क्षयोपशम की अपेक्षा नहीं रखने वाला होने से पारिणामिक है परन्तु छहों द्रव्यों में पाया जाने से साधारण है। **(रा.वा. १३)**

२४. प्रश्न : क्रिया परिणामी जीव-पुद्गल में कर्तृत्व कहना उचित है लेकिन धर्मादि में कर्तृत्व कैसे हो सकता है ?

उत्तर : सभी द्रव्यों में स्वक्रिया की निष्पत्ति में स्वतंत्रता पाई जाती है इसलिए कर्तृत्व भी साधारण है। धर्म, अधर्म आदि में भी 'अस्ति' आदि क्रियाओं का कर्तृत्व है ही, उनका अभाव तो नहीं है, इसलिए अपने-अपने अस्तित्व का कर्त्ता स्वयमेव ही है। इस 'अस्तित्व' में कर्मोदय आदि की अपेक्षा नहीं है इसलिए यह पारिणामिक है। **(रा.वा. १३)**

२५. प्रश्न : अनादि संतति बन्धन बद्धत्व साधारण कैसे है ?

उत्तर : अनादि संतति बन्धन बद्धत्व भी साधारण है क्योंकि सभी द्रव्यों के स्वात्मीय संतानबन्धन बद्धत्व प्रति अनादिपना है। जीव, धर्मादि सभी द्रव्य, प्रतिनियत पारिणामिक चैतन्योपयोग, गति, स्थिति, अवकाशदान, वर्त्तना, परिणाम, वर्ण-रस-गन्ध-स्पर्श आदि पर्याय सन्तान-बन्धन से बद्ध है। यह चैतन्योपयोग, गति आदि अनादि-संतति बन्धनबद्धत्व कर्मोदयादि की अपेक्षा न रखने से पारिणामिक है। अनादिकालीन कर्म संतति बन्धन बद्धत्व यद्यपि जीव में ही पाया जाता है, इसलिए असाधारण है, तथापि यह पारिणामिक नहीं है क्योंकि कर्म के उदय से होता है। **(रा.वा. १३)**

२६. प्रश्न : आगम में सान्निपातिक भाव भी कहे हैं उनका यहाँ ग्रहण क्यों नहीं किया है ?

उत्तर : सान्निपातिक नामक भाव स्वतन्त्र नहीं है, इसलिए उनका अभाव कहा है और ग्रहण नहीं किया है। आर्षग्रन्थों में संयोगी भंग की अपेक्षा सान्निपातिक भाव कहे हैं। इसलिए 'च' शब्द से सान्निपातिक भावों का ग्रहण किया गया है। **(रा.वा. २२)**

२७. प्रश्न : सान्निपातिक भाव किसे कहते हैं ?

उत्तर : एक ही गुणस्थान या जीवसमास में जो बहुत से भाव आकर एकत्र होते हैं, उन भावों की सान्निपातिक ऐसी संज्ञा है। **(ध. ५/१९३)**

२८. प्रश्न : सान्निपातिक भाव कितने होते हैं ?

उत्तर : आर्ष ग्रन्थों में सान्निपातिक भाव द्विसंयोगी दस, त्रिसंयोगी दस, चतु:संयोगी पाँच और पंच संयोगी एक इस प्रकार छब्बीस कहे हैं **अथवा** - द्विसंयोगी पच्चीस, त्रिसंयोगी दस, पञ्च संयोगी एक इस प्रकार कुल मिलाकर छत्तीस भाव कहे हैं। इन्हीं में चतु:संयोगी के पाँच मिलाने पर (३६+५) इकतालीस भाव होते हैं। **(रा.वा. २२)**

२९. प्रश्न : औपशमिकादि भाव जीव के नहीं हो सकते, क्योंकि ये कर्मों के उदय आदि की अपेक्षा रखने से पौद्गलिक हैं ?

उत्तर : यद्यपि औपशमिकादि भाव पुद्गल कर्मों के उदय, उपशम, निर्जरा आदि की अपेक्षा रखते हैं, फिर भी वे आत्मा के ही परिणाम हैं। आत्मा ही कर्म निमित्त से उन-उन परिणामों को प्राप्त करता है

सान्निपातिक-भाव

द्विसंयोगी भंग

क्र.सं.	भंग - निर्देश	विवरण
१.	औदयिक औदयिक	मनुष्य - क्रोधी
२.	औद - औप	मनुष्य, उपशांत क्रोध
३.	औद. क्षायिक	मनुष्य, क्षीणकषाय
४.	औद. क्षायो.	क्रोधी, मतिज्ञानी
५.	औद. पारि	मनुष्य, भव्यत्व
६.	औप. औप	उपशम सम्यक्त्व, उपशमकषाय
७.	औप. औद.	उपशांत कषाय, मनुष्य
८.	औप. क्षा.	उपशांत क्रोध, क्षायिक सम्य.
९.	औप. क्षायो.	उपशांत कषाय, अवधिज्ञानी
१०.	औप. पारि.	उपशम सम्यक्त्व, जीवत्व
११.	क्षायिक, क्षायिक	क्षायिक सम्यक्त्व, क्षीणकषाय
१२.	क्षायिक, औद.	क्षीणकषाय, मनुष्य
१३.	क्षा. क्षायो.	क्षीण कषाय, मतिज्ञानी
१४.	क्षा. औप.	क्षीण मोह, उपशान्त वेद
१५.	क्षा. पारि.	क्षीण मोह, भव्यत्व
१६.	क्षायो. क्षायो.	संयत, अवधिज्ञानी
१७.	क्षायो. औद.	संयत, मनुष्य
१८.	क्षायो. औप.	संयत, उपशांत कषाय
१९.	क्षायो. क्षा.	संयतासंयत, क्षा.स. दृष्टि
२०.	क्षायो. पारि.	अप्रमत्तसंयत, जीवत्व
२१.	पारि. पारि.	जीवत्व, भव्यत्व
२२.	पारि. औद.	जीवत्व, क्रोधी
२३.	पारि. औप.	भव्यत्व, उपशांत कषाय
२४.	पारि. क्षायिक	भव्यत्व, क्षीणकषाय
२५.	पारि. क्षायो.	भव्यत्व, संयत

त्रिसंयोगी भंग

क्र.सं.	भंग-निर्देश	विवरण
१.	औद. औप. क्षा.	मनुष्य, उपशांत मोह, क्षायिक सम्यक्त्व
२.	औद. औप. क्षायो.	मनुष्य, उपशांत क्रोध, वाग्योगी
३.	औद. औप. पारि.	मनुष्य, उपशांत मोह, जीवत्व
४.	औद. क्षा. क्षायो.	मनुष्य, क्षीणकषाय, श्रुतज्ञानी
५.	औद. क्षा. पारि.	मनुष्य, क्षायिक स.दृष्टि, जीवत्व
६.	औद. क्षायो. पारि.	मनुष्य, मनोयोगी, जीवत्व
७.	औप. क्षा. क्षायो.	उपशांत मोह, क्षा. सम्यक्त्व, काययोगी
८.	औप. क्षा. पारि.	उपशांत वेद, क्षा. सम्यक्त्व, भव्यत्व
९.	औप. क्षायो. पारि.	उपशांत मान, मतिज्ञानी, जीवत्व
१०.	क्षा. क्षायो. पारि.	क्षीणमोह, पंचेन्द्रिय, भव्यत्व

चतु: संयोगी भंग

भंग - निर्देश	विवरण
१. औप. क्षा. क्षायो. पारि.	उपशांत लोभ, क्षा. सम्य. पंचेन्द्रिय, जीवत्व
२. औद. क्षा. क्षायो. पारि.	मनुष्य, क्षीणकषाय, मतिज्ञानी, भव्यत्व
३. औद. औप. क्षायो. पारि.	मनुष्य, उपशांत वेद, श्रुतज्ञानी, जीवत्व
४. औद. औप. क्षा. पारि.	मनुष्य, उपशान्त राग, क्षा. सम्य., जीवत्व
५. औद. औप. क्षा. क्षायो.	मनुष्य, उपशांत मोह, क्षा. सम्य., अवधिज्ञानी

पंच संयोगी भंग

भंग - निर्देश	विवरण
१. औप. क्षा. क्षायो. औद. पारि.	औपशमिक, क्षायिक क्षायोपशमिक, औदयिक पारिणामिक

इसलिए इन परिणामों को आत्मा का असाधारण स्वतत्त्व कहा है। जिन-जिन भावों को जिस-जिस समय आत्मा प्राप्त होता है, उससे तन्मय हो जाने से उस स्वरूप कहा जाता है, सो ही कहा है - ''जिस समय जो द्रव्य जिस रूप से परिणमन करता है, उस समय वह उसमें तन्मय हो जाता है। इसलिए धर्म परिणत आत्मा धर्म कहा जाता है'', वे परिणाम अन्य द्रव्यों से असाधारण होने से आत्मा के कहे जाते हैं। **(रा.वा. २३)**

३०. प्रश्न : अमूर्त्तिक आत्मा का पौद्गलिक कर्मों से अभिभव कैसे हो सकता है ?

उत्तर : अनादि कर्म बन्धन के कारण उस आत्मा में चैतन्य विशेष सामर्थ्य की उपलब्धि हो जाती है। अत: तद्वान का विशेष सामर्थ्य है। जैसे - अनादि पारिणामिक चैतन्य वशीकृत आत्मा चैतन्यवान है और उस चैतन्यवान आत्मा की नारकादि पर्याय एवं मत्यादि पर्याय विशेषवृत्ति भी चेतना ही है, उसी प्रकार अनादि कार्मण शरीर के कारण कर्मों के समान आत्मा मूर्त्तिक हो रहा है इसलिए गति आदि एवं मत्यादि पर्याय के सामर्थ्य की उपलब्धि भी मूर्त्तिमती है इसलिए आत्मा सर्वथा अमूर्त्तिक नहीं है। **अथवा -** मूर्त्तिक, अमूर्त्तिक के प्रति अनेकान्त है। कर्मबन्धपर्याय के प्रति एकत्व होने से आत्मा कथंचित् मूर्त्तिक है तथापि अपने ज्ञानादि स्वलक्षण को नहीं छोड़ने के कारण कथंचित् अमूर्त्तिक है। जिनके सिद्धान्त में आत्मा एकान्त से अमूर्त्तिक है उनके अमूर्त्तिक आत्मा का कर्मों से अभिभव कैसे हो सकता है, यह दोष आ सकता है। किन्तु स्याद्वाद होने से अर्हत् के सिद्धान्त में दोष नहीं आ सकता है। **अथवा,** मदिरा के द्वारा आत्मा का अभिभव देखा जाता है। जैसे -मद-मोह और विभ्रम को करने वाली मदिरा को पीकर मूर्च्छित हुआ मानव काठ के समान निश्चल एवं परिस्पन्दन रहित हो जाता है तथा उसकी स्मृति नष्ट हो जाती है उसी प्रकार कर्मों के द्वारा अभिभूत हुआ तथा स्वलक्षण का अनभिभव होने से मूर्त्तिक कहलाता है। **(रा.वा. २४-२६)**

३१. प्रश्न : स्वतत्त्वों में कौनसा स्वतत्त्व जीव का स्वलक्षण माना गया है ?

उत्तर : क्षायिक भाव एवं क्षायोपशमिक भाव सामान्य से लक्षण माना गया है, क्षायिक भाव से क्षायिक ज्ञान और क्षायिक दर्शन को, क्षायोपशमिक भावों में से चार ज्ञान, तीन अज्ञान और तीन दर्शन को उपयोग रूप लक्षण माना गया है। **(श्लो. ५/५२-५३)**

उपयोग :

जीव का लक्षण कहते हैं -

उपयोगो लक्षणम् ॥८॥

उपयोग: लक्षणम्।

अर्थ - जीव का लक्षण उपयोग है।

उपयोग - स्व-पर को ग्रहण करने वाले परिणाम को उपयोग कहते हैं। **(ध. २/४१६)**

१. प्रश्न : यह सूत्र किस प्रयोजन से कहा गया है ?

उत्तर : एकत्व बुद्धि को उत्पन्न करने वाले सम्बन्ध रूप बन्ध को प्राप्त आत्मा और शरीर का पूर्वोक्त दो सूत्रों के द्वारा कहे गये लक्षण से भेद कराने वाला है। जैसे अग्नि के द्वारा उष्ण करे गये तप्त जल की अवस्था में संश्लेष संसर्ग को प्राप्त हुए जल और अग्नि का बहने योग्य द्रवत्व (पतलापन स्वभाव) और उष्ण स्वभाव ये दो भिन्न-भिन्न लक्षण जल और अग्नि के भेद को सिद्ध कर देते हैं उसी प्रकार शरीरधारी को तात्त्विक रूप से भिन्न-भिन्न सिद्ध कर देता है। इसी बात को बताने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(श्लो. ५/९९)** यदि आत्मा एकान्त से अमूर्त्तिक या मूर्त्तिक नहीं है तो आत्मा का लक्षण बताइये जिसके सन्निधान से बन्ध के प्रति एकत्व होने पर भी जीव का अजीव से पृथक्त्व जाना जावे ? ऐसा प्रश्न होने पर यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा. उ. ८)**

२. प्रश्न : उपयोग किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो अंतरंग और बहिरंग दोनों प्रकार के निमित्तों से होता है और चैतन्य का अन्वयी है अर्थात् चैतन्य को छोड़कर अन्यत्र नहीं रहता वह परिणाम उपयोग कहलाता है। **(सर्वा. २७१)** आत्मा के चैतन्यानुविधायी परिणाम को उपयोग कहते हैं जो चैतन्य की आज्ञा के अनुसार चलता है। जो उसके अन्वयरूप से परिणमन करता है उसे उपयोग कहते हैं। **अथवा** - पदार्थ परिच्छित्ति के समय 'यह घट है, यह पट है' इस प्रकार अर्थ ग्रहण रूप से व्यापार करता है वह चैतन्य का अनुविधायी है। **(पं. का. ता. ४०)** जीव का जो भाव वस्तु को ग्रहण करने के लिए प्रवृत्त होता है उसको उपयोग कहते हैं। **(गो.जी. ६७२)** तादात्म्य भाव को प्राप्त उपयोग ही जीव का लक्षण है। **(त.सा. २/९)**

३. प्रश्न : अभ्यन्तर बाह्य हेतुओं के यथासंभव सन्निधान का क्या तात्पर्य है ?

उत्तर : बाह्य-अभ्यन्तर में से सर्व हेतुओं का सन्निधान होने पर ही आत्मा का ज्ञानादि उपयोग हो ऐसा नियम नहीं है, जैसे किसी के प्रदीपादि के सन्निधान के बिना चक्षु आदि की विज्ञान में प्रवृत्ति नहीं होती है, इसलिए मनुष्यादि को बाह्य अनात्मभूत दीपकादि हेतु के सन्निधान की आवश्यकता है परन्तु नक्तंचर (रात्रि में विचरण करने वाले) बिल्ली आदि के प्रकाश के बिना भी चक्षु आदि की विज्ञान में प्रवृत्ति हो जाती है इसलिए अनियम है। अर्थात् इन्द्रियाँ भी सभी के सब नहीं हैं, यथायोग्य ही रहती हैं। अन्त: करण (अभ्यन्तर कारण योग) भी असंज्ञी के मन के बिना दो होते हैं और संज्ञी के तीन होते हैं। एकेन्द्रिय, विग्रह गति प्राप्त जीव और समुद्घातगत सयोग केवली के एक काययोग ही होता है। क्षीणकषाय पर्यन्त क्षयोपशमानुसार तन्निमित्तक एक ही भावयोग होता है। इसके आगे ज्ञानावरणादि का क्षय हो जाता है। इस प्रकार यथासंभव बाह्याभ्यन्तर कारणों का सन्निधान होता है। **(रा.वा. १)**

४. प्रश्न : हेतु किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो लिंग अन्यथानुपपत्ति रूप लक्षण से उपलक्षित होकर साध्य का अविनाभावी होता है, उसे हेतु कहते हैं। **(ध. १३/२८७)** जो साध्य के साथ अविनाभावीपने से निश्चित हो अर्थात् साध्य के

बिना न रहे, उसको हेतु कहते हैं। **(प. मु. ३/११)** साध्य के अविनाभावी साधन को बताने वाले वचन को हेतु कहते हैं, जैसे - धूम वाला अन्यथा नहीं हो सकता, अथवा अग्नि के होने से ही धूमवाला है। **(न्या.दी.३/३३)**

जो साध्य के होने पर ही होता है अन्यथा साध्य के बिना नहीं होता तथा निश्चय पथ को प्राप्त है अर्थात् जिसका निश्चय हो चुका है वह हेतु है। **(न्या. दी. ३/४८)**

५. **प्रश्न : हेतु कितने प्रकार के होते हैं ?**

उत्तर : हेतु दो प्रकार के होते हैं -

(१) बाह्य हेतु (२) अभ्यन्तर हेतु। **(रा.वा. १)**

(१) प्रत्यक्ष हेतु (२) परोक्ष हेतु। **(ति.प. १/३५)**

नोट - प्रत्यक्ष एवं परोक्ष हेतु के भेद देखें। (मंग.)

६. **प्रश्न : बाह्य हेतु कितने प्रकार का होता है ?**

उत्तर : बाह्य हेतु दो प्रकार का है -

(१) आत्मभूत बाह्य हेतु (२) अनात्मभूत बाह्य हेतु।

आत्मभूत बाह्य हेतु - आत्मा के साथ सम्बन्ध को प्राप्त शरीर में विशिष्ट नाम-कर्म के उदय से निर्मित अवस्थान-परिणाम निर्माण युक्त चक्षु आदि इन्द्रियों का समूह आत्मभूत बाह्य हेतु है।

अनात्मभूत बाह्य हेतु - प्रदीप आदि अनात्मभूत बाह्य हेतु हैं। **(रा.वा.१)**

७. **प्रश्न : अभ्यन्तर हेतु कितने प्रकार का होता है ?**

उत्तर : अभ्यन्तर हेतु दो प्रकार के होते हैं -

(१) आत्मभूत अभ्यन्तर हेतु (२) अनात्मभूत अभ्यन्तर हेतु।

आत्मभूत अभ्यन्तर हेतु - द्रव्ययोग निमित्तक ज्ञान रूप भावयोग एवं वीर्यान्तराय, ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न आत्मा की विशुद्धि अभ्यन्तर आत्मभूत हेतु कहलाता है।

अनात्मभूत अभ्यन्तर हेतु-मन, वचन, काय की वर्गणाओं के निमित्त से होने वाला आत्मप्रदेश-परिस्पन्दन रूप द्रव्ययोग अंत: प्रविष्ट होने से अभ्यन्तर अनात्मभूत हेतु कहलाता है। **(रा.वा. १)**

८. **प्रश्न : लक्षण किसे कहते हैं ?**

उत्तर : परस्पर सम्मिलित वस्तुओं से जिसके द्वारा किसी वस्तु का पृथक्करण हो वह उसका लक्षण होता है। भिन्न-भिन्न स्वभाव होने पर भी बन्ध परिणाम के अनुविधान से तथा परस्पर प्रदेश के अनुप्रवेश से सम्मिलित वस्तु के पृथक्त्वकरण को लक्षण कहते हैं। जैसे - सोना और चाँदी की मिली हुई डली में बन्धत्व के प्रति एकत्व होने पर भी वर्ण, प्रमाण आदि असाधारण धर्म उन सोना-चाँदी का भेदक है क्योंकि उत्तरकाल में वे पृथक्-पृथक् दृष्टिगोचर होते हैं। **(रा.वा.२)**

जिसके द्वारा पदार्थ लक्ष्य किया जाये उसको लक्षण कहते हैं। **(न्या. वि.टी.)** जिसके अभाव में द्रव्य का भी अभाव हो जाता है, वही उस द्रव्य का लक्षण है। जैसे पुद्गल द्रव्य का लक्षण, रूप, रस, गन्ध और जीव का लक्षण उपयोग है। **(ध. ७/९६)** मिली हुई वस्तुओं में से किसी एक वस्तु को अलग करने वाले हेतु को लक्षण कहते हैं। **(न्या. दी. १/३)**

९. प्रश्न : लक्षण कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : लक्षण दो प्रकार के होते हैं -

(१) आत्मभूत लक्षण (२) अनात्मभूत लक्षण।

१०. प्रश्न : आत्मभूत लक्षण किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो वस्तु के स्वरूप में मिला हुआ हो उसे आत्मभूत लक्षण कहते हैं, जैसे अग्नि की उष्णता। यह उष्णता अग्नि का स्वरूप होती हुई अग्नि को जल आदि पदार्थों से जुदा करती है। इसलिए उष्णता अग्नि का आत्मभूत लक्षण है। **(न्या.दी. १/४)**

११. प्रश्न : अनात्मभूत लक्षण किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो वस्तु के स्वरूप में मिला हुआ न हो, उससे पृथक् हो उसे अनात्मभूत लक्षण कहते हैं। जैसे दण्डी पुरुष का दण्ड। 'दण्डी लाओ' ऐसा कहने पर दण्ड पुरुष में न मिलता हुआ ही पुरुष को पुरुष-भिन्न पदार्थों से पृथक् करता है। इसलिए दण्ड पुरुष का अनात्मभूत लक्षण है। **(न्या.दी. १/४)**

१२. प्रश्न : लक्षणाभास किसे कहते हैं एवं उसके कितने दोष हैं ?

उत्तर : सदोष लक्षण को लक्षणाभास कहते हैं। लक्षणाभास के तीन दोष हैं -

(१) अव्याप्त (२) अतिव्याप्त (३) असम्भव।

अव्याप्त दोष - लक्ष्य के एकदेश में लक्षण के रहने को अव्याप्त दोष कहते हैं। जैसे गाय का शावलेयत्व। शावलेयत्व सब गायों में नहीं पाया जाता, वह कुछ ही गायों का धर्म है, इसलिए अव्याप्त है।

अतिव्याप्त - जो लक्षण लक्ष्य और अलक्ष्य दोनों में रहे, वह अतिव्याप्ति दोष है; जैसे - गाय का लक्षण पशुत्व करना है। यह पशुत्व गाय के सिवाय अश्व आदि पशुओं में भी पाया जाता है इसलिए पशुत्व अतिव्याप्ति है।

असंभव दोष - जिसको लक्ष्य में वृत्ति बाधित हो अर्थात् जो लक्षण लक्ष्य में बिल्कुल न रहे वह असंभव लक्षणाभास है, जैसे मनुष्य का लक्षण सींग। सींग किसी भी मनुष्य में नहीं पाया जाता। अत: वह भी असंभव लक्षणाभास है। **(न्या. दी. १/५)**

१३. प्रश्न : उपयोग आत्मा का कौनसा लक्षण है ?

उत्तर : उपयोग आत्मा का आत्मभूत लक्षण है क्योंकि शरीर और आत्मा में बन्ध की दृष्टि से परस्पर एकत्व होने पर भी ज्ञानादि उपयोग उसका भेदक आत्मभूत लक्षण है। **(रा.वा. २-३)**

१४. प्रश्न : अस्थिर होने से उपयोग जीव का लक्षण नहीं हो सकता है ?

उत्तर : एक उपयोग क्षण के नष्ट हो जाने पर कथंचित् उपयोग अवस्थित रहता है इसलिए जीव का लक्षण उपयोग सिद्ध होता है क्योंकि उपयोग को सर्वथा अस्थिर या नित्य स्वीकार नहीं किया है। अपितु कथंचित् अस्थिर और कथंचित् अवस्थान (नित्य) रूप से स्वीकार किया है। क्योंकि पर्यायदृष्टि से अमुक पदार्थ विषयक उपयोग का नाश होने पर भी द्रव्यदृष्टि से उपयोग सामान्य बना ही रहता है अत: उपयोग जीव का लक्षण सिद्ध होता है। **अथवा** - उपयोग के नाश का अभाव है, कथंचित् पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा उपयोग का उत्पाद होता है और किसी पर्याय की अपेक्षा उपयोग का नाश होता है तथापि उपयोग की धारा टूटती नहीं है। इसलिए उपयोग जीव का लक्षण सिद्ध है। **(रा.वा. २१-२२)**

१५. प्रश्न : स्वतत्त्व एवं लक्षण में क्या विशेषता है ?

उत्तर : स्वतत्त्व लक्ष्य होता है और लक्षण लक्षण होता है। लक्षण कभी भी लक्ष्य नहीं बनता है परन्तु स्वतत्त्व कभी-कभी लक्षण बन जाता है।

१६. प्रश्न : सुख-दु:ख, मोह आदि चैतन्य के अनुविधायी परिणाम होने से इन्हें भी उपयोग कहना चाहिए ?

उत्तर - यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि चैतन्य के भेद ज्ञान-दर्शनादि हैं उन ज्ञान-दर्शन आदि के समुदाय में रहने वाला चैतन्य शब्द क्वचित् अवयवरूप सुख-दु:ख आदि में भी रहता है। अत: सुखादि को उपयोग रूप कहने में तथा ज्ञान-दर्शन को उपयोग कहने में कोई विरोध नहीं है। **(रा.वा. १)**

उपयोग के भेद कहते हैं -

स द्विविधोऽष्टचतुर्भेद: ॥९॥

स: द्विविध: - अष्ट - चतु: भेद:।

(स) वह उपयोग (द्विविध:) दो प्रकार का है। उसमें से ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग क्रमश: (अष्ट चतुर्भेद:) आठ और चार भेद वाले हैं।

अर्थ - उपयोग दो प्रकार का है, उसमें से ज्ञानोपयोग आठ प्रकार का एवं दर्शनोपयोग चार प्रकार का है।

१. प्रश्न : पुन: उपयोग का कथन क्यों किया गया है ?

उत्तर : सूत्र आठवें में उपयोग को जीव का सामान्य लक्षण बताया था। उसी उपयोग के भेद-प्रभेदों को बताने के लिए पुन: उपयोग का कथन किया है। **(श्लो. ५/९५)**

२. **प्रश्न : उपयोग कितने प्रकार का होता है ?**

उत्तर : उपयोग दो प्रकार का है -

(१) साकार उपयोग (२) अनाकार उपयोग। **(रा.वा. १)**

(१) सकल-विमल केवलज्ञान और केवल दर्शन ये दोनों शुद्धोपयोग हैं।

(२) मतिज्ञानादि रूप विकल अशुद्ध उपयोग है। इस प्रकार उपयोग दो प्रकार का है। **(वृ.द्र.सं.टी. १५)**

(१) ज्ञानोपयोग (२) दर्शनोपयोग **(सर्वा. २७३)**

अथवा - उपयोग तीन प्रकार का है -

(१) अशुभोपयोग (२) शुभोपयोग (३) शुद्धोपयोग।

३. **प्रश्न : साकार उपयोग (ज्ञानोपयोग) किसे कहते हैं ?**

उत्तर : अन्तर्मुहूर्त्त काल तक मति, श्रुत, अवधि और मन:पर्यय ज्ञान अपने-अपने विषय को विशेष रूप से ग्रहण करता है, वह साकार उपयोग है। **(गो.जी. ६७४)** सकल पदार्थों के समुदाय से अलग होकर बुद्धि के विषय भाव को प्राप्त हुआ कर्म कारण आकार कहलाता है, उस आकार के साथ जो पाया जाता है वह साकार उपयोग कहलाता है। **(ज.ध. १/३३८)** सामान्य को गौण करके विशेष को ग्रहण करने में कुशल जो उपयोग है वह साकारोपयोग है। **(मू. २२८ आ.)**

४. **प्रश्न : ज्ञानोपयोग को साकार क्यों कहा है ?**

उत्तर : ज्ञान पदार्थों को विशेष करके जानता है इसलिए उसे साकार कहते हैं। यथार्थ रूप से ज्ञान का स्वरूप जानने वालों ने ऐसा कहा है। **(त.सा. २/११)** आकार के साथ, व्यक्ति रूप से पदार्थ को जानता है इसलिए इसे साकार या सविकल्प कहते हैं। **(मू. २२८ आ.)**

५. **प्रश्न : ज्ञानोपयोग कितने प्रकार का होता है ?**

उत्तर : ज्ञानोपयोग आठ प्रकार का है-

(१) मति ज्ञानोपयोग (२) श्रुत ज्ञानोपयोग (३) अवधि ज्ञानोपयोग (४) मन:पर्यय ज्ञानोपयोग (५) केवल ज्ञानोपयोग (६) कुमति ज्ञानोपयोग (७) कुश्रुत ज्ञानोपयोग (८) विभंगज्ञानोपयोग। **(रा.वा.३)**

अथवा - ज्ञानोपयोग दो प्रकार का है।

(१) स्वभाव ज्ञानोपयोग (२) विभाव ज्ञानोपयोग। **(नि.सा. १०)**

६. **प्रश्न : स्वभाव ज्ञानोपयोग किसे कहते हैं ?**

उत्तर : जो केवल इन्द्रिय रहित और असहाय है वह स्वभाव ज्ञान है। इसके दो भेद हैं -

(१) कार्य स्वभाव ज्ञान (२) कारण स्वभाव ज्ञान।

कार्य स्वभाव ज्ञान - सकल विमल केवलज्ञान कार्य स्वभाव ज्ञान है। **कारण स्वभाव ज्ञान-** कार्य स्वभाव ज्ञान का जो कारण परम पारिणामिक भाव से स्थित त्रिकाल, निरुपाधि सहज ज्ञान है वह कारण स्वभाव ज्ञान है। **(नि.सा. १० टी.)**

७. प्रश्न : विभाव ज्ञानोपयोग किसे कहते हैं ?

उत्तर : स्वभाव ज्ञानोपयोग से विपरीत लक्षण वाला विभाव ज्ञानोपयोग है।

विभाव ज्ञानोपयोग दो प्रकार का है -

(१) सम्यग्ज्ञान (२) मिथ्याज्ञान।

मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय ये चार सम्यग्ज्ञान एवं कुमति, कुश्रुत, विभंगावधि ये तीन मिथ्याज्ञान। **(नि.सा.११-१२)**

नोट - मति आदि का लक्षण देखें **(१/९,३१)**

८. प्रश्न : दर्शनोपयोग किसे कहते हैं ?

उत्तर : अनाकार उपयोग को दर्शनोपयोग कहते हैं। **(रा.वा.१)**

इन्द्रिय, मन और अवधि के द्वारा अविशेष रूप पदार्थ का जो ग्रहण है वह अनाकार उपयोग है। इसका भी अन्तर्मुहूर्त काल है। **(गो.जी. ६७५)**

९. प्रश्न : दर्शनोपयोग को अनाकार क्यों कहा है ?

उत्तर : पदार्थों की विशेषता न समझकर जो केवल सामान्य (अथवा सत्ता स्वभाव) का ग्रहण करता है उसे दर्शन कहते हैं, उसे निराकार कहने का यही प्रयोजन है कि वह ज्ञेय वस्तुओं की आकृति विशेष को ग्रहण नहीं कर पाता। **(त.सा. २/१२)**

१०. प्रश्न : दर्शनोपयोग कितने प्रकार का है ?

उत्तर : दर्शनोपयोग चार प्रकार का है -

(१) चक्षु दर्शनोपयोग (२) अचक्षु दर्शनोपयोग (३) अवधि दर्शनोपयोग (४) केवल दर्शनोपयोग। **(रा.वा. ३)**

अथवा - दर्शनोपयोग दो प्रकार का है -

(१) स्वभाव दर्शनोपयोग (२) विभावदर्शनोपयोग। **(नि.सा. १३)**

११. प्रश्न : स्वभाव एवं विभाव दर्शनोपयोग किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो केवल, इन्द्रिय रहित और असहाय है वह स्वभाव दर्शनोपयोग है। इसके दो भेद हैं-

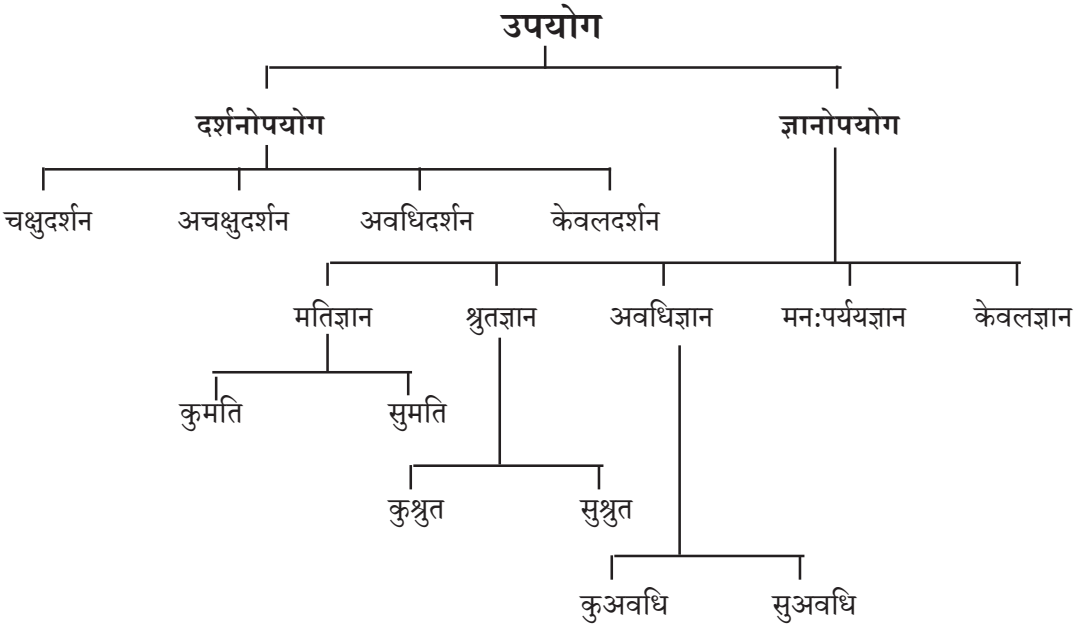

(१) कार्य स्वभाव दर्शनोपयोग (२) कारण स्वभाव दर्शनोपयोग। **(नि.सा. १३)**

कारण स्वभाव दर्शनोपयोग - यह सदा पावन रूप और औदयिकादि चार विभाव स्वभाव परभावों के अगोचर ऐसा सहज परम पारिणामिक रूप जिसका स्वभाव है, जो कारण समयसार स्वरूप है, ऐसे आत्मा के यथार्थ स्वरूप श्रद्धानमात्र ही है।

कार्य स्वभाव दर्शनोपयोग - कार्य दृष्टि दर्शनावरणीय, ज्ञानावरणीयादि घातिकर्मों के क्षय से उत्पन्न होती है। **(नि.सा. १३ टी.)**

चक्षु, अचक्षु और अवधिदर्शन, ये तीनों विभाव दर्शनोपयोग हैं। **(नि.सा. १४)**

नोट - इनके लक्षण देखें **(२/५)**

१२. प्रश्न : दर्शन के लक्षण को सामान्य आत्म पदार्थ ग्राहक मानने पर अनध्यवसाय को दर्शन मानना पड़ेगा ?

उत्तर : नहीं, क्योंकि बाह्यार्थ का निश्चय न करते हुए भी स्वरूप का निश्चय करने वाला दर्शन है, इसलिए वह अनध्यवसाय रूप नहीं है। ऐसा दर्शन अविसंवादी होने के कारण प्रमाण ही है और अनध्यवसाय रूप जो प्रतिभास है वह प्रमाण भी है और अप्रमाण भी है, क्योंकि उसमें विसंवाद और अविसंवाद दोनों पाये जाते हैं ('कुछ है' ऐसा अनध्यवसाय निश्चयात्मक या अविसंवादी है और 'क्या है' ऐसा अनध्यवसाय अनिश्चयात्मक या विसंवादी है।) **(ध. १/१४९)**

१३. प्रश्न : अशुभोपयोग किसे कहते हैं।

उत्तर : विषय-कषाय में अवगाढ़-आसक्त, दु:श्रुति-बुरा सुनने या पढ़ने, दुश्चित्त-बुरा विचार, दुष्टगोष्ठी-बुरी संगति से सहित, उग्र, उन्मार्ग-विपरीत मार्ग में तत्पर इस प्रकार चार प्रकार के विशेषणों से सहित उपयोग परिणाम जिस जीव के होते हैं वह उपयोग अशुभ कहलाता है। **(प्र.सा.ता. १५८)** जहाँ मोह, द्वेष व अप्रशस्त राग होता है वहाँ अशुभ उपयोग है। **(पं. का. १३१ त.प्र.)** मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग, इन पाँच प्रत्यय रूप अशुभोपयोग से परिणत हुआ आत्मा अशुभ कहलाता है। **(प्र.सा.ता. ९)** विषयानुरागरूप और द्वेष मोह रूप अशुभोपयोग है। **(प्र.सा.ता. १५६)**

१४. प्रश्न : अशुभोपयोग का क्या फल है ?

उत्तर : अशुभोपयोग से बँधे हुए पापकर्मों के उदय से यह जीव पारमार्थिक सुख से विपरीत दु:ख से दुखी होता हुआ आत्मस्वभाव की भावना से रहित होकर संसार में दीर्घकाल तक घूमता रहता है। यह तात्पर्य है। **(प्र.सा.ता. १२)** अशुभ के उदय से आत्मा कुमनुष्य, तिर्यञ्च और नारकी होकर हजारों दु:खों से हमेशा दुखी होता हुआ अत्यन्त भ्रमण करता रहता है। **(प्र.सा.१२)** अशुभोपयोग से पाप का संचय होता है। **(प्र.सा. १२ ता.)**

१५. प्रश्न : शुभोपयोग किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो अनन्त ज्ञान आदि चतुष्टय सहित और क्षुधा आदि अठारह दोषों से रहित जिनेन्द्र भगवन्तों को जानता है, ज्ञानावरणादि आठ कर्म रहित और सम्यक्त्व आदि आठ गुणों में गर्भित अनन्तगुण सहित सिद्धों का श्रद्धान करता है, उसी प्रकार अनगार शब्द से वाच्य आचार्य-उपाध्याय-साधुओं का श्रद्धान करता है, त्रस और स्थावर जीवों में अनुकम्पा-दया से सहित है, इस प्रकार का उपयोग शुभ कहलाता है। **(प्र.सा. १५७ ता.)** धर्मानुराग रूप शुभोपयोग है। **(प्र.सा.ता. १५६)** धर्मध्यान शुभभाव है। एकदेश परित्याग, अपहृत संयम, सराग चारित्र अथवा शुभोपयोग ये सब एकार्थवाची हैं। **(प्र.सा.ता. १६४)** मिथ्यात्वरूपी विष को वमन करो, सम्यग्दर्शन की भावना करो, उत्कृष्ट भक्ति करो और भाव नमस्कार में तत्पर होकर सदा ज्ञान में लगे रहो। पाँच महाव्रतों का पालन करो, क्रोधादि कषायों का निग्रह करो, प्रबल इन्द्रिय शत्रुओं को विजय करो तथा बाह्य और अभ्यन्तर तप को सिद्ध करने में उद्यम करो। इस प्रकार दोनों आर्या छन्दों में कहे गये लक्षण सहित शुभ उपयोग रूप परिणाम से युक्त या परिणत जीव पुण्य धारण करता है। **(बृ. द्र.सं. ३८ उद्धृत)** प्रतिक्रमण आदि रूप आठ प्रकार का शुभोपयोग होता है। **(स.सा. ३२८-२९)**

१६. प्रश्न : आठ विकल्पों वाला शुभोपयोग कौन-कौन सा है ?

उत्तर - प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारणा, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा और सोहीय इन आठ विकल्पों रूप शुभोपयोग है।

प्रतिक्रमण - किये हुए दोषों का निराकरण। **पडिसरण -** सम्यक्त्वादि गुणों में प्रवृत्त होना।

पडिहरण - मिथ्यात्व तथा रागादि दोषों का निवारण करना।

धारणा - पंच नमस्कार आदि मंत्र तथा प्रतिमा आदि बाह्य द्रव्यों के आलम्बन से चित्त को स्थिर करना।

णियत्तीय - बहिरंग विषयकषायादि में जो इच्छायुक्त चित्त होता है उसका निवारण करना।

निन्दा - अपने आप की साक्षी से दोषों का प्रकट करना।

गरुहा - गुरु की साक्षी से दोषों को प्रकट करना।

सोहीय - कोई दोष हो जाने पर प्रायश्चित्त लेकर उसका शोधन करना। **(स.सा.ता. ३२८-२९)**

१७. प्रश्न : शुभोपयोगी कौन होता है ?

उत्तर : श्रामण्य दशा में, यदि अरहन्तादि के प्रति भक्ति, प्रवचनरत जीवों के प्रति वात्सल्य पाया जाता है, तो वह शुभयुक्त चर्या होवे। इससे यह कहा गया है कि स्वयं शुद्धोपयोग लक्षण परम सामयिक में ठहरने के लिए असमर्थ मुनि के शुद्धोपयोग के फलस्वरूप केवलज्ञान परिणत अन्य जीवों के प्रति और उसी प्रकार शुद्धोपयोग के आराधक जीवों के प्रति जो वह भक्ति है, वह शुभोपयोगी श्रमणों का लक्षण है। **(प्र.सा. ता. २४६)** दर्शन ज्ञान का उपदेश, शिष्यों का ग्रहण तथा उनका पोषण और जिनेन्द्र की पूजा का उपदेश वास्तव में सरागियों की चर्या है। ये प्रवृत्तियाँ शुभोपयोगियों के ही होती हैं, शुद्धोपयोगी के नहीं। जो कोई श्रमण सदा छह काय की विराधना से रहित, चार प्रकार के श्रमण संघ का उपकार करता है, वह भी राग की प्रधानतावाला है। (ये प्रवृत्तियाँ शुभोपयोगी के ही होती हैं।) **(प्र.सा. २४८-४९)**

१८. प्रश्न : शुभोपयोग का क्या फल है ?

उत्तर : शुभोपयोग से परिणत होता हुआ स्वर्गसुख प्राप्त करता है। **(प्र.सा. ११)** निर्विकल्प समाधि रूप शुद्धोपयोग में रहने की शक्ति का अभाव होने पर जब शुभोपयोग रूप सराग चारित्र से परिणत होता है, तो अनाकुलता लक्षण पारमार्थिक सुख से विपरीत आकुलता पैदा करने वाला स्वर्ग-सुख प्राप्त करता है। तथा बाद में परम समाधिरूप मोक्ष की कारणभूत वीतराग चारित्र रूप सामग्री के सद्भाव में मोक्ष प्राप्त करता है, यह गाथा का भाव है। **(प्र.सा.ता.११)** जब पूर्वसूत्रकथित न्याय से सम्यक्त्व पूर्वक शुभोपयोग होता है तब मुख्य वृत्ति से तो पुण्यबन्ध होता है, परन्तु परम्परा से मोक्ष भी होता है। केवल पुण्यबन्ध मात्र नहीं होता। **(प्र.सा. ता. २५५)**

१९. प्रश्न : शुद्धोपयोग किसे कहते हैं ?

उत्तर : निश्चय रत्नत्रयात्मक तथा निर्मोह शुद्धात्मा का संवेदन ही है लक्षण जिसका तथा जिसे आगमभाषा में पृथक्त्ववितर्कवीचार नामका प्रथम शुक्लध्यान कहते हैं वह शुद्धोपयोग है। **(प्र.सा.ता.१५)** जीवन-मरण आदि में समता भाव रखना ही है लक्षण जिसका ऐसा परम उपेक्षा संयम शुद्धोपयोग है। **(प्र.सा.ता. १७)** निरुपराग: शुद्धोपयोग: **(प्र.सा.)**।

मैं अशुभोपयोग एवं शुभोपयोग से रहित होता हूँ, निज परमात्मद्रव्य से भिन्न अन्य द्रव्य में, जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, शत्रु-मित्र, निन्दा-प्रशंसा आदि विषय में मध्यस्थ होता हूँ, ज्ञानात्मक ज्ञान स्वरूप - केवलज्ञान में गर्भित अनन्तगुण स्वरूपी निजात्मा का शुद्ध ध्यान के विरोधी सम्पूर्ण इच्छा रूपी चिन्ताओं के जाल के त्याग पूर्वक ध्यान करता हूँ। इस प्रकार शुद्धोपयोग का लक्षण जानना चाहिए। **(प्र.सा.ता. १७१)** जहाँ न कोई आकार है, न आकारादि अक्षर है, न कृष्ण-नीलादि वर्ण हैं और न कोई विकल्प ही है, किन्तु जहाँ केवल एक चैतन्य स्वरूप ही प्रतिभासित होता है उसी को साम्य कहा जाता है। (साम्य-शुद्धोपयोग एकार्थक हैं।) **(प.पं.विं. ४/६५)**

२०. प्रश्न : शुद्धोपयोग को किन-किन नामों से कहा जाता है ?

उत्तर : उत्सर्ग मार्ग अथवा निश्चय नय अथवा सर्व परित्याग, परमोपेक्षा संयम, वीतराग चारित्र, शुद्धोपयोग ये सब एकार्थ-वाचक हैं। **(प्र.सा.ता. २६४)** साम्य, स्वास्थ्य, समाधि, योग, चित्तनिरोध और शुद्धोपयोग ये सब शब्द एक ही अर्थ के वाचक हैं। **(प.पं.विं. ४/६४)** शुद्ध संप्रयोग युक्त, शुद्ध शुभाशुभ आस्रव रहित शुभाशुभ कर्म रहित प्रयोग शुद्धात्म स्वरूप के अनुभव का व्यापार, परम उदासीनता (ये सब शुद्ध संप्रयोग के नाम हैं।) **(प्र.सा. ११ टी. प्रभाचन्द्राचार्य)**

२१. प्रश्न : शुद्धोपयोगी कौन होता है ?

उत्तर : जिन्होंने पदार्थों और सूत्रों को भली-भाँति जान लिया है, जो संयम और तपयुक्त है; जो वीतराग है और जिन्हें सुख-दुःख समान है, ऐसे श्रमण को शुद्धोपयोगी कहा गया है। **(प्र.सा. १४)**

परभावों से रहित परमभाव स्वरूप सामान्य निज बोध में तथा तत्त्वों की आराधना में युक्त रहने वाला ही शुद्ध-चारित्री कहा गया है। **(न.च.वृ. ३५५)**

समता तथा माध्यस्थता, शुद्धभाव तथा वीतरागता, चारित्र तथा धर्म ये सब स्वभाव की आराधना[१] कहे गये हैं। **(न.च. वृ. ३५७)** जो वस्तुस्वरूप को जानकर पर-द्रव्यों में राग-द्वेष नहीं करता है, वह उपयोग से विशुद्ध होता हुआ देहोत्पन्न दुःखों का क्षय करता है। **(प्र.सा. ८२)**

२२. प्रश्न : शुद्धोपयोग का फल क्या है ?

---

१. आत्मोपलब्धि तीन प्रकार की है- १. आगमिक २. मानसिक और ३. केवल। जहाँ आगमिक आत्मोपलब्धि होती है वहाँ शुद्धात्मा के विषय का श्रद्धान होता है पर तदनुकूल आचरण नहीं रहता। अध्यात्म शैली में उसे सम्यग्दृष्टि नहीं कहते तथापि आगमिक उसे शुद्धात्मा के श्रद्धान से सम्यग्दृष्टि कहते हैं। शुद्धात्मा तो उसे भी जागी है अतः वह भी सम्यग्दृष्टि है। अप्रमत्त साधु के मानसिक स्वात्मोपलब्धि स्वीकार की गई है। केवलज्ञान हो जाने पर प्रत्यक्ष रूप से आत्मा की प्राप्ति केवल आत्मोपलब्धि है। **(स.सा.ता. २८९)**

उत्तर : जो चैतन्य परिणाम स्वरूप उपयोग के द्वारा यथाशक्ति विशुद्ध होकर वर्तता है वह समस्त ज्ञेय पदार्थों के अन्त को पा लेता है। **(प्र.सा.ता. १५)** शुद्धोपयोग से जीव के धर्मध्यान और शुक्लध्यान होते हैं, इसलिए संवर का कारण ध्यान है, ऐसा निरन्तर विचारते रहना चाहिए। **(बा.अ. ६४)** शुद्ध परिणामों से उन दोनों (शुभ-अशुभ) का ही निर्मूल क्षय होता है। **(ध. १२/२७९)** जीवों के शुद्धोपयोग का फल समस्त दु:खों से रहित, स्वभाव से उत्पन्न और अविनाशी ऐसा ज्ञानाराज्य है। **(ज्ञा. ३/३४)** मिथ्यात्व रागादि परिणामों से रहित शुद्ध परिणाम युक्त पुरुष कर्मों को नहीं बाँधता। **(प.प्र. २/७१)** शुद्धोपयोग से प्रसिद्ध जीवों के अतिशय, आत्मोत्पन्न, विषयातीत, अनुपम, अनन्त और अखण्डित सुख होता है। **(प्र.सा. १३)** शुद्धोपयोगी आत्मा स्वयं ही ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय और मोहकर्म-रज से रहित होकर ज्ञेयभूत पदार्थों के पार को प्राप्त होते हैं। **(प्र.सा. १५)** इससे फलित हुआ कि शुद्धोपयोग से ही सर्वज्ञ होते हैं। **(प्र.सा.ता. १५)** इस प्रकार अपने स्वभाव को प्राप्त कर वह आत्मा स्वयं ही सर्वज्ञ तथा त्रैलोक्य पूज्य हुआ होने से स्वयंभू है, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है। **(प्र.सा.१६)** यदि शुद्धोपयोग है नाम जिसका ऐसे शुद्ध संप्रयोग परिणाम रूप परिणत हो तो मोक्षसुख प्राप्त करता है। **(प्र.सा.ता. ११)**

२३. प्रश्न : कौन से गुणस्थान में कौनसा उपयोग होता है ?

उत्तर : मिथ्यात्व, सासादन और मिश्र इन तीन गुणस्थानों में तारतम्य से अशुभोपयोग है। असंयत सम्यग्दृष्टि, देशविरत और प्रमत्तसंयत इन तीन गुणस्थानों में तारतम्य से शुभोपयोग है। अप्रमत्तसंयत गुणस्थान से क्षीणकषाय पर्यन्त छह गुणस्थानों में तारतम्य से शुद्धोपयोग है।[१] सयोगी जिन और अयोगी जिन-ये दो गुणस्थान शुद्धोपयोग के फल हैं। **(प्र.सा.ता. ९)**

२४. प्रश्न : क्या शुभोपयोग कुछ भी कार्यकारी नहीं है ?[२]

उत्तर : शुभोपयोगियों के शुद्धात्मा के अनुरागयुक्त चारित्र होता है। इसलिए जिन्होंने शुद्धात्म परिणति प्राप्त की है, ऐसे श्रमणों के प्रति जो वन्दन-नमस्कार-अभ्युत्थान-अनुगमन रूप विनीत वर्तन की प्रवृत्ति तथा शुद्धात्म परिणति की रक्षा की निमित्तभूत जो श्रम दूर करने की प्रवृत्ति है वह शुभोपयोगियों के लिए दूषित नहीं है। **(प्र.सा.ता. २४७)**

---

१. शुद्धे आत्मनि य: उपयोग: स:शुद्धोपयोग: - ऐसा शुद्धोपयोग चौथे गुणस्थान से आत्मचिन्तन के क्षणों में माना जा सकता है। शुद्धश्चासौ उपयोग: रागादिविरहित: - ऐसे शुद्धोपयोग की स्थिति सातवें गुणस्थान से ही प्रारम्भ हो सकेगी। शुद्ध: पूर्णज्ञानरूप: उपयोग: स:शुद्धोपयोग: - जीव का शुद्ध पूर्ण ज्ञान रूप उपयोग सो शुद्धोपयोग। यह परिभाषा ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थान में ही सार्थक होगी, इसके पूर्व नहीं। (पं. जगन्मोहनलाल शास्त्री)

२. प्रात: संध्या और सायं सन्ध्या दोनों सन्ध्यापन की दृष्टि से यद्यपि एक है फिर भी प्रात: सन्ध्या मार्गप्रकाशकारिका होती है किन्तु सायं सन्ध्या अँधेरे में डालने वाली। इसी प्रकार प्राणी की भली चेष्टा (पुण्य) और बुरी चेष्टा में भी अन्तर होता है। पाचक पदार्थ जिस प्रकार अजीर्ण को भी नष्ट करता है और आप भी पच जाता है उसी प्रकार प्रशस्त पुण्य पाप को भी नष्ट करता है और आप भी आसानी से हट जाया करता है। इस तरह से पारतंत्र्य की दृष्टि से शुभ और अशुभ कर्म समान होकर भी शुभकर्म कथंचिद् उपादेय है और पापकर्म सर्वथा हेय। **(तत्त्वार्थदीपिका ८/२६)**

इस प्रकार शुद्धात्मानुरागयुक्त प्रशस्त चर्या रूप जो यह शुभोपयोग वर्णित किया गया है वह यह शुभोपयोग शुद्धात्म की प्रकाशक सर्वविरति को प्राप्त श्रमणों के राग के संयोग से शुद्धात्मा का अनुभव होता है और क्रमश: परमनिर्वाणसौख्य का कारण होता है। **(प्र.सा.ता. २५४)**

आठ विकल्पों वाला शुभोपयोग यद्यपि मिथ्यात्वादि विषय-कषाय परिणति रूप अशुभोपयोग की अपेक्षा विकल्प सहित सरागचारित्र की अवस्था में तो अमृतकुंभ ही है तो भी जो अवस्था राग-द्वेष-मोह तथा ख्याति, पूजा, लाभ व देखे हुए, सुने हुए और अनुभूत भोगों की आकांक्षा-निदानबन्ध इत्यादि समस्त पर-द्रव्यों के अवलम्बन से होने वाले सम्पूर्ण विभाव परिणामों से शून्य है तथा जो वीतराग चारित्र में स्थित हो रहे हैं उन लोगों के लिए तो द्रव्य प्रतिक्रमणादि विषकुम्भ ही हैं। **(स.सा.ता. ३२८-२९)** ज्ञानी जनाश्रित अप्रतिक्रमण यद्यपि सराग चारित्र है लक्षण जिसका ऐसे शुभोपयोग की अपेक्षा तो अप्रतिक्रमण कहा जाता है किन्तु वीतराग चारित्र की अपेक्षा उसी का नाम निश्चय प्रतिक्रमण है क्योंकि वही शुभ-अशुभ आस्रवरूप दोष के निराकरण रूप होता है। यह व्यवहार प्रतिक्रमण की अपेक्षा अप्रतिक्रमण कहा जाकर भी ज्ञानीजनों के लिए मोक्ष का कारण होता है।

व्यवहार प्रतिक्रमण यदि शुद्धात्मा को उपादेय मानकर निश्चय प्रतिक्रमण का साधक होने से विषय-कषायों से बचने के लिए करता है तो वह परम्परा से मोक्ष का कारण होता है अन्यथा वह स्वर्गादि के सुख का निमित्तभूत पुण्य का ही कारण होता है। **(स.सा.ता. ३२८-२९)**

२५. प्रश्न : क्या दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग साथ-साथ होते हैं ?

उत्तर : छद्मस्थ जीवों को दर्शन पूर्वक ज्ञान होता है क्योंकि छद्मस्थों को ज्ञान और दर्शन ये दोनों उपयोग एक साथ नहीं होते हैं। केवली भगवान को ज्ञान और दर्शन ये दोनों उपयोग एक साथ ही होते हैं। **(वृ.द्र.सं. ४४)**

छद्मस्थों को आवरण वाला क्षायोपशमिक ज्ञान होने से दर्शन पूर्वक ज्ञान होता है। केवली भगवान को निर्विकार स्वसंवेदन से उत्पन्न निरावरण क्षायिकज्ञान होने से, मेघ रहित सूर्य के युगपत् आतप और प्रकाश की भाँति दर्शन और ज्ञान युगपद् ही होते हैं। **(बृ.द्र.सं.टी. ४४)**

२६. प्रश्न : छद्मस्थ किसे कहते हैं ?

उत्तर : 'छद्म' शब्द से ज्ञानावरण और दर्शनावरण ये दो कहे जाते हैं; उस छद्म में जो रहता है वह छद्मस्थ है। **(बृ.द्र.सं. टी. ४४)**

२७. प्रश्न : ज्ञान को प्रथम ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : यद्यपि दर्शन पूर्वकाल भावी है फिर भी विशेष ग्राहक और पदार्थ का निश्चायक होने से ज्ञान पूज्य है और पूज्य होने के कारण ज्ञान को पूर्व में ग्रहण किया है, क्योंकि जो पूज्य होता है उसका पूर्व में ही निपात किया जाता है। **(रा.वा. २)**

जीवों के भेद :

जीवों के भेद कहते हैं-

संसारिणो मुक्ताश्च ॥१०॥

संसारिणः मुक्ताः च।

जीव (संसारिणः) संसारी (मुक्ताश्च) और मुक्त के भेद से दो प्रकार के होते हैं।

अर्थ - संसारी और मुक्त के भेद से जीव दो प्रकार के होते हैं।

१. **प्रश्न : जीव कितने प्रकार के होते हैं ?**

उत्तर : जीव दो प्रकार के होते हैं -

(१) संसारी जीव (२) मुक्त जीव। **(त.सू. २/१०)**

अथवा - जीव तीन प्रकार के हैं-

(१) असिद्ध जीव (२) नोसिद्ध - जीवनमुक्त अरहंत (३) सिद्ध जीव। **(त.सा. २/२३४)**

(१) बहिरात्मा (२) अन्तरात्मा (३) परमात्मा। **(मो.पा. ४)**

(२) भव्य जीव (२) अभव्य जीव (३) मुक्त जीव **(म.पु. २४/१२८)**

(१) असंज्ञी जीव (२) संज्ञी जीव। **(त.सू.२/११)**

(१) पुण्य जीव (२) पाप जीव। **(गो. जी.मू. ६२२)**

(१) शुद्ध जीव (२) अशुद्ध जीव। इनमें मुक्त जीव शुद्ध एवं संसारी जीव अशुद्ध है। **(यो.सा. ७/२५-२६)**

स्त्री, पुरुष, नपुंसक के भेद से; ज्ञान, दर्शन, संयम, लेश्या, सम्यक्त्व, संज्ञा, आहार इन मार्गणाओं के भेद से भी जीव नाना प्रकार के होते हैं। **(मू. २२७ आ.)** गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद आदि विधानों से और कुल, योनि आदि के भेदों से जीव अनेक प्रकार के होते हैं। **(मू. २२७ आ.)**

२. **प्रश्न : संसार किसे कहते हैं ?**

उत्तर : कर्मविपाक के वश से आत्मा को भवान्तर की प्राप्ति होना संसार है। **(रा.वा.१)** संसरण करने को संसार कहते हैं जिसका अर्थ परिवर्तन है। **(सर्वा. २७५)** जीव एक शरीर को छोड़ता है और दूसरे नये शरीर को ग्रहण करता है। पश्चात् उसे भी छोड़कर दूसरा नया शरीर धारण करता है। इस प्रकार अनेक बार शरीर को ग्रहण करता है और अनेक बार उसे छोड़ता है। मिथ्यात्व कषाय आदि से युक्त जीव का इस प्रकार अनेक शरीरों में जो संसरण होता है उसे संसार कहते हैं। **(का.अ. ३२-३३)**

जिस घातिकर्मसमूह के कारण जीव चारों गतियों में संसरण करते हैं, वह घातिकर्मसमूह संसार है। **(ध. १३/४४)**

३. प्रश्न : संसारी जीव किसे कहते हैं ?

उत्तर : द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव रूप संसार है। यह संसार जिसमें है वे संसारी हैं। **(रा.वा.१)** कर्म कलंक से जो लिप्त हैं, स्वस्वभाव को जिन्होंने प्राप्त नहीं किया है; गुणस्थान, मार्गणास्थान तथा जीवस्थान में जो स्थित हैं वे संसारी जीव हैं। **(न.च. वृ. १०८)** क्षायोपशमिक, अशुद्धोपयोग युक्त संसारी जीव हैं। कर्म एवं कर्मफल चेतनात्मक संसारी जीव हैं। **(पं.का. ता. १०९)** ज्ञानावरणादि आठ कर्म से बँधा हुआ जीव संसारी है।

४. प्रश्न : संसारी जीव कैसे होते हैं ?

उत्तर : यह संसारी जीव सुख पाने की इच्छा से इन्द्रियों से उत्पन्न ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य को शरीर में ही निहित मानता है। इसे उन्हें पाने के लिए पर-वस्तुओं का आश्रय लेना पड़ता है। कर्मबन्धन से बँधे रहने के कारण यह संसार से मुक्त नहीं हो पाता है। ये गुणस्थानों और मार्गणास्थानों में स्थित हैं। नरक, तिर्यञ्च, देव, मनुष्य इन चार गतियों में भ्रमते हैं। पर्यायों की अपेक्षा अनेक भेद-प्रभेद वाले होते हैं।

५. प्रश्न : संसारी जीवों की कौन-कौन सी विशेषताएँ हैं ?

उत्तर : संसारी जीवों की विशेषताएँ -

(१) परतन्त्रता - कर्मबन्धन युक्त होना।

(२) चंचलता - सुख-दुःख जनित वेदना से उत्पन्न व्याकुलता।

(३) क्षयपन - देव आदि पर्यायों में प्राप्त ऋद्धियों का क्षय होना।

(४) बाध्यता - ताड़ना एवं अनिष्ट वचनों की प्राप्ति।

(५) परिक्षयत्व - इन्द्रियों से उत्पन्न ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सुख का क्षय होना।

(६) रजस्वलत्व - कर्म कलंकित होना।

(७) छेद्यत्व - शरीर के खण्ड-खण्ड हो सकना।

(८) भेद्यत्व - प्रहार आदि से शरीर का भेदा जा सकना।

(९) मृत्यु - प्राणों का परित्याग।

(१०) प्रमेयत्व - चेतन का परिमित शरीर में रहना।

(११) गर्भवास - माता के गर्भ में रहना।

(१२) विलीनता - एक शरीर से दूसरे शरीर में संक्रमण करना।

(१३) क्षुभितत्व - क्रोध आदि से आक्रान्त चित्त में क्षोभ उत्पन्न होना।

(१४) विविधयोग - नाना योनियों में भ्रमना।

(१५) संसारावास - चारों गतियों में परिवर्तन करते रहना।

(१६) असिद्धता - प्रत्येक जन्म में ज्ञानादि गुणों का अन्य-अन्य रूप होते रहना।

(१७) विनश्वरता - सुख-दु:ख, बल, आहार, शरीर, घर आदि बदलते रहते हैं इसलिए वह विनश्वर है। **(म.पु. ४२/८३-९४)**

६. प्रश्न : मुक्त जीव किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो द्रव्यबन्ध एवं भावबन्ध से रहित है वह मुक्त जीव है। **(रा.वा. २)** जिनके अष्ट कर्म नष्ट हो गये हैं, जो शरीर रहित हैं, अनन्त सुख व अनन्त ज्ञान में आसीन हैं और परम प्रभुत्व को प्राप्त हैं ऐसे सिद्ध भगवान मुक्त जीव हैं। **(न.च. वृ. १०६)** जो द्रव्यादि पाँच प्रकार (परिवर्तन) के संसार से रहित हैं वे मुक्त हैं। **(सर्वा. २८०)** शुद्ध चेतनात्मा या केवलज्ञान व केवल दर्शनोपयोग लक्षण वाला जीव मुक्त है। **(प.का.ता. १०९)**

७. प्रश्न : मुक्त जीवों की कौन-कौन सी विशेषताएँ हैं ?

उत्तर : मुक्त जीवों की विशेषताएँ -

(१) स्वतन्त्रपना - पर-द्रव्य की अपेक्षा रहित सर्वश्रेष्ठ स्वतन्त्रता है।

(२) अचञ्चलता - सुख-दु:ख आदि की वेदना से होने वाले परभाव का अभाव होने से उनमें गम्भीरता अचञ्चलता है।

(३) अक्षयपना - कर्मों के क्षय से अतिशयों की प्राप्ति होना ही उनका अक्षयपना है।

(४) अव्याबाधपना - किसी भी जीव या अजीव से बाधा नहीं होती अत: अव्याबाधत्व है।

(५) अनन्त ज्ञानत्व-संसार के समस्त पदार्थों को एक साथ जानते हैं अत: अनन्तज्ञानत्व है।

(६) अनन्त दर्शनत्व-संसार के समस्त पदार्थों को एक साथ देखते हैं अत: अनन्त दर्शनत्व है।

(७) अनन्त वीर्यत्व - अन्य पदार्थों के द्वारा प्रतिघात नहीं होना अनन्त वीर्यत्व है।

(८) अनन्त सुखत्व - भोग्य पदार्थों में उत्कण्ठा का अभाव अनन्त सुखत्व है।

(९) नीरजसत्व - पुण्य-पाप का अभाव होना नीरजसत्व है।

(१०) निर्मलत्व - अन्तरंग बहिरंग मल का नाश होने से निर्मलत्व है।

(११) अच्छेद्यत्व - कर्म रूपी मल के नाश होने से जो जीव के प्रदेशों का घनाकार परिणमन होता है वही अच्छेद्यत्व है।

(१२) अभेद्यत्व - कर्ममल के नाश होने से उनके अभेद्यत्व माना जाता है।

(१३) अक्षरता - मुक्त जीवों का नाश नहीं होता अत: अक्षरता है।

(१४) अप्रमेयत्व - आत्मोत्थ गुणों से इसका प्रमाण नहीं होता अत: अप्रमेयत्व है।

(१५) अगर्भवसत्व - अन्तरंग-बहिरंग मल का नाश होने से गर्भवास का अभाव है। अत: अगर्भवसत्व है।

(१६) अगौरवलाघवत्व - कर्म-नोकर्म का नाश हो जाने से गुरुता और लघुता नहीं है।

(१७) अक्षोभ्यत्व - प्रशंसनीय गुणों से अपने में अवस्थित है अत: अक्षोभ्यत्व है।

(१८) अविलीनत्व - आत्मगुणों से रहित नहीं होते अत: अविलीनत्व है।

(१९) योगरूपत्व - शाश्वत पूर्व शरीराकार मूर्त्ति रहती है, यह उसकी परम हद है वही इसकी योगरूपता है।

(२०) लोकाग्रवास - तीन लोक के शिखर पर सदा रहने वाली जो स्थिति है वह लोकाग्रवास है।

(२१) परमसिद्धता - समस्त पुरुषार्थों की पूर्णता परमसिद्धता है। **(म.पु. ४२/९६-१०७)**

८. प्रश्न : पंच परिवर्तन कौन से हैं जिनसे मुक्त जीव रहित हैं ?

उत्तर : (१) द्रव्य परिवर्तन (२) क्षेत्र परिवर्तन (३) काल परिवर्तन (४) भव परिवर्तन (५) भाव परिवर्तन। **(सर्वा. २७५)**

९. प्रश्न : द्रव्य परिवर्तन किसे कहते हैं ?

उत्तर : द्रव्य परिवर्तन दो प्रकार का है -

(१) नोकर्म द्रव्य परिवर्तन (२) कर्म द्रव्य परिवर्तन ।

नोकर्म द्रव्य परिवर्तन - किसी एक जीव ने तीन शरीर और छह पर्याप्तियों के योग्य पुद्गलों को एक समय में ग्रहण किया। अनन्तर वे पुद्गल स्निग्ध या रूक्ष स्पर्श तथा वर्ण और गन्ध आदि के द्वारा जिस तीव्र, मन्द और मध्यम भावरूप से ग्रहण किये थे उस रूप से अवस्थित रहकर द्वितीयादि समयों में निर्जीर्ण हो गये। तत्पश्चात् अगृहीत परमाणुओं को अनन्त बार ग्रहण करके छोड़ा, मिश्र परमाणुओं को अनन्तबार ग्रहण करके छोड़ा और बीच में गृहीत परमाणुओं को अनन्तबार ग्रहण करके छोड़ा। तत्पश्चात् जब उसी जीव के सर्वप्रथम ग्रहण किये गये वे ही नोकर्म परमाणु उसी प्रकार से नोकर्म भाव को प्राप्त होते हैं तब यह सब मिलकर एक नोकर्म द्रव्य परिवर्तन होता है।

कर्म द्रव्य परिवर्तन - एक जीव ने आठ प्रकार के कर्म रूप से जिन पुद्गलों को ग्रहण किया, वे समयाधिक एक आवली काल के बाद द्वितीयादिक समयों में झर गये। पश्चात् जो क्रम नोकर्म द्रव्य परिवर्तन में बतलाया है उसी क्रम से वे ही पुद्गल उसी प्रकार से उस जीव के जब कर्म भाव को प्राप्त होते हैं तब यह सब एक कर्मद्रव्यपरिवर्तन कहलाता है। कहा भी है-

इस जीव ने सभी पुद्गलों को क्रम से भोग कर छोड़ दिया। और इस प्रकार यह जीव असकृत्

अनन्तबार पुद्गल परिवर्तन रूप संसार में घूमता है। **(सर्वा. २७५)**

१०. प्रश्न : क्षेत्र परिवर्तन किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिसका शरीर आकाश के सबसे कम प्रदेशों पर स्थित है ऐसा एक सूक्ष्म निगोद लब्ध्यपर्याप्तक जीव लोक के आठ मध्य प्रदेशों को अपने शरीर के मध्य में करके उत्पन्न हुआ और क्षुद्रभवग्रहण काल तक जीकर मर गया। पश्चात् वही जीव पुन: उसी अवगाहना से वहाँ दूसरी बार उत्पन्न हुआ, तीसरी बार उत्पन्न हुआ, चौथी बार उत्पन्न हुआ। इस प्रकार घनांगुल के असंख्यातवें भाग में आकाश के जितने प्रदेश हों उतनी बार वहीं उत्पन्न हुआ। पुन: उसने आकाश का एक-एक प्रदेश बढ़ाकर सब लोक को अपना जन्मक्षेत्र बनाया। इस प्रकार यह सब मिलकर एक क्षेत्रपरिवर्तन होता है। कहा भी है- सब लोक क्षेत्र में ऐसा एक प्रदेश नहीं है जहाँ यह अवगाहना के साथ क्रम से नहीं उत्पन्न हुआ। इस प्रकार इस जीव ने क्षेत्रसंसार में अनेक बार परिभ्रमण किया। **(सर्वा. २७६)**

११. प्रश्न : काल परिवर्तन किसे कहते हैं ?

उत्तर : कोई जीव उत्सर्पिणी के प्रथम समय में उत्पन्न हुआ और आयु के समाप्त हो जाने पर मर गया। पुन: वही जीव दूसरी उत्सर्पिणी के दूसरे समय में उत्पन्न हुआ और अपनी आयु के समाप्त होने पर मरा। पुन: वही जीव तीसरी उत्सर्पिणी के तीसरे समय में उत्पन्न हुआ। इस प्रकार इसने क्रम से उत्सर्पिणी समाप्त की और इसी प्रकार अवसर्पिणी भी। यह जन्म की निरन्तरता कही। तथा इसी प्रकार मरण की निरन्तरता जाननी चाहिए। इस प्रकार यह सब मिलकर एक काल परिवर्तन है। कहा भी है - काल संसार में परिभ्रमण करता हुआ यह जीव उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के सब समयों में अनेक बार जन्मा और मरा। **(सर्वा. २७७)**

१२. प्रश्न : भव परिवर्तन किसे कहते हैं ?

उत्तर : नरक गति की जघन्य आयु दस हजार वर्ष की है। एक जीव उस आयु से वहाँ उत्पन्न हुआ, पुन: परिभ्रमण कर उसी आयु से वहीं उत्पन्न हुआ। इस प्रकार दस हजार वर्ष के जितने समय हैं उतनी बार वहीं उत्पन्न हुआ और मरा। पुन: आयु के एक-एक समय बढ़ाकर नरक की तैंतीस सागर आयु समाप्त की। तदनन्तर नरक से निकलकर अन्तर्मुहूर्त्त आयु के साथ तिर्यंचगति में उत्पन्न हुआ और पूर्वोक्त क्रम से उसने तिर्यंच गति की तीन पल्योपम आयु समाप्त की। इस प्रकार मनुष्यगति में अन्तर्मुहूर्त से लेकर तीन पल्योपम आयु समाप्त की तथा देवगति में नरकगति के समान आयु समाप्त की। किन्तु देवगति में इतनी विशेषता है कि यहाँ इकतीस सागरोपम आयु समाप्त होने तक कथन करना चाहिए। (क्योंकि नवग्रैवेयकों में इकतीस सागरोपम आयु है, उसके आगे सभी सम्यग्दृष्टि ही उत्पन्न होते हैं) इस प्रकार सब मिलाकर एक भवपरिवर्तन है। कहा भी है- इस जीव ने मिथ्यात्व के संसर्ग से उपरिम ग्रैवेयक तक नरक आदि गतियों की जघन्य आदि स्थितियों में उत्पन्न हो होकर अनेक बार परिभ्रमण किया। **(सर्वा. २७८)**

१३. प्रश्न : भाव परिवर्तन किसे कहते हैं ?

उत्तर : पंचेन्द्रिय संज्ञी पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि कोई एक जीव ज्ञानावरण प्रकृति की सबसे जघन्य अपने योग्य अन्त:कोड़ाकोड़ी प्रमाण स्थिति को प्राप्त होता है। उसके उस स्थिति के योग्य षट् स्थान पतित असंख्यात लोक प्रमाण कषाय अध्यवसायस्थान होते हैं और सबसे जघन्य इन कषाय अध्यवसायस्थानों के निमित्त से असंख्यात लोक प्रमाण अनुभाग अध्यवसायस्थान होते हैं। इस प्रकार सबसे जघन्य स्थिति, सबसे जघन्य कषाय अध्यवसायस्थान और सबसे जघन्य अनुभाग अध्यवसायस्थान को धारण करने वाले इस जीव के तद्योग्य सबसे जघन्य योगस्थान है। तत्पश्चात् स्थिति कषाय अध्यवसायस्थान और अनुभाग अध्यवसाय स्थान वही रहते हैं, किन्तु योगस्थान दूसरा हो जाता है जो असंख्यातभाग वृद्धिसंयुक्त होता है। इसी प्रकार तीसरे, चौथे आदि योगस्थानों में समझना चाहिए। ये सब योगस्थान चतु:स्थानपतित होते हैं और इनका प्रमाण श्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण है। तदनन्तर उसी स्थिति और उसी कषाय अध्यवसायस्थान को धारण करने वाले जीव के दूसरा अनुभाग अध्यवसाय स्थान होता है। इसके योगस्थान पहले के समान जानना चाहिए। तात्पर्य यह है कि यहाँ भी पूर्वोक्त तीनों बातें ध्रुव रहती हैं किन्तु योगस्थान जगश्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण होते हैं। इस प्रकार असंख्यात लोकप्रमाण अनुभाग अध्यवसाय स्थानों के होने तक तीसरे आदि अनुभाग अध्यवसाय स्थानों में जानना चाहिए। तात्पर्य यह है कि यहाँ स्थिति और कषाय अध्यवसायस्थान तो जघन्य ही रहते हैं किन्तु अनुभाग अध्यवसायस्थान क्रम से असंख्यात लोक प्रमाण हो जाते हैं और एक-एक अनुभाग अध्यवसाय स्थान के प्रति जगश्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण योगस्थान होते हैं। तत्पश्चात् उसी स्थिति को प्राप्त होने वाले जीव के दूसरा कषाय अध्यवसाय स्थान होता है। इसके भी अनुभाग अध्यवसायस्थान और योगस्थान पहले के समान जानना चाहिए। अर्थात् एक-एक कषाय अध्यवसाय स्थान के प्रति असंख्यात लोक प्रमाण अनुभाग अध्यवसायस्थान होते हैं। एक-एक अनुभाग अध्यवसाय स्थान के प्रति जगश्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण योगस्थान होते हैं। इस प्रकार असंख्यात लोकप्रमाण कषाय अध्यवसाय स्थानों के होने तक तीसरे आदि कषाय अध्यवसायस्थानों में वृद्धि का क्रम जानना चाहिए।

जिस प्रकार सबसे जघन्य स्थिति के कषायादि स्थान कहे हैं उसी प्रकार एक समय अधिक जघन्य स्थिति के भी कषायादि स्थान जानने चाहिए और इसी प्रकार एक-एक समय अधिक के क्रम से तीस कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति तक प्रत्येक स्थिति विकल्प के भी कषायादि स्थान जानने चाहिए।

इसी प्रकार सब मूल प्रकृतियों का और उनकी उत्तर प्रकृतियों के परिवर्तन का क्रम जानना चाहिए। यह सब मिलकर एक भाव परिवर्तन होता है। कहा भी है- इस जीव ने मिथ्यात्व के संसर्ग से सब प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशबन्ध के स्थानों को प्राप्त कर भावसंसार में भ्रमण किया है। **(सर्वा. २७९)**

१४. प्रश्न : चतु:स्थानपतित का क्या अर्थ है ?

उत्तर : अनन्तभागवृद्धि, असंख्यातभागवृद्धि, संख्यातभागवृद्धि, संख्यातगुणवृद्धि, असंख्यात गुणवृद्धि और अनन्तगुणवृद्धि, इस प्रकार से वृद्धि के छह स्थान हैं तथा इसी प्रकार हानि भी छह प्रकार की है। इनमें से अनन्तभाग वृद्धि और अनन्तगुणवृद्धि इन दो स्थानों को कम कर देने पर चार स्थान होते

हैं। **(सर्वा. २७९)**

१५. प्रश्न : इन परिवर्तनों का काल कितना है ?

उत्तर : पुद्गल द्रव्य परिवर्तन का काल सबसे कम है। क्षेत्र परिवर्तन का काल पुद्गल परिवर्तन से अनन्तगुणा है। काल परिवर्तन का काल क्षेत्र परिवर्तन के काल से अनन्तगुणा है। भव परिवर्तन का काल काल परिवर्तन के काल से अनन्तगुणा है। भाव-परिवर्तन का काल भव परिवर्तन के काल से अनन्त गुणा है। **(ध. ४/३३४)**

१६. प्रश्न : नित्य निगोदिया जीवों के पंच परावर्तन का कथन क्यों नहीं करना चाहिए ?

उत्तर : इनके पंच परिवर्तन का कथन नहीं करना चाहिए क्योंकि नित्यनिगोद के जीवों को तीनों कालों में भी त्रसपना नहीं है। कहा भी है, ऐसे अनन्त जीव हैं जिन्होंने अब तक त्रस-पर्याय नहीं प्राप्त की है। वे प्रचुर भावकलंक युक्त होने से निगोद-पना नहीं छोड़ते है। **(वृ.द्र.सं. ३५ टी.)**

१७. प्रश्न : जीव के भूत काल में कितने परिवर्तन हुए हैं ?

उत्तर : अतीत काल में एक जीव के सबसे कम भाव परिवर्तन हुए हैं। भाव परिवर्तन के प्रमाण से भव परिवर्तनों का प्रमाण अनन्तगुणा है, भव परिवर्तन से काल परिवर्तन अनन्तगुणी बार हुए हैं। काल परिवर्तनों से क्षेत्र परिवर्तन अनन्तगुणी बार हुए हैं। क्षेत्र परिवर्तनों से पुद्गल (द्रव्य) परिवर्तन अनन्तगुणी बार हुए हैं। (क्योंकि इनका काल आगे-आगे अनन्त-अनन्त गुणा है।) **(ध. ४/३३४)**

यहाँ विशेष यह है कि नित्य निगोद के जीवों को छोड़कर पाँच प्रकार के संसार का व्याख्यान करना चाहिए। **(वृ. द्र. सं. टी. ३५)**

१८. प्रश्न : द्रव्यबन्ध और भावबन्ध क्या है ?

उत्तर : कर्म और नोकर्म से परिणत पुद्गल द्रव्य द्रव्यबन्ध है तथा उस द्रव्य के निमित्त से होने वाले क्रोधादि भाव भावबन्ध हैं। **(रा.वा.२)**

१९. प्रश्न : बहिरात्मा किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो देह और देही को एक मानता है वह बहिरात्मा है। यह तत्त्व-अतत्त्व में, गुण-अवगुण में, सुगुरु-कुगुरु में, धर्म-अधर्म में, शुभ-अशुभ मार्ग में, जिनसूत्र-कुशास्त्र में, देव-अदेव में और हेय-उपादेय के विचार में विवेक नहीं करता है। तप, श्रुत और व्रत से मुक्त होकर भी यह स्व-पर विवेक से रहित होता है। **(वी.व.चा. १६/६७-७२)** जो जीव मिथ्यात्व कर्म के उदय रूप परिणत है, तीव्र कषाय से अच्छी तरह आविष्ट है और जीव तथा देह को एक मानता है, वह बहिरात्मा है। **(का.अ. १९३)** जो मिथ्यादर्शन से मोहित जीव परमात्मा को नहीं समझता, उसे जिन भगवान ने बहिरात्मा कहा है, वह जीव पुन:पुन: संसार में परिभ्रमण करता है। **(यो. सा. ७)** (योगीन्दु देवकृत)

नोट : ये लक्षण व्यवहार नय से या आगम भाषा से कहे गये है।

मिथ्यात्व व रागद्वेषादि कषायों से मलिन आत्मा की अवस्था को बहिरात्मा कहते हैं। **(प्र.सा. ता. २७३)** निज शुद्धात्मा के अनुभव से उत्पन्न यथार्थ सुख से विरुद्ध जो इन्द्रियसुख, उसमें आसक्त सो बहिरात्मा है। **(वृ.द्र.सं.टी. १४)**

देह रहित निज शुद्धात्म द्रव्य की भावना रूप भेदविज्ञान से रहित होने के कारण देहादि अन्य द्रव्य में जो एकत्व भावना से परिणत है, यानी देह को ही एक समझता है सो बहिरात्मा है। **(वृ.द्र.सं.टी. १४)** हेयोपादेय का विचार करने वाला जो 'चित्त' तथा निर्दोष परमात्मा से भिन्न रागादि दोष और शुद्ध चैतन्य लक्षण का धारक आत्मा इन तीनों में अथवा सर्वज्ञकथित अन्य पदार्थों में जिसके परस्पर सापेक्ष नयों द्वारा श्रद्धान और ज्ञान नहीं है वह बहिरात्मा है। **(वृ. द्र. सं.टी. १४)** षट् आवश्यक क्रियाओं से रहित श्रमण वह बहिरात्मा है। **(नि.सा. १४९)** जो अन्तर्बाह्य जल्प में वर्तता है वह बहिरात्मा है। **(नि.सा. १५०)** ध्यान से रहित आत्मा बहिरात्मा है, ऐसा जान। **(नि.सा. १५१)**

बाह्य धनादिक में स्फुरत (तत्पर) है मन जिसका, व इन्द्रियों के द्वारा अपने स्वरूप से च्युत है अर्थात् इन्द्रियों को ही आत्मा मानता हुआ अपनी देह को ही आत्मा निश्चय करता ऐसा मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा है। **(मो.पा. ८)**

नोट : ये लक्षण अध्यात्म की दृष्टि से अथवा निश्चय नय से कहे गये हैं।

२०. प्रश्न : बहिरात्मा कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : बहिरात्मा तीन प्रकार का होता है -

(१) उत्कृष्ट बहिरात्मा (२) मध्यम बहिरात्मा (३) जघन्य बहिरात्मा। मिथ्यात्व, सासादन एवं मिश्र इन तीन गुणस्थानों में तारतम्य-न्यूनाधिक भेद से बहिरात्मा है। **(बृ.द्र.सं.टी. १४)** प्रथम गुणस्थान में उत्कृष्ट बहिरात्मा, द्वितीय गुणस्थान में मध्यम बहिरात्मा तथा तृतीय गुणस्थान में जघन्य बहिरात्मा है। **(का.अ.टी. १९३)**

२१. प्रश्न : अन्तरात्मा किसे कहते हैं ?

उत्तर : विवेकी, जिनसूत्र का वेत्ता, तत्त्वातत्त्व, शुभाशुभ, देवादेव, सत्यासत्य, दुष्पथ-मुक्तिपथ का ज्ञाता तथा इन्द्रियविषयजनित सुख का निरभिलाषी और मुमुक्षु कर्म और कर्मों के कार्यों से उत्पन्न मोह, इन्द्रिय और राग-द्वेष आदि से आत्मा को पृथक्, निष्फल और योगिगम्य जानने वाला जीव अन्तरात्मा है। ऐसा जीव सर्वार्थसिद्धि तक के सुखों को और जिनेन्द्र के वैभव को भोगता है। **(वी.व.चा. १६/७५-८२)** जो जिनवचनों में कुशल हैं, जीव और देह के भेद को जानते हैं तथा जिन्होंने आठ मदों को जीत लिया है वे अन्तरात्मा हैं। **(का.अ. १९४)** आवश्यक सहित श्रमण वह अन्तरात्मा है। जो अन्तर्बाह्य जल्पों में नहीं वर्तता है, वह साक्षात् अन्तरात्मा है। **(नि.सा.ता. १४९-५०)** जो पुरुष परमात्मा को शरीर से जुदा

केवलज्ञान कर पूर्ण जानता है वह परम समाधि में तिष्ठता हुआ अन्तरात्मा अर्थात् विवेकी है। **(प.प्र. १/१४)** क्षीणकषाय ही साक्षात् अन्तरात्मा है। **(नि.सा. टी. १५१)**

२२. प्रश्न : अन्तरात्मा कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : अन्तरात्मा तीन प्रकार के होते हैं। (१) उत्कृष्ट अन्तरात्मा (२) मध्यम अन्तरात्मा (३) जघन्य अन्तरात्मा। **(नि.सा. १४९ टी.)**

२३. प्रश्न : उत्कृष्ट अन्तरात्मा किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो जीव पाँच महाव्रतों से युक्त होते हैं, धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान में सदा स्थित होते हैं तथा जो समस्त प्रमादों को जीत लेते हैं वे उत्कृष्ट अन्तरात्मा कहलाते हैं। **(का.अ. १९५)** बारहवें गुणस्थानवर्ती जीव को उत्तम अन्तरात्मा कहा गया है। **(वी.व.चा. १६/९५-९६)** अभेद-अनुपचार रत्नत्रयात्मक स्वात्मानुष्ठान में नियत परमावश्यक कर्म से निरन्तर संयुक्त ऐसा जो 'स्ववश' नामका परम श्रमण वह सर्वोत्कृष्ट अन्तरात्मा है, यह महात्मा सोलह कषायों के अभाव द्वारा क्षीणमोह पदवी को प्राप्त करके स्थित है। **(नि.सा. टी. १४९)**

२४. प्रश्न : अन्तर्बाह्य जल्पों से रहित को अन्तरात्मा क्यों कहा है ?

उत्तर : जल्प दो प्रकार के हैं -

(१) अन्तर्जल्प (२) बाह्य जल्प।

अन्तर्जल्प - अशन (भोजन), शयन, गमन, स्थिति आदि में सत्कारादि की प्राप्ति का लोभ करना अन्तर्जल्प है।

बहिर्जल्प - पुण्यकर्म की काँक्षा से स्वाध्याय, प्रत्याख्यान, स्तवन आदि बहिर्जल्प है। निज आत्मा के ध्यान में परायण वर्तता हुआ निरवशेष रूप से अन्तर्मुख रहकर प्रशस्त-अप्रशस्त समस्त विकल्प-जालों में कभी भी नहीं वर्तता इसीलिए परम तपोधन (अन्तर्बहिर्जल्प से रहित) साक्षात् अन्तरात्मा कहा गया है। **(नि.सा.ता. १५० टी.)** भव-भय को करने वाले बाह्य तथा अभ्यन्तर जल्प को छोड़कर समरसमय एक चैतन्य-चमत्कार का सदा स्मरण करके, ज्ञानज्योति द्वारा जिसने निज अभ्यन्तर भङ्ग प्रकट किया है ऐसा अन्तरात्मा मोह क्षीण होने पर किसी परमतत्त्व को अन्तर में देखता है। **(नि.सा.श्लोक.)**

२५. प्रश्न : क्षीणकषायी को साक्षात् अन्तरात्मा क्यों कहा है ?

उत्तर : यहाँ वास्तव में साक्षात् अन्तरात्मा भगवान क्षीणकषाय है। वास्तव में उन भगवान क्षीणकषाय को सोलह कषायों का अभाव होने के कारण दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय कर्म रूपी योद्धाओं के दल नष्ट हुए हैं इसलिए वे सहजचिद्-विलासलक्षण अति-अपूर्व आत्मा को शुद्ध निश्चय धर्मध्यान और शुद्ध निश्चयशुक्लध्यान इन दो ध्यानों द्वारा नित्य ध्याते हैं। **(नि.सा.ता. १५१)**

२६. प्रश्न : मध्यम अन्तरात्मा कौन है ?

उत्तर : पाँचवें से ग्यारहवें गुणस्थान तक सात गुणस्थानवर्ती जीव मध्यम अन्तरात्मा हैं। **(वी.व.चा. १६/९५-९६)** श्रावक के व्रतों को पालने वाले गृहस्थ और प्रमत्त गुणस्थानवर्ती मुनि मध्यम अन्तरात्मा हैं। ये जिनवचन में अनुरक्त होते हैं, उपशम स्वभाव वाले होते हैं और महापराक्रमी होते हैं। **(का. अ. १९६)** उत्कृष्ट और जघन्य के मध्य में स्थित सर्व मध्यम अन्तरात्मा हैं। **(नि.सा. टी. १४९)**

२७. प्रश्न : जघन्य अन्तरात्मा कौन है ?

उत्तर : अविरत गुणस्थान में उसके योग्य अशुभ लेश्या से परिणत जघन्य अन्तरात्मा है। **(वृ.द्र.सं. टीका १४)** जो जीव अविरत सम्यग्दृष्टि हैं वे जघन्य अन्तरात्मा हैं। वे जिन भगवान के चरणों के भक्त होते हैं, अपनी निन्दा करते रहते हैं और गुणों को ग्रहण करने में बड़े अनुरागी होते हैं। **(का. अ. १९७)** अविरत सम्यग्दृष्टि जघन्य अन्तरात्मा है। **(नि.सा.टी. १४९)**

२८. प्रश्न : परमात्मा किसे कहते हैं ?

उत्तर : स्वयं के द्वारा स्वयं में लीन होने वाले आत्मा को परमात्मा कहते हैं। **(म.पु.)** संसारी जीव में सबसे उत्कृष्ट आत्मा को परमात्मा कहते हैं। **(स.श. ६)** सम्पूर्ण पाँचों इन्द्रियों को विषयों में प्रवृत्ति से रोक कर स्थित हुए अन्त:करण के द्वारा क्षण मात्र के लिए अनुभव करने वाले जीवों के जो चिदानन्द स्वरूप प्रतिभासित होता है, वही परमात्मा का स्वरूप है। **(स. श. ३०)** काम - क्रोधादि दोष का जय करने से अनन्त ज्ञानादि गुण सहित वह 'जिन' है इत्यादि परमागम में कहे हुए एक हजार आठ नामों से वाच्य परमात्मा जानना। **(वृ.द्र.सं.टी. १४)** कर्म कलंक से रहित आत्मा को परमात्मा कहते हैं। **(मो. पा. ५)** जो व्यवहार नय से देहरूपी देवालय में बसता है, पर निश्चय से देह से भिन्न है, आराध्य देव स्वरूप है, अनादि-अनन्त है, केवलज्ञान स्वरूप है, नि:सन्देह वह अचलित (पारिणामिक) भाव ही परमात्मा है। **(प. प्र. १/३३)** नि:शेष दोष से जो रहित है और केवलज्ञानादि परम वैभव से जो संयुक्त है, वह परमात्मा कहलाता है, उससे विपरीत परमात्मा नहीं है। **(नि.सा. ७)**

२९. प्रश्न : परमात्मा कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : परमात्मा दो प्रकार के होते हैं -

(१) कारण परमात्मा (२) कार्य परमात्मा। **(नि.सा.टी. ७)**

(१) सकल परमात्मा (२) निकल परमात्मा। **(का.अ. १९९)**

(१) अरहंत परमात्मा (२) सिद्ध परमात्मा। **(का.अ. टी. १९२)**

३०. प्रश्न : कारण परमात्मा किसे कहते हैं ?

उत्तर : जन्म-जरा-मरण रहित, परम पारिणामिक भाव से परम स्वभाव वाला होने से परम, आठ कर्म रहित, शुद्ध ज्ञानादिक चार स्वभाव वाला, अक्षय, अविनाशी और अच्छेद्य है। वह परमात्म तत्त्व अव्याबाध, अतीन्द्रिय, अनुपम, पुण्य-पापरहित, पुनरागमन रहित, नित्य, अचल और निरालम्ब है। यह कारण परमात्मा का व्याख्यान है। **(नि.सा.टी. १७७-७८)** औदयिकादि चार भावान्तरों को अगोचर होने से जो द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म रूप उपाधि से जनित विभाव गुणपर्यायों से रहित है, तथा अनादि-अनन्त, अमूर्त्त, अतीन्द्रिय स्वभाव वाला, शुद्ध, सहज परम पारिणामिक भाव जिसका स्वभाव है - ऐसा कारण परमात्मा वह वास्तव में आत्मा है। **(नि.सा.टी. ३८)**

३१. प्रश्न : कार्य परमात्मा किसे कहते हैं ?

उत्तर : सकल विमल केवलज्ञान-केवलदर्शन परम वीतरागात्मक आनन्द इत्यादि अनेक वैभव से समृद्ध है, ऐसे जो परमात्मा अर्थात् त्रिकाल निरावरण, नित्यानन्द एक स्वरूप निज कारण परमात्मा की भावना से उत्पन्न कार्य परमात्मा वही भगवान अरहंत परमेश्वर है। **(नि.सा.टी. ७)**

३२. प्रश्न : सकल परमात्मा किसे कहते हैं ?

उत्तर : केवलज्ञान से जान लिये हैं सकल पदार्थ जिन्होंने ऐसे शरीर सहित अर्हन्त तो सकल परमात्मा हैं। **(का.अ. १९८)** निज कारण परमात्मा की भावना से उत्पन्न कार्य परमात्मा वही अर्हन्त, कल अर्थात् शरीर के साथ जो वर्ते सो सकल कहलाता है और सकल भी हो तथा आत्मा भी हो वह सकलात्मा कहलाता है। **(स.श.टी.२)**

३३. प्रश्न : निकल परमात्मा किसे कहते हैं ?

उत्तर : सर्वोत्तम सुख की प्राप्ति जिन्हें हो गयी है तथा ज्ञान ही है शरीर जिनके ऐसे शरीर रहित सिद्ध भगवान निकल परमात्मा हैं। **(का.अ. १९८)** निश्चय से औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण नामक पाँच शरीर के समूह का अभाव होने से आत्मा नि:कल अर्थात् नि:शरीर है। **(नि.सा.टी. ४३)**

३४. प्रश्न : सूत्र में दिया गया 'च' शब्द किस अर्थ में है ?[१]

उत्तर : सूत्र में दिया गया 'च' शब्द संसारी जीवों में उपयोग की मुख्यता और मुक्त जीवों में उपयोग की गौणता बताने के लिए है। जैसे देवदत्त को लाओ, भिक्षा कराओ। इसमें भिक्षा कराओ, यह पद प्रधान है और देवदत्त को लाओ यह गौण है। **(रा.वा. ४)** सूत्र में 'च' शब्द व्यर्थ नहीं है। 'च' शब्द से जिन आत्माओं के अभी संसार का अभाव नहीं हुआ है लेकिन जो भवान्तर में जाने रूप संसार से रहित हैं और योग का सद्भाव होने से नोसंसारी हैं, ऐसे नोसंसारी क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ एवं सयोगी

१. संसारपूर्वक ही मुक्तपना होता है, यह स्पष्ट करने के लिए सूत्र में 'च' शब्द दिया हुआ है।

केवली का ग्रहण किया है एवं जो संसारी भी नहीं है, मुक्त भी नहीं है तथा नोसंसारी भी नहीं है ऐसे अयोग केवली का संग्रह करना चाहिए। **(श्लो. ५/१०६)**

३५. प्रश्न : संसारी जीवों में उपयोग की मुख्यता एवं मुक्त जीवों में गौणता क्यों है ?

उत्तर : जिस प्रकार एकाग्रचिन्तानिरोध रूप ध्यान छद्मस्थों में मुख्य है, क्योंकि चित्त के विक्षेप वाले छद्मस्थों के चिंतानिरोध की उत्पत्ति होती है। परन्तु केवली भगवान के मानसिक विक्षेप नहीं है, सिर्फ ध्यान का फल कर्मध्वंस देखकर उनमें उपचार से ध्यान कहा जाता है। उसी प्रकार संसारियों में उपयोग बदलता रहता है, इसलिए मुख्य है और मुक्तात्माओं में सतत एक सी धारा रहने के कारण गौण है। **(रा.वा.५)**

३६. प्रश्न : सूत्र में संसारी का प्रथम ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : संसारी जीवों के बहुत विकल्प (भेद-प्रभेद) हैं तथा संसारपूर्वक मोक्ष होता है और सभी के स्वसंवेद्य है इसलिए संसारी का ग्रहण प्रथम किया है। मुक्तात्मा तो अत्यन्त परोक्ष है, उनका अनुभव अभी तक अप्राप्त ही है। **(रा.वा. ६)** सूत्र में संसारी पद का पहले ग्रहण किया क्योंकि मुक्त यह संज्ञा संसारपूर्वक प्राप्त होती है। **(सर्वा. २८०)**

३७. प्रश्न : सूत्र में 'संसारिण: मुक्ता:' इस प्रकार दोनों में अलग-अलग बहुवचन क्यों किया है ?

उत्तर : सूत्र में 'संसारिण:' बहुवचन देने से संसारी जीव बहुत हैं, अन्यमतावलम्बियों के समान एक नहीं है एवं 'मुक्ता:' बहुवचन करने से मुक्त जीव भी बहुत हैं। अन्यमतावलम्बियों के समान एक नहीं है क्योंकि संसारी जीव एक है एवं मुक्त आत्मा एक है इस प्रकार का प्रवाद दृष्ट (प्रत्यक्षादि प्रमाण) से एवं इष्ट (अनुमानादि) से बाधित है। **(श्लो. ५/१०१)**

३८. प्रश्न : संसारी एवं मुक्त जीवों को एक मानने पर क्या हानि है ?

उत्तर : संसारी जीवों को यदि एक ही माना जायेगा तो जन्म, मरण का प्रत्येक आत्मा के प्रति नियम नहीं बन सकता है तथा मुक्त आत्माओं को एक ही मानने पर मोक्ष प्राप्त करने का अभ्यास निष्फल होगा क्योंकि अन्य मुक्तात्मा का अभाव ही है। परन्तु मुक्त जीवों के अनेकत्व की सिद्धि है।**(श्लो. ५/१०२-३)**

३९. प्रश्न : संसारी एवं मुक्त जीवों का प्रमाण कितना है ?

उत्तर : सम्पूर्ण जीव राशि में अनन्त का भाग देने पर बहुभाग प्रमाण संसारी जीव हैं और एक भाग प्रमाण मुक्त जीव हैं।

४०. प्रश्न : कैसे जाना जाता है कि ये जीव के भेद हैं ?

उत्तर : इसी अध्याय में दिये गये प्रथम (पहले) सूत्र के 'जीवस्य' शब्द की अनुवृत्ति कर लेने से जाना जाता है कि जीव के संसारी और मुक्त, ये भेद हैं। **(श्लो. ५-१००)**

संसारी जीवों के विशेषण कहते हैं -

समनस्काऽमनस्काः ॥११॥

समनस्काः अमनस्काः।

अर्थ - संसारी जीव समनस्क एवं अमनस्क के भेद से दो प्रकार के हैं।

समनस्क - जो मन सहित हैं वे समनस्क हैं।

अमनस्क - जो मन रहित हैं वे अमनस्क हैं।

१. प्रश्न : संसारी जीव कितने प्रकार के होते हैं?

उत्तर : संसारी जीव दो प्रकार के होते हैं।

(१) समनस्क (संज्ञी) (२) अमनस्क (असंज्ञी)। **(त.सू. २/११)**

(१) त्रस जीव (२) स्थावर जीव। **(त.सू. २/१२)**

संसारी जीव तीन प्रकार के होते हैं।

(१) असंयत (आदि के चार गुणस्थानवर्ती) (२) संयतासंयत (पंचम गुणस्थानवर्ती) (३) संयत (छठे से चौदहवें गुणस्थान वाले) **(हरि. पु. ३/७८)**

२. प्रश्न : दो प्रकार के जीवों का प्रकरण होने से यथासंख्य अर्थ करना चाहिए यथा संसारी समनस्क और मुक्त अमनस्क।

उत्तर : संसारी को समनस्क एवं मुक्त को अमनस्क कहना उचित नहीं है क्योंकि ऐसा यथासंख्य अर्थ करने पर सर्व संसारी प्राणियों के समनस्कत्व का प्रसंग आयेगा। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा कोई-कोई पंचेन्द्रिय जीव भी मनोविषयक व्यापार का अभाव होने से अमनस्क माने गये (मानना इष्ट) हैं और सर्व संसारी प्राणियों को समनस्क मान लेने से उनमें असैनित्व का व्याघात (अभाव का प्रसंग) प्राप्त होता है लेकिन ऐसा है नहीं। **(रा.वा. ३)**

३. प्रश्न : कैसे जाना जाता है कि ये संसारी जीवों के भेद हैं ?

उत्तर : पृथक् योग करने से संसारी का ही सैनी और असैनी के साथ सम्बन्ध है। यदि इस सूत्र में संसारी का सम्बन्ध नहीं होता तो 'संसारिणो मुक्ताश्च समनस्कामनस्काः' ऐसा एक ही सूत्र कहते। **अथवा** आगे कहे जाने वाले 'संसारिणस्त्रसस्थावराः' सूत्र से संसारी पद की प्रत्यासत्ति होने के कारण संसारियों का बोध होता है। (अर्थात् ये संसारी जीवों के भेद हैं ऐसा जाना जाता है।) **(रा.वा. ४-५)**

४. प्रश्न : सूत्र में 'समनस्क' पद का आदि में ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : पूज्य होने से सूत्र में समनस्क पद का आदि में ग्रहण किया है। समनस्क के सभी इन्द्रिय

होती है। (इसलिए वह पूज्य है) **(रा.वा. ११)** समनस्क शब्द श्रेष्ठ है क्योंकि समनस्क जीव ही गुण और दोषों के विचार करने वाले होते हैं, अत: समनस्क पद का सूत्र में प्रथम ग्रहण किया है। **(सर्वा. २८२)**

५. **प्रश्न : संसारी जीव समनस्क भी हैं और अमनस्क भी, यह कैसे सिद्ध होता है ?**

उत्तर : कोई संसारी जीव समनस्क है क्योंकि शिक्षा, क्रिया, आलाप-ग्रहण आदि ज्ञान रूप कार्य की सिद्धि अन्यथा नहीं हो सकती। संसार में कोई जीव अमनस्क है क्योंकि शिक्षा आदि को ग्रहण नहीं करने वाले ज्ञान के होने स्वरूप कार्य की सिद्धि अन्यथा नहीं हो सकती है। दूसरी बात इष्ट विशेष से भी दो प्रकार के जीवों की सिद्धि हो जाती है। प्रकरण में इष्ट पद से प्रकृष्ट वचन आगम लिया जाता है। सर्वज्ञ की आम्नाय से चले आये आगम का विशेष ही समनस्क और अमनस्क जीवों को कहने वाला शास्त्र है। **(श्लो. ५/११३-१४)**

संसारी जीवों के और भी भेद कहते हैं -

संसारिणस्त्रसस्थावरा: ॥१२॥

संसारिण: त्रस - स्थावरा:।

(संसारिण:) संसारी जीव (त्रसस्थावरा:) त्रस और स्थावर के भेद वाले हैं।

अर्थ - संसारी जीव त्रस और स्थावर के भेद वाले होते हैं।

त्रस - जिनके त्रस नामकर्म का उदय है वे त्रस जीव कहलाते हैं।

स्थावर - जिनके स्थावर नामकर्म का उदय है वे स्थावर कहलाते हैं।

१. **प्रश्न : यह सूत्र क्यों कहा गया है ?**

उत्तर : स्वकृत कर्मफल की अपेक्षा से पूर्ण एवं अपूर्ण इन्द्रियों के समूह से प्राप्त द्विविध विशिष्ट तथा कार्मण शरीर प्रणालिका से प्रतिपादित नियत अवस्था विशेष वाले जीवों का प्रतिपादन करने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा.उ. ४)**

२. **प्रश्न : त्रस जीव किसे कहते हैं ?**

उत्तर : जीव विपाकी त्रस नाम कर्म के उदय से उत्पन्न वृत्ति विशेष वाले जीव त्रस कहे जाते हैं। **(रा.वा. १)**

३. **प्रश्न : जो भयभीत होकर क्रिया करते हैं, इस प्रकार व्युत्पत्ति अर्थ करने पर क्या हानि है ?**

उत्तर : जो भयभीत होकर क्रिया करते हैं इस प्रकार व्युत्पत्ति करने पर गर्भस्थ, अण्डस्थ, मूर्च्छित, सुषुप्त आदि में बाह्य भय के निमित्त मिलने पर भी हलन-चलन नहीं होता, अत: उनमें अत्रसत्व

का प्रसंग प्राप्त होता है। त्रस्यन्ति इति त्रसा: यह केवल 'गच्छतीति गो:' की तरह व्युत्पत्तिमात्र है, प्रधान है। **(रा.वा.२)**

४. प्रश्न : स्थावर जीव किसे कहते हैं ?

उत्तर : स्थावर जीव एक स्पर्शन इन्द्रिय के द्वारा ही जानता है, देखता है, खाता है, सेवन करता है और उसका स्वामीपना करता है, इसलिए उसे एकेन्द्रिय स्थावर जीव कहा है। **(ध.१/२४१)** जीवविपाकी स्थावर नामकर्म के उदय से उपजनित विशेष जीव स्थावर संज्ञा को प्राप्त होता है। **(रा.वा. ३)**

५. प्रश्न : 'स्थानशील, जो ठहरें वे स्थावर' इस प्रकार स्थावर का अर्थ करने पर क्या हानि है?

उत्तर : नहीं, क्योंकि वायु आदिकों में अस्थावरत्व का प्रसंग आता है। वायु, अग्नि और जल की देशान्तर प्राप्ति देखी जाती है इससे वे अस्थावर समझे जायेंगे। स्थानशील को स्थावर कहना यह तो रूढ़ि विशेष के बल से क्वचित् देखने में आता है।

वायु आदिक को अस्थावर भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ऐसा मानने में आगम के साथ विरोध आता है। षट्खण्डागम सत्प्ररूपणा के कायानुवाद में ऐसा वचन अवस्थित है कि 'द्वीन्द्रिय से लेकर अयोग केवली तक जीवों को त्रस कहते हैं।' अत: वायु आदिकों को स्थावर की कोटि से निकाल कर त्रस की कोटि में लाना उचित नहीं है। इसलिए चलन और अचलन की अपेक्षा त्रस और स्थावर नहीं कहा जा सकता अपितु त्रस और स्थावर नाम कर्मोदय से ही त्रस-स्थावर जीव होते हैं। **(रा.वा. ४-५)**

६. प्रश्न : अग्नि, जल और वायु चलते हुए देखे जाते हैं सो कैसे ?[१]

उत्तर : नहीं, क्योंकि जिस प्रकार वृक्ष में लगे हुए पत्ते वायु से हिला करते हैं और टूटने पर इधर-उधर उड़ जाते हैं, उसी प्रकार अग्निकायिक और जलकायिक के प्रयोग से गमन मानने में कोई विरोध नहीं आता है। तथा वायु के गति पर्याय से परिणत शरीर को छोड़कर कोई दूसरा शरीर नहीं पाया जाता है इसलिए उसके गमन करने में भी कोई विरोध नहीं आता है। **(ध. १/२७८)**

७. प्रश्न : सूत्र में 'त्रस' पद का प्रथम ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : अल्पाक्षर और पूज्य होने के कारण त्रस को सर्वप्रथम ग्रहण किया है। 'त्रस' शब्द में दो अक्षर हैं तथा स्थावर में तीन अक्षर हैं। समास में अल्पअक्षरों को प्रथम ग्रहण किया जाता है इसलिए त्रस को प्रथम ग्रहण किया है। त्रस जीवों में ही सर्व उपयोग सम्भव है इसलिए त्रस पूज्य हैं। **(रा.वा. ६)**

८. प्रश्न : सूत्र में पुन: 'संसारिण:' पद का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : इस सूत्र में पुन: 'संसारिण:' शब्द ग्रहण किया है जिससे कि समनस्क, अमनस्क तथा त्रस-

१. पाँच प्रकार के एकेन्द्रिय जीवों में से भी उनके शरीर की बनावट को देखने से तीन प्रकार के (पृथ्वीकायिक, जलकायिक और वनस्पतिकायिक) जीव ही स्थावर हैं, बाकी वायुकायिक जीव और अग्निकायिक जीव त्रस ही हैं। **(पंचा. गा. १११)**

स्थावरों के यथासंख्यपना न होवे अर्थात् सभी त्रस समनस्क और सभी स्थावर अमनस्क ऐसा क्रम नहीं लगाना है, संसारी के ही त्रस-स्थावर ऐसे दो भेद होते हैं, ऐसा लगाना है। **(सुख. बो. त.वृ. ९१)** सूत्र में दिया गया 'संसारिण:' पद का ग्रहण अनर्थक नहीं है, क्योंकि पूर्व सूत्र की अपेक्षा इस सूत्र में 'संसारी' पद का ग्रहण किया है। तात्पर्य यह है कि पूर्व सूत्र में जो समनस्क और अमनस्क जीव बतलाये हैं वे संसारी हैं, इस बात का ज्ञान कराने के लिए इस सूत्र में 'संसारी' पद दिया है। यदि संसारी पद को पूर्व का विशेषण न माना जाय तो समनस्क और अमनस्क का संसारी और मुक्त इनके साथ क्रम से सम्बन्ध हो जायेगा। इस प्रकार 'संसारिण:' पद का ग्रहण पूर्वसूत्र की अपेक्षा से होकर अगले सूत्र के लिए भी हो जाता है। यथा- वे संसारी जीव दो प्रकार के हैं - त्रस और स्थावर **(सर्वा. २८४)**

स्थावर जीवों के सम्बन्ध में कहते हैं -

पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतय: स्थावरा: ॥१३॥

पृथिवी - अप् - तेज: - वायु - वनस्पतय: स्थावरा:।

(पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतय:) पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति **(स्थावरा:)** ये स्थावर हैं।

अर्थ - पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक ये स्थावर हैं।

पृथिवीकायिक - जिनके पृथिवीकायिक नामकर्म का उदय है वे पृथिवीकायिक जीव हैं।

जलकायिक - जिनके जलकायिक नामकर्म का उदय है वे जलकायिक जीव हैं।

अग्निकायिक - जिनके अग्निकायिक नामकर्म का उदय है वे अग्निकायिक जीव हैं।

वायुकायिक - जिनके वायुकायिक नामकर्म का उदय है वे वायुकायिक जीव हैं।

वनस्पतिकायिक - जिनके वनस्पतिकायिक नामकर्म का उदय है वे वनस्पतिकायिक जीव हैं।

१. प्रश्न : पृथिवीकायिक जीव किसे कहते हैं ?

उत्तर : पृथिवी रूप शरीर को पृथिवी काय कहते हैं, वह जिनके पाया जाता है उन जीवों को पृथिवीकायिक कहते हैं। जो जीव पृथिवीकायिक नामकर्म के उदय के वशवर्ती हैं उन्हें पृथिवीकायिक कहते हैं। **(ध. १/२६७)**

२. प्रश्न : पृथिवीकायिक का इस प्रकार लक्षण कहने पर कार्मण काय योग में स्थित जीवों के पृथिवीकायपना नहीं हो सकता है।

उत्तर : यह बात नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार जो कार्य अभी नहीं हुआ है, उसमें यह हो चुका है इस प्रकार उपचार किया जाता है, उसी प्रकार कार्मणकाय योग में स्थित पृथिवीकायिक जीवों के भी पृथिवीकायिक यह संज्ञा बन जाती है। **(ध.१/२६७)**

३. प्रश्न : पृथ्वीकायिकादि नाम की कोई प्रकृति नहीं है, अत: पृथ्वीकायिकादि नामकर्म के उदय से पृथ्वीकायिकादि जीव कैसे हो सकते हैं ?

उत्तर : यद्यपि नाम कर्म की पृथ्वीकायिकादि कोई प्रकृति नहीं है फिर भी उन सबका अन्तर्भाव एकेन्द्रिय जाति नाम कर्म में हो जाता है, इस प्रकार के कथन से जाना जाता है कि पृथ्वीकायिकादि नाम कर्म के उदय से पृथ्वीकायिकादि जीव होते हैं। **(श्लो. ५/१२४)**

४. प्रश्न : पृथिवीकायिक जीव कौन-कौन से हैं ?

उत्तर : मिट्टी, बालू, शर्करा, उपल, शिला, लवण, लोहा, ताँबा, रांगा, सीसक, चाँदी, सोना, हीरा, हरिताल, हिंगुल, मैनसिल, सस्यक, अंजन, प्रवाल, अभ्रक, अभ्रबालू, गोमेदमणि, रुचकमणि, अंकमणि, स्फटिकमणि, पद्मरागमणि, चन्द्रकान्त, वैडूर्य, जल-कान्त, सूर्यकान्त, गेरु, चन्दन, वप्पक, वकमोच, मसारगल्ल ये सब छत्तीस प्रकार के पृथिवीकायिक जीव हैं। **(मू. २०६-९)**

५. प्रश्न : सिद्धशिला, मेरुपर्वत आदि को पृथ्वीकायिक में ग्रहण क्यों नहीं किया ?

उत्तर : सात नरक की पृथिवी, ईषत् प्राग्भार नामवाली सिद्धशिला, मेरुपर्वत, कुलाचल, द्वीप और द्वीप-समूह की वेदिकाएँ, देवों के विमान, भवन, जिनप्रतिमा आदि प्रतिमाएँ, तोरणद्वार, स्तूप, चैत्यवृक्ष, जम्बूवृक्ष, शाल्मलीवृक्ष, इष्वाकारपर्वत, मानुषोत्तर पर्वत, विजयार्धपर्वत, कांचनपर्वत, दधिमुखपर्वत, अंजनगिरि, रतिकर पर्वत, वृषभाचल तथा और भी सामान्य पर्वत, स्वयंप्रभ पर्वत, वक्षार पर्वत, रुचकवरपर्वत, कुण्डलवर पर्वत, गजदन्त और रत्नों की खान आदि का अन्तर्भाव उपर्युक्त छत्तीस भेदों में ही हो जाता है। **(मू. २०९ आ.)**

६. प्रश्न : पृथिवी कितने प्रकार की होती है ?

उत्तर : पृथिवी चार प्रकार की है–

(१) पृथिवी (२) पृथिवीकाय (३) पृथिवीकायिक (४) पृथिवीजीव।

पृथिवी - जो अचेतन है, प्राकृतिक परिणमनों से बनी है और कठिनगुणवाली है वह पृथिवी है। अथवा पृथिवी यह सामान्यवाची है, क्योंकि आगे के तीनों भेदों में यह पायी जाती है।

पृथिवीकाय - काय का अर्थ शरीर है अत: पृथिवीकायिक जीव द्वारा जो शरीर छोड़ दिया जाता है वह पृथिवीकाय कहलाता है। यथा-मरे हुए मनुष्य आदि का शरीर।

पृथिवीकायिक - जिस जीव के पृथिवीरूप काय विद्यमान है उसे पृथिवीकायिक कहते हैं, यह जीव पृथिवी रूप शरीर के सम्बन्ध से युक्त है।

पृथिवी जीव - कार्मण काययोग में स्थित जिस जीव ने जब तक पृथिवी को काय रूप ग्रहण नहीं किया है तब तक वह पृथिवीजीव कहलाता है। **(सर्वा. २८६)**

७. प्रश्न : सर्वप्रथम भेद रूप पृथिवी अचेतन है अत: उसे पृथिवी कैसे कह सकते हैं ?

उत्तर : सर्व प्रथम भेद पृथिवी अचेतन होने से यद्यपि इसमें नामकर्म का उदय नहीं है तो भी प्रथनक्रिया से उपलक्षित होने के कारण अर्थात् विस्तार आदि गुणवाली होने के कारण पृथिवी कहलाती है। **(सर्वा. २८६)**

८. प्रश्न : सूत्र में सर्वप्रथम पृथिवी का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : सुखपूर्वक ग्रहण होने से, स्थूल मूर्तित्व होने से, भूय उपकारक होने से आदि में (सर्व प्रथम) पृथिवी का ग्रहण किया है।

पृथिवी के होने पर घटादि के द्वारा पानी का, सिगड़ी आदि से अग्नि का, चमड़े के घट (कुप्पा) आदि से वायु का सुखपूर्वक ग्रहण किया जाता है। विमान, भवन, प्रस्तर आदि भाव परिणाम से पृथिवी स्थूल रूप से सर्वत्र मिलती है। स्नान-पान आदि उपकार से पानी का पाक-शोष, प्रकाशनादि उपकार से अग्नि का, खेद-स्वेद-अपनोद आदि उपकार से वायु का, बहुत प्रकार से पृथ्वी का अशन (भोजन) आच्छादन, वसनादि से वनस्पति का जो प्रतिनियत महान् उपकार कहा गया है वह पृथ्वी के होने पर ही होता है। यदि पृथ्वी नहीं होती तो पानी आदि कहाँ पर स्थित होकर उपकार करते इसलिए पृथ्वी का सर्वप्रथम ग्रहण किया है। **(रा.वा.२)**

९. प्रश्न : जलकायिक जीव कौन-कौन से हैं ?

उत्तर : ओस, हिम, कुहरा, मोटी बूँदें, छोटी बूँदें, शुद्ध जल और घनजल ये जलकायिक जीव हैं।

ओस - रात्रि के पश्चिम प्रहर में मेघ रहित आकाश से जो सूक्ष्म जलकण गिरते हैं उसे ओस कहते हैं।

हिम - जो पानी घन होकर नीचे ओले के रूप में हो जाता है वह हिम है, इसे ही बर्फ कहते हैं।

कुहरा - धूमाकार (धूम के आकार वाला) जल जो कुहरा कहलाता है, इसे ही महिका कहते हैं।

मोटी बूँदें - स्थूल बिन्दु रूप जल हरत् नामवाला है।

छोटी बूँदें - सूक्ष्म बिन्दु रूप जल अणुसंज्ञक है।

शुद्धजल - चन्द्रकान्त से उत्पन्न हुआ जल शुद्धजल है।

घनजल - झरना आदि से उत्पन्न हुआ सामान्य जल उदक कहलाता है।

समुद्र, सरोवर, घनवात आदि से उत्पन्न हुआ जल, जो घनाकार है, घनोदक कहलाता है।

अथवा - महासरोवर, समुद्र आदि से उत्पन्न हुआ जल हरदणु है और मेघ आदि से उत्पन्न हुआ घनाकार जल घनोदक है। नदी, सागर, सरोवर, कूप, झरना, मेघ से बरसने वाला, आकाश से उत्पन्न हुआ हिम-बर्फ रूप, कोहरा रूप, भूमि से उत्पन्न, चन्द्रकान्तमणि से उत्पन्न, घनवात आदि का जल इत्यादि सभी प्रकार के जलकायिक जीवों का उपर्युक्त भेदों में अन्तर्भाव है। **(मू. २१० आ.)**

१०. प्रश्न : अप् (जल) कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : अप् चार प्रकार का होता है।

(१) अप् (२) अप् काय (३) अप् कायिक (४) अप् जीव।

अप् - जो जल आलोड़ित हुआ है उसे एवं कीचड़ सहित जल को जल कहते हैं।

अप् काय - जिस जलकायिक में से जीव नष्ट हो चुके हैं अथवा गर्म जल जलकाय है।

अप् कायिक - जल जीव ने जिस जल को शरीर रूप से ग्रहण किया है वह जलकायिक है।

अप् जीव - विग्रहगति में स्थित जीव जो एक, दो या तीन समय में जल को शरीर रूप में ग्रहण करेगा, वह जलजीव है। **(सि.सा.दी. ११/१४-१५)**

११. प्रश्न : पृथ्वी के बाद जल का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : पृथ्वी जल का आधार है, जल आधेय है। इस आधार-आधेय भाव (सम्बन्ध) को बताने के लिए तथा अग्नि और पृथ्वी का परस्पर विरोध है, अग्नि पृथ्वी को जलाकर खाक बना देती है उस अग्नि का शमन जल के द्वारा ही होता है अत: पृथ्वी और अग्नि के मध्य में जल का ग्रहण किया है। (रा.वा. ३)

१२. प्रश्न : अग्निकायिक जीव कौन-कौन से हैं ?

उत्तर : अंगारे, ज्वाला, लौ, मुर्मुर, शुद्धाग्नि और अग्नि, ये सब अग्निकायिक जीव हैं।

अंगारे - जलते हुए, धुएँ रहित काठ आदि अर्थात् धधकते कोयले अंगारे कहलाते हैं।

ज्वाला - अग्नि की लपटें ज्वाला कहलाती हैं।

लौ - दीपक का और ज्वाला का अग्रभाग (लौ) अर्चि है।

मुर्मुर - कण्डे की अग्नि का नाम मुर्मुर है।

शुद्धाग्नि - वज्र से उत्पन्न हुई अग्नि, बिजली की अग्नि, सूर्यकान्त से उत्पन्न हुई अग्नि ये शुद्ध अग्नि हैं।

अग्नि - धुएँ आदि सहित सामान्य अग्नि को अग्नि कहा है। बड़वा अग्नि, नन्दीश्वर के मन्दिरों में रखे हुए धूपघटों की अग्नि, अग्निकुमार देव के मुकुट से उत्पन्न हुई अग्नि आदि सभी अग्नि के भेदों का

उपर्युक्त भेदों में ही अन्तर्भाव हो जाता है। (मू. २११ आ.)

१३. प्रश्न : अग्नि कितने प्रकार की होती है ?

उत्तर : अग्नि चार प्रकार की होती है। अग्नि, अग्निकाय, अग्निकायिक, अग्निजीव।

अग्नि - (इधर-उधर फेंकी हुई अग्नि - जलादि - संसक्त अग्नि) प्रचुर भस्म से आच्छादित अग्नि अर्थात् जिसमें थोड़ी सी उष्णता है, वह अग्नि है।

अग्निकाय - भस्म आदि से अथवा जिस अग्निकायिक को अग्निजीव ने छोड़ दिया है, वह अग्निकाय है।

अग्निकायिक - जिस अग्नि रूपी शरीर को अग्निजीव ने धारण कर लिया है वह अग्निकायिक है।

अग्निजीव - जो जीव अग्निरूप शरीर को धारण करने के लिए जा रहा है, विग्रहगति में स्थित है ऐसा जीव अग्नि जीव है। **(सि.सा.दी. ११/१७-१८)**

१४. प्रश्न : वायुकायिक जीव कौन-कौन से हैं ?

उत्तर : घूमती हुई वायु, उत्कलि रूप वायु, मंडलाकारवायु, गुंजावायु, महावायु, घनोदधिवात-वलय की वायु और तनुवातवलय की वायु ये सब वायुकायिक जीव हैं।

वात शब्द से सामान्य वायु को कहा है।

जो वायु घूमती हुई ऊपर को उठती है वह **उद्भ्रमवायु** है।

जो लहरों के समान होती है वह **उत्कलिरूप** वायु है।

पृथ्वी में लगकर घूमती हुई वायु **मण्डलिवायु** है।

गूँजती हुई वायु **गुंजा वायु** है। वृक्षादि को गिरा देने वाली वायु **महावायु** है।

घनोदधिवातवलय, तनुवातवलय की वायु **घनाकार** है।

पंखे आदि से की गई वायु अथवा लोक को वेष्टित करने वाली वायु **तनुवात** है।

उदर में स्थित वायु पाँच प्रकार की होती है। प्राणवायु, अपानवायु, समानवायु, उदानवायु, व्यान (सम्पूर्ण शरीर में रहने वाली) वायु।

भवनवासी एवं ज्योतिषी आदि देवों के विमान की आधारभूत वायु के भेद उपर्युक्त वायु में ही अन्तर्भूत है। **(मू. २१२ आ)**

१५. प्रश्न : वायु कितने प्रकार की होती है ?

उत्तर : वायु चार प्रकार की है –

वायु, वायुकाय, वायुकायिक, वायुजीव।

वायु - धूलि का समुदाय जिसमें है ऐसी भ्रमण करने वाली वायु, वायु है।

वायुकाय - जिस वायुकायिक में से जीव निकल गया है, ऐसी वायु का पौद्गलिक वायुदेह वायुकाय है।

वायुकायिक - प्राणयुक्त वायु वायुकायिक है।

वायुजीव - वायु रूपी शरीर को धारण करने के लिए जाने वाला ऐसा विग्रहगति में स्थित जीव वायु जीव है। **(सि.सा.दी. ११/२०-२१)**

वायु दो प्रकार की होती है।

(१) झंझावात और (२) माण्डलिक। **(भ.आ.वि. ६१०)**

झंझावात - जलवृष्टि सहित जो वायु बहती है उसको झंझावात कहते हैं।

माण्डलिक - जो वर्तुलाकार भ्रमण करती है उसको माण्डलिक वायु कहते हैं।

१६. प्रश्न : जल के बाद अग्नि एवं अग्नि के बाद वायु का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : पृथ्वी और जल का परिपाक अग्नि के द्वारा होता है, अत: इन दोनों के बाद अग्नि का ग्रहण किया है। तथा अग्नि का उपकारक होने से, अग्नि का संदीपन वायु के द्वारा होता है, अत: अग्नि के बाद उसके मित्र वायु को ग्रहण किया है। **(रा.वा. ४-५)**

१७. प्रश्न : वनस्पति जीव कौन-कौन से हैं ?

उत्तर : पर्व, बीज, कन्द, स्कन्ध तथा बीजबीज, इनसे उत्पन्न होने वाली और सम्मूर्च्छिम वनस्पति कही गयी है। ये प्रत्येक और अनन्तकाय ऐसे दो भेद रूप हैं।

मूलबीज - मूल से उत्पन्न होने वाली वनस्पतियाँ मूलबीज हैं जैसे हल्दी, आदि।

अग्रबीज - अग्र से उत्पन्न होने वाली वनस्पति अग्रबीज है, जैसे कोरटंक, मल्लिका, कुब्जक एक प्रकार का वृक्ष आदि। इनका अग्रभाग उग जाता है।

पर्वबीज - जिनकी पर्व-पोर भाग से उत्पत्ति होती है वे पर्वबीज हैं जैसे इक्षु, बेंत आदि।

स्कन्धबीज - जिनकी कन्द भाग से उत्पत्ति होती है वे स्कन्धबीज जीव हैं, जैसे कदली, पिण्डालु आदि। कोई स्कन्ध से उत्पन्न होते हैं वे स्कन्ध बीज हैं जैसे सल्लकी, पालीभद्र।

बीज बीज - कोई बीज से उत्पन्न होती हैं वे बीज-बीज कहलाती हैं, जैसे - जौ, गेहूँ आदि।

खेत में मिट्टी, जल आदि सामग्री से इनकी उत्पत्ति होती है।

सम्मूर्च्छिम - मूल, अग्र-बीज आदि के अभाव में भी जिनका जन्म होता है वे सम्मूर्च्छिम वनस्पति हैं।

इन वनस्पतियों के प्रत्येक और अनन्तकाय ये दो भेद हैं।

प्रत्येक वनस्पति - जिनका स्वामी एक है वे प्रत्येक काय हैं जैसे सुपारी, नारियल आदि के वृक्ष।

अनन्तकाय - जो अनन्त जीवों के काय हैं वे अनन्तकाय हैं जैसे स्नुही, गिलोय-गुरच आदि।

ये छिन्न-भिन्न हो जाने पर भी उग जाती हैं। (मू. २१३ आ.)

१८. प्रश्न : वनस्पतिकायिक जीव कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : वनस्पतिकायिक जीव चार प्रकार के हैं – वनस्पति, वनस्पतिकाय, वनस्पतिकायिक और वनस्पति जीव।

वनस्पति - जिसका अभ्यन्तर भाग जीवयुक्त है और बाह्य भाग जीवरहित है ऐसे वृक्ष आदि को वनस्पति कहते हैं।

वनस्पतिकाय - छिन्न-भिन्न किये गये तृण आदि को वनस्पतिकाय कहा है।

वनस्पतिकायिक - वनस्पति कायिक जीव सहित वनस्पति कायिक है।

वनस्पति जीव - आयु के अन्त में पूर्व शरीर को त्याग कर जो जीव वनस्पतिकायिकों में उत्पन्न होने के लिए विग्रहगति में जा रहा है उसे वनस्पति जीव कहते हैं। **(सि.सा.दी. ११/२२-२५)**

१९. प्रश्न : वनस्पति का अन्त में ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : वनस्पति के प्रादुर्भाव में पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु ये चारों निमित्त हैं तथा वनस्पतिकायिक जीवों की संख्या पृथ्वीकायिक आदि से अनन्तगुणी है। अत: निमित्त और संख्या की दृष्टि से वनस्पति का अन्त में ग्रहण किया है। **(रा.वा. ६)**

२०. प्रश्न : इन पृथ्वी आदि में से कौनसे चेतन हैं और कौन से अचेतन ?

उत्तर : इनमें पृथिवी किंचित् जीव युक्त है, पृथिवीकाय अचेतन है, पृथिवीकायिक जीवयुक्त है और पृथिवी जीव चेतन ही है। **(सि.सा.दी. ११/२६-२७)**

२१. प्रश्न : यहाँ कौनसे भेदों को ग्रहण करना चाहिए ?

उत्तर : पृथिवी आदि चारों भेद पृथिवी शब्द के वाच्य हैं तो भी यहाँ पर शुद्ध पुद्गल पृथिवी और जीव के द्वारा छोड़ दिये गये पृथिवीकाय को ग्रहण नहीं करना क्योंकि ये दोनों अचेतनस्वभावी हैं। इनमें उस पृथिवी नाम कर्म का उदय सम्भव नहीं है अत: उस कर्मोदय निमित्तक संज्ञा इन अचेतन के नहीं होती। यहाँ पर तो जीव का अधिकार है इसलिए पृथिवी को शरीर रूप से जिसने ग्रहण किया है वह

पृथिवीकायिक और विग्रहगति में स्थित पृथिवी नाम कर्मोदय वाला पृथिवी जीव इस प्रकार दो का ग्रहण किया है। इनके ही पृथिवी स्थावर नाम कर्म का उदय होने से पृथिवी संज्ञा घटित होती है। **(सुखबोध त. वृ. ९१-९२)**

२२. प्रश्न : पृथ्वीकायिकादि में बोलना, चलना आदि का व्यापार नहीं होता है अत: उन्हें भस्म के समान अचेतन मानना चाहिए ?

उत्तर : पृथिवीकायिक आदि जीवों के बोलना, चलना आदि क्रियाओं का अभाव होने पर भी उन्हें अचेतन नहीं माना जा सकता है क्योंकि उनको अचेतन मानने पर मूर्छित, सोये हुए, अण्डस्थ आदि जीवों को भी अचेतन मानना पड़ेगा। यदि कोई उनको अचेतन मान भी ले तो भी समाधिस्थ आदि जीवों के चलना, बोलना आदि नहीं होने पर भी वे चेतन ही हैं अचेतन नहीं। उसी प्रकार पृथ्वीकायिकादि में चलना, बोलना आदि क्रिया न होने पर भी वे चेतन ही हैं, अचेतन नहीं।

(२) मुक्तात्माओं के चलना आदि क्रिया न होने पर भी वे चेतन ही हैं ऐसा अन्यमतावलम्बी (सांख्य) भी मानते हैं। अत: पृथ्वीकायिकादि भी क्रिया के अभाव में भी चेतन ही हैं, अचेतन नहीं हैं। **(श्लो. ५/१२६)** आगम से, अनुमान प्रमाण से अथवा प्रत्यक्ष प्रमाण से या आहार, भय आदि चारों संज्ञाओं के इनमें पाये जाने से इस पृथ्वी आदि में जीव का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। ये आहारादि संज्ञाओं द्वारा सचेतन हैं, ऐसा आगम में निरूपण किया गया है। **(मू. २१७ आ.)**

२३. प्रश्न : इनमें आहारादि संज्ञायें कैसे सिद्ध हैं ?

उत्तर : सम्पूर्ण रूप से छाल को उतार देने पर वृक्ष आदि वनस्पति का मरण हो जाता है और जल, वायु आदि के मिलने से वे हरे-भरे हो जाते हैं इसलिए आहार संज्ञा स्पष्ट है।

स्पर्श कर लेने पर लाजवन्ती आदि वनस्पतियाँ संकुचित हो जाती हैं अत: भय संज्ञा भी स्पष्ट है। स्त्रियों के कुल्ले के जल से सिंचित होने से कुछ लताएँ आदि हर्षित (पुष्पित) हो जाती हैं तथा स्त्रियों के पैरों के ताड़न से कुछ वनस्पतियों में पुष्प, अंकुर आदि प्रादुर्भूत हो जाते हैं, इसलिए मैथुन संज्ञा मानी जाती है।

निधान-खजाने आदि की दिशा में पाद-जड़ आदि फैल जाती है इसलिए परिग्रह संज्ञा भी स्पष्ट है। **(मू. २१७ आ)** अण्डे में वृद्धि पाने वाले प्राणी, गर्भ में रहे हुए प्राणी और मूर्च्छा प्राप्त मनुष्य जैसे हैं, वैसे एकेन्द्रिय जीव जानना। यह एकेन्द्रियों के चैतन्य का अस्तित्व होने सम्बन्धी दृष्टान्त का कथन है। जिस प्रकार अण्डे आदि में बुद्धिपूर्वक व्यापार नहीं देखा जाता तथापि उनमें जीवत्व का निश्चय किया जाता है उसी प्रकार एकेन्द्रियों के जीवत्व का निश्चय किया जाता है क्योंकि दोनों में बुद्धिपूर्वक व्यापार का अदर्शन (नहीं दिखता) है। **(पं.का.ता.टी. ११३)**

२४. प्रश्न : इन स्थावर जीवों के कितने प्राण होते हैं ?

उत्तर : इन पाँचों स्थावर जीवों के चार प्राण होते हैं। स्पर्शन इन्द्रिय, कायबल, आयु और श्वासोच्छ्वास। **(सर्वा. २८६)** इनकी अपर्याप्त अवस्था में श्वासोच्छ्वास के बिना तीन प्राण होते हैं।

२५. प्रश्न : प्राण किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस प्रकार बाह्य प्राण के द्वारा जीव जीते हैं उसी प्रकार जिन अभ्यन्तर प्राणों के द्वारा जीव जीते हैं, वे प्राण कहलाते हैं। **(पं.सं.प्रा. ४५)** जिनके द्वारा जीव जीता है उन्हें प्राण कहते हैं। **(ध. २/४१४)** जिनके द्वारा यह जीव जीवितव्य रूप व्यवहार के योग्य है, उनको प्राण कहते हैं। **(गो.जी.जी.२)**

२६. प्रश्न : प्राण कितने होते हैं ?

उत्तर : प्राण दस होते हैं। पाँच इन्द्रिय (स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण), तीन बल (मनोबल, वचनबल और कायबल), आयु और श्वासोच्छ्वास। **(मू. ११९३)**

इनमें कायबल, इन्द्रियाँ तथा आयु प्राण सभी जीवों के होते हैं।

श्वासोच्छ्वास पर्याप्तक जीवों के ही होता है।

वचन बल द्वीन्द्रियादिक पर्याप्तक जीवों के होता है।

मनोबल संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक के ही होता है। **(त.सा.२/३४-३५)**

२७. प्रश्न : पृथिवीकायिकादि जीवों की संख्या कितनी है ?

उत्तर : पृथिवीकायिकादि जीवों में तेजस्कायिक जीव सबसे कम हैं जो असंख्यात लोक प्रमाण हैं।

पृथ्वीकायिक जीव उनसे (तेजस्कायिक से) अधिक हैं।

जलकायिक जीव उनसे (पृथ्वीकायिक से) अधिक हैं।

वायुकायिक जीव उनसे (जलकायिक से) विशेष अधिक हैं।

वनस्पतिकायिक जीव उनसे (वायुकायिक से) अनन्तगुणे हैं। **(ध. १४/४६६)**

पल्य के असंख्यातवें भाग से भक्त प्रतरांगुल का जगत्प्रतर में भाग देने से जो लब्ध आवे उतना बादर पर्याप्त जलकायिक जीवों का प्रमाण है। इसमें आवलि के असंख्यातवें भाग का भाग देने से जो लब्ध रहे उतना बादर पर्याप्त पृथिवीकायिक जीवों का प्रमाण है। इसमें भी आवलि के असंख्यातवें भाग का भाग देने से जो लब्ध रहे उतना सप्रतिष्ठित प्रत्येक पर्याप्त जीवराशि का प्रमाण होता है। इसमें भी आवलि के असंख्यातवें भाग का भाग देने से जो लब्ध रहे उतना अप्रतिष्ठित प्रत्येक पर्याप्त जीवराशि का प्रमाण होता है। घनावलि के असंख्यात भागों में से एक भाग प्रमाण बादर पर्याप्त तेजस्कायिक जीवों

का प्रमाण है और लोक के संख्यात भागों में से एक भाग प्रमाण बादर पर्याप्त वायुकायिक जीवों का प्रमाण है।

अपनी-अपनी सम्पूर्ण राशि में से पर्याप्तकों का प्रमाण घटाने पर जो शेष रहे वही अपर्याप्तकों का प्रमाण है। **(गो.जी. २०९-१०)**

२८. प्रश्न : आनुपूर्वी (क्रम) को छोड़कर त्रसों के पहले स्थावरों का वर्णन क्यों किया है ?

उत्तर : एकेन्द्रिय के विषय में अधिक वक्तव्य नहीं है, इसलिए आनुपूर्वी को छोड़कर पहले स्थावर के भेदों का कथन किया गया है। **(सर्वा. २८५)**

सामान्य एवं विशेष संज्ञा से प्राप्त भेद मात्र का विज्ञान हो जाने पर, विशेष रूप से निर्ज्ञात त्रस-स्थावरों का ज्ञान हो जाने पर, एकेन्द्रियों के बहुत विकल्पों का अभाव होने से क्रमप्राप्त त्रस के कथन का उल्लंघन करके प्रथम स्थावरों के भेदों का प्रतिपादन किया है। **(रा.वा.उ. १३)**

त्रस जीवों का कथन करते हैं -

द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः ॥१४॥

द्वि-इन्द्रिय-आदयः त्रसाः।

अर्थ - दो इन्द्रिय आदि जीव त्रस हैं।

द्वीन्द्रिय - जिन जीवों के दो इन्द्रियाँ होती हैं उन्हें दो इन्द्रिय कहते हैं।

त्रीन्द्रिय - जिन जीवों के तीन इन्द्रियाँ होती हैं उन्हें तीन इन्द्रिय कहते हैं।

चतुरिन्द्रिय - जिन जीवों के चार इन्द्रियाँ होती हैं उन्हें चतुरिन्द्रिय कहते हैं।

पंचेन्द्रिय - जिन जीवों के पाँचों इन्द्रियाँ होती हैं उन्हें पंचेन्द्रिय कहते हैं।

१. प्रश्न : त्रस जीव कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : त्रस जीव दो प्रकार के होते हैं -

(१) सकलेन्द्रिय (२) विकलेन्द्रिय। **अथवा** (१) पर्याप्त (२) अपर्याप्त।

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जीव, विकलेन्द्रिय एवं पंचेन्द्रिय जीव सकलेन्द्रिय हैं।**(म. २१८)**

त्रस जीव चार प्रकार के हैं -

(१) दो इन्द्रिय (२) तीन इन्द्रिय (३) चतुरिन्द्रिय (४) पंचेन्द्रिय। **(न. च. १२२)** लोक में जो दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पाँच इन्द्रिय से सहित जीव दिखाई देते हैं उन्हें वीर भगवान के उपदेश से त्रसकायिक जानना चाहिए। **(पं.सं. प्र. १/८६)**

२. प्रश्न : द्वीन्द्रिय आदि जीवों के कितने-कितने प्राण होते हैं ?

उत्तर : द्वीन्द्रिय जीवों के छह प्राण होते हैं -

(१) स्पर्शन इन्द्रिय (२) रसना इन्द्रिय (३) वचन बल (४) काय बल (५) आयु (६) श्वासोच्छ्वास।

इन छह प्राणों में घ्राण इन्द्रिय और मिलाने पर त्रीन्द्रिय जीवों के सात प्राण होते हैं।

इन सात प्राणों में चक्षु इन्द्रिय और मिलाने पर चतुरिन्द्रिय जीवों के आठ प्राण होते हैं।

इन आठ प्राणों में श्रोत्र इन्द्रिय और मिलाने पर असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के नौ प्राण होते हैं।

इन नौ प्राणों में मनोबल और मिलाने पर संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के दस प्राण होते हैं।**(रा.वा. ४)**

३. प्रश्न : इन जीवों के अपर्याप्त अवस्था में कितने प्राण होते हैं ?

उत्तर : द्वीन्द्रिय के अपर्याप्त अवस्था में चार प्राण होते हैं - दो इन्द्रियाँ, कायबल, आयु।

त्रीन्द्रिय के अपर्याप्त अवस्था में पाँच प्राण होते हैं - तीन इन्द्रियाँ, कायबल, आयु।

चतुरिन्द्रिय के अपर्याप्त अवस्था में छह प्राण होते हैं - चार इन्द्रियाँ, कायबल, आयु।

असंज्ञी-संज्ञी के अपर्याप्त अवस्था में सात प्राण होते हैं - पाँच इन्द्रियाँ, कायबल, आयु। **(गो.जी.जी. १३३)**

४. प्रश्न : इस सूत्र से विग्रहगति में स्थित संसारियों का ग्रहण नहीं होता है क्योंकि उनके इन्द्रियाँ नहीं हैं ?

उत्तर : ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि विग्रहगति में स्थित जीवों के भी त्रस-स्थावर नाम कर्म के उदय का अभाव नहीं है। (क्योंकि उत्तर भव की आयु के साथ त्रस या स्थावर में से किसी एक प्रकृति का उदय अवश्य पाया जाता है, वहाँ वे एकेन्द्रियत्व, द्वीन्द्रियत्व आदि का अतिक्रमण नहीं करते।) अगर उदय न हो तो मुक्त होने का प्रसंग आता है। अत: विग्रहगति में स्थित जीवों का भी संसारियों में ग्रहण हो जाता है। **(श्लो. ५/१३१)**

५. प्रश्न : चींटी आदि अनेक प्रकार के जीव दिखाई देते हैं अत: क्या इनके कारणभूत कर्म भी भिन्न हैं ?

उत्तर : हाँ, लोक में घोड़ा, हाथी, वक्र, भ्रमर, शलभ, मत्कुण, उद्देद्विका, गोभी और इन्द्रगोप आदि रूप से जितने कर्मों के फल पाये जाते हैं, उतने ही प्रकार के कर्म होते हैं।

६. प्रश्न : द्वीन्द्रियादि जीवों की संख्या कितनी है ?

उत्तर : त्रस जीवों में द्वीन्द्रिय जीव सबसे अधिक हैं, द्वीन्द्रिय अपर्याप्त जीव उनसे कम हैं। इनसे

कम त्रीन्द्रिय, इनसे कम त्रीन्द्रिय अपर्याप्त, इनसे कम चतुरिन्द्रिय, इनसे कम चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त, इनसे कम पंचेन्द्रिय, इनसे कम पंचेन्द्रिय अपर्याप्त, इनसे कम द्वीन्द्रिय पर्याप्त जीव, इनसे कम त्रीन्द्रिय पर्याप्त, इनसे कम चतुरिन्द्रिय पर्याप्त तथा इनसे भी कम पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीव हैं। **(गो.जी.जी.१८०)**

७. **प्रश्न : त्रस जीव कहाँ रहते हैं ?**

उत्तर : त्रस जीव त्रसनाली में रहते हैं, यह सामान्य कथन है। **(का.अ. १२२ टी.)**

जिस प्रकार वृक्ष के ठीक मध्य-भाग में सार हुआ करता है, उसी प्रकार लोक के बहु मध्यभाग अर्थात् बीच में एक राजू लम्बी-चौड़ी और कुछ कम तेरह राजू ऊँची त्रसनाली है। **(ति.प. २/६)**

त्रस जीव त्रसनाली के भीतर होते हैं बाहर नहीं। **(ध. ४/१४९)**

उपपाद और मारणान्तिक समुद्घात के सिवाय शेष त्रसजीव त्रसनाली से बाहर नहीं हैं, ऐसा जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है। **(गो.जी. १९९)**

उपपाद और मारणान्तिक समुद्घात में परिणत त्रस तथा लोकपूरण समुद्घात को प्राप्त केवली का आश्रय करके सारा लोक ही त्रसनाली है। **(ति.प. २/८)**

८. **प्रश्न : कुछ कम तेरह राजू ऊँची त्रसनाली है। उनमें कुछ कम से कितना लेना चाहिए?**

उत्तर : तीन करोड़ इक्कीस लाख बासठ हजार दो सौ इकतालीस धनुष और २/३ धनुष (३,२१, ६२, २४१ $\frac{२}{३}$ धनुष) कम करना चाहिए।

इन्हें प्राप्त करने की विधि -

सातवीं महातम:प्रभा नाम की पृथिवी आठ हजार योजन मोटी है। उसके ठीक मध्य में नारकियों के श्रेणीबद्ध बिल बने हुए हैं। उन बिलों की मोटाई ४/३ योजन है। इस मोटाई को समच्छेद करके पृथिवी की मोटाई में से घटाने पर (८००० यो. में से ४/३ यो. घटाने पर) ($\frac{२४०००}{३} - \frac{४}{३}$) २३९९६/३ योजन शेष बचता है। इसका आधा करने पर $\frac{२३९९६}{३\times२} = \frac{११९९८}{३}$ = ३९९९$\frac{१}{३}$ योजन = ३१९९४६६६$\frac{२}{३}$ धनुष।

सर्वार्थसिद्धि विमान से ऊपर बारह योजन पर ईषत् प्राग्भार नामकी आठवीं पृथ्वी है, जो आठ योजन मोटी है। १२+८ = २० योजन। २०×४ = ८० कोस। ८०×२००० = १६०००० धनुष है।

लोक के शिखर पर तीनों वातवलयों का बाहल्य दो कोस, एक कोस और कुछ कम एक कोस है। कुछ कम का प्रमाण ४२५ धनुष है। अत: तीनों वातवलयों का बाहल्य २ कोस (४००० धनुष) १ कोस (२००० धनुष) कुछ कम एक कोस (२०००-४२५) = ४००० + २००० + १५७५ = ७५७५ धनुष। ३१९९४६६६ $\frac{२}{३}$ + १६०००० + ७५७५ = ३२१६२२४१ $\frac{२}{३}$ धनुष। तथा सातवें नरक के नीचे एक राजू में निगोदिया जीव ही रहते हैं अत: १ राजू तथा ३२१६२२४१ $\frac{२}{३}$ धनुष प्रमाण को कुछ कम से ग्रहण करना चाहिए। **(का.अ. १२२ टी.)**

९. प्रश्न : विकलत्रय जीव कहाँ-कहाँ पाये जाते हैं ?

उत्तर : विकलत्रय इस ओर मानुषोत्तर पर्वत तक ही रहते हैं अर्थात् ढाई द्वीप में रहते हैं। उस ओर स्वयंभूरमण द्वीप के अर्ध भाग से लेकर अन्त तक पाये जाते हैं। **(हरि. पु. ५/६३३)**

भोगभूमि में विकलत्रय जीव नहीं होते हैं। **(ध. ४/३३)**

विकलत्रय जीव नियम से कर्मभूमि में ही होते हैं तथा अन्त के आधे द्वीप में और अन्त के सारे समुद्र में होते हैं। **(का.अ. १४२)**

इन्द्रियाँ :

इन्द्रियों की संख्या बताते हैं -

पञ्चेन्द्रियाणि ॥१५॥

पञ्च - इन्द्रियाणि।

अर्थ - इन्द्रियाँ पाँच होती हैं।

इन्द्रिय - कर्म रूप इन्द्र के द्वारा निर्मित इन्द्रियाँ हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : अपनी प्रक्रिया को कहने वाले कोई अन्यमतवादी पाँच, छह और ग्यारह भी इन्द्रियाँ मानते हैं। उनका निराकरण करने के लिए 'इन्द्रियाँ पाँच हैं, अधिक नहीं' ऐसा नियम करने के लिए 'पञ्चेन्द्रियाणि' सूत्र कहा है। **(रा.वा.उ.)**

२. प्रश्न : वचन, उपस्थ, पाद आदि भी इन्द्रियाँ हैं, उनका यहाँ ग्रहण क्यों नहीं किया ?

उत्तर : यहाँ उपयोग का प्रकरण है अत: उपयोग की साधनभूत ज्ञानेन्द्रियों को ही यहाँ ग्रहण किया है अथवा वचन, उपस्थ आदि का अनवस्थान होने से उनमें अनिष्क्रियत्व है। वाग्, पाणि आदि अनिन्द्रिय है, उपयोग साधनों में उनका व्यपदेश नहीं है, क्रिया साधनों में है। क्रिया के साधनभूत अंगों को यदि इन्द्रियों की श्रेणी में गिना जाय तो मस्तक आदि अनेक अवयवों को भी इन्द्रिय मानना पड़ेगा, क्योंकि मस्तक आदि भाव-क्रिया के साधन हैं और अवयवों को इन्द्रिय मान लेने पर इन्द्रियों की संख्या ही निश्चित नहीं की जा सकती। (अत: उनका यहाँ ग्रहण नहीं किया) **(रा.वा.६)**

३. प्रश्न : मन भी अर्थचिन्तन में सहायक है एवं कर्मकृत है, अत: मन की इन्द्रियों में परिगणना क्यों नहीं की है ?

उत्तर : अर्थचिंतन में सहायक एवं कर्मकृत होते हुए भी मन, चक्षु आदि इन्द्रियों के समान नियतस्थानीय नहीं है अत: मन की इन्द्रियों में परिगणना नहीं की गयी है। चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा रूपादि

विषय के उपयोग के परिणमन के पूर्व ही मानसिक व्यापार हो जाता है क्योंकि शुक्लादि के देखने का इच्छुक प्रथम मानसिक उपयोग करता है कि मैं रूप को देखता हूँ, स्वाद लेता हूँ आदि। तथा उस मन का बलाघात (निमित्त) पाकर चक्षु आदि इन्द्रियाँ विषयों में व्यापार करती हैं इसलिए मन की इन्द्रियों में परिगणना नहीं की गई है। **(रा.वा. ३-४)**

इन्द्रियों के भेद कहते हैं-

द्विविधानि ॥१६॥

अर्थ - ये प्रत्येक इन्द्रियाँ दो-दो प्रकार की हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किस अभिप्राय से कहा गया है ?

उत्तर : अन्य मतावलम्बी शक्ति रूप एवं व्यक्ति रूप अथवा मूर्त्त और अमूर्त्त (कर्ण को अमूर्त्त शेष चार को मूर्त्त) इस प्रकार इन्द्रियों के भेद मानते हैं। उन मतों का खण्डन करने के लिए यह सूत्र कहा है कि प्रत्येक इन्द्रियाँ द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय के भेद से दो-दो प्रकार की हैं। **(श्लो. ५/१३७)**

२. प्रश्न : इन्द्रियाँ कितने प्रकार की होती हैं ?

उत्तर : इन्द्रियाँ दो प्रकार की होती हैं।

(१) द्रव्येन्द्रिय (२) भावेन्द्रिय। **(सर्वा. २९२)**

३. प्रश्न : ये इन्द्रियाँ दो प्रकार की हैं यह कैसे जाना जाता है ?

उत्तर : (आगे के सूत्र सत्रहवें 'निर्वृत्यु....' एवं अठारहवें 'लब्ध्यु....' में किये गये विवेचन से जाना जाता है कि वे इन्द्रियाँ भावेन्द्रिय एवं द्रव्येन्द्रिय के भेद से दो-दो प्रकार की होती हैं) सूत्र में दिया गया 'विध' शब्द प्रकारवाची है अत: जाना जाता है कि प्रत्येक इन्द्रिय दो-दो प्रकार की है। **(श्लो. ५/१३७)**

४. प्रश्न : ये पाँचों इन्द्रियाँ अलग-अलग दो-दो प्रकार की हैं या सामूहिक रूप से ?

उत्तर : ये पाँचों इन्द्रियाँ अलग-अलग दो प्रकार की हैं जैसे स्पर्शन द्रव्येन्द्रिय, स्पर्शन भावेन्द्रिय, रसना द्रव्येन्द्रिय, रसना भावेन्द्रिय, इस प्रकार पाँचों इन्द्रियाँ दो-दो भेद वाली हैं। **(श्लो. ५/१३७ हि.)**

द्रव्येन्द्रिय का स्वरूप कहते हैं -

निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम् ॥१७॥

निर्वृत्ति - उपकरणे - द्रव्य - इन्द्रियम्।

(निर्वृत्युपकरणे) निर्वृत्ति और उपकरण **(द्रव्येन्द्रियम्)** ये द्रव्येन्द्रियाँ हैं।

अर्थ - निर्वृत्ति और उपकरण, ये इन्द्रियाँ दो प्रकार की हैं।

निर्वृत्ति - रचना की जाती है वह निर्वृत्ति कहलाती है।

उपकरण - जिसके द्वारा निर्वृत्ति का उपकार किया जाता है उसे उपकरण कहते हैं।

१. **प्रश्न : द्रव्येन्द्रिय किसे कहते हैं ?**

उत्तर : पुद्गल द्रव्य रूप इन्द्रिय द्रव्येन्द्रिय है। **(सुख बो.त. वृ. ९४)**

निर्वृत्ति और उपकरण को द्रव्येन्द्रिय कहते हैं। **(त.सू. २/१७)**

निर्वृत्ति - नाम कर्म के द्वारा जिसकी रचना, निष्पादना की जाती है वह निर्वृत्ति कहलाती है। **(रा.वा.१)**

उपकरण - जिसके द्वारा निर्वृत्ति का उपकार किया जाता है वह उपकरण है। **(रा.वा. ५)**

२. **प्रश्न : निर्वृत्ति कितने प्रकार की होती है ?**

उत्तर : निर्वृत्ति दो प्रकार की होती है।

(१) बाह्य निर्वृत्ति (२) आभ्यन्तर निर्वृत्ति। **(रा.वा. २)**

३. **प्रश्न : बाह्य निर्वृत्ति किसे कहते हैं ?**

उत्तर : चक्षु आदि में मसूर आदि के आकार रूप बाह्य निर्वृत्ति है। **(सुख.बो. त. वृ. ९४)**

इन्द्रिय नामवाले उन्हीं आत्मप्रदेशों में प्रतिनियत आकार रूप और नामकर्म के उदय से विशेष अवस्था को प्राप्त जो पुद्गल प्रचय होता है उसे बाह्य निर्वृत्ति कहते हैं। **(सर्वा. २९४)**

आत्मा के उन्हीं (जहाँ आभ्यन्तर निर्वृत्ति है) विशुद्ध प्रदेशों में इन्द्रियों के नाम से कहे जाने वाले भिन्न-भिन्न आकारों के धारक संस्थान नामकर्म के उदय से होने वाली अवस्था विशेष से युक्त जो पुद्गल पिण्ड है वह बाह्य निर्वृत्ति है। **(रा.वा. ४)**

४. **प्रश्न : आभ्यन्तर निर्वृत्ति किसे कहते हैं ?**

उत्तर : उत्सेधांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण विशुद्ध आत्मप्रदेशों की चक्षुरादि के आकार रूप से रचना आभ्यन्तर निर्वृत्ति है। **(रा.वा.३)**

चक्षु आदि इन्द्रिय ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से युक्त उत्सेधांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण आत्मप्रदेशों पर सूक्ष्म पुद्गलों का उस-उस इन्द्रियाकार रूप से सम्बद्ध होना आभ्यन्तर निर्वृत्ति कहलाती है। **(सुख बो. त. वृ. ९५)**

उत्सेधांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण और प्रतिनियत चक्षु आदि इन्द्रियों के आकार रूप से अवस्थित शुद्ध आत्मप्रदेशों की रचना को आभ्यन्तर निर्वृत्ति कहते हैं। **(सर्वा. २९४)**

नोट - उत्सेधांगुल का लक्षण देखें ३/३८।

५. **प्रश्न : उपकरण कितने प्रकार के होते हैं ?**

उत्तर : उपकरण दो प्रकार के होते हैं –

(१) बाह्य उपकरण (२) अभ्यन्तर उपकरण।

आँख में सफेद और काला मण्डल अभ्यन्तर उपकरण है।

नेत्र सम्बन्धी पलक, दोनों बरौनी आदि बाह्य उपकरण हैं। **(श्लो. ५/१३८)**

भावेन्द्रिय का निरूपण करते हैं -

लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम् ॥१८॥

लब्धि - उपयोगौ - भाव - इन्द्रियम्।

(लब्ध्युपयोगौ) लब्धि और उपयोग को (भावेन्द्रियं) भावेन्द्रिय कहते हैं।

अर्थ - लब्धि और उपयोग को भावेन्द्रिय कहते हैं।

१. **प्रश्न : भावेन्द्रिय किसे कहते हैं ?**

उत्तर : मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाली विशुद्धि अथवा उस विशुद्धि से उत्पन्न होने वाले उपयोगात्मक ज्ञान को भावेन्द्रिय कहते हैं। **(गो.जी. १६५)** लब्धि और उपयोग को भावेन्द्रिय कहते हैं। **(त.सू. २/१८)**

२. **प्रश्न : लब्धि किसे कहते हैं ?**

उत्तर : इन्द्रियों की रचना में कारणभूत ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम विशेष को लब्धि कहते हैं। जिस ज्ञानावरण कर्म के विशेष क्षयोपशम रूप परिणाम के रहने पर आत्मा द्रव्येन्द्रिय की रचना के लिए व्यापार करता है, ज्ञानावरण कर्म के उस क्षयोपशम विशेष को लब्धि कहते हैं। **(रा.वा.१)**

जीव के जो मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न हुई विशुद्धि, जो जीव के पदार्थों को ग्रहण करने की शक्ति है, उसको लब्धि कहते हैं। **(गो.जी.जी. १६५)**

३. **प्रश्न : भावेन्द्रिय के लक्षण रूप उपयोग किसे कहते हैं ?**

उत्तर : तन्निमित्त परिणाम विशेष को उपयोग कहते हैं, ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम विशेष रूप लब्धि का निमित्त पाकर उत्पद्यमान आत्मा के परिणाम विशेष को उपयोग कहते हैं। **(रा.वा. २)**

लब्धि युक्त आत्मा के पदार्थों को जानने रूप क्रिया का होना उपयोग है **(सुख बो. त. वृ. पृ. ९६)** जिसके सन्निधान से आत्मा द्रव्येन्द्रिय की रचना के प्रति व्यापृत होता है ऐसा ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाला आत्मा का परिणाम उपयोग कहलाता है। **(त.सा. २/४५)**

४. प्रश्न : इन्द्रिय का फल उपयोग है उसे इन्द्रिय कैसे कहा जा सकता है ?

उत्तर : ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि कारण धर्म का कार्य में उपचार किया जाता है। लौकिक दृष्टि में भी कारण कार्य का अनुवर्तन करता हुआ देखा जाता है। जैसे घटाकार परिणत ज्ञान को घट कह देते हैं, उसी प्रकार इन्द्रिय निमित्त से होने वाले उपयोग के भी इन्द्रिय ऐसा व्यपदेश होता है। **(रा.वा. ३)**

जो इन्द्र का लिङ्ग हो और इन्द्र के द्वारा सृष्ट हो, वह इन्द्रिय है। इन्द्रिय शब्द का अर्थ प्रधानता से उपयोग में घटता है क्योंकि ज्ञान-दर्शन स्वरूप उपयोग आत्मा का लिङ्ग भी है और उससे रचित भी है। इसलिए उपयोग को भावेन्द्रिय मानने में कोई बाधा नहीं है। **(रा.वा. ४)**

५. प्रश्न : द्रव्येन्द्रिय एवं भावेन्द्रिय में से कौनसी इन्द्रिय प्रमाण है ?

उत्तर : लब्धि और उपयोग ये दोनों चेतनात्मक हैं। इन्हीं को भावेन्द्रिय कहते हैं। जो भावेन्द्रिय है वही मुख्य प्रमाण है क्योंकि स्व-पर को जानने रूप क्रिया में यह साधकतम है, द्रव्येन्द्रिय के तो उपचार से प्रमाणता स्वीकार की जाती है। **(सुख बो. त. वृ. ९६)**

६. प्रश्न : भावेन्द्रियाँ किससे उत्पन्न होती हैं ?

उत्तर : वे इन्द्रियाँ शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्ध नाम के ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से और द्रव्येन्द्रियों के निमित्त से उत्पन्न होती हैं। **(ध. १/१३६)**

७. प्रश्न : यदि भावेन्द्रिय ही मुख्य प्रमाण है तो द्रव्येन्द्रिय की इन्द्रिय संज्ञा कैसे हो सकती है ?

उत्तर : क्षयोपशम रूप भावेन्द्रियों के होने पर ही द्रव्येन्द्रियों की उत्पत्ति होती है, इसलिए भावेन्द्रियाँ कारण हैं और द्रव्येन्द्रियाँ कार्य हैं, इसलिए द्रव्येन्द्रियों को भी इन्द्रिय संज्ञा प्राप्त होती है। **अथवा,** उपयोग रूप भावेन्द्रियों की उत्पत्ति द्रव्येन्द्रियों के निमित्त से होती है, इसलिए भावेन्द्रिय कार्य है और द्रव्येन्द्रियाँ कारण हैं, इसलिए भी द्रव्येन्द्रियों को इन्द्रिय संज्ञा प्राप्त है। यह कोई अदृष्ट कल्पना नहीं है, क्योंकि कार्यगत धर्म का कारण में और कारणगत धर्म का कार्य में उपचार जगत् में प्रसिद्ध रूप से पाया जाता है। **(ध. १/१३६)**

इन्द्रियों के नाम कहते हैं -

स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुः श्रोत्राणि ॥१९॥

स्पर्शन - रसन - घ्राण - चक्षुः श्रोत्राणि।

अर्थ - स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाँच इन्द्रियाँ हैं।

स्पर्शन - जिसके द्वारा छुआ जाता है वह स्पर्शन है।

रसन - जिसके द्वारा चखा जाता है वह रसना इन्द्रिय है।

घ्राण - जिसके द्वारा सूंघा जाता है वह घ्राण इन्द्रिय है।

चक्षु - जिसके द्वारा पदार्थों को देखता है वह चक्षु है।

कर्ण - जिसके द्वारा सुना जाता है वह कर्ण है।

१. प्रश्न : स्पर्शन इन्द्रिय किसे कहते हैं ?

उत्तर : वीर्यान्तराय और मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से तथा अंगोपांग नामकर्म के आलम्बन से आत्मा जिसके द्वारा स्पर्श करता है वह स्पर्शन इन्द्रिय है। **(सर्वा. २९८)**

२. प्रश्न : सूत्र में सर्वप्रथम स्पर्शन इन्द्रिय का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : ''वनस्पत्यंतानामेकं'' इस सूत्र में पृथ्वी को लेकर वनस्पति पर्यन्त एक स्पर्शन इन्द्रिय का ही व्यापार है इसलिए स्पर्शन को आदि में ग्रहण करना योग्य ही है। सर्व संसारी जीवों में इसकी उपलब्धि है। सर्व संसारी जीवों में स्पर्शन इन्द्रिय अवश्य पायी जाती है। इसलिए नाना जीवों की अपेक्षा व्याप्त होने से आदि में स्पर्शन इन्द्रिय को ग्रहण किया है। **(रा.वा. ४-५)**

३. प्रश्न : रसन आदि इन्द्रियों का क्रम क्यों कहा गया है ?

उत्तर : रसन, घ्राण आदि का उत्तरोत्तर अल्प प्रदेश होने से क्रम से ग्रहण किया है।

इन रसन आदि इन्द्रियों के प्रदेश उत्तरोत्तर अल्प-अल्प होने से इनका क्रमश: ग्रहण किया है जैसे सबसे कम प्रदेश चक्षु इन्द्रिय के हैं, इससे श्रोत्र इन्द्रिय के प्रदेश संख्यात गुणे हैं, इससे कुछ अधिक घ्राण इन्द्रिय के प्रदेश हैं। घ्राण इन्द्रिय से रसना इन्द्रिय के प्रदेश असंख्यात गुणे हैं और इससे भी अनन्तगुणे प्रदेश स्पर्शन इन्द्रिय के हैं। **(रा.वा. ६)**

एक-एक के वृद्धि क्रम को बताने के लिए स्पर्शनादि वचन हैं, आगे के सूत्र में लिखा है ''कृमि.... **(२/२३)**'' एक-एक की वृद्धि है। इस प्रकार आगे कहे जाने वाले सूत्र से वृद्धिक्रम को बताने के लिए स्पर्शनादि की आनुपूर्वी जानना चाहिए। **(रा.वा. ११)**

४. प्रश्न : यदि प्रदेशों की अपेक्षा क्रम है तो चक्षु को अन्त में रखना चाहिए ?

उत्तर : यद्यपि चक्षु इन्द्रिय के प्रदेश सबसे कम हैं अत: उसका अन्त में ग्रहण करना चाहिए तथापि बहु उपकारी होने से श्रोत्रेन्द्रिय को अन्त में ग्रहण किया है। क्योंकि श्रोत्रेन्द्रिय के बल से उपदेश को सुनकर हित की प्राप्ति और अहित के परिहार में प्रवृत्ति होती है, इसलिए बहु उपकारी श्रोत्रेन्द्रिय को अन्त में ग्रहण किया है। **(रा.वा. ६-७)**

५. प्रश्न : श्रोत्र की अपेक्षा रसन बहु उपकारी है क्योंकि मोक्ष के कारणों के उच्चारण-पठन आदि में वह चतुर है ?

उत्तर : ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि श्रोत्र इन्द्रिय के द्वारा उपदेश को सुनकर रसना वक्तृत्व के प्रति व्यापार करती है इसलिए श्रोत्र ही बहु उपकारी है। **(रा.वा. ८-९)**

६. प्रश्न : इन इन्द्रियों का परस्पर एकत्व है या नानात्व ?

उत्तर : इन इन्द्रियों में परस्पर कथंचित् एकत्व है और कथंचित् (किसी अपेक्षा) नानात्व है, इस प्रकार अनेकान्त जानना चाहिए। जैसे-ज्ञानावरण के क्षयोपशम शक्ति की अभेद विवक्षा में स्पर्शनादि इन्द्रियों में एकत्व है। समुदाय से अवयव भिन्न नहीं होते, अत: समुदाय की दृष्टि से एक है। तथा प्रतिनियत क्षयोपशम लब्धि विशेष की अपेक्षा से नानापन है क्योंकि उनके अवयव भिन्न हैं। **(रा.वा. १२)** साधारण इन्द्रिय बुद्धि और शब्दप्रयोग की दृष्टि से एकत्व है और विशेष की दृष्टि से कथंचित् अनेकत्व है। **(रा.वा. १२)**

७. प्रश्न : इन्द्रिय एवं आत्मा में एकत्व है या भिन्नत्व ?

उत्तर : इन्द्रियों एवं आत्मा में कथंचित् एकत्व है तथा कथंचित् भिन्नत्व है। चैतन्य को छोड़कर इन्द्रियाँ पृथक् उपलब्ध नहीं होतीं अत: आत्मा और इन्द्रियों में एकत्व है। यदि इन्द्रियों के साथ आत्मा का एकत्व नहीं माना जायेगा तो आत्मा घट के समान संसार अवस्था में इन्द्रियशून्य हो जायेगा। किसी एक इन्द्रिय के नष्ट हो जाने पर भी इन्द्रियवान् आत्मा का अवस्थान रहता है इसलिए कथंचित् आत्मा और इन्द्रियों में नानात्व है। तथा आत्मा पर्यायी है और इन्द्रियाँ पर्याय हैं। इस प्रकार पर्याय-पर्यायी की अपेक्षा भी आत्मा और इन्द्रियों में नानात्व है।

इस प्रकार संज्ञा आदि की अपेक्षा भेदाभेद विवक्षा की उत्पत्ति है। इस प्रकार इन्द्रियों तथा आत्मा में कथंचित् एकत्व और कथंचित् नानात्व जानना चाहिए। **(रा.वा. १२)**

८. प्रश्न : स्पर्शनादि इन्द्रियों का आकार कैसा है ?

उत्तर : श्रोत्र इन्द्रिय का आकार यवनाली के समान है।

चक्षु इन्द्रिय का आकार मसूर के समान है।

घ्राण इन्द्रिय का आकार अतिमुक्तक पुष्प के समान है।

जिह्वा इन्द्रिय का आकार अर्धचन्द्र अथवा खुरपे के समान है।

स्पर्शन इन्द्रिय का आकार अनेक आकार रूप है। **(गो.जी. १७१)**

स्पर्शन इन्द्रिय का आकार अनेक प्रकार का होता है क्योंकि समचतुरस्र आदि के भेदों से संस्थान छह प्रकार के होते हैं। **(सि.सा.दी. ११/१४५)**

९. प्रश्न : स्पर्शन इन्द्रिय की जघन्य एवं उत्कृष्ट अवगाहना कितनी है ?

उत्तर : स्पर्शन इन्द्रिय की बाह्य निर्वृत्ति का जघन्य प्रमाण घनांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण

सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव के शरीर में पाया जाता है और उत्कृष्ट प्रमाण की अपेक्षा संख्यात घनांगुल प्रमाण महामत्स्य आदि त्रस जीवों के शरीर में पाया जाता है। **(ध. १/२३६)**

१०. प्रश्न : स्पर्शनादि इन्द्रियों की बाह्य निर्वृत्ति कितनी है ?

उत्तर : चक्षु इन्द्रिय की बाह्य निर्वृत्ति घनांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण है, श्रोत्र इन्द्रिय की बाह्य निर्वृत्ति घनांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण है। घ्राण इन्द्रिय की बाह्य निर्वृत्ति घनांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण, रसना इन्द्रिय की बाह्य निर्वृत्ति घनांगुल के संख्यातवें भाग प्रमाण है तथा स्पर्शन इन्द्रिय की बाह्य निर्वृत्ति अनियत आकार वाली है। **(ध. १/२३६)**

११. प्रश्न : इन्द्रियों का वर्णन कितने सूत्रों में किया गया है ?

उत्तर : 'पंचेन्द्रियाणि' इस सूत्र से लेकर 'स्पर्शनरसन....' ॥१९॥ सूत्र तक युक्ति और आगम प्रमाण से अन्वित हो रहे तथा इन्द्रियों की एक-दो आदि संख्याओं को मानने वाले अन्य मतों के व्यवच्छेद करने की इच्छा रखने वाले आचार्य महाराज ने पाँच सूत्रों के समुदाय द्वारा पाँच इन्द्रियों का वर्णन किया है। **(श्लो. ५/१४८)**

इन्द्रियों के विषय बताते हैं -

स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दास्तदर्थाः ॥२०॥

स्पर्श - रस - गन्ध - वर्ण - शब्दाः - तत् - अर्थाः ।

(स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दाः) स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द **(तत्)** उन इन्द्रियों के **(अर्थाः)** विषय हैं।

अर्थ - स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द इन इन्द्रियों के विषय हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किस प्रयोजन से लिखा है ?

उत्तर : अब इस समय इन्द्रिय और अनिन्द्रिय के द्वारा जानने योग्य विषय अर्थ का प्रदर्शन करना कर्त्तव्य होने पर 'इन्द्रियों के विषय क्या हैं' इस प्रकार की जिज्ञासा का उत्तर देने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(श्लो. ५/१४९)**

२. प्रश्न : स्पर्श किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस समय द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा प्रधानता से वस्तु ही विवक्षित होती है उस समय इन्द्रिय के द्वारा वस्तु का ही ग्रहण होता है, क्योंकि वस्तु को छोड़कर स्पर्शादि धर्म पाये नहीं जाते हैं इसलिए इस विवक्षा में जो स्पर्श किया जाता है वह स्पर्श है। तथा वह स्पर्श वस्तु रूप ही है। तथा जिस समय पर्यायार्थिक नय की प्रधानता से पर्याय विवक्षित होती है, उस समय पर्याय का द्रव्य से भेद होने के कारण उदासीन रूप से अवस्थित भाव का कथन किया जाता है। इसलिए स्पर्श में भाव साधन भी बन जाता है। जैसे स्पर्शन ही स्पर्श है। **(ध. १/२३९)**

द्रव्य की विवक्षा होने पर कर्म निर्देश होता है। जैसे- जो स्पर्श किया जाता है वह स्पर्श है। तथा जहाँ पर्याय की विवक्षा प्रधान रहती है तब भाव निर्देश होता है जैसे स्पर्शन स्पर्श है। **(सर्वा. ३००)**

३. प्रश्न : रस किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस समय प्रधान रूप से वस्तु विवक्षित होती है, उस समय वस्तु को छोड़कर पर्यायें नहीं पायी जाती हैं इसलिए वस्तु ही रस है। इस विवक्षा में रस के कर्म-साधनपना है, जैसे - जो चखा जाये वह रस है। तथा जिस समय प्रधान रूप से पर्याय विवक्षित होती है, उस समय द्रव्य से पर्याय का भेद बन जाता है, इसलिए जो उदासीन रूप से भाव अवस्थित है उसका कथन किया जाता है। इस प्रकार रस के भाव साधन भी बन जाता है, जैसे-आस्वादन रूप क्रिया धर्म को रस कहते हैं। **(ध.१/२४४)**

४. प्रश्न : गन्ध किसे कहते हैं ?

उत्तर : कर्म साधन की विवक्षा में जब द्रव्य की प्रधानता से वर्णन किया जाता है तब इन्द्रियाँ द्रव्य का सन्निकर्ष करती हैं क्योंकि द्रव्य से भिन्न स्पर्शादि नहीं हैं, इस विवक्षा में जो सूंघा जाता है वह गन्ध है तथा जब पर्याय की प्रधानता से विवक्षित होती है तब भेद की उत्पत्ति होती है। औदासीन्य भाव का कथन होता है जैसे गन्धनं गन्ध, इस प्रकार भाव साधन की व्युत्पत्ति होती है। **(ध. १/२४६)**

५. प्रश्न : वर्ण किसे कहते हैं ?

उत्तर : यह वर्ण शब्द कर्म साधन है जैसे-जिस समय प्रधान रूप से द्रव्य विवक्षित होता है उस समय इन्द्रिय से द्रव्य का ही ग्रहण होता है। क्योंकि उससे भिन्न वर्णादि नहीं पाये जाते हैं। इसलिए इस विवक्षा में स्पर्शादि के कर्मसाधन बन जाता है। उस समय जो देखा जाये उसे वर्ण कहते हैं, ऐसी निरुक्ति करनी चाहिए। तथा जिस समय पर्याय प्रधान रूप से विवक्षित होती है, उस समय द्रव्य से पर्याय का भेद बन जाता है, इसलिए उदासीन रूप से अवस्थित जो भाव है, उसी का कथन किया जाता है। अतएव स्पर्शादि के भावसाधन भी बन जाता है। उस समय देखने रूप धर्म को वर्ण कहते हैं ऐसी निरुक्ति होती है। **(ध.१/२४८)**

६. प्रश्न : स्पर्श आदि के क्रम का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर : इन्द्रिय क्रम के अनुसार ही स्पर्श आदि का क्रम रखा गया है। स्पर्शन इन्द्रिय स्पर्श को, रसना इन्द्रिय रस को, घ्राण इन्द्रिय गन्ध को, चक्षु इन्द्रिय वर्ण को और श्रोत्र इन्द्रिय शब्द को क्रम से ग्रहण करती है। **(रा.वा. ४)**

७. प्रश्न : क्या स्पर्शादि का आपस में साहचर्य सम्बन्ध है ?

उत्तर : हाँ, स्पर्शादि का आपस में साहचर्य सम्बन्ध है क्योंकि स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण सामान्य रूप से पुद्गल के गुण हैं परन्तु नैयायिक और वैशेषिक पृथ्वी में चारों गुण, जल में गन्ध के बिना तीन गुण, अग्नि में रूप और रस ये दो गुण और वायु में केवल स्पर्श गुण ही मानते हैं परन्तु उनका ऐसा मानना ठीक

नहीं है क्योंकि इन चारों गुणों का आपस में साहचर्य सम्बन्ध है। जहाँ पर एक होगा वहाँ शेष गुणों के अविभाग प्रतिच्छेद गुणांश कम होने के कारण व्यक्त भले ही नहीं हों परन्तु उनका अभाव नहीं कहा जा सकता है, अनुमान से उनकी सिद्धि है। जिस प्रकार घट में स्पर्श है इसलिए रूपादि भी है उसी प्रकार वायु में भी स्पर्श का सद्भाव है अत: उसमें भी रूप आदि है। जिस प्रकार गुड़ में रूप है इसलिए उसमें रस और गंध भी है। उसी प्रकार अग्नि में रूप है अत: उसमें रस और गन्ध है। इसी प्रकार और भी जानना चाहिए। रूप के रहते रस और गंध का अभाव नहीं कहा जा सकता। **(रा.वा. ४)**

८. प्रश्न : ये स्पर्शादि द्रव्य रूप हैं या पर्याय रूप ?

उत्तर : ये स्पर्शादि विषय एकान्त से द्रव्य स्वरूप भी नहीं हैं और पर्याय स्वरूप भी नहीं हैं अपितु उभयात्मक हैं। यदि स्पर्शादि को एकान्त से द्रव्य रूप ही माना जायेगा तो कूर्मरोम (कछवे के बाल) के समान असत् होने से उसमें क्रिया (परिणमन) का अभाव हो जायेगा (क्योंकि नित्य एकान्त पक्ष में क्रिया नहीं होती) तथा स्पर्शादि को एकान्त से पर्याय रूप ही माना जायेगा तो भी द्रव्य के बिना कूर्मरोम के असत् हो रहे पर्यायी का विवर्त नहीं हो सकेगा तथा इन दोनों (द्रव्य पर्याय) को एकान्त रूप से भेद मानने पर दोनों का असत्व हो जायेगा। अत: अनेक धर्मात्मक रूप स्पर्शादि की बाधाओं से रहित उपलब्धि हो जाने से स्पर्श आदि द्रव्य-पर्याय उभयात्मक हैं।

अत: सिद्ध है कि अनेकात्मक स्पर्शादि ही इन्द्रिय के विषय हो सकते हैं अन्यथा इन्द्रियों के विषय नहीं हो सकते हैं। **(श्लो. ५/१५१)**

९. प्रश्न : स्पर्शनादि इन्द्रियाँ परस्पर भिन्न हैं या अभिन्न ?

उत्तर : स्पर्शनादि परस्पर कथंचित् भिन्न हैं और कथंचित् अभिन्न हैं क्योंकि यदि एकान्त से स्पर्शनादि में सर्वथा एकत्व हो तो स्पर्श के छूने पर रसादि का ज्ञान हो जाने का प्रसंग आयेगा। तब ऐसी स्थिति में स्पर्श से भिन्न अन्य इन्द्रियों की कल्पना करना व्यर्थ ठहरेगा।

दूसरी बात यह है कि किसी एक इन्द्रिय की विकलता या सकलता हो जाने पर सभी इन्द्रियों की सकलता या विकलता का प्रसंग आयेगा अर्थात् आँख के फूट जाने पर सभी इन्द्रियाँ नष्ट-भ्रष्ट हो जायेंगी तथा एक इन्द्रिय के होने पर पाँचों इन्द्रियाँ हो जायेंगी।

उन इन्द्रियों का परस्पर में एकान्त रूप से भेद भी नहीं मानना चाहिए, क्योंकि एकपन और संकलन रूप से ज्ञान की उत्पत्ति कराने के अभाव का प्रसंग हो जायेगा। जैसे कि अन्य संतान यानी दूसरी-दूसरी आत्माओं की इन्द्रियों में एकत्व रूप से संकलन ज्ञान नहीं हो पाता है।

भावार्थ - देवदत्त जिनदत्त सर्वथा भिन्न हैं। देवदत्त ने अपनी चक्षु से घट को देखा, जिनदत्त ने स्वकीय स्पर्शन इन्द्रिय से घट को छूआ, ऐसी स्थिति में जिनदत्त यों नहीं कह सकता कि जो मैं देखने वाला था वही मैं घट को छू रहा हूँ, कारण कि सर्वथा भिन्न ज्ञाताओं में या उनकी इन्द्रियों द्वारा हुए ज्ञानों में जोड़ने

वाला संकलन ज्ञान नहीं बन सकता। उसी प्रकार इन्द्रियों का भेद मानने पर जो ही मैं देख चुका हूँ वही मैं छू रहा हूँ, ऐसा एकत्व प्रत्यभिज्ञान नहीं हो सकेगा। **(श्लो. ५/१४६)**

१०. प्रश्न : स्पर्शादि द्रव्य से भिन्न हैं या अभिन्न ?

उत्तर : स्पर्शादि द्रव्य से कथंचित् भिन्न हैं तथा कथंचित् अभिन्न हैं। यदि द्रव्य से गुण (स्पर्शादि) का सर्वथा अभेद मान लिया जाय तो या तो द्रव्य की सत्ता रहेगी या फिर स्पर्शादि की। यदि द्रव्य की ही सत्ता रहती है तो लक्षण के अभाव में लक्ष्य रूप द्रव्य का भी अभाव हो जायेगा और यदि गुणों की सत्ता रहती है, ऐसा माना जाय तो निराश्रय होने से गुणों का भी अभाव हो जायेगा। यदि गुण-गुणी (द्रव्य-पर्याय) में सर्वथा भेद माना जाता है तो घट रूप की उपलब्धि में पट के रूप की अनुपलब्धि (अप्राप्ति) के समान स्पर्श की उपलब्धि में रूपादि की अनुपलब्धि होने पर स्पर्श के 'छूने पर घट का स्पर्श किया' यह व्यवहार नहीं होना चाहिए। क्योंकि छूना तो स्पर्शनात्मक है। (और घट स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णात्मक है) इसलिए गुण से गुणी का सर्वथा भेद मान लेने पर गुण एवं गुणी दोनों का ही अभाव हो जाता है। अत: गुण-गुणी में कथंचित् एकत्व एवं कथंचित् अनेकत्व स्वीकार करना चाहिए। क्योंकि द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से इनमें कथंचित् एकत्व (अभेद) है और पर्याय दृष्टि से कथंचित् पृथक्त्व (भेद) है। **(रा.वा. ५)**

११. प्रश्न : कैसे जाना जाता है कि ये पाँच इन्द्रियों के विषय हैं ?

उत्तर : सूत्र में दिये गये 'तदर्था:' पद से जाना जाता है कि ये पाँच इन्द्रियों के विषय हैं। 'तत्' पद से पूर्व सूत्र में कही गई इन्द्रियों का परामर्श कर लेना चाहिए। 'तेषां अर्था:' = 'तदर्था:' तब अर्थ यह हुआ कि उन इन्द्रियों के विषयभूत अर्थ यहाँ तदर्थ कहे गये हैं। इस प्रकार स्पर्शादि शब्दों की कर्मसाधन निरुक्ति की गई है। **(श्लो ५/१४९)**

अनिन्द्रिय (मन) का विषय बताते हैं-

श्रुतमनिन्द्रियस्य ॥२१॥

श्रुतं - अनिन्द्रियस्य।

अर्थ - श्रुत मन का विषय है।

श्रुत - श्रुतज्ञान विषयक जो अर्थ है वह श्रुत है।

१. प्रश्न : इस सूत्र की रचना किस प्रयोजन से की गई है ?

उत्तर : मन अनवस्थित है, इसलिए वह इन्द्रिय नहीं। इस प्रकार जो मन के इन्द्रियपने का निषेध किया है, सो यह मन उपयोग का उपकारी है या नहीं ? मन भी उपकारी है, क्योंकि मन के बिना स्पर्शादि विषयों में इन्द्रियाँ अपने-अपने प्रयोजन की सिद्धि करने में समर्थ नहीं होतीं तो क्या इन्द्रियों की सहायता

करना ही मन का प्रयोजन है या और भी इसका प्रयोजन है, यह बात इस सूत्र के द्वारा कही गयी है। **(सर्वा. ३०१)**

२. प्रश्न : श्रुत किसे कहते हैं ?

उत्तर : श्रुतज्ञान का विषयभूत अर्थ श्रुत है। श्रुत शब्द का अर्थ श्रुतज्ञान है। **(सर्वा. ३०२)** श्रुतज्ञान के द्वारा जानी जा रही सब वस्तु श्रुत है। **(श्लो. १५/१५२)**

३. प्रश्न : श्रुत श्रोत्रेन्द्रिय का विषय है, वह मन का विषय कैसे हो सकता है ?[1]

उत्तर : श्रुत को श्रोत्रेन्द्रिय का विषय नहीं कहना चाहिए क्योंकि ऐसा मानने पर श्रुत को मतिज्ञान का प्रसंग आयेगा अत: मतिज्ञान के उत्तर काल में जो जीवादि पदार्थों का चिन्तन है, वह श्रुत है और श्रुत मन का विषय है। **(रा.वा. १)**

४. प्रश्न : श्रुतज्ञान के द्वारा जाने गये पदार्थों को मन जानता है तो क्या मतिज्ञान के द्वारा जाने गये पदार्थों को मन नहीं जानता है ?

उत्तर : मन के जानने योग्य श्रुत ही है ऐसा नहीं है, क्योंकि सभी ज्ञानों के ज्ञेयों को श्रुत-ज्ञान से जानने में मन निमित्त कारण बन जाता है। यहाँ सम्पूर्ण जानने योग्य वस्तुओं को 'श्रुतं' शब्द से कहा गया है अर्थात् विश्व के सम्पूर्ण पदार्थों को जानने में श्रुतज्ञान निमित्त हो सकता है। **(श्लो. ५/१५३)**

५. प्रश्न : श्रुतज्ञान मन के निमित्त से ही होता है या अन्य इन्द्रियों के निमित्त से भी ?

उत्तर : श्रुतज्ञान की उपयोग रूप दशा मन के निमित्त से ही होती है। जिस प्रकार मतिज्ञान इन्द्रियों और मन के निमित्त से होता है उस प्रकार श्रुतज्ञान इन दोनों के निमित्त से न होकर केवल अनिन्द्रिय के निमित्त से होता है, इन्द्रिय परम्परा निमित्त है। **(सर्वा. ३०२ विशेषार्थ)**

६. प्रश्न : 'श्रुतमनिन्द्रियस्य' ऐसा सूत्र न कहकर 'सर्वमनिन्द्रियस्य' ऐसा कहना चाहिए जिससे स्पष्ट अर्थ होता ?

उत्तर : 'सर्वमनिन्द्रियस्य' ऐसा सूत्र कहने से स्पष्ट नहीं होता क्योंकि परोक्षता समझाने के लिए 'श्रुतं' पद कहा है। जिस प्रकार केवलज्ञान सम्पूर्ण पदार्थों को पूर्ण विशद रूप से प्रत्यक्ष जान लेता है उस प्रकार मन विशद रूप से सम्पूर्ण पदार्थों को नहीं जान सकता है वह मन अविशद रूप से सम्पूर्ण पदार्थों को जानता है अत: 'श्रुतमनिन्द्रियस्य' यह बहुत श्रेष्ठ सूत्र कहा है। **(श्लो ५/१५४)**

७. प्रश्न : इन्द्रिय और मन के विषयों का निरूपण किस प्रयोजन से किया है ?

---

१. यह उस चीज को मांग रहा है जो शंख सरीखे गले वाली है और जिसमें जल रखा जाता है। ऐसा जो ज्ञान हुआ वह संकेत वगैरह स्मरण सापेक्ष हुआ जो कि विचारात्मक होने से मन का कार्य है। बस, इसीलिए कहा गया है कि सुनी हुई बात मन का विषय है अर्थात् उसका विचार करना मन का कार्य है।

उत्तर : 'इन्द्रिय एवं मन के विषयों का निरूपण' अर्थ से विज्ञान का जन्म मानने वाले बौद्ध मत का खण्डन करने के लिए किया है। बौद्ध घट का ज्ञान घट से उत्पन्न हुआ, पट का ज्ञान पट से हुआ मानते है। दूसरी बात ज्ञान के निरालम्बपने का निराकरण करने के लिए इन्द्रिय एवं मन के विषयों का निरूपण किया है। **(श्लो. ५/१५४)**

स्पर्शन इन्द्रिय के स्वामी को कहते हैं -

वनस्पत्यन्तानामेकम् ॥२२॥

वनस्पति - अन्तानां - एकम्।

(वनस्पत्यन्तानां) वनस्पति है अन्त में जिसके ऐसे स्थावर जीवों के (एक) इन्द्रिय होती है।

अर्थ - वनस्पति पर्यन्त स्थावर जीवों के एक स्पर्शन इन्द्रिय होती है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : किस इन्द्रिय का क्या विषय है, यह बतला दिया गया। अब उनके स्वामी का कथन करना है अत: सर्व प्रथम जो स्पर्शन इन्द्रिय कही है उसके स्वामी का निश्चय करने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(सर्वा. ३०३)** इन्द्रियों के प्रतिनियत विषयों के स्वामित्व का निर्देश कर देने पर जो प्रथम गृहीत स्पर्शन इन्द्रिय है उसके स्वामित्व की अवधारणा के लिए यह सूत्र कहा है। **(रा.वा. उ.)**

२. प्रश्न : कैसे जाना जाता है कि पृथ्वी आदि जीवों के एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है ?

उत्तर : सूत्र में दिये गये 'अन्त' पद से जाना जाता है कि इन पृथ्वी, जल आदि जीवों के एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है क्योंकि अन्त शब्द का अर्थ अवसान होता है (और वह अन्त शब्द आदि की भी अपेक्षा रखता है) अत: सिद्ध है कि पृथ्वी आदि को लेकर वनस्पति पर्यन्त जीवों के एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है। **(श्लो. ५/१५५)**

३. प्रश्न : सूत्र में दिये गये 'एकं' पद से स्पर्शन का ही ग्रहण न करके किसी एक इन्द्रिय का ग्रहण क्यों नहीं किया ?

उत्तर : ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि 'एकं' शब्द प्रथमता का वाचक होने से उससे स्पर्शन इन्द्रिय का ही ग्रहण करना चाहिए, अन्य किसी एक का नहीं। **(रा.वा.४)**

४. प्रश्न : स्पर्शन इन्द्रिय की उत्पत्ति कैसे होती है ?

उत्तर : वीर्यान्तराय और स्पर्शन इन्द्रियावरण कर्म का क्षयोपशम होने पर और शेष इन्द्रियों के सर्वघाती स्पर्धकों के उदय होने पर तथा शरीर नामकर्म के अवलम्बन के होने पर और एकेन्द्रिय जाति नामकर्म के उदय की आधीनता रहते हुए स्पर्शन इन्द्रिय प्रगट होती है। **(सर्वा. ३०४)**

५. प्रश्न : किन-किन जीवों के एक स्पर्शन इन्द्रिय होती है ?

उत्तर : पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति कायिक जीवों के एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है। **(त.सू. २/२२)**

शेष इन्द्रियों का स्वामित्व कहते हैं -

कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि ॥२३॥

कृमि- पिपीलिका - भ्रमर - मनुष्य - आदीनां - एक - एक - वृद्धानि।

अर्थ - कृमि, पिपीलिका (चींटी), भ्रमर, और मनुष्यादि के क्रमशः एक-एक इन्द्रिय बढ़ती गई है।

१. प्रश्न : रसना आदि इन्द्रियों की उत्पत्ति कैसे होती है ?

उत्तर : वीर्यान्तराय तथा रसनेन्द्रियावरण कर्म का क्षयोपशम होने पर शेष घ्राणादि इन्द्रियों के सर्वघाती स्पर्धकों के उदय होने पर शरीर अंगोपांग नामकर्म का अवलम्बन होने पर तथा द्वीन्द्रिय जाति नाम कर्म के उदय रहते हुए रसना इन्द्रिय उत्पन्न होती है। इसी प्रकार घ्राण आदि इन्द्रियों की उत्पत्ति जानना चाहिए। **(सर्वा. ३०४-३०६)**

२. प्रश्न : किस इन्द्रिय से एक-एक की वृद्धि हुई है ?

उत्तर : स्पर्शन इन्द्रिय का अधिकार है, अतः स्पर्शन इन्द्रिय से लेकर एक-एक के क्रम से बढ़ी है, इस प्रकार यहाँ सम्बन्ध कर लेना चाहिए। **(सर्वा. ३०६)**

पूर्व सूत्र में कथित स्पर्शन का यहाँ अनुवर्तन करना चाहिए जिससे उस स्पर्शन को प्रारम्भ करके एक-एक की वृद्धि होती है। इसमें सन्देह नहीं रहता। **(रा.वा. १३)**

३. प्रश्न : द्वीन्द्रिय जीव कौन-कौन से हैं ?

उत्तर : लट, गेंडुआ, जोंक, सीप आदि जीवों के स्पर्शन एवं रसना दो इन्द्रियाँ होती हैं। शंबूक, मातृकवाह, शंख, सीप और पगरहित कृमि जो रस और स्पर्श को जानते हैं वे द्वीन्द्रिय जीव हैं। **(पं.का.१३-१४)**

क्षुल्लक अर्थात् छोटी कौड़ी, बड़ी कौड़ी, शंख, अक्ष, अरिष्टक, गंडोला, कुक्षि-कृमि अर्थात् पेट के कीड़े और सीप आदि द्वीन्द्रिय जीव जानना चाहिए। **(पं. सं. ७०)**

४. प्रश्न : त्रीन्द्रिय जीव कौन-कौन से हैं ?

उत्तर : चींटी, खटमल, जूँ, दीमक आदि जीवों के स्पर्शन, रसना और घ्राण ये तीन इन्द्रियाँ होती हैं।

जूँ, कुम्भी, खटमल, चींटी और बिच्छू आदि जन्तु स्पर्श, रस और गन्ध को जानते हैं, वे त्रीन्द्रिय जीव हैं। **(पं.का. ११५)**

कुन्थु (चींटी) पिपीलक, मत्कुण (खटमल) बिच्छू, जूँ, इन्द्रगोप (बीर-वधूटी) गोम्ही (कनखजूरा), उत्तिंग (अन्नकीट) और मृद-भक्षी दीमक आदि त्रीन्द्रिय जीव जानने चाहिए। **(पं.सं. ७१)**

५. प्रश्न : चतुरिन्द्रिय जीव कौन-कौन से हैं ?

उत्तर : मक्खी, मच्छर, पतंगा आदि जीवों के स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु ये चार इन्द्रियाँ होती हैं। डाँस, मच्छर, मक्खी, मधुमक्खी, भँवरा और पतंगे आदि जीव रूप, रस, गन्ध और स्पर्श को जानते हैं वे चतुरिन्द्रिय जीव हैं। **(पं. का. ११६)**

दंश-मशक (डाँस-मच्छर), मक्खी, मधुमक्खी, भ्रमर, कीट, मकड़ी, शलभ, पतंग आदि चतुरिन्द्रिय जीव जानने चाहिए। **(पं.सं. ७२)**

६. प्रश्न : पंचेन्द्रिय जीव कौन-कौन से हैं ?

उत्तर : अंडज, पोत, जरायुज, रसज, स्वेदज, सम्मूर्च्छिम, उद्भेदिम और औपपादिक जीवों को पंचेन्द्रिय जानना चाहिए। **(पं.सं. ७३)**

मनुष्य, देव, नारकी, हाथी, घोड़ा आदि पंचेन्द्रिय जीव हैं।

वर्ण, रस, स्पर्श, गन्ध और शब्द को जानने वाले देव, मनुष्य, नारक, तिर्यञ्च जो थलचर, खेचर, जलचर होते हैं वे बलवान पंचेन्द्रिय जीव हैं। **(पं. का.ता. ११७)**

७. प्रश्न : सूत्र में दिये गये आदि शब्द का क्या अर्थ है ?

उत्तर : सूत्र में दिया गया 'आदि' शब्द प्रकार और व्यवस्था अर्थ में जानना चाहिए। जब आगम की अपेक्षा नहीं होती है तब 'आदि' शब्द 'प्रकार' अर्थ में आता है जैसे कृमि प्रकार, कृमि आदि। तथा जहाँ आगम की अपेक्षा होती है वहाँ 'आदि' शब्द व्यवस्था अर्थ में लिया जाता है। जो आगम में अपेक्षित है वही व्यवस्था अर्थ यहाँ ग्रहण किया गया है। **(रा.वा.५)**

८. प्रश्न : इन एकेन्द्रिय आदि जीवों के इन्द्रियों का विषय कितना है ?

उत्तर : एकेन्द्रिय जीव के स्पर्शन इन्द्रिय का विषय चार सौ (४००) धनुष प्रमाण है। द्वीन्द्रिय जीव के स्पर्शन इन्द्रिय का विषय आठ सौ (८००) धनुष तथा रसना इन्द्रिय का विषय चौंसठ (६४) धनुष प्रमाण है।

त्रीन्द्रिय जीव के स्पर्शन इन्द्रिय का विषय सोलह सौ (१६००) धनुष, रसना का विषय एक सौ अट्ठाईस (१२८) धनुष तथा घ्राण इन्द्रिय का विषय सौ (१००) धनुष प्रमाण है।

चतुरिन्द्रिय जीव के स्पर्शन इन्द्रिय का विषय बत्तीस सौ (३२००) धनुष, रसना का दो सौ छप्पन (२५६) धनुष, घ्राण का दो सौ (२००) धनुष तथा चक्षु इन्द्रिय का दो हजार नौ सौ चोवन (२९५४) योजन प्रमाण है।

असंज्ञी पंचेन्द्रिय के स्पर्शन इन्द्रिय का विषय चौंसठ सौ (६४००) धनुष, रसना का पाँच सौ बारह (५१२) धनुष, घ्राण का चार सौ (४००) धनुष, चक्षु का पाँच हजार नौ सौ आठ (५९०८) योजन तथा श्रोत्र का आठ हजार (८०००) धनुष प्रमाण है।

संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव के स्पर्शन इन्द्रिय का विषय नौ (९) योजन, रसना का नौ (९) योजन, घ्राण का नौ (९) योजन, चक्षु का सैंतालीस हजार दो सौ त्रेसठ योजन (४७२६३$\frac{७}{२०}$यो.) एवं एक कोस बारह सौ पन्द्रह धनुष, एक हाथ दो अंगुल और कुछ अधिक जौ का चतुर्थ भाग प्रमाण है, श्रोत्र का बारह योजन प्रमाण है। **(मू. आ. १०९४-९९)**

इन्द्रिय-विषय प्रमाण

इन्द्रिय	एकेन्द्रिय	द्वीन्द्रिय	त्रीन्द्रिय	चतुरिन्द्रिय	असंज्ञी पंचेन्द्रिय	संज्ञी पंचेन्द्रिय
स्पर्शन	४०० धनुष	८०० धनुष	१६०० धनुष	३२०० धनुष	६४०० धनुष	९ योजन
रसना		६४ धनुष	१२८ धनुष	२५६ धनुष	५१२ धनुष	९ योजन
घ्राण			१०० योजन	२०० धनुष	४०० धनुष	९ योजन
चक्षु				२९५४ योजन	५९०८ योजन	४७२६३ $\frac{७}{२०}$ योजन
श्रोत्र					८००० धनुष	१२ योजन
मन						सर्वलोकवर्ती

पंचेन्द्रिय जीवों के भेद कहते हैं-

संज्ञिनः समनस्काः ॥२४॥

(समनस्काः) मन सहित जीव **(संज्ञिनः)** संज्ञी कहलाते हैं।

अर्थ - मन सहित जीव संज्ञी होते हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : जो दार्शनिक सभी संसारी जीवों को मन सहित ही मानते हैं और जो सभी संसारी जीवों को मन रहित ही मानते हैं उन दोनों के मतों का खण्डन करने के लिए यह सूत्र कहा गया है। इस सूत्र में संज्ञावान जीवों को समनस्क कहा है अतः सामर्थ्य से असंज्ञी अमनस्क हैं, यह स्वतः सिद्ध हो जाता है। **(श्लो ५/१५८)**।

२. प्रश्न : संज्ञी जीव किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिसके संज्ञा पायी जाती है, वह संज्ञा शिक्षा, क्रिया, आलाप और उपदेश आदि ग्रहण करना मानी गयी है। मन के अवलम्बन से ग्रहण करने वाले संसारी जीव बैल-मनुष्य आदि संज्ञी हैं। **(श्लो**

५/१५९) जो जीव प्रवृत्ति करने के पहले कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का विचार करे, तत्त्व और अतत्त्व का स्वरूप समझ सके और उसका जो नाम रखा गया हो उस नाम के द्वारा बुलाये जाने पर आ सके, उन्मुख हो अथवा उत्तर दे सके उसे समनस्क या संज्ञी जीव कहते हैं। **(गो.जी. ६६२)**

शिक्षा - हित का ग्रहण और अहित का त्याग जिससे हो सके वह शिक्षा है।

क्रिया - इच्छा अनुसार हाथ-पाँव आदि को चलाना क्रिया है।

आलाप - श्लोक आदि का पाठ आलाप है।

उपदेश - चमड़े की पेटी आदि के द्वारा हिंसादि करने का उपदेश देने को उपदेश कहते हैं। **(गो.जी.जी. ६६१)**

जो जीव शिक्षा, क्रिया तथा आत्मा के प्रयोजन को ग्रहण करता है वह संज्ञी कहलाता है। **(त.सा. २/९३)**

३. प्रश्न : मन और संज्ञा का एक ही कार्य है अत: सूत्र में 'समनस्क' पद व्यर्थ है ?

उत्तर : ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि शब्दार्थ के व्यभिचार को दूर करने के लिए 'समनस्क' शब्द दिया है। संज्ञा शब्द अनेक अर्थ में आता है।

(१) संज्ञा का अर्थ 'नाम' किया जावे तो सर्व प्राणियों की प्रतिनियत संज्ञा होती है अत: सभी संज्ञी हो जावेंगे।

(२) संज्ञा का अर्थ ज्ञान किया जावेगा तो भी सभी प्राणी ज्ञानात्मक हैं इसलिए सभी संज्ञी होंगे, असंज्ञी कोई नहीं रहेगा।

(३) संज्ञा का अर्थ आहार, भय आदि लिया जावे तो भी सभी संसारी प्राणियों के आहारादि संज्ञाओं का सद्भाव होने से सभी संज्ञी हो जायेंगे, परन्तु ऐसा मानना यहाँ इष्ट नहीं है। अत: मन सहित प्राणियों की व्यावृत्ति के लिए समनस्क विशेषण सार्थक है। इस प्रकार गर्भस्थ, अण्डस्थ आदि अवस्थाओं में हिताहित का विचार नहीं होने पर भी मन की सत्ता होने से संज्ञीत्व बन जाता है। **(रा.वा. ४-७)**

४. प्रश्न : एकेन्द्रिय आदि जीवों के भी आहारादि में प्रवृत्ति होती है अत: इनके भी स्मृति, मन आदि मानना चाहिए क्योंकि मन के बिना स्मृति नहीं होती ?

उत्तर : एकेन्द्रिय आदि असंज्ञी जीवों के सामान्य स्मृति ज्ञान का अभाव नहीं है। अनादि संसार परम्परा में प्राप्त हुए विषयों के अनुभव से उत्पन्न हुई सामान्य धारणा रूप हेतु का सद्भाव असंज्ञी जीवों के मन के बिना भी आहारादि में प्रवृत्ति देखी जाती है। **(श्लो ५/१६०)**

५. प्रश्न : यदि असंज्ञी जीवों के सामान्य स्मरण है तो विशेष स्मरण क्यों नहीं हो सकता?

उत्तर : असंज्ञी जीवों के विशेष स्मरण का सद्भाव नहीं हो सकता है क्योंकि सामान्य स्मरण का उस विशेष स्मरण के साथ अविनाभाव नहीं है। जिस मनुष्य के अनुभव किये हुए पदार्थ का सामान्य रूप

से स्मरण है उस मनुष्य के उस अनुभूत पदार्थ का स्मरण विशेष भी हो यह नियम नहीं है। अगर ऐसा होता तो पुन:पुन: विशेष धारणकरना आदि का अभाव हो जावेगा। किसी भी तरह सामान्य स्मरण का विशेष स्मरण के साथ अविनाभाव मान भी लिया जाय तो स्मरण सामान्य का शिक्षा, क्रिया, आलाप के ग्रहण का निमित्त स्मरण विशेष के साथ अविनाभाव किसी भी तरह सिद्ध नहीं होता है। क्योंकि ऐसा मानने पर सभी जीवों के उसके सद्भाव का प्रसंग आता है अत: नाम और सामान्य मतिज्ञान के समान आहारादि संज्ञा का हेतु स्मृति (स्मरण) सामान्य, धारणा सामान्य और उसका भी कारण अवाय सामान्य, ईहा सामान्य और अवग्रह सामान्य सभी प्राणियों के साधारण रूप से अनादि भव के अभ्यास से उत्पन्न पाये जाते हैं परन्तु क्षयोपशम से उत्पन्न भावमन तो संज्ञी जीवों के ही होता है, अन्यथा सम्पूर्ण प्राणियों के भावमन का एवं विशेष स्मरण आदि के सद्भाव का प्रसंग आता है। **(श्लो. ५/१६१)**

६. प्रश्न : केवली भगवान संज्ञी हैं या असंज्ञी ?

उत्तर : सयोग केवली भगवान संज्ञी नहीं हैं क्योंकि आवरण कर्म से रहित उनके मन के अवलम्बन से बाह्य अर्थ का ग्रहण नहीं पाया जाता है, सयोग केवली भगवान असंज्ञी भी नहीं हैं क्योंकि जिन्होंने समस्त पदार्थों को साक्षात् कर लिया है उन्हें असंज्ञी मानने में विरोध है। केवली भगवान विकलेन्द्रियों के समान मन की अपेक्षा बिना ही पदार्थों को ग्रहण करते हैं इसलिए भी उन्हें असंज्ञी नहीं कह सकते हैं क्योंकि यदि मन की अपेक्षा न करके ज्ञान की उत्पत्ति मात्र का आश्रय करके ज्ञानोत्पत्ति की कारण होती तो ऐसा होता (केवली असंज्ञी होते) परन्तु ऐसा तो है नहीं, क्योंकि कदाचित् मन के अभाव से विकलेन्द्रिय जीवों की तरह केवली के बुद्धि के अतिशय का अभाव भी कहा जावेगा। इसलिए केवली विकलेन्द्रियों के समान मन की अपेक्षा के बिना बाह्य पदार्थों को ग्रहण करते हैं फिर भी वे असंज्ञी नहीं हैं। **(ध. १/४११)**

भवान्तर विग्रह गति :

विग्रहगति में होने वाले योग को कहते हैं -

विग्रहगतौ कर्मयोग: ॥२५॥

(विग्रहगतौ) विग्रहगति में **(कर्मयोग:)** कर्मयोग होता है।

अर्थ - विग्रहगति में कर्मयोग होता है।

विग्रहगति - शरीर के लिए जो गति होती है उसे विग्रहगति कहते हैं।

कर्मयोग - कर्म के निमित्त से जो आत्मप्रदेशों में परिस्पन्दन होता है वह कर्मयोग है।

१. प्रश्न : विग्रहगति किसे कहते हैं ?

उत्तर : विग्रह अर्थात् शरीर के लिए जो गति होती है, वह विग्रहगति है। अथवा विग्रह अर्थात् नोकर्म पुद्गलों के विग्रह के निरोध के साथ जो गति होती है उसे विग्रहगति कहते हैं। **(सर्वा. ३१०)**

विग्रह - देह। विग्रह - विरुद्ध ग्रह - जिस अवस्था में (कर्मों का ग्रहण होते हुए भी) नोकर्म पुद्गलों का ग्रहण नहीं होता है वह विग्रह है और ऐसी जो गति है वह विग्रहगति है। विग्रह - औदारिकादि शरीर नाम कर्म के उदय से उन शरीरों के योग्य पुद्गलों का ग्रहण विग्रह कहलाता है संसारी को जिससे वह विग्रह है उस विग्रह के लिए जो गमन होता है उसे विग्रहगति कहते हैं। **(रा.वा. १-२)**

२. प्रश्न : कर्मयोग किसे कहते हैं ?

उत्तर : शरीरों की उत्पत्ति का मूल कारण कार्मण शरीर है उसे कर्म कहते हैं तथा वचन वर्गणा, मनोवर्गणा और कायवर्गणा के निमित्त से होने वाला आत्मप्रदेशों का परिस्पन्दन योग है। कर्म के निमित्त से जो योग होता है वह कर्मयोग है। **(सर्वा. ३१०)** कार्मण शरीर के निमित्त से जो योग होता है वह कार्मण काय योग है। अन्य औदारिकादि शरीर-वर्गणाओं के बिना केवल एक कर्म से उत्पन्न हुए वीर्य के निमित्त से जो योग होता है वह कार्मण काययोग है। **(ध.१/२९७)**

३. प्रश्न : विग्रहगति में कर्मयोग नहीं मानें तो क्या हानि है ?

उत्तर : विग्रहगति में कर्मयोग नहीं मानने पर उस समय कर्मों के सम्बन्ध से रहित हो जाने के कारण जीव आकाश के समान कर्मशून्य होगा या मुक्त जीवों के समान कर्मरहित हो जायेगा। जिससे यह विपरीत होगा कि मुक्तात्मा को भी पुन: कर्मबन्ध का प्रसंग आयेगा। **(श्लो. ५/१७३)**

४. प्रश्न : विग्रहगति में कर्मों का आस्रव किस कारण होता है ?

उत्तर : पूर्व शरीर को छोड़कर उत्तर भव सम्बन्धी शरीर के अभिमुख गमन कर रहे जीव के मध्यवर्ती अन्तराल में कार्मण काययोग के द्वारा ज्ञानावरणादि कर्मों का आस्रव हो जाता है। यह सिद्ध है। **(श्लो. ५/१७२)**

५. प्रश्न : कार्मण काययोग किन-किन जीवों के होता है ?

उत्तर : विग्रहगति को प्राप्त चारों गतियों के जीवों के तथा प्रतर और लोकपूरण समुद्घात को प्राप्त केवली जिन के कार्मणकाययोग होता है। कार्मण काययोग एकेन्द्रिय जीवों से लेकर सयोगकेवली तक होता है। **(ध.१/३००, ३०९)**

जीव और पुद्गल की गति बताते हैं -

अनुश्रेणि गतिः ॥२६॥

अर्थ - विग्रहगति में आकाश-प्रदेशों के अनुसार गमन होता है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : परमाणु प्रतिष्ठा सम्बन्ध से उपचरित आकाश-प्रदेशों में देशांतर-प्राप्ति के अभिमुख आधेय जीव-पुद्गल क्या प्रदेशों के क्रम का निराकरण करके गमन करते हैं या आकाश के प्रदेशों के

अनुसार गमन करते हैं, ऐसा प्रश्न उठने पर उसके गमन का निर्धारण करने के लिए आचार्य महाराज ने यह सूत्र लिखा। **(रा.वा. उ. २६)**

२. प्रश्न : अनुश्रेणी किसे कहते हैं ?

उत्तर : आकाशप्रदेश पंक्ति को श्रेणी कहते हैं। लोक के मध्य से लेकर ऊपर, नीचे और तिरछे क्रमश: सन्निविष्ट आकाशप्रदेशों की पंक्ति को श्रेणी कहते हैं। उस श्रेणी के अनुसार ही गमन होता है। अनु शब्द की आनुपूर्वी में वृत्ति होती है, श्रेणी की आनुपूर्वी अनुश्रेणी कहलाती है। **(रा.वा.१-२)**

वस्त्र, तन्तु के समान अथवा चर्म के अवयव के समान अनुक्रम से ऊपर, नीचे और तिरछे रूप से व्यवस्थित आकाशप्रदेशों की पंक्तियाँ श्रेणियाँ कहलाती हैं। **(ध.९/२२३)**

३. प्रश्न : सूत्र में पुन: 'गति' शब्द का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : यदि जीवों की गति ही इष्ट होती तो सूत्र में गति पद ग्रहण करने की आवश्यकता न थी क्योंकि गतिपद का ग्रहण अधिकार (पूर्व सूत्र) से सिद्ध है। दूसरी बात अगले सूत्र में 'जीव' पद का ग्रहण किया है इसलिए इस सूत्र में पुद्गलों का ग्रहण भी इष्ट है, यह ज्ञान होता है। **(सर्वा. ३१२)**

४. प्रश्न : जीव का अधिकार है अत: पुद्गल के अनुश्रेणी गति का ज्ञान कैसे हो सकता है?

उत्तर : जीव का अधिकार होने से पुद्गलों के अनुश्रेणी गति का ज्ञान नहीं हो सकता है, ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि यदि आचार्यों को इस सूत्र में जीव का ही गमन इष्ट होता तो गमन अधिकार में पुन: गति का ग्रहण करना निरर्थक होता, अत: जाना जाता है कि सर्व गतिमानों का यहाँ ग्रहण किया गया है। गति पद का ग्रहण क्रियान्तर की निवृत्ति के लिए है, ऐसा भी नहीं कहना चाहिए क्योंकि विग्रह गति को प्राप्त जीवों के अवस्थान, शयन, आसनादि क्रिया सम्भव नहीं है। 'अविग्रहा जीवस्य' इस आगे के सूत्र में जीव का ग्रहण है इसलिए मैं मानता हूँ कि इस सूत्र में उभय गति (जीव-पुद्गलों की गति) के आश्रित है। **(रा.वा. ३-५)**

५. प्रश्न : ज्योतिषी देवों एवं विद्याधरादि की विश्रेणी गति देखी जाती है अत: अनुश्रेणी गति का नियम नहीं बन सकता है ?

उत्तर : अनुश्रेणी गति में नियत काल एवं नियत देश का नियम है, वह इस प्रकार है: **कालनियम** - संसारी जीवों के मरण काल में एक भव से दूसरे भव के लिए गमन करते समय तथा मुक्त जीवों के मध्यलोक से ऊर्ध्वलोक (तनुवातवलय में स्थित सिद्धालय तक जाने में) गमन के समय अनुश्रेणी ही होती है।

देशनियम - जब कोई ऊर्ध्वलोक से अधोलोक के प्रति या अधोलोक से ऊर्ध्वलोक के प्रति आता जाता है, इसी प्रकार तिर्यग्लोक से अधोलोक के प्रति और अधोलोक से ऊर्ध्वलोक के प्रति आता-जाता है, तब उस अवस्था में गति अनुश्रेणी ही होती है।

इसी प्रकार पुद्गलों की जो लोक के अन्त को प्राप्त कराने वाली गति होती है वह अनुश्रेणी ही होती है। हाँ, इसके अतिरिक्त जो गति होती है वह अनुश्रेणी भी होती है और विश्रेणी भी। किसी एक प्रकार की गति होने का कोई नियम नहीं है। **(सर्वा. ३१२)**

६. प्रश्न : संसारी जीव एक भव से दूसरे भव में जाते समय कितने प्रकार से गमन करता है ?

उत्तर : संसारी जीव एक भव से दूसरे भव में जाते समय छह प्रकार से गमन करता है (१) ऊपर से नीचे की ओर (२) नीचे से ऊपर की ओर (३) पूर्व से पश्चिम की ओर (४) पश्चिम से पूर्व की ओर (५) उत्तर से दक्षिण की ओर (६) दक्षिण से उत्तर की ओर। **(श्लो. ५/१८६)**

गति विशेष का ज्ञान कराते हैं -

अविग्रहा जीवस्य ॥२७॥

(जीवस्य) सिद्ध जीवों के (अविग्रहा) मोड़े से रहित गति होती है।

अर्थ - मुक्त जीवों के अविग्रहा गति होती है।

अविग्रहा - कुटिलता रहित गति को अविग्रहा गति कहते हैं।

१. प्रश्न : कैसे जाना जाता है कि इस सूत्र में मुक्त जीवों का ग्रहण है ?

उत्तर : आगे के सूत्र अठाईस में 'संसारिण:' पद के ग्रहण से जाना जाता है कि इस सूत्र में मुक्त जीवों का ग्रहण किया गया है। **(रा.वा.१)**

२. प्रश्न : उत्तर सूत्र में दिये गये 'संसारिण:' पद से ही मुक्त जीवों के अविग्रहा गति सिद्ध है अत: इस सूत्र से क्या प्रयोजन है ?

उत्तर : उत्तर सूत्र (२८) में दिये गये 'संसारिण:' पद से ही मुक्त जीवों के अविग्रहा गति सिद्ध है फिर भी इस सूत्र का प्रयोजन यह है कि पूर्व सूत्र में जीव-पुद्गलों की क्वचित् विश्रेणी गति होती है, इस बात को बताने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा.१)**

३. प्रश्न : सिद्धों की अविग्रहा गति क्यों होती है ?

उत्तर : मुक्त जीवों की गति में वक्रता (कुटिलता) के निमित्त कारणों का अभाव होने से ऊर्ध्वगमन स्वभाव होने से उन मुक्तात्माओं के अविग्रहा गति ही होती है। **(श्लो ५/१८७)**

ऊर्ध्वलोक के ठीक मध्य में पैंतालीस लाख योजन विस्तार वाला गोल सिद्ध क्षेत्र है और उतने ही विस्तार वाला मनुष्य क्षेत्र सिद्धलोक के सात राजू नीचे स्थित है। कर्मभूमि के तपस्या स्थानों के अतिरिक्त सभी समुद्र, पर्वत, भोगभूमि आदि स्थलों से संहरण की अपेक्षा जीवों का मोक्ष होता है।

मनुष्यक्षेत्र के जिस स्थान से जीव मुक्त होते हैं ठीक उसी स्थान से सात राजू ऊपर तनुवातवलय में स्थित सिद्धलोक में ठहर जाते हैं अत: मोड़ा लेने की आवश्यकता नहीं है।

संसारी जीवों की गतिविशेष का वर्णन करते हैं -

विग्रहवती च संसारिण: प्राक् चतुर्भ्य: ॥२८॥

(संसारिण:) संसारी जीव की (प्राक् चतुर्भ्य:) चौथे समय के पहले (विग्रहवती) मोड़े वाली गति होती है (च) और बिना मोड़े वाली गति भी होती है।

अर्थ - संसारी जीव के चार समय के पहले मोड़े वाली गति होती है और 'च' से विग्रह से रहित भी गति है।

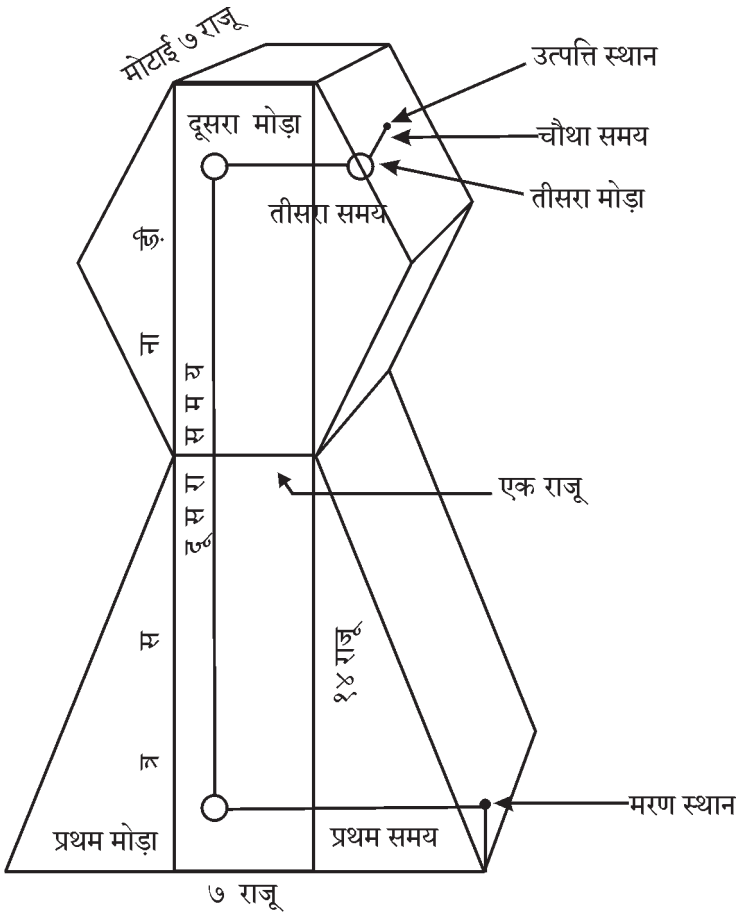

विग्रह गति में मोड़ा व समय

१. प्रश्न : सूत्र में 'च' शब्द का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : सूत्र में 'च' शब्द समुच्चय के लिए दिया है जिससे (संसारी जीवों के) विग्रह सहित और विग्रह रहित दोनों गतियों का समुच्चय होता है। 'च' शब्द से उपपाद क्षेत्र के प्रति ऋजुगति अविग्रहा तथा कुटिलगति सविग्रहा इस प्रकार दोनों का समुच्चय हो जाता है। **(रा.वा. २)**

२. प्रश्न : मोड़े वाली गति तीन समय तक ही क्यों होती है ?

उत्तर : निष्कुट (कोने वाला टेढ़ा-मेढ़ा) क्षेत्र में उत्पन्न होने वाले, दूसरे निष्कुट क्षेत्र में स्थित जीव को सबसे अधिक मोड़े लेने पड़ते हैं क्योंकि वहाँ आनुपूर्वी से अनुश्रेणी का अभाव होने के कारण इषुगति नहीं हो पाती है। अत: वह जीव निष्कुट क्षेत्र को प्राप्त करने के लिए तीन मोड़े वाली गति का प्रारम्भ करता है। यहाँ इससे अधिक मोड़े की आवश्यकता नहीं पड़ती है क्योंकि इस प्रकार का कोई उपपाद क्षेत्र नहीं पाया जाता है इसलिए मोड़े वाली गति तीन समय तक ही होती है चौथे समय में नहीं। **(सर्वा. ३१६)**

३. प्रश्न : एक भव से दूसरे भव में जाने के लिए होने वाली गतियाँ कितने प्रकार की होती हैं ?

उत्तर : एक भव से दूसरे भव में जाने के लिए होने वाली गतियाँ चार प्रकार की हैं –

(१) इषुगति (२) पाणिमुक्ता गति (३) लांगलिका गति (४) गोमूत्रिका गति।

इषुगति – बाण की तरह सीधी एक समय वाली गति को इषुगति कहते हैं।

पाणिमुक्ता – हाथ से छोड़े गये जल आदि के समान एक मोड़े और दो समय वाली गति को पाणिमुक्ता गति कहते हैं।

लांगलिकागति – (हल या सिंहपुच्छ की तरह) दो मोड़े एवं तीन समय वाली गति को लांगलिका गति कहते हैं।

गोमूत्रिका गति – गोमूत्र के समान तीन मोड़े एवं चार समय में होने वाली गति को गोमूत्रिका गति कहते हैं। **(रा.वा. ४)**

४. प्रश्न : सूत्र में लाघव के लिए 'आचतुर्भ्य:' कहना चाहिए ?

उत्तर : (१) सूत्र में 'प्राक् चतुर्भ्य:' के स्थान पर 'आचतुर्भ्य:' कहने पर लाघव होता, परन्तु इससे चतुर्थ समय के ग्रहण का अनिष्ट प्रसंग प्राप्त हो जाता इसलिए अभिविधि प्रसंग को दूर करने के लिए 'प्राक् चतुर्भ्य:' कहा है।

(२) आङ् के अभिविधि और मर्यादा दोनों में से विवक्षित अर्थ को जानने के लिए व्याख्यान आदि का गौरव होता है अत: स्पष्ट करने के लिए 'प्राक्' शब्द का ग्रहण किया है। **(रा.वा. ३-४)**

५. प्रश्न : सूत्र में 'प्राक् चतुर्भ्य:' पद किसलिए दिया है ?

उत्तर : सूत्र में 'प्राक्' पद (काल की) मर्यादा निश्चित करने के लिए दिया है। चार समय से पहले मोड़े वाली गति होती है, चौथे समय में नहीं, यह इसका तात्पर्य है। **(सर्वा. ३१६)**

मोड़े रहित गति के सम्बन्ध में कहते हैं -

एकसमयाऽविग्रहा ॥२९॥

एक-समया-अविग्रहा।

(अविग्रहा) विग्रह से रहित गति **(एकसमया)** एक समयवाली होती है।

अर्थ - मोड़ा से रहित गति एक समयवाली होती है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किस लिए कहा गया है ?

उत्तर : जब मोड़े वाली गतियों की व्यवस्था चार समय तक मानी है तब जो गति-मोड़ा रहित है वह कितने समय में सम्पन्न होती है, ऐसा प्रश्न होने पर उसके उत्तर स्वरूप यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा.उ. २९)**

विग्रहवाली गति का काल ज्ञात हुआ। अब विग्रहरहित गति का कितना काल है इस बात का ज्ञान कराने के लिए यह सूत्र कहा है। **(सर्वा. ३१७)**

२. प्रश्न : सूत्र में 'समय' और 'विग्रह' शब्द को स्त्रीलिङ्ग में क्यों कहा है ?

उत्तर : 'अनुश्रेणि गति:' इस सूत्र से गति शब्द की अनुवृत्ति करके समान अधिकरण हो जाने से गति की अपेक्षा समय और अविग्रह शब्द को स्त्रीलिङ्ग में 'समया' और 'अविग्रहा' इस प्रकार कहा है। **(श्लो ५/१९३)**

यहाँ गति का प्रकरण है इसलिए 'अविग्रहा' यह स्त्रीलिङ्ग का निर्देश जानना चाहिए। एक है समय जिसका वह एकसमया। नहीं है विग्रह जिसके वह अविग्रहा। (रा.वा. १)

३. प्रश्न : एक समय वाली अविग्रहा गति किस-किसके होती है ?

उत्तर : मध्यलोक से सिद्धालय को जाते समय मुक्त जीवों के अविग्रहा गति होती है। **(सर्वा. ३१४)**

ऋजुगति से दूसरे भव में जाते समय संसारी जीवों के अविग्रहा गति होती है। **(रा.वा. २/२८)**

लोकपर्यन्त जाने वाले पुद्गलों के व्याघात के अभाव में एक समय वाली अविग्रहागति होती है। **(सर्वा. ३१८)**

गतिमान जीव और पुद्गलों की गति लोक के अग्रभाग तक एक समय में हो जाती है। **(रा.वा.१)**

४. प्रश्न : कौनसा जीव एक समय में चौदह राजू गमन करके जन्म लेता है ?

उत्तर : अधोलोक के तनुवातवलय में स्थित कोई जीव मरण कर ऊर्ध्व लोक के अन्त में स्थित तनुवातवलय के अन्त में जन्म लेता है तब एक समय में चौदह राजू गमन कर जन्म ले सकता है। अथवा, ऊर्ध्वलोक के अन्त में स्थित तनुवातवलय में से मरकर अधोलोक के सबसे अन्त में स्थित तनुवातवलय में जन्म लेवे तो वह एक समय में चौदह राजू गमन करके जन्म ले सकता है। **(श्लो. ५/१९४ हिन्दी)**

५. प्रश्न : सर्वगत होने से निष्क्रिय आत्मा के क्रियावत्व नहीं हो सकता अत: आत्मा के गति की कल्पना अयुक्त है ?

उत्तर : लोष्ठ के समान क्रियावत्व के हेतु का सद्भाव होने से आत्मा के क्रिया होती है। जिस प्रकार स्वयं क्रियापरिणामी होने से पत्थर बाह्य-अभ्यन्तर कारणों की अपेक्षा से देशान्तर की प्राप्ति में समर्थ क्रिया का प्रारम्भ करता हुआ देखा जाता है उसी प्रकार आत्मा कर्मसम्बन्ध (वश) से शरीर परिणाम वाला होकर शरीरकृत क्रियाओं को प्राप्त होता है और शरीर के अभाव में दीपशिखा के समान स्वाभाविक क्रिया होती है इसमें कोई दोष नहीं है। **(रा.वा.२)**

६. प्रश्न : जीवों के अविग्रहा गति एक समय में किस प्रकार पूरी हो जाती है ?

उत्तर : मुक्त जीवों के अनन्त वीर्य प्रगट हो जाने के कारण एक ही समय में लोक के अग्रभाग को प्राप्त कराने वाली गति हो जाती है एवं संसारी जीवों के पूर्व शरीरों को छोड़कर अन्य शरीर को प्राप्त कराने वाली गति के योग्य वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से लोक के अन्त में वर्त रहे (स्थित) शरीर को प्राप्त करा देती है। **(श्लो. ५/१९३)**

७. प्रश्न : संसारी जीव चौथे समय में अपने जन्म-स्थान तक कैसे पहुँचता है ?

उत्तर : लोक सर्व आकाश के मध्य में स्थित है। उसका आयाम चौदह राजू है। पूर्व पश्चिम तलभाग सात राजू है। सात राजू ऊपर जाकर मध्य लोक में एक राजू विस्तार है। लोक का उत्तर-दक्षिण विस्तार सर्वत्र सात राजू प्रमाण है। लोक के ठीक बीच में उत्तर-दक्षिण विस्तार वाली एक राजू चौड़ी, एक राजू मोटी और चौदह राजू ऊँची त्रसनाड़ी है।

इस त्रस नाड़ी के बाहर स्थित किसी जीव को मर कर ऊर्ध्व लोक में त्रसनाड़ी के बाहर उत्तर-दक्षिण मोटाई के भीतर जन्म लेना है। वह अपने उत्पत्ति स्थान तक पहुँचने के लिए सर्व प्रथम समय में श्रेणी की अनुश्रेणी के अनुसार त्रसनाड़ी में प्रवेश करेगा। दूसरे समय में वह सीधा ऊर्ध्व लोक की त्रसनाड़ी तक पहुँचेगा। तीसरे समय में वह त्रसनाड़ी के बाहर स्थावर लोक में जायेगा और चौथे समय में वह मोटाई के अन्दर प्रवेश कर अपने जन्मस्थान पर पहुँच जायेगा। तीन विग्रह की दिशा को कहते हैं–

ब्रह्मलोकवर्ती प्रदेश पर वाम दिशा सम्बन्धी लोक पर्यन्त भाग से तिरछे दक्षिण की ओर तीन राजू प्रमाण जाकर पुन: साढ़े दस राजू नीचे की ओर बाण के समान सीधी गति से जाकर पश्चात् सामने की

ओर चार रज्जू प्रमाण जाकर कोणवर्ती दिशा में स्थित लोक के अन्तवर्ती सूक्ष्म वायुकायिकों में समुत्पन्न होने वाले जीव के तीन विग्रह होते हैं। **(ध. ४-४३५)**

विग्रहगति में अनाहारक अवस्था का काल बताते हैं-

एकं द्वौ त्रीन्वानाहारकः ॥३०॥

एकं - द्वौ - त्रीन् - वा - अनाहारकः।

विग्रहगति में (एकं द्वौ त्रीन्वा) एक, दो, तीन समय तक (अनाहारकः) अनाहारक रहते हैं।

अर्थ - एक, दो, तीन समय तक जीव अनाहारक रहता है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किस प्रयोजन से लिखा गया है ?

उत्तर : बन्ध-संतति की अपेक्षा अनादि होने पर भी कर्मोपचय वृत्ति सम्बन्ध से आदिमान पंच प्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव रूप संसार में मिथ्यादर्शनादि कारणों का सन्निधान होने पर उपयोगात्मक भी यह आत्मा सतत रूप से कर्मवर्गणा को ग्रहण करता हुआ विग्रहगति में भी आहारक है, ऐसा प्रसंग आने पर इसके नियम के लिए यह सूत्र कहते हैं। **(रा.वा.उ. ३०)**

२. प्रश्न : उत्तर शरीर की प्राप्ति के लिए होने वाली गति का कथन किस प्रयोजन से किया है ?

उत्तर : पदार्थ प्रथम क्षण में उत्पन्न होकर दूसरे ही क्षण में नष्ट होता है। इस प्रकार पदार्थ के स्वरूप को मानने वाले बौद्ध मत में विग्रहगति नहीं हो सकती है क्योंकि कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति का अभाव है, और कार्य-कारण सम्बन्ध क्षणिक पदार्थ में नहीं बन सकता है। दूसरी बात वस्तु को सर्वथा कूटस्थ मानने वाले मतों में भी उत्तर भव के लिए गति होना असम्भव है क्योंकि पूर्व शरीर का त्याग और उत्तर शरीर का ग्रहण कथंचित् अनित्य पदार्थ में ही सम्भव है। इन दोनों मतों (क्षणिकवादी एवं नित्यवादी) का खण्डन करने के लिए आचार्य महाराज ने उत्तरभव की प्राप्ति के लिए होने वाली गति का कथन किया है। **(श्लो. ५/१९७)**

३. प्रश्न : अनाहारक किसे कहते हैं ?

उत्तर : औदारिक, वैक्रियिक और आहारक इन तीन शरीर एवं (आहार, शरीर, इन्द्रिय श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन) इन छह पर्याप्तियों के योग्य पुद्गल वर्गणाओं को ग्रहण करने वाला आहारक कहलाता है। **(रा.वा. ४)**

शरीर नाम कर्म के उदय को प्राप्त जीव शरीर, वचन तथा मन के योग्य वर्गणाओं को ग्रहण करता है वह आहारक है। औदारिकादि तीन शरीरों में से किसी एक शरीर के योग्य वर्गणाओं को तथा भाषा व मन वर्गणाओं को जो नियम से ग्रहण करता है वह आहारक है। **(गो.जी. ६६४-६५)**

इस प्रकार का आहार जिसके नहीं पाया जाता है उसे अनाहारक कहते हैं। **(रा.वा.४)**

४. प्रश्न : सूत्र में दिये गये 'वा' शब्द का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर : सूत्र में दिया गया 'वा' शब्द विकल्प अर्थ में है। विकल्प का अर्थ है यथेच्छ सम्बन्ध करना। एक या दो या तीन समय तक विग्रहगति में जीव अनाहारक होता है। **(रा.वा.२)**

५. प्रश्न : आहारक के लक्षण में तैजस और कार्मण शरीर का ग्रहण क्यों नहीं किया है ?

उत्तर : तैजस और कार्मण शरीर के पुद्गल तो जब तक मोक्ष नहीं है तब तक निरन्तर आते ही रहते हैं इसलिए औदारिक, वैक्रियिक और आहारक इन तीन शरीर तथा छह पर्याप्ति के योग्य पुद्गलों का ग्रहण करना आहार कहलाता है। **(रा.वा.४)**

६. प्रश्न : एक भव से दूसरे भव में जाते समय जीव कितने समय तक अनाहारक रहता है?

उत्तर : एक समयवाली इषुगति में नोकर्म पुद्गलों को ग्रहण करता हुआ ही जाता है। अत: अविग्रहगति में आहारक ही होता है। दो समय और एक मोड़ा वाली पाणिमुक्ता गति में प्रथम समय में अनाहारक होता है और द्वितीय समय में आहारक होता है। दो मोड़ा और तीन समयवाली लांगलिका गति में प्रथम, द्वितीय समय में अनाहारक और तृतीय समय में आहारक होता है। तीन मोड़ा और चार समयवाली गोमूत्रिका गति में प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय समय में अनाहारक तथा चतुर्थ समय में आहारक हो जाता है। **(रा.वा. ६)**

७. प्रश्न : जीव के अनाहारक का जघन्य एवं उत्कृष्ट काल कितना है ?

उत्तर : एक जीव की अपेक्षा जघन्य से एक समय तक अनाहारक रहता है क्योंकि एक विग्रह करके उत्पन्न होने वाले जीव का यह काल पाया जाता है। इसका उत्कृष्ट काल तीन समय है क्योंकि समुद्घात केवली तथा तीन विग्रह करने वाले जीवों के कार्मण काययोग अनाहारकत्व का तीन समय प्रमाण काल पाया जाता है। **(गो.जी. ६६६-७०)**

जीव अधिक-से-अधिक अन्तर्मुहूर्त काल तक भी अनाहारक रहता है क्योंकि अयोग केवली के अनाहारक का अन्तर्मुहूर्त काल पाया जाता है। नाना जीवों की अपेक्षा अनाहारक का जघन्य एवं उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। **(ध. ७/१८५)**

८. प्रश्न : जीव अधिक-से-अधिक कितने समय तक आहारक रहता है ?

उत्तर : नाना जीवों की अपेक्षा सर्वकाल आहारक जीव पाये जाते हैं। **(ध. ७/४७७)** आहारक का उत्कृष्ट काल सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग (असंख्यात उत्सर्पिणी अवसर्पिणी) प्रमाण है तथा जघन्य काल तीन समय कम श्वास के अठारहवें भाग प्रमाण है। (क्योंकि विग्रहगति सम्बन्धी तीन समयों के घटाने पर क्षुद्र भव का काल इतना ही अवशेष रहता है) **(गो.जी. ६७०)**

जघन्य से तीन समय हीन क्षुद्रभव ग्रहण प्रमाण काल तक जीव आहारक रहते हैं क्योंकि तीन मोड़े

लेकर सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवों में उत्पन्न हो चौथे समय में आहारक होकर भुज्यमान आयु को कदलीघात से छिन्न करके अन्त में विग्रह करके निकलने वाले जीव के तीन समय कम क्षुद्रभव ग्रहण प्रमाण आहार काल पाया जाता है। **(ध. ७/१८४)**

९. प्रश्न : क्या ऋजुगति से जाने वाले जीव एक समय तक अनाहारक रहते हैं ?

उत्तर : नहीं, ऋजुगति से जाने वाले जीव एक समय तक अनाहारक नहीं रहते हैं क्योंकि वे नोकर्म पुद्गलों को ग्रहण करते हुए ही जाते हैं। जैसे अग्नि में तपाया हुआ बाण लक्ष्य प्रदेश पर पहुँचने तक वर्षा के पानी को ग्रहण करता हुआ जाता है उसी प्रकार पूर्व शरीर को छोड़ने से संतप्त यह प्राणी अष्ट कर्म निर्मित कार्मण शरीर के द्वारा नवीन शरीर को ग्रहण करने के लिए जाते समय ही नोकर्म वर्गणाओं को ग्रहण करके आहारक हो जाता है। **(रा.वा. ६)**

१०. प्रश्न : क्या विग्रहगति में नोकर्म आहार के समान कवलाहार भी नहीं होता है ?

उत्तर : हाँ, विग्रहगति में नोकर्म आहार के समान (कवलाहार, लेप आहार, ओज आहार और मानसिक आहार) इन आहारों का भी अभाव है क्योंकि इन आहारों में अनेक समय लगते हैं अत: उनके होने में समय का व्यवधान हो जाता है। **(रा.वा.६)**

११. प्रश्न : कौन-कौन से गुणस्थान में जीव अनाहारक होते हैं ?

उत्तर : विग्रहगति में स्थित चारों गति के जीव (मिथ्यादृष्टि, सासादन सम्यग्दृष्टि और अविरत सम्यग्दृष्टि) अनाहारक होते हैं तथा समुद्घात को प्राप्त केवली प्रतर (प्रतर में फैलाते एवं समेटते समय) और लोकपूरण अवस्था में (इन तीन समयों में भी कार्मण काययोग होता है) तथा १४वें गुणस्थान में भी अनाहारक रहते हैं। **(गो.जी. ६६६)**

जन्म एवं योनि :

जन्म के भेद कहते हैं-

सम्मूर्च्छनगर्भोपपादा जन्म ।।३१ ।।

सम्मूर्च्छन - गर्भ - उपपादा: जन्म ।

अर्थ - सम्मूर्च्छन - गर्भ और उपपाद, ये जन्म के भेद हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किस उद्देश्य से कहा गया है ?

उत्तर : शुभाशुभ फल देने वाले कार्मण शरीर से अनुगृहीत क्रियाविशेष वाले, पूर्व में उपार्जित कर्मों के अनुभवन के प्रति अनुश्रेणी को आस्कन्द कर्मों के द्वारा आपूर्यमाण तथा विग्रह और अविग्रहवद् दो गति से स्वीकृत किया है देशांतर को जिन्होंने ऐसे संसारी प्राणियों के नवीन शरीर की निर्वृत्ति के प्रकार का प्रतिपादन करने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा.उ. ३१)**

२. प्रश्न : जन्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : पूर्व भव समाप्त होने पर संसारी जीव नया भव धारण करते हैं, इसलिए उन्हें जन्म लेना पड़ता है। **(म.पु. ३९/१२०)** पूर्व भव का स्थूल शरीर छोड़ने के बाद अन्तराल गति से सिर्फ कार्मण शरीर के साथ आकर नवीन भव-योग्य स्थूल शरीर के लिए पहले-पहल (सर्व प्रथम) योग्य पुद्गलों को ग्रहण करना जन्म है।

केवल शुभ कर्म, केवल अशुभ कर्म, माया और शुभाशुभ मिश्र कर्म, इनके द्वारा क्रमश: देव, नारक, तिर्यञ्च और मनुष्यों में जो उत्पत्ति होती है उसका नाम जन्म है। **(नि.सा.टी.६)** देव आदिकों के शरीर की निवृत्ति को जन्म कहा जाता है। बाह्य-अभ्यन्तर दोनों निमित्तों से आत्मलाभ करना जन्म है, जैसे मनुष्यगति आदि के उदय से जीव मनुष्य पर्याय रूप से उत्पन्न होता है। **(रा.वा. ४ अ./४२)** प्राणों को ग्रहण करना जन्म है। **(भ.आ.वि. २५)**

३. प्रश्न : जन्म कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : जन्म तीन प्रकार का होता है-

(१) सम्मूर्च्छन (२) गर्भ (३) उपपाद। **(त.सू. २/३१)**

४. प्रश्न : जन्म तीन ही प्रकार के हैं तो स्वेद आदि से उत्पन्न होने वाले जीवों के कौनसा जन्म है ?

उत्तर : जन्म के तीन भेदों के अलावा स्वेदज, उद्भिज और भी अनेक भेद-प्रभेद हैं। (वृक्ष, घास आदि अनेक प्रकार के जन्म हैं) उन सब का अन्तर्भाव सम्मूर्च्छन जन्म में हो जाता है। **(श्लो. ५/२०१)**

५. प्रश्न : सम्मूर्च्छन जन्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : तीनों लोकों में ऊपर, नीचे और तिरछे देह का चारों ओर से मूर्च्छन अर्थात् ग्रहण होना सम्मूर्च्छन है। **(सर्वा. ३२२)**

चारों तरफ से मूर्च्छन को सम्मूर्च्छन कहते हैं। तीनों लोकों में ऊपर, नीचे, तिरछे सभी दिशाओं से पुद्गल परमाणुओं का इकट्ठा होकर शरीर अवयवों की रचना होना सम्मूर्च्छन जन्म है। **(रा.वा.१)**

६. प्रश्न : गर्भ जन्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : वीर्य और रक्त का मिश्रण होना गर्भ है। स्त्री के गर्भाशय में उपगत पिता का वीर्य और माता के रक्त का मिश्रण गर्भ कहलाता है। **(रा.वा.२)** स्त्री के उदर में शुक्र और शोणित के परस्पर गरण अर्थात् मिश्रण को गर्भ कहते हैं। अथवा माता के द्वारा उपभुक्त आहार के गरण होने को गर्भ कहते हैं। **(सर्वा. ३२२)** उत्पन्न होने वाले जीव के द्वारा रज और वीर्य रूप पिण्ड का 'गरण' अर्थात् शरीर रूप से ग्रहण करना गर्भ है। **(गो.जी.जी. ८३)**

७. प्रश्न : जीव गर्भ में कितने काल तक रहता है ?

उत्तर : गर्भ में आने के प्रथम समय से लेकर कोई सात मास गर्भ में रहकर उससे निकलते हैं, कोई आठ मास, कोई नौ मास और कोई दस मास रहकर गर्भ से निकलते हैं। **(ध. १०/२७८)**

८. प्रश्न : गर्भ में जीव की वृद्धि किस क्रम से होती है ?

उत्तर : माता के उदर में वीर्य का प्रवेश होने पर वीर्य का कलल बनता है, जो दस दिन तक काला रहता है और अगले दस दिन तक स्थिर रहता है। दूसरे मास वह बुद-बुद रूप हो जाता है, तीसरे मास में वह घनभूत बनता है और चौथे मास में माँसपेशी का रूप धर लेता है। पाँचवें मास उसमें पाँच पुंलव (अंकुर) उत्पन्न होते हैं। नीचे के अंकुरों के दो पैर, ऊपर के अंकुर से मस्तक और बीच के अंकुरों से हाथ उत्पन्न होते हैं। छठे मास तक उक्त पाँच अंगों की और आँख, कान आदि उपांगों की रचना होती है। सातवें मास उन अवयवों पर चर्म, नख व रोम उत्पन्न होते हैं और आठवें मास वह गर्भ में ही हिलने-डुलने लगता है। नवमें या दसवें मास वह गर्भ से बाहर आता है। **(भ.आ. १००१-०४)**

९. प्रश्न : गर्भ में जीव क्या खाता है ?

उत्तर : आमाशय और पक्वाशय के मध्य वह जेर से लिपटा हुआ नौ मास तक रहता है। दाँत से चबाया गया व कफ से मिलकर चिकना हुआ ऐसा, माता द्वारा भुक्त अन्न माता के उदर में पित्त से मिलकर कडुआ हो जाता है। वह कडुआ अन्न एक-एक बिन्दु करके गर्भस्थ बालक पर गिरता है और वह उसे सर्वांग से ग्रहण करता रहता है। सातवें महीने में जब कमल के डंठल के समान दीर्घ नाल पैदा हो जाता है तब उसके द्वारा उक्त आहार को ग्रहण करने लगता है। इस आहार से उसका शरीर पुष्ट होता है। **(भ.आ. १००६-११)**

१०. प्रश्न : उपपाद जन्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिसमें जाकर उत्पन्न होते हैं वह उपपाद कहलाता है। इस सूत्र से अधिकरण साधन में 'घञ्' प्रत्यय होकर 'उपपाद' शब्द बना है। देव नारकियों के उत्पत्ति स्थान विशेष की उपपाद संज्ञा है। इन नियत स्थानों के पुद्गलों से उपपाद जन्म होता है। **(रा.वा. ४)** उपपादन कहिए सम्पुट शय्या वा उष्ट-ादि मुखाकार योनि विषै लघु अन्तर्मुहूर्त्त काल के भीतर ही जीव का उत्पन्न होना उपपाद जन्म है। **(गो.जी.जी. ८३)**

११. प्रश्न : कैसे जाना जाता है कि गर्भ और उपपाद जन्म वालों से सम्मूर्च्छन जन्म वालों का शरीर स्थूल है ?

उत्तर : गर्भ जन्म वाले भोग-भूमियाँ जीवों की उत्कृष्ट अवगाहना तीन कोस प्रमाण है। उपपाद जन्म वालों में नारकियों की उत्कृष्ट अवगाहना पाँच सौ धनुष प्रमाण है तथा सम्मूर्च्छन जन्म वालों में महामत्स्य एक हजार योजन लम्बा, पाँच सौ योजन चौड़ा तथा दो सौ पचास योजन प्रमाण मोटा है।

इसकी अवगाहना एक हजार योजन मानी गई है। इसी प्रकार कमल की अवगाहना भी कुछ अधिक एक हजार योजन मानी गई है। अत: इससे जाना जाता है कि सम्मूर्च्छन जीवों का शरीर गर्भ और उपपाद जन्म वालों से स्थूल है। **(मू. १०५५-७३ आ.)**

१२. प्रश्न : सम्मूर्च्छनादि जन्मों का क्रम क्यों कहा गया है ?

उत्तर : सूत्र में सम्मूर्च्छन जन्म का सर्वप्रथम ग्रहण किया है क्योंकि -

(१) यह जन्म अतिस्थूल है (२) गर्भ और उपपाद जन्म वाले जीवों की अपेक्षा सम्मूर्च्छन जन्म वाले अल्पकाल तक जीवित रहते हैं। (३) इस जन्म का कारण मांसादि और कार्य शरीर दोनों लोक में प्रत्यक्ष हैं और गर्भ तथा उपपाद जन्म के कार्य-कारण अप्रत्यक्ष हैं।

गर्भ जन्म की परिपूर्णता सम्मूर्च्छन जन्म के काल से अधिक काल में होती है अत: सम्मूर्च्छन जन्म के अनन्तर गर्भ जन्म का ग्रहण किया है।

गर्भ जन्म एवं सम्मूर्च्छन जन्म की अपेक्षा उपपाद जन्म वाले दीर्घ काल तक जीवित रहते हैं इसलिए अन्त में उपपाद जन्म का ग्रहण किया है। **(रा.वा. ५-९)**

१३. प्रश्न : यह कैसे जाना जाता है कि सम्मूर्च्छन जन्म वाले अल्पायु हैं ?

उत्तर : गर्भ जन्म वाले जीवों की उत्कृष्ट आयु (भोगभूमि की अपेक्षा) तीन पल्य प्रमाण है। उपपाद जन्म वाले जीवों की उत्कृष्ट आयु तैंतीस सागर प्रमाण है और सम्मूर्च्छन जन्म वालों की उत्कृष्ट आयु भी मात्र एक पूर्वकोटी प्रमाण ही है। गर्भ जन्म वालों की जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त्त, उपपाद जन्म वालों की दस हजार वर्ष है परन्तु सम्मूर्च्छन जन्म वाले जीवों की जघन्य आयु एक श्वास के अठारहवें भाग मात्र है। अत: सिद्ध है कि सम्मूर्च्छन जन्म वाले जीव गर्भ और उपपाद जन्म वाले जीवों की अपेक्षा अल्प आयु वाले हैं। **(मू. १११२-२६ आ.)**

नोट : सम्मूर्च्छन जीवों की उत्कृष्ट आयु मत्स्यादि की अपेक्षा जाननी चाहिए ?

१४. प्रश्न : सूत्र में 'जन्म' पद एकवचन में क्यों कहा है ?

उत्तर : जन्म के प्रकार अनेक होते हुए भी जन्मप्रकार का विषय सामान्य 'जन्म' शब्द से ग्रहण किया है इसलिए जन्म सामान्य की अपेक्षा से 'जन्म' शब्द को एक वचन में ग्रहण किया है जैसे जीवादि तत्त्व। **(रा.वा.११)**

१५. प्रश्न : सम्मूर्च्छनादि जन्मों का अन्तरंग कारण क्या है ?

उत्तर : अध्यवसाय (परिणाम) विशेष से कर्म में भेद होने पर उस कर्मकृत जन्म के विकल्प होते हैं। वे परिणाम असंख्यात लोकप्रमाण हैं। उन परिणामों के भेद से तत्कृत कार्यरूप कर्म-बन्ध विकल्प में भी भेद होता है और कर्मबन्ध का फल जन्मविकार जानना चाहिए। क्योंकि लोक में कारणानुसार ही कार्य देखा जाता है। शुभाशुभ लक्षण कर्म रूप ही जन्म उत्पन्न होता है। **(रा.वा. १०)**

१६. प्रश्न : सम्मूर्च्छनादि जन्म वालों की उत्कृष्ट अवगाहना कितनी है ?

उत्तर : सम्मूर्च्छन जन्म वाले जीवों में उत्कृष्ट अवगाहना एकेन्द्रिय की कुछ अधिक एक हजार योजन, द्वीन्द्रिय की बारह (१२) योजन, त्रीन्द्रियों की तीन कोस, चतुरिन्द्रिय की चार कोस (१ योजन) तथा पंचेन्द्रियों की एक हजार योजन (१००० यो. लम्बा, ५०० यो. चौड़ा, २५० यो. मोटा) प्रमाण है। **(त.सा.२/१४३-४४)** गर्भजों में भोगभूमिया मनुष्य-तिर्यञ्चों की तीन कोश (६००० धनुष) प्रमाण उत्कृष्ट अवगाहना है। **(त.सा. २/१३८)**

गर्भजों में अपर्याप्तक जलचर, थलचर, सम्मूर्च्छनों में पर्याप्तक जलचर, नभश्चर तथा गर्भजों में पर्याप्तक, अपर्याप्तक दोनों प्रकार के नभश्चर तिर्यञ्च उत्कृष्ट रूप से पृथक्त्व धनुष प्रमाण शरीर की अवगाहना धारण करते हैं। **(हरि.पु. १८/७९-८०)** जल के गर्भज पर्याप्त जीवों का शरीर उत्कृष्ट पाँच सौ योजन प्रमाण है। **(मू. १०८८ आ.)**

उपपाद जन्म वालों में नारकियों की पाँच सौ धनुष एवं देवों में पच्चीस धनुष प्रमाण (असुर कुमारों की) उत्कृष्ट अवगाहना है। **(त.सा. २/१३६-१३९)**

१७. प्रश्न : इन जीवों की जघन्य अवगाहना कितनी है ?

उत्तर : सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक के उत्पन्न होने के तीसरे समय में अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण जघन्य अवगाहना है। द्वीन्द्रिय पर्याप्तक की चार बार संख्यात से भाजित घनांगुल प्रमाण, त्रीन्द्रिय की तीन बार संख्यात से भाजित घनांगुल प्रमाण, चतुरिन्द्रिय की दो बार संख्यात से भाजित घनांगुल प्रमाण एवं पंचेन्द्रिय में तंदुल मत्स्य की एक बार संख्यात से भाजित घनांगुल प्रमाण जघन्य अवगाहना है। **(ति.प. ५/३१७-२०)**

सम्मूर्च्छन जन्म से उत्पन्न अपर्याप्तक जलचर, थलचर और नभश्चर तिर्यञ्चों की जघन्य अवगाहना एक वितस्ति प्रमाण है। **(हरि. पु. १८/७८)**

१८. प्रश्न : यह उत्कृष्ट एवं जघन्य अवगाहना किसके होती है ?

उत्तर : एकेन्द्रियों में उत्कृष्ट अवगाहना कमल की, द्वीन्द्रियों में शंख की, त्रीन्द्रियों में चींटी की, चतुरिन्द्रियों में भ्रमर की एवं पंचेन्द्रियों में महामत्स्य की होती है। तथा जघन्य अवगाहना एकेन्द्रियों में सूक्ष्म निगोदिया के, द्वीन्द्रियों में अनुन्धरी के, त्रीन्द्रियों में कुन्थु के, चतुरिन्द्रियों में काणमक्षिका के एवं पंचेन्द्रियों में तन्दुल मत्स्य के होती है। **(गो.जी.जी. ९५-९६)**

एकेन्द्रियादि जीवों की उत्कृष्ट एवं जघन्य अवगाहना

क्र.सं.	नाम	उत्कृष्ट अवगाहना	स्वामी	जघन्य-अवगाहना	स्वामी
१.	एकेन्द्रिय जीव	१००० योजन से कुछ अधिक	कमल	अंगुल के असंख्यातवें भाग	सूक्ष्म-निगोदिया लब्ध्य पर्याप्तक
२.	द्वीन्द्रिय जीव	१२ योजन	शंख	४ बार संख्यात से भाजित घनांगुल	अनुन्धरी
३.	त्रीन्द्रिय जीव	३ कोश	ग्रैष्मी चींटी	३ बार संख्यात से भाजित घनांगुल	कुन्थु
४.	चतुरिन्द्रिय जीव	४ कोश	भ्रमर	२ बार संख्यात से भाजित घनांगुल	काण-मक्षिका
५.	पंचेन्द्रिय जीव	१००० यो. लम्बा ५०० यो. चौड़ा २५० यो. मोटा	महामत्स्य	१ बार संख्यात से भाजित घनांगुल	सिक्थक-मत्स्य

१९. प्रश्न : एकेन्द्रियों में जघन्य अवगाहना कब होती है ?

उत्तर : एकेन्द्रियों में (ऋजुगति से) उत्पन्न सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक के जन्म के तीसरे समय में यह जघन्य अवगाहना होती है। **(मू. १०९० आ.)** अन्यतर सूक्ष्म निगोद जीव लब्ध्यपर्याप्तक जो कि त्रिसमयवर्ती आहारक है, तद्भवस्थ होने के तीसरे समय में वर्तमान है, जघन्य योगवाला है और शरीर की सर्व जघन्य अवगाहना में वर्तमान है। **(ध. ११/३३)** उसके शरीर की जघन्य अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण होती है।

२०. प्रश्न : प्रथम एवं द्वितीय समयवर्ती तद्भवस्थ के जघन्य अवगाहना क्यों नहीं कही ?

उत्तर : प्रथम समयवर्ती तद्भवस्थ के जघन्य अवगाहना नहीं होती, क्योंकि उस समय आयत चतुरस्र क्षेत्र के आकार से स्थित उक्त जीव में अवगाहना का स्तोकपना बन नहीं सकता।

द्वितीय समयवर्ती के भी यह अवगाहना नहीं होती क्योंकि उस समय में भी जीवप्रदेश समचतुरस्र स्वरूप से अवस्थित रहते हैं।

तृतीय समयवर्ती तद्भवस्थ निगोद के ही वह अवगाहना होती है क्योंकि उस समय में चतुरस्र क्षेत्र के चारों ही कोनों को संकुचित करके जीवप्रदेशों का वर्तुलाकार (गोल आकार से) अवस्थान देखा जाता है। **(ध. ११/३४-३५)**

२१. प्रश्न : पञ्चेन्द्रिय जीवों का जन्म कितने प्रकार का होता है?

उत्तर : पञ्चेन्द्रिय जीवों का जन्म अनेक प्रकार का होता है -

(१) अण्डज : अण्डे से उत्पन्न होने वाले पक्षी आदि।

(२) जरायुज : जिनके ऊपर माँस आदि का जाल लिपटा रहता है ऐसे जेर सहित जन्म लेने वाले पशु, मनुष्य आदि।

(३) पोतायिक : जो पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च गर्भ में जरायु आदि आवरण से रहित होकर रहते हैं, वे पोतायिक हैं।

(४) रसायिक : चमड़े के पात्र में रखे हुए घृत आदि में चमड़े के संयोग से उत्पन्न होने वाले रसायिक हैं।

(५) संस्वेदिम : पसीने से उत्पन्न होने वाले जीव संस्वेदिम कहे जाते हैं।

(६) सम्मूर्च्छन : सर्व ओर से पुद्गलों को ग्रहण करके शरीर बनाने वाले सम्मूर्च्छन जन्म वाले हैं।

(७) उद्भेदिम : पृथिवी, काष्ठ, पत्थर आदि को भेद कर उत्पन्न होने वाले जीव उद्भेदिम हैं। जैसे रत्न या पत्थर आदि को चीरने से निकलने वाले मेंढ़क।

(८) उपपादिम : देव-नारकियों के उपपाद स्थानों में उत्पन्न होने वाले देव और नारकी जीव उपपादिम हैं। **(त.वृ. २/१४)**

योनि के विकल्प कहते हैं -

सचित्तशीतसंवृताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः ॥३२॥

सचित्त-शीत-संवृताः-स-इतराः-मिश्राः-च-एकशः-तत्-योनयः।

(सचित्तशीतसंवृताः) सचित्त, शीत, संवृत **(सेतराः)** इनकी प्रतिपक्षभूत अचित्त, उष्ण, विवृत तथा **(मिश्राश्चैकशः)** एक-एक की मिश्र-सचित्ताचित्त, शीतोष्ण, संवृत-विवृत **(तद्योनयः)** उन जन्मों की योनियाँ हैं।

अर्थ - सचित्त, शीत और संवृत तथा इनकी प्रतिपक्षभूत अचित्त, उष्ण और विवृत तथा मिश्र अर्थात् सचित्ताचित्त, शीतोष्ण और संवृतविवृत, ये उस (जन्म) की योनियाँ हैं।

सचित्त योनि - जो चित्त (चैतन्य) युक्त है वह सचित्त योनि है।

शीत योनि - जो शीत गुण वाली है, वह शीत योनि है।

संवृत योनि - जो भले प्रकार ढकी हो वह संवृत योनि है।

अचित्त योनि - जो चेतना रहित है वह अचित्त योनि है।

उष्ण योनि - जो उष्णगुणवाली है वह उष्ण योनि है।

विवृत योनि - जो भले प्रकार खुली है वह विवृत योनि है।

सचित्ताचित्त योनि - जो सचित्त और अचित्त के मिश्र रूप है वह सचित्ताचित्त योनि है।

शीतोष्ण योनि - जो शीत और उष्णता से मिश्रित है वह शीतोष्ण योनि है।

संवृतविवृत योनि - जो कुछ ढकी एवं कुछ खुली है वह संवृतविवृत योनि है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : जिसका ऊपर से अधिकार चल रहा है और जो संसारी जीवों की विषयोपभोग रूप उपलब्धि के अधिष्ठान शरीर का कारण है उस जन्म के योनिभेदों का विकल्प कहना चाहिए, इसलिए योनिविकल्प कहने के लिए यह सूत्र कहा है। **(रा.वा.उ.३२)** यहाँ तक संसारी विषयों के उपभोग की प्राप्ति में आधारभूत जन्मों का अधिकार था। अब इनकी योनियों के भेद कहने चाहिए, इसलिए यह सूत्र कहा गया है। **(सर्वा. ३२३)**

२. प्रश्न : योनि किसे कहते हैं ?

उत्तर : 'यूयते यस्यां इति योनि:' भवपरिणत आत्मा जिसमें मिश्रण अवस्था को प्राप्त होता है या मिलता है उस भव के आधार को योनि कहते हैं। **(मू. आ. ११०१)**

शरीर ग्रहण करने योग्य देश को योनि कहते हैं। **(भ.आ. १७५२)**

उपपाद प्रदेश प्रचय रूप योनि है। **(सर्वा. ३२४)** जिसमें जीव आकर उत्पन्न हो वह योनि है। **(रा.वा. १०)**

जिसमें जीव औदारिकादि नोकर्म वर्गणा रूप पुद्गलों के साथ सम्बन्ध को प्राप्त होता है ऐसे जीव के उत्पत्ति स्थान को योनि कहते हैं। **(गो.जी.जी. ८१)**

३. प्रश्न : योनियाँ कितने प्रकार की होती हैं ?

उत्तर : योनियाँ दो प्रकार की होती हैं –

(१) गुण योनि (२) आकृति योनि।

योनियाँ नौ होती हैं - सचित्त योनि, शीत योनि, संवृत योनि, अचित्त योनि, उष्ण योनि, विवृत योनि, सचित्ताचित्त योनि, शीतोष्ण योनि और संवृत-विवृत योनि। **(त.सू.२/३२)**

योनि के चौरासी लाख भेद हैं-

नित्य निगोद सात लाख, इतर निगोद सात लाख, पृथ्वीकायिक सात लाख, अप्कायिक सात लाख, तेजकायिक सात लाख, वायुकायिक सात लाख, वनस्पति कायिक दस लाख, द्वीन्द्रिय दो लाख, त्रीन्द्रिय दो लाख, चतुरिन्द्रिय दो लाख, पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च चार लाख, देवों की चार लाख, नारकियों की चार लाख और मनुष्यों की चौदह लाख योनियाँ हैं। **(रा.वा. २७)**

४. प्रश्न : सचित्त योनि किसे कहते हैं ?

उत्तर : आत्मा के चैतन्य परिणाम विशेष को चित्त कहते हैं और चित्त के साथ जो रहता है वह सचित्त कहलाता है। (उस सचित्त से युक्त जो जीव का उत्पत्ति स्थान है वह सचित्त योनि है) **(श्लो. ५/२०२)**

५. प्रश्न : शीत योनि किसे कहते हैं ?

उत्तर : स्पर्श विशेष को शीत कहते हैं। 'शीत' इस शब्द से स्पर्श विशेष को ग्रहण किया जाता है, शुक्लादि के समान उभय वचन होने से शीत स्पर्श युक्त द्रव्य को भी शीत कहते हैं। (जिसका उत्पत्ति-स्थान शीत है वह शीत योनि है।) **(रा.वा. २)**

६. प्रश्न : संवृत योनि किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो सम्यक् प्रकार से ढका हो वह संवृत कहलाता है। यहाँ संवृत ऐसे स्थान को कहते हैं जो देखने में न आवे। **(सर्वा. ३२४)**

दुरुपलक्ष को संवृत कहते हैं। भली प्रकार ढके हुए को संवृत कहते हैं। जो प्रदेश बड़ी कठिनता से जाना जाता है उसे संवृत कहते हैं। (जिसका उत्पत्तिस्थान ढका हुआ है वह संवृत योनि है।) **(रा.वा. ३)**

७. प्रश्न : आकृति योनि कितने प्रकार की होती है ?

उत्तर : आकृति योनि तीन प्रकार की होती है-

(१) शंखावर्त्त योनि (२) कूर्मोन्नत योनि (३) वंशपत्र योनि।

शंखावर्त्त योनि - जिस योनि में शंख के समान आवर्त्त होते हैं वह शंखावर्त्त योनि है।

कूर्मोन्नत योनि- जो योनि कछुए (की पीठ) के समान ऊपर उठी हुई हो वह कूर्मोन्नत योनि है।

वंशपत्र योनि - जो बांस के पत्र के समान आकार वाली हो वह वंशपत्र योनि है।

नोट - कूर्मोन्नत योनि के सर्व प्रदेश विशिष्ट और शुचि-शुद्ध होते हैं अथवा वहाँ के पुद्गल प्रदेश शुद्ध होते हैं। **(मू. ११०४ आ.)**

८. प्रश्न : किस योनि में कौन जीव उत्पन्न होते हैं ?

उत्तर : कूर्मोन्नत योनि में - तीर्थंकर, चक्रवर्ती[१], वासुदेव, प्रतिवासुदेव और बलदेव उत्पन्न होते हैं। अपि शब्द से अन्य जन इसमें पैदा नहीं होते। शेष अन्य जन (और भोगभूमिज आदि) वंशपत्र योनि में उत्पन्न होते हैं।

शंखावर्त्तक योनि में गर्भ नष्ट हो जाता है अत: वह भोगभूमिजों के नहीं होती है क्योंकि वे अकालमृत्यु रहित होते हैं। **(मू. ११०५ आ.)**

---

१. जीव प्र. टीका में लिखा है कि 'अपिशब्दान्नेतरजना:' परन्तु (स्व.) पं. गोपालदासजी के कथनानुसार ज्ञात होता है कि यहाँ पर 'अपिशब्दादितरजना: अपि' ऐसा पाठ होना चाहिए क्योंकि प्रथम चक्रवर्ती भरत जिस योनि से उत्पन्न हुए थे, उसी से उनके ९९ भाई भी उत्पन्न हुए थे। **(गो.जी. ८२ की टिप्पणी)**

९. प्रश्न : सूत्र में दिये गये 'सेतर' पद का क्या अर्थ है ?

उत्तर : इतर के साथ सेतर कहलाता है। सप्रतिपक्ष को अचित्त, उष्ण, विवृत ये सचित्त, शीत, संवृत के प्रतिपक्षी होने से इतर हैं। **(रा.वा.४)**

१०. प्रश्न : सूत्र में 'मिश्र' पद क्यों दिया गया है ?

उत्तर : उभयात्मक का संग्रह करने के लिए सूत्र में 'मिश्र' पद का ग्रहण किया गया है। सचित्ताचित्त, शीतोष्ण और संवृतविवृत इन उभयात्मक को ग्रहण करने के लिए सूत्र में 'मिश्र' पद का ग्रहण किया है। **(रा.वा. ५)**

११. प्रश्न : सूत्र में दिये गये 'च' शब्द का क्या अर्थ है ?

उत्तर : सूत्र में 'मिश्राश्च' इसमें 'च' शब्द प्रत्येक के समुच्चयार्थ ग्रहण किया है। यदि 'च' शब्द का ग्रहण नहीं होता तो पूर्वोक्त सचित्तादि विशेषण हो जाता, उससे यह शब्दार्थ निकलता कि ''सचित्त, शीत, संवृत जब अचित्त, उष्ण और विवृत से मिश्र हों तब योनियाँ होंगी 'च' शब्द का ग्रहण कर लेने पर पुन: सचित्त आदि प्रत्येक योनियाँ हैं तथा मिश्र भी योनियाँ हैं, ऐसा स्पष्ट अर्थ उपलब्ध होता है। **(रा.वा. ६)** अथवा- दूसरी योनियों के समुच्चयार्थ 'च' शब्द का ग्रहण किया गया है। सूत्र में नहीं कही गई चौरासी लाख उत्तर योनियों की सूचना करने के लिए 'च' शब्द का ग्रहण किया है। **(रा.वा. ८)**

नोट : 'चौरासी लाख योनियाँ' पूर्व में लिख चुके हैं।

१२. प्रश्न : निगोद किसे कहते हैं ?

उत्तर : साधारण नामकर्म के उदय से जीव निगोद शरीर वाले होते हैं। 'नि' - नियत, 'गो'- भूमि अर्थात् एक ही क्षेत्र अनन्तानन्त जीवों को 'द' अर्थात् देता है, वह निगोद है अर्थात् जो अनन्त जीवों को एक निवास दे, उसे निगोद कहते हैं। निगोद ही है शरीर जिनका, वे निगोदशरीरी हैं, इस प्रकार लक्षण से सिद्ध है। **(गो.जी.जी. १९१)** पुलवियों को निगोद कहते हैं। **(ध. १४/८५)**

१३. प्रश्न : पुलवि किसे कहते हैं ?

उत्तर : अब यहाँ पुलवियों के स्वरूप का प्ररूपण करते हैं यथा - स्कन्ध, अण्डर, आवास, पुलवि और निगोद शरीर ये पाँच होते हैं। जो आवास के भीतर स्थित हैं और कच्छउड अण्डर वक्खार के भीतर स्थित पिशवियों के समान हैं उन्हें पुलवि कहते हैं। एक-एक आवास में वे असंख्यात लोक प्रमाण होती हैं तथा एक-एक आवास की अलग-अलग एक-एक पुलवि में असंख्यात लोकप्रमाण निगोद शरीर होते हैं जो कि औदारिक, तैजस और कार्मण पुद्गलों के उपादान कारण होते हैं और जो कच्छउडअंडर वक्खार पुलवि के भीतर स्थित द्रव्यों के समान अलग-अलग अनन्तानन्त निगोद जीवों से आपूर्ण होते हैं। **(ध. १४/८६)**

१४. प्रश्न : स्कन्ध किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो बादर निगोदों का आश्रयभूत है, बहुत वक्खारों से युक्त है तथा वलंजंतवाणिय कच्छउड समान हैं ऐसे मूली, थूअर और आर्द्रक आदि संज्ञा को धारण करने वाला स्कन्ध कहलाता है, वे स्कन्ध असंख्यात लोक प्रमाण होते हैं। क्योंकि बादर निगोद प्रतिष्ठित जीव असंख्यात लोकप्रमाण पाये जाते हैं। **(ध. पु. १४/८६)**

१५. प्रश्न : अण्डर एवं आवास किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो उन स्कन्धों के अवयव हैं और जो वलंजुअकच्छउड के समान पूर्व अपर भाग के समान हैं उन्हें अण्डर कहते हैं।

जो अण्डर के भीतर स्थित हैं तथा कच्छउड अण्डर के भीतर स्थित वक्खार के समान हैं उन्हें आवास कहते हैं। अण्डर असंख्यात लोक प्रमाण होते हैं तथा एक अण्डर में असंख्यात लोकप्रमाण आवास होते हैं। **(ध. १४/८६)**

१६. प्रश्न : निगोदिया जीव कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : निगोदिया जीव दो प्रकार के होते हैं-

(१) चतुर्गति निगोद (२) नित्य निगोद।

चतुर्गति निगोद - जिन्होंने त्रस पर्याय पहले पायी थी अथवा पायेंगे वे अनित्य निगोद हैं। **(रा.वा. २७)** जो देव, नारकी, तिर्यंच और मनुष्यों में उत्पन्न होकर पुन: निगोदों में प्रवेश करते हैं, वे चतुर्गति निगोद कहे जाते हैं। **(ध. १४/२३६)**

नित्य निगोद - जिन्होंने अतीत काल में त्रस भाव को नहीं पाया है ऐसे अनन्त जीव हैं क्योंकि वे भाव कलंक प्रचुर होते हैं, इसलिए निगोदवास को नहीं त्यागते। **(ध. १४/२३३-३४)** जो कभी त्रस पर्याय को प्राप्त करने योग्य नहीं होते, वे नित्य निगोद हैं। **(रा.वा. २७)** जो सदा निगोदों में ही रहते हैं, वे नित्यनिगोद हैं। **(ध. १४/२३६)**

१७. प्रश्न : योनियाँ नाना प्रकार की क्यों मानी गयी हैं ?

उत्तर : प्रत्येक आत्मा के शुभाशुभ परिणाम भिन्न-भिन्न होते हैं, और तज्जनित कर्मबन्ध भी विचित्र है इसलिए सुख-दु:ख के अनुभवन का कारण बहुत प्रकार का होता है। अत: योनियाँ भी नाना प्रकार की मानी गई हैं। **(रा.वा. १७)**

१८. प्रश्न : किन-किन जीवों के कौन-कौन सी योनियाँ होती हैं ?

उत्तर : पृथ्वीकायिक, जलकायिक और वायुकायिक जीवों के सचित्त, अचित्त, सचित्ताचित्त, शीत, उष्ण, शीतोष्ण तथा संवृत योनि होती है।

यहाँ विशेष इतना है कि जलकायिक जीवों के शीत योनि ही होती है।

अग्निकायिक जीवों के सचित्त, अचित्त, सचित्ताचित्त, उष्ण तथा संवृत योनि होती है। **(मू.आ. ११०३)** साधारण शरीर वालों को छोड़कर शेष वनस्पति कायिक जीवों के सचित्त, अचित्त, सचित्ताचित्त शीत, उष्ण, शीतोष्ण तथा संवृत योनि होती है।

साधारण शरीर वालों के सचित्त, शीत, उष्ण, शीतोष्ण तथा संवृत योनि होती है। **(सर्वा. ३२४)** विकलत्रयों के सचित्त, अचित्त, सचित्ताचित्त, शीत, उष्ण, शीतोष्ण तथा विवृत योनि होती है। **(मू. आ. ११०२)**

पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चों में गर्भजों के - सचित्ताचित्त, शीत, उष्ण, शीतोष्ण, संवृतविवृत योनि होती है। सम्मूर्च्छनों के सचित्त, अचित्त, सचित्ताचित्त, शीत, उष्ण, शीतोष्ण तथा संवृत, विवृत, संवृत-विवृत योनि होती है। **(ति.प. ५/२९६-९७)**

गर्भज मनुष्यों के सचित्ताचित्त, शीत, उष्ण, शीतोष्ण तथा संवृतविवृत योनि होती है। सम्मूर्च्छन मनुष्यों के सचित्त, अचित्त, सचित्ताचित्त, शीत, उष्ण, शीतोष्ण तथा विवृत ये योनियाँ होती हैं। **(ति. प ४/२९९३-९५)**

योनियों का विवरण

क्रमांक	नाम	योनि	सचित्तादि योनियाँ
१.	पृथ्वीकायिक	सात लाख	सचित्त, अचित्त, मिश्र, शीत, उष्ण, मिश्र, संवृत
२.	जलकायिक	सात लाख	सचित्त, अचित्त, मिश्र, शीत, उष्ण, मिश्र, संवृत
३.	अग्निकायिक	सात लाख	सचित्त, अचित्त, मिश्र, उष्ण, संवृत
४.	वायुकायिक	सात लाख	सचित्त, अचित्त, मिश्र, शीत, उष्ण, मिश्र, संवृत
५.	वनस्पतिकायिक	दस लाख	सचित्त, अचित्त, मिश्र, शीत, उष्ण, मिश्र, संवृत
६.	साधारण शरीरी	—	सचित्त, शीत, उष्ण, मिश्र, संवृत
७.	विकलत्रय	दो-दो लाख	सचित्त, अचित्त, मिश्र, शीत, उष्ण, मिश्र, संवृत
८.	पंचेन्द्रिय तिर्यंच गर्भज	चार लाख)	सचित्ताचित्त, शीत, उष्ण, मिश्र, संवृतविवृत
९.	पंचेन्द्रिय तिर्यंच सम्मूर्च्छन	चार लाख)	सचित्त, अचित्त, मिश्र, शीत, उष्ण, मिश्र, संवृत, विवृत
१०.	गर्भज-मनुष्य	चौदह लाख)	सचित्ताचित्त, शीत, उष्ण, मिश्र, संवृत, विवृत
११.	सम्मूर्च्छन-मनुष्य	चौदह लाख)	सचित्त, अचित्त, शीत, उष्ण, मिश्र, संवृत, विवृत
१२.	देव-नारकी	चार-चार लाख	अचित्त, शीत, उष्ण, संवृत
१३.	नित्य-निगोद	सात लाख	—
१४.	इतर-निगोद	सात लाख	—

देव-नारकियों के अचित्त, शीत, उष्ण तथा संवृत योनि होती है। **(रा.वा. १८-२४)** भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और कल्पवासियों के उपपाद जन्म में शीतोष्ण, अचित्त और संवृत योनि होती है। इन सब देवों के सामान्य से सभी योनियाँ होती हैं। विशेष रूप से चार लाख योनियाँ होती हैं। **(ति. प. ८/७२३-२४)**

१९. प्रश्न : सचित्तादि योनियों का सूत्रोक्त क्रम क्यों रखा गया है ?

उत्तर : चेतनात्मक होने से सचित्त योनि का सर्वप्रथम ग्रहण किया है क्योंकि लोक में चेतनात्मक पदार्थ ही प्रधान होता है।

वृद्धि एवं उत्पत्ति का कारक होने से उसके बाद शीत का ग्रहण किया है क्योंकि सचेतन पदार्थों की वृद्धि या उत्पत्ति में प्रधान कारण शीत पदार्थ होता है। गुप्त रूप होने से संवृत का अन्त में ग्रहण किया है, क्योंकि लोक में गुप्त रूप ही क्रिया ग्राह्य होती है। **(रा.वा. १४-१६)**

२०. प्रश्न : योनि शब्द स्त्रीलिङ्ग है अत: ''सचित्ताशीता:.....'' स्त्रीलिङ्ग में समास करना चाहिए ?

उत्तर : योनि शब्द को केवल स्त्रीलिङ्ग समझकर द्वन्द्व समास में सचित्तादि में शब्दों के पुल्लिंग प्रयोग में आपत्ति नहीं करनी चाहिए। क्योंकि योनि शब्द उभयलिङ्गी है। उभयलिङ्गी होने से योनि शब्द को सूत्र में पुल्लिङ्ग जानना चाहिए। **(रा.वा.१२)**

२१. प्रश्न : योनि और जन्म में क्या अन्तर है ?

उत्तर : आधेय और आधार की अपेक्षा जन्म और योनि में अन्तर है। जन्म आधेय है और योनि आधार है जिससे सचित्तादि योनियों में रहने वाला आत्मा सम्मूर्च्छनादि जन्मों के द्वारा शरीर, आहार, इन्द्रियादि के योग्य पुद्गल वर्गणाओं को ग्रहण करता है। **(रा.वा. १३)**

२२. प्रश्न : कुल और योनि में क्या अन्तर है ?

उत्तर : जाति के भेद को कुल कहते हैं और उत्पत्ति के कारण को योनि कहते हैं। **(मू. २२० आ.)** बड़, पीपल, कृमि-सीप, खटमल-चींटी, भ्रमर-मक्खी, गौ, अश्व, क्षत्रिय आदि ये कुल हैं। कन्द, मूल, अंड, गर्भ, रस, पसीना आदि योनि कहलाते हैं। **(मू. २२० आ.)**

२३. प्रश्न : कुल किसे कहते हैं ?

उत्तर : सिद्धान्तचक्रवर्ती श्री अभयचन्द्र सूरि ने मन्दप्रबोधिनी टीका में कहा है कि ऊँच और नीच गोत्र रूप उत्तरोत्तर प्रकृति विशेषों के उदय से जो वंशों की उत्पत्ति होती है वे ही कुल हैं। शरीर के भेद के कारणभूत नोकर्मवर्गणा के भेद को कुल कहते हैं।

२४. प्रश्न : कुल कितने हैं ?

उत्तर : पृथ्वीकायिक जीवों में बाईस (२२) लाख करोड़, जलकायिक में सात लाख करोड़, अग्निकायिक में तीन लाख करोड़, वायुकायिक में सात लाख करोड़, वनस्पतिकायिक में अठाईस लाख करोड़, द्वीन्द्रिय जीवों में सात लाख करोड़, त्रीन्द्रिय जीवों में आठ लाख करोड़, चतुरिन्द्रिय जीवों में नौ लाख करोड़, पंचेन्द्रिय जलचरों में साढ़े बारह ($१२\frac{१}{२}$) लाख करोड़, खेचर (नभश्चरों) में बारह लाख करोड़, थलचरों (चौपायों) में दस लाख करोड़, सर्पादिकों में नौ लाख करोड़, नारकियों में पच्चीस लाख करोड़, मनुष्यों में चौदह लाख करोड़, देवों में छब्बीस लाख करोड़, इस प्रकार कुल मिलाकर एक सौ साढ़े निन्यानवे लाख करोड़ कुल होते हैं। **(मू. २२१-२५ आ.)**

नियमसार गाथा बयालीस की टीका में मनुष्यों के बारह लाख करोड़ कुल कहे हैं अत: एक सौ साढ़े सतानवे लाख करोड़ कुल होते हैं।

२५. प्रश्न : गर्भज मनुष्यों की सचित्ताचित्त रूप मिश्र योनि क्यों होती है ?

उत्तर : माता के उदर में शुक्र और शोणित अचित्त होते हैं, जिनका सचित्त (माता की) आत्मा के साथ मिश्रण है इसलिए वह मिश्रयोनि है। **(रा.वा. १९)**

२६. प्रश्न : देव-नारकियों की अचित्त एवं साधारण जीवों की सचित्त योनि क्यों होती है ?

उत्तर : देव-नारकियों की अचित्त योनि होती है, क्योंकि उनकी उपपाद देश के पुद्गल प्रचयरूप योनि अचित्त है। **(सर्वा. ३२४)** साधारण जीवों की सचित्त योनि होती है क्योंकि ये एक-दूसरे के आश्रय से रहते हैं।

गर्भ जन्म के भेद कहते हैं -

जरायुजाण्डजपोतानां गर्भः ॥३३॥

जरायुज-अण्डज-पोतानां-गर्भः।

(जरायुजाण्डजपोतानां) जरायुज, अण्डज और पोत का (गर्भः) गर्भ जन्म होता है।

अर्थ - जरायुज - अण्डज और पोत का गर्भ जन्म होता है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : इन (सचित्तादि) नव योनि भेद को प्राप्त तीन प्रकार के जन्मों में सर्व प्राणियों के सामान्य रूप से जन्म का प्रसंग प्राप्त होने पर उनके अवधारण के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा.उ.३३)**

नौ योनियों से युक्त तीन जन्म सब जीवों के अनियम से प्राप्त हुए, अत: निश्चय करने के लिए यह सूत्र कहा है। **(सर्वा. ३२५)**

२. प्रश्न : सूत्र में 'गर्भः' पद किसलिए दिया है ?

उत्तर : विधि के सिद्ध होने पर भी अवधारणा के लिए 'गर्भ:' शब्द का ग्रहण किया है। जरायुज आदि का सामान्यत: गर्भ जन्म के साथ सम्बन्ध सिद्ध हो जाने पर भी पुन: गर्भ शब्द का ग्रहण नियम के लिए है कि जरायुज, अण्डज और पोत के गर्भ जन्म ही है। **(रा.वा. १२)**

३. प्रश्न : गर्भ जन्म कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : गर्भ जन्म तीन प्रकार का होता है -

(१) जरायुज (२) अण्डज (३) पोत। **(त.सू. २/३३)**

४. प्रश्न : जरायुज जन्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : जाल के समान प्राणियों के परिवरण को जरायु कहते हैं। गर्भाशय में प्राणी के ऊपर जाल के समान मांस और रक्त का जो आवरण होता है उसे जरायुज कहते हैं। जरायु में जो पैदा होता है उसे जरायुज कहते हैं। **(रा.वा. १)**

५. प्रश्न : सूत्र में जरायुज का सर्वप्रथम ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : क्रियारम्भ शक्ति के योग से जरायुज को सर्वप्रथम ग्रहण किया है, क्योंकि अण्डज और पोत की अपेक्षा जरायुजों में भाषा, अध्ययन आदि असाधारण क्रियायें देखी जाती हैं। इसमें कोई महाप्रभावशाली पुरुष उत्पन्न होते हैं। इस जरायुज जन्म में चक्रवर्ती, वासुदेव आदि महाप्रभावशाली पुरुष उत्पन्न होते हैं। अथवा -

मार्गफल का सम्बन्ध भी इससे है। सम्यग्दर्शनादि मोक्षमार्ग के फल के द्वारा मोक्षसुख का अभिसम्बन्ध भी जरायुज के साथ है, मोक्ष की प्राप्ति जरायुज को ही होती है, अन्य को नहीं; इसलिए जरायुज पूज्य है। **(रा.वा. ७-९)**

६. प्रश्न : अण्डज जन्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : शुक्र और शोणित से परिवेष्टित नख के ऊपरी भाग के समान कठिन तथा गोलाकार अण्डा होता है। जो नख की छाल के समान कठोर हो, पिता के वीर्य और माता के रक्त से परिवेष्टित हो तथा श्वेत वर्ण एवं गोलाकार हो उसका नाम अण्डा है। जो अण्डे से उत्पन्न हो उसे अण्डज कहते हैं। **(रा.वा. २)**

गोल और जिसका आवरण शुक्र और शोणित से बना है उसे अण्ड कहते हैं। जो अण्डों से पैदा होते हैं वे अण्डज कहलाते हैं। **(सर्वा. ३२६)**

७. प्रश्न : पोत के पूर्व अण्डज का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : पोत से भी पूज्य होने के कारण जरायुज के बाद अण्डज को ग्रहण किया है। क्योंकि अण्डजों में भी शुक (तोता), सारिका (मैना) आदि पक्षी अक्षरोच्चारण आदि क्रियाओं में कुशल होते

हैं। इसलिए पोत की अपेक्षा अण्डज पूज्य होते हैं। अत: पोत से पूर्व उनका (अण्डज) का ग्रहण किया है। **(रा.वा. १०)**

८. प्रश्न : पोत जन्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिसके सब अवयव बिना आवरण के पूरे हुए हैं और जो योनि से निकलते ही हलन-चलन आदि सामर्थ्य से युक्त है उसे पोत कहते हैं, यही पोत जन्म है। **(सर्वा. ३२६)** सम्पूर्ण अवयव तथा परिस्पन्द के सामर्थ्य से उपलक्षित पोत है। जो गर्भाशय से निकलते ही चलने-फिरने के सामर्थ्य से युक्त है, सम्पूर्ण अवयव वाला है और जिसके ऊपर कोई आवरण नहीं है वह पोत कहलाता है। **(रा.वा. ३)**

९. प्रश्न : आत्मा पोत में उत्पन्न होने से पोतज है अत: सूत्र में 'पोतजा:' कहना चाहिए?

उत्तर : ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि वह उसका ही परिणमन है। आत्मा ही पोत परिणाम से परिणत पोत कहलाता है। जरायुज के समान आत्मा से पृथक् पोत नाम की कोई वस्तु नहीं है। (जरायुज में मांस की थैली में उत्पन्न होता है और अण्डज में अण्डे के भीतर उत्पन्न होकर बाहर निकलता है ऐसा पोत में किसी आवरण से युक्त नहीं होता है।) इसलिए पोत से उत्पन्न पोतज कहना भी उचित नहीं है क्योंकि इसमें कोई अर्थविशेष नहीं है अत: सूत्र में 'पोतजा:' नहीं कहा है। **(रा.वा.५)**

१०. प्रश्न : सर्वप्रथम सम्मूर्च्छन जन्म कहना चाहिए क्योंकि जन्मों में सर्वप्रथम सम्मूर्च्छन जन्म है ?

उत्तर : ऐसा नहीं कहना चाहिए। क्योंकि ऐसा करने से दीर्घसूत्र-रचना का प्रसंग आता है। यदि सम्मूर्च्छन का निर्देश आदि में किया जाता तो शास्त्र का गौरव हो जाता। तथा ''एकद्वित्रिचतुरिन्द्रियाणां पंचेन्द्रियाणां तिरश्चां मनुष्याणां च केषाञ्चित् सम्मूर्च्छनं'' इतना बड़ा सूत्र बनाना पड़ता। अत: गर्भ एवं उपपादिक में अनुक्त शेष जीवों का सम्मूर्च्छन जन्म है, इसमें 'शेषाणां सम्मूर्च्छनं'' इस लघु उपाय से निर्देश करेंगे इसलिए निर्देश का अतिक्रम किया है अर्थात् सम्मूर्च्छन जन्म के क्रम को छोड़कर गर्भज को प्रथम कहा है। **(रा.वा. ११)**

उपपाद जन्म के स्वामी बताते हैं -

देवनारकाणामुपपाद: ॥३४॥

देव-नारकाणां-उपपाद:।

अर्थ - देव और नारकियों का उपपाद जन्म होता है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : यदि इन जरायुज, अण्डज और पोत जीवों का गर्भ जन्म निर्णीत होता है तो उपपाद जन्म किन जीवों के होता है, ऐसा प्रश्न होने पर उसके उत्तर रूप में यह सूत्र लिखा गया है। **(सर्वा. ३२७)**

२. **प्रश्न : उपपाद जन्म किन-किन का होता है ?**

उत्तर : देव और नारकियों के उपपाद जन्म होता है। **(त.सू. २/३४)**

३. **प्रश्न : कार्मण काययोग में ही देव-नारकी संज्ञा हो जाती है अत: देवादि के उदय को ही जन्म मान लेना चाहिए ?**

उत्तर : जिस समय से देव एवं नरकादि गति का उदय हो तभी से उनका जन्म स्वीकार कर लेना योग्य नहीं है, क्योंकि उस समय शरीर निर्वर्त्तक पुद्गल का अभाव है। देवादि शरीर की निर्वृत्ति में ही देवादि का जन्म इष्ट है। देवगति का उदय तो विग्रहगति में भी है परन्तु उस अवस्था में अनाहारकत्व होने से देवादि शरीर की निर्वृत्ति नहीं है। उस शरीर के योग्य पुद्गल का अभाव है। इसलिए उपपाद जन्म ही युक्त है। **(रा.वा.१)**

४. **प्रश्न : सूत्र में 'एव' नहीं है अत: देव-नारकियों के गर्भ एवं सम्मूर्च्छन जन्म का प्रसंग आता है ?**

उत्तर : सूत्र में 'एव' नहीं होने पर भी पूर्व के सूत्र से (गर्भ जन्म का) एवं उत्तर सूत्र से (सम्मूर्च्छन जन्म का) निश्चय होता है। देव-नारकियों के गर्भ और सम्मूर्च्छन जन्म का प्रसंग नहीं आता है, उपपाद जन्म का ही निश्चय होता है। **(श्लो. ५/२०९)**

सम्मूर्च्छन जन्म के स्वामी कहते हैं-

शेषाणां सम्मूर्च्छनम् ॥३५॥

अर्थ - शेष जीवों के सम्मूर्च्छन जन्म होता है।

१. **प्रश्न : सम्मूर्च्छन जन्म किस-किस के होता है ?**

उत्तर : गर्भज और उपपाद जन्म वालों को छोड़कर शेष जीवों का सम्मूर्च्छन जन्म होता है। **(त.सू. २/३५)** एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, कोई पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च और अपर्याप्तक मनुष्य (लब्ध्यपर्याप्तक) इनके सम्मूर्च्छन जन्म ही होता है **(गो.जी. ९०-९१)**

२. **प्रश्न : सम्मूर्च्छन मनुष्य कहाँ-कहाँ उत्पन्न होते हैं ?**

उत्तर : कर्मभूमि में चक्रवर्ती, बलभद्र आदि बड़े-बड़े राजाओं की सेना जहाँ मल-मूत्र का क्षेपण करती है ऐसे स्थानों पर, वीर्य, नाक का मल, कफ, कान और दाँतों का मल तथा अत्यन्त अपवित्र प्रदेश इनमें तत्काल सम्मूर्च्छन मनुष्य उत्पन्न होते हैं। **(भ.आ.वि. ४४८)** सम्मूर्च्छन मनुष्य स्त्री की योनि, काँख, स्तनों के मूल में तथा चक्रवर्ती की पटरानी के सिवाय मूत्र, विष्टा आदि अशुचि स्थानों में उत्पन्न होते हैं। **(गो.जी.जी. ९३)**

शरीर :

संसारी जीवों के शरीरों का विवरण करते हैं-

औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि ।।३६ ।।

औदारिक-वैक्रियिक-आहारक-तैजस-कार्मणानि-शरीराणि।

अर्थ - औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण ये शरीर हैं।

शरीर - जो जीर्ण होता है वह शरीर है।

औदारिक - स्थूल शरीर को औदारिक शरीर कहते हैं।

वैक्रियिक - विक्रिया ही है प्रयोजन जिसका वह वैक्रियिक शरीर है।

आहारक - सूक्ष्म पदार्थ का ज्ञान करने के लिए या असंयम को दूर करने की इच्छा से प्रमत्तसंयत जिस शरीर की रचना करता है, वह आहारक शरीर है।

तैजस - तेज से होने वाला तैजस शरीर है।

कार्मण - कर्मों के समूह को कार्मण शरीर कहते हैं।

१. प्रश्न : शरीर किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो विशेष (शरीर) नामकर्म के उदय से प्राप्त होकर शीर्यन्ते अर्थात् गलते हैं, उन्हें शरीर कहते हैं। **(सर्वा. ३३१)**

शरीर, शील, स्वभाव ये एकार्थवाची शब्द हैं। अनन्तानन्त पुद्गलों के समवाय का नाम शरीर है। **(ध. १४/४३४-४३५)**

शरीर शब्द का अर्थ स्वरूप है। **(वृ. द्र. सं. टी. ३५)**

२. प्रश्न : यदि विशरणशील होने से शरीर है तो घटादि में भी शरीरत्व का प्रसंग आयेगा?

उत्तर : ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि नाम कर्म के निमित्तत्व का अभाव है। शरीर नामकर्म के उदय से शरीर होता है परन्तु घटादि में शरीर नामकर्म का उदय नहीं है इसलिए घटादि में शरीरत्व का प्रसंग नहीं है। यह भी नहीं कहना चाहिए कि नामकर्म के उदय से शरीर होता है तो ''जो विशरणशील है वह शरीर है **(रा.वा. १-२)** ऐसा विग्रह नहीं बनता क्योंकि रूढ़ि शब्द की व्युत्पत्ति में भी क्रिया देखी जाती है जैसे ''गच्छतीति गौ:'' यह विग्रह रूढ़ शब्दों में भी किया जाता है उसी प्रकार ''शीर्यन्ते इति शरीरं'' इस शरीर शब्द को भी विग्रह समझना चाहिए। **(रा.वा. ३)**

३. प्रश्न : शरीर कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : शरीर पाँच प्रकार के होते हैं ? (१) औदारिक शरीर (२) वैक्रियिक शरीर (३) आहारक शरीर (४) तैजस शरीर (५) कार्मण शरीर। **(त.सू. २/३६)**

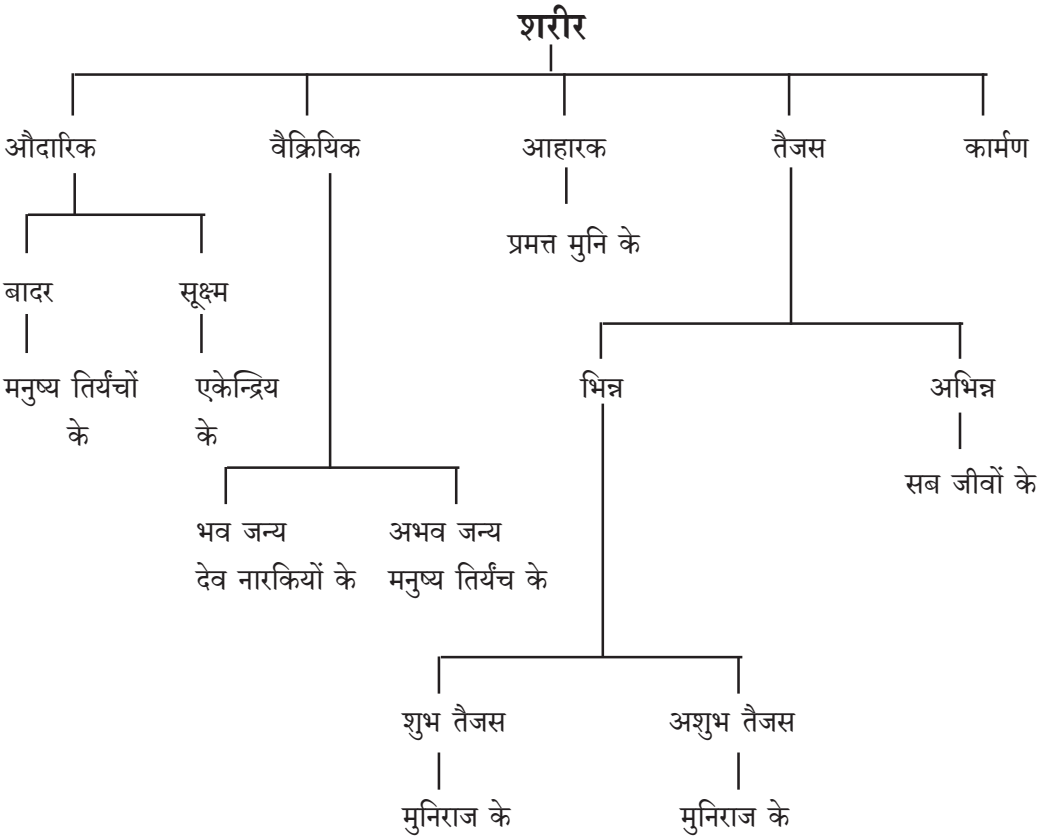

४. प्रश्न : औदारिक शरीर किसे कहते हैं ?

उत्तर : उदार, स्थूल प्रयोजन वाला या स्थूल जो शरीर है वह औदारिक है अथवा उदार में होने वाला औदारिक है उसे ठञि प्रत्यय होता है। **(रा.वा. ५)**

उदार, पुरु और महान् ये एक ही अर्थ के वाचक हैं। उसमें जो शरीर उत्पन्न होता है उसे औदारिक शरीर कहते हैं। **(ध. १/२९२)**

नाम-निरुक्ति की अपेक्षा उराल है इसलिए औदारिक है। **(ध. १४/३२२)**

५. प्रश्न : यह औदारिक शरीर उराल क्यों है ?

उत्तर : यह औदारिक शरीर अवगाहना की अपेक्षा उराल है। शेष शरीरों की अवगाहना की अपेक्षा इसकी अवगाहना बहुत है इसलिए यह उराल है। **अथवा** - शेष शरीरों की वर्गणाओं की अवगाहना की अपेक्षा औदारिक शरीर की वर्गणाओं की अवगाहना बहुत है इसलिए औदारिक शरीर की वर्गणाओं की उराल संज्ञा है। **(ध. १४/३२२)** अवगाहना की अपेक्षा औदारिक शरीर की स्थूलता बन जाती है। जैसे कहा भी है - कार्मण शरीर सम्बन्धी द्रव्य वर्गणा की अवगाहना सबसे सूक्ष्म है, तैजस

शरीर की अवगाहना कार्मण शरीर की अवगाहना से असंख्यातगुणी है, आहारक शरीर की अवगाहना तैजस शरीर से असंख्यात गुणी है, वैक्रियिक शरीर की अवगाहना आहारक शरीर की अवगाहना से असंख्यात गुणी है और औदारिक शरीर वर्गणाओं की अवगाहना वैक्रियिक शरीर की अवगाहना से असंख्यात गुणी है। **(ध. १/२९३)**

६. प्रश्न : औदारिक शरीर में हड्डियों आदि का प्रमाण कितना है ?

उत्तर : मनुष्य की देह में तीन सौ (३००) अस्थियाँ हैं, वे दुर्गन्धित मज्जा नामक धातु से भरी हुई हैं। तीन सौ (३००) सन्धि हैं। नौ सौ (९००) स्नायु हैं, सात सौ (७००) सिरा हैं, पाँच सौ (५००) मांसपेशियाँ हैं। चार (४) जाल हैं। छह (६) कण्डरा हैं, छह (६) शिराओं के मूल हैं, दो (२) माँस रज्जू हैं, सात (७) त्वचा हैं, सात कालेयक हैं, अस्सी लाख करोड़ (८०,००,००० करोड़) रोम हैं, पक्वाशय और आमाशय में सोलह (१६) आँतें रहती हैं, दुर्गन्ध मल के सात (७) आशय हैं, तीन (३) स्थूणा हैं, एक सौ सात (१०७) मर्मस्थान हैं, नौ (९) व्रणमुख हैं जिनसे नित्य दुर्गन्ध स्रवती है। मस्तिष्क, मेद, ओज (शुक्र) ये तीनों एक-एक अंजुलि प्रमाण हैं। वसा नामक धातु तीन (३) अंजुलि प्रमाण, पित्त और श्लेष्म (कफ) छह-छह (६-६) अंजुलि प्रमाण और रुधिर आधा (१/२) आढ़क है, मूत्र एक आढ़क, विष्ठा छह (६) प्रस्थ, नख बीस (२०) दाँत बत्तीस (३२) हैं। स्वभावत: शरीर में इन अवयवों का प्रमाण कहा है। **(भ.आ. वि. १०२१-२९)**

७. प्रश्न : कुडव, प्रस्थ, आढ़क आदि का प्रमाण कितना-कितना है ?

उत्तर : चार महाधिक तृणफल = एक श्वेत सर्षपफल।

सोलह श्वेत सर्षप फल = एक धान्यमाष फल।

दो धान्यमाष फल = एक गुंजाफल।

दो गुंजाफल = एक रुप्यमाष फल।

सोलह रुप्यमाषफल = एक धरण।

अढ़ाई धरण = एक सुवर्ण या एक कंस।

चार कंस = एक पल।

सौ पल = एक तुला या अर्ध कंस।

तीन तुला या अर्धकंस = एक कुड़व (पुसेरा)

चार कुड़व (पुसेरा) = एक प्रस्थ (सेर)।

चार प्रस्थ = एक आढ़क।

चार आढ़क = एक द्रोण।

सोलह द्रोण = एक खारी।

बीस खारी = एक वाह। **(रा.वा. ३/३८)**

८. प्रश्न : षट् कायिक जीवों के औदारिक शरीरों का आकार कैसा है ?

उत्तर : पृथ्वीकायिक जीवों के शरीरों का आकार मसूर के समान है। जलकायिक जीवों के शरीरों का आकार डाभ के अग्रभाग पर स्थित बिन्दु के समान है। तेजकायिक जीवों के शरीरों का आकार सूची समुदाय (ऊर्ध्वमुखाकार) के समान है। वायुकायिक जीवों के शरीरों का आकार ध्वजा के समान आयत चतुरस्र है। सब वनस्पतिकायिक एवं द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय आदि जीवों के शरीर अनेक प्रकार के आकार वाले हैं। **(गो.जी. २०१)**

९. प्रश्न : वैक्रियिक शरीर किसे कहते हैं ?

उत्तर : अणिमा, महिमा आदि आठ गुणों के ऐश्वर्य के सम्बन्ध से एक, अनेक, छोटा, बड़ा आदि नाना प्रकार का शरीर करना विक्रिया है, वह विक्रिया जिस शरीर का प्रयोजन है वह वैक्रियिक शरीर है। **(सर्वा. ३३१)**

विविध गुणों और ऋद्धियों से युक्त अथवा विशिष्ट क्रिया वाले शरीर को वैक्रियिक शरीर कहते हैं। **(पं.सं.प्रा. १/९५)**

विविधगुण-ऋद्धियों से युक्त है इसलिए वैक्रियिक शरीर है। **(ध. १४/३२५)**

१०. प्रश्न : आहारक शरीर किसे कहते हैं ?

उत्तर : सूक्ष्म पदार्थ का ज्ञान करने के लिए या असंयम को दूर करने की इच्छा से प्रमत्तसंयत जिस शरीर की रचना करता है वह आहारक शरीर है। **(सर्वा. ३३१)** जिसके द्वारा आत्मा सूक्ष्म पदार्थों को ग्रहण करता है वह आहारक शरीर है। **(ध.१/२९४)** स्वयं को संदेह होने पर शरीर के द्वारा केवली के पास जाकर सूक्ष्म पदार्थों का आहरण करता है उसे आहारक शरीर कहते हैं। **(ध. १/२९६)**

११. प्रश्न : तैजस शरीर किसे कहते हैं ?

उत्तर : तेज निमित्त या तेज से होने वाला तैजस कहलाता है (या) जो दीप्ति का कारण है वह तैजस है। **(रा.वा. ८)**

तेज और प्रभा गुण से युक्त होने के कारण इसकी तैजस शरीर संज्ञा है। **(ध. १४/३२७)** शरीर स्कन्ध के पद्मराग मणि के समान वर्ण का नाम तेज है तथा शरीर से निकली हुई रश्मि कला का नाम प्रभा है। इसमें जो हुआ है वह तैजस शरीर है। **(ध. १४/३२७-२८)** जो दीप्ति का कारण है या तेज में उत्पन्न होता है वह तैजस शरीर है। **(सर्वा. ३३१)**

१२. प्रश्न : कार्मण शरीर किसे कहते हैं ?

उत्तर : कर्मों का कार्य कार्मण शरीर है। यद्यपि सभी शरीर कर्मों के कार्य हैं फिर भी रूढ़ि से विशिष्ट शरीर को कार्मण शरीर कहा है। **(सर्वा. ३३१)** कर्मों के कार्य या कर्मों के समूह को कार्मण शरीर कहते हैं। कर्म और उनका समूह यद्यपि अभिन्न पदार्थ है तथापि कथंचित् भेदविवक्षा मान कर यहाँ उनके समूह को कार्मण शरीर कहा गया है। **(रा.वा. ९)**

सब कर्मों का प्ररोहण अर्थात् आधार, उत्पादक और सुख-दु:ख का बीज है इसलिए कार्मण शरीर है। **(ध. १४/३२८)**

१३. प्रश्न : कर्मों का कार्य होने से औदारिकादि शरीर के भी कार्मणत्व का प्रसंग आयेगा?

उत्तर : ऐसा नहीं है, क्योंकि औदारिक आदि शरीर के प्रतिनियत औदारिक आदि नाम कर्म हैं इसलिए उनके उदय के भेद से उनमें भेद होते हैं। कर्मकृत होते हुए भी घटादि के समान उनमें अन्यत्व भी देखा जाता है। जैसे मिट्टी के पिण्ड से उत्पन्न होने वाले घट, घटी, सकोरा आदि में संज्ञा, स्वलक्षण, स्व-आकार आदि के भेद से उनमें भेद पाया जाता है, उसी प्रकार यद्यपि औदारिक आदि शरीर कर्मकृत हैं, तथापि औदारिक आदि शरीरों में संज्ञा, स्वलक्षण आदि की दृष्टि से भेद दृष्टिगोचर होता है। **अथवा** - कार्मण शरीर के द्वारा औदारिक, वैक्रियिक आदि शरीरों की उत्पत्ति होती है। कार्मण शरीर कारण और औदारिक आदि शरीर कार्य हैं, इस रीति से कार्य-कारण के भेद से औदारिक आदि शरीरों को कार्मण शरीर नहीं कहा जा सकता। **अथवा** - गीले गुड़ पर स्थित धूलि के समान औदारिकादि विस्रसोपचय से व्यवस्थित हैं। जैसे - गीले गुड़ पर धूलि आकर जम जाती है, उसी प्रकार कार्मण शरीर पर भी औदारिकादि शरीरों के योग्य पुद्गल परमाणु जिन्हें विस्रसोपचय कहते हैं, आकर जमा होते हैं। इस दृष्टि से भी कार्मण और औदारिक आदि शरीर भिन्न-भिन्न हैं। **(रा.वा. १०-१३)**

१४. प्रश्न : कार्मण नाम का कोई शरीर नहीं है क्योंकि उसके निमित्त का अभाव है ?

उत्तर : कार्मण शरीर का अभाव नहीं है क्योंकि उसके भी दीपक के समान निमित्त-नैमित्तिक का सद्भाव है। जैसे दीपक पर-प्रकाशी होने के साथ स्वप्रकाशी भी है। इसलिए प्रकाश्य और प्रकाशक दोनों गुणों से युक्त दीपक है। उसी प्रकार कार्मण शरीर औदारिक आदि शरीर का भी निमित्त है और अपने उत्तर कार्मण शरीर का भी निमित्त है अत: निर्निमित्त होने से उसे असत् नहीं कह सकते हैं। **अथवा** - कार्मण शरीर के भी मिथ्यादर्शनादि निमित्तों का सद्भाव है अत: निमित्त का अभाव कहना असिद्ध है। यदि कार्मण शरीर को निर्निमित्त माना जायेगा तो अनिर्मोक्ष का प्रसंग आयेगा। यदि कार्मण शरीर को निर्हेतुक माना जाएगा तो मोक्ष हो नहीं सकता, क्योंकि विद्यमान और निर्हेतुक पदार्थ नित्य होता है और नित्य का कभी नाश नहीं होता है। **(रा.वा. १४-१६)**

१५. प्रश्न : कार्मण शरीर को अशरीर कहना चाहिए क्योंकि वह जीर्ण-शीर्ण नहीं होता है?

उत्तर : कार्मण शरीर को अशरीर कहना उचित नहीं है क्योंकि यह भी उपचय (आय) अपचय (व्यय) धर्म वाला है। कारणवशात् निरन्तर ज्ञानावरण आदि कर्मों का आय और व्यय होता रहता है। इसलिए कार्मण शरीर में विशरणत्व है ही अत: यह शरीर है। **(रा.वा. १७)**

१६. प्रश्न : औदारिकादि शरीरों का सूत्रोक्त क्रम क्यों कहा गया है ?

उत्तर : अतिस्थूलत्व होने से औदारिक शरीर को आदि में (सर्वप्रथम) ग्रहण किया है। इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य होने से औदारिक शरीर अत्यन्त स्थूल है। अत: इसको आदि में ग्रहण किया है। उत्तर शरीरों का क्रम सूक्ष्म-क्रम प्रतिपत्ति के लिए है, उत्तर वैक्रियिक शरीर आदि का पाठक्रम सूक्ष्मक्रम की प्रतिपत्ति के लिए जानना चाहिए। आगे के सूत्र में कहेंगे ''परं परं.....''। **(रा.वा. २०-२१)**

१७. प्रश्न : कार्मण शरीर का आदि में ग्रहण करना चाहिए क्योंकि वह सर्व शरीरों के आधार का निमित्त है ?

उत्तर : ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि जैसे घटादि कार्य की उपलब्धि से परमाणु का अनुमान लगाया जाता है, उसी प्रकार औदारिकादि शरीर रूप कार्य की उपलब्धि होने से ही कार्मण शरीर का अनुमान लगाया जाता है। कार्य के द्वारा ही कारण जाना जाता है। **(रा.वा.१८)**

१८. प्रश्न : क्या पाँचों शरीर की कर्म संज्ञा है ?

उत्तर : नहीं, आदि के चार शरीर की नोकर्म संज्ञा है एवं कार्मण शरीर की कर्म संज्ञा है। **(गो.जी. २४४)**

१९. प्रश्न : औदारिकादि शरीरों की कर्म-नोकर्म संज्ञा क्यों है ?

उत्तर : 'नो' शब्द का प्रयोग विपरीत अर्थ के लिए भी होता है और ईषत् के लिए भी होता है। (जैसे - नोकषाय में 'नो' शब्द का प्रयोग ईषत् के लिए है उसी प्रकार 'नोकर्म' में नो शब्द का प्रयोग ईषत् के लिए है) ये औदारिकादि चार शरीर कार्मण शरीर के समान आत्मा के गुणों का घात नहीं करते हैं। न गति आदि की तरह परतन्त्रता के हेतु हैं अत: कर्म से विपरीत होने से, कर्मों के सहायक होने से तथा ईषत्कर्म होने से इन शरीरों को नो-कर्म कहा है। तथा नाम-कर्म के उदय से उत्पन्न ज्ञानावरणादि आठ प्रकार के कार्मण स्कन्ध का समूह ही कार्मण शरीर होता है। परमागम में इससे भिन्न कार्मण शरीर का कथन नहीं किया है। **(गो.जी.जी.२४४)**

तत्त्वार्थमञ्जूषा

तत्त्वार्थसूत्र : तृतीय अध्याय

❋ विषय-परिचय ❋

कुल सूत्र : ३९ कुल प्रश्न : ५१४

- आदि के ३ सूत्रों में नरकों के नाम, बिल-संख्या तथा देह आदि की विशेषता का कथन है।
- चौथे-५ वें सूत्र में नारकियों के दु:खों का वर्णन है।
- छठे सूत्र में नारकियों की आयु कही गई है।
- ७वें से ९वें सूत्र तक द्वीप-समुद्रों के नाम एवं विस्तार कहा गया है।
- १० वें से १३ वें सूत्र तक जम्बूद्वीप में स्थित पर्वतों के नाम एवं विशेषता कही है।
- १४वें से १६वें सूत्र तक पर्वतों पर स्थित ह्रदों के नाम, विस्तार एवं अवगाह कहा गया है।
- १७वें से १९ वें सूत्र तक ह्रदों में स्थित पुष्करों के नाम, विस्तार एवं उनमें रहने वाली देवियों के नाम हैं।
- २०वें से २३वें सूत्र तक ह्रदों से निकलने वाली नदियों का विशेष वर्णन है।
- २४वें से २६वें सूत्र तक भरतादि क्षेत्रों का विस्तार कहा है।
- २७वें सूत्र में भरत-ऐरावत क्षेत्र में होने वाला काल परिवर्तन वर्णित है।
- २८वें से ३१वें सूत्र तक शेष क्षेत्रों की व्यवस्था एवं आयु कही है।
- ३२वें से ३४ वें सूत्र तक भरत क्षेत्र का विस्तार एवं आगे के दो क्षेत्रों की रचना कही है।
- ३५वें ३६वें सूत्र में मनुष्य का निवास-स्थान एवं भेद कहे हैं।
- ३७वें सूत्र में कर्मभूमियों का कथन है।
- ३८वें-३९वें सूत्र में मनुष्य एवं तिर्यञ्चों की आयु कही है।

❑❑❑

नरक

नरक पृथिवियाँ -

रत्नशर्कराबालुकापंकधूमतमोमहातमः प्रभाभूमयो घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः सप्ताधोऽधः ॥१॥

रत्न - शर्करा - बालुका - पङ्क - धूम - तमः - महातमः प्रभा-भूमयः घन - अम्बु - वात - आकाश - प्रतिष्ठाः - सप्त - अधः अधः। (रत्न शर्करा बालुका पङ्क धूम तमोमहातमः प्रभाभूमयः) रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पङ्कप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा और महातमःप्रभा भूमियाँ (घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः) घनाम्बु वातवलय - घन वातवलय, तनुवातवलय तथा आकाश के आधार से प्रतिष्ठित (स्थित) हैं। (सप्ताधोऽधः) ये सातों नीचे-नीचे हैं।

अर्थ - रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पङ्कप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा और महातमः प्रभा भूमियाँ घनाम्बुवातवलय के आधार पर, घनाम्बुवातवलय घनवातवलय के आधार पर, घनवातवलय तनुवातवलय के आधार पर एवं तनुवातवलय आकाश के आधार पर स्थित है। तथा ये सातों भूमियाँ क्रमशः नीचे-नीचे हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप मोक्षमार्ग के प्रकरण में सर्वप्रथम उपदिष्ट सम्यग्दर्शन के विषय में कथित जीवादि पदार्थों के उपदेश में जीव का निर्देश किया गया है। उस जीव के निवास के व्याख्यान के प्रसंग में लोक का वर्णन करना चाहिए। यह लोक तीन प्रकार का है अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक। इनमें क्रम से प्राप्त अधोलोक का वर्णन करने के लिए यह सूत्र कहा गया है अथवा-

'भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणां' इस सूत्र में नारकियों का नाम है, उसको सुनकर कोई पूछता है कि नारकी कौन है ? उन नारकियों के अधिकरण का प्रतिपादन करने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा. उ.१)**

२. प्रश्न : अधोलोक का वर्णन सर्वप्रथम क्यों किया है ?

उत्तर : उन नारकियों की शीत-उष्ण रूप तीव्र वेदना को सुनकर जीव संसार से भयभीत हो जाय, इसलिए वैराग्य का कारण होने से प्रथम अधोलोक का वर्णन किया गया है। **(रा.वा.उ.१)**

३. प्रश्न : अधोलोक में कितनी पृथिवियाँ हैं ?

उत्तर : अधोलोक में सात पृथिवियाँ हैं-

(१) रत्नप्रभा (२) शर्कराप्रभा (३) बालुकाप्रभा (४) पङ्कप्रभा (५) धूमप्रभा (६) तमःप्रभा (७) महातमःप्रभा। **(त.सू. ३/१)**

इन सात पृथिवियों में सात नरक हैं -

(१) घर्मा (२) वंशा (३) मेघा (४) अञ्जना (५) अरिष्ठा (६) मघवी (७) माघवी, ये इन पृथिवियों के गोत्रनाम हैं। **(ति. प. १/१५३)**

(१) घर्मा (२) वंशा (३) शिला (४) अञ्जना (५) अरिष्ठा (६) मघवी (७) माघवी। **(व. चा. ५/१२)**

संक्षेप में एक अधोभूमि भी मान सकते हैं तथा सात भूमियों में से प्रत्येक के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भेद करके इक्कीस (२१) भेद भी माने जा सकते हैं। इसमें कोई विरोध नहीं है। **(श्लो. ५/३०१)**

४. प्रश्न : प्रथम पृथ्वी का नाम रत्नप्रभा किस कारण है ?[१]

उत्तर : जैसे यष्टि सहित देवदत्त को यष्टि कहते हैं उसी प्रकार चित्र, वज्र, वैडूर्य, लोहिताक्ष, मसारगत्व, गोमेद, प्रवाल, ज्योतिरस, अञ्जन, मूलक, अंक, स्फटिक, चन्दन, वर्वक, बकुल और शिलामय नामक सोलहप्रकार के रत्नों की प्रभा होने के कारण रत्नप्रभा नाम है। **(रा.वा. ३)** यह पृथ्वी बहुत प्रकार के रत्नों से भरी हुई शोभायमान होती है, इसीलिए निपुण पुरुषों ने इसका 'रत्नप्रभा' यह सार्थक नाम कहा है। **(ति.प. २/२०)**

५. प्रश्न : शेष पृथिवियों के नामों की क्या सार्थकता है ?

उत्तर : शर्करा रूप मोटी-मोटी रेत की प्रभा के समान प्रभा होने से शर्कराप्रभा द्वितीय पृथ्वी का नाम है। बालू की प्रभा के समान प्रभावाली बालुकाप्रभा, कीचड़ के समान प्रभावाली पंकप्रभा, धूम के समान प्रभावाली धूमप्रभा, अंधकार के समान प्रभावाली तम:प्रभा और महान्धकार के समान प्रभा से युक्त महातम:प्रभा है। अथवा - इन्द्रगोप के समान इन पृथिवियों की अनादि पारिणामिक संज्ञा है, जैसे - 'इन्द्रगोप' यह किसी कीड़े की संज्ञा अनादि, स्वाभाविक या रूढ़ है। क्योंकि इसमें ''इन्द्रं गोपयतीति इन्द्रगोप:'' इस व्युत्पत्ति की अपेक्षा नहीं है। उसी प्रकार तम:प्रभा आदि संज्ञा भी अनादि पारिणामिकी (रूढ़) समझना चाहिए। **(रा.वा. ३, ५)**

६. प्रश्न : तम और प्रभा दोनों परस्पर विरोधी हैं अत: तम:प्रभा यह नाम विरोधी है ?

उत्तर : यह शंका उचित नहीं है, क्योंकि तम की भी एक अपनी आभा होती है। केवल दीप्ति का नाम ही प्रभा नहीं है, किन्तु द्रव्यों की जो अपनी एक ऊर्जा या विशेष सलोनापन (आभा) होता है, उसी के सन्निधान से मनुष्यादि में यह संव्यवहार होता है कि 'यह स्निग्ध कृष्ण प्रभावाला है और यह रूक्ष कृष्ण प्रभा वाला है', इसलिए तम और प्रभा में परस्पर विरोध नहीं है। अर्थात् जब तम की प्रभा सिद्ध

१. चूंकि प्रथम पृथ्वी के उपरिम व तलभाग में रत्नादि हैं, इसलिए इसका नाम रत्नप्रभा है। शेष छह पृथिवियाँ पंकबहुल जाननी चाहिए। **(ज.द्वी.प. ११/१२०-२१)**

है तब जिसमें अन्धकार की सी प्रभा हो वह तम:प्रभा भूमि है। यदि बाह्य प्रकाश की अपेक्षा कही जाती तो अविशेषता का प्रसंग आ जाता। **(रा.वा. ४)**

७. प्रश्न : इन पृथिवियों का बाहल्य कितना है ?

उत्तर : रत्नप्रभा पृथ्वी का बाहल्य (मोटाई) एक लाख अस्सी हजार योजन, शर्कराप्रभा का बत्तीस हजार योजन, बालुकाप्रभा का अट्ठाईस हजार योजन, पङ्कप्रभा का चौबीस हजार योजन, धूम-प्रभा का बीस हजार योजन, तम:प्रभा का सोलह हजार योजन और महातम:प्रभा पृथ्वी का बाहल्य आठ हजार योजन प्रमाण है। **(रा.वा. ८)**

प्रकारान्तर से छह पृथिवियों की मोटाई -

शर्करा आदि पृथ्वी की मोटाई छ्यासठ, चौंसठ, साठ, उनसठ, अट्ठावन और चौपन इनके दुगुने हजार योजन प्रमाण है अर्थात् शर्करा आदि पृथिवियों की मोटाई क्रमश: १,३२००० योजन, १,२८००० योजन, १,२०००० योजन, १,१८००० योजन १,१६००० योजन और १,०८००० योजन प्रमाण है। **(ति.प. २/२३)**

८. प्रश्न : रत्नप्रभा पृथ्वी के कितने भाग हैं ?

उत्तर : रत्नप्रभा पृथ्वी के तीन भाग हैं- (१) खरभाग (२) पङ्क भाग (३) अब्बहुल भाग।

चित्र आदि सोलह प्रकार के रत्नों की प्रभा से चमचमाता हुआ खरभाग है। **(रा.वा.८)**

खरभाग नियम से सोलह भेदों सहित जानना चाहिए। ये सोलह भेद चित्रादि (प्रश्न तीन में कहे गये) पृथ्वी रूप हैं। **(ति. प. २/१०)** इसी प्रकार पंकबहुल भाग भी पंक से परिपूर्ण देखा जाता है और अब्बहुल भाग जल स्वरूप के आश्रय से है। **(ति. प. २/१९)**

९. प्रश्न : खरभाग में स्थित प्रथम पृथ्वी का नाम 'चित्रा' क्यों है ?

उत्तर : यहाँ अनेक प्रकार के वर्णों से युक्त महीतल, शिलातल, उपल, बालु, शक्कर, शीशा, चाँदी, स्वर्ण तथा वज्र, अयस् (लोहा), तांबा, त्रपु (रांगा), सस्यक (सीसा), मणिशिला, हिंगुल (सिंहरक), हरिताल, अंजन, प्रवाल (मूंगा), गोमेदक (मणिविशेष), रुचक, कदंब (धातु-विशेष), प्रतर (धातु विशेष), ताम्र-वालुका (लाल रेत), स्फटिकमणि, जलकान्तमणि, सूर्यकान्तमणि, चन्द्रप्रभ (चन्द्रकान्तमणि), वैडूर्य मणि, गेरू, चन्द्राश्म (रत्न विशेष), लोहितांक (लोहिताक्षर), बंबय (प्रप्रकर), (बगमोच) और सारंग इत्यादि विविध वर्णवाली धातुएँ हैं। इसलिए इस पृथ्वी का 'चित्रा' नाम से वर्णन किया है। **(ति. प. २/११-१४)**

१०. प्रश्न : खरभाग में कौन रहता है ?

उत्तर : खर पृथ्वी भाग के ऊपर और नीचे की ओर एक-एक हजार योजन छोड़कर मध्य की

चौदह हजार योजन मोटी और एक राजू लम्बी-चौड़ी चौदह भूमियों में किन्नर, किंपुरुष, महोरग, गंधर्व, यक्ष, भूत और पिशाच इन सात प्रकार के व्यंतर जाति के देवों के एवं नागकुमार, विद्युत्कुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार और दिक्कुमार इन नौ प्रकार के भवनवासियों के निवासस्थान हैं। **(रा.वा. ८)** खरभाग को नौ भवनवासियों के महाकान्ति से युक्त स्वयं जगमगाते हुए नाना प्रकार के भवन अलंकृत कर रहे हैं। **(हरि. ४/५१)**

११. प्रश्न : पंक एवं अब्बहुल भाग में कौन रहता है ?

उत्तर : पंकबहुल भाग में असुरकुमार देवों का तथा राक्षस जाति के व्यंतरों का निवास है। **(रा.वा. ८)** पंक भाग को राक्षसों तथा असुरकुमारों के रत्नमयी देदीप्यमान भवन यथाक्रम से सुशोभित कर रहे हैं। **(हरि ४/५०)** अब्बहुल भाग में प्रथम नरक के नारकियों का निवास है। **(रा.वा. ८)** घर्मा नामक पहली पृथ्वी के अब्बहुल भाग में ऊपर-नीचे एक-एक हजार योजन छोड़कर नारकियों के बिल हैं। **(हरि. ४/७१)**

१२. प्रश्न : इन तीनों भागों का विस्तार कितना है ?

उत्तर : खरभाग का विस्तार सोलह हजार योजन प्रमाण है। पङ्क भाग का विस्तार चौरासी हजार योजन प्रमाण है और अब्बहुल भाग का विस्तार अस्सी हजार योजन प्रमाण है। **(रा.वा.८)**

१३. प्रश्न : ये पृथिवियाँ किसके आधार पर स्थित हैं ?

उत्तर : ये सातों पृथिवियाँ (ऊर्ध्व दिशा को छोड़कर शेष) नौदिशाओं के भाग से घनोदधि वातवलय से लगी हुई हैं। ये पृथिवियाँ पूर्व और पश्चिम दिशा के अंतराल में वेत्रासन के सदृश आकारवाली तथा उत्तर और दक्षिण में समान रूप से दीर्घ एवं अनादिनिधन हैं। ये सातों भूमियाँ तीनों वातवलयों पर अधिष्ठित हैं। **(ति. प. २/२४-२५)** तथा क्रम से नीचे-नीचे हैं। अंत में ये अधोलोक के नीचे स्थित घनोदधिवातवलय पर अधिष्ठित हैं। **(हरि. पु. ४/४३-४५)** ये सातों भूमियाँ घनाम्बुवातवलय के आधार पर, घनाम्बुवातवलय घनवातवलय के आधार पर, घनवातवलय तनुवातवलय के आधार पर और तनुवातवलय आकाश के आधार पर स्थित है। और आकाश स्वयं अपना आधार है। इस प्रकार इनका परस्पर आधार-आधेय संबंध होने से तीनों वातवलयों की सार्थक संज्ञा है। **(रा.वा. ८)** ये सातों पृथिवियाँ घनोदधिवातवलय, घनवातवलय, तनुवातवलय और आकाश के आधार से स्थित हैं। **(त.सा. २/१७९)**

नोट : इसी बात को बताने के लिए सूत्र में 'घनाम्बुवाताकाश' पद दिया है।

१४. प्रश्न : इन वातवलयों का विस्तार कितना है ?

उत्तर : अधोलोक में तीनों वातवलयों में से प्रत्येक का विस्तार बीस-बीस हजार योजन है और लोक के ऊपर तीनों वातवलय कुछ कम एक योजन विस्तार वाले हैं। अधोलोक में ये तीनों दण्डाकार

हैं और ऊपर चलकर जब ये दण्डाकार का परित्याग करते हैं अर्थात् लोक के आजू-बाजू में खड़े होते हैं तब क्रमश: सात, पाँच और चार योजन विस्तार वाले रह जाते हैं। तदनंतर प्रदेशों में हानि होते-होते मध्य-लोक के यहाँ इनका विस्तार क्रम से पाँच, चार और तीन योजन रह जाता है। तदनंतर प्रदेशों में वृद्धि होने से ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर नामक पाँचवें स्वर्ग के अंत में क्रमश: सात, पाँच और चार योजन विस्तृत हो जाते हैं। पुन: प्रदेशों में हानि होने से मोक्षस्थान के समीप क्रम से पाँच, चार और तीन योजन विस्तृत रह जाते हैं। तदनंतर लोक के ऊपर पहुँचकर घनोदधिवातवलय आधा योजन अर्थात् दो कोस, घनवातवलय उससे आधा (१ कोस) और तनुवातवलय उससे कुछ कम (१५७५ धनुष) प्रमाण विस्तृत है। **(हरि. पु. ४/३६-४१)**

१५. प्रश्न : इन वातवलयों की क्या विशेषताएँ हैं ?

उत्तर : ये वातवलय दण्ड के आकार लम्बे हैं 'घनीभूत हैं', ऊपर नीचे तथा चारों ओर स्थित हैं। चंचलाकृति हैं तथा लोक के अंत तक वेष्टित हैं। आदि का घनोदधि वातवलय गोमूत्र के वर्ण के समान है। बीच का घनवातवलय मूँग के समान वर्ण वाला है और अंत का तनुवातवलय परस्पर मिले हुए अनेक वर्णों वाला है। **(हरि. पु. ४/३४-३५)**

१६. प्रश्न : रत्नप्रभादि नरकों का अंतर कितना है ?

उत्तर : इन रत्नप्रभादि सर्वभूमियों का तिरछा अंतर असंख्यात कोड़ाकोड़ी योजन का है। अधोलोक में प्रथम नरक से द्वितीय नरक का अंतर दो लाख बारह हजार योजन कम एक राजू प्रमाण है। द्वितीय नरक से तृतीय नरक का अंतर कुछ (अट्ठाईस हजार योजन) कम एक राजू है। तृतीय नरक से चौथे नरक का अंतर कुछ (चौबीस हजार योजन) कम एक राजू है। चौथे नरक से पाँचवें नरक का अंतर कुछ (बीस हजार योजन) कम एक राजू, पाँचवें से छठे नरक का अन्तर कुछ (सोलह हजार योजन) कम एक राजू, छठे से सातवें नरक का अंतर कुछ (आठ हजार योजन) कम एक राजू प्रमाण है। **(रा.वा. ८)**

१७. प्रश्न : एक नरक से दूसरे नरक के बीच असंख्यात कोड़ा-कोड़ी योजन का अंतर है। अत: समीपता नहीं होने से 'अधोऽध:' द्वित्व नहीं होना चाहिए ।

उत्तर : यद्यपि इन भूमियों में परस्पर असंख्यात कोड़ा-कोड़ी योजन का अंतराल है, तथापि उसकी यहाँ विवक्षा नहीं है। क्योंकि कभी 'सत्' की भी अविवक्षा होती है। जैसे 'बिना रोम का मेष' एवं 'बिना उदर की कन्या', इसमें उदर के बिना कन्या और रोम के बिना मेष होता ही नहीं परंतु विशेष रोम नहीं होने से अलोमिका मेष और गर्भ धारण करने योग्य उदर नहीं होने से अनुदरा कन्या ऐसा कहा जाता है, उसी प्रकार विद्यमान भी रत्नप्रभा आदि के अंतर की यहाँ विवक्षा नहीं है, अत: रत्नप्रभा आदि पृथिवियाँ एक के नीचे दूसरी और दूसरी के नीचे तीसरी इत्यादि क्रम से नीचे-नीचे अवस्थित हैं। इस अर्थ का द्योतन करने के लिए 'अधोऽध:' पद का ग्रहण किया है। अथवा - तुल्य जाति के द्वारा अव्यवधान

होने से सामीप्य कह दिया जाता है। अथवा जो अंतर बतलाया गया है वह पूर्वोत्तर भाग के मध्यवर्ती होने से नरकों के आपस में है, इसका द्योतन करने के लिए 'अधोऽध:' यह द्वित्व कहा है।**(रा.वा. ११-१२)**

१८. प्रश्न : सूत्र में 'सप्त' पद का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : सूत्र में 'सप्त' पद का ग्रहण इयत्ता की अवधारणा के लिए है। इस 'सप्त' शब्द से यह जाना जाता है कि नरक की आधारभूमियाँ न छह हैं और न आठ, सात ही हैं। इस प्रकार संख्या की निवृत्ति के लिए 'सप्त' शब्द का सूत्र में ग्रहण किया है। अत: कोई दर्शन वाले अनंत लोक आकाश में पृथ्वी के अनंत प्रस्तार मानते हैं। उनका निराकरण करने के लिए भी 'सप्त' शब्द का ग्रहण किया है। **(रा.वा. ९)**

१९. प्रश्न : अनंत प्रस्तार मानना युक्तिसंगत क्यों नहीं है ?

उत्तर : अन्य मतावलम्बियों का अनंत प्रस्तार मानना युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि युक्ति के सद्भाव से स्याद्वाद नीति से निरूपित कर्मफल संबंधादि में अर्हन्त का आगम ही प्रमाण है, शेष मतावलम्बियों का आगम प्रमाण नहीं है। क्योंकि उनके कथन का युक्तियों से खण्डन हो जाता है। भगवान अर्हन्त के आगम में निरूपित नरकभूमियाँ और उनके प्रतर ही युक्तियुक्त हैं। अन्य ग्रंथों में उल्लिखित मिथ्या हैं। अत: अर्हन्त वचन ही प्रमाण हैं। **(रा.वा. ९)**

२०. प्रश्न : सूत्र में 'अधोऽध:' पद का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : सूत्र में 'अधोऽध:' वचन तिरछे प्रचय की निवृत्ति के लिए है। इससे जाना जाता है कि सातों ही भूमियाँ एक के नीचे एक हैं, तिरछी नहीं हैं। इस प्रकार ज्ञान कराने के लिए 'अधोऽध:' यह पद ग्रहण किया है। **(रा.वा. १०)**

२१. प्रश्न : सूत्र में 'भूमि' शब्द का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : यहाँ भूमि का ग्रहण आधार बताने के लिए किया है। जैसे स्वर्ग के पटल भूमि के आधार के बिना ही ऊपर-ऊपर अवस्थित हैं, वैसे नरकों के आवास नहीं हैं किन्तु ये (नरक आवास) भूमियों का आश्रय लेकर अवस्थित हैं। इस प्रकार आधार विशेष का ज्ञान कराने के लिए 'भूमि' शब्द का ग्रहण किया है। **(रा.वा. ७)**

नरकों की संख्या

तासु त्रिंशत्पञ्चविंशति पञ्चदश दश त्रि-पञ्चोनैक नरकशतसहस्राणि पञ्च चैव यथाक्रमम् ॥२॥

तासु-त्रिंशत्-पञ्चविंशति-पञ्च-दश-दश-त्रि-पञ्च-ऊन-एक-नरक-शत-सहस्राणि पञ्च-च एव-यथाक्रमम्।

(तासु) उन नरकभूमियों में (त्रिंशत् पञ्चविंशति पञ्चदशदशत्रिपञ्चोनैक) तीस, पच्चीस, पन्द्रह,

दश, तीन, पाँच कम एक (शतसहस्राणि) लाख (पञ्चचैव) और पाँच नरक (यथाक्रम) यथाक्रम से जानने चाहिए।

अर्थ - उन रत्नप्रभादि भूमियों में क्रमश: तीस लाख, पच्चीस लाख, पन्द्रह लाख, दस लाख, तीन लाख, पाँच कम एक लाख तथा पाँच नरक जानने चाहिए।

१. प्रश्न : नरक किसे कहते हैं ?

उत्तर : धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थ रूप कार्यों को करने वाला नर कहलाता है। इन नरों को दु:खी करते हैं वे 'नरक' हैं। जो इन नरों को असातावेदनीय कर्म के उदय से उत्पादित शीत-उष्ण आदि की वेदनाओं से दु:खी करते हैं, शब्दाकुलित कर देते हैं अर्थात् जिन वेदनाओं से पीड़ित होकर जहाँ प्राणी 'हाहाकार' करने लग जाते हैं वे नरक हैं। **(रा.वा. २/५०)**

दु:खी करने वाले नरक हैं। अथवा पापी प्राणियों को अत्यन्त दु:ख देने वाले होते हैं वे नरक कहलाते हैं। **(रा.वा. २/५०)**

नोट : विशेष देखें (८/११)

२. प्रश्न : रत्नप्रभादि पृथिवियों में कितने नरक (बिल) हैं ?

उत्तर : इन पृथिवियों में चौरासी लाख नरक बिल हैं –

प्रथम नरक में तीस लाख (३०,००,०००)

दूसरे नरक में पच्चीस लाख (२५,००,०००)

तीसरे नरक में पन्द्रह लाख (१५,००,०००)

चौथे नरक में दस लाख (१०,००,०००)

पाँचवें नरक में तीन लाख (३,००,०००)

छठे नरक में पाँच कम एक लाख (९९,९९५)

सातवें नरक में पाँच बिल हैं। (५) **(त.सू. ३/२)**

३. प्रश्न : इन नरकों का आकार कैसा है ?

उत्तर : शरीर में उत्पन्न हुए व्रण (घाव) के सदृश (मुख सँकड़ा और भीतर चौड़ा) वहाँ की भूमियाँ हैं एवं दीवारें वज्र के समान कठोर और अशुभ हैं, जो गोल, त्रिकोण एवं चतुष्कोण आदि नाना प्रकार के आकार वाली हैं तथा वहाँ के बिल यहाँ के कारागृहों से भी अत्यधिक ग्लानियुक्त संपूर्ण दु:ख उत्पन्न करने वाले एवं भय उत्पन्न करने वाले हैं। (नरकों के इन्द्रक बिल तिकोने तथा तीन द्वारों से युक्त होते हैं।) **(सि. सा. दी. ३/३-४)**

श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक निगोदों में कितने ही बिल दो द्वारों से युक्त और दुकोने, कितने ही तीन द्वारों से युक्त और तिकोने, कितने ही पाँच द्वारों से युक्त और पंचकोने और कितने ही सात द्वारों से युक्त तथा सतकोने होते हैं। **(हरि. पु. ४/३५२)**

४. **प्रश्न : ये नरक (बिल) कितने प्रकार के होते हैं ?**

उत्तर : ये नरक (बिल) तीन प्रकार के होते हैं-

(१) इन्द्रक (२) श्रेणीबद्ध (३) पुष्प प्रकीर्णक।

इन्द्रक - प्रत्येक पटल के ठीक मध्य में जो बिल हैं वे इन्द्रक बिल हैं।

श्रेणीबद्ध - इन्द्रक बिल की चारों दिशाओं और विदिशाओं में जो पंक्तिबद्ध बिल हैं वे श्रेणीबद्ध बिल कहलाते हैं।

प्रकीर्णक - दिशा-विदिशाओं के आठ अंतरालों में इन्द्रक और श्रेणीबद्ध बिलों के संबंध से रहित बिना क्रम के जो पुष्प के समान बिखरे हुए बिल हैं वे प्रकीर्णक कहलाते हैं। **(सि.सा.दी. २/३९-४४)**।

५. **प्रश्न : ये बिल (नरक) कैसे हैं ?**

उत्तर : बिलाव, कूकर, सुअर, गदहा, वानर, ऊँट और हाथी आदि के मल के समान अति दुर्गंध सहित नरक बिल हैं और उनके भीतर सदा अन्धकार है। **(त्रि. सा. १७८)**

६. **प्रश्न : इन पृथिवियों में कितने इन्द्रक बिल हैं ?**

उत्तर : प्रथम नरक में तेरह, दूसरे में ग्यारह, तीसरे में नौ, चौथे में सात, पाँचवें में पाँच, छठे में तीन और सातवें में एक इन्द्रक बिल है। **(रा.वा. २)**

७. **प्रश्न : इन पृथिवियों में श्रेणीबद्ध बिल कितने हैं ?**

उत्तर : पहले नरक में चार हजार चार सौ बीस, दूसरे में दो हजार छह सौ चौरासी, तीसरे में एक हजार चार सौ छियत्तर, चौथे में सात सौ, पाँचवें में दो सौ साठ, छठे में साठ तथा सातवें नरक में चार श्रेणीबद्ध बिल हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर -

४४२०+२६८४+१४७६+७००+२६०+६०+४ = ९६०४ **(रा.वा. २)**

८. **प्रश्न : इन पृथिवियों में प्रकीर्णक बिल कितने हैं ?**

उत्तर : पहले नरक में उनतीस लाख पिच्चानवे हजार पाँच सौ सड़सठ, दूसरे में चौबीस लाख सतानवे हजार तीन सौ पाँच, तीसरे में चौदह लाख अट्ठानवे हजार पाँच सौ पन्द्रह, चौथे में नौ लाख, निनानवे हजार दो सौ तिरानवे, पाँचवें में दो लाख, निनानवे हजार सात सौ पैंतीस, छठे में निनानवे हजार नौ सौ बत्तीस तथा सातवें नरक में प्रकीर्णक बिल नहीं हैं। कुल मिलाकर -

नरक बिलों का विवरण

क्र. सं.	विषय → / पृथ्वी ↓	इन्द्रक बिलों का प्रमाण	श्रेणीबद्ध बिलों का प्रमाण	प्रकीर्णक बिलों का प्रमाण	इन्द्रक बिलों का विस्तार	श्रेणीबद्ध बिलों का विस्तार	प्रकीर्णक बिलों का विस्तार	संख्यात योजन वाले बिलों की संख्या	असंख्यात योजन वाले बिलों की संख्या
१.	प्रथम पृथ्वी	१३	४४२०	२९९५५६७	संख्यात योजन	असंख्यात योजन	संख्यात-असंख्यात योजन	६०००००	२४०००००
२.	द्वितीय पृथ्वी	११	२६८४	२४९७३०५	,,	,,	,,	५०००००	२००००००
३.	तृतीय पृथ्वी	९	१४७६	१४९८५१५	,,	,,	,,	३०००००	१२०००००
४.	चतुर्थ पृथ्वी	७	७००	९९९२९३	,,	,,	,,	२०००००	८०००००
५.	पंचम पृथ्वी	५	२६०	२९९७३५	,,	,,	,,	६००००	२,४०,०००
६.	षष्ठ पृथ्वी	३	६०	९९९३२	,,	,,	,,	१९९९९	७९,९९६
७.	सप्तम	१	४	---	,,	,,	,,	१	४

२९,९५,५६७+२४,९७,३०५+१४,९८,५१५+९,९९,२९३+२,९९,७३५+९९,९३२= ८३,९०, ३४७। **(रा.वा. २)**

९. प्रश्न : इन बिलों का विस्तार कितना है ?

उत्तर : उन सात पृथिवियों में कुछ बिल संख्यात योजन विस्तार वाले हैं और कुछ बिल असंख्यात योजन विस्तार वाले हैं। जो संख्यात योजन विस्तार वाले हैं वे संख्यात लाख योजन और जो असंख्यात योजन विस्तार वाले हैं वे असंख्यात लाख योजन विस्तार वाले समझने चाहिए। **(रा.वा. २)** प्रथम पृथ्वी के प्रथम पटल में स्थित सीमन्त नामक प्रथम इन्द्रक बिल (गोलाकार) पैंतालीस लाख योजन विस्तार वाला है और अंतिम सप्तम नरक का गोलाकार, निकृष्ट और जीवों को दु:खों से पूरित करने वाला अवधिस्थान नाम का अंतिम इन्द्रक बिल एक लाख योजन विस्तार वाला है। **(सि.सा.दी. २/ ५०-५१)**

दैवी शक्ति संपन्न जो देव संपूर्ण जंबूद्वीप को पलक मारने के समय में ही पार कर जाता है, वही देव यदि सबसे बड़े नारकियों के बिल में घुस जाय तो लगातार चलते-चलते हुए भी उसे बिल के दूसरे किनारे तक पहुँचने में छह माह लग जायेंगे। इसी से उसके क्षेत्रफल का पता लग जाता है। **(व. चा. ५/२४)** वहाँ के सबसे छोटे बिल अपने विस्तार आदि में जम्बूद्वीप के समान हैं। तथा सबसे बड़े बिल तो कहना ही क्या ? उनका प्रमाण असंख्यात योजन है। **(व. चा. ५/१७)**

१०. प्रश्न : कितने बिल संख्यात योजन विस्तार वाले हैं ?

उत्तर : संपूर्ण बिल संख्या के पाँच भागों में से एक भाग (१/५) प्रमाण बिलों का विस्तार संख्यात योजन प्रमाण है। **(ति. प. २/९६)** प्रथम पृथिवी में छह लाख, दूसरी पृथिवी में पाँच लाख, तीसरी पृथिवी में तीन लाख, चौथी पृथिवी में दो लाख, पाँचवीं पृथिवी में साठ हजार, छठी पृथिवी में उन्नीस हजार नौ सौ निन्यानवे तथा सातवीं पृथिवी में एक इन्द्रक बिल संख्यात योजन विस्तार वाला है। **(हरि. पु. ४/१६१-६८)**

इस प्रकार कुल मिलाकर -

६ लाख + ५ लाख + ३ लाख + २ लाख + ६० हजार + १९,९९९ + १ = १६,८०,०००।

नोट : सभी इन्द्रक बिलों का विस्तार संख्यात योजन प्रमाण ही होता है। **(ति.प. २/९५)**

११. प्रश्न : कितने बिल असंख्यात योजन विस्तार वाले हैं ?

उत्तर : पहली पृथ्वी में - चौबीस लाख। दूसरी पृथ्वी में - बीस लाख, तीसरी पृथ्वी में - बारह लाख, चौथी पृथ्वी में - आठ लाख, पाँचवीं पृथ्वी में - दो लाख चालीस हजार, छठी पृथ्वी में - उन्यासी हजार नौ सौ छियानवे, सातवीं पृथ्वी में - चार बिल असंख्यात योजन विस्तार वाले हैं। **(हरि. पु. ४/१६१-६८)**

इस प्रकार कुल - २४ लाख + २० लाख + १२ लाख + ८ लाख + २,४०,००० + ७९,९९६ + ४ = ६७, २०,०००।

१२. प्रश्न : इन बिलों की गहराई कितनी है ?

उत्तर : इन्द्रक बिलों की गहराई प्रथम नरक में एक कोस प्रमाण है और नीचे के नरकों में क्रमश: आधा - आधा कोस बढ़ती हुई सप्तम भूमि में इन्द्रक बिल की गहराई चार कोस प्रमाण हो जाती है। श्रेणीबद्ध बिलों की गहराई अपने इन्द्रक बिल की गहराई से तिहाई और अधिक है। जैसे प्रथम नरक के श्रेणीबद्ध बिलों की गहराई १ $\frac{१}{३}$ कोस प्रमाण है।

प्रकीर्णकों की गहराई श्रेणीबद्ध और इन्द्रक इन दोनों की मिली हुई गहराई के बराबर है अर्थात् जैसे प्रथम नरक की गहराई १ को. + १$\frac{१}{३}$ को. = २ $\frac{१}{३}$कोस प्रमाण है। **(सि. सा. दी. २/५४-५७)** एक अधिक पृथिवी संख्या को तीन, चार और सात से गुणा करके छह का भाग देने पर जो लब्ध आवे उतने कोस प्रमाण क्रमश: इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक बिलों का बाहल्य होता है।

विशेष : जैसे प्रथम पृथ्वी के इन्द्रक बिलों का बाहल्य $\frac{१+१\times३}{६}$ = एक कोस।

श्रेणीबद्ध बिलों का बाहल्य = $\frac{१+१\times४}{६} = \frac{८}{६}$ कोस। अर्थात् १ $\frac{१}{३}$कोस।

प्रकीर्णकों का बाहल्य$\frac{१+१\times७}{६} = \frac{१४}{६}$ अर्थात् २ $\frac{१}{३}$ कोस **(ति. प. २/१५७)**

अथवा - यहाँ आदि का प्रमाण क्रमश: छह, आठ और चौदह है। इसमें दूसरी पृथ्वी से लेकर सातवीं पृथ्वी पर्यंत उत्तरोत्तर इसी आदि के अर्द्ध भाग को जोड़कर प्राप्त संख्या में छह का भाग देने पर क्रमश: विवक्षित पृथ्वी के इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक बिलों का बाहल्य निकल आता है। **(ति. प. २/१५८)**

१३. प्रश्न : घर्मादि नरकों में बिलों से व्याप्त क्षेत्र कितना है ?

उत्तर : घर्मा पृथ्वी में व्याप्त क्षेत्र का प्रमाण अठत्तर हजार योजन, वंशा में तीस हजार योजन, मेघा में छब्बीस हजार योजन, अञ्जना में बाईस हजार योजन, अरिष्टा में अठारह हजार योजन, मघवी में चौदह हजार योजन और माघवी पृथ्वी में बिल व्याप्त क्षेत्र का प्रमाण ५$\frac{१}{३}$ (महाकोस) है।

नोट : रत्नप्रभादि छह भूमियों में ऊपर-नीचे एक-एक हजार योजन भूमि छोड़कर बिल स्थित हैं तथा सातवीं पृथ्वी के ठीक मध्य भाग में एक इन्द्रक और चार श्रेणीबद्ध हैं जिनके व्याप्त क्षेत्र का प्रमाण ५$\frac{१}{३}$ कोस मात्र है। **(सि.सा. दी. २/५८)**

१४. प्रश्न : इन बिलों का अंतराल कितना है ?

उत्तर : नारकियों के संख्यात योजन वाले बिलों में तिरछे रूप में जघन्य अन्तराल छह कोस प्रमाण और उत्कृष्ट अन्तराल इससे दुगुना अर्थात् बारह कोस प्रमाण है। नारकियों के असंख्यात योजन

विस्तार वाले बिलों का जघन्य-अंतराल सात हजार योजन और उत्कृष्ट अंतराल असंख्यात योजन ही है। **(ति. प. २/१००-१)**

नोट : इन दोनों प्रकार के बिलों का मध्यम अंतर उत्कृष्ट एवं जघन्य अंतराल के भेदों का स्वरूप अनेक प्रकार का है। **(सि. सा. दी. २/५९)**

१५. प्रश्न : ये बिल किस रूप से स्थित हैं ?

उत्तर : प्रथम नरक के प्रथम पटल के मध्य में इन्द्रक बिल है। उसकी चारों दिशाओं में उनचास-उनचास एवं चारों विदिशाओं में अड़तालीस-अड़तालीस श्रेणीबद्ध बिल हैं। इसी प्रकार दूसरे, तीसरे आदि पटलों के मध्य में इन्द्रक बिल हैं। तथा दिशा-विदिशाओं में स्थित श्रेणीबद्ध बिलों में से एक-एक कम करना चाहिए अर्थात् दूसरे पटल की दिशाओं में अड़तालीस-अड़तालीस तथा विदिशाओं में सैंतालीस-सैंतालीस बिल हैं। इस प्रकार करने से अंतिम सातवें नरक के पटल में एक इन्द्रक और चारों दिशाओं में एक-एक श्रेणीबद्ध बिल की संख्या प्राप्त होती है। **(रा.वा. २)**

१६. प्रश्न : सातों नरकों में कितने प्रस्तार हैं ?

उत्तर : सातों नरकों में कुल मिलाकर उनचास प्रस्तार हैं- प्रथम नरक में तेरह, दूसरे में ग्यारह, तीसरे में नौ, चौथे में सात, पाँचवें में पाँच, छठे में तीन एवं सातवें में एक प्रस्तार है। **(रा.वा.२)**

१७. प्रश्न : प्रस्तार किसे कहते हैं ?

उत्तर : पटल का अर्थ प्रस्तार, इन्द्रक अन्तर्भूमि है। **(वृ.द्र.टी. ३५)** स्वर्ग के श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक विमान विमान-प्रस्तार कहलाते हैं। वहाँ (नरक) के प्रकीर्णक नरक-प्रस्तार कहलाते हैं। **(ध. १४/४९५)**

१८. प्रश्न : प्रथम नरक के तेरह प्रस्तार कौन-कौन से हैं ?

उत्तर : (१) सीमन्तक (२) निरय (३) रौरव (४) भ्रान्त (५) उद्भ्रान्त (६) सम्भ्रान्त (७) असम्भ्रान्त (८) विभ्रान्त (९) तप्त (१०) त्रस्त (११) व्युत्क्रान्त (१२) अवक्रान्त (१३) विक्रान्त। **(रा.वा.२)**

१९. प्रश्न : दूसरे आदि नरकों में कौन-कौन से प्रस्तार हैं ?

उत्तर : दूसरे नरक के प्रस्तार - (१) स्तनक (२) संस्तनक (३) वनक (४) मनक (५) घाट (६) संघाट (७) जिह्व (८) उज्जिह्व (९) कालोल (१०) लोलुक (११) स्तनलोलुक।

तीसरे नरक के प्रस्तार - (१) तप्त (२) त्रस्त (३) तपन (४) आतपन (५) निदाघ (६) प्रज्वलित (७) उज्वलित (८) संज्वलित (९) संप्रज्वलित।

चौथे नरक के प्रस्तार - (१) आर (२) मार (३) तार (४) वर्चस्क (५) वैमनस्क (६) खण्ड (७) अखण्ड।

प्रथम पटल :

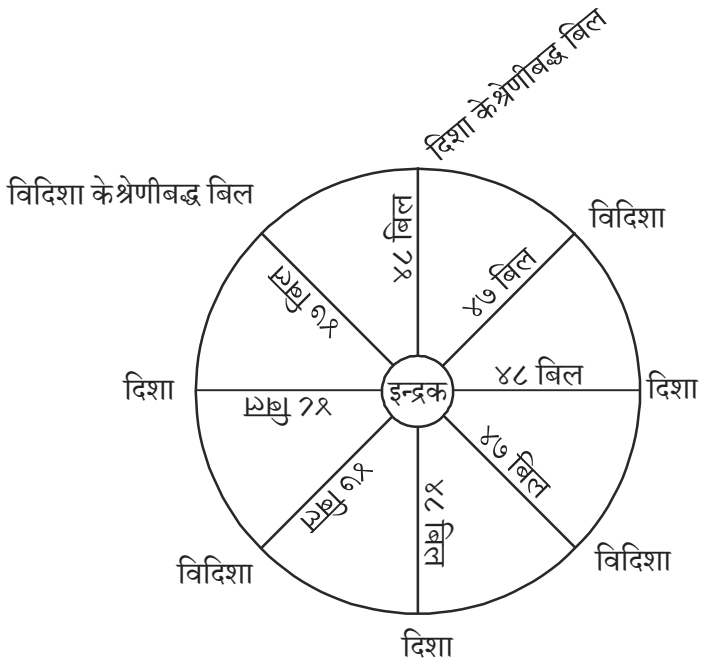

द्वितीय पटल :

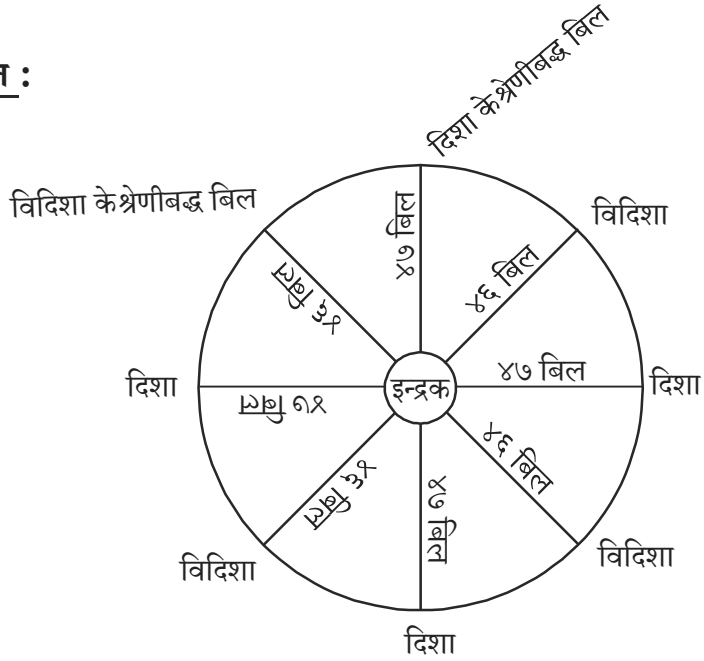

पाँचवें नरक के प्रस्तार - (१) तम (२) भ्रम (३) झष (४) अन्ध (५) तमिस्र।

छठे नरक के प्रस्तार - (१) हिम (२) वर्दल (३) लल्लक।

सातवें नरक के प्रस्तार - (१) अप्रतिष्ठान। **(रा.वा. २)**

२०. प्रश्न : एक पटल से दूसरे पटल का अंतर कितना है ?

उत्तर : पृथ्वी के पटल व्याप्त क्षेत्र को एक कम प्रतर संख्या से भाग देने पर ऊपर के पटल से उसके नीचे के पटल का अंतर प्राप्त होता है। जैसे प्रथम पृथ्वी में पटल व्याप्त क्षेत्र अठत्तर हजार (७८०००) योजन है। प्रथम पृथ्वी में पटल संख्या १३ है। तेरह पटलों में (१३-१) बारह अंतराल हुए अत: ७८००० यो. को बारह से अपवर्तित कर देने पर (७८००० : १२) = ६५०० योजन प्रति पटल का अंतर प्राप्त होता है। इसी प्रकार द्वितीयादि पृथिवियों में जानना चाहिए। **(सि. सा. दी. २/५८)**

२१. प्रश्न : इन नरकों के उत्पत्तिस्थान कैसे हैं ?

उत्तर : कुछ जीव तो भट्टियों के समान अत्युष्ण स्थानों में पैदा होते हैं तथा दूसरे उन स्थानों पर उत्पन्न होते हैं जिनकी तुलना ऊँट की आकृति के बने भाड़ों से की जा सकती है। **(व.चा. ५-३०)**

(१) नरकों की सब जन्मभूमियाँ दुष्प्रेक्ष एवं महाभयानक हैं और भयंकर हैं, ये सब जन्मभूमियाँ कस्तूरी से अनंत गुणित काले अंधकार से व्याप्त हैं। **(ति. पं. २/३०६-३१३)**

(२) उन पृथिवियों में वे नारकी मधुमक्खियों के छत्ते के समान लटकते हुए घृणित स्थानों में नीचे की ओर मुख करके पैदा होते हैं। **(म.पु. १०/३३)**

सातों नरकभूमियों में इन्द्रक, श्रेणीबद्ध एवं प्रकीर्णक बिलों से संबंधित योनियाँ (जन्मस्थान) गधा, सूकर, बिल्ली, बन्दर, कुत्ता और गाय आदि के मुख के सदृश, मधुकृत जाल सदृश, घण्टाकार और अधोमुख हैं, उनके आकार गोल, त्रिकोण और चतुष्कोण हैं तथा वे जन्मभूमियाँ दु:स्पर्श अर्थात् तीक्ष्ण, रूक्ष एवं घन-स्पर्श से सहित, दु:खों की खान, वज्राभा (वज्र सदृश कठोर तल भाग) एवं दीवालों से युक्त, अत्यंत ग्लानि एवं दुर्गन्ध उत्पादक, घृणास्पद अंधकार से व्याप्त निंदनीय और दुष्कर (भयंकर) हैं। **(सि.सा. दी. २/७३-७५)**

२२. प्रश्न : प्रथमादि तीन नरकों के उत्पत्ति-स्थान कैसे हैं ?

उत्तर : प्रथम नरक से तृतीय नरक तक के नारकियों के उत्पत्ति स्थान अनेक तो ऊँट के आकार के हैं। अनेक कुंभी, घड़ियाल, कुस्थली, मुद्गर और नाड़ी के आकार के हैं। **(हरि.पु.४/३४७)** प्रथम पृथ्वी से तीसरी पृथ्वी तक उष्टि-का, कोथली, कुम्भी, मुद्गलिका मुद्गर, मृदंग और नाली के सदृश जन्मभूमियाँ हैं। **(ति. प. २/३०४)**

२३. प्रश्न : चतुर्थ एवं पंचम नरक के उत्पत्ति-स्थान कैसे हैं ?

उत्तर : चतुर्थ एवं पंचम नरकों के नारकियों के जन्मस्थान कुछ तो गाय के आकार के हैं और कुछ हाथी, घोड़ा, धौंकनी, नौका एवं कमलपुर के सदृश हैं। **(हरि.पु.४/३४८)** चौथी एवं पाँचवीं पृथ्वी में जन्मभूमियों का आकार गाय, हाथी, घोड़ा, भस्त्रा, अब्जपुट, अम्बरीष और द्रोणी जैसा है। **(ति. प. २/३०५)**

२४. प्रश्न : छठी एवं सातवीं पृथ्वी के उत्पत्ति-स्थान कैसे हैं ?

उत्तर : ''छठे-सातवें नरक के उत्पत्तिस्थान खेत, झालर, मल्लिका एवं मयूर के आकार के हैं।'' **(हरि.पु. ४/३४९)** इनके आक्रन्दन, सोचन, रोदन आदि अशुभ नाम हैं। **(रा.वा. २)** छठी और सातवीं पृथ्वी की जन्मभूमियाँ झालर, मल्लक, पात्री, केयूर, मसूर, शाणक, किलिंज, ध्वज, द्वीपी, चक्रवाक, शृगाल, अज, खर, करभ, संदोलक (झूला) और रीछ के सदृश हैं, ये भूमियाँ अंत में करोंत के सदृश चारों तरफ से गोल मज्जवमयी एवं भयंकर हैं। **(ति. प. २/३०६-८)**

२५. प्रश्न : इन जन्म-स्थानों का विस्तार कितना है ?

उत्तर : सातों नरकों से संबंधित जन्म-योनियों का व्यास क्रमश: एक कोस, दो कोस, तीन कोस, एक योजन, दो योजन, तीन योजन और सौ योजन प्रमाण कहा है। इसी प्रकार इनकी दीर्घता अपने-अपने व्यास से पाँच गुणी अर्थात् क्रमश: पाँच कोस, दस कोस, पन्द्रह कोस, पाँच योजन, दस योजन, पन्द्रह योजन और पाँच सौ योजन प्रमाण कही है। **(त्रि. सा. १८०)**

नारकी जीवों की जन्मभूमियों का विस्तार जघन्यत: पाँच कोस, उत्कृष्टत: चार सौ कोस और मध्यम रूप से दस-पन्द्रह कोस प्रमाण वाला है और ऊँचाई अपने-अपने विस्तार की अपेक्षा पाँच गुणी अर्थात् जघन्य ऊँचाई (५×५) = २५ कोस, उत्कृष्ट ऊँचाई (४००×५) २००० कोस प्रमाण है। मध्यम ५०-७५ कोस प्रमाण है। **(ति.प. २/३१०-११)**

२६. प्रश्न : नरकों में नारकी जन्म लेते ही कितने उछलते हैं ?

उत्तर : पहली पृथ्वी में नारकी जन्म के पश्चात् सात योजन उत्सेध और छह हजार पाँच सौ (६५००) धनुष प्रमाण उछलता है और शेष पृथिवियों में उछलने का प्रमाण उत्तरोत्तर दूना-दूना है। अर्थात् प्रकार पहली पृथ्वी के नारकी सात उत्सेध योजन ३$\frac{१}{४}$ कोस, दूसरी के १५ योजन २$\frac{१}{२}$ कोस, तीसरी पृथ्वी के ३१ यो. १ कोस, चौथी पृथ्वी के ६२ $\frac{१}{२}$ योजन, पाँचवीं के १२५ योजन, छठी के २५० योजन एवं सातवीं पृथ्वी के नारकी जीव ५०० योजन ऊँचे उछलते हैं। **(ति.प. २/३१६)**

नारकियों की विशेषताएँ

नारका नित्याशुभतरलेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रिया: ॥३॥

नारका: नित्य - अशुभतर - लेश्या - परिणाम - देह - वेदना - विक्रिया:।

अर्थ - वे नारकी नित्य ही अशुभतर लेश्या, अशुभतर परिणाम, अशुभतर देह, अशुभतर वेदना और अशुभतर विक्रिया वाले हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए लिखा गया है ?

उत्तर : पापकर्म के उदय से सीमन्त आदि नरकों में उत्पन्न होने वाले प्राणियों के लक्षण क्या हैं ? ऐसा (प्रश्न) पूछने पर यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा.उ. ३)** उन भूमियों में रहने वाले नारकियों में क्या विशेषता है ? इस बात को बताने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(सर्वा. ३७०)**

२. प्रश्न : नारकी कैसे होते हैं ?

उत्तर : ये विकलांग, हुण्डकसंस्थानी, नपुंसक, दुर्गन्धित, दुर्वर्ण, दु:स्वर, दु:स्पर्श, दुर्भग, कृष्ण और रुक्ष होते हैं। इनके शरीर में कड़वी तूम्बी और कांजीर के समान रस उत्पन्न होता है। एक नारकी एक समय में एक ही आकार बना सकता है। आकार भी विकृत, घृणा का स्थान और कुरूप ही बना सकता है। **(म. पु. १०/९५-१०२)**।

३. प्रश्न : लेश्या को अशुभतर किस अपेक्षा से कहा गया है ?

उत्तर : तिर्यञ्चों में जो अशुभ लेश्या है उससे अत्यधिक अशुभ लेश्या नारकियों में है। इसलिए अशुभतर कहा है। अथवा प्रथम आदि नरक के नारकियों की अपेक्षा द्वितीयादि नरक के नारकियों की लेश्या अशुभ है। इसलिए भी अशुभतर लेश्या कहा है। अशुभतर इस पद से तिर्यञ्चगति में प्राप्त होने वाली अशुभ लेश्या आदि की अपेक्षा और नीचे-नीचे अपनी गति की अपेक्षा प्रथम नरक से दूसरे नरक में अशुभ लेश्या है। इसी प्रकार दूसरे से तीसरे में, तीसरे से चौथे आदि में भी आगे जानना, लेश्यादिक की प्रकर्षता बतलाई है। **(श्लो. ५/३०५)**

४. प्रश्न : यदि नित्य ही नारकियों के अशुभ लेश्या मानी जायेगी तो उत्पाद-व्यय का अभाव होने से उनकी लेश्या कभी परिवर्तित नहीं होगी ?

उत्तर : यहाँ नित्य शब्द अभीक्ष्ण के अर्थ में लिया गया है। जिस प्रकार देवदत्त नित्य हँसता है अर्थात् निमित्त मिलने पर नियम से हँसता है उसी प्रकार अशुभ कर्म के उदय से नारकियों के नियम से अशुभतर लेश्या उत्पन्न होती है। अत: लेश्या अनिवृत्ति का प्रसंग नहीं आता है। **(रा.वा. ४)**

५. प्रश्न : प्रथमादि नरकों में किस प्रकार की लेश्या है ?

उत्तर : प्रथम नरक में जघन्य कापोत, दूसरे नरक में मध्यम कापोत, तृतीय नरक में ऊपर कापोत एवं नीचे नील लेश्या, चौथे नरक में नील, पाँचवें नरक में ऊपर नील और नीचे कृष्ण और छठे में कृष्ण, सातवें नरक में परम कृष्ण लेश्या है। सभी नारकियों की द्रव्य लेश्या तो अपनी अवधृत आयु प्रमाण और भाव लेश्या छहों ही अंतर्मुहूर्त्त में परिवर्तित हो जाती हैं। **(रा.वा. ४)** जो दु:खों को देने वाली हैं और क्लेश की माता हैं। नरकों में ऐसी तीन अशुभ लेश्याएँ होती हैं। **(सि.सा. दी. २/९२-९५)**

६. प्रश्न : अशुभतर परिणाम से क्या लेना चाहिए ?

उत्तर : अशुभतर परिणाम से यहाँ स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द लिये गए हैं। ये क्षेत्र विशेष के निमित्त से अत्यन्त दु:ख के कारण अशुभतर हैं। **(सर्वा ३७१)**

७. प्रश्न : नरकों का स्पर्श कैसा है ?

उत्तर : एक साथ हजारों बिच्छुओं के काटने पर जो वेदना होती है उससे भी अधिक वेदना वज्रमय काँटों से व्याप्त नरकभूमि के स्पर्श मात्र से होती है। **(सि.सा. दी. ३/५)** जिसका स्पर्श संपूर्ण शरीर को भयङ्कर दु:ख का कारण है जो असुहावनी है और जिसमें खिरने वाले अग्नि कणों के सदृश रज का मिश्रण है, ऐसी वायु वहाँ नित्य ही बहती रहती है। **(सि.सा. दी. ३/१०)**

८. प्रश्न : नरकों की दुर्गंध कैसी है ?

उत्तर : बिल्ली, कुत्ता, शृगाल, व्याघ्र, हाथी और पक्षियों के मृतक शरीरों की राशि समूह से जो दुर्गन्ध निकलती है, उससे भी अति अशुभ और भयंकर दुर्गंध वहाँ निरंतर व्याप्त रहती है। **(सि.सा. दी. ३/६)**

९. प्रश्न : क्या नरक के सभी पदार्थों का परिणमन अशुभतर ही होता है ?

उत्तर : हाँ, उन नारकियों की आँखें कुछ देखती हैं तो वह सब अनिष्ट ही होता है, कानों के द्वारा सुने गये स्वर भी अत्यन्त कर्णकटु और बुरे होते हैं। नाक से जो कुछ सूंघते हैं वह सब दुर्गंधमय हो जाता है। हाथ-पैर आदि से जो-जो वस्तु छूते हैं वही कठोर और कष्टप्रद मालूम देती है और जिह्वा के द्वारा जिस किसी पदार्थ को चखते हैं वही सर्वथा बेस्वाद हो जाता है; मानों कोई अच्छा इन्द्रिय-व्यापार करने की शक्ति ही उनमें नहीं रह जाती है। **(व. चा. ५/८७-८८)**

१०. प्रश्न : नारकियों का शरीर कैसा है ?

उत्तर : नारकियों के शरीर अशुभ नामकर्म के उदय से अशुभ अंगोपांग, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, स्वर वाले और वीभत्स तथा निर्लून अण्डज (पक्षियों) की आकृति वाले होते हैं। उनका संस्थान हुण्डक होता है। उनके शरीर क्रूर, वीभत्स और भयंकर दिखते हैं। यद्यपि उन नारकियों का शरीर वैक्रियिक है तथापि उसमें इस औदारिक शरीरगत मल-मूत्रादिक से अधिक खंखार, मूत्र, मल, रुधिर, मज्जा, पीप, वमन, मांस, केश, अस्थि, चर्म आदि वीभत्स सामग्री रहती है। इसलिए उनकी देह अति अशुभतर है। **(रा.वा. ४)** उन नारकी जीवों के शरीरों में कड़वी तूमड़ी और काञ्जीर से भी अधिक कटु, अशुभ और अनिष्टकारक रस होता है। **(म. पु. १०/९९)** कुत्ता, बिल्ली, गधा, ऊँट और सर्प आदि जानवरों के मरे हुए शरीरों में जो दुर्गंध आती है उससे भी कहीं अधिक दु:सह और घृणास्पद दुर्गंध उन नारकी जीवों के शरीरों में आती है। करोत और गोखुरू आदि पदार्थों में जैसा दु:स्पर्श होता है, वैसा ही स्पर्श उन नारकी जीवों के शरीरों में होता है। **(सि. सा. दी. ३/११२)** नारकियों के रंग, रूप, गंध और आकृतियों के लिए हजार प्रयत्न करने पर भी दूसरी उपमा नहीं मिल सकती है। **(व. चा. ५/२१)** नारकियों के रंग-

प्रत्येक पटल में नारकियों के शरीर का उत्सेध

नरकपटल क्रम :

		१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३
प्रथम	ध.	-	१	१	२	३	३	४	४	५	६	६	७	७
	हा.	३	१	३	२	-	२	१	३	१	-	२	-	३
	अं.	-	८$\frac{१}{२}$	१७	१$\frac{१}{२}$	१०	१८$\frac{१}{२}$	३	११$\frac{१}{२}$	२०	४$\frac{१}{२}$	१३	२१$\frac{१}{२}$	६
द्वितीय	ध.	८	९	९	१०	११	१२	१२	१३	१४	१४	१५		
	हा.	२	-	३	२	१	-	३	१	-	३	२	-	-
	अं.	२$\frac{२}{११}$	२२$\frac{४}{११}$	१८$\frac{६}{११}$	१४$\frac{८}{११}$	१०$\frac{१०}{११}$	७$\frac{१}{११}$	३$\frac{३}{११}$	२३$\frac{५}{११}$	१९$\frac{७}{११}$	१५$\frac{९}{११}$	१२		
तृतीय	ध.	१७	१९	२०	२२	२४	२६	२७	२९	३१				
	हा.	१	-	३	२	१	-	३	२	१	-	-	-	-
	अं.	१०$\frac{२}{३}$	९$\frac{१}{३}$	८	६$\frac{२}{३}$	५$\frac{१}{३}$	४	२$\frac{२}{३}$	१$\frac{१}{३}$	-				
चतुर्थ	ध.	३५	४०	४४	४९	५३	५८	६२						
	हा.	२	-	२	-	२	-	२	-	-	-	-	-	-
	अं.	२०$\frac{४}{७}$	१७$\frac{१}{७}$	१३$\frac{५}{७}$	१०$\frac{२}{७}$	६$\frac{६}{७}$	३$\frac{३}{७}$	-						
पंचम	ध.	७५	८७	१००	११२	१२५								
	हा.	-	२	-	२	-	-	-	-	-	-	-	-	-
	अं.	-	-	-	-	-								
षष्ठ	ध.	१६६	२०८	२५०										
	हा.	२	१	-	-	-	-	-	-	-	-	-	-	-
	अं.	१६	८	-										
सप्तम	ध.	५००	-	-	-	-	-	-	-	-	-	-	-	-

ध. = धनुष । हा. = हाथ । अं. = अंगुल ।

रूप भयवाले होते हैं। शरीरों से असह्य सडाँध आती रहती है। उनका संस्थान ऐसा ऊबड़-खाबड़ होता है कि उन्हें कुब्जक भी नहीं कह सकते हैं। **(व. चा. ५/३२)**[१]

११. प्रश्न : आयुसमाप्ति के बाद नारकियों के शरीर का क्या होता है ?

उत्तर : नारकियों का शरीर कदलीघात के बिना आयु के अंत में वायु से ताड़ित मेघों के समान नि:शेष विलीन हो जाता है। **(ति. प. २/३५६)**

१२. प्रश्न : नारकियों के शरीर का उत्सेध कितना है ?

उत्तर : रत्नप्रभा नामक प्रथम नरक में नारकियों के शरीर की ऊँचाई सात धनुष तीन हाथ और छह अंगुल प्रमाण है और नीचे-नीचे के नरकों में दूनी-दूनी अवगाहना जाननी चाहिए। अर्थात् प्रथम नरक में उत्कृष्ट अवगाहना सात धनुष तीन हाथ छह अंगुल, दूसरे नरक में पन्द्रह धनुष, दो हाथ, बारह अंगुल, तीसरे नरक में इकतीस धनुष एक हाथ, चौथे नरक में बासठ धनुष दो हाथ, पाँचवें नरक में एक सौ पच्चीस धनुष, छठें में दो सौ पचास धनुष और सातवें में पाँच सौ धनुष उत्कृष्ट अवगाहना है। **(रा.वा. ४)**

१३. प्रश्न : प्रथम नरक के नारकियों की जघन्य अवगाहना कितनी है ?

उत्तर : प्रथम नरक के प्रथम पटल के नारकियों का उत्सेध (अवगाहना) तीन हाथ प्रमाण है। इसमें वृद्धि के प्रमाण को जोड़ देने पर ऊपर-ऊपर के पटलों के नारकियों के शरीर की अवगाहना प्राप्त होती है। **(ति. प. २/२१८)**

१४. प्रश्न : वृद्धि का प्रमाण किस प्रकार प्राप्त करना चाहिए ?

उत्तर : अंत में से आदि को घटाकर शेष में एक कम अपने इन्द्रक के प्रमाण का भाग देने पर जो लब्ध आवे उतना प्रथम पृथ्वी में हानि-वृद्धि का प्रमाण है। इसे उत्तरोत्तर मुख में मिलाने अथवा भूमि में से कम करने पर अपने-अपने पटलों में ऊँचाई का प्रमाण ज्ञात होता है।

जैसे - प्रथम पृथ्वी में अंत-७ ध. ३ हा. ६ अं. (आदि का प्रमाण) ३ हाथ अर्थात् (३१$\frac{१}{४}$ हाथ - ३ हाथ = २८ $\frac{१}{४}$: $\frac{१३-१}{१}$ = $\frac{११३}{४}$ × $\frac{१}{१२}$ = २ हाथ ८ $\frac{१}{२}$ अंगुल हानि वृद्धि का प्रमाण है। **(ति. प. २/२१९)**

नोट : ७ ध. ३ हाथ के अंगुल बनाने चाहिए।

४ हाथ का एक धनुष एवं २४ अंगुल का एक हाथ होता है।

---

१. ''सुरेन्द्र उन नारकियों को ले जाने के लिए उद्यत हुआ परन्तु वे पकड़ने में न आये। जिस प्रकार अग्नि में तपाने से नवनीत पिघलकर रह जाता है, उसी प्रकार वे नारकी पिघल कर वहीं रह गये। अनेक प्रयत्नों के बाद भी जिस प्रकार दर्पण में प्रतिबिम्बित पदार्थ ग्रहण में नहीं आते, उसी प्रकार वे भी ग्रहण में नहीं आ सके। **(प.पु. १२३/३७-३८)**

१५. प्रश्न : द्वितीय आदि नरकों के नारकियों की जघन्य अवगाहना कितनी है ?

उत्तर : द्वितीय पृथ्वी के नारकियों की जघन्य अवगाहना ८ धनुष, दो हाथ और $\frac{२४}{११}$ अंगुल प्रमाण है। **(ति. प. २/२३२)** तीसरी पृथ्वी में १७ धनुष ३४$\frac{२}{३}$ अंगुल **(ति. प. २/२४४)** चौथे नरक में ३५ धनुष, २ हाथ, २०$\frac{४}{७}$ अंगुल **(ति. प. २/२५४)** पाँचवीं पृथ्वी में ७५ धनुष **(ति. प. २/२६२)** छठी पृथ्वी में १६६ धनुष, २ हाथ और सोलह अंगुल **(ति. प. २/२६७)** तथा सातवें नरक में एक ही पटल है। वहाँ के नारकियों की अवगाहना ५०० धनुष प्रमाण है। **(ति. प. २/२७०)**

१६. प्रश्न : द्वितीयादि पृथिवियों में हानि-वृद्धि का प्रमाण कितना है ?

उत्तर : दूसरी पृथ्वी में वृद्धि का प्रमाण २ हाथ २० $\frac{२}{११}$ अंगुल।

तीसरी पृथ्वी में १ धनुष, २ हाथ तथा २२ $\frac{२}{३}$ अंगुल।

चौथी पृथ्वी में ४ धनुष, १ हाथ, २० $\frac{४}{७}$ अंगुल।

पाँचवीं पृथ्वी में १२ धनुष २ हाथ।

छठी पृथ्वी में ४१ धनुष २ हाथ १६ अंगुल **(ति. प. २/२३१-६६)**

नोट : सातवीं पृथ्वी में हानि-वृद्धि का प्रमाण नहीं है क्योंकि वहाँ एक ही पटल है।

१७. प्रश्न : नारकियों को शीत की कितनी वेदना होती है ?

उत्तर : यदि मेरु के बराबर लोहे का उष्ण पिण्ड शीत बिलों में डाला जाये तो वह तल प्रदेश में पहुँचने के पहले ही नमक के टुकड़े के समान विलीन (नष्ट) हो जायेगा। **(ति.प. २/३३)** जहाँ बर्फ गिरने से सर्व दिशाएँ शीत से व्याप्त हो गई हों, आकाश से गिरे जलकणों से पृथ्वी तल भर गया हो, ऐसे माघ मास में रात्रि के समय शीत वायु के पान (लगने) से शरीर में रोमांच हो गये हों, तथा दाँत कट-कट बज रहे हों, शरीर शीतज्वर से अभिभूत हो, अग्नि और वस्त्रादि का जिसके साधन नहीं हो, ऐसे मानव को जो शीतजन्य दु:ख होता है उससे अनंत गुणा दु:ख नारकियों को शीतजन्य होता है। **अथवा** - पिघला हुआ ताँबे का गोला यदि शीत बिलों में डाला जावे तो वह लव मात्र में घन हो जावेगा। **(रा.वा. ४)** शीत बिलों में यदि मेरुपर्वत के समान लोहे का पिण्ड डाल दिया जाय तो वह तीव्र तुषार के कारण शीघ्र ही विलीन हो जाता है। इसमें संशय नहीं है। **(सि.सा. दी. ३/२६)**

१८. प्रश्न : नारकियों को उष्णता की कितनी वेदना है ?

उत्तर : उन गरम नरकवासों में यदि एक लाख योजन का सुमेरु सदृश गोला भी डाल दिया जाय तो वह भी वहाँ के भयङ्कर अग्निताप के द्वारा सैकड़ों खण्डों को प्राप्त हो जाता है। **(सि.सा.दी. ३/२५)**

नरकों के उष्ण बिलों में मेरु के बराबर लोहे का शीतल पिण्ड डाल दिया जावे तो वह तलप्रदेश में पहुँचने के पहले ही मेन (मोम) के टुकड़े के समान पिघल कर विलीन हो जावेगा। **(ति.प. २/३२)**

अभ्यंतर असातावेदनीय कर्म का उदय होने पर अनादि स्वाभाविक उष्णजन्य बाह्य निमित्त से होने वाली तीव्र वेदना होती है। जैसे - ग्रीष्म ऋतु के मध्याह्न काल में बादल रहित आकाश में महातीक्ष्ण सूर्य किरणों से सन्तप्त दिगन्तराल में जहाँ शीत वायु का प्रवेश नहीं है, दावाग्नि के समान अत्यन्त उष्ण एवं रूक्ष वायु चल रही है, ऐसे मारवाड़ देश में चारों तरफ से दीप्त अग्निशिखा से व्याप्त प्यास से व्याकुल निष्प्रतिकार पित्तज्वर से संतापित शरीर वाले मानव को जो उष्णता की वेदना होती है उससे भी अनंत गुणा दु:ख नारकियों को तज्जन्य उष्णता का होता है। **(रा.वा. ४)**

१९. प्रश्न : नरकों में कितने उष्ण एवं कितने शीत बिल हैं ?

उत्तर : प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ नरक में उष्ण वेदना है, पाँचवें नरक के ऊपरी दो लाख बिलों में उष्ण वेदना है, नीचे के एक लाख बिलों में तथा छठे और सातवें नरक में शीत वेदना है, सर्व समुदाय रूप से (३० लाख+२५ लाख+१५ लाख+१० लाख+२ लाख) ८२ लाख बिलों में उष्ण वेदना और शेष दो लाख (१ लाख+९९९९५+५) बिलों में शीत वेदना है। **(रा.वा. ४)**

२०. प्रश्न : नारकियों को क्षुधा वेदना कितनी होती है ?

उत्तर : नारकी जीवों के हृदय को दग्ध कर देने वाली, संपूर्ण अङ्गों में उद्वेग उत्पन्न करने वाली तथा संपूर्ण (तीन लोक के) अन्न का भक्षण करने पर भी जो शमन को प्राप्त न हो ऐसी तीव्र क्षुधा वेदना उत्पन्न होती है। उससे बाह्य एवं अंतरंग में अत्यंत संताप उत्पन्न होता है। किन्तु अशुभ कर्म के योग से उन्हें तिल के बराबर भी अन्न कभी खाने को नहीं मिलता है। **(सि.सा. दी. ३/२०-२१)** नरक में नारकी जीवों को ऐसी भूख लगती है कि समस्त पुद्गलों का समूह भी उसका शमन करने में समर्थ नहीं है। **(ज्ञा. ३६/७७)**

२१. प्रश्न : क्या नारकियों को कुछ भी खाने को नहीं मिलता है ?

उत्तर : प्रथम घर्मा पृथ्वी में उत्पन्न हुए नारकी जीव श्वानादि निकृष्ट प्राणियों के सड़े कलेवरों की दुर्गंध से भी अधिक दुर्गंध वाली मिट्टी खाते हैं और वह भी उनको अत्यंत अल्प मिलती है, जबकि उनकी भूख बहुत अधिक होती है, जिससे उनकी क्षुधा शांत नहीं होती। वंशादि पृथिवियों के नारकी इससे असंख्यात-गुणित-दुर्गंध सहित अशुभ मिट्टी का भक्षण करते हैं। वहाँ क्षुधा प्रथम पृथ्वी की अपेक्षा असंख्यात गुणी है। **(त्रि.सा. १९२)**

यह आहार बकरी, हाथी, भैंस, घोड़ा, गधा, ऊँट, बिल्ली और मेढ़े आदि के सड़े हुए शरीर की गंध से अनंत गुणी दुर्गन्ध वाला आहार होता है। **(ति. प. २/३४७)**

रत्नप्रभा से लेकर अंतिम पृथ्वी पर्यंत अत्यंत सड़ा, अशुभ और उत्तरोत्तर असंख्यात गुणा ग्लानिकर अन्य प्रकार का ही आहार होता है। **(ति. प. २/३४८)**

२२. प्रश्न : नरकों के आहार की गन्ध कैसी है ?

उत्तर : घर्मा पृथ्वी में जो आहार है उसकी गंध से यहाँ पर एक कोस के भीतर स्थित जीव मर सकते हैं। इसके आगे शेष द्वितीयादि पृथिवियों में इसकी घातक शक्ति आधा-आधा कोस और भी बढ़ती गई है। अर्थात् सातवें नरक की मिट्टी से चार कोस तक के जीव मर सकते हैं। **(ति. प. २/३४९)**

प्रथम पृथ्वी के प्रथम पटल की मिट्टी से यहाँ के आधा कोस के जीव उसकी दुर्गन्ध से मर जावेंगे, इससे आगे के पटलों की माटी से क्रम से आधा-आधा कोस अधिक के जीव मर जावेंगे। अर्थात् सातवें नरक के उनचासवें पटल की मिट्टी की गंध से यहाँ के २४$\frac{१}{२}$ कोस के जीव मर जावेंगे। **(त्रि.सा. १९३)**

२३. प्रश्न : नारकियों को प्यास की कितनी वेदना होती है ?

उत्तर : नरकों में तृष्णा बड़वाग्नि के समान इतनी उत्कट होती है कि समस्त समुद्रों का जल भी पी ले तो नहीं मिटती है। **(ज्ञा. ३६/७८)** समुद्र के संपूर्ण जल-पान द्वारा भी जो शमन को प्राप्त न हो ऐसी सर्वांगों को शोषित करने वाली तीव्र तृषा वेदना उन नारकी जीवों के उत्पन्न होती है, जिससे शरीर अतिदग्ध हो जाता है और वे नारकी जीव निरंतर अतिविह्वल होते रहते हैं। फिर भी पाप कर्म के उदय से उन्हें एक बिन्दु मात्र भी जल पीने के लिए प्राप्त नहीं होता है। **(सि.सा. दी. ३/२२-२३)** नारकी खारा, गरम, तीक्ष्ण, वैतरणी नदी का जल पीते हैं। **(हरि.पु. ४/३६६)**

२४. प्रश्न : वैतरणी नदी कैसी है ?

उत्तर : नरक की वैतरणी नदी में कर्तरी (कैंची) के समान तीक्ष्ण जल के आकार परिणत हुए दूसरे नारकी उन नारकियों के शरीरों को अनेक प्रकार की दुस्सह पीड़ाओं को पहुँचाते हुए छेदते हैं वैतरणी नदी के जल में नारकी कछुआ, मेंढक और मगर आदि जलचर जीवों के विविध रूप धारण कर एक दूसरे का भक्षण करते हैं। **(ति. प. २/३२९-३०)**

नरकों में मांस रूप कीचड़ और क्षार एवं दुर्गन्धित रक्त रूप जल की कल्लोलों से व्याप्त वैतरणी नाम की नदी है। **(सि.सा.दी. ३/७)** नरकों में भिलावे के रस से भरी हुई वैतरणी नाम की नदी है। **(म.पु. १०/८०)** नरक में जलते हुए जल से भरी हुई वैतरणी नदी है। **(म.पु. ७४/१८३)**

२५. प्रश्न : नारकियों के कितने रोग एक साथ उदय में आते हैं ?

उत्तर : भुवि-मध्यलोक में कुष्ट एवं उदरशूल आदि जितने दुस्सह दुःख देने वाले रोग हैं, वे संपूर्ण रोग स्वभाव से ही नारकियों के शरीर में एक साथ उदित होते हैं। **(सि.सा. दी. ३/१९)** मध्यलोक के ३ $\frac{१}{२}$हाथ की ऊँचाई वाले शरीर के रोगों का प्रमाण—३ $\frac{१}{२}$ हाथ के ८४ अंगुल होते हैं। इसके घनांगुल करने पर ८४×८४×८४ = ५९२७०४ घनांगुल।

एक घनांगुल में ९६ रोग होते हैं तब ५९२७०४ घनांगुल में कितने होंगे ? ऐसा त्रैराशिक करने पर ५९२७०४×९६ = ५,६८,९९,५८४ हुए यह सातवें नरक के रोगों का प्रमाण है, नीचे के नरकों में इससे आधे-आधे रोग हैं।

अर्थात् प्रथमादि नरकों में क्रमशः ८८९०५६, १७७८११२,३५५६२२४,७११२४४८, १४२२४८९६, २८४४९७९२, ५६८९९५८४ = ११२९१०११२ प्रमाण है। **(सि.सा.दी. ३/१९ टिप्पण)**

२६. प्रश्न : नारकियों की विक्रिया अशुभतर क्यों है ?

उत्तर : नारकियों की विक्रिया अशुभतर है। नारकी जीव विचारते हैं कि शुभ करेंगे परंतु अशुभतर ही करते हैं। दुःख से अभिभूत मनवाले नारकियों के दुःख को दूर करने की इच्छा होते हुए भी गुरुतर दुःख के कारणों को ही उत्पन्न करते हैं। अतः नीचे-नीचे नारकियों के अशुभतर भाव जानने चाहिए। **(रा.वा. ४)** नारकी 'शुभ विक्रिया करेंगे' ऐसा विचार करते हैं परंतु उत्तरोत्तर अशुभ विक्रिया को ही करते हैं ''सुखकर हेतुओं को उत्पन्न करेंगे'' ऐसा विचार करते हैं परन्तु दुःखकर हेतुओं को ही उत्पन्न करते हैं। **(सर्वा. ३७१)**

२७. प्रश्न : नारकी जीव कैसी-कैसी विक्रिया करते हैं ?

उत्तर : नारकी जीव चक्र, बाण, शूली, तोमर, मुद्गर, करोत, भाला, सुई, मूसल और तलवार आदि शस्त्र, अस्त्र, वन एवं पर्वत की आग तथा भेड़िया, व्याघ्र, तरक्ष (श्वापद), शृगाल, कुत्ता, बिलाव, सिंह इन पशुओं के अनुरूप परस्पर में सदैव अपने-अपने शरीर की विक्रिया करते हैं। वे गहरा बिल, धुआँ वायु अत्यंत तपा हुआ खप्पर यन्त्र, चूल्हा, कण्डनी (कूटने का यंत्र) चक्की और दर्वी इनके आकार रूप अपने-अपने शरीर की विक्रिया करते हैं। उपर्युक्त नारकी शूकर, दावानल तथा शोणित और कीड़ों से युक्त सरित्, द्रह, कूप और वापिका आदि रूप पृथक्-पृथक् रूप से रहित अपने-अपने शरीर की विक्रिया करते हैं। **(ति.प. २/३१९-२२)**

नोट : विक्रिया का लक्षण देखें **(२/४७)**

नारकियों के और भी दुःख कहते हैं

परस्परोदीरितदुःखाः ॥४॥

परस्पर-उदीरित-दुःखाः।

वे नारकी (परस्पर) आपस में (उदीरित) उत्पन्न किए गए (दुःखाः) दुःख वाले होते हैं।

अर्थ - वे नारकी आपस में दुःख उत्पन्न करने वाले होते हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : इन नारकियों को शीत-उष्ण जन्य ही दुःख है कि और भी दुःख हैं ? ऐसा पूछने पर यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा.उ.४)** जिन कारणों से दुःख उत्पन्न होता है वे क्या इतने ही हैं या और भी हैं ? इस बात का ज्ञान कराने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(सर्वा. ३७४)**

२. प्रश्न : नारकी परस्पर किस प्रकार दु:ख देते हैं ?

उत्तर : निर्दय होने से कुत्ते के समान एक दूसरे को देखकर नारकियों के क्रोध की उत्पत्ति हो जाती है। जैसे कुत्ते शाश्वतिक (शाश्वत रूप से) अकारण, अनादिकाल से होने वाले जातिकृत वैर के कारण निर्दय होकर परस्पर भौंकना, छेदना-भेदना आदि उदीरित दु:ख वाले होते हैं ; उसी प्रकार नारकी भी मिथ्यादर्शन के उदय से विभंग नाम को प्राप्त भवप्रत्यय अवधिज्ञान के द्वारा दूर से ही दु:ख के हेतुओं को जानकर उत्पन्न दु:ख की प्रत्यासत्ति (समीपता, आशंका) से एक-दूसरे को देखने से प्रज्वलित हुई है क्रोध अग्नि जिनकी, ऐसे वे अपने शरीर की विक्रिया से तलवार, वासी, परशु, भिण्डिवाल आदि शस्त्र बनाकर परस्पर देह का घात, छेदन, भेदन, पीड़न आदि के द्वारा उदीरित दु:ख वाले होते हैं। **(रा.वा.१)** जैसे व्याघ्र मृगशावक को देखकर उस पर झपटता है, वैसे ही क्रूर पुराने नारकी नये नारकी को देखकर धमकाते हुए उसकी ओर दौड़ते हैं। जिस प्रकार कुत्तों के झुण्ड एक दूसरे को दारुण दु:ख देते हैं उसी प्रकार वे नारकी भी नित्य ही परस्पर में एक-दूसरे को असह्य रूप से पीड़ित किया करते हैं। **(ति.प. २/३१७-१८)**

३. प्रश्न : नारकी परस्पर दु:ख क्यों देते हैं ?

उत्तर : (१) नारकियों में निर्दयता होने से कुत्ते के समान एक नारकी के दूसरे नारकी को देखने से क्रोध की उत्पत्ति हो जाती है। (२) रौद्रध्यान से नरक में उत्पन्न होने के कारण तथा अंतरंग कारण स्वयं के उपार्जित क्रोधादि कर्मों के उदय से युक्त क्रोधी नारकियों में परस्पर दु:ख उभार (उदीरितकर) दिया जाता है। जैसे - उत्साह सहित ललकारने पर कुपित मेढ़ा, मुर्गी, दुष्टजन आदि के द्वारा परस्पर दु:ख उदीरित कर दिया जाता है। **(श्लो. ५/३०७)**

४. प्रश्न : किन-किन कार्यों का नरक में क्या फल मिलता है ?

उत्तर : नेत्र फोड़ने एवं अंगोपांग छेदने का फल - पूर्व जन्म में अन्य जीवों के नेत्र फोड़ देने से एवं अंगोपांग का छेदन-भेदन आदि कर देने से जो पाप एवं अशुभ कर्म का संचय हुआ है उसी के कारण नारकी (आपस में) नेत्र उखाड़ लेते हैं और अंगोपांग काट लेते हैं। **बुरे विचार का फल** - अन्य जीवों के प्रति बुरे चिन्तन आदि से चित्त में जो विकार उत्पन्न होता है, उस पापोदय के फलस्वरूप कोई नारकी क्रोधित होते हुए बलपूर्वक पेट विदीर्ण कर देते हैं और कोई यन्त्रादिकों में पीस देते हैं। **(सि.सा.दी. ३/६१-६२)**

५. प्रश्न : सप्त व्यसन सेवन से नरकों में क्या फल मिलता है ?

उत्तर : (१) मद्यपान का फल - मद्य आदि अनेक प्रकार के अपेय पदार्थों को पीने से जो पाप संचय हुआ था उससे ये नारकी जीव सण्डासी से मुख फाड़कर बलपूर्वक उसमें जलता (उबलता) हुआ ताम्ररस डाल देते हैं। **(सि.सा.दी. ३/६३)**

(२) मांसभक्षण का फल - मांसभक्षी को नरक में उनके मांस को अन्य नारकी शूल (मांस पकाने का काँटा) से पकाकर खाते हैं। **(सि.सा.दी. ३/६९)** जो पूर्वभव में मांसभक्षण के प्रेमी थे, उनके शरीर के मांस को काटकर अन्य नारकी रक्त से भीगे हुए उन्हीं मांसखण्डों को उन्हीं के मुखों में डालते हैं। **(ति.प. २/३४२)**

(३) परस्त्रीसेवन (वेश्यागमन) का फल - परस्त्रीसेवन से उत्पन्न पाप के फलस्वरूप वे नारकी जीव बलपूर्वक तप्त लोहे की स्त्री से गले में दृढ़ आलिङ्गन कराते हैं। **(सि.सा.दी. ३/७०)**

(४) पूर्व भव में परस्त्री के साथ मृदु शय्या पर सोने से जो पापबंध किया था उससे अन्य नारकी उन्हें लोहे के तीक्ष्ण काँटों पर सुलाते हैं। **(सि.सा.दी. ३/८४)**

परस्त्री में आसक्त रहने वाले जीवों के शरीरों में अतिशय तपी हुई लोहमय युवती की मूर्ति को दृढ़ता से लगाते हैं और उन्हें जलती हुई आग में फेंक देते हैं। **(ति.प. २/३४१)**

(५) सप्त व्यसन सेवन का फल - सप्त व्यसन के सेवन से उत्पन्न पाप के उदय से नरक में उन नारकी जीवों के कोई नारकी भयङ्कर दु:ख देने के लिए तीक्ष्ण शूल के अग्रभाग पर चढ़ा देते हैं और कोई दुष्ट आक्रंदन करते हुए उन जीवों के संपूर्ण शरीर को जबरन सांकल द्वारा खम्भे से बाँधकर करोत से चीरते हैं । **(सि.सा. दी. ३/८५-८६)**

६. प्रश्न : जीवों के छेदन-भेदन आदि पापों का नरकों में क्या फल मिलता है ?

उत्तर : जीवों के छेदन-भेदन का फल - छेदन-भेदन (फेक्ट-ी आदि खोलने तथा बींधा एवं बिना शोधन किया अनाज आदि पीसना) करने के फलस्वरूप नारकी जीवों के शरीरों के कैंची द्वारा छोटे-छोटे टुकड़े करके यंत्रों में पेलते हैं और पत्थर की चक्कियों द्वारा उन्हें पीसते हैं। हाण्डियों में पकाते हैं। हड्डियों का चूर्ण कर देते हैं, परस्पर मारते हैं, ताम्रमय गृद्धपक्षी और लोहे के मुख वाले कौए अपनी तीक्ष्ण चोंच एवं नखों से उन नारकियों के मर्मस्थानों का छेदन करते हैं।

बिना छने एवं अधिक जल से स्नान का फल - नित्य ही अगालित (बिना छना) एवं अप्रमाण जल से स्नान करने के कारण जो पाप उत्पन्न हुए थे उन्हीं के फलस्वरूप कोई जीव वैतरणी नदी की कल्लोल मालाओं के बीच आकुली भाव को प्राप्त होते हैं, कोई अन्य नारकियों द्वारा उसमें डुबोये जाते हैं। **(सि.सा. दी. ३/६५-७५)**

मद का फल - पूर्व जन्म में नाना प्रकार बढ़ते हुए मद समूह से संचित पाप के फलस्वरूप उन नारकी जीवों को अन्य नारकी तप्तायमान लोहे के आसनों पर बैठाते हैं।

बैर-विरोध रखने का फल - कोई-कोई नारकी पूर्व भव के बैर का स्मरण करके और बार-बार भर्त्सना युक्त खोटे वाक्यों द्वारा उस बैर भाव को कहकर क्रोधित होते हुए रणाङ्गण में स्थित होकर अपने शरीर की अपृथक् विक्रिया से उत्पन्न हुए नाना प्रकार के तीक्ष्ण शस्त्र समूह के द्वारा उनके संपूर्ण शरीर को छेद देते हैं तथा क्रोधित होते हुए परस्पर एक दूसरे को मारते हैं। **(सि.सा. दी. ३/८३-८८)**

झूठ बोलने का फल - शत्रुभाव को प्राप्त नारकी दूसरे नारकी (पूर्व भव में झूठ बोलने वाले नारकी) की जीभ ही उखाड़ लेते हैं और अत्यधिक दाहक गर्म ताँबे को उन्हें पिलाते हैं। (दूसरे) नारकी उन्हें नोचते हैं, शस्त्रों से बार-बार कोचते हैं। हथियारों से दाँत उखाड़ डालते हैं। ओठों को किसी यंत्र से काट लेते हैं, उनके मुखों में बलपूर्वक भयंकर साँपों को ठूस देते हैं जिनकी फुंकार से प्राण निकलते हैं। **(व.चा. ५/५२-५४)**

नारकियों के और भी दुःख कहते हैं

संक्लिष्टासुरोदीरितदुःखाश्च प्राक् चतुर्थ्याः ॥५॥

संक्लिष्ट-असुर-उदीरित-दुःखाः च-प्राक्-चतुर्थ्याः।

(प्राक् चतुर्थ्याः) चौथी पृथ्वी के पहले तक (संक्लिष्टासुरोदीरितदुःखाश्च) संक्लिष्ट परिणाम वाले असुरों के द्वारा उत्पन्न किये गये दुःख वाले हैं।

अर्थ - चौथी पृथ्वी के पहले तक (तीसरी पृथ्वी तक) संक्लिष्ट[१] परिणाम वाले असुरकुमार भी नारकियों को दुःख उत्पन्न करते हैं।

१. प्रश्न : संक्लिष्ट असुर कौन हैं ?

उत्तर : असुरत्व संवर्तन देवगति नामकर्म के विकल्प कर्म के उदय से दूसरों को दुःख देते हैं वे असुर हैं। **(रा.वा.२)** देवगति नामकर्म के भेदों में एक असुर नाम कर्म है जिसके उदय से ''परान् अस्यन्ति'' जो दूसरों को फेंकते हैं उन्हें असुर कहते हैं। **(सर्वा. ३७५)**

पूर्व भव में भावित अतितीव्र संक्लेश परिणामों से उपार्जित जो पाप कर्म हैं उनके उदय से वे निरंतर क्लिष्ट रहते हैं इसलिए (असुर) संक्लिष्ट कहलाते हैं। **(रा.वा. १)**

२. प्रश्न : सूत्र में संक्लिष्ट पद क्यों दिया है ?

उत्तर : सूत्र में संक्लिष्ट विशेषण अन्य असुर जाति के देवों की निवृत्ति के लिए है। सभी असुर जाति के देव नारकियों को दुःख नहीं देते हैं अपितु कुछ असुर जाति के देव ही नारकियों को परस्पर भिड़ाते हैं उसको दर्शाने के लिए 'संक्लिष्ट' विशेषण है। **(रा.वा. ३)**

३. प्रश्न : कौन-कौन से असुर नारकियों को दुःख देते हैं ?

उत्तर : सिकतानन, असिपत्र, महाबल, महाकाल, श्याम, सबल, रुद्र, अम्बरीष, बिलसित, महारुद्र, महाखर, काल, अग्निरुद्र, कुम्भ और वैतरणी आदिक असुरकुमार जाति के देव तीसरी बालुका पृथ्वी तक जाकर नारकी जीवों को कुपित करते हैं। **(ति.प. २/३५१-५२)**

४. प्रश्न : ये असुरकुमार नारकियों को क्या दुःख देते हैं ?

उत्तर : युद्ध आदि से हतोत्साहित होकर खड़े हुए किन्हीं दीन नारकियों को दुष्ट अभिप्राय वाले

१. तीव्र कषायरूप परिणामों को संक्लेश कहते हैं।

असुरकुमार देव आकर पूर्व भव को याद दिलाते हुए उसी पूर्व बैर के कारण आपस में एक-दूसरे नारकियों को युद्ध में लड़ाते हैं और स्वयं सुख की प्राप्ति के लिए महाहिंसानंदी रौद्रध्यान करते हैं। अन्य कोई अग्निकणिकामय जलती हुई शय्या पर उन्हें सुला देते हैं तथा शुष्क हो गया है शरीर जिनका ऐसे कोई नारकी मृत्यु द्वारा सुख प्राप्ति की इच्छा से स्वयं उस पर सो जाते हैं। **(सि.सा.दी. ३/८९-९१)** इस क्षेत्र में जैसे मनुष्य, मैंढे और भैंसे आदि के युद्ध को देखते हैं, उसी प्रकार नरक में असुरकुमार जाति के देव नारकियों के युद्ध को देखते हैं और मन में संतुष्ट होते हैं। **(ति.प. २/३५३)**

५. प्रश्न : ये असुरकुमार ऐसा क्यों करते हैं ?

उत्तर : पापकर्म में रत होने से वे यह काम करते हैं। जो मनुष्य राग द्वेष और मोह से तिरस्कृत हैं और जिनका पुण्य अशुभ पाप कर्म का उत्पादक है, उन निर्दय मनुष्यों को जैसे बैल, भैंसे, बकरे, शूकर मुर्गे, बटेर, लाई आदि पक्षियों को व मल्लों को परस्पर युद्ध करते और एक-दूसरे को बड़ी क्रूरता से मारते देखकर अत्यन्त आनंद आता है उसी प्रकार उन दुष्ट असुर-कुमार देवों को भी नारकियों को दु:ख देने और परस्पर लड़ाने से आनंद होता है। यद्यपि उनके देवगति नामकर्म के उदय से देवत्व है तथापि उनके माया, निदान, मिथ्यादर्शन तीन तीव्र शल्य हैं एवं कषायों से उपहत जिसने अपने भाव दोषों की आलोचना नहीं की है- सो कषायों से युक्त हैं। उन्होंने पापानुबंधी पुण्य का बंध किया है, सावद्य दोषसहित तपश्चरण किया है, उसके फलस्वरूप देव होकर प्रीति के अनेक कारण होने पर भी उन्हें अशुभ और संक्लेश कारक प्रवृत्तियों में ही आनंद आता है। **(रा.वा. ८)**

६. प्रश्न : सूत्र में 'प्राक् चतुर्थ्या:' विशेषण किसलिए दिया है ?

उत्तर : नारकियों को परस्पर दु:ख देने के कारणभूत उन संक्लिष्ट परिणामी असुरकुमारों का गमन तीसरे नरक तक ही है। उससे नीचे के नरकों में जाने की शक्ति उनमें नहीं है। इस बात को बताने के लिए 'प्राक् चतुर्थ्या:' यह विशेषण दिया है। **(रा.वा.४)**

७. प्रश्न : सूत्र में 'प्राक् चतुर्थ्या:' के स्थान पर 'आचतुर्भ्य:' यह लघु सूत्र क्यों नहीं किया?

उत्तर : यद्यपि 'आ' शब्द भी मर्यादावाची है, फिर भी संशय का निराकरण करने के लिए 'प्राक् चतुर्थ्या:' कहा है, 'आचतुर्भ्य:' नहीं। क्योंकि 'आङ्' का अर्थ मर्यादा और अभिविधि दोनों ही होता है। अत: संशय हो सकता है कि चौथी पृथ्वी तक असुरकुमार दु:ख देते हैं या चौथी के पहले तीसरी तक ही दु:ख देते हैं। अत: स्पष्ट और असंदिग्ध अर्थबोध के लिए 'प्राक्' वचन का ग्रहण ही उपयुक्त है। **(रा.वा. ५)**

८. प्रश्न : सूत्र में 'च' शब्द का ग्रहण किसलिए किया है ?

उत्तर : सूत्र में 'च' शब्द पूर्वोक्त दु:ख हेतु के समुच्चय के लिए है, तीनों पृथिवियों में संक्लिष्ट

असुरोदीरित दु:ख, परस्परोदीरित दु:ख और भूमिजन्य शीतोष्ण दु:ख भी होता है। इन सबका ज्ञान कराने के लिए 'च' शब्द का ग्रहण किया है। यदि 'च' शब्द का ग्रहण नहीं करते तो तीन भूमियों में पूर्वोक्त हेतुओं के अभाव का प्रसंग आ जाता। **(रा.वा. ६)**

९. प्रश्न : नरकों में कितने प्रकार के दु:ख पाये जाते हैं ?

उत्तर : नरकों में चार प्रकार के दु:ख हैं (१) क्षेत्र जनित (२) शारीरिक दु:ख (३) मानसिक दु:ख (४) असुरकृत दु:ख **(त्रि.सा. १९७)**।

नरकों में पाँच प्रकार के दु:ख हैं- (१) शारीरिक दु:ख (२) मानसिक दु:ख (३) क्षेत्रजन्य (४) परस्पर – एक दूसरे के द्वारा उत्पन्न (५) असुरकुमार कृत। **(सि.सा.दी. ३/९२)** नरकों में क्षण-क्षण में उत्पन्न होने वाले तीव्र असाता के तीव्र अनुभाग से युक्त, कवियों के वचन अगोचर, उपमारहित महान् दु:खों को नारकी नित्य भोगते हैं। **(सि.सा. दी. ३/९३)** क्षेत्रजनित दु:ख, उष्णता के दु:ख, शारीरिक दु:ख, मानसिक दु:ख, वाचिक दु:ख, पारस्परिक दु:ख, विक्रिया से उत्पन्न दु:ख, वैर और कुज्ञान से उत्पन्न दु:ख, असुरकृत दु:ख, आर्त्त-रौद्र और अशुभ लेश्या से उत्पन्न दु:ख, सिंह-व्याघ्र आदि कृत दु:ख शोक से उत्पन्न दु:ख आदि अनेक प्रकार के दु:ख नरकों में पाये जाते हैं। **(शा. पु. ७/१४४-४७)** नरकों में मानसिक, वाचनिक एवं कायिक तीनों प्रकार की भी पीड़ाएँ अंतरंग-बहिरंग अंगों में दाह उत्पन्न करती है। **(सि.सा.दी. ३/१०९)**

१०. प्रश्न : नरकों में क्षेत्रजनित दु:ख कौन-कौन से हैं ?

उत्तर : हजार बिच्छू काटने पर जो दु:ख होवे उससे अधिक दु:ख उस (नरक) भूमि के स्पर्श से होता है। **(त्रि.सा. १९१)** वहाँ की भूमि अतिगर्म लोह के समान जल से भरे कुम्भ, अतिगर्म जल-से भरे कड़ाह, अतिगर्म भूमिका स्पर्श और सुई (की नोक) के समान दूब से युक्त है। **(त्रि.सा. १९०)** असिपत्र वन में विविध प्रकार के वृक्ष, गुच्छे, पत्र और फलों के समूह पवन से ताड़ित होकर उन नारकियों के ऊपर दुष्प्रेक्ष्य वज्रदण्ड के समान गिरते हैं। उस वन से चक्र, बाण कनक (शलाकाकार ज्योति:पिण्ड) तोमर, मुद्गर, तलवार, भाला, मूसल तथा अन्य और भी अस्त्र-शस्त्र उन नारकियों के सिरों पर गिरते हैं। जिससे वे छिन्न सिर वाले, खण्डित हाथवाले, व्यथित नेत्र वाले, लटकती हुई आँतों के समूह वाले और खून से लाल तथा भयानक वे नारकी अशरण होते हुए उस वन को भी छोड़ देते हैं। गृद्ध, गरुड़, काक तथा और भी वज्रमय मुख वाले पक्षी नारकियों के शरीर के टुकड़े-टुकड़े करके खा जाते हैं। **(ति.प. २/३३५-३८)** जो जड़ भाग से मस्तक पर्यंत तीक्ष्ण काँटों से युक्त है, ऐसे शाल्मलि नाम के वृक्षसमूहों से वे नरकभूमियाँ व्याप्त हैं। जिसका स्पर्श संपूर्ण शरीर को भयङ्कर दु:ख का कारण है, जो असुहानी है और जिसमें खिरने वाले अग्निकणों के सदृश रज का मिश्रण है ऐसी वायु वहाँ नित्य बहती रहती है। नरकों में पर्वतों की भयङ्कर गुफाएँ हैं जो सदा नागों, सिंहों और व्याघ्र आदि मांसभक्षी एवं क्रूर परिणामी पशुओं से व्याप्त रहती हैं, तथा वहाँ के वनों में वज्र के समान कठोर चोंच वाले दुष्ट और

भयङ्कर पक्षी उड़ते रहते हैं जो नारकियों के शरीर का भक्षण करके उन्हें दु:ख पहुँचाते हैं। **(सि.सा.दी. ३/७-१२)**

११. प्रश्न : नरकों में कौन-कौन से शारीरिक दु:ख हैं ?

उत्तर : क्षुधा की बाधा, प्यास की बाधा, शरीर की दुर्गंध आदि शारीरिक दु:खों का वर्णन पूर्व में कर चुके हैं। इस प्रकार और भी जो अन्य द्रव्य जगत् निंद्य, अनिष्ट और दु:खकारक हैं वे सब नारकियों के शरीरों में एकत्र होते हैं, यहाँ अधिक कहने से क्या? नाना प्रकार के दु:खों की परंपरा नीचे-नीचे सातों नरकों में असंख्यातगुण-असंख्यातगुण वृद्धि को लिये हुए है। निश्चय से मैं ऐसा मानता हूँ कि केवली और जिन के द्वारा कही हुई उस महान् और उपमा रहित वेदना का वर्णन करने के लिए अन्य कोई समर्थ नहीं है। **(सि.सा.दी. ३/११५-१७)**

१२. प्रश्न : नरकों में मानसिक दु:ख कौन-कौन से हैं ?

उत्तर : ये लोहमय स्त्रियाँ वृथा ही कामाग्नि को बढ़ा रही हैं, ये क्रूर और दुष्ट असुरकुमार देव हम लोगों को जबरन लड़ा रहे हैं। ऊपर उठाये हैं थूथने (मुख का अग्रभाग) जिन्होंने और जो जलती हुई ज्वाला से युक्त आग उगल रहे हैं ऐसे ये गधे और ऊँट हमें निगलने के लिए पीछे-पीछे दौड़ रहे हैं, हाथ में है तलवार जिनके ऐसे ये निष्कारण युद्ध करने वाले निर्दय और भयङ्कर नारकी हम लोगों को ताड़ना दे रहे हैं, यह दु:सह वेदना, ये दुर्निवार नारकी और अकाल में प्राणों का नहीं छूटना, इस प्रकार ये दु:ख देने वाले संपूर्ण साधन हैं, ये पूर्व जन्म में उपार्जित पाप ही हमें खा रहे हैं। हम कहाँ जायें? कहाँ बैठें? यहाँ कोई भी हमारा रक्षक नहीं है। हम यहाँ यह दु:ख रूपी समुद्र कैसे पार करें तथा बहुत सागर जीवित रहने का यह काल कैसे पूरा करें। **(सि.सा.दी. ३/१००-८)** यहाँ (नरक) की वेदना इतनी तीव्र है कि कोई सह नहीं सकता, मार इतनी कठिन है कि कोई बर्दाश्त नहीं कर सकता (और भी अनेक दु:खों का स्मरण करते हुए) वे सोचते हैं - ऐसी अवस्था में हम लोग कहाँ जायें ? कहाँ खड़े हों ? कहाँ बैठें ? और कहाँ सोवें ? हम जहाँ-जहाँ जाते हैं वहाँ-वहाँ अधिक-ही-अधिक दु:ख पाते हैं। इस प्रकार अपार दु:ख से हम कब तिरेंगे ? इस प्रकार चिंतन करते हुए नारकियों को निरंतर मानसिक संताप होता रहता है। वही उनके प्राणों को संशय में डालता रहता है। **(म.पु. १०/८२-८५)**

१३. प्रश्न : नारकियों के असुरकुमार कृत कौन-कौन से दु:ख हैं ?

उत्तर : असुरकुमार कृत दु:खों का वर्णन पहले कर चुके हैं, फिर भी कहते हैं-

तप्तायमान लोहे को पिलाना, जलते हुए लोह स्तम्भ से चिपटा देना, लोह मुद्गरों से ताड़ना, कूट-शाल्मलि वृक्ष पर अवरोहण-अवतरण, आयुध का अभिघात, बसूला, छुरी, तलवार आदि से काटना, तप्ततैल से सींचना, लोहे के घड़े में पकाना, भाड़ में भूंजना, यंत्र द्वारा पेरना, शूली पर चढ़ाना, करोत से काट देना, अंगीठी में जलाना, सुई के अग्र भाग के समान नोकदार घास पर घसीटना, व्याघ्र, भालू, सिंह, हाथी, शृगाल, भेड़िया, कौआ, बिड़ाल, नकुल, चूहा, सर्प, काक, गीध, कंक, उलूक,

श्येन आदि पशु-पक्षियों के द्वारा खाया जाना, उष्ण बालू-रेत पर विचरण कराना, असिपत्र वन में प्रवेश कराना, वैतरणी नदी में प्रवेश (पटकना) आदि के द्वारा असुरकुमार जाति के देव नारकियों को दु:ख देते हैं। **(रा.वा. ८)**

१४. प्रश्न : नरकों में पारस्परिक दु:ख कौन-कौन से हैं ?

उत्तर : नरकों में परस्पर होने वाले दु:खों का वर्णन पूर्व में कर चुके हैं, पुराने नारकी नये नारकी को देखकर अतिकठोर शब्द करते हुए पास आकर उन्हें मारते हैं और उनके घावों पर अतिखारा जल सींचते हैं। विभङ्गज्ञान से पूर्वापर के वैर का संबंध जानकर वे नारकी भी अशुभ और अपृथक् विक्रिया द्वारा उन्हें मारते हैं और उनके द्वारा स्वयं मारे जाते हैं। **(त्रि.सा. १८३-८४)**

(१) चिल्लाते हुए कितने ही नारकी जीव हजारों यंत्रों में तिल की तरह पेल दिये जाते हैं।

(२) कई नारकी परस्पर वज्रतुल्य सांकलों द्वारा खंभों से बाँधे जाते हैं और कई अत्यन्त जाज्वल्यमान दुष्प्रेक्ष्य अग्नि में फेंके जाते हैं।

(३) कई नारकी करोत के काँटों के मुखों से फाड़े जाते हैं और इतर नारकी भयंकर और विचित्र भालों से बींधे जाते हैं।

(४) कितने ही नारकी जीव लोहे के कड़ाहों[१] में स्थित गरम तेल में फेंके जाते हैं और कितने ही जलती हुई ज्वालाओं से उत्कट अग्नि में पकाये जाते हैं। **(ति. प. २/३२४-२७)**

१५. प्रश्न : क्या नारकी शरीर के छिन्न-भिन्न होने पर भी नहीं मरते हैं ?

उत्तर : नहीं, छेदन-भेदन आदि के द्वारा शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर देने पर भी नारकियों का अकालमरण नहीं होता है। क्योंकि पूर्व (दूसरे अध्याय के ५३वें सूत्र) में ''औपपादिक..... अनपवर्त्यायुष:'' लिखा है। नारकियों के जघन्य, उत्कृष्ट और मध्यम के भेद से जितनी आयु बँधी है उसका अकाल में पाचन नहीं होता और न किसी कारणवश उस आयु की उदीरणा ही हो सकती है। **(रा.वा. ८)**

जिस प्रकार तलवार के प्रहार से भिन्न हुआ कुए का जल फिर से मिल जाता है, उसी प्रकार अनेकानेक शस्त्रों से छेदा गया नारकियों का शरीर भी फिर से मिल जाता है। **(ति.प. २/३४४)** वे नारकी आयु के पूर्ण हुए बिना हजारों बार शरीर के खंड-खंड हो जाने पर भी नहीं मरते, जैसे पारा के कण-कण भिन्न-भिन्न होने पर भी मिल जाते हैं, वैसे उनका शरीर भिन्न-भिन्न होने पर भी मिल जाता है। **(त्रि.सा. १९४)**

---

१. सौ योजन प्रमाण कड़ाह - ज.द्वी.प्र. ११/१५८

नारकियों की उत्कृष्ट स्थिति कहते हैं

तेष्वेकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशति-त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमा सत्त्वानां परा स्थितिः ।।६ ।।

तेषु-एक-त्रि-सप्त-दश-सप्तदश-द्वाविंशति-त्रयस्त्रिंशत्-सागरोपमा-सत्त्वानां-परा-स्थितिः ।

(तेषु) उन नरकों में (सत्वानां) प्राणियों की (परा) उत्कृष्ट (स्थितिः) आयु (एकत्रिसप्त दशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत् सागरोपमा) एक, तीन, सात, दश, सत्रह, बाईस और तैंतीस सागरोपम प्रमाण है।

अर्थ - उन नरकों में नारकियों की उत्कृष्ट स्थिति क्रमशः एक सागर, तीन सागर, सात सागर, दस सागर, सत्रह सागर, बाईस सागर और तैंतीस सागर प्रमाण है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : यदि नारकियों में अकालमरण नहीं है तो नारकियों की आयु कितनी है? ऐसा पूछने पर यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा.उ. ६)**

२. प्रश्न : रत्नप्रभादि भूमियों में कितनी आयु है ?

उत्तर : रत्नप्रभादि में यथाक्रम के अनुवर्तन से संबंध जोड़ना चाहिए। जैसे - रत्नप्रभा नामक प्रथम नरक में नारकियों की उत्कृष्ट आयु एक सागर, शर्कराप्रभा नामक द्वितीय नरक में तीन सागर, बालुकाप्रभा नामक तृतीय नरक में सात सागर, पंकप्रभा नामक चौथे नरक में दस सागर, धूमप्रभा नामक पंचम नरक में सत्रह सागर, तमःप्रभा नामक छठे नरक में बाईस सागर और महातमःप्रभा नामक सप्तम नरक में नारकियों की उत्कृष्ट आयु तैंतीस सागर प्रमाण है। **(रा.वा. ३)**

नोट : सागर का लक्षण देखें **(३/३८)**

३. प्रश्न : सूत्र में दिये गये 'सत्त्वानां' पद का क्या अर्थ है ?

उत्तर : सूत्र में दिये गये 'सत्त्वानां' पद से जाना जाता है कि यह स्थिति नरकों में रहने वाले प्राणियों की है, नरकों की नहीं क्योंकि नरक तो अनादिकाल से अनंतकाल तक जहाँ-के-तहाँ स्थित हैं। **(श्लो. ५/३१२)**

४. प्रश्न : नारकियों की आयु को सागरोपम की उपमा क्यों दी है ?

उत्तर : सागर की उपमा जिसके है वह सागरोपम है, द्रव्य (आयु के निषेक) बहुलता होने से सागर की उपमा दी जाती है। सागर में जिस प्रकार अपार जलराशि होती है उसी प्रकार नारकियों की आयु में निषेकों की संख्या अपार होती है अतः सागरोपम उपमा से आयु का निर्देश किया है अथवा -

समुद्र के समान आयु कर्म के साथ भी भवधारण करने वाले विशाल, पुद्गल पिण्ड का संबंध रहता है इसलिए नारकियों की आयु को सागर की उपमा दी है। **(रा.वा. १)**

नरकों के पटलों की उत्कृष्ट जघन्य आयु सागरों में

पटल संख्या	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३
प्रथम नरक	९०००० वर्ष	९० लाख वर्ष	असंख्यात वर्ष	१/१०	२/१०	३/१०	४/१०	५/१०	६/१०	७/१०	८/१०	९/१०	१
द्वितीय नरक	१ २/११ सागर	१ ४/११	१ ६/११	१ ८/११	१ १०/११	२ १/११	२ ३/११	२ ५/११	२ ७/११	२ ९/११	३		
तृतीय नरक	३ ४/९ सागर	३ ८/९	४ ३/९	४ ७/९	५ २/९	५ ६/९	६ १/९	६ ५/९	७				
चतुर्थ नरक	७ ३/७ सागर	७ ६/७	८ २/७	८ ५/७	९ १/७	९ ४/७	१०						
पंचम नरक	११ २/५ सागर	१२ ४/५	१४ १/५	१५ ३/५	१७								
षष्ठ नरक	१८ २/३ सागर	२० १/३	२२										
सप्तम नरक	३३ सागर												

५. प्रश्न : क्या प्रथम नरक के सभी नारकियों की आयु एक सागर प्रमाण है ?

उत्तर : नहीं, प्रथम नरक के अंतिम तेरहवें इन्द्रक एवं आठ श्रेणीबद्ध बिलों में रहने वाले नारकियों की उत्कृष्ट आयु एक सागर प्रमाण है। शेष दूसरे आदि इन्द्रक पटलों एवं श्रेणीबद्ध बिलों के नारकियों की उत्कृष्ट स्थिति (१) नब्बे हजार वर्ष (९०,००० वर्ष) (२) नब्बे लाख (९०,०००००) वर्ष (३) असंख्यात वर्ष (४) एक सागर का दसवाँ भाग (१/१० सागर) (५) एक सागर का बारहवाँ भाग (१/१२ सागर) (६) १/१३ सागर (७) १/१४ सागर (८) १/१५ सागर (९) १/१६ सागर (१०) १/१७ सागर (११) १/१८ सागर (१२) १/१९ सागर प्रमाण है। **(रा.वा. ७)**

६. प्रश्न : दूसरे नरक के नारकियों की उत्कृष्ट स्थिति कितनी है ?

उत्तर : दूसरे नरक के प्रथम आदि पटलों के इन्द्रक तथा आठ दिशाओं के श्रेणीबद्ध बिलों में रहने वाले नारकियों की उत्कृष्ट स्थिति क्रमश: (१) १ $\frac{२}{११}$ सागर (२) १ $\frac{४}{११}$ सागर (३) १ $\frac{६}{११}$ सागर (४) १ $\frac{८}{११}$ सागर (५) १ $\frac{१०}{११}$ सागर (६) २ $\frac{१}{११}$ सागर (७) २$\frac{३}{११}$ सागर (८) २ $\frac{५}{११}$ सागर (९) २ $\frac{७}{११}$ सागर (१०) २ $\frac{९}{११}$ सागर एवं २ $\frac{११}{११}$ अर्थात् ३ सागर प्रमाण है। **(रा.वा. ७)**

७. प्रश्न : तीसरे तथा चौथे नरक के नारकियों की उत्कृष्ट स्थिति कितनी है ?

उत्तर : तीसरे नरक के इन्द्रक एवं श्रेणीबद्ध बिलों में रहने वाले नारकियों की उत्कृष्ट स्थिति क्रमश: ३ $\frac{४}{९}$ सागर, ३$\frac{८}{९}$ सागर, ४ $\frac{३}{९}$ सागर, ४ $\frac{७}{९}$ सागर, ५ $\frac{२}{९}$ सागर, ५ $\frac{६}{९}$ सागर, ६ $\frac{१}{९}$ सागर, ६ $\frac{५}{९}$ सागर तथा ७ सागर प्रमाण है। चौथे नरक के पटलों के इन्द्रक एवं श्रेणीबद्ध बिलों में रहने वाले नारकियों की उत्कृष्ट स्थिति क्रमश: ७ $\frac{३}{७}$ सागर, ७$\frac{६}{७}$ सागर, ८ $\frac{२}{७}$ सागर, ८$\frac{५}{७}$ सागर, ९ $\frac{१}{७}$ सागर, ९ $\frac{४}{७}$ सागर एवं १० सागर प्रमाण है। **(रा.वा. ७)**

८. प्रश्न : पंचमादि नरकों के नारकियों की उत्कृष्ट स्थिति कितनी है ?

उत्तर : पंचम नरक के इन्द्रक एवं श्रेणीबद्ध बिलों में रहने वाले नारकियों की उत्कृष्ट स्थिति क्रमश: ११$\frac{२}{५}$ सागर, १२$\frac{४}{५}$ सागर, १४$\frac{१}{५}$ सागर, १५$\frac{३}{५}$ सागर एवं १७ सागर प्रमाण है।

छठे नरक के इन्द्रक एवं श्रेणीबद्ध बिलों में रहने वाले नारकियों की उत्कृष्ट स्थिति क्रमश: १८ $\frac{२}{३}$ सागर, २० $\frac{१}{३}$ सागर एवं २२ सागर प्रमाण है, तथा सप्तम नरक के इन्द्रक बिल में रहने वाले नारकियों की उत्कृष्ट स्थिति ३३ सागर प्रमाण है। **(रा.वा. ७)**

९. प्रश्न : इन नरकों में से निकले जीव किन-किन विशेषताओं को प्राप्त होते हैं ?

उत्तर : छठे नरक से निकले जीव मनुष्य या तिर्यंच में उत्पन्न होकर निम्नलिखित विशेषताओं को प्राप्त कर सकते हैं- (१) मतिज्ञान (२) श्रुतज्ञान (३) अवधिज्ञान (४) सम्यग्दर्शन (५) सम्यग्मिथ्यात्व (६) संयमासंयम। पंचम नरक से निकले जीव तिर्यञ्चों में उत्पन्न होकर उपर्युक्त छहों को प्राप्त कर सकते हैं एवं मनुष्यों में उत्पन्न होकर निम्नलिखित विशेषताओं को प्राप्त कर सकते हैं-

नरक व्यवस्था

क्र. सं.	पृथिवी	अपर नाम	मोटाई	बिल	शरीर की ऊँचाई	लेश्या	उत्कृष्ट आयु	जघन्य आयु	वेदना	प्रस्तार
१	रत्नप्रभा	घर्मा	१८०००० योजन	तीस लाख ३००००००	७ धनुष ३ हाथ ६ अंगुल	जघन्य कापोत	एक सागर	दस हजार १०००० वर्ष	उष्ण	१३
२	शर्करा प्रभा	वंशा	३२००० योजन	पच्चीस लाख २५०००००	१५ धनुष २ हाथ १२ अंगुल	मध्यम कापोत	तीन सागर	एक समय एक सागर	उष्ण	११
३	बालुका प्रभा	मेघा	२८००० योजन	पन्द्रह लाख १५०००००	३१ धनुष एक हाथ	उत्कृष्ट कापोत जघन्यनील	सात सागर	एक समय तीन सागर	उष्ण	९
४	पंक प्रभा	अंजना	२४००० योजन	दस लाख १००००००	६२ धनुष २ हाथ	मध्यम नील	दस सागर	एक समय सात सागर	उष्ण	७
५	धूम प्रभा	अरिष्टा	२०००० योजन	तीन लाख ३०००००	१२५ धनुष	उत्कृष्ट नील जघन्य कृष्ण	सत्रह सागर	एक समय दस सागर	उष्णशीत	५
६	तम:प्रभा	मघवी	१६००० योजन	पाँच कम एक लाख ९९९९५	२५० धनुष	मध्यम कृष्ण	बाईस सागर	एक समय सत्रह सागर	शीत	३
७	महातम:प्रभा	माघवी	८००० योजन	पाँच ५	५०० धनुष	उत्कृष्ट कृष्ण	तैंतीस सागर	एक समय बाईस सागर	शीत	१

(१) मतिज्ञान (२) श्रुतज्ञान (३) अवधिज्ञान (४) सम्यग्दर्शन (५) सम्यग्मिथ्यात्व (६) संयमासंयम (७) सकलसंयम (८) मन:पर्ययज्ञान। चौथे नरक से निकले जीव तिर्यञ्चों में उत्पन्न होकर मतिज्ञानादि छहों को उत्पन्न कर सकते हैं और मनुष्यों में उत्पन्न होकर निम्नलिखित को प्राप्त कर सकते हैं – (१) मतिज्ञान (२) श्रुतज्ञान (३) अवधिज्ञान (४) सम्यग्दर्शन (५) सम्यग्मिथ्यात्व (६) संयमासंयम (७) सकलसंयम (८) मन: पर्ययज्ञान (९) केवलज्ञान उत्पन्न कर सिद्ध होते हैं।

प्रथमादि तीन नरकों से निकले जीव तिर्यंचों में उत्पन्न होकर मतिज्ञानादि छहों को प्राप्त कर सकते हैं एवं मनुष्यों में उत्पन्न होकर निम्नलिखित को प्राप्त कर सकते हैं –

(१) मतिज्ञान (२) श्रुतज्ञान (३) अवधिज्ञान (४) सम्यग्दर्शन (५) सम्यग्मिथ्यात्व (६) देशसंयम (७) सकल संयम (८) मन:पर्यय ज्ञान (९) केवलज्ञान प्राप्त कर (१०) तीर्थंकर पद को प्राप्त कर सकते हैं।

नोट : (१) सातवें नरक का निकला जीव उपर्युक्त किसी विशेषता को प्राप्त नहीं करता है। (२) नरक से निकले हुए जीव गर्भज, कर्मभूमिज, संज्ञी एवं पर्याप्तक मनुष्यों और तिर्यंचों में ही जन्म लेते हैं, परंतु सातवीं पृथिवी से निकला हुआ जीव तिर्यंच ही होता है। **(ति.प. २/२९०)** (३) सातवीं पृथिवी से निकले जीवों में से विरले ही सम्यक्त्व के धारक होते हैं। **(ति.प. २/२९३)** (४) सातवीं पृथ्वी से निकले जीव मनुष्य नहीं होते हैं। वे तिर्यंचों में उत्पन्न होकर फिर से नरक जाते हैं। **(त.सा. २/१४८)**

१०. प्रश्न : नरक से निकलकर जीव किन-किन विशेषताओं को प्राप्त नहीं करते ?

उत्तर : नरक से निकले हुए जीव चक्रवर्ती, बलदेव, नारायण और प्रतिनारायण नहीं होते। ये उपर्युक्त पदवीधारी जीव तो स्वर्ग से च्युत होकर ही आते हैं।

चतुर्थ नरक से निकला हुआ जीव तीर्थंकर नहीं होता। तीसरे नरक तक के निकले जीव तीर्थंकर हो सकते हैं। पञ्चम नरक से निकले हुए जीव चरम शरीरी नहीं होते। छठी पृथ्वी से निकले हुए सकल संयमी नहीं होते और सप्तम पृथ्वी से निकले हुए नारकी जीव सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि नहीं होते। **(सि.सा.दी. २/१०७-१०९)**

११. प्रश्न : प्रथमादि नरकों में कौन जा सकता है ?

उत्तर : पहली पृथ्वी के अन्त पर्यन्त असंज्ञी तथा पहली और दूसरी पृथ्वी में सरीसृप जाता है, पहली से तीसरी पृथ्वी पर्यंत पक्षी, चौथी पृथ्वी तक भुजंगादि, पाँचवीं पृथ्वी पर्यंत सिंह, छठी पृथ्वी तक स्त्री और सातवीं भूमि तक मत्स्य एवं मनुष्य ही जाते हैं। **(ति. प. २/२८५-८६)**

१२. प्रश्न : क्या सभी जीव मिथ्यात्व सहित ही नरक में जाते हैं एवं मिथ्यात्व सहित ही निकलते हैं ?

उत्तर : नहीं, प्रथम नरक में उत्पन्न होने वाले मिथ्यादृष्टि नारकी कोई मिथ्यात्व सहित, कोई सासादन सहित और कोई सम्यग्दर्शन सहित नरक से निकलते हैं।

प्रथम पृथ्वी में उत्पन्न होने वाले क्षायिक सम्यग्दृष्टि सम्यग्दर्शन सहित जाते हैं और सम्यग्दर्शन सहित ही निकलते हैं। द्वितीयादि पाँच नरकों में मिथ्यात्व सहित उत्पन्न होते हैं, परंतु कोई मिथ्यात्व सहित, कोई सासादन सहित और कोई सम्यक्त्व सहित निकलते हैं।

सप्तम पृथ्वी में जीव मिथ्यात्व सहित ही प्रविष्ट होते हैं और मिथ्यात्व के साथ ही निकलते हैं। **(रा.वा. ७)**

१३. प्रश्न : नरकों में नारकियों की उत्पत्ति निरंतर होती है या अंतर से ?

उत्तर : नरकों में नारकियों की उत्पत्ति अंतर से होती है। संपूर्ण नरकों में नारकियों की उत्पत्ति का जघन्य अंतर एक समय है तथा उत्कृष्ट अंतर पहली पृथ्वी में चौबीस (२४) मुहूर्त्त, दूसरी पृथ्वी में सात दिन-रात, तीसरी पृथ्वी में एक पक्ष (१५ दिन), चौथी पृथ्वी में एक माह (३० दिन), पाँचवीं पृथ्वी में दो माह (६० दिन), छठी पृथ्वी में चार माह तथा सातवीं पृथ्वी में छह माह प्रमाण है। अर्थात् अधिक से अधिक इतने काल तक प्रथमादि नरकों में नारकियों के उत्पन्न होने में अंतराल पड़ सकता है। **(रा.वा. ७)**

१४. प्रश्न : कौन जीव नरक में कितनी बार जा सकता है ?

उत्तर : असंज्ञी जीव प्रथम नरक में निरंतर आठ बार, सरीसृप दूसरे नरक में सात बार, पक्षी तीसरे नरक में छह बार, सर्प चौथे नरक में पाँच बार, सिंह पाँचवें नरक में चार बार, स्त्री छठे नरक में तीन बार एवं मत्स्य और पुरुष सातवें नरक में दो बार जन्म ले सकते हैं। **(त्रि.सा. २०५)**

१५. प्रश्न : नरक से निकल कर असंज्ञी नहीं बन सकता अत: वह आठ बार निरंतर नरक में कैसे जा सकता है ?

उत्तर : कोई असंज्ञी जीव मरकर प्रथम नरक गया। वहाँ से निकलकर उसने संज्ञी पर्याय प्राप्त की, पुन: मरकर असंज्ञी हुआ। तथा मरकर पुन: प्रथम नरक गया। यह एक बार हुआ।

पुन: वहाँ से निकलकर संज्ञी होकर मरा और असंज्ञी पर्याय प्राप्त कर मरण किया। तथा पुन: नरक चला गया, यह दूसरी बार हुआ। इस प्रकार अधिक से अधिक आठ बार उत्पन्न हो सकता है। नरक से निकला हुआ जीव असंज्ञी नहीं होता इसलिए उसे बीच में संज्ञी पर्याय प्राप्त करनी पड़ी। इसी कारण यहाँ बीच में एक पर्याय का अंतर होते हुए भी निरंतर कहा है। **(त्रि.सा. २०५)**

१६. प्रश्न : सप्तम नरक से निकला जीव सम्मूर्च्छन भी नहीं बनता और मनुष्य भी नहीं, अत: निरंतर दो बार सातवें नरक में कैसे जा सकता है ?

उत्तर : इसी प्रकार मत्स्य सप्तम नरक जाकर वहाँ से निकलकर पहले गर्भज होगा फिर मत्स्य हो मरण कर सप्तम नरक जायेगा क्योंकि नरक से निकला जीव सम्मूर्च्छन नहीं होता है। इसी प्रकार मनुष्य मरकर सप्तम नरक गया, मरकर गर्भज तिर्यंच हुआ, फिर मनुष्य होकर मरकर पुन: सप्तम नरक

जायेगा। क्योंकि सप्तम नरक का जीव मनुष्य नहीं होता। इसी कारण दोनों जीवों के बीच में एक पर्याय का अंतर होते हुए भी निरंतर कहा है। **(त्रि.सा. २०५)**

द्वीप-समुद्र -

जम्बूद्वीपलवणोदादयः शुभनामानो द्वीपसमुद्राः ॥७॥

जम्बूद्वीप-लवण-उद्-आदयः- शुभ-नामानः- द्वीप-समुद्राः ।

(जम्बूद्वीपलवणोदादयः) जम्बूद्वीप और लवण समुद्र को आदि करके (शुभनामानः) शुभनाम वाले (द्वीपसमुद्राः) द्वीप और समुद्र हैं।

अर्थ - तिर्यग् लोक में जम्बूद्वीप और लवणसमुद्र को आदि करके शुभ नाम वाले (असंख्यात) द्वीप-समुद्र हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : यदि असंख्यात द्वीप-समुद्र की अपेक्षा तिर्यग्लोक है तो उसके कुछ नामों का उल्लेख करना चाहिए, ऐसा पूछने पर आचार्य महाराज ने यह सूत्र कहा है। **(रा.वा.उ. ७)**

२. प्रश्न : मध्यलोक की 'तिर्यग्लोक' यह संज्ञा क्यों है ?

उत्तर : इस (मध्य) लोक के मध्य में जम्बूद्वीप से लेकर स्वयंभूरमण समुद्र पर्यंत तिर्यक्प्रचय विशेषण से अवस्थित असंख्यात द्वीप-समुद्र अवस्थित हैं इसलिए इसको तिर्यग्लोक कहते हैं। **(रा.वा. उ.७)**

३. प्रश्न : मध्यलोक का विस्तार कितना है ?

उत्तर : लोक में मेरु के तलभाग से उसकी चोटी पर्यंत एक लाख (१,००,०००) योजन ऊँचा व एक राजू प्रमाण विस्तार युक्त मध्यलोक है। इतना ही तिर्यक् लोक है। **(ति.प. ५/६)**

४. प्रश्न : राजू किसे कहते हैं ?

उत्तर : द्वीप-सागरों की एक दिशा के विस्तार को दुगुना करने पर रज्जू का प्रमाण निकलता है। यह रज्जू दोनों दिशाओं में तनुवातवलय के अन्त भाग को स्पर्श करती है। विद्वान् लोग इसके द्वारा तीनों लोकों का प्रमाण निकालते हैं। **(हरि. पु. ७/५२)**

५. प्रश्न : मध्य लोक में कितने द्वीप-समुद्र हैं ?

उत्तर : अढ़ाई ($२\frac{१}{२}$ उद्धार) सागरोपम में जितने समय होते हैं उतने असंख्यात प्रमाण द्वीप-समुद्र मध्यलोक में हैं। **(रा.वा.२)** पच्चीस कोड़ाकोड़ी उद्धार पल्यों में जितने रोम हैं उतने प्रमाण द्वीप-समुद्रों की संख्या है। **(हरि.पु. ७/५१)** चौंसठ कम अढ़ाई उद्धार सागरों के रोम प्रमाण अवशिष्ट शुभ समुद्र हैं। इनमें बहुतों का एक ही नाम है। **(ति.प. ५/२७)**

नोट : चौंसठ द्वीप-समुद्रों के नाम देखें **(३/७)**

जगच्छ्रेणी के अर्धच्छेद $\left(\frac{\text{प.छे.}}{\text{असं.}} \times \text{साधिक प.छे.}^{२} \times ३\right)$

जगच्छ्रेणी के इन अर्धच्छेदों में से ३ अर्धच्छेद घटा देने पर राजू के अर्धच्छेद प्राप्त होते हैं। यथा-

राजू के अर्धच्छेद = $\left[\left(\frac{\text{प.छे.}}{\text{असं.}} \times \text{साधिक प.छे.}^{२} \times ३\right) - ३\right]$

राजू के इन अर्धच्छेदों में से जम्बूद्वीप के साधिक प.छे.^{२} कम कर देने पर

$$\left[\left(\frac{\text{प.छे.}}{\text{असं.}} \times \text{प.छे.}^{२} \times ३ - ३\right)^{\text{छे.}^{२}} - \text{साधिक प.छे.}^{२}\right]$$

जो अवशेष रहे उतने प्रमाण ही द्वीप-समुद्र हैं। **(त्रि.सा. ३५९ एवं टी.)**

६. प्रश्न : मध्यलोक में किन-किन नाम वाले द्वीप-समुद्र हैं ?

उत्तर : मध्यलोक में द्वीप और समुद्र शुभ नाम वाले हैं। जो लोक में शुभ नाम हैं वे ही द्वीप-समुद्रों के नाम हैं, जैसे - जम्बूद्वीप, लवण-समुद्र, धातकी खण्ड द्वीप, कालोदधि समुद्र, पुष्करवर द्वीप, पुष्करवर समुद्र, वारुणीवर द्वीप, वारुणीवर समुद्र, क्षीरवर द्वीप, क्षीरवर-समुद्र, घृतवर द्वीप, घृतवर समुद्र, इक्षुवर द्वीप, इक्षुवर समुद्र, नंदीश्वर द्वीप, नंदीश्वर समुद्र, अरुणवर द्वीप, अरुणवर समुद्र, अरुणभासवर द्वीप, अरुणभासवर समुद्र, कुण्डलवर द्वीप, कुण्डलवर समुद्र, शंखवरद्वीप, शंखवर समुद्र, रुचकवर द्वीप, रुचकवर समुद्र, भुजगवर द्वीप, भुजगवर समुद्र, कुशवर द्वीप, कुशवर समुद्र, क्रौंचवर द्वीप, क्रौंचवर समुद्रः इन सोलहद्वीप-समुद्रों के आगे असंख्यात द्वीप-समुद्रों का उल्लंघन कर मनःशिल द्वीप, मनःशिल समुद्र, हरिताल द्वीप, हरिताल समुद्र, सिन्दूर द्वीप, सिन्दूर समुद्र, श्यामक द्वीप, श्यामक समुद्र, अंजनद्वीप, अंजन समुद्र, हिंगुलक द्वीप, हिंगुलक समुद्र, रूपवर द्वीप, रूपवर समुद्र, सुवर्णवर द्वीप, सुवर्णवर समुद्र, वज्रवर द्वीप, वज्रवर समुद्र, वैडूर्यवर द्वीप, वैडूर्यवर समुद्र, नागवर द्वीप, नागवर समुद्र, भूतवर द्वीप, भूतवर समुद्र, यक्षवर द्वीप, यक्षवर समुद्र, देववर द्वीप, देववर समुद्र, इन्दुवर द्वीप, इन्दुवर समुद्र एवं अंतिम स्वयंभूरमण द्वीप और स्वयंभूरमणसमुद्र पर्यंत असंख्यात द्वीप-समुद्र जानने चाहिए। **(हरि. पु. ५/६१४-२६)**

नोट : इनमें बहुत से द्वीप-समुद्र समान नाम वाले ही हैं, क्योंकि शब्द संख्यात हैं और द्वीप-समुद्र असंख्यात हैं। **(त्रि.सा. ३५९)**

७. प्रश्न : ये द्वीप-समुद्र किस प्रकार स्थित हैं ?

उत्तर : ये असंख्यात द्वीप-समुद्र समवृत्त हैं। इनमें से पहला द्वीप है अंतिम समुद्र है तथा मध्य में द्वीप-समुद्र हैं। चित्रा पृथ्वी के ऊपर बहुमध्य भाग में एक राजू लंबे-चौड़े क्षेत्रके भीतर एक-एक को चारों ओर से घेरे हुए द्वीप व समुद्र स्थित हैं। सभी समुद्र चित्रा पृथ्वी को खण्डित कर वज्रा पृथ्वी के ऊपर और सब द्वीप चित्रा पृथ्वी के ऊपर स्थित हैं। **(ति. प. ५/८-१०)**

८. प्रश्न : प्रथम द्वीप का नाम जम्बू द्वीप क्यों प्रसिद्ध है ?

उत्तर : अतिविशाल जम्बूवृक्ष का असाधारण आधार होने से यह द्वीप जम्बूद्वीप कहलाता है। यह द्वीप प्रतिविशिष्ट सपरिवार जम्बूवृक्ष के असाधारण अधिकरण धारण करता है, अन्य धातकी खण्ड आदि जम्बूवृक्ष को धारण नहीं करते हैं। इसलिए जम्बूवृक्ष के साहचर्य से यह जम्बूद्वीप कहलाता है। अथवा - जम्बूद्वीप यह नाम अनादि काल से प्रवृत्त है। **(रा.वा. १)**

९. प्रश्न : जम्बूद्वीप में कौन-कौन से मुख्य स्थान हैं ?

उत्तर : जम्बूद्वीप में सात क्षेत्र, एक मेरु, दो कुरु, जम्बू और शाल्मली नामक दो वृक्ष, छह कुलाचल, कुलाचलों पर स्थित छह मानसरोवर, चौदह महानदियाँ, बारह विभंगा नदियाँ, बीस वक्षार गिरि, चौबीस राजधानी, चौंतीस रूप्याचल, चौंतीस वृषभाचल, अड़सठ गुफाएँ, चार गोलाकार नाभिगिरि और तीन हजार सात सौ चालीस विद्याधर राजाओं के नगर हैं। **(हरि. ५/८-१२)**

१०. प्रश्न : जम्बूवृक्ष कहाँ स्थित है ?

उत्तर : उत्तर कुरु नामक उत्कृष्ट भोगभूमि के मध्य में भूमि पर पाँच सौ योजन लंबी-चौड़ी तिगुनी परिधि वाली जगती है। यह भूमि एक-एक प्रदेश की हानि से बाहर में हीन-हीन होने से मध्य में बारह योजन मोटी और अंत में दो कोस मोटी रह जाती है। यह जगती एक सुवर्णमयी पद्मवर वेदिका से वेष्टित है। उस जगती के मध्य भाग में आठ योजन लम्बा, चार योजन चौड़ा, चार योजन ऊँचा तथा बारह पद्मवर वेदिकाओं से वेष्टित नाना रत्नों से निर्मित एक पीठ है। प्रत्येक पद्मवर वेदिका में चार-चार शुभ्र तोरण द्वार हैं तथा उन तोरण द्वारों के ऊपर कनकमय स्तूप हैं। उस पीठ के ऊपर एक योजन लम्बा-चौड़ा तथा दो कोस ऊँचा मणिमय उपपीठ है, उस उपपीठ के मध्य भाग में दो योजन ऊँची पीठ से युक्त छह योजन उत्सेध और मध्य में छह योजन परिमण्डल से सुशोभित आठ योजन लंबा सुदर्शन नाम का जम्बूवृक्ष है। **(रा.वा. १)**

११. प्रश्न : जम्बूवृक्ष के कितने परिवार वृक्ष हैं ?

उत्तर : जम्बू वृक्ष सहित कुल मिलाकर एक लाख, चालीस हजार, एक सौ बीस (१,४०,१२०) जम्बूवृक्ष हैं।

वेदिका के तृतीय अंतर में उत्कृष्ट यक्ष देवों की आठों दिशाओं में एक सौ आठ (१०८) जम्बूवृक्ष हैं। चतुर्थ अंतर में उन यक्षों की देवांगनाओं के चार (४) जम्बूवृक्ष हैं। सातवें अंतर की चारों दिशाओं में उन यक्षों के अंगरक्षक देवों के सोलह हजार (१६०००) जम्बूवृक्ष हैं। आठवें अंतर की ईशान विदिशा, उत्तर और वायव्य दिशा में इन्द्र तुल्य देवों के चार हजार (४०००) जम्बूवृक्ष हैं। नवें, दसवें, ग्यारहवें अंतर की अग्नि, पश्चिम और नैऋत्यदिशा में आदि, मध्य और अंत सभी के सभासदों के क्रम से बत्तीस हजार (३२,०००), चालीस हजार (४०,०००), अड़तालीस हजार (४८,०००) जम्बूवृक्ष हैं।

बारहवें अंतर की पश्चिम दिशा में सात प्रकार की सेना के प्रधानों के सात (७) जम्बूवृक्ष हैं। इस तरह एक मुख्य वृक्ष सहित सब एक लाख, चालीस हजार, एक सौ बीस (१,४०,१२०) जम्बूवृक्ष हैं।

१+१०८+४+१६०००+४०००+३२०००+४००००+४८०००+७=१,४०,१२० **(त्रि.सा. ६४१-५०)**

१२. प्रश्न : क्या मध्यलोक में एक ही जम्बूद्वीप है ?

उत्तर : नहीं, मध्यलोक में एक ही जम्बूद्वीप है, ऐसा नहीं है। प्रथम जम्बूद्वीप और लवणसमुद्र से संख्यात समुद्रों एवं द्वीपों के पश्चात् अतिशय रमणीय दूसरा जम्बूद्वीप है। इस द्वीप में पूर्वादिक दिशाओं में विजय आदि देवों की नगरियाँ हैं। वे नगरियाँ बारह हजार (१२०००) योजन प्रमाण विस्तार सहित जिन-भवनों से विभूषित और उपवन वेदियों से संयुक्त हैं, इनमें पाँच हजार चार सौ इकसठ भवन हैं। इन नगरियों की चारों दिशाओं में अशोकादि चार वन हैं जो बारह हजार (१२०००) योजन लम्बे पाँच सौ (५००) योजन चौड़े हैं। इन वनों में चैत्य वृक्ष स्थित हैं। उनकी चारों दिशाओं में प्रातिहार्यों सहित और पद्मासन स्थित रत्नमय चार जिनेन्द्र प्रतिमायें हैं। **(ति.प. ५/१८०-२३३)** संख्यात द्वीपों के अनंतर जम्बूद्वीप के समान एक दूसरा जम्बूद्वीप है। **(हरि.पु. ५/३९७)**

नोट : विशेष देखें **(ति. प. ५वाँ अधिकार)**

१३. प्रश्न : प्रथम समुद्र का नाम लवणोद क्यों पड़ा ?

उत्तर : लवण रस वाले पानी के संयोग से प्रथम समुद्र लवणोद कहलाता है। **(रा.वा. २)**

१४. प्रश्न : शेष समुद्रों के पानी का स्वाद कैसा है ?

उत्तर : वारुणीवर समुद्र के जल का स्वाद वारुणी (शराब) तुल्य है। घृतवर समुद्र एवं क्षीर समुद्र का जल क्रम से घृत और दूध के समान है। कालोदधि एवं स्वयंभूरमण समुद्र का जल पानी के समान है। पुष्करवर समुद्र का जल मधु एवं पानी दोनों के स्वाद से युक्त है। शेष समुद्र इक्षुरस के समान स्वाद वाले हैं। **(हरि. पु. ५/६२८-२९)**

चार समुद्रों (वारुणीवर, लवण, घृतवर, क्षीरवर) का स्वाद अपने नामों के अनुसार, तीन (कालोदधि, पुष्करवर, स्वयंभूरमण) समुद्रों का स्वाद जल के समान तथा शेष समुद्रों के पानी का स्वाद ईख के समान है। तीसरे समुद्र का जल मधु-सदृश है। **(ति.प. ५/२९-३०)**

द्वीप-समुद्रों का विस्तार कहते हैं -

द्विर्द्विर्विष्कम्भाः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो वलयाकृतयः ॥८॥

द्विः द्विः विष्कम्भाः पूर्व-पूर्व-परिक्षेपिणः वलय-आकृतयः।

ये द्वीप-समुद्र (द्विर्द्विर्विष्कम्भाः) दूने-दूने विस्तार वाले हैं। (पूर्व-पूर्व परिक्षेपिणः) पूर्व-पूर्व के द्वीप-समुद्र को घेरे हुए हैं तथा (वलयाकृतयः) चूड़ी के आकार वाले हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : इन द्वीप-समुद्रों के विष्कम्भ (चौड़ाई), सन्निवेश (रचना) तथा उनके आकार विशेष का प्रतिपादन करने के लिए वा उनका ज्ञान कराने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा. उ. ८)**

२. प्रश्न : ''द्विर्द्विः'' इस प्रकार द्वित्व क्यों किया है ?

उत्तर : 'द्विर्द्विः' यह वीप्सा में समासान्त वचन विष्कम्भ के द्विगुणित को बताने के लिए है। जैसे - प्रथम जम्बूद्वीप का जो विष्कम्भ है उससे द्विगुणित लवण समुद्र है। उससे दूना धातकी खण्ड है, उससे दूना दूसरा (कालोदधि) समुद्र है। इस प्रकार एक दूसरे से दूने विस्तार की व्याप्ति के लिए 'द्विर्द्विः' ऐसा वीप्सार्थक निर्देश किया है। **(रा.वा. १)**

द्वीप-समुद्रों का विस्तार दूना-दूना है इस बात को दिखाने के लिए सूत्र में 'द्विर्द्विः' इस प्रकार वीप्सा अर्थ में अभ्यावृत्ति वचन है। **(सर्वा. ३८१)**

३. प्रश्न : सूत्र में 'पूर्व-पूर्व परिक्षेपिणः' पद क्यों दिया है ?

उत्तर : अनिष्ट विनिवेश की व्यावृत्ति के लिए 'पूर्व-पूर्व परिक्षेपिणः' वचन दिया है। इन द्वीपों और समुद्रों का ग्राम, नगर आदि के समान अनिष्ट ज्ञान न हो अर्थात् ग्रामादि के समान अक्रम से नहीं हैं किन्तु पूर्व-पूर्व को घेरे हुए हैं। इसलिए सूत्र में 'पूर्व-पूर्वपरिक्षेपिणः' पद कहा गया है। इससे उत्तरोत्तर अन्तर नहीं है । एक दूसरे से सटे हुए हैं। यह सिद्ध होता है। पूर्व-पूर्व परिक्षेपणशील होने से यहाँ पर 'पूर्व-पूर्व परिक्षेपिणः' ऐसा ग्रहण किया है। यहाँ पर स्पष्ट ज्ञान कराने के लिए द्वित्व कहा है। **(रा.वा. २)**

४. प्रश्न : सूत्र में 'वलयाकृतयः' पद किसलिए दिया है ?

उत्तर : चौकोर, त्रिकोण, पंचकोण आदि की निवृत्ति के लिए सूत्र में 'वलयाकृतयः' वचन दिया है। आकृति का नाम संस्थान है। वलय (गोल चूड़ी) के समान है आकृति जिसकी उसको वलयाकृति कहते हैं। इसलिए इस वलयाकृति शब्द से चतुष्कोण आदि आकृति अंतर की निवृत्ति हो जाती है। अतः मिथ्यावादी प्रणीत संस्थानान्तर की कल्पना वास्तविक नहीं है। **(रा.वा. ३)** यह जम्बूद्वीप सूर्य मण्डल के समान आकार वाला है। **(त.सा. २/१८८)**

जम्बूद्वीप का कथन करते हैं -

तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजनशतसहस्रविष्कम्भो जम्बूद्वीपः ॥९॥

तत् मध्ये मेरुनाभिः वृत्तः योजन-शत-सहस्र-विष्कम्भः जम्बूद्वीपः।

शब्दार्थ - (तन्मध्ये) उन द्वीप-समुद्रों के बीच (मेरुनाभिर्वृत्तः) मेरु रूपी नाभि से युक्त (योजन शत सहस्र विष्कम्भः) एक लाख योजन विस्तार वाला (जम्बूद्वीपः) जम्बूद्वीप है।

अर्थ - सभी द्वीप-समुद्रों के मध्य मेरु रूपी नाभि से युक्त एक लाख योजन विस्तार वाला जम्बूद्वीप है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किस उद्देश्य से लिखा गया है ?

उत्तर : जम्बूद्वीप के प्रदेश संस्थान विष्कम्भों का कथन करना चाहिए क्योंकि सर्व द्वीपसमुद्र के कथन का आधार जम्बूद्वीप का कथन है। इस प्रकार प्रश्न होने पर उसके उत्तर रूप में यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा. ९ उत्था.)** पहले जम्बूद्वीप का आकार और विस्तार कहना चाहिए, क्योंकि दूसरे द्वीप-समुद्रों का विस्तार आदि तन्मूलक है इसलिए यह सूत्र कहा गया है। **(सर्वा. ३८२)**

२. प्रश्न : जम्बूद्वीप का क्षेत्रफल कितना है ?

उत्तर : जम्बूद्वीप का क्षेत्रफल सात अरब, नब्बे करोड़, छप्पन लाख, चौरानवे हजार, एक सौ पचास (७,९०,५६,९४,१५०) योजन प्रमाण है।

इसको निकालने के लिए परिधि को व्यास के चतुर्थांश से गुणा करना होता है। **(ति. प. ४/९)**

अत: ३१६२२७ $\frac{४८४४७१}{६३२४५४}$ × $\frac{१००००००}{४}$ = ७,९०,५६,९४,१५० $\frac{२८०९००}{६३२४५४}$ योजन प्रमाण है। **(ति. प. ४/५९)**

३. प्रश्न : जम्बूद्वीप की परिधि कितनी है ?

उत्तर : परिधि दो प्रकार की है- (१) स्थूल परिधि (२) सूक्ष्म परिधि।

स्थूल परिधि व्यास से तीन गुणी होती है। अत: जम्बूद्वीप की स्थूल परिधि तीन लाख (३००००००) योजन है।

गोल क्षेत्र की परिधि व्यास के वर्ग को दस से गुणा करके उसका वर्गमूल निकालने पर प्राप्त होती है। **(ति. प. ४/९)**

अत: जम्बूद्वीप की सूक्ष्म परिधि = $\sqrt{१ \text{ लाख}} \times \sqrt{१ \text{ लाख}} \times \sqrt{१०} = \sqrt{१००००००००००००}$ = तीन लाख सोलह हजार दो सौ सत्ताईस (३,१६,२२७) योजन, तीन कोस एक सौ अठाईस (१२८) धनुष, ० किष्कू, ० हाथ, एक वितस्ति, ० पाद, एक अंगुल, पाँच जौ, एक जूँ, एक लीख, छह कर्मभूमि के बाल, ० जघन्य भोगभूमि के बाल, ७ मध्यम भोग भूमि के बालाग्र, ५ उत्तम भोग भूमि के बालाग्र, एक रथरेणु, तीन त्रसरेणु, ० त्रुटरेणु, दो सन्नासन्न, तीन अवसन्नासन्न और अनंतानंत परमाणु प्रमाण है। **(ति.प. ४/५१-५६)**

नोट :- (१) $\frac{२३२१३}{१०५४०९}$ राशि अनंतानंत परमाणुओं के स्थानीय मानी गयी है।

(२) मेरु का विशेष देखें **(३/१०)**

जम्बूद्वीप में स्थित क्षेत्रों को कहते हैं -

भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि ।।१० ।।

भरत-हैमवत-हरि-विदेह-रम्यक-हैरण्यवत-ऐरावत-वर्षाः क्षेत्राणि।

अर्थ - जम्बूद्वीप में भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत ये क्षेत्र हैं।

क्षेत्र - क्षेत्र पद का अर्थ वर्ष, वंश, देश अथवा जनपद है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किस उद्देश्य से लिखा गया है ?

उत्तर : जम्बूद्वीप में छह कुलाचलों के द्वारा विभाजित सात क्षेत्रों के नाम बताने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा. १० उत्था.)**

२. प्रश्न : प्रथम क्षेत्र का नाम 'भरत' क्यों है ?

उत्तर : भरत क्षत्रिय के योग से इसको भरत क्षेत्र कहते हैं। विजयार्ध पर्वत से दक्षिण लवण समुद्र से उत्तर और गंगा एवं सिन्धु नदी के मध्यभाग में बारह योजन लम्बी और नव योजन चौड़ी विनीता नाम की नगरी है। उसमें सर्व राजलक्षणों से संपन्न भरत नाम का षट्खण्डाधिपति चक्रवर्ती हुआ है। इस अवसर्पिणी के राज्य विभाग काल में उसने ही सर्व प्रथम इस क्षेत्र का उपभोग किया था इसलिए (उसके अनुशासन के कारण) इस क्षेत्र का नाम भरतक्षेत्र पड़ा है। अथवा -

'भरत' यह संज्ञा अनादिकालीन है अथवा संसार अनादि होने से अहेतुक है। इसलिए भरत यह नाम अनादि संबंध पारिणामिक है। **(रा.वा. १-२)**

३. प्रश्न : यह भरत क्षेत्र कहाँ स्थित है ?

उत्तर : हिमवान् पर्वत और तीन समुद्रों के मध्य में भरत क्षेत्र है। हिमवान् पर्वत के और पूर्व-दक्षिण और पश्चिम में इन तीन समुद्रों के मध्य में भरत क्षेत्र है। इस क्षेत्र के गंगा-सिन्धु और विजयार्ध पर्वत से विभक्त होकर छह खण्ड हो जाते हैं। **(रा.वा. ३)** हिमवान् पर्वत के दक्षिण में और तीन समुद्रों के बीच में चढ़े हुए धनुष के आकार वाला भरत क्षेत्र है। **(सर्वा. ३८५)**

४. प्रश्न : विजयार्ध पर्वत कहाँ है ?

उत्तर : भरत क्षेत्र के बहुमध्य भाग में नाना प्रकार के उत्तम रत्नों से रमणीय रजतमय विजयार्ध नामक उन्नत पर्वत विद्यमान है। यह पूर्व-पश्चिम लम्बा है। **(ति.प. ४/१०९)**

५. प्रश्न : इस पर्वत का नाम विजयार्ध क्यों है ?

उत्तर : उस पर्वत का विद्याधरों के साथ सदा संसर्ग रहता था और गंगा तथा सिन्धु नाम की दोनों नदियाँ उसके नीचे होकर बहती थीं, इन्हीं कारणों से उसने अन्य कुलाचलों को जीत लिया था तथा इसी कारण से वह विजयार्ध इस सार्थक नाम को धारण कर रहा है। **(म. पु. १८/१७०)**

चक्रवर्ती के विजय क्षेत्र की आधी सीमा को बताने वाला होने से इस पर्वत का नाम विजयार्ध है। इसका दूसरा नाम 'रजताचल' भी है। क्योंकि यह चाँदी के समान धवल वर्ण वाला है। **(रा.वा. ४)**

६. प्रश्न : जम्बूद्वीप में कितने विजयार्ध पर्वत हैं ?

उत्तर : जम्बूद्वीप में चौंतीस विजयार्ध पर्वत हैं। **(ति. प. ४/२४२४)**

जैसे - भरतक्षेत्र में एक विजयार्ध पर्वत है, ऐरावत क्षेत्र में एक विजयार्ध पर्वत है तथा विदेह क्षेत्र की बत्तीस नगरियों में प्रत्येक के मध्य पूर्व-पश्चिम लम्बायमान विजयार्ध पर्वत है। इनका संपूर्ण वर्णन भरत के विजयार्ध पर्वत के समान है। विशेषता यह है कि यहाँ उत्तर और दक्षिण दोनों श्रेणियों में पचपन-पचपन नगर हैं। **(त्रि. सा. ६९५-९६)**

७. प्रश्न : विजयार्ध पर्वत का विस्तार कितना है ?

उत्तर : विजयार्ध पर्वत का विस्तार (चौड़ाई) पचास (५०) योजन, ऊँचाई पच्चीस (२५) योजन एवं गहराई (नींव) सवा छह (६ १/४) योजन है। इसमें तमिस्रा और खण्डप्रपात नाम की दो गुफाएँ हैं। इन्हीं गुफाओं में से चक्रवर्ती शेष उत्तर भरत की आधी विजय प्राप्त करने जाता है। **(रा.वा. ४)**

८. प्रश्न : विजयार्ध की गुफाओं का विस्तारादि कितना है ?

उत्तर : विजयार्ध पर्वत पर स्थित तमिस्रा एवं खण्डप्रपात नामक गुफाएँ उत्तर दक्षिण में पचास योजन लंबी, पूर्व पश्चिम में बारह योजन चौड़ी हैं। इनके उत्तर दक्षिण में आठ योजन ऊँचे दरवाजे हैं। इन दरवाजों में छह योजन एक कोस चौड़े, एक कोस मोटे और आठ योजन ऊँचे वज्रमयी कपाट लगे हैं। इन दोनों दरवाजों से चक्रवर्ती उत्तर भरत में विजयार्थ जाता है। उन्हीं गुफाद्वारों से गंगा एवं सिन्धु नदियाँ निकलती हैं। इन्हीं गंगा-सिन्धु नदियों में विजयार्ध पर्वत से निकली हुई उन्मग्नजला और निमग्नजला नामक दो नदियाँ मिलती हैं। **(रा.वा. ४)**

९. प्रश्न : उन्मग्नजला एवं निमग्नजला का क्या स्वभाव है ?

उत्तर : उन्मग्नजला - जल में गिरे हुए तृणादि द्रव्य को जो बाहर फेंक देती है, वह उन्मग्नजला नदी है। **(रा.वा. ४)**

यह नदी अपने जलप्रवाह में गिरे हुए भारी-से-भारी द्रव्य को भी ऊपरी तट पर ले आती है। इसलिए यह उन्मग्ना नदी कही जाती है। **(ति. प. ४/२४१)**

निमग्नजला - जो पानी में गिरे हुए तृणादि को नीचे तल में ले जाती है वह निमग्नजला नदी है। **(रा.वा. ४)**

यह अपने जलप्रवाह के ऊपर आई हुई हल्की से हल्की वस्तु को भी नीचे ले जाती है। इसीलिए यह नदी 'निमग्ना' कही जाती है। **(ति. प. ४/२४२)**

१०. प्रश्न : विजयार्ध पर्वत पर कौन रहते हैं ?

उत्तर : विजयार्ध पर्वत की तलहटी से दस योजन ऊपर दोनों ओर दस-दस योजन चौड़ी एवं पर्वत बराबर लम्बी दो विद्याधर श्रेणियाँ हैं। उनकी दक्षिण दिशा में पचास (५०) और उत्तर दिशा में साठ (६०) विद्याधर नगर हैं, वहाँ विद्याधर रहते हैं। विद्याधर श्रेणी से दस योजन ऊपर दोनों ओर दस योजन विस्तृत पर्वत बराबर लंबी व्यंतर श्रेणियाँ हैं, वहाँ चार लोकपाल और आभियोग्य व्यंतर देवों का निवास है। वहाँ से पाँच योजन ऊपर शिखर पर स्थित आठ कूटों पर देव रहते हैं एवं सिद्धायतन कूट पर अर्हद् आयतन (जिन मंदिर) है। **(रा.वा. ४)**

११. प्रश्न : विद्याधर कौन-कौन होते हैं ?

उत्तर : वैताढ्य (विजयार्ध) पर्वत पर निवास करने वाले मनुष्य भी विद्याधर होते हैं। सब विद्याओं को छोड़कर संयम को ग्रहण करने वाले विद्याधर भी विद्याधर होते हैं। क्योंकि विद्या विषयक विज्ञान उनमें पाया जाता है। जिन्होंने विद्यानुवाद को पढ़ लिया है वे भी विद्याधर हैं क्योंकि उनके भी विद्याविषयक विज्ञान पाया जाता है। **(ध. ९/७८)**

नोट :- यहाँ विजयार्ध पर्वत पर रहने वाले विद्याधरों को ही ग्रहण करना चाहिए।

१२. प्रश्न : विजयार्ध पर्वत पर रहने वाले मनुष्यों को विद्याधर क्यों कहते हैं ?

उत्तर : विजयार्ध पर्वत पर रहने वाले विद्याधर यद्यपि भरत क्षेत्र के मनुष्यों के समान षट् कर्मों से आजीविका करते हैं, परंतु प्रज्ञप्ति आदि विद्याओं को धारण करने के कारण ये विद्याधर कहलाते हैं। **(रा.वा. ४)**

१३. प्रश्न : विद्याएँ कितने प्रकार की होती हैं ?

उत्तर : विद्याएँ दो प्रकार की होती हैं-

(१) कुल विद्या - पितृ पक्ष अथवा जाति (मातृपक्ष) के आश्रित विद्याएँ कुल विद्या कहलाती हैं। ये विद्याएँ कुल-परम्परा से ही प्राप्त हो जाती हैं।

(२) तप विद्या-तपस्या से सिद्धि की जाती है। ये यत्नपूर्वक आराधना करने से प्राप्त होती हैं। **(म. पु. १९/१३)**

विद्या तीन प्रकार की है -

(१) जाति विद्या (२) कुल विद्या (३) तप विद्या।

(१) स्वकीय मातृपक्ष से प्राप्त हुई विद्याएँ जाति विद्या हैं।

(२) स्वकीय पितृपक्ष से प्राप्त हुई कुल विद्याएँ हैं। ये दोनों विद्याधरों के होती हैं।

(३) षष्ठ, अष्टम आदि उपवासों के करने से सिद्ध की गई विद्याएँ तप विद्याएँ हैं।

ये साधुओं के होती हैं। **(ध. ९/७७)**

विद्यानुवाद पूर्व में अंगुष्ठप्रसेनादि सात सौ (७००) अल्प विद्याएँ एवं रोहिणी आदि पाँच सौ (५००) महाविद्याएँ हैं। इसके अतिरिक्त अंतरिक्ष आदि आठ महानिमित्त (महानिमित्तज्ञान रूप) विद्याएँ भी हैं। **(रा.वा. १/२०)**

१४. प्रश्न : विद्याधरों को ये विद्याएँ किस प्रकार सिद्ध होती हैं ?

उत्तर : सिद्धायतन के समीपवर्ती अथवा द्वीप, पर्वत या नदी के किनारे आदि किसी अन्य पवित्र स्थान में पवित्र वेष धारण कर ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए विद्या की अधिष्ठातृ देवता की पूजा करें तथा नित्य पूजा पूर्वक महोपवास धारण कर उन विद्याओं की आराधना करें। इस विधि से तथा तपश्चरण, नित्य पूजा, जप और होम आदि के करने से विद्याधरों को वे महाविद्याएँ सिद्ध हो जाती हैं। तदनंतर जिन्हें विद्याएँ सिद्ध हो गई हैं ऐसे आकाशगामी विद्याधर लोग पहले सिद्ध भगवान की प्रतिमा की पूजा करते हैं और फिर विद्याओं के फल का उपभोग करते हैं। **(म. पु. १९/१४-१७)**

१५. प्रश्न : विजयार्ध पर रहने वाले मनुष्यों की आयु कितनी है ?

उत्तर : इस महाभरत क्षेत्र में अवसर्पिणी काल संबंधी चतुर्थकाल के प्रारंभ में मनुष्यों की जो आयु होती है, वही यहाँ के मनुष्यों की उत्कृष्ट स्थिति (आयु) होती है और उस चतुर्थकाल के अंत में जो स्थिति होती है वही यहाँ की जघन्य आयु होती है। इस नियम के अनुसार उनकी उत्कृष्ट आयु एक करोड़ वर्ष पूर्व की एवं जघन्य आयु सौ वर्ष की होती है। **(म. पु. १९/९-१०)**

१६. प्रश्न : यहाँ के मनुष्यों का उत्सेध कितना है ?

उत्तर : चतुर्थकाल के प्रारंभ में शरीर की जितनी ऊँचाई होती है उतनी ही यहाँ की उत्कृष्ट ऊँचाई होती है और चतुर्थकाल के अंत में शरीर की जितनी ऊँचाई होती है उतनी ही यहाँ की जघन्य ऊँचाई होती है। इस नियम के अनुसार यहाँ के जीवों की उत्कृष्ट ऊँचाई पाँच सौ धनुष और जघन्य ऊँचाई सात हाथ की होती है। **(म. पु. १९/९-१०)**

१७. प्रश्न : कर्मभूमि की व्यवस्था से यहाँ की व्यवस्था में क्या विशेषता है ?

उत्तर : कर्मभूमि में वर्षा, सर्दी, गर्मी आदि ऋतुओं का परिवर्तन तथा असि, मषि आदि छह कर्म रूप जितने नियोग होते हैं वे सब यहाँ पूर्ण रूप से होते हैं। किन्तु यहाँ विशेषता इतनी है कि महाविद्याएँ यहाँ के लोगों को इनकी इच्छानुसार फल दिया करती हैं। यहाँ विद्याधरों को जो महाप्रज्ञप्ति आदि विद्याएँ सिद्ध होती हैं वे उन्हें कामधेनु के समान यथेष्ट फल देती रहती हैं। **(म.पु. १९/११-१२)**

१८. प्रश्न : विजयार्ध पर रहने वालों की क्या विशेषताएँ हैं ?

उत्तर : विजयार्ध के मनुष्यों की विशेषताएँ -

(१) यहाँ पर स्वचक्र-परचक्र का भय एवं अतिवृष्टि आदि ईतियाँ नहीं होती हैं।

(२) यहाँ रोगादि से उत्पन्न कोई बाधा नहीं होती है।

(३) यहाँ के मनुष्यों की उत्कृष्ट अवगाहना ५०० धनुष एवं जघन्य अवगाहना ७ हाथ प्रमाण होती है।

(४) यहाँ के मनुष्यों की उत्कृष्ट आयु १ कोटि पूर्व और जघन्य आयु १०० वर्ष प्रमाण होती है।

(५) कर्मभूमि के समान यहाँ ऋतु परिवर्तन एवं असि. मषि आदि षट्कर्म रूप नियोग होते हैं। किन्तु विशेषता यह है कि महाविद्याएँ इन्हें इच्छित फल देती हैं। **(म. पु. १९/८-१२)**

(६) यहाँ व्रती, तपस्वी, चारित्र से सुशोभित एवं ज्ञानी-धीर-वीर बहुत मुनि विहार करते हैं।

(७) यहाँ चतुर लोग विवाह आदि उत्सवों में शांतिप्रदाता अरहंत देव की पूजा करते हैं।

(८) दुख आदि आ पड़ने पर उसे निवारण के लिए जिनालय में जिनेन्द्र देव की पूजा करते हैं।

(९) यहाँ मिथ्या देवों के कहीं भी मंदिर नहीं हैं, सर्वत्र तीर्थंकरों के जिनालय हैं।

(१०) यहाँ के श्रावक, मुनि आदि सभी जिनवाणी का ही पठन-पाठन करते हैं।

(११) यहाँ वेद कथित धर्म का अभाव है। **(शा. पु. २/५३-६९)**

१९. प्रश्न : यहाँ के निवासी मरकर कहाँ जाते हैं ?

उत्तर : सम्यग्दृष्टि लोग पहले भव में स्वर्ग में अच्छे-अच्छे पुण्य सम्पादन कर उस नगरी में उत्तम पूज्य कुल में तथा अच्छे घर में जन्म लेते हैं। वहाँ जन्म लेकर कितने ही लोग दुष्कर चारित्र धारण कर तथा उग्र तपश्चरण के बल से कर्मों का नाश कर मोक्ष जाते हैं तथा कितने ही संयम धारणकर, कितने ही श्री अरहंत देव की पूजा कर कितने ही दान देकर सुख की खान स्वर्ग में जाते हैं। वहाँ के लोग सफेद बाल देखकर भोगों को छोड़ देते हैं तथा वैराग्य तपश्चरण धारण कर सम्यक् चारित्र के प्रभाव से वे धीर-वीर मोक्ष को प्राप्त करते हैं। **(शा. पु. २/८१-८७)**

२०. प्रश्न : हैमवत क्षेत्र कहाँ है एवं इसका यह नाम क्यों प्रसिद्ध है ?

उत्तर : यह हैमवत क्षेत्र क्षुद्र हिमवन् की उत्तर दिशा में महाहिमवन् के दक्षिण में तथा पूर्वापर लवण समुद्र के बीच में है। हिमवन् पर्वत के समीप होने से अथवा इस क्षेत्र में हिमवन् पर्वत है इसलिए 'अण्प्रत्यय' से हैमवत यह क्षेत्र का नाम पड़ा है। इसके मध्य में शब्दवान् नाम का वृत्त वैताढ्य पर्वत है। **(रा.वा. ५-७)**

२१. प्रश्न : इस पर्वत का नाम शब्दवान् वृत्त वैताढ्य पर्वत क्यों है ?

उत्तर : इस हैमवत क्षेत्र के मध्य में गोल होने से ढोल के आकार वाला, सार्थक नाम वाला शब्दवान् नाम का वैताढ्य पर्वत है। ढोल के समान गोल और शब्द करने वाला होने से शब्दवान् वृत्त वैताढ्य यह सार्थक नाम है। **(रा.वा. ७)**

२२. प्रश्न : वृत्त वैताढ्य पर्वत का विस्तार कितना है ?

उत्तर : यह वृत्त वैताढ्य पर्वत एक हजार योजन ऊँचा, दो सौ पचास योजन अवगाहन (जड़) वाला, ऊपर तथा मूल में एक हजार योजन विस्तार वाला और तीन गुणा से कुछ अधिक परिधि वाला है। यह पर्वत आधा कोस विस्तार वाली, पूर्वादि चारों दिशाओं में विद्यमान चार तोरणों से विभाजित पद्मवर वेदिका से अलंकृत है। यह वेदिका चार दरवाजों से युक्त है। उसके तल में साढ़े बासठ (६२ १/२) योजन ऊँचा तथा इकतीस योजन एक भाग ($३१\frac{१}{४}$) विस्तार वाला स्वाति देव के विहार करने का मनोज्ञ स्थान है। **(रा.वा. ७)**

२३. प्रश्न : हरिवर्ष क्षेत्र कहाँ है एवं इसका यह नाम क्यों पड़ा ?

उत्तर : यह हरिवर्ष क्षेत्र निषध पर्वत से दक्षिण, महाहिमवान् से उत्तर और पूर्व-पश्चिम लवण समुद्र के मध्य में स्थित है। हरिवर्ण मनुष्य के योग से यह हरिवर्ष क्षेत्र कहलाता है। हरि का अर्थ सिंह है और सिंह का परिणाम शुक्ल माना है। सिंह के समान शुक्ल परिणाम वाले मनुष्य इसमें रहते हैं। इसलिए यह हरिवर्ष कहलाता है। इसके मध्य में विकृतवान् नामक वृत्त वैताढ्य पर्वत है। इसका विस्तारादि शब्दवान् वृत्तवैताढ्य के समान है। **(रा.वा. ८-१०)**

२४. प्रश्न : विदेह क्षेत्र कहाँ है ?

उत्तर : निषध और नील पर्वत के मध्य में विदेह क्षेत्र का सन्निवेश है। निषध से उत्तर, नील पर्वत से दक्षिण और पूर्वापर समुद्रों के मध्य में विदेह क्षेत्र की रचना है। **(रा.वा. १२)**

२५. प्रश्न : चतुर्थ क्षेत्र का नाम विदेह क्षेत्र क्यों पड़ा है ?

उत्तर : विदेह के योग से इस क्षेत्र का विदेह व्यपदेश है। विगत देह जिसके वह विदेह कहलाता है। कर्मबंध की संतान का उच्छेद होने से जिनके शरीर नहीं है इसलिए विदेह यह नाम है। **अथवा** जो शरीर सहित होने पर भी शरीर के संस्कार से रहित है इसलिए विदेह कहलाते हैं। उनके योग से वह देश भी विदेह इस नाम का भागी होता है। **अथवा** - इस क्षेत्र में रहने वाले मुनिवत् निरंतर विदेह अर्थात् कर्मबंध का उच्छेद करने के लिए वा देह का नाश करने के लिए निरंतर प्रयत्न करते हैं और विदेहत्व, अशरीरत्व, सिद्धत्व प्राप्त कर लेते हैं अत: विदेह मनुष्यों के संबंध से क्षेत्र का भी नाम विदेह पड़ गया है। **(रा.वा. ११)**

२६. प्रश्न : भरत ऐरावत क्षेत्र से भी मनुष्य विदेहत्व को प्राप्त करते हैं अत: उन्हें भी विदेह कहना चाहिए ?

उत्तर : यद्यपि भरत-ऐरावत से भी मनुष्य विदेहत्व को प्राप्त कर सकते हैं परंतु वह कदाचित् है, सर्वकाल नहीं अर्थात् भरत-ऐरावत क्षेत्र में केवल चतुर्थकाल में ही मानव देह उच्छेद का प्रयत्न करते हैं, विदेह क्षेत्र में सर्व काल में ही कर्म उच्छेद का प्रयत्न करते हैं और यहाँ कभी धर्म का उच्छेद नहीं होता इसलिए प्रकर्ष की अपेक्षा विदेह है। **(रा.वा. ११)**

२७. प्रश्न : विदेह क्षेत्र कितने भागों में विभाजित है ?

उत्तर : विदेह क्षेत्र चार भागों में विभाजित है -

(१) पूर्व विदेह (२) अपर विदेह (३) उत्तर कुरु (४) देवकुरु।

इनमें से सीता महानदी के कारण पूर्व विदेह क्षेत्र के दो विभाग हो जाते हैं। (१) उत्तर (२) दक्षिण। उत्तर भाग चार वक्षार पर्वत और तीन विभंगा नदियों के कारण आठ भागों में विभक्त हो जाता है तथा वे आठों खण्ड आठ चक्रवर्तियों के उपभोग्य होते हैं। इसी प्रकार सीतोदा महानदी के कारण पश्चिम विदेह के भी उत्तर और दक्षिण ये दो विभाग हो गये हैं, इसमें दक्षिण अपर विदेह के चार वक्षार पर्वतों और तीन विभंगा नदियों के कारण आठ विभाग हो जाते हैं। उन आठों विभागों का चक्रवर्ती उपभोग करता है। **(रा.वा.१३)**

२८. प्रश्न : इनका पूर्व विदेह आदि नाम क्यों पड़ा है ?

उत्तर : मेरु की पूर्व दिशा में जो क्षेत्र है वह पूर्व विदेह कहलाता है। उत्तर दिशा में होने से उत्तर कुरु, पश्चिम दिशा में होने से अपर विदेह और दक्षिण दिशा में होने से देवकुरु है। **(रा.वा. १३)**

२९. प्रश्न : विदेह क्षेत्र में कितने वक्षार पर्वत हैं ?

उत्तर : पूर्व विदेह क्षेत्र के उत्तर विदेह का विभाग चित्रकूट, पद्मकूट, नीलकूट और एकशिल इन चार वक्षारों से हुआ है। पूर्व विदेह के दक्षिण विदेह का विभाग त्रिकूट, वैश्रवणकूट, अञ्जन और आत्माञ्जन इन चार वक्षारों से हुआ है। पश्चिम विदेह के दक्षिण विदेह का विभाग शब्दवान्, विकृतवान्, आशीविष और सुखावह इन चार वक्षारों से हुआ है तथा पश्चिम विदेह के उत्तर विदेह का विभाग, सूर्य, चन्द्र, नाग और देव इन चार वक्षारों से हुआ है। इस प्रकार विदेह क्षेत्र में सोलह वक्षार पर्वत हैं। **(रा.वा. १३)**

३०. प्रश्न : इन वक्षार पर्वतों का विस्तार कितना है ?

उत्तर : नील पर्वत के समीप ये चारों वक्षार गिरि चार सौ (४००) योजन ऊँचे और सौ (१००) योजन अवगाहन से युक्त हैं। पुन: एक-एक प्रदेश की वृद्धि होते-होते सीता नदी के समीप पाँच सौ योजन

ऊँचे और एक सौ पच्चीस योजन अवगाहना से युक्त हो जाते हैं। अश्व के स्कन्ध के आकार वाले वे चारों पर्वत सर्वत्र पाँच-सौ योजन प्रमाण विस्तार वाले हैं। इन पर्वतों की लम्बाई सोलह हजार पाँच सौ बानवे योजन और योजन के उन्नीस भागों में से दो भाग प्रमाण है। **(रा.वा. १३)**

३१. प्रश्न : विदेह क्षेत्र में कितने काँचन गिरि हैं ?

उत्तर : विदेह क्षेत्र के उत्तर कुरु क्षेत्र में सीता महानदी के तट पर दक्षिण-उत्तर दिशा में नील नाम का ह्रद है। इस ह्रद से पाँच सौ (५००) योजन तिरछे जाने पर उत्तर कुरु नाम का ह्रद है। इस ह्रद की अपाक् दक्षिण दिशा में पाँच सौ (५००) योजन तिरछे जाने पर चन्द्र नाम का ह्रद है। चन्द्र ह्रद की दक्षिण दिशा में पाँच सौ (५००) योजन तिरछे जाने पर ऐरावत नाम का ह्रद है। इस ह्रद के दक्षिण में पाँच सौ (५००) योजन जाने पर माल्यवान् नाम का ह्रद है। इस प्रकार नील, उत्तर कुरु, चन्द्र, ऐरावत तथा माल्यवान् इन पाँचों ह्रदों की पूर्व तथा पश्चिम दिशा में दस-दस काञ्चन गिरि होने से सौ (१००) काञ्चनगिरि हैं।

देवकुरु के समान उत्तर कुरु में भी निषध, देवकुरु, सूर्य, सुरेश तथा विद्युत्प्रभनामक पाँच ह्रद हैं। उन ह्रदों के भी पूर्व तथा पश्चिम दिशा में दस-दस काञ्चनगिरि हैं। कुल मिलाकर सौ काञ्चनगिरि हैं। इस प्रकार सौ काञ्चनगिरि उत्तर कुरु में, १०० कांचनगिरि देवकुरु में (१००+१००) = २०० काञ्चनगिरि हैं, इन २०० ही काञ्चनगिरि पर एक-एक जिनमंदिर है। **(रा.वा. १३)**

३२. प्रश्न : काञ्चनगिरि का विस्तार कितना है ?

उत्तर : काञ्चनगिरि सौ योजन ऊँचे, पच्चीस योजन अवगाहन वाले, मूल में सौ योजन, मध्य में पचहत्तर (७५) योजन तथा शिखरतल में पचास (५०) योजन विस्तार वाले हैं। **(रा.वा. १३)**

३३. प्रश्न : विदेह क्षेत्र के मध्य स्थित पर्वत को मेरु क्यों कहते हैं ?

उत्तर : इस मेरु पर्वत के नीचे अधोलोक है। चूलिका की समाप्ति से ऊपर ऊर्ध्वलोक है। मेरु के मूल से लेकर चूलिका पर्यन्त मध्य में तिर्यग् विस्तृत तिर्यग्लोक है। इसलिए इसका मेरु यह सार्थक नाम इस प्रकार किया जाता है कि 'लोकत्रयं मिनतीति मेरु:' तीनों लोकों को मापने वाला होने से मेरु कहलाता है। **(रा.वा. १३)**

३४. प्रश्न : यह मेरु पर्वत किससे निर्मित है ?

उत्तर : भद्रशालवन के भूतल पर मेरु लोहितमणि के वर्ण का धारक है। यह **पहला भाग** है। उससे सोलह हजार पाँच सौ योजन ऊपर **दूसरा भाग** पद्म वर्ण वाला है। उससे साढ़े सोलह हजार योजन ऊपर तपे हुए सुवर्ण के समान **तीसरा भाग** है।

उससे आगे साढ़े सोलह हजार योजन ऊपर जाने के बाद वैडूर्य वर्ण का **चतुर्थ भाग** है। उससे आगे साढ़े सोलह हजार योजन ऊपर नील वर्ण का **पंचम भाग** है। इससे आगे साढ़े सोलह हजार योजन

ऊँचाई पर **छठा भाग** हरिताल वर्ण का है। तथा उसके आगे साढ़े सोलह हजार योजन ऊपर जाम्बूनद सुवर्ण वर्ण वाला सातवाँ भाग है। भूमितल के नीचे एक हजार योजन गहरे मेरु पर्वत का प्रदेश पृथिवी-उपल (पत्थर), बालुका और शर्करा इन चारों से निर्मित है। ऊपर भूतल पर वैडूर्यमणि रचित प्रथमकाण्ड रत्नमय है। द्वितीयकाण्ड सुवर्णमय है और तृतीयकाण्ड चूलिका वैडूर्यमणिमयी है। **(रा.वा. १३)**

३५. प्रश्न : मेरु पर्वत का विस्तार कितना है ?

उत्तर : मेरुपर्वत निन्यानवे हजार योजन ऊँचा, पृथ्वीतल में एक हजार योजन अवगाहन वाला है। पाताल तल में इसका विस्तार दस हजार नब्बे (१००९०) योजन और एक योजन के ग्यारह भागों में से दस भाग प्रमाण है। अधस्तल में इस पर्वत की परिधि इकतीस हजार नौ सौ ग्यारह (३१९११) योजन से कुछ न्यून है। भूतल में इसका विस्तार दस हजार योजन है तथा भूतल पर इसकी परिधि इकतीस हजार छह सौ तेईस (३१६२३) योजन से कुछ न्यून है। यह पर्वत चार वन, तीन खण्ड और तीन श्रेणियों वाला है। **(रा.वा. १३)**

३६. प्रश्न : मेरु पर्वत पर चार वन कौन-कौन से हैं ?

उत्तर : मेरु पर्वत पर चार वन हैं –

(१) भद्रशालवन (२) नन्दनवन (३) सौमनसवन (४) पाण्डुकवन। भूमितल पर भद्रशाल वन पूर्व-पश्चिम दिशा में बाईस हजार योजन लंबा और दक्षिण-उत्तर दिशा में ढाई सौ योजन प्रमाण चौड़ा है। यह भद्रशालवन दो कोस ऊँचा, पाँच सौ धनुष चौड़ा, भद्रशालवन के समान लम्बा और बहुतोरण से युक्त एक पद्मवर वेदिका से घिरा हुआ है। भूमितल से पाँच सौ योजन ऊपर जाकर पाँच सौ योजन विष्कम्भ वाला और मेरु के समान आयाम वाला, श्रेष्ठ पद्मवर वेदिका से वेष्टित और चूड़ी के समान गोल परिधि वाला नन्दनवन है। नन्दनवन के समभूमिभाग से बासठ हजार पाँच सौ योजन ऊपर जाने के बाद गोल (वलय) परिधिवाला पाँच सौ योजन चौड़ा एवं श्रेष्ठ पद्मवेदिका से वेष्टित सौमवनसवन है।

सौमनसवन के समभूभाग से छत्तीस हजार योजन ऊपर गोल परिधि वाला पाण्डुकवन है जो चार सौ चौरानवे (४९४) योजन चौड़ा है तथा चूलिका को घेरकर पद्मवर वेदिका से परिवृत होकर स्थित है। **(रा.वा. १३)**

३७. प्रश्न : क्या भद्रशाल वन में जिनमंदिर है ?

उत्तर : हाँ, भद्रशाल वन में मेरु की पूर्व दिशा में और सीता नदी के दक्षिण तट पर एक जिन-भवन है। मेरु की दक्षिण और सीतोदा की पूर्व दिशा में तट पर भद्रशाल वन में एक जिनभवन है। मेरु की पश्चिम और सीतोदा की उत्तर दिशा में (भद्रशालवन) में एक जिनभवन है और मेरु की उत्तर दिशा में और सीता नदी की पश्चिम दिशा में भद्रशाल वन में एक जिनभवन है। ये चारों ही जिनभवन पचहत्तर योजन ऊँचे हैं। दक्षिण और उत्तर दिशा में सौ योजन लंबे हैं और पूर्व-पश्चिम दिशा में पचास योजन चौड़े

हैं तथा इनमें सोलह योजन ऊँचे, उससे आधे (आठ) योजन विष्कम्भ वाले, उतने ही प्रवेश वाले पूर्व-उत्तर और दक्षिण दिशा में नाना प्रकार के मणि, सुवर्ण और चाँदी से निर्मित दरवाजे हैं ; जिनका वर्णन हजार जिह्वाओं से भी करना अशक्य है। जिनको हजार आँखों से निरन्तर देखता हुआ इन्द्र भी तृप्ति को प्राप्त नहीं होता है। इन जिनभवनों में स्थित देवच्छन्द, मुखमण्डप, प्रेक्षागृह, स्तूप, चैत्यवृक्ष आदि का वर्णन राजवार्तिक से इसी सूत्र से जानना चाहिए। **(रा.वा. १३)**

३८. प्रश्न : इन जिनभवनों में कितनी प्रतिमाएँ हैं ?

उत्तर : तप्तायमान सुवर्ण के समान हस्त, पादतल, तालु और जिह्वावाली लोहिताक्ष मणि से घेरे हुए स्फटिकमय नयन तथा अरिष्टमणि से निर्मित आँख के तारा जिनके, रजतमय दंत पंक्ति से शोभित विद्रुम की कांति के समान अधरपुट वाली, अञ्जन मणि के मूलभाग के समान कृष्ण वर्ण के नेत्र के पक्ष्म और भृकुटियों के अग्रभाग से शोभित, नीलमणि के समान कृष्ण वर्ण के केशों से युक्त, हाथ में श्वेत वर्ण के चँवरों को लेकर पार्श्वभाग में स्थित तथा विविध प्रकार के मणियों एवं सुवर्ण से निर्मित आभूषणों से शोभित यक्ष और नागों के जोड़े हैं जिनके, जो सुश्लिष्ट एक हजार आठ लक्षणों एवं व्यंजनों से चिह्नित हैं। जिनमें वैडूर्यमणि का दण्ड लगा है; मणि, सुवर्ण और मोतियों से जो अलंकृत हैं, रत्नशलाकाओं से शोभित हैं। सैकड़ों सुवर्णमयी लटकनों के धारक और रजत पत्रों से मनोहर ऐसे छत्रादि आठ (अष्ट) महाप्रातिहार्यों से व्याप्त हैं। सदा भव्यजनों के स्तवन, वंदना और पूजा के योग्य हैं। अनादिनिधन हैं। ऐसी पाँच सौ धनुष ऊँची, विशिष्ट गुणों से संस्कृत, भृंगार, कलश, दर्पण, चँवर, बीजन, छत्र और सुप्रतिष्ठित आदि एक सौ आठ मंगल द्रव्य रूप उपकरणों से युक्त वर्णनातीत वैभव संपन्न साक्षात् जिनधर्म की मूर्ति के समान अनादिनिधन एक सौ आठ अरहंत प्रतिमाएँ हैं। **(रा.वा. १३)**

३९. प्रश्न : नंदनवन में कितने जिनभवन हैं ?

उत्तर : मेरु की चारों दिशाओं में नंदनवन में चार जिनमंदिर हैं, वे मंदिर छत्तीस योजन ऊँचे, पचास योजन लंबे और पच्चीस योजन विस्तार वाले तथा पच्चीस योजन प्रमाण प्रवेश मार्ग के धारक हैं तथा पूर्व-उत्तर और दक्षिण दिशा में आठ योजन ऊँचे, चार योजन चौड़े और चार योजन ही लंबे द्वारों के धारक हैं। इन जिनालयों की शोभा का वर्णन भद्रशाल के जिनमंदिरों के समान तथा देवच्छद (गर्भगृह), मुखमण्डप, प्रेक्षागृह, स्तूप, चैत्यवृक्ष आदि का वर्णन भद्रशाल वन के समान है परंतु इनका विस्तार, लम्बाई आदि दुगुणी है। जिनप्रतिमा का वर्णन भद्रशाल के जिनभवन की प्रतिमा के समान है। **(रा.वा. १३)**

४०. प्रश्न : सौमनस वन में कितने जिनभवन हैं ?

उत्तर : सौमनस वन में मेरु की चारों दिशाओं में चार जिनमंदिर हैं जो आठ योजन ऊँचे और चार योजन विस्तार वाले हैं। उनमें चार योजन प्रमाण ही पूर्व-उत्तर और दक्षिण दिशाओं में दरवाजे हैं, उन जिनमंदिरों की शोभा, धूपघट, माला, प्रतिमा की ऊँचाई, छत्र, अष्ट मंगल द्रव्यादि का वर्णन पूर्वोक्त अर्हद्बिम्बों एवं जिनमंदिरों के समान जानना चाहिए। **(रा.वा. १३)**

४१. प्रश्न : पाण्डुक वन में कितने जिनभवन हैं ?

उत्तर : पाण्डुक वन में चूलिका की पूर्व आदि चारों महादिशाओं में तैंतीस योजन और एक कोस लंबे, दो कोस सोलह योजन चौड़े और पच्चीस योजन ऊँचे चार जिनमंदिर हैं, उन मंदिरों के एक योजन ऊँचे, दो कोस चौड़े और इतने ही बड़े प्रवेशमार्गों से युक्त पूर्व, दक्षिण और उत्तर में दरवाजे हैं। उनमें जिनबिम्बों आदि का वर्णन पूर्व के समान है। **(रा.वा. १३)**

४२. प्रश्न : पाण्डुकवन में कितनी शिलाएँ हैं ?

उत्तर : पाण्डुक वन के ठीक मध्य भाग में चालीस योजन ऊँची चूलिका है जो मूल में बारह योजन, मध्य में आठ योजन और अग्र भाग में चार योजन विस्तृत एवं गोलाकार है। इस चूलिका की पूर्व दिशा में उत्तर-दक्षिण लंबी और पूर्व-पश्चिम चौड़ी पाण्डुक शिला है।

पाण्डुक वन में मेरु की दक्षिण दिशा में पूर्व-पश्चिम लंबी और उत्तर-दक्षिण चौड़ी पाण्डुकम्बल नामकी शिला है। मेरु की पश्चिम दिशा में उत्तर-दक्षिण लम्बी और पूर्व-पश्चिम चौड़ी रक्तकम्बल शिला है। मेरु की उत्तर दिशा में पूर्व-पश्चिम लंबी और उत्तर-दक्षिण चौड़ी अतिरक्तकम्बल शिला है। **(रा.वा. १३)**

४३. प्रश्न : ये शिलाएँ कैसी हैं ?

उत्तर : पाण्डुक शिला रजत एवं सुवर्णमयी है, पाण्डुकम्बल शिला रजतमयी है, रक्तकम्बल शिला विद्रुम वर्ण की है और अतिरक्तकम्बल शिला तप्तायमान सुवर्ण के समान सुवर्णमयी है, ये चारों ही शिलाएँ पाँच सौ योजन लम्बी, ढाई सौ योजन चौड़ी और चार योजन प्रमाण बाहल्य युक्त तथा अर्धचन्द्र समान आकार वाली है।

ये शिलाएँ आधा योजन ऊँची, पाँच सौ धनुष चौड़ी तथा शिला बराबर लंबी पद्मवर वेदिका से वेष्टित हैं और रजतमयी व कनकमयी स्तूपिकाओं से अलंकृत चार तोरण द्वारों से शोभित है। **(रा.वा. १३)**

४४. प्रश्न : तीर्थंकरों का अभिषेक कौनसी शिला पर होता है ?

उत्तर : पाण्डुक आदि शिलाओं पर ऊपर मध्य भाग में पाँच सौ धनुष ऊँचे और लंबे, उससे आधे अर्थात् ढाई सौ धनुष चौड़े पूर्व मुख स्थित सिंहासन हैं। पूर्व दिशा की शिला पर स्थित सिंहासन पर पूर्व विदेह में उत्पन्न होने वाले तीर्थंकरों का, दक्षिण दिशा की शिला पर भरतक्षेत्र में उत्पन्न तीर्थंकरों का, पश्चिम दिशा में स्थित शिला पर पश्चिम विदेह में उत्पन्न तीर्थंकरों का और उत्तर दिशा में स्थित शिला पर ऐरावत क्षेत्र में उत्पन्न होने वाले तीर्थंकरों का चतुर्निकाय के इन्द्र अपने-अपने परिवार सहित बड़ी विभूति के साथ क्षीरसमुद्र के जल से भरे हुए सुवर्णमय एक हजार आठ कलशों से अभिषेक करते हैं। **(रा.वा. १३)**

४५. प्रश्न : उन कलशों का विस्तार कितना होता है ?

उत्तर : आठ योजन गहरे मुख पर एक योजन चौड़े सुवर्णमय कलशों से भगवान का अभिषेक किया था। **(म. पु. १३/११३)** आठ योजन गहराई वाले, चार योजन चौड़े (उदर में विस्तार) तथा एक योजन मुख के कलशों से भगवान का जन्माभिषेक होता है। **(अभिषेक पाठ)**

४६. प्रश्न : रम्यक क्षेत्र कहाँ स्थित है एवं उसकी संज्ञा रम्यक क्यों है ?

उत्तर : नील और रुक्मि पर्वत के अंतराल में रम्यक क्षेत्र की रचना है। नील पर्वत से उत्तर और रुक्मि पर्वत के दक्षिण की ओर पूर्व-पश्चिम समुद्र के बीच में रम्यक क्षेत्र की रचना है। **(रा.वा. १५)** रमणीय देश के योग से रम्यक कहलाता है। रमणीय देश, नदी, पर्वत और वन आदि से युक्त होने के कारण इसे रम्यक कहते हैं। **(रा.वा. १४)**

४७. प्रश्न : यह क्षेत्र कहाँ स्थित है एवं इसका यह नाम क्यों है ?

उत्तर : रुक्मि और शिखरी के अंतराल में इसका स्थान है। रुक्मि पर्वत की उत्तर दिशा में और शिखरी पर्वत के दक्षिण की ओर पूर्व-पश्चिम समुद्र के बीच हैरण्यवत क्षेत्र की रचना है। उस क्षेत्र के मध्य में माल्यवान् नामक वृत्त वेताढ्य है। हिरण्य वाले रुक्मि पर्वत के समीप होने से इसका नाम हैरण्यवत क्षेत्र पड़ा है। **(रा.वा. १८-१९)**

४८. प्रश्न : सातवाँ क्षेत्र कहाँ है एवं उसका ऐरावत यह नाम क्यों है ?

उत्तर : शिखरी पर्वत और पूर्व-पश्चिम और उत्तर तीनों समुद्रों के मध्य में ऐरावत क्षेत्र है। ऐरावत क्षत्रिय के योग से यह ऐरावत क्षेत्र कहलाता है। रक्ता और रक्तोदा नदियों के बीचों बीच अयोध्या नाम की नगरी है। उस नगरी का अनुपालक ऐरावत नाम का राजा हुआ था। उसी के संबंध से इस क्षेत्र का नाम ऐरावत पड़ा है। **(रा.वा. २०-२१)**

कुलाचलों का वर्णन करते हैं -

तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन् निषधनील-रुक्मिशिखरिणो-वर्षधरपर्वताः ॥११॥

तत्-विभाजिनः पूर्व-अपर-आयता-हिमवन्-महाहिमवन् निषध-नील-रुक्मि-शिखरिणः वर्षधर-पर्वताः।

(तद्विभाजिनः) उन भरतादि क्षेत्रों का विभाजन करने वाले (पूर्वापरायता) पूर्व-पश्चिम तक लम्बे (हिमवन् महा-हिमवन्निषध-नीलरुक्मि शिखरिणः) हिमवन्, महाहिमवन्, निषध, नील, रुक्मि और शिखरिन् ये छह वर्षधर पर्वत हैं।

अर्थ - भरतादि क्षेत्रों का विभाग करने वाले पूर्व-पश्चिम तक लम्बे हिमवन्, महाहिमवन्, निषध, नील, रुक्मि और शिखरी ये छह वर्षधर पर्वत हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : जिन कुलाचलों के द्वारा भरत आदि सात क्षेत्रों का विभाग हुआ है वे कौनसे हैं और कहाँ पर व्यवस्थित हैं? ऐसा पूछने पर उसके उत्तर रूप यह सूत्र लिखा गया है। **(रा.वा.उ. ११)**

२. प्रश्न : भरतादि क्षेत्रों का विभाजन करने वाले कौन-कौन से पर्वत हैं ?

उत्तर : भरतादि क्षेत्रों का विभाजन करने वाले पर्वत –

भरत एवं हैमवत क्षेत्र का विभाजक - हिमवन पर्वत

हैमवत एवं हरिक्षेत्र का विभाजक - महाहिमवन्

हरि एवं विदेह का विभाजक - निषध पर्वत

विदेह एवं रम्यक का विभाजक - नील पर्वत।

रम्यक एवं हैरण्यवत का विभाजक - रुक्मि पर्वत।

हैरण्यवत-ऐरावत का विभाजक - शिखरी पर्वत। **(त.सू. ३/११)**

३. प्रश्न : जम्बूद्वीप में कुल कितने पर्वत हैं ?

उत्तर : जम्बूद्वीप में ३११ पर्वत हैं =

सुदर्शन मेरु	१	दिग्गजेन्द्र	८
कुलाचल	६	नाभिगिरि	४
विजयार्ध	३४	वृषभाचल	३४
वक्षारगिरि	१६	काञ्चन शैल	२००
गजदन्त	४	यमकगिरि	४

१+६+३४+१६+४+८+४+३४+२००+४ = ३११ पर्वत हैं। **(ति. प. ४/२४२४-२७)**

४. प्रश्न : हिमवनादि पर्वतों को वर्षधर क्यों कहते हैं ?

उत्तर : ये हिमवनादि पर्वत एक दूसरे से पृथक्-पृथक् भरत आदि वर्षों (क्षेत्रों) को धारण करते हैं। वा इनका विभाग करते हैं। इसलिए ये वर्षधर कहलाते हैं। **(रा.वा. १)** इन पर्वतों के कारण क्षेत्रों का विभाग होता है इसलिए इन्हें वर्षधर पर्वत कहते हैं। **(सर्वा. ३८७)**

५. प्रश्न : प्रथम वर्षधर का नाम हिमवान् पर्वत क्यों पड़ा ?

उत्तर : हिम (बर्फ) के संबंध से हिमवन् कहलाता है। हिम इसमें पाया जाता है इसलिए यह

हिमवन कहलाता है। यद्यपि अन्य पर्वतों में हिम पाया जाता है तथापि रूढ़ि से ही इसकी हिमवन यह संज्ञा है। **(रा.वा. १)** ये हिमवनादि संज्ञाएँ अनादि से चली आ रही हैं और बिना निमित्त की हैं। **(सर्वा. ३८७)**

६. प्रश्न : यह हिमवन पर्वत कहाँ स्थित है ?

उत्तर : यह हिमवन पर्वत भरत और हैमवत क्षेत्र की सीमा में स्थित है। इसे क्षुद्र हिमवन भी कहते हैं क्योंकि महाहिमवन पर्वत की अपेक्षा यह लघु है। **(रा.वा. २)**

७. प्रश्न : सूत्र में क्षुद्र पद नहीं है अत: कैसे जाना जाता है कि यह क्षुद्र है ?

उत्तर : सूत्र में क्षुद्र पद नहीं है किन्तु क्षुद्र पद के होने पर ही महत् (महाहिमवन) का प्रयोग होता है, इस अर्थापत्ति न्याय से सूत्र में अनुक्त भी क्षुद्र शब्द का ज्ञान होता है। **(रा.वा.२)**

८. प्रश्न : हिमवन पर्वत का विस्तार कितना है ?

उत्तर : हिमवन पर्वत पृथ्वी के नीचे पच्चीस योजन गहरा तथा सौ योजन ऊँचा है। इसका विष्कम्भ (चौड़ाई) एक हजार बावन तथा एक योजन के उन्नीस भागों में से बारह भाग प्रमाण है। इस क्षुद्र हिमवन पर्वत की उत्तर जीवा चौबीस हजार नौ सौ बत्तीस योजन और एक योजन के उन्नीस भागों में से कुछ कम एक भाग प्रमाण है। इसकी पार्श्वभुजा का प्रमाण पाँच हजार तीन सौ पचास योजन और एक योजन के उन्नीस भागों में से साढ़े पन्द्रह भाग अधिक है। इस पर्वत का धनु:पृष्ठ उत्तर भाग में पच्चीस हजार दो सौ तीस योजन और एक योजन के उन्नीस भागों में से चार भाग से कुछ अधिक है। **(रा.वा. २)**

९. प्रश्न : दूसरे कुलाचल का नाम महाहिमवन क्यों पड़ा ?

उत्तर : इसकी व्युत्पत्ति पहले कही है कि हिम के संबंध से हिमवन पर्वत है और यह महान् हिम के संबंध से महाहिमवन कहलाता है अथवा -

हिम का संबंध नहीं होने पर भी रूढ़ि से महाहिमवन कहलाता है, जैसे इन्द्र जिसकी रक्षा करे उसे इन्द्रगोप कहते हैं। परंतु इन्द्र के द्वारा रक्षा नहीं करने पर भी लाल रंग के कीड़े को इन्द्रगोप कहते हैं। यह इसका रूढ़ नाम है। उसी प्रकार महाहिमवन यह भी अनादिनिधन रूढ़ नाम है। **(रा.वा. ३)**

१०. प्रश्न : महाहिमवन पर्वत कहाँ स्थित है ?

उत्तर : महाहिमवन पर्वत हैमवत और हरिवर्ष क्षेत्र का विभाजक है। हैमवत क्षेत्र से उत्तर और हरिक्षेत्र से दक्षिण में स्थित महाहिमवन पर्वत को हैमवत एवं हरिक्षेत्र का विभाजक समझना चाहिए। **(रा.वा. ४)**

११. प्रश्न : महाहिमवन पर्वत का विस्तार कितना है ?

उत्तर : यह पर्वत दो सौ योजन ऊँचा, भूमितल के नीचे पचास योजन गहरा और चार हजार दो सौ दस योजन तथा एक योजन के उन्नीस भागों में से दस भाग प्रमाण विस्तृत है। इस पर्वत की पूर्व-पश्चिम तरफ प्रत्येक पार्श्वबाहु नौ हजार दो सौ छिहत्तर योजन और एक योजन के उन्नीस भागों में से साढ़े नौ भाग से कुछ अधिक है। इस पर्वत के उत्तर पार्श्वभाग में जीवा त्रेपन हजार नौ सौ इकतीस योजन तथा एक योजन के उन्नीस भागों में से छह भाग कुछ अधिक है। **(रा.वा. ४)**

१२. प्रश्न : तीसरे कुलाचल का नाम निषध क्यों पड़ा ?

उत्तर : निषध् धातु क्रीड़ा अर्थ में है। जिस पर देव-देवियाँ क्रीड़ा करते हैं वह निषध कहलाता है। इसकी निषध संज्ञा रूढ़ भी है। **(रा.वा. ५)**

१३. प्रश्न : निषध पर्वत कहाँ स्थित है ?

उत्तर : हरिक्षेत्र और विदेहक्षेत्र की मर्यादा का कारण निषध पर्वत है। हरिक्षेत्र के उत्तर और विदेह क्षेत्र के दक्षिण में इन दोनों की सीमा का कारणभूत निषध नामक कुलाचल है। **(रा.वा. ६)**

१४. प्रश्न : इस पर्वत का विस्तार कितना है ?

उत्तर : यह पर्वत चार सौ योजन ऊँचा, भूतल में सौ योजन गहरा तथा सोलह हजार आठ सौ बयालीस योजन एवं एक योजन के उन्नीस भागों में से दो भाग अधिक चौड़ा है। इस पर्वत की पूर्व-पश्चिम तरफ की प्रत्येक पार्श्वभुजा बीस हजार एक सौ पैंसठ योजन तथा एक योजन के उन्नीस भागों में से अर्धसहित दो भाग प्रमाण है। इसके उत्तर पार्श्वभाग की जीवा चौरानवे हजार एक सौ छप्पन योजन तथा एक योजन के उन्नीस भागों में से दो भाग कुछ अधिक प्रमाण है। इसका धनुपृष्ठ एक लाख चौबीस हजार तीन सौ छियालीस योजन और एक योजन के उन्नीस भागों में से नौ भाग कुछ अधिक है। **(रा.वा. ६)**

१५. प्रश्न : चौथे पर्वत का नाम 'नील' क्यों है ?

उत्तर : नील वर्ण का होने से इस पर्वत को नील कहते हैं, जैसे कृष्ण वर्ण का होने से वासुदेव 'कृष्ण' नाम से पुकारा जाता है। **(रा.वा. ७)** यह संज्ञा अनादि रूढ़ है अनैमित्तिक है। **(सर्वा. ३८७)**

१६. प्रश्न : यह पर्वत कहाँ है एवं इसका विस्तार कितना है ?

उत्तर : विदेह और रम्यकक्षेत्र के बीच में नील पर्वत है। यह पर्वत विदेह और रम्यक क्षेत्र की सीमा पर स्थित है वा उनका विभाग करता है। इसकी ऊँचाई, आयाम, विस्तार आदि निषध पर्वत के समान है। **(रा.वा. ८)**

१७. प्रश्न : पंचम कुलाचल को रुक्मि क्यों कहते हैं ?

उत्तर : रुक्म (सुवर्ण) के सद्भाव से इसको रुक्मि कहते हैं, रुक्म जिसके है वह रुक्मि

कहलाता है, दूसरे पर्वत भी सुवर्णमय हैं। इसलिए रुक्मि यह नाम रूढ़ संज्ञा है। जैसे हाथी को 'करी' कहना यह रूढ़ि है। क्योंकि कर (हाथ) तो मनुष्य के भी होते हैं। **(रा.वा. ९)**

१८. प्रश्न : रुक्मि पर्वत कहाँ स्थित है एवं इसका विस्तार कितना है ?

उत्तर : यह रुक्मि पर्वत रम्यक और हैरण्यवत क्षेत्र का विभाजक है। इसकी ऊँचाई, लम्बाई आदि का सर्व वर्णन महाहिमवन् कुलाचल के समान है। **(रा.वा. १०)**

१९. प्रश्न : अंतिम पर्वत का नाम शिखरी क्यों है ?

उत्तर : शिखरों का सद्भाव होने से इसकी शिखरी संज्ञा है। शिखर कूट इसके हैं अत: इसकी शिखरी संज्ञा सार्थक है। शिखरी के सिवाय अन्य पर्वतों पर भी शिखर हैं परंतु इसकी शिखरी संज्ञा रूढ़ि-वशात् है। जैसे - मयूर का नाम शिखण्डी रूढ़ है। **(रा.वा. ११)**

२०. प्रश्न : शिखरी पर्वत कहाँ स्थित है एवं इसका विस्तार कितना है ?

उत्तर : हैरण्यवत और ऐरावत के मध्य सेतुबन्ध के समान शिखरी पर्वत स्थित है। इस पर्वत की ऊँचाई, आयाम, विस्तार आदि सब क्षुद्र हिमवान् पर्वत के तुल्य हैं। **(रा.वा. १२)**

२१. प्रश्न : क्या इन पर्वतों पर भी जिनालय हैं ?

उत्तर : हाँ, इन सभी पर्वतों (कुलाचलों) पर आठ-आठ कूट हैं। उनमें से प्रत्येक कुलाचल के सिद्धायतन कूट पर एक-एक जिनमंदिर है। **(रा.वा. १-१२)**

यह जिनमंदिर छत्तीस योजन ऊँचा, दक्षिण एवं उत्तर में पचास योजन लम्बा, पूर्व-पश्चिम में पच्चीस योजन विस्तृत तथा पच्चीस योजन प्रमाण प्रवेशमार्ग का धारक है। **(रा.वा. २)**

कुलाचलों के वर्ण कहते हैं -

हेमार्जुनतपनीयवैडूर्यरजतहेममया: ॥१२॥

हेम-अर्जुन-तपनीय-वैडूर्य-रजत-हेममया:।

अर्थ - ये कुलाचल पर्वत क्रमश: हेम, अर्जुन, तपनीय, वैडूर्य, रजत एवं हेम के समान हैं।

१. प्रश्न : इन कुलाचलों का वर्ण कैसा है ?

उत्तर : कुलाचलों के वर्ण -

हिमवन् पर्वत-हेम (सुवर्णमय) चीनी रेशम के समान।

महाहिमवन् पर्वत-अर्जुनमय (चाँदी के समान) शुक्लवर्ण।

निषध पर्वत-तपनीय-तपाये हुए सोने के समान, उगते हुए बालसूर्य के वर्ण के समान।

नील पर्वत-वैडूर्यमय-मयूर कण्ठ के समान।

रुक्मिपर्वत-रजत-चाँदी के समान।

शिखरी पर्वत-हेम-चीनी रेशम के समान। **(सर्वा. ३८९)**

इन पर्वतों की और भी विशेषताएँ बताते हैं -

मणिविचित्रपार्श्वा उपरिमूले च तुल्यविस्तारा: ॥१३॥

मणि-विचित्र-पार्श्वा:-उपरि-मूले च तुल्यविस्तारा:।

इन पर्वतों के (मणि विचित्र पार्श्वा:) पार्श्व भाग नाना प्रकार की मणियों से खचित हैं और ये (उपरि मूले च) ऊपर, मूल एवं मध्य में (तुल्यविस्तारा:) समान विस्तार वाले हैं।

अर्थ - इन पर्वतों के पार्श्व भाग नाना प्रकार की मणियों से खचित हैं तथा वे ऊपर, मध्य और मूल में समान विस्तार वाले हैं।

१. प्रश्न : सूत्र में 'मणिविचित्रपार्श्वा:' पद का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : इन पर्वतों के पार्श्वभाग नाना रंग और नाना प्रकार की प्रभा आदि गुणों से युक्त मणियों से विचित्र हैं। इसलिए 'मणिविचित्रपार्श्वा:' पद सूत्र में दिया गया है। **(सर्वा. ३९१)**

'मणिविचित्रपार्श्वा:' कहने से ये पर्वत अनादि काल से नाना प्रकार की मणियों से विचित्र पार्श्व भाग वाले हैं, यह जाना जाता है। **(श्लो ५/३२८)**

२. प्रश्न : सूत्र में 'उपरि' एवं 'च' पद किसलिए दिया है ?

उत्तर : सूत्र में अनिष्ट आकार का निराकरण करने के लिए 'उपरि' पद कहा गया है तथा मध्य भाग का समुच्चय करने के लिए 'च' शब्द का ग्रहण किया है अर्थात् इनके मूल में जो विस्तार है वही ऊपर और मध्य में है। **(सर्वा. ३९१)**

इन पर्वतों पर स्थित ह्रदों को बताते हैं -

पद्ममहापद्मतिगिञ्छकेसरि महापुण्डरीक पुण्डरीका ह्रदास्तेषामुपरि ॥१४॥

पद्म-महापद्म-तिगिञ्छ-केसरि-महापुण्डरीक-पुण्डरीका: ह्रदा: तेषां-उपरि।

अर्थ - इन पर्वतों के ऊपर क्रमश: पद्म, महापद्म, तिगिञ्छ, केसरी, महापुण्डरीक तथा पुण्डरीक नामके ह्रद हैं।

१. प्रश्न : इन ह्रदों का नाम पद्मादि सरोवर क्यों है ?

उत्तर : पद्म आदि के सहचर से इन ह्रदों का नाम भी पद्मादि है। पद्म, महापद्म, तिगिंच्छ, केसरी, महापुण्डरीक और पुण्डरीक ये कमलों के नाम हैं। उन कमलों के साहचर्य से इन ह्रदों का नाम भी पद्म महापद्म आदि है। **(रा.वा. १)**

ह्रदों का विवरण

क्र. सं.	ह्रदों के नाम	स्थान	लम्बाई	चौड़ाई	गहराई	कमल का विस्तार	देवी	ह्रदों से निकलने वाली नदियाँ
१.	पद्म	हिमवन्	१००० यो.	५०० यो.	१० योजन	१ योजन	श्री	गंगा-सिंधु रोहितास्या
२.	महापद्म	महाहिमवन्	२००० यो.	१००० यो.	२० यो.	२ योजन	ह्री	रोहित-हरिकांता
३.	तिगिंछ	निषध	४००० यो.	२००० यो.	४० यो.	४ योजन	धृति	हरित्-सीतोदा
४.	केसरी	नील	४००० यो.	२००० यो.	४० यो.	४ योजन	कीर्ति	सीता-नरकान्ता
५.	महापुण्डरीक	रुक्मि	२००० यो.	१००० यो.	२० यो.	२ योजन	बुद्धि	नारी-रुप्यकूला
६.	पुण्डरीक	शिखरिन्	१००० यो.	५०० यो.	१० यो.	१ योजन	लक्ष्मी	सुवर्णकूला, रक्ता, रक्तोदा

२. प्रश्न : इन ह्रदों का कथन किस प्रकार करना चाहिए ?

उत्तर : हिमवन आदि पर्वतों पर यथाक्रम से इन ह्रदों को जानना चाहिए। हिमवन पर्वत पर पद्म ह्रद, महाहिमवन पर्वत पर महापद्म ह्रद, निषध पर्वत पर तिगिंच्छ ह्रद, नील पर्वत पर केसरी ह्रद, रुक्मि पर्वत पर महापुण्डरीक और शिखरी पर्वत पर पुण्डरीक नामका ह्रद है। **(रा.वा.१)**

इन सरोवरों का विस्तार कहते हैं -

प्रथमो योजनसहस्रायामस्तदर्धविष्कम्भो ह्रदः ॥१५॥

प्रथमः- योजन-सहस्र-आयामः-तत्-अर्ध-विष्कम्भः ह्रदः।

(प्रथमः ह्रदः) पहला सरोवर (योजनसहस्रायामः) एक हजार योजन लम्बा (तदर्धविष्कम्भः) और उससे आधा अर्थात् पाँच सौ योजन विस्तार (चौड़ा) वाला है।

अर्थ - पहला सरोवर एक हजार (१०००) योजन लंबा और पाँच सौ (५००) योजन चौड़ा है।

१. प्रश्न : ये सरोवर किस प्रकार के बने हैं ?

उत्तर : इन सरोवरों का तल वज्रमय और तट मणिजड़ित है। इनके चारों ओर वन-खण्ड हैं। निर्मल स्फटिक की तरह स्वच्छ, गंभीर और अक्षय जल वाला विविध जलपुष्पों से चारों ओर शरद्काल में चंद्रमा और ताराओं की पंक्तियों से चमचमायमान सरोवर ऐसा मालूम होता है मानों आकाश नीचे उतर आया हो। **(रा.वा. १५)**

प्रथम सरोवर का अवगाह बताते हैं -

दशयोजनावगाहः ॥१६॥

दश-योजन-अवगाहः।

अर्थ - पहला सरोवर दस योजन गहरा है।

१. प्रश्न : अवगाह किसे कहते हैं ?

उत्तर : अवगाह, अधः, प्रवेश और निम्नता ये एकार्थवाची हैं। गहराई को अवगाह कहते हैं। **(रा.वा. १)**

२. प्रश्न : पूर्व सूत्र में ही गहराई को न कहकर अलग सूत्र क्यों कहा है ?

उत्तर : पद्मादि सभी ह्रदों के पृथक्-पृथक् असाधारण अवगाह की प्रतिपत्ति के लिए पूर्व सूत्र में अवगाह को न कहकर पृथक् सूत्र कहा है। **(श्लो. ५/३३२)**

ह्रद के मध्य में स्थित कमल का स्वरूप-

तन्मध्ये योजनं पुष्करम् ॥१७॥

तत्-मध्ये-योजनं-पुष्करम्।

(तन्मध्ये) उस प्रथम ह्रद के मध्य में (योजनं) एक योजन विस्तार वाला (पुष्करम्) कमल है।

अर्थ - पहले पद्म सरोवर के मध्य में एक योजन विस्तार वाला कमल है।

१. प्रश्न : इस कमल का विष्कम्भ कितना है ?

उत्तर : उस कमल के एक कोस लम्बे पत्ते हैं, दो कोस विस्तृत कर्णिका है। इस रूप से एक योजन लम्बा-चौड़ा कमल है। इसका नाल जल से दो कोस ऊँचा है और पत्तों का भाग भी दो कोस ऊँचा है। **(रा.वा. १७)**

२. प्रश्न : इस कमल के पत्ते आदि वनस्पति कायिक हैं या पृथ्वीकायिक हैं ?

उत्तर : (इस कमल के पत्ते आदि वनस्पतिकायिक नहीं हैं) क्योंकि इसका मूलभाग वज्रमय, कन्द अरिष्ट मणिमय, मृणाल रजत मणिमय और नाल वैडूर्यमणिमय है। इसके बाहरी पत्ते सुवर्णमय, भीतरी पत्ते रजतमय, केसर सुवर्णमय और कर्णिका अनेक प्रकार की विचित्र मणियों से युक्त है (अतः यह कमल पृथ्वीकायिक है) **(रा.वा. १७)**

३. प्रश्न : इस कमल के परिवार कमल कितने हैं ?

उत्तर : इस कमल के परिवार कमल एक लाख, चालीस हजार, एक सौ पन्द्रह (१, ४०,११५) प्रमाण हैं। वे इस प्रकार हैं- एक सौ आठ (१०८) कमल से यह वेष्टित है। इस कमल की ईशान, उत्तर और वायव्य दिशा में भी श्रीदेवी और सामानिक देवों के चार हजार (४०००) कमल हैं। आग्नेय दिशा में आभ्यन्तर परिषद् के देवों के बत्तीस हजार (३२०००) कमल हैं। दक्षिण दिशा में मध्यम परिषद् देवों के चालीस हजार (४००००) कमल हैं। नैऋत्य दिशा में बाह्य परिषद् देवों के अड़तालीस हजार (४८०००) कमल हैं। पश्चिम दिशा में सात अनीकों के सात कमल हैं। चारों महादिशाओं में आत्मरक्ष देवों के सोलह हजार (१६०००) कमल हैं। ये सब परिवार-कमल मुख्य कमल से आधे ऊँचे हैं।

१०८+४०००+३२०००+४०,०००+४८०००+७+१६०००=१, ४०,११५। **(रा.वा.१७)**

सरोवर एवं कमलों का विस्तार -

तद्द्विगुणद्विगुणा ह्रदाः पुष्कराणि च ॥१८॥

तद्-द्विगुण-द्विगुणाः-ह्रदाः पुष्कराणि च।

(तद्द्विगुणद्विगुणाः) प्रथम सरोवर एवं कमल से दूने-दूने विस्तार वाले (ह्रदाः) सरोवर (पुष्कराणि च) और कमल हैं।

अर्थ - प्रथम पर्वत पर स्थित सरोवर एवं कमल के विस्तार से आगे के पर्वतों पर स्थित सरोवरों एवं कमलों का विस्तार दुगुना-दुगुना है।

१. प्रश्न : सूत्र में दिये गये 'तत्' शब्द से किसका ग्रहण करना चाहिए ?

उत्तर : यद्यपि सूत्र में दिये गये 'तत्' शब्द से पद्म सरोवर का ही ग्रहण होता है, फिर भी व्याख्यान से विशेष अर्थ का बोध होता है। आगे ''उत्तरा दक्षिणतुल्याः'' सूत्र से भी इसी अर्थ का समर्थन होता है। **(रा.वा. ४)**

२. प्रश्न : महाहिमवन् पर्वत पर ह्रद एवं कमलों का क्या स्वरूप है ?

उत्तर : महाहिमवन् पर्वत पर बहुमध्य प्रदेश में महापद्म सरोवर है। वह सरोवर दो हजार (२०००) योजन लंबा, एक हजार (१०००) योजन चौड़ा और बीस योजन गहरा है। उसके मध्य में जल के तल भाग से दो कोस पर्यन्त ऊँचा और एक योजन मोटे पत्तों के समूह वाला महापद्म नामका कमल है। यह कमल दो कोस लंबे पत्तों से युक्त और एक योजन लंबी कर्णिका से शोभित दो योजन विस्तार वाला है। इस कमल के परिवार कमलों की संख्या पूर्वोक्त कमल प्रमाण एक सौ आठ (१०८) है और विशेष कमल पूर्वोक्त कमल के समान एक लाख चालीस हजार एक सौ पन्द्रह (१,४०,११५) हैं। **(रा.वा.४)**

३. प्रश्न : निषध पर्वत पर स्थित ह्रद आदि का विस्तार कितना है ?

उत्तर : निषध पर्वत के ऊपर मध्य भाग में चार हजार योजन लंबा, दो हजार योजन चौड़ा और चालीस योजन गहरा तिगिंच्छ सरोवर है। उस सरोवर के मध्य में जल के तल भाग से दो कोस पर्यन्त ऊँचा उठा हुआ, दो योजन मोटे पत्तों के समुच्चय वाला, एक योजन पत्ते एवं दो योजन की कर्णिका वाला चार योजन विस्तृत कमल है। इसके परिवार कमलों की संख्या पद्म सरोवर के तुल्य है। **(रा.वा. ४)**

४. प्रश्न : नील पर्वत पर स्थित ह्रद आदि का विस्तार कितना है ?

उत्तर : नील कुलाचल के ऊपर ठीक मध्य भाग में केसरी नामक सरोवर है। उसका तथा उसमें स्थित कमलों का वर्णन तिगिंच्छ सरोवर के सदृश है। **(रा.वा. ४)**

५. प्रश्न : रुक्मि पर्वत पर स्थित ह्रद आदि का कितना विस्तार है ?

उत्तर : रुक्मि नामक कुलाचल पर मध्य भाग में महापुण्डरीक नाम का सरोवर है। उसके अवगाहन, आयाम, विस्तार का प्रमाण महापद्म सरोवर के समान है तथा उसमें स्थित कमल भी उसी के तुल्य हैं। **(रा.वा. ४)**

६. प्रश्न : शिखरी पर्वत पर स्थित ह्रद आदि का विस्तार कितना है ?

उत्तर : शिखरी कुलाचल पर मध्यभाग में पुण्डरीक सरोवर है। वह पद्म सरोवर के समान है और उसमें स्थित कमल भी उसी के समान प्रमाण वाले हैं। **(रा.वा. ४)**

७. प्रश्न : यदि पद्म सरोवर से आगे के दो सरोवरों को ही दूना-दूना कहना है तो ''द्विगुणा:'' यहाँ बहुवचन न कहकर द्विवचन कहना चाहिए ?

उत्तर : समान प्रमाण के धारक, आदि और अन्त के पद्म और पुण्डरीक सरोवर से दक्षिण और उत्तर के दो-दो सरोवर लम्बाई-चौड़ाई और गहराई की अपेक्षा दूने-दूने प्रमाण वाले हैं। इस अर्थ की अपेक्षा से बहुवचन का प्रयोग किया है। यहाँ यह अर्थ विवक्षित है। अर्थात् महापद्म ह्रद और उसमें स्थित कमल से दूने-दूने विस्तार वाले तिगिंच्छ ह्रद और उसमें स्थित कमल हैं। पुण्डरीक ह्रद और उसमें स्थित कमल से महापुण्डरीक ह्रद और उसमें स्थित कमल दूने-दूने विस्तार वाले हैं। महापुण्डरीक ह्रद एवं उसमें स्थित कमल से दूने-दूने विस्तार वाले केसरी ह्रद और उसमें स्थित कमल को जानना चाहिए। **(रा.वा.२)**

कमलों पर रहने वाली देवियाँ -

तन्निवासिन्यो देव्य: श्रीह्रीधृतिकीर्तिबुद्धि-
लक्ष्म्य: पल्योपमस्थितय: ससामानिकपरिषत्का: ॥१९॥

तत्-निवासिन्य:-देव्य:-श्री-ह्री-धृति-कीर्ति-बुद्धि-लक्ष्म्य:-
पल्योपम-स्थितय:-ससामानिक-परिषत्का: ।

(तन्निवासिन्य: देव्य:) उन कमलों पर रहने वाली देवियाँ (श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि लक्ष्म्य:) क्रमश: श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी हैं, जो (पल्योपमस्थितय:) एक पल्योपम स्थिति वाली हैं और (ससामानिक परिषत्का:) सामानिक एवं पारिषद् देवों के साथ रहती हैं।

अर्थ - उन कमलों पर पल्योपम प्रमाण आयु वाली श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी नाम की देवियाँ निवास करती हैं, जो सामानिक एवं पारिषद् देवों के साथ रहती हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : उन कमलों पर निवास करने वाली देवियों के नाम, आयु और उनका परिवार कितना-कितना है ? ऐसा पूछने पर यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा. उत्था. १९)**

२. प्रश्न : कौन-कौन से ह्रद पर कौन-कौनसी देवी रहती है ?

उत्तर : हिमवन् पर्वत पर बने पद्म ह्रद में श्रीदेवी, महाहिमवन् पर्वत पर स्थित महापद्म सरोवर में ह्री देवी, निषध पर्वत पर स्थित तिगिंच्छ सरोवर में धृति, नील पर्वत पर स्थित केसरी सरोवर में कीर्ति, रुक्मि पर्वत पर स्थित महापुण्डरीक ह्रद में बुद्धि और शिखरी पर्वत पर स्थित पुण्डरीक ह्रद में लक्ष्मी नाम की देवी रहती है। **(त.सू. ३/१९)**

३. प्रश्न : ये देवियाँ क्या करती हैं ?

उत्तर : श्रीदेवी ने भगवान की माता की शोभा बढ़ा दी थी। **(महा. पु. १२/१६४)** ह्रीदेवी तीर्थंकरों की गर्भावस्था में गर्भ का संशोधन करके लज्जानामक अपने गुण का जिनमाता में संचार करती हुई उनकी सेवा करती है।

ह्रीदेवी की सेवा से भगवान की माता के हृदय में विशेष रूप से लज्जा का प्रचार होता है। **(मल्लि ४/२१)** धृतिदेवी जिनमाता के शरीर में अपने धैर्य गुण को स्थापित करती है। **(म.पु. १२/१६४)**

धृतिदेवी की सेवा से भगवान की माँ में विशेष रूप से धीर-वीरता आती है। **(मल्लि ४/२१)**

कीर्ति देवी गर्भावस्था में भगवान की माता की स्तुति करती है। कीर्ति देवी की सेवा से भगवान की माता की कीर्ति फैल गई (जाती) थी। **(मल्लि ४/२१)** बुद्धि देवी तीर्थंकर की माता के बोध गुण का विकास करती है। इस देवी की सेवा से भगवान की माँ के सम्यग्दर्शनादि बोधि में निर्मलता होने लगी थी। **(मल्लि ४/२१)**

लक्ष्मी देवी गर्भावस्था में जिनमाता की सेवा करती है। इस देवी की सेवा से भगवान की माता को अनेक प्रकार के ऐश्वर्यों का लाभ हुआ था। **(मल्लि ४/२१)**

४. प्रश्न : श्री देवी की क्या-क्या विशेषताएँ हैं ?

उत्तर : श्री देवी की विशेषताएँ-

(१) यह छह जिनमातृकाओं में एक देवी है। **(म.पु. ३८/२२६)**

यह पद्म सरोवर के कमल पर रहने वाली इन्द्र की वल्लभा व्यन्तरीन्द्र देवी है। **(म.पु. ६३/२००)**

(२) इसकी आयु एक पल्य प्रमाण है।

(३) इसकी अवगाहना दस धनुष प्रमाण है।

(४) इस देवी के सामानिक, तनुरक्षक, तीन प्रकार के पारिषद्, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषिक जाति के देव होते हैं।

(५) ये सब देव मुख्य कमल के परिवार कमल पर बने भवनों में निवास करते हैं।

(६) ये सभी भवन उत्तर-पूर्व दिशा के अभिमुख हैं।

(७) इस सरोवर में जितने कमल हैं उतने ही जिनालय हैं। **(ति.प. ४/१६९४-१७१५)**

५. प्रश्न : ह्री देवी की क्या-क्या विशेषताएँ हैं ?

उत्तर : ह्री देवी की विशेषताएँ-

(१) यह छह जिनमातृकाओं में एक देवी है। **(म. पु. ३८/२२६)**

(२) ह्रीदेवी के परिवार और पद्मों (कमलों) की संख्या श्रीदेवी की अपेक्षा दूनी है। **(ति.प. ४/१७५२)**

(३) महाहिमवन् पर्वत पर स्थित महापद्म नामक सरोवर में कमल के ऊपर के स्थित प्रासाद में बहुत परिवार से संयुक्त रहती है। **(ति.प. ४/१७५२)**

(४) यह श्री देवी के सदृश संपूर्ण गुणसमूह से परिपूर्ण है। **(ति. प. ४/१७५१)**

६. प्रश्न : धृति देवी की क्या-क्या विशेषताएँ हैं ?

उत्तर : धृति देवी की विशेषताएँ -

(१) इसकी सेवा से भगवान की माँ में विशेष रूप से धीर-वीरता आती है।**(मल्लि पु.४/२०)**

(२) यह तिगिंच्छ ह्रद पर स्थित भवन में रहती है। **(ति.प. ४/१७८५)**

(३) इसकी आयु एक पल्य प्रमाण होती है। **(ति. प. ४/१७८६)**

(४) नाना प्रकार के रत्नों से विभूषित शरीर वाली अतिरमणीय वह व्यन्तरिणी सौधर्मेन्द्र की देवी कुमारी (आज्ञाकारिणी) है। **(ति. प. ४/१७८६)**

(५) तिगिंच्छ सरोवर के शोभित कमल भवनों में रहने वाली भवनवासिनी एक देवी है। **(हरि.पु.५/१२१-१३०)**

नोट : इसके परिवार और कमलों की संख्या ही देवी की अपेक्षा दूनी है।

७. प्रश्न : कीर्ति देवी की क्या-क्या विशेषताएँ हैं ?

उत्तर : कीर्ति देवी की विशेषताएँ -

(१) यह एक दिक्कुमारी व्यन्तरी देवी है। **(म. पु. ६३/२००)**

(२) यह छह जिन मातृकाओं में इन्द्र की आज्ञाकारिणी है। **(हरि. पु. ५/१३१)**

(३) यह केसरी नाम के विशाल सरोवर के कमलों पर निर्मित भवन में रहती है। **(हरि. पु.५/१३०)**

(४) इस देवी का सब परिवार धृति देवी के सदृश है। **(ति.प. ४/२३६०)**

(५) यह आदिम (समचतुरस्र) संस्थान वाली, विविध प्रकार के उत्तम रत्नों के भूषणों से सुशोभित सौम्य मूर्ति ईशानेन्द्र की देवी है। **(ति.प. ४/२३६१)**

(६) यह देवी दस धनुष ऊँची और अनुपम लावण्य से युक्त है। **(ति.प. ४/२३६०)**

८. प्रश्न : बुद्धि देवी की क्या-क्या विशेषताएँ हैं ?

उत्तर : बुद्धि देवी की विशेषताएँ -

(१) यह दिक्कुमारी तीर्थंकर की माता के बोध गुण का विकास करती है।

(२) इन्द्र जिनमाता के गर्भ का शोधन करने के लिए इसे ही भेजता है।

(३) यह महापुण्डरीक सरोवर में स्थित कमल पर बने भवन में रहती है। **(हरि. पु. ५/१२१-१३०)**

(४) यह इन्द्र की वल्लभा व्यन्तर देवी है।

(५) इसका परिवार कीर्ति देवी की अपेक्षा आधा है। **(ति.प. ४/२३७२)**

(६) अनुपम लावण्यमय शरीर से युक्त और उत्तम रत्नों के भूषणों से रमणीक ईशानेन्द्र की वह देवी विविध विनोदपूर्वक क्रीड़ा करती है। **(ति.प. ४/२३७३)**

(७) तिगिंच्छ ह्रद के सदृश प्रमाण वाले पुण्डरीक द्रह पर बुद्धिदेवी रहती है। **(ति.प.४/२३७२)**

(८) यह देवी महापुण्डरीक ह्रद पर निवास करती है। **(त.सू. ३/१९)**

९. प्रश्न : लक्ष्मी देवी की क्या-क्या विशेषताएँ हैं ?

उत्तर : लक्ष्मी देवी की विशेषताएँ -

नोट - इस देवी का परिवार एवं कमल श्रीदेवी के सदृश है।

(१) महापुण्डरीक नामक दिव्य द्रह के कमल भवन में श्री देवी के सदृश लक्ष्मी नामक देवी निवास करती है। **(ति.प. ४/२३८८)**

(२) यह ईशानेन्द्र की देवी है। **(ति.प. ४/२३८८)**

(३) पुण्डरीक नामक ह्रद पर लक्ष्मी देवी निवास करती है। **(त. सू. ३/१९)**

(४) यह जिनमातृका दिक्कुमारी देवी गर्भावस्था में जिनमाता की सेवा करती है।

(५) यह देवी व्यन्तरेन्द्र की वल्लभा और पुण्डरीक ह्रदवासिनी एक व्यंतर देवी भी कही जाती है। **(म.पु. ६३/२००)**

१०. प्रश्न : क्या वे देवियाँ सामानिक और पारिषद् देवों के साथ एक ही महल में रहती हैं?

उत्तर : नहीं, वे देवियाँ सामानिक और पारिषद् देवों के साथ एक महल में नहीं रहती हैं। वे देवियाँ मुख्य कमलों पर बने प्रासादों में रहती हैं और उस मुख्य कमल के जो परिवार कमल हैं उन पर बने प्रासादों में सामानिक और पारिषद् देव रहते हैं। **(सर्वा. ४०३)**

ये सामानिकादि देव श्री आदि देवियों के साथ अनुगामी होकर रहते हैं इसलिए सूत्र में साथ रहना कहा है। ये सब ब्रह्मचारिणी हैं। **(श्लो ५/३३५ हिन्दी)**

११. प्रश्न : सूत्र में सामानिक को आदि में क्यों ग्रहण किया है ?

उत्तर : समान स्थान में होने वाले को सामानिक कहते हैं। सामानिक और पारिषद् देवों में सामानिक देव पारिषद् देवों की अपेक्षा विशिष्ट या पूज्य होते हैं। इसलिए सूत्र में सामानिक का पूर्व में निपात किया है। **(रा.वा. ३)**

इन क्षेत्रों के मध्य से निकलने वाली नदियाँ -

गङ्गासिन्धुरोहिद्रोहितास्याहरिद्धरिकान्ता-सीतासीतोदानारीनरकान्ता सुवर्ण-रूप्यकूला-रक्ता-रक्तोदाः सरितस्तन्मध्यगाः ॥२०॥

गङ्गा-सिन्धु-रोहित-रोहितास्या-हरित-हरिकान्ता-सीता-सीतोदा-नारी-नरकान्ता-सुवर्ण-रूप्य-कूला रक्ता-रक्तोदाः सरितः तत्- मध्यगाः।

(तन्मध्यगाः) उन क्षेत्रों के बीच से बहने वाली (गङ्गा सिन्धु रोहिद्रोहितास्या हरिद्धरिकान्ता सीता सीतोदा नारीनरकान्ता सुवर्णरूप्यकूला रक्ता रक्तोदाः) गङ्गा, सिन्धु, रोहित, रोहितास्या, हरित हरिकान्ता, सीता-सीतोदा, नारी-नरकान्ता, सुवर्णकूला-रूप्यकूला, रक्ता-रक्तोदा (सरितः) नदियाँ हैं।

अर्थ - उन क्षेत्रों के बीच से बहने वाली गङ्गा-सिन्धु, रोहित-रोहितास्या, हरित्-हरिकान्ता, सीता-सीतोदा, नारी-नरकान्ता, सुवर्णकूला-रूप्यकूला और रक्ता-रक्तोदा नदियाँ हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : जिन नदियों के द्वारा क्षेत्रों का विभाजन होता है उन नदियों के नाम बताने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा. उ.२०)**

२. प्रश्न : भरतादि क्षेत्रों के मध्य से कौन-कौन सी नदियाँ बहती हैं ?

उत्तर : भरत क्षेत्र के मध्य में गङ्गा-सिन्धु नदी, हैमवत क्षेत्र के मध्य में रोहित्-रोहितास्या, हरिवर्ष क्षेत्र के मध्य में हरित्-हरिकान्ता, विदेह क्षेत्र के मध्य में सीता-सीतोदा, रम्यक क्षेत्र के मध्य में नारी-नरकान्ता, हैरण्यवत् क्षेत्र के मध्य में सुवर्णकूला-रूप्यकूला, ऐरावत क्षेत्र के मध्य में रक्ता और रक्तोदा नदियाँ बहती हैं। **(श्लो. ५/३३६)**

३. प्रश्न : इन नदियों की लम्बाई कितनी है ?

उत्तर : गङ्गा नदी पद्मद्रह के पूर्व द्वार से निकलती है। वहाँ उद्गम स्थान में इसका विस्तार सवाछह ($६\frac{१}{४}$) योजन, ऊँचाई आधा कोस प्रमाण है। पूर्व दिशा में पाँच सौ (५००) योजन आगे जाकर गङ्गा कूट से पहले ही दक्षिण दिशा में मुड़कर कुछ अधिक पाँच सौ तेईस (५२३) योजन प्रमाण पर्वत की आधी चौड़ाई पर ऊपर गमन करती है। पुन: सौ (१००) योजन ऊँचे हिमालय से गङ्गा कूट के श्रीगृह में स्थित जिनबिम्ब का अभिषेक करती हुई कुण्ड के दक्षिण द्वार से निकल कर म्लेच्छ खण्डों में बहती हुई साढ़े बासठ ($६२\frac{१}{२}$) योजन चौड़ी होकर लवण समुद्र में मिल जाती है। इस प्रकार से गङ्गा नदी के उद्गम स्थान से समाप्ति स्थानों पर स्थित तोरणों पर मनोज्ञ अकृत्रिम जिनबिम्ब हैं। इसी प्रकार सिन्धु आदि नदियों का कथन भी जानना चाहिए। **(त्रि.सा. ६००-१)**

नदियों के बहने की दिशा -

द्वयोर्द्वयो: पूर्वा: पूर्वगा: ॥२१॥

द्वयो: द्वयो: पूर्वा: पूर्वगा:।

(द्वयोर्द्वयो:) दो-दो नदियों में से (पूर्वा:) पूर्व-पूर्व की नदी (पूर्वगा:) पूर्व दिशा में जाती है।

अर्थ- दो-दो नदियों के युगल में से पूर्व-पूर्व की नदियाँ पूर्व समुद्र को जाती हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : सर्व नदियों के एकत्र बहने के प्रसंग की निवृत्ति के लिए और दिशाविशेष का ज्ञान कराने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा.उ.२१)**

२. प्रश्न : क्या पूर्व की गङ्गादि नदियाँ पूर्व समुद्र में जाती हैं ?

उत्तर : नहीं, ''द्वयो: द्वयो:'' पद है। इससे जाना जाता है कि दो-दो नदियों में से पूर्व-पूर्व की नदियाँ पूर्व समुद्र को जाती हैं। **(रा.वा. २)**

३. प्रश्न : कौन-कौन सी नदियाँ पूर्व समुद्र में बहती है ?

उत्तर : गङ्गा, रोहित्, हरित्, सीता, नारी, सुवर्णकूला और रक्ता नदियाँ पूर्व समुद्र में बहती हैं। **(त.सू. ३/२१)**

नदियों के विभाग -

शेषास्त्वपरगा: ॥२२॥

शेषा: तु-अपरगा:।

(शेषा:तु) शेषनदियाँ (अपरगा:) पश्चिम दिशा में जाती हैं।

अर्थ - शेष नदियाँ पश्चिम दिशा में जाती हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए लिखा गया है ?

उत्तर : शेषनदियाँ किस दिशा में बहती हैं। इतर नदियों की दिशाविशेष का ज्ञान कराने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(सर्वा. ४०७)**

२. प्रश्न : ये गङ्गादि नदियाँ कहाँ से निकली हैं ?

उत्तर : पद्म सरोवर से उत्पन्न हुई और पूर्व तोरण द्वार से निकली हुई गङ्गा नदी है। पश्चिम तोरण द्वार से निकली हुई सिन्धु नदी है तथा उत्तर तोरण द्वार से निकली हुई रोहितास्या नदी है महापद्म तालाब से उत्पन्न हुई और दक्षिण तोरणद्वार से निकली हुई रोहित नदी है तथा उत्तर तोरण द्वार से निकली हुई हरिकान्ता नदी है, तिगिंच्छ तालाब से उत्पन्न हुई और दक्षिण तोरण द्वार से निकली हुई हरित् नदी है और उत्तर तोरण द्वार से निकली सीतोदा नदी है। केसरी तालाब से उत्पन्न हुई और दक्षिण तोरण द्वार से निकली हुई सीता नदी है। तथा उत्तर तोरण द्वार से निकली हुई नरकान्ता नदी है। महापुण्डरीक तालाब से उत्पन्न हुई और दक्षिण तोरण द्वार से निकली हुई नारी नदी है। तथा उत्तर तोरण द्वार से निकली हुई रूप्यकूला नदी है। पुण्डरीक तालाब से उत्पन्न हुई और दक्षिण तोरण द्वार से निकली हुई सुवर्णकूला नदी है। पूर्व तोरण द्वार से निकली हुई रक्ता नदी है और पश्चिम तोरण द्वार से निकली हुई रक्तोदा नदी है। **(सर्वा. ४०८)**

३. प्रश्न : इन गङ्गादि नदियों का बहाव कैसा है ?

उत्तर : इन चौदह नदियों में गङ्गा-सिन्धु, रक्ता-रक्तोदा ये चारों नदियाँ पर्वत के ऊपरी तल भाग तथा जहाँ इनकी धारा गिरती है उस जगह इन दोनों स्थानों को छोड़कर सर्वत्र सर्प के समान कुटिल गति से बहती हैं तथा मेरुपर्वत और नाभि-गिरि के प्रदेशों से अन्यत्र शेष नदियाँ ऋजुगति से बहती हैं। **(रा.वा. १४)**

४. प्रश्न : इन नदियों के तट किस प्रकार के बने हैं ?

उत्तर : ये चौदह नदियाँ आधे योजन चौड़े, नदियों के समान लम्बे, दोनों पार्श्व भागों में रहने वाले तथा प्रत्येक आधा योजन ऊँची, पाँच सौ (५००) धनुष चौड़ी और वनखण्डों के बराबर लम्बी पद्मवर वेदिकाओं से वेष्टित हैं तथा दो-दो वनखण्डों से सुशोभित हैं अर्थात् इन नदियों के तट दो वनों और दो पद्मवर वेदिकाओं के साथ चलते हैं। **(रा.वा. १४)**

नदियों का परिवार -

चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृता गङ्गासिन्ध्वादयो नद्यः ॥२३॥

चतुः-दश-नदी-सहस्र-परिवृताः-गङ्गा-सिन्धु-आदयः-नद्यः।

(गङ्गा-सिन्ध्वादयो नद्यः) गङ्गा-सिन्धु आदि नदियाँ (चतुर्दशनदीसहस्र) चौदह हजार नदियों से (परिवृता) वेष्टित हैं।

अर्थ - गङ्गा सिन्धु आदि नदियाँ चौदह हजार परिवार नदियों से वेष्टित है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : गङ्गा-सिन्धु आदि नदियों की परिवार नदियों का कथन करने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(सर्वा. ४०९)**

२. प्रश्न : नदियों का प्रकरण चल रहा है अतः पुनः गङ्गा-सिन्धु आदि का ग्रहण अनर्थक है ?

उत्तर : नदियों का प्रकरण होने पर भी पुनः गङ्गा-सिन्धु का ग्रहण अनर्थक नहीं है। यदि गङ्गा-सिन्धु आदि का ग्रहण नहीं होता तो अनंतर के ग्रहण का प्रसंग आता है। क्योंकि अनंतर की विधि और अनंतर का ही निषेध होता है। यह व्याकरण का नियम है। अतः गङ्गा सिन्धु का ग्रहण नहीं करने से 'अपरगाः' यह शब्द निकट है। इसका ग्रहण होता है। गङ्गा-सिन्धु-आदि नदियाँ चौदह हजार-चौदह-हजार परिवार नदियों से युक्त है। ऐसा अर्थ नहीं होता। **(रा.वा.१)**

ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि ''अनन्तर का विधान होता है या प्रतिषेध'' इस नियम के अनुसार पश्चिम की ओर बहने वाली नदियों का ही ग्रहण होता है जो इष्ट नहीं है। अतः सूत्र में 'गङ्गासिन्ध्वादि'' पद दिया है। **(सर्वा. ४१०)**

३. प्रश्न : गङ्गा सिन्धु आदि नदियों की परिवार नदियाँ कितनी-कितनी हैं ?

उत्तर : गङ्गा सिन्धु नदियों की चौदह हजार-चौदह हजार परिवार नदियाँ हैं। उसके आगे सीतोदा नदी तक द्विगुणी-द्विगुणी ग्रहण करना चाहिए और उसके आगे आधा-आधा कम करना चाहिए। गङ्गा-सिन्धु की चौदह हजार, चौदह हजार, रोहित-रोहितास्या की अट्ठाईस हजार, अट्ठाईस हजार, हरित-हरिकान्ता की छप्पन हजार, छप्पन हजार और सीता सीतोदा की एक लाख बारह हजार, एक लाख बारह हजार परिवार नदियाँ हैं। **(रा.वा. ३)**

जम्बूद्वीप की परिवार नदियाँ

क्र.	स्थान	प्रमुख नदियों के नाम	प्रमाण	परिवार-नदियाँ
१.	भरत क्षेत्र	गंगा-सिन्धु	२	१४०००×२ = २८०००
२.	हैमवत	रोहित-रोहितास्या	२	२८०००×२ = ५६०००
३.	हरिक्षेत्र	हरित-हरिकान्ता	२	५६०००× २ = १,१२०००
	विदेह क्षेत्र	–	–	– –
४.	देवकुरु	सीता	१	८४०००
५.	उत्तरकुरु	सीतोदा	१	८४०००
६.	पूर्व विदेह	विभंगा नदियाँ	६	२८०००×६ = १,६८०००
७.	पश्चिम विदेह	विभंगा नदियाँ	६	२८०००×६ = १,६८०००
८.	कच्छादि आठ देशों की	रक्ता-रक्तोदा	१६	१४०००×१६ = २,२४०००
९.	वत्सादि आठ देशों की	गंगा-सिंधु	१६	१४०००×१६ = २,२४०००
१०.	पद्मादि आठ देशों की	गंगा-सिंधु	१६	१४०००×१६ = २,२४०००
११.	वप्रादि आठ देशों की	रक्ता-रक्तोदा	१६	१४०००×१६ = २,२४०००
१२.	रम्यक क्षेत्र	नारी-नरकांता	२	५६०००×२ = १,१२०००
१३.	हैरण्यवत क्षेत्र	सुवर्णकूला-रूप्यकूला	२	२८०००×२ = ५६०००
१४.	ऐरावत क्षेत्र	रक्ता-रक्तोदा	२	१४०००×२ = २८०००

४. प्रश्न : जम्बूद्वीप में कुल कितनी नदियाँ हैं ?

उत्तर : जम्बूद्वीप में सत्तरह लाख बानवे हजार नब्बै (१७,९२,०९०) नदियाँ हैं। भरत क्षेत्र की २८००२-गङ्गा-सिन्धु की १४०००-१४००० परिवार नदियाँ। हैमवत क्षेत्र की ५६००२-रोहित-रोहितास्या की २८०००-२८००० परिवार नदियाँ। हरिक्षेत्र की ११२००२ हरित-हरिकान्ता की ५६०००-५६००० परिवार नदियाँ। कुल २८००२+५६००२+११२००२=१९६००६

विदेह क्षेत्र की नदियाँ :

सीता सीतोदा-२, क्षेत्र नदी-६४, विभंगानदी-१२

सीता-सीतोदा की परिवार नदियाँ-१६८०००, क्षेत्र नदियों की परिवार नदियाँ ८९६०००

विभंगा नदियों की परिवार नदियाँ-३३६००० कुल मिलाकर= १४०००७८ नदियाँ।

उपर्युक्त भरतादि तीन क्षेत्रों की नदियों को दूना करने पर –

(क्योंकि रम्यक, हैरण्यवत, ऐरावत क्षेत्र में भी इसी प्रकार वर्णन है।)

१९६००६×२ =३९२०१२ नदियाँ।

इस प्रकार कुल मिलाकर १४०००७८+३९२०१२=१७,९२,०९० नदियाँ हैं। **(ति.प. ४/२४१०-१५)**

इस योग को ५ से गुणित करने पर ढाई द्वीप सम्बन्धी कुल (१७,९२,०९०×५) = ८९६०४५० नदियाँ है। **(सि.सा.दी.टी. ८/१८७ के आधार से)**

५. प्रश्न : सीता-सीतोदा नदियों की परिवार नदियाँ कितनी हैं ?

उत्तर : सीता नदी की सात लाख अड़तीस (७०००३८) परिवार नदियाँ हैं। वे इस प्रकार हैं। उत्तर-कुरुक्षेत्र की चौरासी हजार (८४०००) + छह विभंगा नदियों से आकर मिलने वाली (६×२८०००) = १६८००० + पूर्व विदेह से मिलने वाली चार लाख अड़तालीस हजार अड़तीस (४४८०३८) = ७०००३८।

सीतोदा नदी की भी ७०००३८ परिवार नदियाँ हैं। वे इस प्रकार हैं- देवकुरु की ८४०००+ छह विभंगानदियों से आकर मिलने वाली (६×२८०००) १६८००० + पश्चिम विदेह से मिलने वाली ४४८०३८ = ७०००३८ नदियाँ हैं। **(त्रि.सा. ७४८)**

इस प्रकार सीता-सीतोदा मूल नदियों को मिलाने पर ७०००३८ + ७०००३८ + २ = १४०००७८ नदियाँ है।

६. प्रश्न : जम्बूद्वीप में कुल कितने कुण्ड हैं ?

उत्तर : जितनी नदियाँ हैं उतने ही कुण्ड भी हैं। कुलाचलों से निकलने वाली गङ्गा-सिन्धु आदि चौदह महानदियाँ जहाँ नीचे गिरती हैं वहाँ चौदह कुण्ड हैं। बारह विभंग नदियों का जहाँ से उद्गम होता है वहाँ बारह कुण्ड हैं। बत्तीस विदेह क्षेत्रों में से प्रत्येक देश में दो-दो नदियाँ कुण्डों में से निकलकर बहती हैं। अत: उनके चौसठ कुण्ड हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर १४ + १२ + ६४ = ९० कुण्ड हैं। (प्रत्येक कुण्ड पर जिनभवन है।) **(ति. प. ४/२४१६)**

भरतक्षेत्र का विस्तार बताते हैं-

भरत: षड्विंशतिपञ्चयोजनशतविस्तार: षट् चैकोनविंशतिभागा योजनस्य ॥२४॥

भरत: षड्-विंशति-पञ्च योजन शत विस्तार: षट् च एकोन विंशति भागा: योजनस्य।

(भरत:) भरत क्षेत्र (षड् विंशति पंच योजन शत विस्तार:) पाँच सौ छब्बीस योजन विस्तार वाला (च) और (योजनस्य) एकयोजन के (एकोन-विंशतिभागा) के उन्नीस भागों में से (षट्) छह भाग अधिक प्रमाण है।

अर्थ - भरत क्षेत्र का विस्तार पाँच सौ छब्बीस योजन तथा एक योजन के उन्नीस भागों में से छह भाग (५२६ $\frac{६}{१९}$ योजन) अधिक प्रमाण है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : जम्बूद्वीप का विष्कम्भ (चौड़ाई), समुद्र, सरोवर, नदी, पर्वत और क्षेत्रों की रचना का वर्णन किया गया है, अब क्या ये क्षेत्र आदि समान विस्तार वाले हैं कि कुछ विस्तार विशेष है ? ऐसा पूछने पर यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा. उ. २४)**

उक्त क्षेत्र आदि के विस्तार का ज्ञान कराने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(सर्वा. ४११)**

शेष क्षेत्र का विष्कम्भ कहते हैं -

तद्द्विगुणद्विगुणविस्तारा वर्षधरवर्षा विदेहान्ता: ॥२५॥

तत् द्विगुण द्विगुण विस्तारा: वर्षधर वर्षा विदेह अन्ता:।

(विदेहान्ता:) विदेह क्षेत्र पर्यन्त (वर्षधर) पर्वत और (वर्षा) क्षेत्र (तद्द्विगुणद्विगुणविस्तारा:) उस भरतक्षेत्र से दूने-दूने विस्तार वाले हैं।

अर्थ - विदेह क्षेत्र पर्यन्त के पर्वत और क्षेत्र क्रमश: दूने-दूने विस्तार वाले हैं।

१. प्रश्न : विदेह क्षेत्र पर्यन्त हिमवनादि पर्वतों एवं भरतादि क्षेत्रों का विस्तार कितना-कितना है ?

उत्तर : हिमवन् कुलाचल का विस्तार एक हजार बावन योजन एवं एक योजन के उन्नीस भागों

में से बारह (१०५२ $\frac{१२}{१९}$योजन) भाग प्रमाण है। हैमवत क्षेत्र का विस्तार दो हजार एक सौ पाँच योजन और एक योजन के उन्नीस भागों में से पाँच भाग (२१०५$\frac{५}{१९}$ योजन) प्रमाण है। महाहिमवन पर्वत का विस्तार चार हजार दो सौ दस योजन और एक योजन के उन्नीस भागों में से दस भाग (४२१०$\frac{१०}{१९}$योजन) प्रमाण है। हरिक्षेत्र का विस्तार आठ हजार चार सौ इक्कीस योजन और एक योजन के उन्नीस भागों में से एक भाग (८४२१ $\frac{१}{१९}$योजन) प्रमाण है। निषध कुलाचल का विस्तार सोलह हजार आठ सौ ब्यालीस योजन और एक योजन के उन्नीस भागों में से दो भाग (१६८४२ $\frac{२}{१९}$ योजन) प्रमाण है विदेह क्षेत्र का विस्तार तैंतीस हजार छह सौ चौरासी योजन और एक योजन के उन्नीस भागों में से चार भाग प्रमाण है। **(रा.वा. २)** भरत क्षेत्र से चौगुना विस्तार हैमवत क्षेत्र का, हैमवत् क्षेत्र से चौगुना विस्तार हरि क्षेत्र का एवं हरिक्षेत्र से चौगुना विस्तार विदेह क्षेत्र का है। पूर्व-पूर्व कुलाचल से आगे-आगे के कुलाचल चौगुने-चौगुने विस्तार वाले हैं। **(हरि. पु. ५/१३/१६)**

आगे के क्षेत्र और पर्वतों का विस्तार कहते हैं -

उत्तरा दक्षिणतुल्याः ॥२६॥

(उत्तराः) उत्तर के क्षेत्रों एवं पर्वतों का वर्णन (दक्षिणतुल्याः) दक्षिण के तुल्य है।

अर्थ - उत्तर के क्षेत्र एवं पर्वतों का वर्णन दक्षिण के क्षेत्रों एवं पर्वतों के तुल्य है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : यदि भरत क्षेत्र आदि का विस्तारक्रम इस प्रकार कहा है तो उत्तर क्षेत्रों का विस्तारक्रम किस प्रकार है? ऐसा पूछने पर यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा. उ. २६)**

क्षेत्र और पर्वतों का विस्तार क्रम से किस प्रकार है, इस बात को बताने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(सर्वा. ४१५)**

२. प्रश्न : सूत्र में दिये गये 'तुल्य' शब्द का संबंध किस प्रकार करना चाहिए ?

उत्तर : सूत्र में दिये गये 'तुल्य' शब्द से निषध पर्वत के समान नील पर्वत की, हरिक्षेत्र के समान रम्यक क्षेत्र का, महाहिमवान् पर्वत के समान रुक्मि पर्वत का, हैमवत क्षेत्र के समान हैरण्यवत क्षेत्र का, हिमवान् पर्वत के समान शिखरी पर्वत का तथा भरत क्षेत्र के समान ऐरावत क्षेत्र के विस्तार आदि को जानना चाहिए। **(श्लो. ५/३४६)**

३. प्रश्न : सूत्र में दिये गये 'उत्तरा' पद से किसका ग्रहण करना चाहिए ?

उत्तर : सूत्र में दिये गये 'उत्तरा' पद से उत्तर में स्थित ऐरावत क्षेत्र, शिखरी पर्वत, हैरण्यवत क्षेत्र, रुक्मि पर्वत, रम्यक क्षेत्र, नील पर्वत, इन पर स्थित ह्रद, ह्रदों में स्थित कमल आदि की समानता लगा लेनी चाहिए। **(सर्वा. ४१६)**

भरत एवं ऐरावत क्षेत्र में होने वाले वृद्धि-ह्रास को कहते हैं -

भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम् ।।२७।।

भरत ऐरावतयो: वृद्धि ह्रासौ षट् समयाभ्यां उत्सर्पिणी अवसर्पिणीभ्याम्।

(भरतैरावतयो:) भरत और ऐरावत क्षेत्र में (षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्यां) उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के छह-छह कालों में (वृद्धिह्रासौ) वृद्धि और ह्रास होता है।

अर्थ - भरत ऐरावत क्षेत्र में उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के छह-छह कालों में मनुष्यों की आयु की वृद्धि और ह्रास होता है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : यहाँ पर शंकाकार कहता है कि इन पूर्वोक्त भरतादि क्षेत्रों में मनुष्यों का अनुभव आदि क्या समान है या कुछ विशेषता है ? इस शंका का समाधान करने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(सर्वा. ४१७)**

२. प्रश्न : यह वृद्धि-ह्रास किसका होता है ?

उत्तर : भरत और ऐरावत का वृद्धि-ह्रास होता है।[१] यद्यपि क्षेत्र तो हमेशा अवस्थित रहता है उसका वृद्धि-ह्रास नहीं हो सकता फिर भी तात्स्थ्य होने से शब्द की सिद्धि होती है। अत: भरत-ऐरावत में वृद्धि-ह्रास का योग होता है। इस लोक में आधार-आधेय मान लेते हैं। जैसे - पर्वत स्थित वनस्पति के जलने पर पर्वत जल रहा है, ऐसा कहा जाता है; उसी प्रकार भरत-ऐरावत में रहने वाले मनुष्यों की आयु आदि की वृद्धि-ह्रास होने पर भरत-ऐरावत का वृद्धि-ह्रास कह दिया जाता है। अथवा ''भरतैरावतयो:'' इसमें अधिकरण (सप्तमी) निर्देश है। वह अधिकरण होने से आधेय की आकांक्षा करता है। अत: भरत-ऐरावत में मनुष्यों का वृद्धि-ह्रास होता है। **(रा.वा. १-२)**

३. प्रश्न : मनुष्यों में किसका वृद्धि-ह्रास होता है ?

उत्तर : अनुभव, आयु, प्रमाण आदि कृत वृद्धि-ह्रास होता है।

अनुभव - उपभोग-परिभोग की संपदा अनुभव है।

---

१. • 'भरतैरावतयो:' इस पद को षष्ठी और सप्तमी दोनों मानकर उन दोनों क्षेत्रों में होने वाले मनुष्य वगैरह की आयु, बल आदि की भी हानि-वृद्धि होती है और उन भूमियों की भी एक योजन प्रमाण हानि-वृद्धि यथासम्भव होती है।

• पाँच म्लेच्छ खण्डों में और विजयार्द्ध पर्वत पर सिर्फ उत्सर्पिणी के तीसरे आरे के प्रारम्भ दिवस से लेकर अन्तिम दिवस सदृश वृद्धि होकर फिर अवसर्पिणी के चौथे आरे के प्रथम दिवस से लेकर अंतदिवस सदृश हानि ही होती है।

आयु - जीवन का परिमाण आयु है।

प्रमाण - शरीर के उत्सेध को प्रमाण कहते है।

इस प्रकार शरीर की ऊँचाई, आयु, वैभव आदि कृत मनुष्यों का वृद्धि-ह्रास जानना चाहिए। **(रा.वा. ३)**

४. प्रश्न : यह वृद्धि-ह्रास किस कारण होता है ?

उत्तर : यह वृद्धि-ह्रास काल के निमित्त से होता है। काल दो प्रकार का है। (१) अवसर्पिणी (२) उत्सर्पिणी। **(रा.वा. ३)**

५. प्रश्न : अवसर्पिणी एवं उत्सर्पिणी का कितना काल है ?

उत्तर : अद्धापल्यों से निर्मित दस कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण अवसर्पिणी और इतना ही अर्थात् उत्सर्पिणी काल भी दस कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण का है। इन दोनों को मिलाने पर बीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण का एक कल्पकाल होता है। **(ति.प. ४/३१९-२०)**

६. प्रश्न : अवसर्पिणी काल किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिसमें आयु, अनुभव, शरीरादि की उत्तरोत्तर हानि-अवनति होती है वा उत्तरोत्तर आयु आदि का घटना जिसका स्वभाव है, वह अवसर्पिणी काल है। **(रा.वा. ४)**

जिसमें घटती होती रहे वह अवसर्पिणी काल है। **(म.पु. ३/२०)** इसके छह भेद हैं -

(१) सुषमा-सुषमा (२) सुषमा (३) सुषमा-दु:षमा (४) दु:षमा-सुषमा (५) दु:षमा (६) दु:षमा-दु:षमा। **(रा.वा. ५)**

७. प्रश्न : अवसर्पिणी काल में सुषमा-सुषमा आदि कालों की व्यवस्था किस प्रकार है ?

उत्तर : अवसर्पिणी काल में सुषमा-सुषमा, सुषमा एवं सुषमा-दु:षमा काल में मनुष्य और तिर्यंचों की संख्या जितने उत्सर्पिणी के चौथे काल (जघन्य भोगभूमि) में प्रवेश करते हैं, उतनी रहती है। इसके चौथे काल के प्रारंभिक प्रथम समय में ही जीवों की उत्पत्ति तथा थोड़े ही समय में उनकी वृद्धि होने लगती है। इस प्रकार तीन कालों में मनुष्य और तिर्यंच जीवों की संख्या क्रमश: बढ़ती ही रहती है। फिर इसके पश्चात् उत्सर्पिणी काल प्रारंभ हो जाता है। **(ति. प. ४/१६३३-३५)**

८. प्रश्न : सुषमा-सुषमा काल की क्या विशेषताएँ हैं ?

उत्तर : सुषमा-सुषमा काल की विशेषताएँ -

(१) यह अवसर्पिणी का पहला एवं उत्सर्पिणी का छठा काल है।

(२) इसका समय चार कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण है। **(ति.प. ४/३२१)**

(३) यहाँ के जीवों की जघन्य अवगाहना चार हजार धनुष एवं उत्कृष्ट अवगाहना ६००० धनुष प्रमाण होती है। **(रा.वा. ५)**

(४) यहाँ के जीवों की जघन्य आयु एक समय अधिक दो पल्य एवं उत्कृष्ट आयु तीन पल्य प्रमाण है। **(ति.प. ५/२९२)**

(५) यहाँ के जीवों के शरीर का वर्ण उदय कालीन सूर्य के सदृश है। **(ति.प. ४/३९७)**

(६) यहाँ के जीव शय्या पर सोते हुए अपना अंगूठा चूसने में तीन दिन, उपवेशन, अस्थिर-गमन, स्थिर गमन, कलागुणों की प्राप्ति, तारुण्य प्राप्ति एवं सम्यक्त्व ग्रहण की योग्यता में क्रमश: तीन-तीन दिन व्यतीत करते हैं। **(ति.प. ४/३८३-८४)**

(७) यहाँ के जीव अष्टम भक्त में (चौथे दिन) बेर के बराबर आहार करते हैं। **(ति.प. ४/३३८)**

(८) इनको रोग-पसीना, मल-मूत्र आदि की बाधा एवं मानसिक पीड़ा नहीं होती है। **(म.पु. ३/३१)**

(९) पति-पत्नी दोनों एक साथ उत्पन्न होते हैं और एक साथ मरकर स्वर्ग में जाते हैं। **(म.पु. ९/४२)**

(१०) इच्छा करते ही इन्हें समस्त भोगोपभोग की सामग्री कल्पवृक्षों से प्राप्त हो जाती है। **(म. पु. ३/३५)**

(११) यहाँ के मनुष्य-तिर्यंचों की नौ मास आयु शेष रहने पर गर्भ रहता है और मृत्यु समय आ जाने पर युगल बालक-बालिका जन्म लेते हैं। **(ति.प. ४/३८०)**

(१२) यहाँ के पुरुषों का जम्हाई एवं स्त्रियों का छींक लेकर मरण होता है। **(म. पु. ३/४२)**

(१३) यहाँ शंख, चींटी, खटमल, गोमक्षिका, डाँस, मच्छर, असंज्ञी और कृमि आदि विकलेन्द्रिय जीव नहीं होते हैं। **(ति. प. ४/३३५-३६)**

(१४) यहाँ स्त्रियाँ चौदह एवं पुरुष सोलह प्रकार के आभरण धारण करते हैं। **(ति. प. ४/३६५-३६६)**

(१५) इनका शरीर धातुमय होते हुए भी अशुचिता से रहित होने से विष्ठा आदि से रहित होता है। **(ति. प. ४/३८७)**

(१६) यहाँ मिथ्यादृष्टि जीव मरकर भवनत्रिक में एवं सम्यग्दृष्टि जीव मरकर सौधर्मैशान स्वर्ग में जाते हैं। **(ति. प. ४/३८२)**

९. प्रश्न : पुरुषों एवं स्त्रियों के आभूषण कौन-कौन से हैं ?

उत्तर : भोगभूमि के पुरुषों के आभूषण -

(१) कुण्डल (२) अङ्गद (३) हार (४) मुकुट (५) केयूर (६) पट्ट (७) कटक (८) प्रालम्ब (९) सूत्र (१०) नूपुर (११) दो मुद्रिकाएँ (१२) मेखला (१३) असि (१४) छुरी (१५) ग्रैवेयक (१६) कर्णपूर। इनमें से छुरी एवं असि से रहित शेष चौदह आभरण महिलावर्ग के होते हैं। **(ति. प. ४/३६५-६६)**

(१) कड़ा (२) कटिसूत्र (३) नूपुर (४) किरीट (५) प्रालम्ब (६) सूत्र (७) मुद्रिका (८) हार (९) कुण्डल (१०) मुकुट (११) अर्धहार (१२) चूड़ामणि (१३) ग्रैवेय (१४) अंगद (१५) छुरी (१६) तलवार, ये सोलह आभूषण पुरुषों के हैं। इनमें से छुरी और तलवार को छोड़कर शेष स्त्रियों के चौदह आभूषण हैं। **(ति. प. ४/३६७-६८ पाठान्तर)**

१०. प्रश्न : भोगभूमिया जीव स्वर्ग में ही क्यों जाते हैं ?

उत्तर : भोगभूमिया जीव न तो अपनी प्रशंसा स्वयं करते हैं और न दूसरों की निन्दा ही करते हैं। न उन्हें दूसरे के अभ्युदय से संक्लेश होता है, न वे किसी की वंचना के लिए कपट ही करते हैं। न उन्हें अहंकार होता है और न किसी प्रकार का लोभ, स्वभाव से ही उनका शरीर और भाव प्रशस्त होते हैं। फलत: दोनों लेश्याएँ शुभ ही होती हैं। ये ही सब कारण हैं कि वे मरकर स्वर्ग ही जाते हैं। **(व.चा. ७/६४-६५)**

११. प्रश्न : सुषमा काल की क्या विशेषताएँ हैं ?

उत्तर : सुषमा काल की विशेषताएँ -

(१) यह अवसर्पिणी का दूसरा एवं उत्सर्पिणी का पाँचवाँ काल है।

(२) इसका काल तीन कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण है। **(ति. प. ४/३२२)**

(३) यहाँ के मनुष्यों की उत्कृष्ट अवगाहना चार हजार धनुष एवं जघन्य अवगाहना २००० धनुष प्रमाण है। **(रा.वा. ५)**

(४) यहाँ के मनुष्यों की जघन्य आयु एक समय अधिक एक पल्य और उत्कृष्ट आयु दो पल्य प्रमाण है। **(ति. प. ५/२९१)**

(५) इस काल में मनुष्य दो दिन के अंतर से कल्पवृक्ष से प्राप्त वहेड़े के बराबर आहार करते हैं। **(ति. प. ४/४०२)**

(६) यहाँ के मनुष्यों का वर्ण पूर्णचन्द्र के समान होता है। **(ति.प. ४/४००)**

(७) इस काल में उत्पन्न बालक शय्या पर सोते हुए अपना अंगूठा चूसने में पाँच दिन व्यतीत करते

हैं। पश्चात् उपवेशन (बैठना), अस्थिरगमन, स्थिरगमन, कलागुण प्राप्ति, तारुण्य और सम्यक्त्व ग्रहण की योग्यता, इनमें से प्रत्येक अवस्था में पाँच-पाँच दिन जाते हैं। **(ति.प. ४/४०३-४)**

नोट : सुषमा-सुषमा काल में बताई गई ८ से लेकर १६ तक की विशेषताएँ यहाँ पर भी पाई जाती हैं।

१२. प्रश्न : सुषमा-दु:षमा काल की क्या विशेषताएँ हैं ?

उत्तर : सुषमा-दु:षमा काल की विशेषताएँ-

(१) यह अवसर्पिणी का तीसरा एवं उत्सर्पिणी का चौथा काल है।

(२) इसका समय दो कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण है। **(ति. प. ४/३२२)**

(३) यहाँ के मनुष्यों की उत्कृष्ट अवगाहना दो हजार धनुष एवं जघन्य अवगाहना पाँच सौ धनुष प्रमाण है। **(रा.वा. ५)**

(४) यहाँ के मनुष्यों की उत्कृष्ट आयु एक पल्य एवं जघन्य आयु एक समय अधिक एक पूर्व कोटि वर्ष है। **(ति. प. ५/२९०)**

(५) ये एक दिन के अंतराल से आँवले के बराबर अमृतमय आहार ग्रहण करते हैं। **(ति.प. ४/४१०)**

(६) इस काल में बालकों के शय्या पर सोते हुए सात दिन व्यतीत होते हैं। इसके पश्चात् उपवेशन, अस्थिरगमन, स्थिरगमन, कलागुणप्राप्ति, तारुण्य और सम्यक्त्व ग्रहण आदि क्रियायें सात-सात दिन तक होती हैं। **(ति.प. ४/४११-१२)**

(७) अवसर्पिणी के सुषमा दु:षमा काल में कुछ कम पल्य के आठवें भाग प्रमाण तृतीय काल के शेष रहने पर प्रथम कुलकर उत्पन्न होते हैं। फिर क्रमश: चौदह कुलकर उत्पन्न होते हैं। **(ति.प. ४/४२८)**

(८) यहाँ मनुष्यों का वर्ण प्रियंगुफल के समान (हरितश्याम) है। **(ति.प. ४/४०८)**

नोट : सुषमा-सुषमा काल में बताई गई ८ से लेकर १६ तक की विशेषताएँ यहाँ पर भी पाई जाती हैं।

१३. प्रश्न : दुषमा-सुषमा काल की क्या विशेषताएँ हैं ?

उत्तर : दुषमा-सुषमा काल की विशेषताएँ -

(१) यह अवसर्पिणी का चौथा और उत्सर्पिणी का तीसरा काल है।

(२) इस काल का समय ब्यालीस हजार कम एक कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण है। **(ति.प.४/३२३)**

भोग-भूमियों की विशेषताएँ

विषय	सुषमा-सुषमा	सुषमा	सुषमा-दु:षमा
१. भूमि-रचना	उत्तम भोगभूमि	मध्यम भोगभूमि	जघन्य भोगभूमि
२. काल-प्रमाण	४ कोड़ा कोड़ी सागर	३ कोड़ा कोड़ी सागर	२ कोड़ा कोड़ी सागर
३. उत्कृष्ट आयु	३ पल्य	२ पल्य	१ पल्य
४. जघन्य आयु	२ पल्य	१ पल्य	एक पूर्व कोटि
५. आहार प्रमाण	बेर प्रमाण	बहेड़ा प्रमाण	आँवला प्रमाण
६. अवगाहना उत्कृष्ट	६००० धनुष	४००० धनुष	२००० धनुष
७. अवगाहना जघन्य	४००० धनुष	२००० धनुष	५०० धनुष
८. आहार-अन्तराल	३ दिन बाद	२ दिन बाद	एक दिन बाद
९. उत्तान-शयन	३ दिन पर्यन्त	२ दिन पर्यन्त	एक दिन पर्यन्त
१०. उपवेशन	३ दिन पर्यन्त	५ दिन पर्यन्त	७ दिन पर्यन्त
११. अस्थिर-गमन	,, ,,	,, ,,	,, ,,
१२. स्थिर-गमन	,, ,,	,, ,,	,, ,,
१३. कला गुण प्राप्ति	,, ,,	,, ,,	,, ,,
१४. तारुण्य प्राप्ति	,, ,,	,, ,,	,, ,,
१५. सम्यक्त्व-योग्यता	,, ,,	,, ,,	,, ,,
१६. शरीर-पृष्ठभाग की हड्डियाँ	२५६	१२८	६४
१७. शरीर की कान्ति	सूर्य-प्रभा सदृश	चन्द्र-प्रभा सदृश	प्रियंगु फल-सदृश
१८. मरण के बाद शरीर	मेघवत् विलीन	मेघवत् विलीन	मेघवत् विलीन
१९. संहनन	वज्रवृषभ नाराच संहनन	वज्रवृषभ नाराच संहनन	वज्रवृषभ नाराच संहनन
२०. संस्थान	समचतुरस्र	समचतुरस्र	समचतुरस्र
२१. मरण	कदलीघात रहित	कदलीघात रहित	कदलीघात रहित
२२. मरण का कारण	पुरुष की छींक, स्त्री की जंभाई	छींक, जंभाई	छींक, जंभाई

भोग-भूमि का विवरण

क्र. सं.	नाम	भोग-भूमि की विशेषताएँ	तिलोयपण्णत्ति गाथा सं.
१.	भूमि	स्वच्छ, साफ, कीड़ों आदि से रहित निर्मल दर्पण सदृश पंचवर्ण की	३२४
२.	घास	पाँच वर्णों की मृदुल, मधुर, सुगन्धित और चार अंगुल प्रमाण	३२५
३.	वापिकाएँ	जलजन्तु रहित और सर्व व्याधियों को नष्ट करने वाले अमृतोपम जलयुक्त	३२६
४.	प्रासाद	अनेक प्रकार की मृदुल शय्याओं और अनुपम आसनों से युक्त	३२८-३०
५.	पर्वत	स्वर्ण एवं रत्नों के परिणाम स्वरूप तथा कल्पवृक्षों से युक्त और उन्नत	३३३
६.	नदियाँ	उभय तटों पर रत्नमय सीढ़ियों से संयुक्त और अमृत सदृश उत्तम जल से सहित	३३२
७.	जीव	विकलत्रय एवं असंज्ञी जीवों का तथा रोग कलह और ईर्ष्या आदि का अभाव	३३५
८.	काल	रात-दिन के भेद, अन्धकार गर्मी-सर्दी की बाधा और पापों से रहित	३३७
९.	उत्पत्ति	युगल उत्पत्ति होती है अन्य परिवार एवं ग्राम नगरादि से रहित होते हैं	३३८-४५
१०.	बल	एक पुरुष में ९००० हाथियों के बराबर बल	३४२
११.	शरीर	प्रशस्त ३२ लक्षण से युक्त, कवलाहार करते हुए भी निहार से रहित	३४४
१२.	कल्पवृक्ष	१० प्रकार के	३४६
१३.	पेय पदार्थ	३२ प्रकार के	३४७
१४.	वादित्र	नाना प्रकार के	३४८
१५.	आहार	१६ प्रकार का आहार १७ प्रकार के व्यंजन तथा १४ प्रकार की दाल	३५१
१६.	खाद्य	१०८ प्रकार के	३५१
१७.	स्वाद्य	स्वाद्य ३६३ प्रकार के, रस ६३ प्रकार के	३५२
१८.	भवन	स्वास्तिक, नन्द्यावर्त आदि १६ प्रकार के	३५३
१९.	फूलमालाएँ	१६००० प्रकार की	३५६
२०.	भोग	चक्रवर्ती के भोग से अनन्त गुणे	३६१
२१.	भोगसाधन	विक्रिया से अनेक प्रकार के शरीर बनाना	३६२
२२.	आभूषण	पुरुष के १६ प्रकार के, स्त्री के १४ प्रकार के	३६६
२३.	कलागुण	६४ कलाएँ	३८९
२४.	संहनन	वज्रवृषभ नाराच संहनन	३४३
२५.	संस्थान	समचतुरस्र संस्थान	३४३
२६.	मरण	कदलीघात रहित	३४३
२७.	मरण का कारण	पुरुष को छींक, स्त्री को जंभाई	३८१

(३) यहाँ के मनुष्यों की उत्कृष्ट अवगाहना पाँच सौ धनुष एवं जघन्य अवगाहना सात हाथ प्रमाण है। **(रा.वा. ५)**

(४) यहाँ के मनुष्यों की आयु एक पूर्व कोटि प्रमाण है। **(रा.वा. ५)**

(५) यहाँ के मनुष्य प्रतिदिन भोजन करते हैं।

(६) यहाँ के मनुष्यों के छहों संस्थान एवं छहों संहनन होते हैं।

(७) त्रेसठ (६३) शलाका पुरुषों का जन्म इसी काल में होता है। **(ति.प. ४/५१७)**

(८) रुद्र, कामदेव, गणधर देव और जो चरमशरीरी मनुष्य हैं उनकी उत्पत्ति दु:षमा सुषमा काल में जाननी चाहिए। **(ज.प. २/१८५)**

१४. प्रश्न : कल्पवृक्ष कौन-कौन से हैं जिनसे इन्हें भोगोपभोग सामग्री प्राप्त होती है ?

उत्तर : सुषमा-सुषमा आदि तीन कालों में दस प्रकार के कल्पवृक्ष होते हैं। (१) मद्यांग (२) वादित्रांग (३) भूषणांग (४) मालांग (५) दीपांग (६) ज्योतिरांग (७) गृहांग (८) भोजनांग (९) भाजनांग (१०) वस्त्रांग। **(म. पु. ९/३४-३५)** (१) पानांग (२) तूर्यांग (३) भूषणांग (४) वस्त्रांग (५) भोजनांग (६) आलयांग (७) दीपांग (८) भाजनांग (९) मालांग (१०) तेजांग। **(ति.प. ४/३४६)**

(१) मद्यांग - मद्यांग जाति के वृक्ष फैलती हुई सुगंध से युक्त तथा अमृत के समान मीठे मधु-मैरेय, सीधु, अरिष्ट और आसव आदि अनेक प्रकार के रस देते हैं। **(म.पु. ९/३७)**

(२) पानांग - पानांग जाति के कल्पवृक्ष मधुर, सुस्वादु, छहों रसों से युक्त प्रशस्त अतिशीतल तथा तुष्टि-पुष्टि कारक बत्तीस प्रकार के पेय देते हैं। **(ति.प. ४/३४७)**

(३) वादित्रांग - इन वृक्षों से दुन्दुभि, मृदंग, झल्लरी, शंख, भेरी, चंग आदि अनेक प्रकार के बाजे मिलते हैं।

(४) भूषणांग - ये वृक्ष नूपुर, बाजूबन्द, रुचिक, अंगद, करधनी, हार और मुकुट आदि अनेक प्रकार के आभूषण उत्पन्न करते हैं।

(५) मालांग - ये वृक्ष सब ऋतुओं के फूलों से व्याप्त अनेक प्रकार की मालाएँ और कर्णफूल आदि अनेक प्रकार के कर्णाभरण अधिक रूप से धारण करते हैं।

(६) दीपांग - ये वृक्ष मणिमय दीपकों से शोभायमान रहते हैं।

(७) ज्योतिरांग - प्रकाशमान कांति के धारक ये वृक्ष सदा प्रकाश फैलाते रहते हैं।

(८) गृहांग - ये वृक्ष ऊँचे-ऊँचे राजभवन, मंडप, सभागृह, चित्रशाला और नृत्यशाला आदि अनेक प्रकार के भवन तैयार करने के लिए समर्थ रहते हैं।

(९) भोजनांग - ये वृक्ष अमृत के समान स्वाद देने वाले, शरीर को पुष्ट करने वाले और छहों रस सहित अशन-पान आदि उत्तम-उत्तम आहार उत्पन्न करते हैं।

(१०) भाजनांग - ये वृक्ष थाली, कटोरा, सीप के आकार के बर्तन, भृंगार और करक आदि अनेक प्रकार के बर्तन देते हैं। ये बर्तन इन वृक्षों की शाखाओं में लटकते रहते हैं।

(११) वस्त्रांग - ये वृक्ष चायनासिल्क, रेशमवस्त्र, दुपट्टे और धोती आदि अनेक प्रकार के कोमल, चिकने और महामूल्यवान वस्त्र धारण करते हैं। **(म.पु. ९/३७-४८)**

१५. प्रश्न : प्रथम कल्पवृक्ष का नाम मद्यांग कल्पवृक्ष क्यों है ?

उत्तर : कामोद्दीपन की समानता होने से शीघ्र ही इन मधु आदि को उपचार से मद्य कहते हैं। वास्तव में, ये वृक्षों के एक प्रकार के रस हैं जिन्हें भोगभूमि में उत्पन्न होने वाले आर्य पुरुष सेवन करते हैं। मद्यपायी लोग जिस मद्य का पान करते हैं वह नशा करने वाला है और अंत:करण को मोहित करने वाला है। इसलिए आर्य पुरुषों को सर्वथा त्याज्य है। **(म.पु. ९/३८-३९)**

१६. प्रश्न : ये कल्पवृक्ष कैसे हैं ?

उत्तर : ये कल्पवृक्ष न तो वनस्पतिकायिक हैं और न देवों के द्वारा अधिष्ठित ही हैं। केवल वृक्ष के आकार परिणत हुआ पृथ्वी का सार ही है। ये सभी वृक्ष अनादिनिधन हैं और स्वभाव से ही फल देने वाले हैं। इन वृक्षों का ऐसा स्वभाव ही है। **(म.पु. ९/४९-५०)** ये कल्पवृक्ष अनेक रत्नों के बने हुए हैं और अपनी विस्तृत प्रभा से दशों दिशाओं को प्रकाशित करते रहते हैं। **(म.पु. ९/३५-३६)**

१७. प्रश्न : ये कल्पवृक्ष वस्त्रादि कैसे देते हैं ?

उत्तर : ये वृक्ष वस्त्र तथा बर्तन आदि कैसे देते होंगे ? इस प्रकार कुतर्क करके इनके स्वभाव में दूषण लगाना उचित नहीं है। जिस प्रकार आजकल के अन्य वृक्ष अपने-अपने फलने का समय आने पर अनेक प्रकार के फल देकर प्राणियों का उपकार करते हैं, उसी प्रकार उपर्युक्त कल्पवृक्ष भी मनुष्यों के दान देने के फल से अनेक प्रकार के फल रूप फलते हुए वहाँ के प्राणियों का उपकार करते हैं। **(म.पु. ९/५०-५१)**

१८. प्रश्न : इन्हें कल्पवृक्ष क्यों कहते हैं ?

उत्तर : ये कल्पवृक्ष पुण्यात्मा पुरुषों को मनचाहे भोग देते रहते हैं। इसलिए जानकार पुरुषों ने इनका 'कल्पवृक्ष' यह नाम सार्थक ही कहा है। **(म.पु. ३/३८)**

१९. प्रश्न : दु:षमा काल की क्या विशेषताएँ हैं ?

उत्तर : दु:षमा काल की विशेषताएँ-

(१) यह अवसर्पिणी का पाँचवाँ एवं उत्सर्पिणी का दूसरा काल है।

(२) यहाँ के मनुष्यों की जघन्य आयु बीस वर्ष एवं उत्कृष्ट आयु एक सौ बीस वर्ष प्रमाण है।

(३) यहाँ के मनुष्यों की जघन्य अवगाहना तीन या साढ़े तीन हाथ एवं उत्कृष्ट अवगाहना सात हाथ प्रमाण होती है।

(४) यहाँ के मनुष्य अनेक बार भोजन करते हैं।

(५) यहाँ के मनुष्य कान्तिहीन पंचवर्ण वाले होते हैं।

(६) उत्सर्पिणी काल के इस काल में एक हजार वर्षों के शेष रहने पर चौदह कुलकरों की उत्पत्ति होने लगती है।

(७) इस काल का प्रमाण इक्कीस हजार वर्ष है।

(८) वीर भगवान का निर्वाण होने के पश्चात् तीन वर्ष, आठ मास और एक पक्ष के व्यतीत हो जाने पर दुषमाकाल प्रवेश करता है। **(ति. प. ४/१४८६)**

(९) इस काल में प्रति हजार वर्ष में एक कल्की एवं प्रति पाँच सौ वर्ष में एक उपकल्की होता है। **(ति. प. ४/१५२८)**

(१०) इस काल में अतिवृष्टि, अनावृष्टि, चोर, परचक्र एवं कीड़ों आदि से सभी जनपदों को विषम बाधा होती है। **(ति. प. ४/१५३८)**

(११) इस काल में संयम गुण से विशिष्ट मनुष्यों के विराम दोष (अभाव) के कारण चारणऋद्धिधारी मुनि, देव और विद्याधर भी नहीं आते हैं। **(ति. प. ४/१५३७)**

(१२) यहाँ काल दोष से सभी धर्मों का परित्याग करते हुए अज्ञान युक्त परदारासक्त और कुलहीन राजा प्रजा का पालन करते हैं। **(ति.प. ४/१५३६)**

(१३) परिग्रहासक्ति, अत्यन्त मोह एवं मदवेग से अनेक प्रकार के संक्लेशों में डूबते हुए कितने ही जीव चारित्र को छोड़ देते हैं। **(ति.प. ४/१५३४)**

(१४) इस काल में विनयहीन और चिन्ता से युक्त मनुष्य राग, दम्भ, मद, क्रोध एवं लोभ से क्लेशित होते हुए निर्दयता एवं ईर्ष्या की मूर्ति होते हैं। **(१५३३)**

(१५) इस काल में मिथ्यात्व, मोह में ग्रस्त नरनारी माया एवं भय के कारण मर्यादा और लज्जा को भी नहीं गिनते हैं। **(१५३२)**

(१६) इस काल में मनुष्य कुल क्रमागत शील, सत्य, बल, तेज तथा यथार्थ ज्ञान आदि गुणों से हीन पुरुषों की सेवा करते हैं। **(१५३१)**

(१७) इस काल में सभी औषधियाँ नीरस हो जाती हैं तथा चोर, राजकुल, शत्रु, मारी आदि अनेक प्रकार के उपसर्ग होने लगते हैं। **(ति. प. ४/१५३०)**

२०. प्रश्न : पंचमकाल का अंत किस प्रकार होता है ?

उत्तर : इस दुषमा काल के प्रत्येक पाँच सौ वर्ष में एक उपकल्की होता है और प्रत्येक एक हजार वर्ष पश्चात् एक कल्की होता है। प्रत्येक कल्की के समय मुनि को अवधिज्ञान उत्पन्न होता है और चातुर्वर्ण्य भी घटता जाता है। चाण्डालादि ऐसे बहुत मनुष्य दिखते हैं। इस प्रकार से इक्कीसवाँ अंतिम कल्की होता है। जब कल्की राजा मुनियों के आहार पर भी शुल्क माँगता है तब मुनि अंतराय करके निराहार लौट जाते हैं। उन्हें अवधिज्ञान हो जाता है। उस समय में वीरांगज नामक मुनि, सर्वश्री नामक आर्यिका तथा अग्निदत्त और पंगुश्री नामक श्रावक युगल होते हैं। उस राजा के द्वारा शुल्क माँगने पर वह मुनि उन अग्निदत्त श्रावक, पंगुश्री श्राविका और सर्वश्री आर्यिका को बुलाकर प्रसन्नचित्त होते हुए कहते हैं कि अब दु:षमा काल का अन्त आ चुका है। हमारी और तुम्हारी आयु मात्र तीन दिन की शेष है। तब वे चारों ही संन्यास मरण पूर्वक कार्तिक कृष्णा अमावस्या को यह देह छोड़कर सौधर्म स्वर्ग में देव होते हैं। उस दिन क्रोध को प्राप्त हुआ असुरदेव कल्की को मारता है और सूर्यास्त के समय में अग्नि विनष्ट हो जाती है। इस प्रकार धर्मद्रोही इक्कीस कल्की एवं इतने ही उपकल्की एक सागर आयु से युक्त होकर घर्मा नरक में जाते हैं। **(ति.प. ४/१५२८-५५)**

२१. प्रश्न : दु:षमा दु:षमा काल की क्या विशेषताएँ हैं ?

उत्तर : दु:षमा-दु:षमा काल की विशेषताएँ -

(१) इस काल का प्रमाण इक्कीस हजार वर्ष है। **(ति.प.४/३२३)**

(२) यहाँ के मनुष्यों की जघन्य आयु पन्द्रह-सोलह वर्ष तथा उत्कृष्ट आयु बीस वर्ष प्रमाण है।

(३) यहाँ के मनुष्यों की जघन्य अवगाहना एक हाथ और उत्कृष्ट अवगाहना तीन या साढ़े तीन हाथ प्रमाण है।[१]

(४) यहाँ के मनुष्यों का रंग धुँएवत् श्याम होता है।

(५) यहाँ के मनुष्य खूब खाने वाले, जूँ-लीख आदि से आछन्न, दुर्गन्धयुक्त शरीर वाले होते हैं।

(६) उस समय वस्त्र, वृक्ष और मकान आदि मनुष्यों को दिखाई नहीं देते हैं।

(७) यहाँ के जीव कुबड़े, बौने, बन्दर जैसे रूपवाले होते हैं।

(८) उस समय मनुष्यों का आहार मूल, फल और मत्स्यादिक होते हैं। **(ति.प.४/१५५७-१५७५)**

(९) इस काल में नरक और तिर्यंचगति से आये हुए जीव ही यहाँ जन्म लेते हैं तथा यहाँ से मरकर घोर नरक व तिर्यंचगति में जन्म लेते हैं। **(ति.प. ४/१५६३)**

---

१. इस काल (दु:षमा दु:षमा) के प्रारम्भ में शरीर की ऊँचाई दो हाथ और आयु १६ वर्ष प्रमाण है।

(१०) उनचास दिन कम इक्कीस हजार वर्षों के बीत जाने पर जन्तुओं को भयदायक घोर प्रलयकाल प्रवृत्त होता है। **(ति.प. ४/१५-६५)**

(११) इसके अंतिम उनचास दिनों में सात-सात दिनों तक सात प्रकार की कुवृष्टियाँ होती हैं। **(ति.पं. ४/१५७०)**

२२. प्रश्न : छठे काल में मनुष्य कैसे होते हैं ?

उत्तर : यहाँ के मनुष्य प्राय: पशुओं जैसा आचरण करने वाले, क्रूर, बहरे, अन्धे, काने, गूँगे, दारिद्र्य एवं क्रोध से परिपूर्ण, दीन, बन्दर जैसे रूप वाले, कुबड़े, बौने शरीर वाले, नाना प्रकार की व्याधि वेदना से विकल, अतिकषाययुक्त, स्वभाव से पापिष्ठ, स्वजन आदि से विहीन, दुर्गन्ध युक्त शरीर एवं केशों से संयुक्त होते हैं, जूँ तथा लीख आदि से आच्छन्न होते हैं। **(ति. प. ४/१५५८-६२)**

२३. प्रश्न : सात कुवृष्टियाँ कौन-कौन सी हैं ?

उत्तर : (१) अत्यन्त शीतल जल (२) क्षारजल (३) विष (४) धूम (५) धूल (६) वज्र (७) जलती हुई दुष्प्रेक्ष्य अग्नि ज्वाला की वृष्टि। **(ति. प. ४/१५७०-७१)**

२४. प्रश्न : हुण्डावसर्पिणी काल की क्या-क्या विशेषताएँ हैं ?

उत्तर : असंख्यात अवसर्पिणी उत्सर्पिणी काल की शलाकाओं के बीत जाने पर प्रसिद्ध एक हुण्डावसर्पिणी आती है। उसके चिह्न विशेष-

(१) इसमें सुषमा-दुषमा काल की स्थिति में से कुछ काल के अवशिष्ट रहने पर भी वर्षा आदि पड़ने लगती है और विकलेन्द्रिय जीवों की उत्पत्ति होने लगती है।

(२) इसी (तीसरे) काल में कल्पवृक्षों का अन्त और कर्मभूमि का व्यापार प्रारंभ हो जाता है।

(३) इसी काल में प्रथम तीर्थंकर एवं प्रथम चक्रवर्ती भी उत्पन्न हो जाते हैं।

(४) इसी में चक्रवर्ती की विजयभंग होती है।

(५) इसी में कुछ जीवों का मोक्षगमन भी होता है।

(६) इसी में चक्रवर्ती के द्वारा की गई द्विजों के वंश की उत्पत्ति भी होती है।

(७) दु:षमा सुषमा काल में अट्ठावन ही शलाका पुरुष होते हैं।

(८) इसी में नौवें से सोलहवें तीर्थंकर पर्यंत सात तीर्थों में धर्म की व्युच्छित्ति होती है।

(९) इसी में ग्यारह रुद्र और कलहप्रिय नौ नारद होते हैं।

(१०) सातवें, तेईसवें और अंतिम तीर्थंकर पर उपसर्ग होता है।

(११) तीसरे, चतुर्थ एवं पंचम काल में धर्म के नाशक विविध प्रकार के दुष्ट, पापिष्ठ, कुदेव और कुलिङ्गी भी दिखने लगते हैं।

(१२) चाण्डाल, शबर, पाण, पुलिन्द, लाहल और किरात आदि जातियाँ उत्पन्न होती हैं।

(१३) दु:षमा काल में ब्यालीस कल्की एवं उपकल्की होते हैं। **(ति.प. ४/१६३८-४४)**

२५. प्रश्न : अवसर्पिणी का अंत होने पर पुन: सृष्टि का प्रारंभ कैसे होता है ?

उत्तर : अवसर्पिणी का अंत होते समय पृथक्-पृथक् संख्यात एवं संपूर्ण बहत्तर युगल गङ्गा सिन्धु नदियों की वेदी और विजयार्ध वन के मध्य प्रवेश करते हैं। देव और विद्याधर दयार्द्र होकर मनुष्य और तिर्यंचों में से संख्यात जीवराशि को उन प्रदेशों में ले जाकर रखते हैं। उत्सर्पिणी काल के प्रारंभ में सुवृष्टि होती है। इन सुवृष्टियों से विविध रसपूर्ण औषधियों से भरी हुई भूमि सुस्वाद रूप परिणत हो जाती है। पश्चात् शीतल गन्ध को ग्रहण कर वे मनुष्य और तिर्यंच गुफाओं से बाहर निकल आते हैं। उस समय स्त्री-पुरुष और तिर्यंच नग्न रहकर पशुओं जैसा आचरण करते हुए क्षुधित होकर वन-प्रदेशों में मत्त (धतूरे आदि) वृक्षों के फल, मूल एवं पत्ते आदि खाते हैं। इस प्रकार सृष्टि का प्रारंभ होता है। **(ति. प. /१५६८-८४)**

२६. प्रश्न : उत्सर्पिणी काल किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस काल में अनुभव, आयु, शरीर आदि उत्तरोत्तर उन्नत हों वह उत्सर्पिणी काल है। **(रा.वा. ५)** इसके छह भेद हैं-

(१) दु:षमा-दु:षमा (२) दु:षमा (३) दु:षमा-सुषमा (४) सुषमा-दु:षमा (५) सुषमा (६) सुषमा-सुषमा। **(ति.प. ४/१५७६-७७)**

२७. प्रश्न : उत्सर्पिणी के प्रारंभ में कौन-कौन सी सुवृष्टियाँ होती हैं ?

उत्तर : उत्सर्पिणी काल के प्रारंभ में पुष्कर मेघ सात दिन पर्यंत सुखोत्पादक जल बरसाते हैं। जिससे वज्राग्नि से जली हुई संपूर्ण पृथ्वी शीतल हो जाती है।

क्षीर मेघ उतने (७) ही दिन पर्यंत क्षीर जल की वर्षा करते हैं। इस प्रकार क्षीर जल से भरी हुई यह पृथ्वी उत्तम कांति युक्त हो जाती है।

इसके पश्चात् सात दिन पर्यन्त अमृत मेघ अमृत की वर्षा करते हैं। इस प्रकार अमृत से अभिषिक्त भूमि पर लता एवं गुल्म आदि उगने लगते हैं।

उस समय रसमेघ सात दिन पर्यंत दिव्य रस की वर्षा करते हैं।

इस दिव्य रस से परिपूर्ण सब (लता-गुल्म) आदि रस वाले हो जाते हैं। **(ति.प. ४/१५७९-८२)**

इस काल के प्रारंभ में जगत का संताप नाश करने वाली और सुख प्रदान करने वाली सात-सात दिन पर्यन्त उत्तम जल की, दूध की, घी की, इक्षुरस की और अमृत की वर्षा होती है। **(सि.सा.दी. ९/३२०-२१)**

२८. प्रश्न : उत्सर्पिणी काल में अतिदु:षमा आदि कालों की व्यवस्था किस प्रकार है ?

उत्तर : आर्यखण्ड में उत्सर्पिणी काल के अतिदु:षमा काल के प्रथम क्षण में मनुष्यों और तिर्यंचों में सब जीव अल्प होते हैं।

इसके पश्चात् दु:षमा सुषमा (तीसरे) काल के अन्त पर्यंत (अर्थात् दु:षमा एवं दु:षमा सुषमा) बहुत से मनुष्य तथा सकलेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय तिर्यंच जीव उत्पन्न होते हैं।

तत् पश्चात् एक समय में विकलेन्द्रिय प्राणियों के समूह एवं कुलभेद नष्ट हो जाते हैं। तथा चतुर्थ काल के प्रथम समय में कल्पवृक्षों की भी उत्पत्ति हो जाती है।

जितने मनुष्य-तिर्यंच जघन्य भोगभूमि में प्रवेश करते हैं उतने ही जीव छह कालों के भीतर भरत-ऐरावत क्षेत्रों में होते हैं। **(ति.प. ४/१६३३)**

२९. प्रश्न : कहाँ-कहाँ कौन-कौन सा काल वर्तन करता है ?

उत्तर : उत्तरकुरुओं (उत्तम भोगभूमि) में - पहला (सुषमा-सुषमा)।

हरिवर्ष-रम्यक क्षेत्रों (मध्यम भोगभूमि) में - दूसरा (सुषमा)।

हैमवत-हैरण्यवत क्षेत्रों (जघन्य भोगभूमि) में - तीसरा (सुषमा-दुषमा)।

सब महाविदेहों में - चौथा (दु:षमा सुषमा)।

विद्याधरों के नगरों (विजयार्धों) में - चतुर्थ काल।

शबर व पुलिन्दों (म्लेच्छों) के पाँच खण्डों में - चतुर्थ काल।

ढाई द्वीप के आगे अन्त के आधे स्वयंप्रभ पर्वत पर्यंत तीसरा काल। (जघन्य भोग भूमि) असंख्यात द्वीप-समुद्रों में-

आधे स्वयंभूरमण द्वीप में - दु:षमा।

स्वयंभूरमण समुद्र में तथा चारों कोनों पर - दु:षमा।

नरक गति में - दु:षमा-दु:षमा।

भरत-ऐरावत क्षेत्र में - छहों काल।

देवगति में - सुषमा-सुषमा। **(ज.द्वी.प. २/११६-१७६)**

३०. प्रश्न : कहाँ-कहाँ काल का परिवर्तन नहीं होता है ?

उत्तर : महाविदेह क्षेत्रादि में, स्वर्ग में, पाताल (नरक) में और भोगभूमि आदिक में तथा सर्व-द्वीप समुद्रों में (ढाई द्वीप के बाहर) काल का परिवर्तन नहीं होता है। अत: एक जैसी व्यवस्था रहती है। **(प.पु. ३/४७ आ.)**

अन्य क्षेत्रों की व्यवस्था बताते हैं -

ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिताः ॥२८॥

ताभ्यां-अपरा-भूमयः-अवस्थिताः।

(ताभ्यां) उन भरत और ऐरावत क्षेत्र के (अपरां) सिवाय (भूमयोऽवस्थिताः) भूमियाँ अवस्थित हैं।

अर्थ - भरत-ऐरावतक्षेत्र के सिवाय अन्य भूमियों में (उत्सर्पिणी अवसर्पिणी) परिवर्तन नहीं होता है। वे सदा एक सी रहती हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : (भरत ऐरावत को छोड़कर) शेष भूमियों में कैसी अवस्था है ? ऐसा पूछने पर यह सूत्र कहा गया है। **(सर्वा. ४१९)**

२. प्रश्न : भोगभूमियाँ कितनी हैं ?

उत्तर : ढाई द्वीप में कुल तीस भोगभूमियाँ हैं।

जम्बूद्वीप में ६ भोगभूमियाँ हैं-

(१) हैमवत क्षेत्र (२) हैरण्यवत क्षेत्र (जघन्य भोगभूमि) (३) हरिक्षेत्र (४) रम्यक क्षेत्र-मध्यम भोगभूमि (५) देवकुरु क्षेत्र (६) उत्तरकुरु क्षेत्र-उत्तम भोगभूमि।

धातकी खण्ड की बारह भोगभूमियाँ हैं।

दो हैमवत एवं दो हैरण्यवत, दो हरि, दो रम्यक, दो देवकुरु एवं दो उत्तरकुरु। इसी प्रकार बारह पुष्करार्ध द्वीप में भी जाननी चाहिए।

इस प्रकार कुलमिलाकर ६+१२+१२=३० भोगभूमियाँ हैं।

३. प्रश्न : भोगभूमि की पृथ्वी किसकी बनी है ?

उत्तर : वहाँ की भूमि सुसज्जित सुन्दर स्त्री के समान आकर्षक लगती है। महामहेन्द्र नील, मणियों से, रुचकप्रभ रत्नों से, कर्कतनों द्वारा, अत्यन्त जगमगाते हुए सूर्यकान्त मणियों द्वारा तथा चन्द्रकान्त मणियों से पूरी हुई पृथ्वी सब ऋतुओं और सब ही बेलाओं में अत्यधिक शोभित होती है। किसी स्थान पर भूमि का रंग बन्धूक पुष्प या मनःशिला के समान लाल है। दूसरे स्थलों की छटा जाति पुष्प, अंजन और सोने के रंग की है। अन्य स्थलों की कांति सारङ्ग (बगुला) पक्षियों के पंखों के समान है तथा कुछ अन्य स्थलों की छवि चन्द्रमा के अंकुरों के समान मोहक धवल है। **(व.चा. ७/४-६)** वहाँ की भूमि पंच वर्ण वाली और हीरा, इन्द्रनील, मरकत, मुक्ताफल, पद्मरागमणि तथा स्फटिक मणि से संयुक्त तन, मन, नयनों को आनंद देती है। **(ति.प. ४/३३३)**

४. प्रश्न : वहाँ के तिर्यंच क्या खाते हैं ?

उत्तर : वहाँ जिस प्रकार मनुष्यों के लिए भोग होते हैं, उसी प्रकार इन तिर्यंचों के भी अपनी-अपनी योग्यतानुसार फल, कन्द, तृण और अंकुरादि के भोग होते हैं। वहाँ व्याघ्रादिक भूमिचर और काक आदि नभचर तिर्यंच, मांसाहार के बिना कल्पवृक्षों के मधुर फल भोगते हैं। भोगभूमि में उदयकालीन सूर्य के सदृश प्रभा वाले समस्त हरिणादिक तृणजीवी पशुओं के युगल दिव्य तृणों का भोजन करते हैं। **(ति.प. ४/३९५-३९७)** वहाँ चार अंगुल प्रमाण घास है जिसे पशु (उस कोमल तृण सम्पदा को) रसायन समझकर चरते हैं। **(म.पु. ९/५३-५४)**

५. प्रश्न : भोगभूमि में कौन-कौन से तिर्यंच होते हैं ?

उत्तर : भोगभूमि में गाय, सिंह, हाथी, मगर, शूकर, सारङ्ग, रोझ, भैंस, वृक (भेड़िया) बन्दर, गवय, तेंदुआ, व्याघ्र, शृगाल, रीछ, भालू, मुर्गा, कोयल, तोता, कबूतर, राजहंस, कोरंड, बगुला, कोक, क्रौंच एवं किञ्जक तथा और भी तिर्यंच होते हैं। ये उत्तम वर्ण-विशिष्ट, सरल, मन्द कषायी और नाना प्रकार की जातियों वाले तिर्यंच जीव युगल-युगल रूप से होते हैं। **(ति.प. ४/३९२-९४)**

६. प्रश्न : भोगभूमि के तिर्यंचों के खाने की दूब कैसी है ?

उत्तर : भोगभूमि की दूब की चार विशेषताएँ हैं-

(१) वहाँ की घास अत्यन्त सुकुमार होती है।

(२) उस घास की गन्ध उत्तम सुगन्ध से व्याप्त है।

(३) वहाँ की घास अत्यन्त कोमल होते हुए भी उसके रंगों की संख्या पाँच है।

(४) वह मनमोहक दूब ऐसी मालूम होती है मानों नयी ही उगी है। मंद-मंद पवन के झकोरे जब दूब को झकोरे देते हैं तो उसके कोमल सुकुमार पौधे एक दूसरे को छूने लगते हैं। उससे जो ध्वनि निकलती है वह गन्धर्व देवों के उन गीतों को भी मात कर देती है जो मधुर स्निग्धस्वर तथा उसकी प्रतिध्वनि के कारण अत्यंत कर्णप्रिय होते हैं। **(व.चा. ७/७-९)**

भोगभूमि में पाँच वर्णों से स्फुरायमान, स्वभाव से मृदुल, मधुर, सुगंधित और चार अंगुल प्रमाण तृण (घास) है। **(ति.प. ४/३२६)**

७. प्रश्न : भोगभूमिया जीवों के शरीर में कौन-कौन से लक्षण होते हैं ?

उत्तर : किसी भोगभूमिया का शरीर ऐसा नहीं होता है जिस पर शुभ लक्षण न पायें जायें तथा उन सबमें जन्म से ही ललित कलाओं का प्रेम, ज्ञान तथा शुभ गुण होते हैं। उनकी हथेलियों और पैरों के तलुओं में द्वीप, समुद्र, भवन, विमान, जलाशय, नगर, गोपुर, इन्द्र की ध्वजा, शंख, पताका, मूसल, सूर्य, कमल, चन्द्रमा, स्वस्तिक, माला, कच्छप, दर्पण, सिंह, हाथी, ऐरावत, मछली, छत्र, शय्या, सिंहासन, वर्धमानक, श्रीवत्स, चक्र, अग्निज्वाला, वज्र, कलश के चिह्न होते हैं जो लौकिक सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार विभूतियों के द्योतक हैं। **(व.चा. ७/५६-५८)**

इन क्षेत्रों के जीवों की आयु कहते हैं-

एकद्वित्रिपल्योपमस्थितयो हैमवतकहारिवर्षकदैवकुरवका: ॥२९॥

एक-द्वि-त्रि-पल्योपम-स्थितय:-हैमवतक-हारिवर्षक-दैवकुरवका:।

(हैमवतक हारिवर्षक दैवकुरवका:) हैमवतक, हरिवर्ष और देवकुरु के मनुष्य (एकद्वित्रिपल्योपमस्थितय:) एक, दो और तीन पल्य की आयु वाले होते हैं।

अर्थ - हैमवत, हरिवर्ष और देवकुरु में रहने वाले जीव क्रमश: एक, दो और तीन पल्योपम प्रमाण आयु वाले होते हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : भरत और ऐरावत को छोड़कर अन्य भूमियों में मनुष्यों की आयु समान है कि कुछ विशेषता है? ऐसा पूछने पर यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा.उ. २९)**

२. प्रश्न : पाँचों हैमवतादि क्षेत्रों के जीवों की आयु कितनी होती है ?

उत्तर : पाँच हैमवत क्षेत्रों में स्थित जीवों की आयु एक पल्य, पाँचों हरिवर्ष क्षेत्रों में स्थित जीवों की दो पल्य एवं पाँचों देवकुरु क्षेत्रों में स्थित जीवों की आयु तीन पल्य प्रमाण है। **(त.सू. ३/२९)**

नोट - हैमवतादि क्षेत्रों के जीवों की जघन्य आयु, शरीर की ऊँचाई, रंग, उनके आहार के परिमाण आदि का वर्णन सुषमा-सुषमा, सुषमा एवं दु:षमा-सुषमा काल के जीवों के वर्णन (सूत्र. २७) में कर चुके हैं।

३. प्रश्न : हैमवतादि क्षेत्रों के जीवों में दाम्पत्य जीवन कब होता है ?

उत्तर : हैमवत क्षेत्र के जीवों के सात-सात दिन में अंगुष्ठ चूसनादि क्रियायें होती हैं इसलिए वे उनचास दिन में, हरिवर्ष क्षेत्र के जीवों के पाँच-पाँच दिन अंगुष्ठ चूसनादि क्रिया होती है, इसलिए वे पैंतीस दिन में तथा देवकुरु क्षेत्र के जीवों के तीन-तीन दिन ही अंगुष्ठ चूसनादि क्रिया होती है, इसलिए वे इक्कीस दिन में ही युवा होकर दाम्पत्य जीवन अंगीकार कर लेते हैं। **(ति.प. ४/४०३-४११, ३८४ के आधार से)**

४. प्रश्न : हैमवतादि क्षेत्रों की क्या विशेषता है ?

उत्तर : हैमवतादि क्षेत्रों की विशेषताएँ-

(१) वहाँ की वापिकाएँ जलजन्तुओं से रहित और सर्व व्याधियों को नष्ट करने वाले अमृतोपम जल से व्याप्त होती है।

(२) वहाँ विकलत्रय एवं असंज्ञी जीव नहीं होते हैं। **(ति.प. ४/३३५-३३६)**

(३) वहाँ रोग, कलह, ईर्षा आदि का अभाव है। **(म.पु.९/८३)**

(४) वहाँ अन्धकार, सर्दी-गर्मी की बाधा एवं रात-दिन का भेद नहीं होता है। **(म.पु. ९/६१)**

(५) वहाँ के एक पुरुष में नौ हजार (९०००) हाथियों का बल होता है। **(ति.प.४/३४२)**

(६) वहाँ तीन सौ त्रेसठ प्रकार के खाद्य पदार्थ होते हैं। **(ति.प.४/३५१-५२)**

(७) वहाँ की स्त्रियों की आयु एवं ऊँचाई वहाँ के पुरुषों के समान होती है। **(ति.प.४/३३९)**

(८) वहाँ के पुरुष स्त्री को आर्या एवं स्त्रियाँ पुरुष को आर्य कहती हैं। **(हरि.पु.७/१०२)**

(९) वहाँ असि, मसि आदि षट् कर्म एवं ब्राह्मणादि वर्णव्यवस्था नहीं होती है। **(हरि.पु.७/१०३)**

(१०) वहाँ कोई मित्र-शत्रु नहीं होते हैं और न स्वामी-सेवक होते हैं। **(हरि.पु. ७/१०४)**

(११) वहाँ के जीव अल्पकषायी होते हैं। वहाँ के सिंह भी हिंसा नहीं करते।

(१२) वहाँ के जीवों को भोग-सामग्रियाँ कल्पवृक्षों से प्राप्त होती हैं। **(म.पु. ३/३५)**

(१३) वहाँ जरा, रोग, शोक, विषाद, चिन्ता, दीनता, नींद, आलस्य, मल, लार, पसीना नहीं होते हैं। **(म.पु. ९/७३-७४)**

(१४) वहाँ उन्माद, कामज्वर, भोगविच्छेद, भय, ग्लानि, अरुचि, क्रोध, कृपणता और अनाचार नहीं होता है। **(म.पु. ९/७५-७६)**

(१५) वहाँ के सम्यग्दृष्टि मरकर सौधर्म-ईशान स्वर्ग में एवं मिथ्यादृष्टि मरकर भवनत्रिक में ही जाते हैं। **(ति.प. ४/३८२)**

उत्तर में स्थित मनुष्यों की स्थिति बताते हैं-

तथोत्तराः ॥३०॥

तथा-उत्तराः।

अर्थ - दक्षिण क्षेत्र के समान ही उत्तर में जानना चाहिए।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : उत्तर में मनुष्यों की स्थिति कैसी है ? ऐसा पूछने पर यह सूत्र कहा गया है ? **(रा.वा. उत्था. ३०)**

२. प्रश्न : दक्षिण के क्षेत्रों के समान उत्तर के क्षेत्र को किस प्रकार जानना चाहिए ?

उत्तर : हैरण्यवत क्षेत्र के मानवों की आयु, वर्ण, शरीर की ऊँचाई आदि हैमवत क्षेत्र के मनुष्यों के समान है। रम्यक क्षेत्रों के मानवों की आयु आदि हरिक्षेत्र के मनुष्यों के समान है। उत्तरकुरु क्षेत्र के मनुष्यों की आयु आदि देवकुरु के मनुष्यों की आयु आदि के समान है। **(रा.वा. ३/३०)**

विदेह क्षेत्र के मनुष्यों की आयु बताते हैं -

विदेहेषु संख्येयकाला: ॥३१॥

(विदेहेषु) विदेहक्षेत्र में स्थित जीव (संख्येयकाला:) संख्यातवर्ष की आयु वाले हैं।

१. प्रश्न : संख्येय काल से कितने वर्ष लेने चाहिए ?

उत्तर : संख्येयकाल से एक पूर्व कोटि वर्ष लेना चाहिए। एक पूर्व कोटि वर्ष में सत्तर लाख करोड़ और छप्पन लाख करोड़ हैं। ये सात नील, पाँच खरब, साठ अरब (७.०५.६००००००००००) को एक करोड़ से गुणा करने पर प्राप्त होते हैं। **नोट -** चौरासी लाख वर्ष का एक पूर्वांग होता है। चौरासी लाख पूर्वांग का एक पूर्व होता है। **(सु.बो.त.वृ. १७१)**

२. प्रश्न : विदेह क्षेत्र के मनुष्यों की आयु एवं अवगाहना कितनी है ?

उत्तर : पाँचों विदेह क्षेत्रों में मनुष्यों की आयु संख्यात वर्ष प्रमाण है। उनकी उत्कृष्ट आयु एक पूर्व कोटि वर्ष प्रमाण एवं जघन्य आयु अंतर्मुहूर्त प्रमाण है। यहाँ के मनुष्य की उत्कृष्ट अवगाहना पाँच सौ धनुष प्रमाण है। **(सर्वा. ४२६)**

३. प्रश्न : विदेह क्षेत्र की क्या-क्या विशेषताएँ हैं ?

उत्तर : विदेह क्षेत्र में दुर्भिक्षादि सात ईतियों (अतिवृष्टि, अनावृष्टि, मूषक, टिड्डी, शुक, स्वचक्र, परचक्र), मारि रोग, कुदेव, कुलिङ्ग (कुगुरु) और कुमतों का अभाव है। तथा केवलज्ञानी, तीर्थङ्करादि शलाका पुरुषों एवं साधुओं का निरंतर सद्भाव रहता है। **(त्रि.सा. ६८०)** उस देश में वर्षा न तो अधिक होती है न ही कम। चोर, चूहे, तोते, टिड्डी आदि का भय नहीं है। वहाँ न कुदेवों के मंदिर हैं, न वहाँ पाखण्डी तथा कुधर्म है। वहाँ असंख्यात तीर्थंकर होते हैं जिनकी पूजा देव करते हैं तथा गणधर, केवलज्ञानी तथा मुनिराज प्रतिदिन विहार करते हैं। वहाँ सद्धर्म सदा विराजमान रहता है। अङ्ग पूर्व रूप श्रुतज्ञान सदा रहता है। जिनालय, जिनप्रतिमा एवं मोक्षमार्ग सदा रहते हैं। **(शा.पु. ८/१२०-२५)**

४. प्रश्न : विदेह क्षेत्र में ग्राम आदि कैसे होते हैं ?

उत्तर : प्रत्येक विदेह क्षेत्र में पृथक्-पृथक् छ्यानवे करोड़ ग्राम है तथा छब्बीस हजार नगर, सोलह खेट, चौबीस हजार खर्वट, चार हजार मटंब, अड़तालीस हजार पत्तन, निन्यानवे हजार द्रोण, चौदह हजार संवाह, अट्ठाईस हजार दुर्ग अटवियाँ हैं। **(त्रि.सा. ६७४-७५)**

५. प्रश्न : ग्राम, नगर और खेट आदि किसे कहते हैं ?

उत्तर : ग्राम - जिनमें बाड़ से घिरे हुए घर हों, जिनमें अधिकतर शूद्र और किसान लोग रहते हों तथा जो बगीचा और तालाबों से सहित हों उन्हें ग्राम कहते हैं।

गाँव - जिसमें सौ घर हों उसे निकृष्ट (छोटा) तथा जिसमें पाँच सौ घर हों और जिसके किसान धन संपन्न हों उसे बड़ा गाँव कहते हैं।

नगर - जो परिखा, गोपुर, अटारी, कोट और प्राकार से सुशोभित हो, जिसमें अनेक भवन बने हुए हों, जो बगीचे और तालाब से सहित हो, जो उत्तम रीति से अच्छे स्थान पर बसा हो, जिसमें पानी का प्रवाह पूर्व और उत्तर के बीच वाली ईशान दिशा की ओर हो और जो प्रधान पुरुषों के रहने के योग्य हो, जो प्रशंसनीय हो, वह पुर अथवा नगर कहलाता है।

खेट - जो नगर, नदी और पर्वत से घिरा हुआ हो उसे बुद्धिमान पुरुष खेट कहते हैं।

खर्वट - जो केवल पर्वत से घिरा हुआ हो उसे खर्वट कहते हैं।

मटम्ब - जो पाँच सौ गाँवों से घिरा हो उसे पण्डित जन मटम्ब कहते हैं।

पत्तन - जो समुद्र के किनारे हो तथा जहाँ पर लोग नावों के द्वारा उतरते हों उसे पत्तन कहते हैं।

द्रोणमुख - जो किसी नदी के किनारे पर बसा हो उसे द्रोणमुख कहते हैं।

संवाह - जहाँ मस्तक पर्यन्त ऊँचे-ऊँचे धान्य के ढेर लगे हों। वह संवाह कहलाता है। **(म.पु. १६/१६४-७३)**

६. प्रश्न : विदेह क्षेत्र के मनुष्यों की क्या-क्या विशेषताएँ हैं ?

उत्तर : वहाँ के मनुष्य पूर्वोपार्जित पुण्योदय से त्यागी, भोगी, धीर, वीर, अनेक शास्त्रों में निपुण, सुन्दर, मधुरभाषी, व्रती, शीलवान, सम्यग्दृष्टि, बुद्धिमान, विद्वान, चतुर, विवेकी, सदाचारी, अनेक प्रकार की गुणरूपी लक्ष्मी से सुशोभित, दुराचार एवं पापों से रहित, न्याय के पथिक, जिनेन्द्रभक्त, नीच देवों से विमुख, निर्ग्रंथ गुरु की सेवा में आसक्त, कुगुरु की सेवा से रहित, विनयवान, उत्तम भावना वाले तथा धर्मध्यान में तत्पर होते हैं। **(शा.पु. १०/२२-२६)**

दूसरी प्रकार से भरत क्षेत्र का विस्तार कहते हैं -

भरतस्य विष्कम्भो जम्बूद्वीपस्य नवतिशतभागः ॥३२॥

भरतस्य-विष्कम्भः-जम्बूद्वीपस्य-नवतिशतभागः।

(भरतस्य) भरतक्षेत्र का (विष्कम्भः) विस्तार (जम्बूद्वीपस्य) जम्बूद्वीप के (नवतिशतभागः) एक सौ नब्बे भागों में से एक भाग प्रमाण है।

अर्थ - भरत क्षेत्र का विस्तार जम्बूद्वीप के एक सौ नब्बे भागों में से एक भाग प्रमाण है।

१. प्रश्न : भरत क्षेत्र का विस्तार सूत्र चौबीस में कह दिया है। पुनः क्यों कहा है ?

उत्तर : भरत क्षेत्र के विस्तार के बराबर यदि जम्बूद्वीप के टुकड़े किये जाँय तो एक सौ नब्बे होते हैं। इस प्रकार प्रकारान्तर का ज्ञान कराने के लिए पुन: भरत क्षेत्र का विस्तार कहा है अथवा-उत्तर सूत्र के अभिसम्बन्ध के लिए पुन: प्रकारान्तर से वर्णन किया है। ''द्विर्धातकीखण्डे'' ''पुष्करार्धे च'' यह सूत्र आगे कहेंगे। उनके संबंध (उनके वर्णन में सुविधा हो) के लिए भरत क्षेत्र का पुन: विस्तार कहा है। **(रा.वा. १-२)**

२. प्रश्न : जम्बूद्वीप के निकट स्थित लवणसमुद्र का विस्तार कितना है ?

उत्तर : लवणसमुद्र तलमूल में दस हजार (१०,०००) योजन विस्तृत है। यह सममूल तल में दो लाख (२,००००००) योजन विस्तार वाला है। उसके दोनों पार्श्वभागों में गोतीर्थ के समान क्रमश: हानि होते-होते मूल में दस हजार योजन रह जाता है, उतना ही जल के तल का विष्कम्भ है। इसका अवगाह (गहराई) एक हजार (१०००) योजन है। समभूमितल से यव राशि के समान सोलह हजार (१६०००) योजन ऊँचा जल है। **(रा.वा. ३)**

३. प्रश्न : लवणसमुद्र का आकार कैसा है ?

उत्तर : लवणसमुद्र जंबूद्वीप की खाई के आकार का गोल है। इसका विस्तार दो लाख योजन है। एक नाव के ऊपर अधोमुखी दूसरी नाव के रखने पर जैसा आकार होता है, उसी प्रकार वह समुद्र के चारों ओर आकाश में मण्डलाकार स्थित है। यह समुद्र चित्रापृथिवी के उपरिम तल से ऊपर कूटके आकार से आकाश में सात सौ (७००) योजन ऊँचा स्थित है। उसका विस्तार ऊपर दस हजार (१००००) योजन और चित्रा पृथिवी की प्रणिधि में दो लाख (२,००००००) योजन प्रमाण है। **(ति.प. ४/२४२८-३१)** यह लवण समुद्र मृदंग के आकार का है। **(रा.वा. ३)**

४. प्रश्न : लवणसमुद्र में कितने महापाताल हैं ?

उत्तर : उस लवणसमुद्र के मध्य में चारों दिशाओं में एक लाख (१,००००००) योजन गहरे चार महापाताल हैं। उस लवण समुद्र के मध्य में चारों दिशाओं में रत्नवेदिका से पिचानवे हजार तिरछे जाने पर वज्रमय तल और पार्श्वभाग वाले मृदंग के समान आकार वाले एक लाख योजन गहरे पृथ्वी के विवर (छिद्र) हैं। उनका मध्यभाग एक योजन ही चौड़ा है। वे तल और मूल भाग में दस-दस हजार योजन विस्तृत हैं। इनको महापाताल कहते हैं। पूर्व दिशा में पाताल, पश्चिम में बड़वामुख, उत्तर दिशा में यूपकेसर और दक्षिण दिशा में कलंबुक नामक महापाताल है। इन महापातालों में प्रत्येक के तीन-तीन भाग हैं। उन पातालों का एक-एक त्रिभाग तैंतीस हजार तीन सौ तैंतीस योजन और एक योजन के तीन भाग में से एक भाग से कुछ अधिक है। **(रा.वा. ४)**

५. प्रश्न : इन पातालों के जल में वृद्धि-हानि किस प्रकार होती है ?

उत्तर : रत्नप्रभा पृथ्वी के खरभाग में रहने वाली वातकुमार देवियों की क्रीड़ा से उत्पन्न वायु से

संक्षोभित पाताल के उन्मीलन-निमीलन हेतुक वायु और जल का निष्क्रमण एवं प्रवेश होता है। इसी के कारण दस हजार योजन विस्तृत मुखजल के ऊपर पचास योजन अवधृतजल की वृद्धि होती है। उसके बाद दो पार्श्व भागों में रत्नवेदिका पर्यंत सर्वत्र दो कोस प्रमाण जल की वृद्धि होती है। इसी प्रकार पाताल के उन्मीलन के कारण जल की हानि होती है। **(रा.वा. ४)** पृथ्वी के विवर स्वरूप पातालों में ऊपर के त्रिभाग में केवल जल, मध्यम भाग में जल और वायु, नीचे के भाग में मात्र वायु विद्यमान है। उन पातालों के तीन भागों में से मध्यका जल-वायु वाला त्रिभाग पहले-पहले (नीचे-नीचे) के भाग से प्रेरित हो चलाचल होता है और इस मध्यम भाग में स्थित जल और वायु की चलाचलता के कारण शुक्ल पक्ष में क्रमशः वायु और जल की वृद्धि और हानि होती है। इन पातालों के पवन सर्व-काल स्वभाव से शुक्लपक्ष से बढ़ते हैं और कृष्ण पक्ष में घटते हैं। **(ति.प. ४/२४६०-६२)** उत्कृष्ट पातालों की वायु के द्वारा समुद्र का जल चार हजार (४०००) धनुष बढ़ता है।

६. प्रश्न : लवणसमुद्र में कितने क्षुद्र पाताल हैं ?

उत्तर : लवणसमुद्र के मध्य चारों विदिशाओं में दस हजार योजन अवगाहन वाले, उतने ही मध्य में विष्कम्भ वाले, मुख और मूल में एक हजार योजन विस्तृत चार क्षुद्र पाताल हैं। उन क्षुद्र पातालों के विवरों में भी प्रत्येक के तीन-तीन भागों का वर्णन महापातालों के समान है। **(रा.वा. ५)** उन दिशाओं और विदिशाओं वाले आठों ही पातालों के मध्य में एक हजार योजन अवगाहन वाले, मध्य में उतने ही विस्तृत मुख एवं मूल में उनसे आधे विस्तार वाले एक हजार क्षुद्र पाताल हैं, इनका भी त्रिभाग पूर्व पातालों के समान है। उन एक-एक क्षुद्र पातालों के अंतरालों में मुक्तावली के समान एक सौ पच्चीस अन्य भी पाताल हैं। अंतरालों में सात हजार आठ सौ अस्सी पातालों का समुदाय है। **(रा.वा. ६)**

७. प्रश्न : कौन-कौन से समुद्रों में जलचर जीव रहते हैं ?

उत्तर : लवणसमुद्र, कालोदधि समुद्र और स्वयंभूरमण समुद्र में मछली, कछुआ आदि जलचर जीव रहते हैं। शेष समुद्रों में जलचर जीव नहीं रहते हैं। **(रा.वा. ८)**

८. प्रश्न : लवणसमुद्र में रहने वाले मत्स्यों की अवगाहना कितनी है ?

उत्तर : लवणसमुद्र में जहाँ नदी गिरती है, वहाँ नवयोजन शरीर वाला मत्स्य है और समुद्र के मध्य में अठारह योजन वाला मत्स्य है। कालोदधि समुद्र में नदी गिरने के स्थान पर अठारह योजन के तथा समुद्र के मध्य में छत्तीस योजन के मत्स्य हैं। स्वयंभूरमण समुद्र में नदी गिरने के स्थान पर पाँच सौ योजन के और समुद्र के मध्य में एक हजार योजन शरीर वाले मत्स्य हैं। **(रा.वा. ८)**

धातकीखण्ड का कथन करते हैं -

द्विर्धातकीखण्डे ।।३३ ।।

द्विः-धातकी-खण्डे।

अर्थ - धातकी खण्ड नामक दूसरे द्वीप में भरतादि क्षेत्र दो-दो हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : जो यह क्षेत्र, पर्वत, सरोवर, कमल आदि की संख्या, विष्कम्भ आदि की विधि जम्बूद्वीप में कही है उससे दूना विस्तार धातकी खण्ड में है। उसका प्रतिपादन करने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा. उत्था. ३३)** जो पहले जम्बूद्वीप कह आये हैं उसके चारों ओर एक वेदिका है। उसके बाद लवणसमुद्र है जिसका विस्तार दो लाख योजन है। इसके बाद धातकी खण्डद्वीप है। जिसका विस्तार चार लाख योजन है अब इसमें क्षेत्र आदि की संख्या का ज्ञान कराने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(सर्वा. ४२९)**

२. प्रश्न : इस द्वीप का नाम धातकी खण्ड क्यों प्रसिद्ध है ?

उत्तर : जम्बूद्वीप में जहाँ जम्बूवृक्ष है, धातकी खण्ड में वहाँ धातकी वृक्ष है। उस वृक्ष का वर्णन तथा इसके परिवार वृक्ष जम्बूद्वीप के समान हैं। उस वृक्ष पर निवास करने वाला द्वीपाधिपति (धातकी खण्ड का अधिपति) होने से इस द्वीप का नाम धातकी खण्ड जानना चाहिए। **(रा.वा.६)**

३. प्रश्न : धातकी खण्ड में भरतादि क्षेत्र और पर्वत किस प्रकार स्थित हैं ?

उत्तर : जैसे चक्र के आरे होते हैं उसी प्रकार के आकार वाले धातकी खण्ड के हिमवन् आदि पर्वत हैं और चक्र के बीच के भाग के समान भरतादि क्षेत्र हैं। ये क्षेत्र और पर्वत दोनों तरफ समुद्रों का स्पर्श करते हैं अर्थात् एक तरफ लवणसमुद्र और एक तरफ कालोदधि समुद्र, दोनों के बीच धातकी खण्ड होने से दोनों तरफ समुद्र का स्पर्श होता है। उस धातकी खण्ड द्वीप को चारों तरफ से घेरे हुए कालोदधि समुद्र है। **(रा.वा. ६)**

४. प्रश्न : धातकी खण्ड के भरत क्षेत्र का विस्तार कितना है ?

उत्तर : धातकी खण्ड के भरतक्षेत्र का अभ्यन्तर विस्तार छह हजार छह सौ चौदह योजन और एक योजन के दो सौ बारह भागों में से एक सौ उनतीस भाग (६६१४$\frac{१२९}{२१२}$ योजन) प्रमाण है।

मध्यम विष्कम्भ बारह हजार पाँच सौ इक्यासी योजन और एक योजन के दो सौ बारह भागों में से छत्तीस भाग (१२५८१$\frac{३६}{२१२}$ योजन) प्रमाण है।

बाह्य विष्कम्भ अठारह हजार पाँच सौ सैतालीस योजन और एक योजन के दो सौ बारह भागों में से एक सौ पचपन भाग (१८५४७$\frac{१५५}{२१२}$ योजन) प्रमाण है। **(रा.वा. २-४)**

५. प्रश्न : धातकी खण्ड के हैमवत आदि क्षेत्रों का विस्तार कितना है ?

उत्तर : धातकी खण्ड में विदेह पर्यंत क्षेत्र से क्षेत्र चौगुने हैं। भरत क्षेत्र से चौगुने विस्तार वाला हैमवत क्षेत्र है। हैमवत क्षेत्र से चौगुने विस्तार वाला हरिक्षेत्र है। हरिक्षेत्र से चौगुने विस्तार वाला विदेह क्षेत्र है। भरत के तुल्य विस्तार वाला ऐरावत क्षेत्र है। ऐरावत क्षेत्र से चतुर्गुना विस्तार हैरण्यवत का है और हैरण्यवत से चतुर्गुणा विष्कम्भ रम्यक क्षेत्र का है। **(रा.वा. ५)**

६. प्रश्न : जम्बूद्वीप से धातकी खण्ड में क्या विशेषता है ?

उत्तर : जम्बूद्वीप में क्षेत्र, पर्वत, सरोवर, नदी, वृत्तवेदाढ्य, देवकुरु, उत्तरकुरु, वृक्ष, गजदन्त आदि के जो नाम थे वे ही नाम धातकी खण्ड में हैं। हिमवानादि पर्वतों की ऊँचाई और गहराई जम्बूद्वीप के पर्वतों के समान हैं परन्तु विस्तार दुगुना है।

धातकी खण्ड के चारों वृत्तवेदाढ्यों की ऊँचाई और अवगाहना तो जम्बूद्वीप के पर्वतों के समान है और चौड़ाई दो हजार योजन प्रमाण है। यमकगिरि का उत्सेध और अवगाह तो जम्बूद्वीप के यमक-गिरि के समान है परन्तु विस्तार मूल में दो हजार योजन, मध्य में एक हजार पाँच सौ (१५००) योजन और उपरिभाग में एक हजार योजन है। कांचनगिरि की ऊँचाई और अवगाह तो जम्बूद्वीप के कांचनगिरि के समान है, परंतु विस्तार उससे दुगुना है। पद्म, महापद्म आदि छहों सरोवरों की लम्बाई, चौड़ाई और गहराई जम्बूद्वीप के सरोवरों से दुगुनी है और इन सरोवरों में स्थित कमल, द्वीप आदि भी दुगुने लम्बे, चौड़े और गहरे हैं। **(रा.वा. ५)**

जम्बू वा शाल्मली वृक्ष को छोड़कर शेष सबके नाम भी वही हैं। **(ति.प. ४/२८३९)** दक्षिण इष्वाकार के दोनों तरफ दो भरत हैं। तथा उत्तर इष्वाकार के दोनों तरफ दो ऐरावत क्षेत्र हैं। **(रा.वा. ६ के आधार से)** जम्बूद्वीप के शाल्मली वृक्षवत् यहाँ दोनों कुरुओं में दो-दो करके कुल चार धातकी वृक्ष स्थित हैं।

७. प्रश्न : धातकी खण्ड के भरत और ऐरावत क्षेत्र का विभाजन किससे हुआ है ?

उत्तर : धातकी खण्ड में भरत और ऐरावत क्षेत्र का विभाजन करने वाले दो इष्वाकारपर्वत हैं। ये दोनों इष्वाकार पर्वत दक्षिण और उत्तर भरत एवं ऐरावत क्षेत्र का विभाजन करने वाले हैं। कालोदधि और लवण समुद्र का स्पर्श करने वाले हैं। तथा सौ योजन गहरे, चार सौ योजन ऊँचे तथा नीचे एवं ऊपर एक हजार योजन विस्तृत सुवर्णमयी हैं। **(रा.वा. ६)**

८. प्रश्न : धातकी खण्ड में कितने मेरु हैं ?

उत्तर : धातकी खण्ड में पूर्व और पश्चिम दिशा में दो मेरु पर्वत हैं। ये दोनों मेरु एक हजार योजन गहरे, नौ हजार पाँच सौ योजन मूल में विस्तृत, पृथ्वी तल पर नौ हजार चार सौ योजन विस्तृत और चौरासी हजार योजन ऊँचे हैं। तथा उनकी एक हजार योजन विस्तृत तलवाली चालीस योजन ऊँची चूलिका है। इनमें भूमितल से पाँच सौ योजन ऊपर नन्दन वन है जो पाँच सौ योजन विस्तृत है। नन्दनवन से पचपन हजार पाँच सौ (५५५००) योजन ऊपर पाँच सौ योजन विस्तृत सौमनस वन है। सौमनस वन से अट्ठाईस हजार (२८०००) योजन ऊपर पाण्डुक वन है। इन दोनों मेरु में दस प्रदेशों के ऊपर एक-एक प्रदेश की वृद्धि होती है और नीचे से दस प्रदेशों पर एक-एक प्रदेश की हानि होती है, इस प्रकार ५००+५५५००+२८०००+१००० (गहराई)+४०(चूलिका) = ८५०४० योजन प्रमाण है। **(रा.वा. ६)**

९. प्रश्न : धातकी खण्ड की परिधि कितनी है ?

उत्तर : सूक्ष्म परिधि निकालने का सूत्र $\sqrt{\text{व्यास}^{२}\times १०}$ यहाँ धातकी खण्ड का व्यास तेरह लाख १३,००००० योजन प्रमाण है। धातकी खण्ड की बाह्य परिधि $\sqrt{(१३ \text{ ला.})^{२}\times १०}$ = (४११०९६० योजन) इकतालीस लाख दस हजार नौ सौ साठ योजन, तीन कोस एक हजार छह सौ पैंसठ (१६६५) धनुष और साधिक तीन हाथ है। मध्यपरिधि $\sqrt{(९ \text{ ला.})^{२}\times १०}$ = अठाईस लाख, छ्यालीस हजार, पचास (२८,४६,०५०) योजन से कुछ कम है।

अभ्यंतर परिधि $\sqrt{(५ \text{ ला.})^{२}\times १०}$ = पन्द्रह लाख इक्यासी हजार एक सौ उनतालीस (१५,८१,१३९) योजन है। **(ति.प. ४/२६०३-५)**

१०. प्रश्न : धातकी खण्ड में पर्वतआदि का प्रमाण कितना है ?

उत्तर : धातकी खण्डद्वीप में पर्वतादि का प्रमाण - २ मेरु, २ इष्वाकार, १२ कुलगिरि, ६८ विजयार्ध, ८ नाभिगिरि, ८ गजदन्त, ८ यमक, ४०० काँचनगिरि, १६ दिग्गजेन्द्र, ३२ वक्षार पर्वत, ६८ वृषभगिरि, ६ कर्मभूमि, १२ भोगभूमि, २८ महानदियाँ, १२८ विदेह क्षेत्र की नदियाँ, २४ विभंगानदियाँ, ३२ द्रह, १५६ महानदियों व क्षेत्र नदियों के कुण्ड, २४ विभंगा नदियों के कुण्ड, २ धातकी वृक्ष, २ शाल्मली वृक्ष हैं। **(ज.प. ११/२९-८१)**

११. प्रश्न : धातकी खण्ड के हिमवनादि पर्वत का विस्तार कितना है ?

उत्तर : धातकी खण्ड के हिमवान पर्वत का विस्तार दो हजार एक सौ पाँच योजन और एक योजन के उन्नीस भागों में से पाँच भाग (२१०५$\frac{५}{१९}$ योजन) प्रमाण है।

महाहिमवान पर्वत का विस्तार आठ हजार चार सौ इक्कीस योजन और एक योजन के उन्नीस भागों में से एक भाग (८४२१$\frac{१}{१९}$ योजन) प्रमाण है।

निषधपर्वत का विस्तार तैंतीस हजार छह सौ चौरासी योजन और एक योजन के उन्नीस भागों में से चार भाग (३३६८४$\frac{४}{१९}$ योजन) प्रमाण है। **(ति.प. ४/२५९६-९७)** नील पर्वत का विस्तार निषध पर्वत के समान है।

रुक्मि पर्वत का विस्तार महाहिमवान् पर्वत के समान है।

शिखरी पर्वत का विस्तार हिमवन् पर्वत के समान जानना चाहिए। **(ति.प. ४/२३५४-८२)**

१२. प्रश्न : इन मेरुओं पर कितने जिनालय हैं ?

उत्तर : धातकी खण्ड में स्थित विजय और अचल मेरुओं के भद्रशाल आदि चारों वनों में चार-चार जिनालय हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर (४×४) सोलह-सोलह जिनालय हैं।

पुष्कर द्वीप का वर्णन करते हैं -

पुष्करार्धे च ॥३४॥

पुष्कर - अर्धे च।

अर्थ - आधे पुष्कर द्वीप में भी क्षेत्र एवं पर्वत दूने-दूने हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : कालोदधि को घेरे हुए सोलह लाख योजन विस्तृत पुष्कर द्वीप है। जैसे धातकी खण्ड में द्वीप और समुद्र दूने-दूने विस्तार वाले होने से धातकी खण्ड के समान क्षेत्र-पर्वतादि से पुष्कर द्वीप में क्षेत्र पर्वत आदि के दुगुने होने का प्रसंग आने पर उनकी विशेष अवधारणा के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा. उ.३४)**

२. प्रश्न : इस द्वीप को पुष्करार्ध संज्ञा कैसे प्राप्त हुई ?

उत्तर : (चूड़ी के समान गोल) मानुषोत्तर पर्वत के कारण इस पुष्कर द्वीप के दो विभाग हो जाने से इस द्वीप को 'पुष्करार्ध' संज्ञा प्राप्त है। **(रा.वा. ६)**

३. प्रश्न : इस द्वीप को पुष्कर द्वीप क्यों कहते हैं ?

उत्तर : जम्बूद्वीप में जिस प्रकार जम्बू वृक्ष है, उसी प्रकार परिवार, ऊँचाई आदि वाला पुष्कर द्वीप में पुष्कर नाम का वृक्ष है। उस वृक्ष पर पुष्कर द्वीप का अधिपति देव रहता है। पुष्कर वृक्ष की अपेक्षा या रूढ़ि से इस द्वीप को पुष्कर द्वीप कहते हैं। **(रा.वा. ५)**

४. प्रश्न : पुष्करार्ध द्वीप के भरत क्षेत्र का विस्तार कितना है ?

उत्तर : पुष्करार्ध द्वीप के भरतक्षेत्र का अभ्यंतर विष्कम्भ इकतालीस हजार पाँच सौ उन्यासी योजन और एक योजन के दो सौ बारह भागों में से एक सौ तिहत्तर भाग (४१५७९$\frac{१७३}{२१२}$ योजन) प्रमाण है।

मध्यम विष्कम्भ त्रेपन हजार पाँच सौ बारह योजन और एक योजन के दो सौ बारह भागों में से एक सौ निन्यानवे भाग प्रमाण है और बाह्य विष्कम्भ पैंसठ हजार चार सौ ब्यालीस योजन और एक योजन के दो सौ बारह भागों में से तेरह भाग प्रमाण है। **(रा.वा. २-४)**

५. प्रश्न : पुष्करार्ध द्वीप के कुलाचल आदि का विस्तार कितना है ?

उत्तर : पुष्करार्ध के कुलाचल, विजयार्ध, वृत्तवेदाढ्य आदि की ऊँचाई और भूमितल में गहराई तो जम्बूद्वीप के कुलाचलादि के समान है। दोनों इष्वाकारों और दोनों मेरु की ऊँचाई, विस्तार आदि का प्रमाण धातकी खण्ड के इष्वाकारों और मेरु के समान है। **(रा.वा. ५)**

६. **प्रश्न : पुष्करार्ध द्वीप में कौन-कौन से मेरु हैं ?**

उत्तर : पुष्करार्ध द्वीप में दो मेरु हैं -

(१) मन्दर मेरु (२) विद्युन्माली।

इनका विस्तार, इनके ऊपर स्थित जिनालय, भद्रशाल वन आदि का कथन धातकी खण्ड के समान जानना चाहिए। **(ति. प.)**

मनुष्यों के रहने का स्थान कहते हैं -

प्राङ्मानुषोत्तरान् मनुष्याः ॥३५॥

प्राक्-मानुषोत्तरात्-मनुष्याः।

(प्राङ्मानुषोत्तरान्) मानुषोत्तर पर्वत के पहले-पहले (मनुष्याः) मनुष्य हैं।

अर्थ - मानुषोत्तर पर्वत के पहले-पहले मनुष्य रहते हैं।

१. **प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?**

उत्तर : जम्बूद्वीप से दूने पर्वत-क्षेत्र आदि पुष्करार्ध में ही किसलिए कहे जाते हैं, पूरे पुष्कर द्वीप में क्यों नहीं ? ऐसा पूछने पर यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा.उ. ३५)** मानुषोत्तर पर्वत के इस ओर ही मनुष्य है उस और नहीं। इसलिए मानुषोत्तर पर्वत के बाहर पूर्वोक्त क्षेत्रों का विभाग नहीं है। अथवा-इस तत्त्वार्थ सूत्र के दूसरे अध्याय के **'कृमि पिपीलिका २/२३'** इसमें मनुष्य शब्द है, वे कहाँ रहते हैं, यह ज्ञात नहीं है, इसलिए उन मनुष्यों के अधिकरण विशेष को बताने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा.)** यहाँ शंकाकार का कहना है कि जम्बूद्वीप में हिमवन् आदि की जो संख्या है उससे हिमवन् आदि की दूनी संख्या आधे पुष्कर द्वीप में क्यों कही जाती है पूरे पुष्कर द्वीप में क्यों नहीं कही जाती ? इस शंका का समाधान करने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(सर्वा. ४३३)**

२. **प्रश्न : मनुष्य कहाँ रहते हैं ?**

उत्तर : मानुषोत्तर पर्यन्त ही मनुष्य रहते हैं। वे इसका उल्लंघन नहीं कर सकते हैं। **(त.सू. ३/३५)**

३. **प्रश्न : मानुषोत्तर पर्वत कहाँ स्थित है ?**

उत्तर : कालोदक समुद्र की जगती से चारों ओर आठ लाख (८०००००) योजन प्रमाण जाकर मानुषोत्तर नामक पर्वत उस द्वीप को सब ओर वेष्टित किये हुए है। **(ति.प. ४/२७९२)** पुष्कर द्वीप के ठीक मध्य में चूड़ी के समान गोल मानुषोत्तर नाम का पर्वत है। **(सर्वा. ४३४)**

४. **प्रश्न : इस पर्वत का नाम मानुषोत्तर क्यों है ?**

उत्तर : समुद्घात एवं उपपाद अवस्था के मनुष्यों को छोड़कर अन्य विद्याधर, ऋद्धिधारी आदि कोई भी मनुष्य इस पर्वत के उस ओर नहीं जा सकते। इसलिए इसकी मानुषोत्तर संज्ञा सार्थक है। **(रा.वा. ३/३५)**

५. प्रश्न : मानुषोत्तर पर्वत का विस्तार कितना है ?

उत्तर : मानुषोत्तर पर्वत एक हजार सात सौ इक्कीस योजन (१७२१) ऊँचा है। सात सौ तीस योजन और एक कोस (७३० $\frac{१}{४}$ यो.) भूमितल में नीचे गहरा है, मूल में बाईस हजार (२२०००) यो. विस्तृत, मध्य में सात सौ तेईस (७२३) योजन और ऊपर चार सौ चौबीस (४२४) योजन विस्तृत है। यह पर्वत अर्ध यवराशि के समान अथवा नीचे मुख करके बैठे हुए सिंह की आकृति के सदृश प्रतीत होता है। **(रा.वा. ३/३४)**

६. प्रश्न : मनुष्य लोक का व्यास कितना है एवं यह कैसे प्राप्त होता है ?

उत्तर : मनुष्य लोक का व्यास पैंतालीस लाख (४५०००००) योजन प्रमाण है। (कोई जीव जम्बूद्वीप के मध्य भाग से यदि पूर्व दिशा की ओर चलकर मानुषोत्तर पर्वत को स्पर्श करे तो बाईस लाख पचास हजार (२२,५०,०००) योजन पार करके जाना पड़ेगा तथा मेरु जम्बूद्वीप के मध्य भाग से पश्चिम की ओर चलकर मानुषोत्तर पर्वत को स्पर्श करेगा तो भी बाईस लाख पचास हजार (२२,५०,०००) योजन क्षेत्र को पार करना पड़ेगा) अत: पूरे मनुष्य लोक का व्यास २२,५०,०००+२२,५०,०००= ४५००००० योजन हो जाता है। **(ति.प. ४/९)**

७. प्रश्न : मनुष्य लोक का प्रमाण, परिधि एवं क्षेत्रफल कितना है ?

उत्तर : चित्रा पृथ्वी के ऊपर त्रसनाड़ी के बहुमध्य भाग में पैंतालीस लाख (४५०००००) योजन प्रमाण विस्तार वाला, अतिगोल मनुष्य लोक है। **(ति. प. ४/६)** गोल क्षेत्र की परिधि $\sqrt{(\text{व्यास})^{२}\times १०}$ अर्थात् व्यास के वर्ग को दस से गुणा करने पर जो गुणनफल प्राप्त हो उसके वर्गमूल प्रमाण परिधि है। अत: (४५ लाख×४५ लाख)×१०=२०२५००००००००००० = वर्गमूल १४२३०२४९ वर्ग योजन होते हैं और अवशेष रहे उन्हें छोड़ दिया गया है। **(ति.प. ४/९)** क्षेत्रफल = परिधि को व्यास के चतुर्थांश से गुणा करने पर क्षेत्रफल प्राप्त होता है।

अत: $\frac{१४२३०२४९}{१}\times\frac{४५००००० }{४}$ = १६००९०३०१२५००० वर्ग योजन मनुष्य लोक का क्षेत्रफल प्राप्त होता है। **(ति.प. ४/९)**

८. प्रश्न : क्या मानुषोत्तर पर्वत के आगे किसी भी अवस्था में मनुष्य नहीं पाये जाते हैं ?

उत्तर : नहीं, उपपाद और समुद्घात की अपेक्षा मानुषोत्तर पर्वत के बाहर भी मनुष्य पाये जाते हैं।

उपपाद - मानुषोत्तर पर्वत के बाहर के जीव यदि मरकर मनुष्य पर्याय में उत्पन्न होते हैं तो विग्रहगति में मनुष्यायु का उदय होने से मानुषोत्तर पर्वत के बाहर मनुष्य का अस्तित्व है।

समुद्घात - केवली समुद्घात में केवली के आत्म-प्रदेश सारे लोकाकाश में फैल जाते हैं। उनके मनुष्य आयुका उदय है।

मारणांतिक समुद्घात में मनुष्य के प्रदेश मानुषोत्तर पर्वत के उस ओर जन्म लेना हो तो जाते हैं। तब मनुष्य आयु का उदय रहता है। **(रा.वा. टिप्पणी)**

९. प्रश्न : नंदीश्वर द्वीप कहाँ है और इसका वलय व्यास कितना है ?

उत्तर : जम्बूद्वीप को आदि करके (सात) द्वीप और (सात) समुद्रों के बाद आठवाँ नंदीश्वर द्वीप आता है।

इसका वलय व्यास एक अरब, त्रेसठ करोड़, चौरासी लाख (१, ६३,८४०००००) योजन प्रमाण है। या एक सौ त्रेसठ करोड़ चौरासी लाख (१६३,८४,०००००) योजन प्रमाण है तथा बाह्य सूची व्यास छह अरब पचपन करोड़ तैंतीस लाख (६,५५,३३०००००) योजन प्रमाण है। **(ति.प. ५/५२-५४)**

१०. प्रश्न : नंदीश्वर द्वीप में कितने पर्वत तथा कितनी वापिकाएँ हैं ?

उत्तर : नंदीश्वर द्वीप की चारों दिशाओं में चार अंजनगिरि, सोलह दधिमुख पर्वत एवं चौंसठ रतिकर पर्वत हैं। इस प्रकार कुल चौरासी पर्वत हैं तथा एक-एक अंजनगिरि की चारों दिशाओं में एक-एक वापिका है। इस प्रकार कुल सोलह वापिकाएँ हैं। **(रा.वा.)**

११. प्रश्न : अञ्जन गिरि पर्वत का विस्तार कितना है ?

उत्तर : नंदीश्वर द्वीप की चारों दिशाओं के बहुमध्य भाग में चौरासी हजार (८४०००) योजन ऊँचे, एक हजार (१०००) योजन भूतल में गहरे चार अंजनगिरि हैं। ये चारों पर्वत मूल, मध्य और अग्रभाग में चौरासी हजार (८४०००) योजन लम्बे-चौड़े हैं। ढोल के आकार के हैं। इन पर्वतों से तिरछे एक लाख (१०००००) योजन दूर चारों दिशाओं में चार वापिकाएँ हैं। इनका रंग अञ्जन के समान कृष्ण वर्ण का है। **(रा.वा.)**

१२. प्रश्न : दधिमुख पर्वत कहाँ स्थित हैं ?

उत्तर : नंदीश्वर द्वीप में सोलह वापिकाओं के मध्य में एक हजार योजन प्रमाण अवगाहन (नींव) वाले, मूल मध्य और अग्रभाग में दस-दस हजार योजन ऊँचे पर्वत हैं। वे सभी पर्वत ढोल के समान गोल, सुवर्णमय हैं। उनके शिखर रजत और सुवर्णमय हैं अत: उनका नाम दधिमुख है। दधि के समान सफेद होने से इनका दधिमुख नाम सार्थक है। **(रा.वा.)**

१३. प्रश्न : नंदीश्वर द्वीप में रतिकर पर्वत कहाँ स्थित हैं ?

उत्तर : नंदीश्वर द्वीप की प्रत्येक वापिका के प्रत्येक कोने में रतिकर नामक चार-चार पर्वत हैं ये सभी पर्वत ढाई सौ योजन (२५०) अवगाह वाले हैं। एक हजार योजन ऊँचे हैं। मूल, मध्य और अग्रभाग में एक हजार (१०००) योजन लम्बे-चौड़े एवं ढोल के समान गोल आकार वाले हैं। सुवर्णमय एवं रत्नमय हैं। सर्व वापिकाओं में कुल मिलाकर चौंसठ रतिकर पर्वत हैं। **(रा.वा.)**

१४. प्रश्न : नंदीश्वर की बावड़ियों का विस्तार कितना है ?

उत्तर : इन वापिकाओं की गहराई एक हजार योजन है। लम्बाई एवं विस्तार एक-एक लाख योजन प्रमाण है। इनका आकार चतुष्कोण है। इनमें मछली, कच्छप आदि जलचर जीव नहीं हैं। ये पद्म, कमल आदि जलपुष्पों से आच्छादित हैं। इनमें स्फटिक मणि के समान निर्मल नीर भरा हुआ है। (ये अञ्जनगिरि पर्वतों की पूर्वादि दिशा में एक-एक लाख योजन दूर स्थित हैं।) **(रा.वा.)**

१५. प्रश्न : नंदीश्वर के बावन जिन चैत्यालय कहाँ हैं ?

उत्तर : नंदीश्वर द्वीप में स्थित सोलह वापिकाओं के बाह्य (दो-दो) कोनों पर स्थित बत्तीस रतिकर, चार अंजनगिरि और सोलह दधिमुख इस प्रकार बावन पर्वतों पर बहुमध्य भाग में पूर्वमुख वाले सौ योजन लंबे, पचास योजन चौड़े और पिचहत्तर योजन ऊँचे बावन जिनभवन हैं। इन्हीं की अष्टाह्निका पर्व में पूजा की जाती है। **(रा.वा.)**

१६. प्रश्न : देव इन चैत्यालयों की पूजा कब करते हैं ?

उत्तर : देव प्रत्येक आषाढ, कार्तिक एवं फाल्गुन मास के शुक्ल पक्ष की अष्टमी से प्रारंभकर पूर्णिमा पर्यंत पूर्वाह्न, अपराह्न, पूर्व रात्रि और पश्चिम रात्रि में दो-दो प्रहर तक उत्तम भक्ति पूर्वक प्रदक्षिण क्रम से जिनेन्द्र प्रतिमाओं की विविध प्रकार से पूजा करते हैं। **(ति.प. ५/१०२-३)**

१७. प्रश्न : क्या सभी देव नित्य ही बावन चैत्यालयों की पूजा करते हैं ?

उत्तर : नहीं, वहाँ दो प्रहर (६ बजे से बारह बजे तक) कल्पवासी देवों से युक्त सौधर्म इन्द्र पूर्व दिशा में, भवनवासी देवों से युक्त चमरेन्द्र दक्षिण दिशा में, व्यंतर देवों से युक्त किंपुरुषेन्द्र पश्चिम दिशा में तथा ज्योतिष देवों से युक्त चन्द्रमा उत्तर दिशा में पूजा प्रारंभ करते हैं। दो प्रहर बाद (१२ बजे से ६ बजे तक) अपराह्न में कल्पवासी देव दक्षिण दिशा में, भवनवासी देव पश्चिम दिशा में, व्यंतर देव उत्तर दिशा में तथा ज्योतिष्क देव पूर्व दिशा में जाकर पूजा करते हैं।

पूर्व रात्रि के दो प्रहर (६ बजे से १२ बजे तक) वैमानिक देव पश्चिम में, भवनवासी उत्तर में, व्यंतर पूर्व में एवं ज्योतिषी देव दक्षिण दिशा में स्थित जिनेन्द्र देव की पूजा करते हैं।

पुन: अपर रात्रि के दो प्रहर (१२ बजे से ६ बजे तक) वैमानिक देव उत्तर दिशा में, भवनवासी

पूर्व दिशा में, व्यंतर देव दक्षिण दिशा में एवं ज्योतिष्क देव पश्चिम दिशा में स्थित चैत्यालयों की बड़ी भक्ति से दिव्य द्रव्यों के द्वारा अभिषेक पूजन करते हैं। इसी प्रकार आठों दिन की व्यवस्था जाननी चाहिए। **(ति. प. ५/१०२-३ विशे.)**

१८. प्रश्न : सौधर्मादि इन्द्र किस वैभव के साथ पूजन करने आते हैं ?

उत्तर : ऐरावत हाथी पर आरूढ़ और दिव्य विभूति से विभूषित रमणीय सौधर्म इन्द्र हाथ में पवित्र नारियल लेकर भक्ति से यहाँ आते हैं। उत्तम हाथी पर आरूढ़ और उत्कृष्ट रत्न विभूषणों से सुशोभित ईशान इन्द्र भी हाथ में सुपारी फलों के गुच्छे लिये हुए भक्ति से यहाँ आता है। उत्तम सिंह पर चढ़कर नवीन सूर्य के सदृश कुण्डलों से विभूषित और हाथ में आम्रफलों के गुच्छे लिये हुए सनत्कुमार इन्द्र भी भक्ति से यहाँ आता है। श्रेष्ठ घोड़े पर चढ़कर उत्तम भूषणों से विभूषित और विविध प्रकार की शोभा को प्राप्त माहेन्द्र इन्द्र लटकते हुए केले हाथ में लेकर भक्ति से यहाँ आता है। चन्द्र सदृश धवल हंस पर आरूढ़ निर्मल शरीर से सुशोभित और भक्ति से युक्त ब्रह्मेन्द्र उत्तम केतकी पुष्प हाथ में लेकर आता है। क्रौंच पक्षी पर आरूढ़ उत्तम चँवर एवं विविध छत्रों से सुशोभित और खिला हुआ कमल हाथ में लेकर ब्रह्मोत्तर इन्द्र भी यहाँ आता है।

उत्तम चक्रवाक पर आरूढ़ कुण्डल और केयूर आदि आभरणों से देदीप्यमान एवं भक्ति से पूर्ण मन-वाला शुक्रेन्द्र सेवन्ती पुष्प हाथ में लिये हुए आता है। तोता पक्षी पर चढ़कर दिव्य विभूति से विभूषित शरीर को धारण करने वाला तथा उत्तम एवं विविध प्रकार के फूलों की माला हाथ में लिये हुए महाशुक्रेन्द्र भी भक्तिवश यहाँ आता है। कोयल वाहन विमान पर आरूढ, उत्तम रत्नों से अलंकृत शरीर से संयुक्त और नीलकमल पुष्प हाथ में धारण करने वाला शतार इन्द्र भक्ति से प्रेरित होकर यहाँ आता है। गरुड़ विमान पर आरूढ़ अनार फलों के गुच्छे से शोभायमान हाथ वाला और जिनचरणों की भक्ति में अनुरक्त हुआ सहस्रार इन्द्र भी आता है।

विहगाधिप (गरुड़ पर) आरूढ़ और पनस अर्थात् कटहल फल के गुच्छे को हाथ में लिये हुए आनतेन्द्र भी उत्तम एवं दिव्य विभूति के साथ यहाँ आता है। पद्म विमान पर आरूढ़ उत्तम आभरणों से मण्डित आकृति से संयुक्त और तुम्बुरू फल के गुच्छों को हाथ में लिये हुए प्राणतेन्द्र भी भक्तिवश यहाँ आता है। अद्भुत कुमुद-विमान पर आरूढ़ पके हुए गन्ने को हाथ में धारण करने वाला आरणेन्द्र भी विविध प्रकार के अलंकार धारण करके यहाँ आता है।

उत्तम मयूर पर चढ़कर कटक, अंगद, मुकुट एवं हार से सुशोभित और चन्द्र सदृश धवल चँवर को हाथ में लिये हुए अच्युतेन्द्र यहाँ आता है। **(ति. प. ५/८४-९७)**

१९. प्रश्न : स्वर्ग में दिन-रात नहीं हैं। अत: उन्हें आषाढ़ मासादि की जानकारी कैसे होती है ?

उत्तर : स्वर्ग में दिन-रात का अभाव होने पर भी वहाँ आषाढ़ मासादि की जानकारी

अवधिज्ञान के द्वारा होती है। स्वर्ग में काल का व्यवहार यहाँ के काल के अनुसार ही होता है। **(ध. ४/३२१ के आधार से)**

२०. प्रश्न : नंदीश्वर द्वीप में कितने वन एवं कितने प्रासाद हैं ?

उत्तर : इस द्वीप में स्थित प्रत्येक अञ्जनगिरि की चारों दिशाओं में एक-एक वापिका है। इस प्रकार चार अञ्जनगिरि की चार वापिकाएँ हैं। प्रत्येक वापिका की चारों दिशाओं में एक लाख योजन प्रमाण लम्बे, पचास हजार (५०,०००) योजन विस्तार वाले सप्तपर्ण, चम्पक, अशोक और चूत नामक चार वन हैं। इस प्रकार एक वापिका संबंधी चार वन हैं अत: सोलह वापिकाओं संबंधी चौसठ वन हैं। प्रत्येक वन में एक-एक प्रासाद है, जिस पर व्यंतर देव अपने परिवार सहित रहते हैं। **(रा.वा.)**

२१. प्रश्न : कुण्डलवर द्वीप कौनसा है, इसमें कितने जिनालय हैं ?

उत्तर : जम्बूद्वीप के आगे द्विगुण-द्विगुण वलय विष्कम्भ वाले दस द्वीपों तथा दस समुद्रों के बाद ग्यारहवाँ कुण्डलवर द्वीप है। इसके ठीक मध्य में वलयाकार और अखण्ड यवों की राशि के समान कुण्डल नाम का पर्वत है। यह पर्वत एक हजार (१०००) योजन गहरा (नींववाला) और बयालीस हजार (४२०००) योजन ऊँचा है। इस पर्वत की चारों दिशाओं में चार जिनालय हैं जो अञ्जनगिरि के जिनालयों के समान विस्तार वाले हैं। (जिनभवनों से, जिनालयों से) विभूषित इस कुण्डल पर्वत पर सोलह कूट हैं। इन कूटों पर एक पल्योपम प्रमाण आयु वाले व्यंतरदेव अपने परिवार सहित निवास करते हैं। **(रा.वा.)**

२२. प्रश्न : रुचकवर द्वीप कहाँ है एवं वहाँ कितने जिनालय हैं ?

उत्तर : जम्बूद्वीप से दूने-दूने विष्कम्भ वाले बारह द्वीप एवं बारह समुद्रों के बीत जाने पर तेरहवाँ रुचकवर द्वीप है। इस द्वीप के ठीक मध्य में वलयाकार रुचक पर्वत है जो चौरासी हजार (८४०००) योजन ऊँचा, एक हजार योजन गहरा (नींव) है। मूल, मध्य और अंत में बयालीस हजार योजन विस्तृत है। इस पर्वत की चारों दिशाओं में चार जिनालय हैं जो अञ्जनगिरि के जिनालयों के समान विस्तार वाले हैं। **(रा.वा.)**

२३. प्रश्न : रुचक द्वीप के कूटों पर रहने वाली देवियाँ क्या करती हैं ?

उत्तर : रुचक पर्वत के ऊपर पूर्व दिशा के वैडूर्य कूट पर स्थित आठ कूटों में विजयादि आठ दिक्कुमारियाँ रहती हैं जो तीर्थंकरों के जन्मकाल में माँ के समीप झारी लेकर खड़ी रहती हैं।

दक्षिण दिशा के कूटों पर रहने वाली आठ दिक्कुमारियाँ हाथ में दर्पण लेकर, पश्चिम दिशा के कूटों पर रहने वाली आठ दिक्कुमारियाँ हाथ में छत्र लेकर मंगलगीत गाते हुए खड़ी रहती हैं।

उत्तर दिशा के कूटों पर रहने वाली आठ कुमारियाँ चामर लेकर खड़ी रहकर माता की सेवा करती हैं। इन कूटों के सिवाय पूर्वादि दिशाओं में विमल आदि चार कूट और हैं। उन पर भी चार देवियाँ रहती हैं जो जिन माता के सामने सूर्य के समान प्रकाश करती हुई रहती है। **(रा.वा.)**

मनुष्यों के भेद कहते हैं-

आर्या म्लेच्छाश्च ।।३६ ।।

आर्याः - म्लेच्छाः च।

अर्थ - आर्य और म्लेच्छ के भेद वाले मनुष्य होते हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किस लिए कहा गया है ?

उत्तर : मानुषोत्तर पर्वत से पहले होने वाले और गति नाम के नामकर्म की अपेक्षा कहे जाने वाले जो पहले मनुष्य कहे हैं, वे दो प्रकार के किस तरह हैं ? ऐसा पूछने पर यह सूत्र कहा है। **(रा.वा.उ. ३६)**

२.(अ) प्रश्न : मनुष्य कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : मनुष्य दो प्रकार के होते हैं-

(१) आर्य मनुष्य (२) म्लेच्छ मनुष्य। **(त.सू. ३/३६)**

(१) कर्मभूमिज (२) भोगभूमिज। **(नि.सा. १६)**

• मनुष्यों के मूल में दो भेद हैं-

(१) आर्य (२) म्लेच्छ तथा इनके उत्तर भेद असंख्यात हैं **(प. पु. १०५/१६१)**

• मनुष्य तीन प्रकार के होते हैं-

(१) पर्याप्तक मनुष्य (२) निर्वृत्यपर्याप्त मनुष्य (३) लब्ध्यपर्याप्त मनुष्य। **(ति.प. ४/२९७९)**

• मनुष्य चार प्रकार के होते हैं-

(१) कर्मभूमिज (२) भोगभूमिज (३) अन्तरद्वीपज (४) सम्मूर्च्छन **(भ.आ.वि. ७८०)**

अथवा- (१) सामान्य मनुष्य (२) पर्याप्त मनुष्य (३) मनुष्यणी (४) अपर्याप्त मनुष्य। **(गो.जी.१५०)**

(१) आर्य खण्डज (२) म्लेच्छ खण्डज (३) भोगभूमिज (४) कुभोगभूमिज-ये चारों ही प्रकार के मनुष्य पर्याप्त और निर्वृत्तिपर्याप्तक के भेद से दो-दो प्रकार के होते हैं। सम्मूर्च्छन मनुष्य नियम से आर्य खण्ड में ही होते हैं और वे लब्ध्यपर्याप्तक ही होते हैं। **(का.अ. १३२-३३)**

२.(ब) प्रश्न : आर्य मनुष्य किसे कहते हैं ?[1]

उत्तर : पुण्य क्षेत्र में जन्म लेने वाले आर्य कहलाते हैं। **(नि.सा.१६ टी.)** गुण और गुणवानों

---

१. आर्य – जो सन्तोषादि गुणों को धारण करते हैं, वे आर्य कहलाते हैं।

से जो सेवित हैं वे आर्य कहलाते हैं। **(रा.वा.१)** जिनके उच्चगोत्र का उदय है वे आर्य कहलाते हैं। **(श्लो. ५/३७०)**

३. प्रश्न : कौन-कौन आर्य कहलाते हैं ?

उत्तर : इक्ष्वाकुवंश, हरिवंश, उग्रवंश, कुरुवंशआदि अग्रगण्य कुलों में उत्पन्न हुए राजा आदि, उनके मंत्री, पुरोहित, सेनापति, दण्डनायकादि सब ही आर्य थे। क्योंकि इन्हें सत् धर्म अत्यंत प्रिय है। फलत: इनका आचरण भी अनार्यों के असंयममय चारित्र से सर्वथा विपरीत (संयत) होता है। **(व.चा. ८/४)**

४. प्रश्न : आर्य खण्ड किसे कहते हैं ?

उत्तर : जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में जीवों के अभयदाता, धैर्ययुक्त आर्यों की निवासभूमि को आर्य खण्ड कहते हैं। इसी में विदेह देश है। यहाँ अनेक मुनियों ने तपस्या करके विदेह अवस्था प्राप्त की है। इसे आर्यक्षेत्र भी कहते हैं। यह तीर्थंकरों की जन्म और विहार की स्थली है। **(म.पु.)**

५. प्रश्न : आर्य कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : आर्य दो प्रकार के होते हैं-

(१) ऋद्धि प्राप्त आर्य (२) अनृद्धि प्राप्त आर्य।

(१) **ऋद्धि प्राप्त आर्य** - जिनको ऋद्धि प्राप्त है वे ऋद्धि प्राप्त आर्य हैं।

(२) **अनृद्धि प्राप्त आर्य** - जिनको ऋद्धि प्राप्त नहीं है वे अनृद्धि प्राप्त आर्य हैं। **(श्लो.५/३७१)**

६. प्रश्न : ऋद्धि प्राप्त आर्य कितने प्रकार के हैं ?

उत्तर : ऋद्धि प्राप्त आर्य आठ प्रकार के हैं-

(१) बुद्धि ऋद्धि प्राप्तार्य (२) क्रिया ऋद्धि प्राप्तार्य (३) विक्रिया ऋद्धि प्राप्तार्य (४) तपो ऋद्धि प्राप्तार्य (५) बल ऋद्धि प्राप्तार्य (६) औषध ऋद्धि प्राप्तार्य (७) रस ऋद्धि प्राप्तार्य (८) क्षेत्र ऋद्धि प्राप्तार्य। **(रा.वा. ३)**

७. प्रश्न : बुद्धि ऋद्धि कितने प्रकार की होती है ?

उत्तर : बुद्धि ऋद्धि प्राप्त आर्य अठारह प्रकार के हैं-

(१) केवलज्ञान बुद्धि ऋद्धि (२) मन:पर्यय ज्ञान बुद्धि ऋद्धि (३) अवधिज्ञान बुद्धि ऋद्धि (४) बीज बुद्धि ऋद्धि (५) कोष्ठ बुद्धि ऋद्धि (६) पदानुसारित्व बुद्धि ऋद्धि (७) संभिन्न श्रोतृत्व बुद्धि ऋद्धि (८) दूरास्वादन समर्थता बुद्धि ऋद्धि (९) दूरदर्शन समर्थता बुद्धि ऋद्धि (१०) दूर स्पर्शन समर्थता

बुद्धि ऋद्धि (११) दूरघ्राण समर्थता बुद्धि ऋद्धि (१२) दूरश्रवण समर्थता बुद्धि ऋद्धि (१३) दश पूर्वित्व बुद्धि ऋद्धि (१४) चतुर्दश पूर्वित्व बुद्धि ऋद्धि (१५) अष्टांग महानिमित्तज्ञता बुद्धि ऋद्धि । (१६) प्रज्ञा श्रमणत्व बुद्धि ऋद्धि (१७) प्रत्येक बुद्धता बुद्धि ऋद्धि (१८) वादित्व बुद्धि ऋद्धि **(ति.प. ४/९७७-८०)**

नोट - केवलज्ञान बुद्धि ऋद्धि, मन:पर्यय ज्ञान बुद्धि ऋद्धि, अवधिज्ञान बुद्धि ऋद्धि, देखें १/९

८. प्रश्न : बीज बुद्धि ऋद्धि किसे कहते हैं ?

उत्तर : सारभूत, भली प्रकार कर्षित और सुमथीकृत क्षेत्र में कालादि की सहायता रखने वाला बोया हुआ एक भी बीज जिस प्रकार अनेक बीजों का उत्पादक होता है, उसी प्रकार नो इन्द्रियावरण, श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम की प्रकर्षता होने पर एक बीज पद के ग्रहण करने मात्र से ही अनेक पदार्थों का ज्ञान हो जाना बीज बुद्धि ऋद्धि है। **(रा.वा. ३)** नो इन्द्रियावरण, श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय, इन तीन प्रकार की प्रकृतियों के उत्कृष्ट क्षयोपशम से विशुद्ध हुए किसी भी महर्षि की जो बुद्धि, संख्यात स्वरूप शब्दों के बीच में से लिंग सहित एक ही बीजभूत पद को परके उपदेश से प्राप्त करके उस पद के आश्रय से संपूर्ण श्रुत को विचारकर ग्रहण करती है, वह बीज बुद्धि है। **(ति.प. ४/९८४-८६)**

९. प्रश्न : इस ऋद्धि को बीज बुद्धि क्यों कहा है ?

उत्तर : बीज के समान बीज कहलाता है। जिस प्रकार बीज मूल, अंकुर, पत्र, पोर, स्कन्ध, प्रसव, तुष, कुसुम, क्षीर और तंदुल आदिकों का आधार है, उसी प्रकार बारह अंगों के अर्थ का आधार-भूत जो पद है वह बीज तुल्य होने से बीज है। बीज पद विषयक मतिज्ञान भी कार्य में कारण के उपचार से बीज है। संख्यात शब्दों द्वारा अनंत अर्थों से सम्बद्ध अनंत लिंगों के साथ बीज पद को जानने वाली बीजबुद्धि है। यह तात्पर्य है। **(ध. ९/५५-५६)**

१०. प्रश्न : बीज बुद्धि अनंत अर्थों से सम्बद्ध अनंत लिंग रूप बीजपद को नहीं जानती, क्योंकि वह क्षायोपशमिक है।

उत्तर : नहीं, क्योंकि जिस प्रकार क्षयोपशमजन्य परोक्ष श्रुतज्ञान के द्वारा केवलज्ञान से विषय किये गये अनंत अर्थों का परोक्ष रूप से ग्रहण किया जाता है, उसी प्रकार मतिज्ञान के द्वारा भी सामान्य रूप से अनंत अर्थों को ग्रहण किया जाता है। क्योंकि इसमें कोई विरोध नहीं है। **(ध. ९/५६)**

११. प्रश्न : यदि श्रुतज्ञान का विषय अनंत संख्या है, तो चौदह पूर्वों का विषय उत्कृष्ट संख्यात है, ऐसा जो परिकर्म में कहा है वह कैसे घटित होगा ?

उत्तर : यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि उत्कृष्ट संख्यात को ही जानता है, ऐसा यहाँ नियम नहीं है। **(ध. ९/५६-५७)**

१२. प्रश्न : कोष्ठ बुद्धि किसे कहते हैं ?

उत्तर : उत्कृष्ट धारणा से युक्त जो कोई पुरुष गुरु के उपदेश से नाना प्रकार के ग्रन्थों में से विस्तार पूर्वक लिंग सहित शब्द रूप बीजों को अपनी बुद्धि में ग्रहण करके उन्हें मिश्रण के बिना बुद्धि रूपी कोठे में धारण करता है, उसकी बुद्धि कोष्ठबुद्धि कही गयी है। **(ति.प. ४/९८७-८८)**

जैसे - भण्डारी के द्वारा स्थापित अनेक धान्य भण्डार में सुरक्षित और पृथक्-पृथक् रहते हैं, उसी प्रकार परोपदेश से अवधारित बहुत से पदार्थ, ग्रन्थ, बीज बुद्धि रूपी कोठे में भिन्न-भिन्न सुविचारित रहते हैं। वह कोष्ठ बुद्धि है। **(रा.वा. ३)**

शालि, व्रीहि, जौ और गेहूँ आदि के आधारभूत कोथली, पल्ली आदि का नाम कोष्ठ है। श्रुतज्ञान संबंधी समस्त द्रव्य व पर्यायों को धारण करने रूप गुण से कोष्ठ के समान होने से उस बुद्धि को भी कोष्ठ कहा जाता है। कोष्ठ रूप बुद्धि वह कोष्ठ बुद्धि है। **(ध. ९/५३)**

१३. प्रश्न : कोष्ठ बुद्धि कितने काल तक रहती है ?

उत्तर : इसका अर्थ-धारण काल जघन्य से संख्यात वर्ष व उत्कृष्ट से ''असंख्यात वर्ष है। क्योंकि असंख्यात और संख्यात काल तक धारणा रहती है'' ऐसा सूत्रवचन पाया जाता है। **(ध. ९/५३)**

१४. प्रश्न : पदानुसारित्व बुद्धि ऋद्धि किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो पद का अनुसरण अथवा अनुकरण करती है, वह पदानुसारी बुद्धि है। बीज बुद्धि से बीज पद को जानकर 'यहाँ यह इन अक्षरों का लिंग होता है और इनका लिंग नहीं होता' इस प्रकार विचार कर समस्त श्रुत के अक्षर और पदों को जाननेवाली पदानुसारी बुद्धि है। **(ध. ९/६०)**

आदि, मध्य अथवा अन्त के किसी एक पद के उच्चारण करने पर सुनकर संपूर्ण ग्रन्थ के अर्थ का अवधारण कर लेना या ज्ञान कर लेना वह पदानुसारित्व बुद्धि ऋद्धि है। **(रा.वा. ३)**

१५. प्रश्न : पदानुसारित्व बुद्धि ऋद्धि कितने प्रकार की है ?

उत्तर : पदानुसारित्व बुद्धि ऋद्धि तीन प्रकार की है -

(१) अनुस्रोत (२) प्रतिस्रोत (३) उभयसारिणी (अनुस्रोत-प्रतिस्रोत)

अनुस्रोत - जो बुद्धि आदि, मध्य अथवा अन्त में गुरु के उपदेश से एक बीजपद को ग्रहण करके उपरिम ग्रन्थ को ग्रहण करती है वह अनुस्रोत (अनुसारिणी) बुद्धि कहलाती है।

प्रतिस्रोत - गुरु के उपदेश से आदि, मध्य या अन्त में एक बीजपद को ग्रहण करके जो बुद्धि अधस्तन (पीछे वाले) ग्रन्थ को जानती है वह प्रतिस्रोत (प्रतिसारिणी) बुद्धि ऋद्धि है।

उभयसारिणी - जो बुद्धि नियम या अनियम से एक बीजपद के उपरिम और अधस्तन ग्रन्थ को एक साथ जानती है वह उभयसारिणी बुद्धि ऋद्धि है। **(ति.प. ४/९८९-९२)**

१६. प्रश्न : संभिन्नश्रोतृत्व बुद्धि ऋद्धि किसे कहते हैं ?

उत्तर : बारह योजन लम्बे, नौ योजन चौड़े चक्रवर्ती के कटक में हाथी, घोड़ा आदि के एक साथ उत्पन्न अक्षरात्मक, अनक्षरात्मक अनेक प्रकार के शब्दों को सुनकर तपो विशेष के बल के लाभ से प्राप्त सर्व जीवप्रदेशों में श्रोत्रेन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न परिणाम से एक साथ सर्व शब्दों को पृथक्-पृथक् रूप से ग्रहण कर लेना संभिन्नश्रोतृत्व नाम की बुद्धि ऋद्धि है। **(रा.वा. ३)**

श्रोत्रेन्द्रियावरण, श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय का उत्कृष्ट क्षयोपशम तथा अंगोपांग नामकर्म का उदय होने पर श्रोत्रेन्द्रिय के उत्कृष्ट क्षेत्र से बाहर दशों दिशाओं में संख्यात योजन प्रमाण क्षेत्र में स्थित मनुष्य एवं तिर्यञ्चों के अक्षर-अनक्षरात्मक बहुत प्रकार के उठने वाले शब्दों को सुनकर जिससे प्रत्युत्तर दिया जाता है, वह संभिन्न श्रोतृत्व नामक बुद्धि ऋद्धि कहलाती है। **(ति. प. ४/९९३-९५)**

१७. प्रश्न : संभिन्नश्रोतृत्व ऋद्धिधारी संख्यात योजन में स्थित मनुष्य-तिर्यंच की भाषा को कैसे सुन सकता है ?

उत्तर : एक अक्षोहिणी में नौ हजार हाथी, एक हाथी के आश्रित सौ रथ, एक-एक रथ के आश्रित सौ घोड़े, एक-एक घोड़े के आश्रित सौ मनुष्य होते हैं। ऐसी चार अक्षोहिणी अक्षर-अनक्षर स्वरूप अपनी-अपनी भाषाओं में युगपत् बोले तो भी संभिन्न श्रोता युगपत् सब भाषाओं को ग्रहण करके प्रतिपादन करता है। इनसे संख्यात गुणी भाषाओं से भरी हुई तीर्थंकर के मुख से निकली ध्वनि के समूह को युगपत् ग्रहण करने में समर्थ ऐसे संभिन्न श्रोता के विषय में यह कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है। **(ध. ९/६१-६२)**

१८. प्रश्न : दूरास्वादनादि ऋद्धियों के क्या लक्षण हैं ?

उत्तर : तपश्चरण की शक्तिविशेष से उत्पन्न असाधारण रसनाइंद्रिय, श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम और अंगोपांग नाम कर्म के लाभ की अपेक्षा से अवधृत नौ योजन क्षेत्र के बाहर अनेक योजन विप्रकृष्ट क्षेत्र से आये हुए रस का आस्वादन करने का सामर्थ्य दूरास्वादन समर्थता ऋद्धि कहलाती है। **(रा.वा. ३)**

इसी प्रकार घ्राण आदि इंद्रियों में अपने अवधृत क्षेत्र से बहुत योजन दूर क्षेत्र की गंध आदि ग्रहण करना दूर घ्राण, दूर विलोकन, दूर स्पर्श और दूर संश्रवण समर्थता ऋद्धियाँ हैं। **(रा.वा. ३)**

१९. प्रश्न : दश पूर्वित्व ऋद्धि किसे कहते हैं ?

उत्तर : अपने-अपने स्वरूप की सामर्थ्य को प्रगट करने में और कथन करने में निपुण वेगवती, महारोहिणी आदि तीन विद्यादेवताओं के द्वारा प्रगट होकर तथा अनेक प्रकार का प्रलोभन मिलने पर भी

जिस मुनि का चित्त क्षुभित नहीं हो वह मुनि दुस्तर दशपूर्व श्रुत रूप समुद्र का पार पाता है। उसको दश पूर्वित्व ऋद्धि प्राप्त होती है। **(रा.वा. ३)**

२०. प्रश्न : दश पूर्वित्व ऋद्धि कितने प्रकार की होती है ?

उत्तर : दश पूर्वी दो प्रकार के होते हैं-

(१) भिन्न दशपूर्वी (२) अभिन्न दश पूर्वी। **(ध. ९/६९)**

२१. प्रश्न : भिन्न दश पूर्वी किसे कहते हैं ?

उत्तर : ग्यारह अंगों को पढ़कर पश्चात् परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका इन पाँच अधिकारों में निबद्ध दृष्टिवाद के पढ़ते समय उत्पाद पूर्व को आदि करके पढ़ने वाले के दशम पूर्व, विद्यानुवाद पूर्व के समाप्त होने पर अंगुष्ठप्रसेनादि सात सौ क्षुद्र विद्याओं से अनुगत रोहिणी आदि पाँच सौ महाविद्याएँ ''भगवन् ! क्या आज्ञा है ?'' ऐसा कहकर उपस्थित होती हैं। इस प्रकार उपस्थित हुई सब विद्याओं के जो लोभ को प्राप्त होता है वह भिन्नदशपूर्वी है। **(ध. ९/६९)**

२२. प्रश्न : अभिन्न दशपूर्वी किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो कर्मक्षय का अभिलाषी होकर उनमें (विद्याओं में) लोभ नहीं करता वह अभिन्नदशपूर्वी कहलाता है। **(ध. ९/६९)**

दसवें पूर्व के पढ़ने में रोहिणी आदि महाविद्याओं के पाँच सौ और अंगुष्ठप्रसेनादिक क्षुद्र विद्याओं के सात सौ देवता आकर आज्ञा माँगते हैं। इस समय जो महर्षि जितेन्द्रिय होने के कारण उन विद्याओं की इच्छा नहीं करते हैं वे 'विद्याश्रमण' इस पर्याय नाम से भुवन में प्रसिद्ध होते हुए अभिन्नदशपूर्वी कहलाते हैं। **(ति.प. १००७-९)**

२३. प्रश्न : क्या भिन्न दशपूर्वियों को भी इसमें गर्भित किया है ?

उत्तर : भिन्न दशपूर्वियों के जिनत्व नहीं है। क्योंकि जिनके महाव्रत नष्ट हो चुके हैं उनमें जिनत्व घटित नहीं होता है। अत: दशपूर्वित्व ऋद्धि में अभिन्न दश-पूर्वियों को ही ग्रहण करना चाहिए। **(ध. ९/७०)**

२४. प्रश्न : चतुर्दश पूर्वी ऋद्धि किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो महर्षि संपूर्ण आगम के पारंगत हैं और श्रुतकेवली नाम से प्रसिद्ध हैं उनके चौदह पूर्वी नामक बुद्धि ऋद्धि होती है। **(ति.प. ४/१०१०)** पूर्णश्रुतकेवली हो जाना चतुर्दश-पूर्वित्व है। **(रा.वा.३)**

२५. प्रश्न : अष्टांग महानिमित्तता बुद्धि ऋद्धि किसे कहते हैं ?

उत्तर : अंतरिक्ष, भौम, अङ्ग, स्वर, व्यंजन, लक्षण, छिन्न और स्वप्न ये आठ महानिमित्त हैं।

(१) अंतरिक्ष निमित्त - सूर्य चन्द्रमा आदि के उदय-अस्त को देखकर भूत-भाविफल को जानना अंतरिक्ष निमित्त है।

(२) भौम निमित्त - पृथ्वी की कठोरता आदि के द्वारा अथवा पूर्वादि दिशाओं में सूत्र पढ़ते देखकर अमुक वृद्धि-हानि-जय-पराजय आदि का ज्ञान अथवा भूमि में गड़े हुए सोने-चाँदी आदि का ज्ञान भौम निमित्त है।

(३) अंग निमित्त - शरीर के अंग-प्रत्यंग के दर्शन-स्पर्शन आदि से त्रिकालभावी सुख-दु:ख आदि का निश्चय करना अङ्ग निमित्त है।

(४) स्वर निमित्त - अक्षरात्मक-अनक्षरात्मक सभी प्रकार के शब्दों को सुनकर इष्ट-अनिष्ट फल का निश्चय करना स्वरनिमित्त है।

(५) व्यंजन निमित्त - सिर, मुख, ग्रीवा आदि स्थानों पर तिल, मसा आदि चिह्न वा व्रण आदि को देखकर त्रिकाल संबंधी हिताहित को जान लेना व्यंजन निमित्त है।

(६) लक्षण निमित्त - श्रीवृक्ष, स्वस्तिक आदि को देखकर त्रिकाल संबंधी स्थान, मान आदि का विशेष ज्ञान होना लक्षण निमित्त है।

(७) छिन्न निमित्त - वस्त्र, शस्त्र, छत्र, जूता, आसन और शय्या आदि की जगह पर देव, मानव, राक्षस आदि के विभाग द्वारा व शस्त्र द्वारा और मूसटी आदि से छिदना देखकर अतीत-अनागत काल में होने वाले लाभ-अलाभ, सुख-दु:ख आदि का ज्ञान करना छिन्न निमित्त है।

(८) स्वप्न निमित्त - शुभ तथा अशुभ स्वप्नों के देखने से आगामी काल में होने वाले जीवन-मरण, सुख-दु:ख आदि को जान लेना स्वप्न नाम का निमित्त है। इन आठ महानिमित्तों के ज्ञान में प्रवीणता अष्टांग महानिमित्तज्ञता नाम की बुद्धि ऋद्धि है। **(रा.वा. ३)**

२६. प्रश्न : प्रज्ञाश्रमणत्व बुद्धि ऋद्धि किसे कहते हैं ?

उत्तर : श्रुतज्ञानियों के द्वारा ही समाधान करने योग्य अतिसूक्ष्म-शंकाओं का द्वादशांग का पाठी न होते हुए भी अपने विशिष्ट श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न असाधारण प्रज्ञाशक्ति के लाभ से नि:संशय होकर समाधान करना वह प्रज्ञाश्रमणत्व बुद्धि-ऋद्धि है। **(रा.वा. ३)** प्रज्ञाश्रमण ऋद्धि से युक्त जो महर्षि अध्ययन के बिना किये ही चौदह पूर्वों में विषय की सूक्ष्मता को लिये संपूर्ण श्रुत को जानता है, उसको नियमपूर्वक निरूपण करता है, उसकी बुद्धि को प्रज्ञाश्रमण ऋद्धि कहते हैं। **(ति.प. ४/१०२७-२८)**

२७. प्रश्न : प्रज्ञाश्रमणत्व ऋद्धि कितने प्रकार की होती है ?

उत्तर : प्रज्ञाश्रमणत्व ऋद्धि चार प्रकार की है-

(१) औत्पत्तिकी प्रज्ञा (२) पारिणामिकी प्रज्ञा (३) वैनयिकी प्रज्ञा (४) कर्मजा प्रज्ञा।

औत्पत्तिकी प्रज्ञा - विनय से अधीत श्रुतज्ञान यदि किसी प्रकार प्रमाद से विस्मृत हो जाता है, तो उसे वह परभव में उपस्थित करती है और केवलज्ञान को बुलाती है। यह औत्पत्तिकी प्रज्ञाश्रमण छह मास के उपवास से कृश होता हुआ भी उस बुद्धि के माहात्म्य को प्रकट करने के लिए पूछने रूप क्रिया में प्रवृत्त हुए चौदहपूर्वी को भी उत्तर देता है।

पारिणामिकी प्रज्ञा - निज-निज जाति विशेषों में उत्पन्न हुई बुद्धि पारिणामिकी प्रज्ञा है।

वैनयिकी प्रज्ञा - द्वादशांग श्रुत के योग्य विनय से उत्पन्न होने वाली वैनयिकी प्रज्ञा है। अथवा परोपदेश से उत्पन्न बुद्धि भी वैनयिकी कहलाती है।

कर्मजा प्रज्ञा - गुरु उपदेश के बिना ही विशेष तप के बल से आविर्भूत हुई प्रज्ञा कर्मजा समझना चाहिए। अथवा औषधसेवा के बल से उत्पन्न बुद्धि भी कर्मजा है। **(ध. ९/८२)**

२८. प्रश्न : प्रत्येकबुद्धता बुद्धि ऋद्धि किसे कहते हैं ?

उत्तर : परोपदेश के बिना स्वभाव से स्वशक्ति विशेष के कारण ज्ञान और चारित्र के विधान में निपुण होना प्रत्येकबुद्धता ऋद्धि है। **(रा.वा. ३)** जिसके द्वारा गुरु उपदेश के बिना ही कर्मों के उपशम से सम्यग्ज्ञान और तप के विषय में प्रगति होती है, वह प्रत्येक बुद्धि ऋद्धि कहलाती है। **(ति.प. ४/१०३१)**

२९. प्रश्न : वादित्व बुद्धि ऋद्धि किसे कहते हैं ?

उत्तर : यदि इन्द्र भी आकर वाद करे तो उसे भी निरुत्तर कर देना और वादी के दोषों को जान लेना वादित्व नाम की ऋद्धि है। **(रा.वा. ३)** जिस ऋद्धि के द्वारा शक्र आदि के विपक्षियों को भी बहुत भारी वाद से निरुत्तर कर दिया जाता है और परके द्रव्यों की गवेषणा की जाती है, वह वादित्व ऋद्धि कहलाती है। **(ति.प. ४/१०३२)**

३०. प्रश्न : बुद्धि ऋद्धि कहाँ से उत्पन्न होती है ?

उत्तर : बीज बुद्धि नोइन्द्रियावरण, श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय इन तीन प्रकार की प्रकृतियों के उत्कृष्ट क्षयोपशम से होती है। **(रा.वा. ३)** कोष्ठ बुद्धि उत्कृष्ट धारणावरणीय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होती है। **(ध. ९/५४)** पदानुसारिणी ऋद्धि ईहावरणीय कर्म और अवायावरणीय के तीव्र क्षयोपशम से होती है। **(ध. ९/६१)**

संभिन्नश्रोतृत्व बुद्धि ऋद्धि बहु-बहुविध एवं क्षिप्र-ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से होती है। **(ध. ९/६२)**

यह ऋद्धि श्रोत्रेन्द्रियावरण, श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय का उत्कृष्ट क्षयोपशम तथा अङ्गोपाङ्ग नामकर्म के उदय से होती है। **(ति.प. ४/९९३)** दूरास्वादत्व ऋद्धि जिह्वेन्द्रियावरण, श्रुतज्ञानावरण और

वीर्यान्तराय का उत्कृष्ट क्षयोपशम तथा अङ्गोपाङ्ग नामकर्म के उदय से होती है। इसी प्रकार दूरस्पर्शत्व ऋद्धि, दूरघ्राणत्व ऋद्धि, दूरश्रवणत्व ऋद्धि एवं दूरदर्शित्व ऋद्धि जाननी चाहिए। विशेषता यह है कि जिह्वेन्द्रिय के स्थान पर क्रमशः स्पर्शनेन्द्रियावरण, घ्राणेन्द्रियावरण, श्रोत्रेन्द्रियावरण एवं चक्षुरिन्द्रियावरण का उत्कृष्ट क्षयोपशम जानना चाहिए। **(ति. प. ४/९९६-१००९)**

३१. प्रश्न : क्रिया ऋद्धि कितने प्रकार की होती है ?

उत्तर : क्रिया ऋद्धि दो प्रकार की है -

(१) चारणत्व क्रिया ऋद्धि (२) आकाशगामित्व क्रिया ऋद्धि। **(रा.वा. ३)**

३२. प्रश्न : चारण क्रिया ऋद्धि कितने प्रकार की है ?

उत्तर : चारण क्रिया ऋद्धि अनेक प्रकार की है-

जलचारण, जङ्घा चारण, फलचारण, पुष्पचारण, पत्रचारण, अग्निशिखाचारण, धूमचारण, मेघचारण, धाराचारण, मकड़ीतन्तुचारण, ज्योतिश्चारण और मरुत्चारण आदि। **(ति. प. ४/१०४४)** जल, जंघा, तन्तु, पुष्प, पत्र, श्रेणी और अग्निशिखा आदि का अवलम्बन लेकर गमन करने की अपेक्षा चारण ऋद्धि अनेक प्रकार की है। **(रा.वा. ३)** जल, जंघा, तन्तु, फल, पुष्प, बीज, आकाश, और श्रेणी के भेद से चारण ऋद्धि आठ प्रकार की है। **(ध. ९/७८)** चारण ऋषियों के एक संयोग, द्विसंयोगादि के क्रम से दो सौ पचपन भंग उत्पन्न करने चाहिए। **(ध. ९/८०)**

३३. प्रश्न : जलचारण ऋद्धि किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस ऋद्धि से जीव समुद्र के मध्य अर्थात् जल पर पैर रखता हुआ जाता है और दौड़ता है, किन्तु जलकायिक जीवों की विराधना नहीं करता वह जलचारण ऋद्धि है। **(ति.प. ४/१०४५)** जो महर्षि जलकायिक जीवों को बाधा न पहुँचाकर जल को न छूते हुए इच्छानुसार भूमि के समान जल पर गमन करने में समर्थ हैं वे जलचारण ऋषि कहलाते हैं। ओस, ओला, कुहरा और बर्फ आदि पर गमन करने वाले चारणों का जलचारणों में अंतर्भाव होता है क्योंकि इनमें जलकायिक जीवों के परिहार की कुशलता देखी जाती है। **(ध. ९/७९-८१)**

३४. प्रश्न : जंघाचारण किसे कहते हैं ?

उत्तर : चार अंगुल प्रमाण पृथ्वी छोड़कर आकाश में घुटने को मोड़े बिना जो बहुत योजनों तक गमन करता है वह जंघाचारण ऋषि है। **(ति.प. ४/१०४६)** भूमि में पृथिवीकायिक जीवों को बाधा न देकर सैकड़ों योजन गमन करने वाले जंघाचारण कहलाते हैं। **(ध. ९/८०)**

कीचड़, भस्म, गोबर और भूसे आदि पर से गमन करने वालों का जंघाचारणों में अंतर्भाव होता है, क्योंकि भूमि से कीचड़ आदि में कथंचित् अभेद है। **(ध. ९/८१)** भूमि से चार अंगुल अधर आकाश

में जंघा के उत्क्षेपण-निक्षेपण शीघ्र करने में चतुर और बहुत से योजन शीघ्र गमन करने में पटु जंघाचारण ऋद्धि है। **(रा.वा. ३)**

३५. प्रश्न : तन्तुचारण ऋद्धि किसे कहते हैं ?

उत्तर : तन्तु पर गमन करने का सामर्थ्य बने, इसे तन्तुचारण ऋद्धि कहते हैं। **(चा.सा. ३)** जिसके द्वारा मुनि महर्षि शीघ्रता से किये गये पद विक्षेप में अत्यन्त लघु होते मकड़ी के तन्तुओं की पंक्ति पर से गमन करता है, वह मकड़ी तन्तु चारण ऋद्धि है। **(ति.प. ४/१०५४)**

धूम, अग्नि, वायु और मेघ आदि के आश्रय से चलने वाले चारणों का 'तन्तु श्रेणी' चारणों में अन्तर्भाव हो जाता है। क्योंकि वे अनुलोम और प्रतिलोम गमन करने में जीवों को पीड़ा न करने की शक्ति से संयुक्त हैं। **(ध. ९/८१)**

३६. प्रश्न : अग्निचारण आदि ऋद्धियाँ किसे कहते हैं ?

उत्तर : अग्निचारण - अग्निशिखा में स्थित जीवों की विराधना न करके उन विचित्र अग्नि-शिखाओं पर से गमन करने को अग्निशिखाचारण ऋद्धि कहते हैं। **(ति.प. ४/१०५०)**

धूमचारण ऋद्धि - जिस ऋद्धि के प्रभाव से मुनिराज नीचे, ऊपर और तिरछे फैलने वाले धुएँ का अवलम्बन करके अस्खलित पादक्षेप करते हुए गमन करते हैं, वह धूमचारण नामक ऋद्धि है। **(ति.प. ४/१०५१)**

मेघचारण ऋद्धि - जिस ऋद्धि से मुनि अप्कायिक जीवों को पीड़ा न पहुँचा कर बहुत प्रकार के मेघों पर से गमन करता है, वह मेघचारण ऋद्धि है। **(ति.प. ४/१०५२)**

मारुत चारण - जिसके प्रभाव से मुनि नाना प्रकार की गति से युक्त वायु के प्रदेशों की पंक्ति पर से अस्खलित होकर पदक्षेप करते हैं, वह मारुत चारण ऋद्धि है। **(ति. प. ४/१०५६)**

फलचारण - जिस ऋद्धि का धारक मुनि वनफलों में रहने वाले जीवों की विराधना न करके उनके ऊपर से जाता है, वह फलचारण ऋद्धि है। **(ति.प. ४/१०४७)**

पुष्पचारण - जिस ऋद्धि का धारक मुनि उनमें (फूलों में) रहने वाले जीवों की विराधना न करके उनके ऊपर से जाता है, वह पुष्पचारण ऋद्धि है। **(ति. प. ४/१०४८)**

पत्र चारण - इस ऋद्धि का धारक मुनि बहुत प्रकार के पत्तों में रहने वाले जीवों की विराधना न करके ऊपर से जाता है, वह पत्र-चारण ऋद्धि है। **(ति.प. ४/१०४९)**

धाराचारण - जिसके प्रभाव से मुनि मेघों से छोड़ी गयी जलधाराओं में स्थित जीवों की विराधना न करके उनके ऊपर से जाता है, वह धाराचारण ऋद्धि है। **(ति.प. ४/१०५३)**

ज्योतिश्चारण - जिस ऋद्धि के द्वारा तपस्वी ज्योतिषी देवों के विमानों के नीचे, ऊपर और

तिरछे फैलने वाली किरणों का अवलम्बन लेकर गमन करता है, वह ज्योतिश्चारण ऋद्धि है। **(ति.प. ४/१०५५)**

नोट - विविध भङ्गों से युक्त चारणऋद्धि के अन्य भेद भी भासित होते हैं। परन्तु उनके स्वरूप का कथन करने वाला उपदेश हमारे लिए नष्ट हो चुका है। **(ति.प. ४/१०५७)**

३७. प्रश्न : पत्र, अंकुर, कुन्थु, मत्कुण आदि जीवों के परिहार के लिए कोई ऋद्धि क्यों नहीं कही ?

उत्तर : पत्र, अंकुर, तृण और प्रवाल आदि पर से संचार करने वालों का पुष्प-चारणों में अंतर्भाव होता है, क्योंकि, हरितकाय जीवों के परिहार की कुशलता की अपेक्षा इनमें समानता है। कुन्थु जीव, उद्देही जीव, मत्कुण और पिपीलिका आदि पर से संचार करने वालों का फलचारणों में अंतर्भाव होता है, क्योंकि इनमें त्रस जीवों के परिहार की कुशलता की अपेक्षा कोई भेद नहीं है। **(ध. ९/८१)**

३८. प्रश्न : आकाशगामित्व ऋद्धि किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस ऋद्धि के द्वारा कायोत्सर्ग अथवा अन्य प्रकार से ऊर्ध्वस्थित होकर या बैठकर जाता है, वह आकाशगामिनी नामक ऋद्धि है। **(ति.प. ४/१०४२)** पर्यङ्कासन से बैठकर अथवा (अन्य किसी आसन से बैठकर या) कायोत्सर्ग रूप शरीर से तथा बिना पैरों को उठाये रखे आकाश में गमन करने में जो कुशल होते हैं, वे आकाशगामी हैं। **(रा.वा. ३)**

आकाश में इच्छानुसार मानुषोत्तर पर्वत से घिरे हुए इच्छित प्रदेशों में गमन करने वाले आकाशगामी हैं। ऐसा ग्रहण करना चाहिए। यहाँ देवों व विद्याधरों का ग्रहण नहीं है। क्योंकि 'जिन' शब्द की अनुवृत्ति है। **(ध. ९/८४)**

३९. प्रश्न : आकाशचारण एवं आकाशगामित्व में क्या अंतर है ?

उत्तर : चरण, चारित्र, संयम व पाप क्रिया निरोध इनका एक ही अर्थ है। इसमें जो कुशल-निपुण है, वह चारण कहलाता है। तप विशेष से उत्पन्न हुई आकाशस्थित जीवों के परिहार की कुशलता से जो सहित है, वह आकाशचारण है और आकाश में गमन करने मात्र से संयुक्त आकाशगामी कहलाता है। सामान्य आकाशगामित्व की अपेक्षा जीवों के वध परिहार की कुशलता से विशेषित आकाशगामित्व के विशेषता पायी जाने से दोनों में भेद है। **(ध. ९/८४-८५)**

४०. प्रश्न : विक्रिया ऋद्धि कितने प्रकार की होती है ?

उत्तर : विक्रिया ऋद्धि अनेक प्रकार की होती है-

अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व, अप्रतिघात, अन्तर्धान और कामरूपित्व आदि। **(रा.वा. ३)**

अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व और कामरूपित्व, इस प्रकार विक्रिया ऋद्धि आठ प्रकार है। **(ध. ९/७५)**

यहाँ एक संयोगी, द्विसंयोगी आदि के द्वारा विक्रिया के दो सौ पचपन भेद उत्पन्न करने चाहिए, क्योंकि उनके कारण विचित्र हैं। एक संयोगी=८, द्विसंयोगी=२८, त्रिसंयोगी=५६, चतु:संयोगी=७०, पंचसंयोगी=५६, षट्संयोगी=२८, सप्तसंयोगी=८ और अष्टसंयोगी=१ = कुलभंग=२५५। **(ध. ९/७६)**

नोट - भंग बनाने के लिए देखें **(२/७)**

४१. प्रश्न : अणिमा ऋद्धि किसे कहते हैं ?

उत्तर : अणु सदृश शरीर बना लेना अणिमा ऋद्धि है, जो छोटे से कमलतन्तु के छिद्र में भी प्रवेश करके, उस छिद्र में बैठकर चक्रवर्ती के परिवार की विभूति की रचना कर सकता है। **(रा.वा.३)** अणु के बराबर शरीर को करना अणिमाऋद्धि है। इस ऋद्धि के प्रभाव से महर्षि अणु के बराबर छिद्र में प्रविष्ट होकर वहाँ ही, चक्रवर्ती के कटक और निवेश की विक्रिया द्वारा रचना करता है। **(ति.प. ४/१०३५)**

महापरिमाण युक्त शरीर को संकुचित करके परमाणु प्रमाण शरीर से स्थित होना अणिमानामक विक्रिया ऋद्धि है। **(ध. ९/७५)**

४२. प्रश्न : महिमा ऋद्धि किसे कहते हैं ?

उत्तर : मेरु से भी महान् शरीर की रचना करने का सामर्थ्य होना महिमा ऋद्धि है। **(रा.वा. ३)**

परमाणु प्रमाण देह रूप अर्थ को अथवा देहस्थ वस्तु को मेरु पर्वत के सदृश करने को महिमा ऋद्धि कहते हैं। **(ध. ९/७५)**

४३. प्रश्न : लघिमा ऋद्धि किसे कहते हैं ?

उत्तर : वायु से भी हल्का शरीर बना लेना लघिमा ऋद्धि है। **(रा.वा. ३)** मेरु प्रमाण शरीर से मकड़ी के तन्तुओं पर से चलने में निमित्तभूत शक्ति का नाम लघिमा है। **(ध. पु. ९/७५)**

४४. प्रश्न : गरिमा ऋद्धि किसे कहते हैं ?

उत्तर : वज्र से भी अधिक भारी शरीर बना लेना गरिमा ऋद्धि है। **(रा.वा. ३)**

४५. प्रश्न : प्राप्ति एवं प्राकाम्य ऋद्धि किसे कहते हैं ?

उत्तर : प्राप्तिऋद्धि - भूमि पर बैठे हुए, अंगुलि के अग्रभाग से मेरु शिखर या सूर्य चन्द्रमा आदि को स्पर्श करने का सामर्थ्य रखना प्राप्ति ऋद्धि है। **(रा.वा. ३)** भूमि में स्थिर रहकर हाथ से चन्द्र व सूर्य के बिम्ब को छूने की शक्ति प्राप्ति-ऋद्धि कही जाती है। **(ध. ९/७५)**

प्राकाम्य ऋद्धि - पानी में भूमि के समान गमन करना और भूमि पर जल की तरह उन्मज्जन-निमज्जन आदि करने का सामर्थ्य होना प्राकाम्य ऋद्धि है। **(रा.वा. ३)** कुलाचल और मेरु पर्वत के पृथिवीकायिक जीवों को बाधा न पहुँचाकर उनमें तपश्चरण के बल से उत्पन्न हुई गमनशक्ति को प्राकाम्य ऋद्धि कहते हैं। **(ध. ९/७६)**

४६. प्रश्न : ईशित्व एवं वशित्व ऋद्धि किसे कहते हैं ?

उत्तर : ईशित्व ऋद्धि - जिससे सब मनुष्यों पर प्रभुत्व होता है, वह ईशित्व ऋद्धि है। **(ति.प. ४/१०३९)** सब जीवों तथा ग्राम, नगर एवं खेड़े आदि के भोगने की जो तप से उत्पन्न हुई शक्ति है वह ईशित्व ऋद्धि कही जाती है। **(ध. ९/७६)**

वशित्व ऋद्धि - जिस तपोबल द्वारा जीवसमूह वश में होते हैं वह वशित्व ऋद्धि है। **(ति.प. ४/१०३९)** मनुष्य, हाथी, सिंह और घोड़े आदि रूप अपनी इच्छा से वर्तन करने की शक्ति का नाम वशित्व ऋद्धि है। **(ध. ९/७६)**

४७. प्रश्न : अप्रतिघात एवं अन्तर्धान ऋद्धि किसे कहते हैं ?

उत्तर : अप्रतिघातऋद्धि - जिस ऋद्धि के बल से शैल, शिल और वृक्षादि के मध्य भाग में आकाश के समान गमनागमन किया जाता है वह अप्रतिघात ऋद्धि है। **(ति.प. ४/१०४०) अन्तर्धान ऋद्धि** - जिस ऋद्धि के अदृश्यता प्राप्त होती है, वह अन्तर्धान ऋद्धि है। **(ति.प. ४/१०४१)**

४८. प्रश्न : कामरूपित्व ऋद्धि किसे कहते हैं ?

उत्तर : कामरूपित्व - जिससे युगपत् बहुत से रूपों को रचता है, वह कामरूपित्व ऋद्धि है। **(ति.प. ४/१०४१)** इच्छित रूप के ग्रहण करने की शक्ति का नाम कामरूपित्व है। **(ध. ९/७६)**

४९. प्रश्न : तपोतिशय ऋद्धि कितने प्रकार की है ?

उत्तर : तपोतिशय ऋद्धि सात प्रकार की है-

(१) उग्रतप (२) दीप्ततप (३) तप्ततप (४) महातप (५) घोरतप (६) घोर (वीर) पराक्रमतप (७) अघोर ब्रह्मचर्य तप **(ति.प. ४/१०५८-५९)**

५०. प्रश्न : उग्र तप किसे कहते हैं ?

उत्तर : दो दिन, तीन दिन, चार दिन, पाँच दिन, एक पक्ष, एक माह आदि के उपवास के योग में किसी भी उपवास का प्रारंभ करके मरण पर्यन्त कठोरता पूर्वक उस पक्ष, मासादि का उपवास करना उग्रतप है। **(रा.वा. ३)**

५१. प्रश्न : उग्रतप ऋद्धि कितने प्रकार की होती है ?

उत्तर : उग्रतप ऋद्धि दो प्रकार की होती है-

(१) उग्रोग्रतप ऋद्धि (२) अवस्थित उग्रतप ऋद्धि **(ति.प. ४/१०५९)**

५२. प्रश्न : उग्रोग्रतप ऋद्धि किसे कहते हैं ?

उत्तर : दीक्षोपवास से प्रारंभ कर मरण पर्यन्त एक-एक अधिक उपवास को बढ़ाकर निर्वाह करना उग्रोग्रतप ऋद्धि है। **(ति.प. ४/१०६०)** जो एक उपवास करके पारणा कर दो उपवास करता है पश्चात् फिर पारणा कर तीन उपवास करता है। इस प्रकार एक अधिक वृद्धि के साथ जीवन पर्यन्त तीन गुप्तियों से रक्षित होकर उपवास और पारणाओं का प्रमाण लाने के लिए दिये गये सूत्र का भावार्थ यह है कि चौदह दिन में दस उपवास और चार पारणाएँ होती हैं। **(ध. ९/८७-८८)**

५३. प्रश्न : अवस्थित उग्रतप किसे कहते हैं ?

उत्तर : दीक्षा के लिए एक उपवास करके पारणा करें, पश्चात् एक दिन के अंतर से ऐसा करते हुए किसी निमित्त से षष्ठोपवास (वेला) हो गया फिर उस षष्ठोपवास (दो उपवास एक पारणा) से विहार करने वाले के कदाचित् अष्टमोपवास (तेला) हो गया। इस प्रकार दशम, द्वादश आदि क्रम से नीचे न गिरकर जो जीवन पर्यन्त विहार करता है, वह अवस्थित उग्रतप ऋद्धि का धारक कहा जाता है। **(ध. ९/८९)**

५४. प्रश्न : ऐसा होने पर छह मास से अधिक उपवास हो जाते हैं। इस कारण यह घटित नहीं होता है ?

उत्तर : यह कोई दोष नहीं है। क्योंकि घातायुष्क मुनियों के छह मासों के उपवास का नियम स्वीकार किया है, अघातायुष्क मुनियों के नहीं; क्योंकि उनका अकाल में मरण नहीं होता है। **(ध. ९/८८)**

५५. प्रश्न : अघातायुष्क भी छह मास तक उपवास करने वाले ही होते हैं, क्योंकि इसके आगे संक्लेश भाव उत्पन्न हो जाता है ?

उत्तर : इसके उत्तर में कहते हैं कि संक्लेश सहित और सोपक्रमायुष्क मुनियों के लिए यह नियम भले ही हो, किन्तु संक्लेश भाव से रहित निरुपक्रमायुष्क और तप के बल से उत्पन्न हुए वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से संयुक्त तथा उसके बल से ही असातावेदनीय के उदय को मन्द कर चुकने वाले साधुओं के लिए यह नियम नहीं है। उनमें इसका विरोध है। **(ध. ९/८९)**

५६. प्रश्न : दीप्त तपऋद्धि किसे कहते हैं ?

उत्तर : महोपवास करने पर भी जिनका मन, वचन, काय बल बढ़ता जाता है, जिनके मुख में दुर्गन्ध नहीं आती अपितु कमलादि के समान सुगंधित श्वास चलती है और जिनके शरीर की दीप्ति उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होती है, वे दीप्ततपऋद्धि धारक कहे जाते हैं। **(रा.वा.३)** दीप्ति का कारण होने

से तप दीप्ति कहा जाता है। दीप्त है तप जिनका वे दीप्ततप हैं। चतुर्थ व छट्ठम आदि उपवासों के करने पर जिनका शरीरगत तेज तपजनित लब्धि के माहात्म्य से प्रतिदिन शुक्ल पक्ष के चन्द्र के समान बढ़ता जाता है, वे ऋषि दीप्ततप कहलाते हैं। दीप्ततप ऋद्धिधारी मुनियों के केवल दीप्ति ही नहीं बढ़ती है किन्तु बल भी बढ़ता है, क्योंकि शरीर बल, मांस और रुधिर की वृद्धि के बिना शरीरदीप्ति की वृद्धि हो नहीं सकती। इसीलिए उनके आहार भी नहीं होता क्योंकि उसके कारणों का अभाव है। यदि कहा जाय कि भूख के दु:ख को शान्त करने के लिए वे भोजन करते हैं, सो भी ठीक नहीं है क्योंकि उनके भूख के दु:ख का अभाव है। **(धवल ९/९०)**

५७. प्रश्न : तप्त तप ऋद्धि किसे कहते हैं ?

उत्तर : लोहे की तपी हुई कड़ाही में गिरे हुए जलकण के समान जिस ऋद्धि से खाया हुआ अन्न धातुओं सहित क्षीण हो जाता है अर्थात् मल-मूत्रादि रूप परिणमन नहीं करता है, वह निज ध्यान से उत्पन्न हुई तप्त तप ऋद्धि है। **(ति.प. ४/१०६४)**

५८. प्रश्न : महातप ऋद्धि किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस ऋद्धि के प्रभाव से मुनि चार सम्यग्ज्ञानों के बल से मंदिरपंक्ति प्रमुख सब ही महान् उपवासों को करता है, वह महातप ऋद्धि है। **(ति.प. ४/१०६५)** सिंहनिष्क्रीड़ित आदि महातपों को करने की परायणता महातप ऋद्धि है। **(रा.वा. ३)**

नोट - सिंहनिष्क्रीड़ित आदि व्रतों के लक्षण हरिवंश पुराण में देखें।

५९. प्रश्न : महातपोतिशय ऋद्धि किसके होती है ?

उत्तर : जो अणिमादि आठ गुणों से संयुक्त है, जलचारणादि आठ प्रकार के चारण गुणों से अलंकृत है, प्रकाशमान शरीर प्रभा से युक्त है, दो प्रकार की अक्षीणऋद्धि से युक्त है, सर्वौषधि स्वरूप है, पाणिपात्र में गिरे आहार को अमृतरूप से पलटाने में समर्थ है, समस्त इन्द्रों से भी अनंतगुणे बल का धारक है, आशीर्विष और दृष्टिविष लब्धियों से समन्वित है, तप्ततप ऋद्धि से संयुक्त है, समस्त विद्याओं का धारक है तथा मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय ज्ञानों से तीनों लोकों के व्यापार को जानने वाला है वह मुनि 'महातपऋद्धि' के धारक हैं। कारण कि महत्त्व के हेतुभूत तप विशेष को उपचार से महान् कहा जाता है। वह जिनके होता है वे महातपऋषि हैं। ऐसा सिद्ध है। अथवा महस् (तेज) का हेतुभूत जो तप है वह उपचार से महा होता है। **(ध. ९/९१-९२)**

६०. प्रश्न : घोर तपोतिशय ऋद्धि किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस ऋद्धि के बल से ज्वर एवं शूल आदि रोग से शरीर के अत्यन्त पीड़ित होने पर भी साधुजन दुर्धर तप को सिद्ध करते हैं, वह घोर तपोतिशय ऋद्धि है। **(ति.प. ४/१०६६)**

६१. प्रश्न : घोरतपोतिशय ऋद्धि किसके होती है ?

उत्तर : वात, पित्त, कफ आदि के सन्निपात से समुद्भूत ज्वर, खांसी, दमा, अक्षिशूल, कुष्ठ, प्रमेहादि विविध रोगों से देह के सन्तापित होने पर भी जो अनशन, कायक्लेश आदि तपों से विमुख नहीं होते और भयंकर श्मशान, पर्वत की चोटी, गुफा, कन्दरा और शून्य ग्रामादि स्थान जो अत्यन्त दुष्ट यक्ष, राक्षस, पिशाच प्रभृति, वैताल रूप से विकृत हैं, जहाँ शृगालों के कठोर शब्द व्याप्त हैं तथा जो व्याघ्र सर्प, मृगों की भीषण आवाजों से भयंकर हैं, चौरादि से व्याप्त हैं- ऐसे स्थानों में रहने के अभ्यासी (मुनि) घोरतपऋद्धि के धारक हैं। **(रा.वा. ३)**

६२. प्रश्न : मुनिराज किस प्रकार का तप करते हैं ?

उत्तर : मुनिराज उपवासों (अनशन) में छह मास का उपवास, अवमौदर्य तपों में एक ग्रास, वृत्तिपरिसंख्यान में चौराहे में भिक्षा की प्रतिज्ञा, रसपरित्यागों में उष्ण जलयुक्त ओदन का भोजन, विविक्त शय्यासनों में वृक, व्याघ्र, तरक्ष, छवल्ल आदि श्वापद अर्थात् हिंस्रजीवों से सेवित सह्य, विन्ध्य आदि अटवियों में निवास, कायक्लेशों में हिमालय आदि के अंतर्गत देशों में, खुले आकाश के नीचे अथवा वृक्षमूल में, आतापन योग अर्थात् ध्यान ग्रहण करना। इसी प्रकार अभ्यंतर तपों में भी उत्कृष्ट तप की प्ररूपणा करनी चाहिए। **(ध. ९/९२)**

६३. प्रश्न : वीर (घोर) पराक्रम तप किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो ग्रहीत व्रत और योग को उत्तरोत्तर बढ़ाते जाते हैं वे घोर-पराक्रम तपऋद्धि के धारक होते हैं। **(रा.वा.३)**

जिस ऋद्धि के प्रभाव से मुनिजन अनुपम एवं वृद्धिङ्गत तपसहित, तीनों लोकों को संहार करने की शक्ति से युक्त, कण्टक, शिला, अग्नि, पर्वत, धुआँ तथा उल्का आदि के बरसाने में समर्थ एवं सहसा संपूर्ण समुद्र के जलसमूह को सुखाने की शक्ति से भी संयुक्त होते हैं, वह घोर पराक्रम तप ऋद्धि है। **(ति.प. १०६७-६८)**

६४. प्रश्न : घोर ब्रह्मचर्य तपऋद्धि किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस ऋद्धि से मुनि के क्षेत्र में भी चौरादिक की बाधाएँ और काल एवं महायुद्धादि नहीं होते हैं वह अघोर ब्रह्मचारित्व ऋद्धि है। **(ति.प. ४/१०६९)** चारित्र मोहनीय का उत्कृष्ट क्षयोपशम होने पर जो ऋद्धि दु:स्वप्न को नष्ट करती है **(रा.वा. ३)** जिस ऋद्धि के आविर्भूत होने पर महर्षिजन सब गुणों के साथ अघोर अर्थात् अविनश्वर ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं, वह अघोर ब्रह्मचारित्व ऋद्धि है। **(ति.प. ४/१०७१)** घोर कार्यकारी शक्ति को उत्पन्न करने के कारण ८४ लाख गुणों के घोरत्व सम्भव है। ब्रह्म का अर्थ पाँचव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति स्वरूप चारित्र है, क्योंकि वह शांति के पोषण का हेतु है। अघोर-शान्त है गुण जिसमें वह अघोर गुण है। अघोर गुण ब्रह्म का आचरण करने वाले अघोरगुण ब्रह्मचारी कहलाते हैं। **(ध. ९/९४)**

६५. प्रश्न : बल ऋद्धि कितने प्रकार की होती है ?

उत्तर : बल ऋद्धि तीन प्रकार की है-

(१) मनोबल ऋद्धि (२) वचनबल ऋद्धि (३) कायबल ऋद्धि **(ति.प. ४/१०७२)**

६६. प्रश्न : मनोबल ऋद्धि किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस ऋद्धि के द्वारा श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय इन दो प्रकृतियों का उत्कृष्ट क्षयोपशम होने पर मुहूर्त्त मात्र काल (अंतर्मुहूर्त) के भीतर सम्पूर्ण श्रुत का चिन्तन करता है व जानता है, वह 'मनोबल' नामक ऋद्धि है। **(ति.प. ४/१०७२-७३)**

६७. प्रश्न : वचनबल ऋद्धि किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिह्वेन्द्रियावरण, नोइन्द्रियावरण, श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय का उत्कृष्ट क्षयोपशम होने पर जिस ऋद्धि के प्रगट होने से मुनि श्रमरहित और अहीनकंठ होता हुआ मुहूर्त्तमात्र काल के भीतर संपूर्ण श्रुत को जानता है व उसका उच्चारण करता है, उसके 'वचनबल' नामक ऋद्धि जाननी चाहिए। **(ति.प. ४/१०७४-७५)**

६८. प्रश्न : कायबल ऋद्धि किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस ऋद्धि के बल से वीर्यान्तराय प्रकृति के उत्कृष्ट क्षयोपशम की विशेषता होने पर मुनि मास व चातुर्मासादि रूप कायोत्सर्ग को करते हुए भी श्रम से रहित होते हैं तथा शीघ्रता से तीनों लोकों को कनिष्ठा अँगुली के ऊपर उठाकर अन्यत्र स्थापित करने के लिए समर्थ होते हैं, वह कायबल नामक ऋद्धि है। **(ति.प. ४/१०७६-७७)**

६९. प्रश्न : औषधि ऋद्धि कितने प्रकार की होती है ?

उत्तर : सभी असाध्य रोगों की निवृत्ति में कारणभूत औषध ऋद्धि आठ प्रकार की है। (१) आमर्षौषधि ऋद्धि (२) क्ष्वेलौषधि ऋद्धि (३) जल्लौषधि ऋद्धि (४) मलौषधि ऋद्धि (५) विड़ौषधि ऋद्धि (६) सर्वौषधि ऋद्धि (७) प्राप्तास्याविषौषधि ऋद्धि (८) दृष्टिविषौषधि ऋद्धि **(चा.सा. २९२)** (१) आमर्षौषधि ऋद्धि (२) क्षेलौषधि ऋद्धि (३) जल्लौषधि ऋद्धि (४) मलौषधि ऋद्धि (५) विडौषधि ऋद्धि (६) सर्वौषधि ऋद्धि (७) मुखनिर्विष (वचन-निर्विष) ऋद्धि (८) दृष्टि निर्विष ऋद्धि **(ति.प. ४/१०७८)**

७०. प्रश्न : आमर्षौषधि आदि ऋद्धियों के क्या लक्षण हैं ?

उत्तर : (१) आमर्षौषधि ऋद्धि - जिस ऋद्धि के प्रभाव से जीव पास में आने पर ऋषि के हस्त व पादादि के स्पर्श मात्र से ही नीरोग हो जाते हैं, वह आमर्षौषधि ऋद्धि है।

(२) क्ष्वेलौषधि ऋद्धि - जिस ऋद्धि के प्रभाव से लार, कफ, अक्षिमल और नासिकामल

शीघ्र ही जीवों के रोगों को नष्ट करता है वह क्ष्वेलौषधि ऋद्धि है।

(३) जल्लौषधि ऋद्धि - पसीना के आश्रित अंगरज जल्ल कहा जाता है। जिस ऋद्धि के प्रभाव से उस अंगरज से भी जीवों के रोग नष्ट होते हैं वह 'जल्लौषधि' ऋद्धि कहलाती है।

(४) मलौषधि ऋद्धि - जिस शक्ति से जिह्वा, ओठ, दाँत, नासिका और श्रोत्रादिक का मल भी जीवों के रोगों को दूर करने वाला होता है, वह मलौषधि नामक ऋद्धि है।

(५) विडौषधि ऋद्धि - जिस ऋद्धि के प्रभाव से महामुनियों का मूत्र एवं विष्ठा भी जीवों के बहुत भयानक रोगों को नष्ट करने वाला होता है, वह विडौषधि नामक त्रद्धि है। **(ति.प. ४/१०७९-८३)**

७१. प्रश्न : सर्वौषधि ऋद्धि किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस ऋद्धि के बल से दुष्कर तप से युक्त मुनियों के स्पर्श किये हुए जल व वायु तथा उनके रोम और नखादिक व्याधि के हरने वाले हो जाते हैं, वह सर्वौषधि नामक ऋद्धि है। **(ति.प. ४/१०८४)** रस, रुधिर, मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा, शुक्र,पुप्फस, खरीष, कालेय, मूत्र, पित्त, अंतड़ी, उच्चार (मल) आदि सब जिनके औषधिपने को प्राप्त हो गये हैं, वे सर्वौषधि प्राप्त जिन हैं। **(ध. ९/९७)**

७२. प्रश्न : प्राप्तास्याविष ऋद्धि किसे कहते हैं ?

उत्तर : उग्रविष मिश्रित आहार भी जिनके मुख में जाकर निर्विष हो जाता है वे मुनि आस्याविष ऋद्धि धारक हैं। अथवा जिनके वचनों को सुनकर महाविष में डूबे हुए मनुष्य भी विष रहित हो जाते हैं वे आस्याविष ऋद्धि वाले मुनि कहलाते हैं। **(चा.सा. २९२)** जिस ऋद्धि के प्रभाव से तिक्तादिक रस एवं विष संयुक्त विविध प्रकार का अन्न वचन मात्र से ही निर्विष हो जाता है, वह वचन निर्विष नामक ऋद्धि है। **(ति. प. ४/१०८५)** जिस ऋद्धि के प्रभाव से बहुत व्याधियों से युक्त जीव, ऋषि के वचन को सुनकर ही शीघ्र नीरोग हो जाया करते हैं, वह वचन निर्विष नामक ऋद्धि है। **(ति. प. ४/१०८६)**

७३. प्रश्न : दृष्टि निर्विष ऋद्धि किसे कहते हैं ?

उत्तर : रोग और विष से युक्त जीव जिस ऋद्धि के प्रभाव से झट देखने मात्र से ही नीरोगता और निर्विषता को प्राप्त कर लेते हैं, वह दृष्टि निर्विष ऋद्धि है। **(ति.प. ४/१०८७)** जिनके अवलोकन मात्र से ही तीव्र विष दूर हो जाते हैं वे दृष्टिनिर्विष ऋद्धि के धारक मुनि हैं। उत्कृष्ट तपस्वी मुनि क्रोधित होकर जिसको देख लेवे वह उसी समय उग्रविष से दूषित होकर मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। वह दृष्टिविष ऋद्धि है। **(चा.सा. २९५)**

७४. प्रश्न : रस ऋद्धि कितने प्रकार की होती है ?

उत्तर : रस ऋद्धि छह प्रकार की है-

(१) आस्यविष (२) दृष्टिविष (३) क्षीरास्रवी (४) मध्वास्रवी (५) सर्पिरास्रवी (६) अमृतास्रवी। **(रा.वा. ३)**

७५. प्रश्न : आशीर्विष ऋद्धि किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस शक्ति से दुष्कर तप से युक्त मुनि के द्वारा 'मर जाओ' इस प्रकार कहने पर जीव सहसा मर जाता है, वह आशीर्विष नामक ऋद्धि कही जाती है। **(ति.प. ४/१०८९)** अविद्यमान अर्थ की इच्छा का नाम आशिष है। आशिष है विष (वचन) जिनका वे आशीर्विष कहे जाते हैं। 'मर जाओ' इस प्रकार जिनके प्रति निकला हुआ जिनका वचन उसे मारता है। 'भिक्षा के लिए भ्रमण करो' ऐसा वचन भिक्षार्थ भ्रमण कराता है। 'शिर का छेद हो' ऐसा वचन शिर को छेदता है। आशी-र्विष नामक साधु है। **(ध.९/८५)**

७६. प्रश्न : वचन के विष संज्ञा कैसे संभव है ?

उत्तर : 'विष के समान विष है' इस प्रकार उपचार से वचन की विष संज्ञा प्राप्त है। आशिष है अविष अर्थात् अमृत जिनका वे आशीर्विष हैं। स्थावर अथवा जंगम विष से पूर्ण जीवों के प्रति 'निर्विष हो' इस प्रकार निकला हुआ जिनका वचन उन्हें जिलाता है। व्याधिवेदना और दारिद्र्य आदि के विनाश हेतु निकला हुआ जिनका वचन उस-उस कार्य को करता है, वे भी आशीर्विष हैं। यह सूत्र का अभिप्राय है। **(ध. ९/८५)**

७७. प्रश्न : दृष्टिविष रसऋद्धि किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस ऋद्धि के बल से रोष युक्त हृदय वाले महर्षि से देखा गया जीव सर्प द्वारा काटे गये के समान मर जाता है, वह दृष्टिविष नामक ऋद्धि है। **(ति.प. ४/१०९०)** दृष्टि शब्द से यहाँ चक्षु और मन का ग्रहण है, क्योंकि उन दोनों में दृष्टि शब्द की प्रवृत्ति देखी जाती है। उसकी सहचरता से क्रिया का भी ग्रहण है रुष्ट होकर वह यदि 'मारता हूँ' इस प्रकार देखता है सोचता है व क्रिया करता है तो मारता है तथा क्रोधपूर्वक अवलोकन से अन्य भी अशुभ कार्य को करने वाला दृष्टिविष कहलाता है। **(ध. ९/८६)** इसी प्रकार दृष्टि अमृतों का भी लक्षण जानकर कहना चाहिए। **(ध. ९/८७)** अर्थात् प्रसन्न होकर वह यदि 'नीरोग करता हूँ' इस प्रकार देखता है या सोचता है, व क्रिया करता है तो नीरोग करता है तथा प्रसन्नतापूर्वक अवलोकन से अन्य भी शुभ कार्य को करने वाला दृष्टिअमृत कहलाता है।

विशेष - अशुभ लब्धियों की प्रवृत्ति लब्धियुक्त जीवों की इच्छा के वश से होती है किन्तु शुभलब्धियों की प्रवृत्ति दोनों ही प्रकारों से संभव है, क्योंकि उनकी इच्छा के बिना भी उक्तलब्धियों की प्रवृत्ति देखी जाती है। **(ध. ९/९५)**

७८. प्रश्न : क्षीरस्रवी रसऋद्धि किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस ऋद्धि से हस्ततल पर रखे हुए रूखे आहारादिक तत्काल ही दुग्ध-परिणाम को

प्राप्त हो जाते हैं, वह 'क्षीरस्रवी' ऋद्धि कही जाती है। अथवा जिस ऋद्धि से मुनियों के वचनों के श्रवण मात्र से ही मनुष्य-तिर्यञ्चों के दु:खादि शान्त हो जाते हैं, उसे क्षीरस्रवी ऋद्धि समझना चाहिए। **(ति.प. ४/१०९१-९२)**

७९. प्रश्न : अन्य रसों में स्थित द्रव्य का तत्काल ही क्षीर स्वरूप से परिणमन कैसे संभव है?

उत्तर : नहीं, क्योंकि जिस प्रकार अमृतसमुद्र में गिरे हुए विषका अमृत रूप परिणमन होने में कोई विरोध नहीं है, उसी प्रकार पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्तियों के समूह से घटित अंजलिपुट में गिरे हुए सब आहारों का क्षीर स्वरूप परिणमन होने में कोई विरोध नहीं है। **(ध. ९/१००)**

८०. प्रश्न : मध्वास्रवी रसऋद्धि किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस ऋद्धि से मुनि के हाथ में रखे गये रूखे आहारादिक क्षणभर में मधुर रस से युक्त हो जाते हैं, वह 'मध्वास्रवी' ऋद्धि है। अथवा - जिस ऋद्धि से मुनि के वचनों के श्रवण मात्र से मनुष्य-तिर्यञ्च के दु:खादिक नष्ट हो जाते हैं वह मध्वास्रवी ऋद्धि है। **(ति.प. ४/१०९३-९४)**

८१. प्रश्न : अमृतास्रवी रसऋद्धि किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस ऋद्धि के प्रभाव से मुनि के हाथ में स्थित रूखे आहारादिक क्षण मात्र में अमृतपने को प्राप्त करते हैं, वह अमृतास्रवी ऋद्धि है। अथवा - जिस ऋद्धि से महर्षि के वचनों के श्रवण काल में शीघ्र ही दु:खादि नष्ट हो जाते हैं, वह अमृतास्रवी नामक ऋद्धि है। **(ति.प. ४/१०९५-९६)**

८२. प्रश्न : सर्पिरास्रवी रसऋद्धि किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस ऋद्धि से ऋषि के हस्ततल में निक्षिप्त रूखा आहारादिक भी क्षण मात्र में घृतरूप को प्राप्त करता है, वह सर्पिरास्रवी ऋद्धि है।[१] अथवा, जिस ऋद्धि के प्रभाव से मुनीन्द्र के दिव्य वचनों के सुनने से ही जीवों के दु:खादि शान्त हो जाते हैं, वह सर्पिरास्रवी ऋद्धि है। **(ति.प. ४/१०९७-९८)**

८३. प्रश्न : क्षेत्र ऋद्धि कितने प्रकार की होती है ?

उत्तर : क्षेत्र ऋद्धि दो प्रकार की होती है-

(१) अक्षीण महानस (२) अक्षीण महालय। **(रा.वा. ३)**

अक्षीणर्द्धि - इसके प्रभाव से अन्न अक्षीण हो जाता है। **(म.पु. ११/८८)**

अक्षीण पुष्पर्द्धि - इसके प्रभाव से पुष्प-संपदा में न्यूनता नहीं आती है। **(म.पु. ८/१४९)**

---

१. इन मुनिराज के घी-दूध आदि रसों के त्याग करने की प्रतिज्ञा थी तथापि घी-दूध आदि को झराने वाली अनेक रस-ऋद्धियाँ प्रकट हुई थीं, सो ठीक ही है। इष्ट-इष्ट पदार्थों का त्याग करने से उनसे भी अधिक महाफलों की प्राप्ति होती है। **(महापुराण ११/८६)**

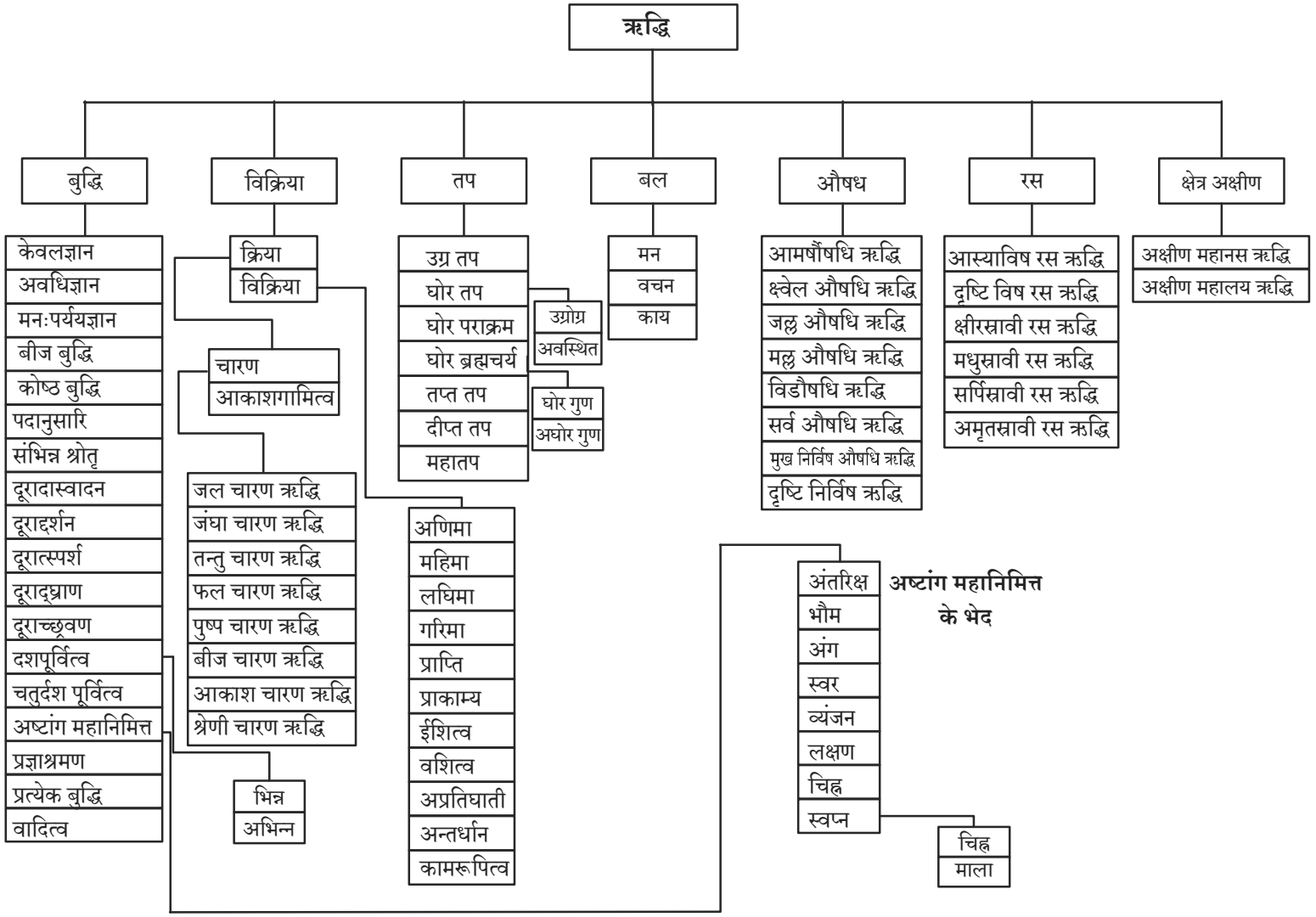
ऋद्धि
बुद्धि
केवलज्ञान
अवधिज्ञान
मनःपर्ययज्ञान
बीज बुद्धि
कोष्ठ बुद्धि
पदानुसारि
संभिन्न श्रोतृ
दूरादास्वादन
दूरादर्शन
दूरात्स्पर्श
दूरादघ्राण
दूराच्छ्रवण
दशपूर्वित्व
चतुर्दश पूर्वित्व
अष्टांग महानिमित्त
प्रज्ञाश्रमण
प्रत्येक बुद्धि
वादित्व
विक्रिया
क्रिया
विक्रिया
चारण
आकाशगामित्व
जल चारण ऋद्धि
जंघा चारण ऋद्धि
तन्तु चारण ऋद्धि
फल चारण ऋद्धि
पुष्प चारण ऋद्धि
बीज चारण ऋद्धि
आकाश चारण ऋद्धि
श्रेणी चारण ऋद्धि
भिन्न
अभिन्न
तप
उग्र तप
घोर तप
घोर पराक्रम
घोर ब्रह्मचर्य
तप्त तप
दीप्त तप
महातप
उग्रोग्र
अवस्थित
घोर गुण
अघोर गुण
अणिमा
महिमा
लघिमा
गरिमा
प्राप्ति
प्राकाम्य
ईशित्व
वशित्व
अप्रतिघाती
अन्तर्धान
कामरूपित्व
बल
मन
वचन
काय
औषध
आमर्षौषधि ऋद्धि
क्ष्वेल औषधि ऋद्धि
जल्ल औषधि ऋद्धि
मल्ल औषधि ऋद्धि
विडौषधि ऋद्धि
सर्व औषधि ऋद्धि
मुख निर्विष औषधि ऋद्धि
दृष्टि निर्विष ऋद्धि
रस
आस्याविष रस ऋद्धि
दृष्टि विष रस ऋद्धि
क्षीरस्रावी रस ऋद्धि
मधुस्रावी रस ऋद्धि
सर्पिस्रावी रस ऋद्धि
अमृतस्रावी रस ऋद्धि
क्षेत्र अक्षीण
अक्षीण महानस ऋद्धि
अक्षीण महालय ऋद्धि
अंतरिक्ष
भौम
अंग
स्वर
व्यंजन
लक्षण
चिह्न
स्वप्न
अष्टांग महानिमित्त के भेद
चिह्न
माला

अक्षीण महानस - इसके प्रभाव से रसोई घर में भोजन अक्षीण हो जाता है। **(म.पु. ३६/१५४)**

अक्षीण संवास - इसके प्रभाव से निवास व्यवस्था अक्षीण रहती है। **(म.पु. ३६/१५५)**

८४. प्रश्न : अक्षीण महानस ऋद्धि किसे कहते हैं ?

उत्तर : प्रकृष्ट लाभान्तराय के क्षयोपशम वाले यतीश्वरों को जिस भाजन से आहार दिया जाता है, उस भाजन से यदि चक्रवर्ती का पूरा कटक भी जीम जाए तो उस दिन वह भोजन-सामग्री कम नहीं पड़ती, वह भोजन सामग्री अक्षय बन जाती है। इस प्रकार की सामर्थ्य के धारक मुनिगण अक्षीण महानस ऋद्धि के धारक कहे जाते हैं। **(रा.वा. ३)**

८५. प्रश्न : अक्षीण महालय ऋद्धि किसे कहते हैं ?

उत्तर : इस ऋद्धि वाले यतीश्वर जहाँ बैठते हैं वा वास करते हैं उस स्थान में इतनी अवगाहन शक्ति हो जाती है कि वहाँ सभी देव, मनुष्य और तिर्यञ्च परस्पर किसी को बाधा नहीं देते हुए निर्बाध रूप से बैठ सकते हैं। **(रा.वा. ३)**

जिस ऋद्धि के प्रभाव से समचतुष्कोण चार धनुष प्रमाण क्षेत्र में असंख्यात मनुष्य, तिर्यञ्च स्थान प्राप्त कर लेते हैं, वह अक्षीण महालय ऋद्धि है। **(ति.प. ४/११०२)**

८६. प्रश्न : अनृद्धि प्राप्त आर्य कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : क्षेत्रादि की अपेक्षा अनृद्धि प्राप्त आर्य अनेक प्रकार के हैं।

क्रमांक	नाम	संख्या	क्रमांक	नाम	संख्या
(१)	एक	१	(१६)	निहुत्तरब्बुद	$(१०,०००००००)^{९}$
(२)	दस	१०	(१७)	अहह	$(१०,०००००००)^{१०}$
(३)	शत	१००	(१८)	अवव	$(१०,०००००००)^{११}$
(४)	सहस्र	१०००	(१९)	अटट	$(१०,०००००००)^{१२}$
(५)	दस सहस्र	१०,०००	(२०)	सोगंधिक	$(१०,०००००००)^{१३}$
(६)	शतसहस्र	१००,०००	(२१)	उप्पल	$(१०,०००००००)^{१४}$
(७)	दसशतसहस्र	१०००,०००	(२२)	कुमुद	$(१०,०००००००)^{१५}$
(८)	कोटि	१००००,०००	(२३)	पुण्डरीक	$(१०,०००००००)^{१६}$
(९)	पकोटि	$१००००००००^{२}$	(२४)	पद्म	$(१०,०००००००)^{१७}$
(१०)	कोटिप्पकोटि	$१००००००००^{३}$	(२५)	कथान	$(१०,०००००००)^{१८}$
(११)	नहुत	$१०,०००००००^{४}$	(२६)	महाकथान	$(१०,०००००००)^{१९}$
(१२)	निन्नहुत	$१०,०००००००^{५}$	(२७)	असंख्येय	$(१०,०००००००)^{२०}$ (ध.५/पृ.२३ प्रस्तावना)
(१३)	अखोभिनी	$१०,०००००००^{६}$	(२८)	पणट्ठी	$(२५६)^{२}$
(१४)	बिन्दु	$१०,०००००००^{७}$	(२९)	बादाल	$(पणट्ठी)^{२}$
(१५)	अब्बुद	$१०,०००००००^{८}$	(३०)	एकट्ठी	$(बादाल)^{२}$ (ति.प. ४/३०९)

५. प्रश्न : प्रतिमान के किन उदाहरणों से प्रतिमान को जाना जाता है ?

उत्तर :

मेहंदी के चार फल	= १ सरसों	सौ पल	= १ तुला
सोलह सरसों	= १ उड़द	तीन पल और आधा कंस	= १ कुड़व
दो उड़द	= १ गुमची	चार कुड़व	= १ प्रस्थ
दो गुमची	= १ रुप्यमाण	चार प्रस्थ	= १ आढ़क
सोलह रुप्यमाण	= १ धरण	चार आढ़क	= १ द्रोण
ढाई धरण	= १ सुवर्ण कंस	सोलह द्रोण	= १ खारी
चार कंस	= १ पल	बीस खारी	= १ वाह

यह मगध देश का मान है, यह सब प्रतिमान है। **(रा.वा.३)**

६. **प्रश्न : लोकोत्तर प्रमाण कितने प्रकार का होता है ?**

उत्तर : लोकोत्तर प्रमाण चार प्रकार का होता है-

(१) द्रव्य लोकोत्तर प्रमाण (२) क्षेत्र लोकोत्तर प्रमाण (३) काल लोकोत्तर प्रमाण (४) भाव लोकोत्तर प्रमाण।

(१) द्रव्य प्रमाण - एक परमाणु से लेकर महास्कंध पर्यन्त द्रव्य प्रमाण है। **(रा.वा. ४)**

संख्यात, असंख्यात, अनंत यह द्रव्य प्रमाण है। **(ध. १/८१)**

पल, तुला और कुडव आदि द्रव्य प्रमाण हैं क्योंकि ये सोना, चाँदी, गेहूँ आदि दूसरे पदार्थों के परिमाण का ज्ञान कराने में कारण हैं। **(ज.ध. १/३८)**

(२) क्षेत्र प्रमाण - एक प्रदेश से लेकर सर्वलोक क्षेत्र प्रमाण है। **(रा.वा. ४)**

अंगुल आदि रूप अवगाहनाएँ क्षेत्र प्रमाण हैं क्योंकि इनके द्वारा शेष द्रव्य प्रमित (अवगाहित) किये जाते हैं। **(ज.ध. १/३९)**

(३) काल प्रमाण - एक समय से लेकर अनंतकाल पर्यन्त अनेक भेद वाला काल प्रमाण है। **(रा.वा.४)**

(४) भाव प्रमाण - भाव उपयोग। यह जघन्य सूक्ष्म निगोदिया के, उत्कृष्ट केवली के और मध्यम अन्य जीवों के होता है। **(रा.वा. ४)**

७. **प्रश्न : द्रव्य प्रमाण कितने प्रकार का होता है ?**

उत्तर : द्रव्य प्रमाण तीन प्रकार का है-

(१) उत्कृष्ट (२) मध्यम (३) जघन्य।

महास्कन्ध उत्कृष्ट द्रव्य प्रमाण है। एक परमाणु जघन्य द्रव्य प्रमाण है तथा मध्यम अनेक प्रकार के द्रव्य प्रमाण हैं- **(रा.वा. ४)** अथवा द्रव्य प्रमाण दो प्रकार का है-

(१) संख्या द्रव्य प्रमाण (२) उपमा द्रव्य प्रमाण। **(रा.वा. ५)**

८. **प्रश्न : संख्या द्रव्य प्रमाण कितने प्रकार का है ?**

उत्तर : संख्या प्रमाण तीन प्रकार का है-

(१) संख्यात (२) असंख्यात (३) अनंत। **(रा.वा. ५)**

९. **प्रश्न : संख्यात किसे कहते हैं ?**

उत्तर : दो संख्या को आदि लेकर एक कम जघन्य परीतासंख्यात पर्यन्त संख्या का नाम संख्यात

है। यह श्रुतज्ञान का विषय है। जितने विषयों को श्रुतज्ञान युगपत् प्रत्यक्ष जानता है उसे संख्यात कहते हैं। **(त्रि.सा. ५२)**

जो संख्या पाँचों इन्द्रियों का विषय है, वह संख्यात है। **(ध. ३/२६७)**

१०. प्रश्न : संख्यात कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : संख्यात तीन प्रकार का होता है-

(१) उत्कृष्ट संख्यात (२) मध्यम संख्यात (३) जघन्य संख्यात **(रा.वा. ५)**

११. प्रश्न : उत्कृष्ट संख्यात की प्राप्ति कैसे होती है ?

उत्तर : संख्यात की प्राप्ति के लिए जम्बूद्वीप के समान एक लाख योजन लम्बे-चौड़े और एक योजन गहरे चार कुण्ड बनाने चाहिए।

(१) शलाका कुण्ड (२) प्रतिशलाका कुण्ड (३) महाशलाका कुण्ड (४) अनवस्थित कुण्ड (अपनी बुद्धि से कल्पना करनी चाहिए) आदि के तीन कुण्ड अवस्थित हैं और चौथा कुण्ड अनवस्थित है। (इसका विस्तार परिवर्तित होता रहता है) चतुर्थ अनवस्थित कुण्ड में दो सरसों डालना चाहिए, यह जघन्य संख्यात का प्रमाण है। पुन: उस (चतुर्थ) कुण्ड को (गोल) सरसों से ठसाठस भर देना चाहिए, फिर कोई सामर्थ्यवान् देव उसमें से एक-एक सरसों को क्रमश: एक-एक द्वीप-समुद्र में डालता जाय (जैसे पहला सरसों जम्बूद्वीप में, दूसरा लवण समुद्र में, तीसरा धातकी खण्ड में) जब वह अनवस्थित कुण्ड खाली हो जाय तब एक सरसों शलाका कुण्ड में डालनी चाहिए।

पुन: जहाँ अंतिम सरसों गिरा था उतने बड़े दूसरे अनवस्थित कुण्ड की कल्पना करनी चाहिए। उसे सरसों से भरकर पूर्ववत् एक-एक सरसों क्रमश: आगे-आगे के द्वीपसमुद्र में डालते हुए जब वह खाली हो जाय तब दूसरा सरसों शलाका कुण्ड में डालना चाहिए।

पुन: जहाँ अंतिम सरसों गिरा था उतने बड़े तीसरे अनवस्थित कुण्ड की कल्पना करनी चाहिए उसे पूर्ववत् सरसों से भरकर उससे आगे के द्वीप-समुद्रों में सरसों डालकर खाली करना चाहिए। तब शलाका कुण्ड में तीसरा सरसों डालना चाहिए।

इस प्रकार अनवस्थित कुण्ड को तब तक बढ़ाना चाहिए जब तक शलाका कुण्ड सरसों से न भर जाय। शलाका कुण्ड के भरने पर एक सरसों प्रतिशलाका कुण्ड में डालना चाहिए।

पूर्वोक्त विधि (एक-एक बार शलाका कुण्ड भरकर एक-एक सरसों प्रतिशलाका में डालना) से प्रतिशलाका कुण्ड को भरना चाहिए और प्रतिशलाका कुण्ड के भर जाने पर एक सरसों महाशलाका कुण्ड में डालते हुए महाशलाका कुण्ड भरना चाहिए।

महाशलाका कुण्ड के भरने पर जो प्रमाण आता है (महाशलाका कुण्ड में अंतिम सरसों डालते

समय जितना अनवस्थित कुण्ड में भरे गये सरसों का प्रमाण) उसमें से एक घटा देने पर उत्कृष्ट संख्यात का प्रमाण आता है। जघन्य और उत्कृष्ट के बीच में सभी भेद अजघन्योत्कृष्ट (मध्यम) संख्यात का प्रमाण है। **(रा.वा. ५)**

जैसे - माना अनवस्था कुण्ड दस सरसों से भरा था अत: बढ़ते हुए व्यास के साथ दस अनवस्था कुण्डों के बन जाने पर एक बार शलाकाकुण्ड भरेगा तब एक सरसों का दाना प्रतिशलाका कुण्ड में डाला जायेगा। इसी प्रकार बढ़ते हुए व्यास के साथ दस के घन अर्थात् (१०००) अनवस्था कुण्डों के बन जाने पर दस के वर्ग (१०० बार) शलाकाकुण्ड भरेगा तब दस बार प्रतिशलाका कुण्ड भरेगा और तब एक बार महाशलाका कुण्ड भरेगा। इस प्रकार इस अनवस्था कुण्ड में शिखा सहित गोल सरसों की जितनी संख्या प्राप्त होती है वही संख्या जघन्य परीतासंख्यात की है और उसमें से एक अंक कम कर देने पर उत्कृष्ट संख्यात का प्रमाण प्राप्त होता है। **(त्रि.सा. ३५ विशेषार्थ)**

१२. प्रश्न : असंख्यात किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो संख्या का उल्लंघन कर चुका है, वह असंख्यात है। वह अवधिज्ञान का विषय है। जितने विषय को अवधिज्ञान युगपत् जानता है, वह असंख्यात है। **(त्रि.सा. ४६)**

१३. प्रश्न : असंख्यात कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : असंख्यात नौ प्रकार का होता है-

(१) उत्कृष्ट परीतासंख्यात (२) मध्यम परीतासंख्यात (अजघन्यानुत्कृष्ट) (३) जघन्य परीतासंख्यात (४) उत्कृष्ट युक्तासंख्यात (५) मध्यम युक्तासंख्यात (६) जघन्य युक्तासंख्यात (७) उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात (८) मध्यम असंख्यातासंख्यात (९) जघन्य असंख्यातासंख्यात। **(ति.प. ४/३१४)**

१४. प्रश्न : परीतासंख्यात किसे कहते हैं ?

उत्तर : उत्कृष्ट संख्यात में एक मिला देने पर जघन्य परीतासंख्यात का प्रमाण आता है। जघन्य परीतासंख्यात को फैलाकर मोती के समान पृथक्-पृथक् रखना चाहिए। प्रत्येक पर एक-एक जघन्य परीतासंख्येय को स्थापित करना चाहिए। पुन: इनका परस्पर वर्ग करके एक राशि बनावे। पुन: उस राशि का विरलन करके उस पर उस वर्गित राशि को देना चाहिए। पुन: उस राशि का परस्पर वर्ग करने पर जो राशि उत्पन्न होती है, वह उत्कृष्ट परीतासंख्येय से एक अधिक होती है, उसमें से एक कम करने पर उत्कृष्ट परीतासंख्येय होता है।

मध्य के अनेक विकल्प जघन्योत्कृष्ट परीतासंख्येय है। **(रा.वा. ५)** जो यह परीतासंख्यात है उसका विरलन कर एक-एक अंक पर (वही) जघन्य परीतासंख्यात देय देकर परस्पर गुणाकरने से उत्कृष्ट परीतासंख्यात का उल्लंघन कर जघन्य युक्तासंख्यात प्राप्त होता है। **(ति.प. ४/३१४)**

नोट - जघन्य युक्तासंख्यात में से एक घटाने पर उत्कृष्ट परीतासंख्यात प्राप्त होता है।

१५. प्रश्न : युक्तासंख्यात किसे कहते हैं ?

उत्तर : उत्कृष्ट परीतासंख्यात में एक मिलाने पर जघन्य युक्तासंख्यात की प्राप्ति होती है।

जघन्य युक्तासंख्येय का विरलन करके प्रत्येक अंक पर जघन्य युक्तासंख्येय को स्थापित करना चाहिए। उनका परस्पर वर्ग करने पर जो राशि उत्पन्न होती है, वह जघन्य असंख्येयासंख्येय है। उसमें से एक कम करने पर उत्कृष्ट युक्तासंख्येय संख्या निष्पन्न होती है।

(जघन्य युक्तासंख्येय और उत्कृष्ट युक्तासंख्येय के) मध्य के विकल्प मध्यम (जघन्योत्कृष्ट) युक्तासंख्येय है। **(रा.वा. ५)** जो जघन्य युक्तासंख्यात है उसका एक बार वर्ग करने पर उत्कृष्ट युक्तासंख्यात का उल्लंघन कर जघन्य असंख्यातासंख्यात प्राप्त होता है। इसमें से एक अंक कम कर देने से उत्कृष्ट युक्तासंख्यात प्राप्त होता है। **(ति.प. ४/३१४)**

१६. प्रश्न : असंख्यातासंख्यात किसे कहते हैं ?

उत्तर : उत्कृष्ट युक्तासंख्यात में एक मिलाने पर जघन्य असंख्यातासंख्यात प्राप्त होता है। जो जघन्य असंख्येयासंख्येय है उसका विरलन करके पूर्वोक्त विधि से तीन बार वर्गित संवर्गित करने पर भी उत्कृष्ट असंख्येयासंख्येय सिद्ध नहीं होता अत: उसमें (तीन बार वर्गित संवर्गित करने पर जो राशि प्राप्त है।) धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, एक जीव द्रव्य, (एक जीव के प्रदेश) लोकाकाश, प्रत्येक शरीरी जीव, बादर निगोद शरीरी जीव इन छह असंख्येयों को, स्थिति बन्धाध्यवसाय स्थान और अनुभाग बन्धाध्यवसाय स्थानों को, योग के अविभाग प्रतिच्छेदों को तथा असंख्येय लोक के बराबर उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के समयों को पूर्व राशि में मिलाकर पुन: उस राशि को तीन बार वर्गित-संवर्गित करने पर जो महाराशि उत्पन्न हो वह उत्कृष्ट असंख्येयासंख्येय से एक भाग अधिक हो जाने के कारण उत्कृष्ट असंख्येयासंख्येय का उल्लंघन करके जघन्य परीतानंत प्रमाण होता है। उसमें से एक भाग कम करनेपर उत्कृष्ट असंख्येयासंख्येय संख्या निष्पन्न होती है।

मध्य के अनेक विकल्प अजघन्योत्कृष्ट असंख्येयासंख्येय होते हैं। **(रा.वा. ५)** जघन्य असंख्यातासंख्यात की दो प्रतिराशियाँ कर उनमें से एक राशि को शलाका प्रमाण स्थापित करके और एक राशि का विरलन करके एक-एक अंक के प्रति एक-एक पुञ्ज प्रमाण देकर परस्पर गुणा करके शलाका राशि में से एक अंक कम कर देना चाहिए। इस प्रकार जो राशि उत्पन्न हुई उसको पुन: विरलित कर एक-एक अंक के प्रति उसी उत्पन्न राशि को देय देकर और परस्पर गुणा करके शलाका राशि में से एक अंक और कम कर देना चाहिए। इसी क्रम से शलाका राशि समाप्त हो गई।

उस राशि की समाप्ति के अनंतर उत्पन्न हुई राशि की दो प्रतिराशियाँ करें। उनमें से एक पुञ्ज शलाका रूप से स्थापित कर और एक पुञ्ज का विरलन कर, एक-एक अंक के प्रति उत्पन्न राशि को

देय देकर परस्पर गुणा करने के पश्चात् शलाका राशि में से एक अंक कम करना चाहिए। इस प्रक्रिया से द्वितीय शलाका राशि समाप्त हो गयी।

(द्वितीय शलाका राशि के) समाप्ति काल में उत्पन्न राशि की दो प्रतिराशियाँ करें। उनमें से एक पुंज शलाका रूप स्थापित करें और एक पुंज को विरलित कर एक-एक अंक के प्रति उत्पन्न राशि को देय देकर परस्पर गुणा करने के पश्चात् शलाका राशि में से एक अंक कम कर देना चाहिए। इस क्रम से तृतीय पुंज समाप्त हो गया।

ऐसा करने पर भी उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात प्राप्त नहीं होता। (१) धर्मद्रव्य (२) अधर्मद्रव्य (३) लोकाकाश (४) एक जीव, इन चारों के प्रदेश लोकाकाश प्रमाण है। तथा (५) प्रत्येक शरीर और (६) बादर प्रतिष्ठित इन दोनों राशियों का प्रमाण कुछ कम सागरोपम राशि का विरलन कर और उसी को देय देकर परस्पर गुणा करने पर जो राशि उत्पन्न हो उतना है। (जो क्रमशः असंख्यात लोक, असंख्यात लोक प्रमाण है) इन छहों असंख्यात राशियों को पूर्व (तीन बार वर्गित-संवर्गित प्रक्रिया से) उत्पन्न राशि में मिलाकर पूर्व के सदृश पुनः तीन बार वर्गित-संवर्गित करने पर भी उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात उत्पन्न नहीं होता है।

तब फिर उस राशि में स्थितिबन्धस्थान, स्थिति बन्धाध्यवसायस्थान, कषायोदयस्थान, अनुभाग बन्धाध्यवसाय स्थान, योगों के अविभाग प्रतिच्छेद और उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल के समय, इन (छह) राशियों को मिलाकर पूर्व सदृश ही वर्गित-संवर्गित करने पर उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात का अतिक्रमण कर जघन्य परीतानंत प्राप्त होता है। इसमें से एक अंक कम कर देने पर उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात होता है। **(ति. प. ४/३१४)**

१७. प्रश्न : अनंत किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो असंख्यात को भी उल्लंघन कर चुका है वह अनंत है। वह केवलज्ञान का विषय है। जितने विषयों को केवलज्ञान युगपत् प्रत्यक्ष जानता है उसे अनंत कहते हैं। **(त्रि.सा. ५२)**

१८. प्रश्न : अनंत कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : अनंत तीन प्रकार का होता है-

(१) परीतानंत (२) युक्तानंत (३) अनंतानंत।

इन तीनों के तीन-तीन भेद होने से-

(१) जघन्य परीतानंत (२) अजघन्यानुत्कृष्ट (मध्यम) परीतानंत (३) उत्कृष्ट परीतानंत।

(१) जघन्य युक्तानंत (२) मध्यम युक्तानंत (३) उत्कृष्ट युक्तानंत।

(१) जघन्य अनंतानंत (२) मध्यम अनंतानंत (३) उत्कृष्ट अनंतानंत। **(ति.प. ४/३१५)**

नोट : मध्यम को अजघन्योत्कृष्ट भी कहते हैं।

१९. प्रश्न : परीतानंत किसे कहते हैं ?

उत्तर : (उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात में एक मिलाने पर जघन्य परीतानंत प्राप्त होता है।) जघन्य परीतानंत का पूर्वोक्त विधि से विरलन करके तीन बार वर्गित-संवर्गित करने पर उत्कृष्ट परीतानंत से एक अधिक जघन्य युक्तानंत होता है। उसमें से एक कम करने पर उत्कृष्ट परीतानंत होता है, मध्य के अनेक विकल्प अजघन्योत्कृष्ट परीतानंत के हैं। **(रा.वा. ५)**

जघन्य परीतानंत का विरलन कर और एक-एक अंक के प्रति जघन्य परीतानंत देय देकर परस्पर गुणा करने पर उत्कृष्ट परीतानंत का उल्लंघन कर जघन्य युक्तानंत प्राप्त होता है। इस जघन्य युक्तानंत में से एक अंक कम करने पर उत्कृष्ट परीतानंत होता है। **(ति.प. ४/३१५)**

नोट - जघन्य से आगे एवं उत्कृष्ट से नीचे अजघन्योत्कृष्ट परीतानंत के अनेक भेद हैं।

२०. प्रश्न : युक्तानंत किसे कहते हैं ?

उत्तर : (उत्कृष्ट परीतानंत में एक मिलाने पर जघन्य युक्तानंत प्राप्त होता है।) जघन्य युक्तानंत का विरलन करके प्रत्येक पर जघन्य युक्तानंत को रखें। पुन: उन्हें परस्पर वर्गित करने पर जो राशि निष्पन्न होती है वह उत्कृष्ट युक्तानंत से एक अधिक जघन्य अनंतानंत राशि है। उसमें से एक कम कर देने पर उत्कृष्ट युक्तानंत होता है।

मध्य के अनेक विकल्प अजघन्योत्कृष्ट युक्तानंत के हैं। **(रा.वा. ५)**

२१. प्रश्न : अनंतानंत किसे कहते हैं ?

उत्तर : (उत्कृष्ट युक्तानंत में एक अंक मिलाने पर जघन्य अनंतानंत होता है।) जघन्य अनंतानंत का विरलन करके प्रत्येक पर जघन्य अनंतानंत स्थापित करके तीन बार वर्गित-संवर्गित करने पर भी उत्कृष्ट अनंतानंत नहीं होता अत: उसमें (१) सिद्ध जीव (२) निगोद जीव (३) वनस्पति काय (४) अतीत अनागत काल के समय (५) सर्व पुद्गल (६) सर्व आकाश प्रदेश (७) धर्मास्तिकाय (८) अधर्मास्तिकाय द्रव्यों के अनंत अगुरुलघु गुण जोड़कर तीन बार वर्गित-संवर्गित करने पर भी उत्कृष्ट अनंतानंत नहीं होता- अत: उस संपूर्ण राशि में पुन: अनंत केवलज्ञान और अनंत केवलदर्शन को जोड़ने पर उत्कृष्ट अनंतानंत संख्या होती है। उसमें से एक कम कर देने पर अजघन्योत्कृष्ट अनंतानंत संख्या होती है। **(रा.वा. ५)** जघन्य अनंतानंत राशि को तीन बार वर्गित-संवर्गित करने पर उत्कृष्ट अनंतानंत प्राप्त नहीं होता है-

अत: (१) सिद्ध (२) निगोद जीव (३) वनस्पति (४) पुद्गल (५) काल और (६) अलोकाकाश ये छह अनंत प्रक्षेप हैं।

इन छहों राशियों को मिलाकर पूर्व के सदृश तीन बार वर्गित-संवर्गित करने पर उत्कृष्ट अनंतानंत प्राप्त नहीं होता- अत: इस राशि में धर्म और अधर्म द्रव्यों में स्थित अनंतानंत अगुरुलघुगुण को (अविभाग प्रतिच्छेद) मिलाकर पूर्व के सदृश तीन बार वर्गित-संवर्गित करना चाहिए।

इसके पश्चात् भी जब उत्कृष्ट अनंतानंत उत्पन्न नहीं होता तब केवलज्ञान अथवा केवलदर्शन के अनंत बहु भाग को उसी राशि में मिला देने पर उत्कृष्ट अनंतानंत प्राप्त होता है। **(ति.प. ४/३१६)**

मान लो-उपर्युक्त संपूर्ण प्रक्रिया से उत्पन्न होने वाली राशि १०० है, जो मध्यम अनंतानंत स्वरूप है। इसे उत्कृष्ट अनंतानंत स्वरूप १००० में से घटा देने पर (१०००-१००) = ९०० शेष रहे, इस शेष को (९००) १०० में जोड़कर (९००+१००) = १००० स्वरूप उत्कृष्ट अनंतानंत का प्रमाण प्राप्त होता है। **(ति.प. ४/३१६)**

२२. प्रश्न : असंख्यात और अनंत में क्या अंतर है ?

उत्तर : एक-एक संख्या के घटाते जाने पर जो राशि समाप्त हो जाती है वह असंख्यात है और जो राशि समाप्त नहीं होती है वह अनंत है। **(ध. ३/२६७)**

२३. प्रश्न : यदि ऐसा है तो अर्द्धपुद्गल परिवर्तन को अनंत की संज्ञा कैसे दी गयी है ?

उत्तर : अर्द्ध पुद्गल परिवर्तन को जो अनंत संज्ञा दी गई है वह उपचार निमित्तक है। अनंत रूप केवलज्ञान का विषय होने से अर्द्ध पुद्गल परिवर्तन काल भी अनंत है। **(ध. ३/२६७)**

अर्द्धपुद्गल परिवर्तन काल इसलिए अनंत है कि छद्मस्थ जीवों के द्वारा उसका अंत नहीं पाया जाता है। वास्तव में केवलज्ञान अनंत है। अथवा अनंत को विषय करने वाला होने से वह अनंत है। **(ध. १/३९५)**

उपर्युक्त लक्षणानुसार अर्द्धपुद्गल परिवर्तन भी अनंत है। क्योंकि वह अवधिज्ञान के विषय से बाहर है। किन्तु वह परमार्थ अनंत नहीं है। **(त्रि.सा. ५२)**

२४. प्रश्न : इन असंख्यातादि से किनका ग्रहण होता है ?

उत्तर : जहाँ-जहाँ संख्यात खोजना हो वहाँ-वहाँ अजघन्यानुत्कृष्ट (मध्यम) संख्यात ग्रहण करना चाहिए। यह चौदह पूर्व के ज्ञाता श्रुतकेवली का विषय है। **(ति.प. ४/३१३)** जहाँ-जहाँ एक आवली का अधिकार हो वहाँ-वहाँ जघन्य युक्तासंख्यात ग्रहण करना चाहिए। **(ति.प. ४/३१४)** जहाँ-जहाँ असंख्यातासंख्यात की खोज करना हो वहाँ-वहाँ अजघन्योत्कृष्ट असंख्याता-संख्यात को ग्रहण करना चाहिए यह अवधिज्ञानी का विषय है। **(ति. प. ४/३१४)** जहाँ अनंतानंत का प्रकरण आता है वहाँ अजघन्योत्कृष्ट अनंतानंत लेना चाहिए। **(रा.वा. ५)** अभव्य राशि के प्रमाण में जघन्य युक्तानंत लिया जाता है। **(रा.वा. ५)**

२५. प्रश्न : उपमा प्रमाण कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : उपमा प्रमाण आठ प्रकार का है-

(१) पल्य (२) सागर (३) सूची (४) प्रतर (५) घनाङ्गुल (६) जगच्छ्रेणी (७) लोकप्रतर (८) लोक। **(रा.वा. ६)**

पल्य - पल्य का अर्थ गड्ढा होता है। पल्य का वर्णन आगे करेंगे। **(रा.वा. ७)**

सागर - पल्य के समय के प्रमाण में दस कोड़ाकोड़ी का गुणा करने पर जो अपरिमित समय राशि आयेगी उसे जिनेन्द्र देव ने सागर कहा है। **(व.चा. २७/१९)**

सूची - सूच्यङ्गुल को सूची कहते हैं। **(मू. ११२८ आ.)**

प्रतराङ्गुल - एक सूच्यङ्गुल को दूसरे सूच्यङ्गुल से गुणा करने पर एक प्रतराङ्गुल होता है। **(रा.वा. ७)**

घनाङ्गुल - प्रतराङ्गुल को सूच्यङ्गुल से गुणा करने पर एक घनाङ्गुल होता है। **(रा.वा. ७)**

जगच्छ्रेणी - सात राजू लम्बी और एक प्रदेश प्रमाण चौड़ी लोकपंक्ति को जगच्छ्रेणी कहते हैं। **(सर्वा.सि.पृ. २५ फुटनोट)**

जगत्प्रतर - उस जगच्छ्रेणी को दूसरी जगच्छ्रेणी से गुणा करने पर जगत्प्रतर होता है। **(सर्वा. सि. पृ. २५)**

जगद्घन - जगत्प्रतर को जगच्छ्रेणी से गुणा करने पर जगद्घन होता है। इसी का नाम लोक है। **(रा.वा. ७)**

२६. प्रश्न : पल्य कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : पल्य तीन प्रकार के होते हैं-

(१) व्यवहार पल्य (२) उद्धार पल्य (३) अद्धा पल्य।

(१) व्यवहार पल्य - आदि के पल्यों को व्यवहार पल्य कहते हैं क्योंकि यह आगे के दो पल्यों का मूल है।

(२) उद्धार पल्य-उद्धार पल्य में से निकाले गये रोम के छेदों से द्वीप-समुद्रों की गिनती की जाती है।

(३) अद्धा पल्य - अद्धा और कालस्थिति ये एकार्थवाची शब्द हैं। **(सर्वा. ४३९)**

२७. प्रश्न : व्यवहार पल्य किसे कहते हैं ?

उत्तर : चार कोस प्रमाण एक योजन विस्तार वाले गोल गः का गणितशास्त्र में निपुण पुरुषों को घनफल ले आना चाहिए।

नोट - एक योजन व्यासवाले गोल क्षेत्र का १९/२४ घनफल है।

उत्तम भोगभूमि में एक दिन से लेकर सात दिन तक के उत्पन्न हुए मेढ़े के करोड़ों रोमों के अविभागी खण्ड करके उन खण्डित रोमाग्रों से लगातार उस एक योजन विस्तार वाले प्रथम पल्य को पृथ्वी के बराबर अत्यन्त सघन भरना चाहिए। सौ-सौ वर्ष में एक-एक रोम खण्ड के निकालने पर जितने समय में वह गः खाली होता है उतने काल को व्यवहार पल्योपम कहते हैं। **(ति. प. १/११६-२५)**

प्रमाण अंगुल से परिमित एक योजन लम्बे, चौड़े, गहरे, तीन गड्ढे करने चाहिए और उन गड्ढों को एक दिन से सात दिन-रात्रि तक के भेड़ के बच्चे के रोमों के अतिसूक्ष्म, जिनका दूसरा विभाग न हो ऐसे टुकड़ों से कूट-कूट कर भरना चाहिए। पुन: एक-एक सौ वर्ष बाद एक-एक रोम का टुकड़ा गड्ढे में से निकालना चाहिए। जितने समय में वह गड्ढा खाली होगा उतना काल व्यवहार पल्य कहलाता है। **(रा.वा. ७)**

२८. प्रश्न : इस गड्ढे में कितने रोम भरे जायेंगे ?

उत्तर : इस कुण्ड में अठारह शून्य, दो, नौ, एक, दो, एक, पाँच, नौ, चार, सात, सात, सात, एक, तीन, शून्य, दो, आठ, शून्य, तीन, शून्य, तीन, छह, दो, पाँच, चार, तीन, एक और चार इस क्रम से (वामतो गति:संख्यानां) पल्य के अंक हैं। ४१३४५२६३०३०८२०३१७७७४९५१२१९२००००००००० ००००००००० इस प्रकार पैंतालीस अंक प्रमाण रोम प्रथम गड्ढे में आयेंगे। **(ति.प. १/१२३-२४)**

२९. प्रश्न : इन रोमों को निकालने की क्या विधि है ?

उत्तर : प्रमाण घनफल के दण्ड (हाथ) कर प्रमाणांगुल कर लेना चाहिए। पुन: प्रमाणांगुल के उत्सेधांगुल करना चाहिए। पुन: जौ, जूँ, लीख, कर्मभूमि के बालाग्र, जघन्य भोगभूमि के बालाग्र, मध्यम भोगभूमि के बालाग्र, उत्तम भोगभूमि के बालाग्र, इनकी अपेक्षा प्रत्येक को आठके घन से गुणा करने पर व्यवहार पल्य के रोमों की संख्या निकल आती है। यथा $\frac{१९}{२४}$×४×४×४×२०००×२०००× २०००×४×४×४×२४×२४×२४×५००×५००× ५००×८×८×८×८×८×८×८×८×८×८×८×८×८×८×८× ८×८×८×८×८×८ = ४५ अंक प्रमाण संख्या प्राप्त होती है। **(ति. प. १/१२१-२२)**

३०. प्रश्न : उद्धार पल्य किसे कहते हैं ?

उत्तर : व्यवहार पल्य की रोम राशि में से प्रत्येक रोम खण्ड के, असंख्यात करोड़ वर्षों के जितने समय हों उतने खण्ड करके, उनसे दूसरे पल्य को भरकर पुन: एक-एक समय में एक-एक रोम-खण्ड को निकालें। इस प्रकार जितने समय में वह दूसरा पल्य खाली होता है, उतना काल उद्धार नाम के पल्य का है। **(ति. प. १/१२६-२७)**

३१. प्रश्न : अद्धा पल्य किसे कहते हैं ?

उत्तर : इस उद्धार पल्य से द्वीप और समुद्रों का प्रमाण जाना जाता है। उद्धार पल्य की रोम राशि

में से प्रत्येक रोम खण्ड के असंख्यात वर्षों के समय-प्रमाण खण्ड करके तीसरे गड्ढे के भरने पर और पहले के समान एक-एक समय में एक-एक रोम खण्ड को निकालने पर जितने समय में वह गड्ढा रिक्त होता है उतने काल को अद्धा पल्योपम कहते हैं। **(ति.प. १/१२८-२९)**

उद्धार पल्यों के रोमच्छेदों को सौ वर्ष के समयों से छेद करके एक-एक समय में एक-एक रोमच्छेद के निकालने पर जितने समय में वह गड्ढा खाली होगा उतने समय का एक अद्धा पल्य कहलाता है। **(रा.वा. ७)**

३२. प्रश्न : इन पल्यों से किस-किस का प्रमाण लगाया जाता है ?

उत्तर : प्रथम (व्यवहार) पल्य से संख्या, द्वितीय से द्वीप - समुद्रादिक और तृतीय से कर्मों की स्थिति का प्रमाण लगाया जाता है। **(ति.प. १/९४)** अद्धा पल्य के द्वारा नारकी, तिर्यंच, देव और मनुष्यों की कर्म स्थिति, भवस्थिति, आयुस्थिति और कायस्थिति की गणना करनी चाहिए। **(सर्वा. ४३९)**

३३. प्रश्न : सागरोपम कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : सागरोपम तीन प्रकार के होते हैं-

(१) व्यवहार सागरोपम (२) उद्धार सागरोपम (३) अद्धा सागरोपम।

व्यवहार सागरोपम - दस कोड़ाकोड़ी व्यवहार पल्यों का एक व्यवहार-सागरोपम होता है।

उद्धार सागरोपम - दस कोड़ाकोड़ी उद्धार पल्यों का एक उद्धार सागरोपम होता है।

अद्धासागरोपम - दस कोड़ाकोड़ी अद्धा पल्यों का एक अद्धासागरोपम होता है। **(ति.प. १/१३०)**

३४. प्रश्न : सूच्यङ्गुल किसे कहते हैं ?

उत्तर : अद्धापल्य के अर्धच्छेदों की शलाकाओं का विरलन करके प्रत्येक अर्द्धच्छेद के ऊपर अद्धापल्यरूप देय राशि को स्थापित करके परस्पर गुणा करने पर जितने अर्धच्छेद होते हैं उतने प्रमाण आकाशप्रदेशों की जो मुक्तावली हो वह सूच्यङ्गुल का प्रमाण होता है। **(रा.वा. ७)** माना - अद्धापल्य का प्रमाण १६ है। इसके अर्द्धच्छेद ४ हुए (१६ के अर्द्धच्छेद = ८,४,२,१) अत: चार बार पल्य (१६×१६×१६×१६) का परस्पर गुणा करने से सूच्यङ्गुल ६५५३६ प्राप्त हुए। **(ति.प. १/१३२)**

तीन प्रकार के अंगुल की परिभाषा से सिद्ध किया गया अंगुल उत्सेध सूच्यङ्गुल होता है। **(ति.प. १/१०७)**

३५. प्रश्न : प्रतरांगुल किसे कहते हैं ?

उत्तर : सूच्यंगुल का वर्ग करने पर प्रतरांगुल प्राप्त होता है।

जैसे (सूच्यङ्गुल)^{२} अर्थात् (६५५३६)^{२} = (६५५३६×६५५३६) को प्रतरांगुल कहते हैं। **(ति.प.१/१३२)**

३६. प्रश्न : घनाङ्गुल किसे कहते हैं ?

उत्तर : सूच्यङ्गुल के घन को घनांगुल कहते हैं। **(ति.प. १/१३२)**

प्रतराङ्गुल को सूच्यंगुल से गुणा करने पर एक घनांगुल होता है। **(रा.वा. ७)**

जैसे (सूच्यंगुल)^{३} = (६५५३६×६५५३६×६५५३६) या (६५५३६)^{२} × ६५५३६ = घनांगुल कहते हैं। **(ति.प. १/१३२ विशेषार्थ)**

३७. प्रश्न : अंगुल कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : अंगुल तीन प्रकार के होते हैं-

(१) उत्सेधांगुल (२) प्रमाणांगुल (३) आत्मांगुल।

उत्सेध सूच्यंगुल, उत्सेध प्रतरांगुल, उत्सेधघनांगुल, प्रमाण सूच्यंगुल, प्रमाण प्रतरांगुल, प्रमाणघनांगुल, आत्मसूच्यंगुल, आत्म प्रतरांगुल, आत्मघनांगुल। **(ज.प. १३/२३-२४)**

३८. प्रश्न : उत्सेधांगुल किसे कहते हैं ?

उत्तर : आदि, मध्य और अंत से रहित, अतीन्द्रिय, एक रस, एक गंध, एक रूप और दो स्पर्श वाला अविभागी द्रव्य परमाणु कहलाता है।

अनंतानंत परमाणुओं के संघात का नाम एक उत्संज्ञा संज्ञा है।

आठ उत्संज्ञा-संज्ञा के संघात को एक संज्ञा संज्ञा कहते हैं।

आठ संज्ञासंज्ञा के समूह को एक त्रुटिरेणु कहते हैं।

आठ त्रुटिरेणुओं का समूह एक त्रसरेणु है।

आठ त्रसरेणुओं का समूह एक रथरेणु कहलाता है।

आठ रथरेणुओं का समूह एक देवकुरु-उत्तरकुरु के मनुष्य के बाल का अग्रभाग है।

उन आठ बालाग्रों का समूह रम्यक और हरिवर्ष के मनुष्यों के बाल के अग्रभाग प्रमाण होता है।

उन आठ बालाग्रों का समूह हैरण्यवत और हैमवत क्षेत्र के मनुष्यों के बाल का अग्रभाग है।

उन आठ बालाग्रों के समूह के बराबर भरत-ऐरावत और विदेह क्षेत्र के कर्मभूमिया मनुष्यों का बालाग्र होता है।

उन आठ बालाग्रों की एक लीख होती है।

आठ लीखों का समुदाय एक यूका (जूँआ) कहा जाता है।

आठ यूकाओं का एक यवमध्य होता है।

आठ यवमध्यों का एक उत्सेधांगुल होता है। **(रा.वा. ६)**

३९. प्रश्न : उत्सेधांगुल से किसका नाप होता है ?

उत्तर : उत्सेधांगुल द्वारा मापने योग्य पदार्थ -

तारा विमान का नाप उत्सेधांगुल से होगा। **(ध. ४/१६०-६१)**

नारक, तिर्यञ्च, देव, मनुष्य, अकृत्रिम चैत्यालय और प्रतिमाओं के शरीरों की ऊँचाई ली जाती है। **(रा.वा. ६)**

इस अंगुल से देव, मनुष्य, तिर्यंच एवं नारकियों के शरीर की ऊँचाई का प्रमाण और चारों प्रकार के देवों के निवासस्थान एवं नगरादिक का प्रमाण जाना जाता है। **(ति.प. १/११०)**

४०. प्रश्न : प्रमाणांगुल किसे कहते हैं ?

उत्तर : पाँच सौ उत्सेधांगुल प्रमाण, अवसर्पिणी काल के प्रथम चक्रवर्ती भरत के एक अंगुल का नाम ही प्रमाणांगुल है। **(ति.प. १/१०८)**

४१. प्रश्न : प्रमाणांगुल से किसका नाप होता है ?

उत्तर : प्रमाणांगुल से नापने योग्य-

द्वीप, समुद्र, कुलाचल, वेदी, नदी, कुण्ड, सरोवर, जगती और भरतादि क्षेत्र का प्रमाण प्रमाणांगुल से ही होता है। **(ति.प. १/१११)**

विमान का नाप प्रमाणांगुल से होता है। **(रा.वा. ६)**

जिनभवन का नाप प्रमाणांगुल से होता है। **(ज.प. १३/३१)**

४२. प्रश्न : आत्मांगुल किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस-जिस काल में भरत और ऐरावत क्षेत्र में जो-जो मनुष्य हुआ करते हैं उस-उस काल में उन्हीं मनुष्यों के अंगुल का नाम आत्मांगुल है। **(ति.प. १/१०९)**

४३. प्रश्न : आत्मांगुल से किसका नाप किया जाता है ?

उत्तर : आत्मांगुल से नापने योग्य पदार्थ-

झारी, कलश, दर्पण, वेणु, भेरी, युग, शय्या, शकट, हल, मूसल, शक्ति, तोमर, सिंहासन, बाण, नाली, अक्ष, चामर, दुन्दुभि, पीठ, छत्र, मनुष्यों के निवासस्थान एवं नगर और उद्यानादिकों की संख्या आत्मांगुल से समझनी चाहिए। **(ति.प. १/११२-१३)**

४४. प्रश्न : योजन किसे कहते हैं ?

उत्तर : छह अंगुलों (आत्मांगुल) का एक पाद होता है।

बारह अंगुल = एक वितस्ति।

दो वितस्ति = एक हाथ।

दो हाथ = एक किष्कु।

दो किष्कु = एक दण्ड (धनुष)

दो हजार धनुष = एक कोस

चार कोस = एक योजन। **(ति.प. १/११४-११५-११६)**

४५. प्रश्न : जगच्छ्रेणी किसे कहते हैं ?

उत्तर : असंख्येय वर्षों के जितने समय हैं उतने प्रमाण खण्ड अद्धापल्य के करने चाहिए। उनमें असंख्यात खण्डों को छोड़कर एक असंख्यातवें भाग को बुद्धि से विरलन करके प्रत्येक पर घनांगुल रूप देय राशि को स्थापित करें। पुन: उसको परस्पर गुणा करने पर जो प्रमाण प्राप्त हो वह एक जगच्छ्रेणी होती है। **(रा.वा. ७)**

सूच्यंगुल = (अद्धापल्य) की घात (अद्धापल्य के अर्द्धच्छेद) तथा अद्धापल्य की अर्द्धच्छेद-राशि के असंख्यातवें भाग प्रमाण घनांगुल रखकर उन्हें परस्पर में गुणित करने से जगच्छ्रेणी प्राप्त होती है अर्थात् जगच्छ्रेणी = (घनांगुल) की घात (अद्धापल्य के अर्द्धच्छेद/असंख्यात) **(ति.प. १/१३२ विशेषार्थ)** मान लो - अद्धापल्य का प्रमाण १६, घनांगुल का प्रमाण $(६५५३६)^{३}$ असंख्यात का प्रमाण - २।

अत: पल्य (१६) के अर्द्धच्छेद ४:२ (असंख्यात) = लब्ध २ आया। इसलिए दो बार घनांगुल $(६५५३६)^{३} \times (६५५३६)^{३}$ का परस्पर गुणा करने से जगच्छ्रेणी प्राप्त होती है। **(ति.प. १/१३२ विशेषार्थ)**

४६. प्रश्न : जगत्प्रतर एवं लोक किसे कहते हैं ?

उत्तर : जगच्छ्रेणी के वर्ग को जगत्प्रतर कहते हैं।

जगच्छ्रेणी के घन को लोक कहते हैं। **(ति.प.१/१३२)**

४७. प्रश्न : क्षेत्र प्रमाण कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : क्षेत्र प्रमाण दो प्रकार का है-

(१) अवगाह क्षेत्र (२) विभाग निष्पन्न क्षेत्र।

गणित मान

नाम	जघन्य	मध्यम	उत्कृष्ट
संख्यात	२	जघन्य और उत्कृष्टके बीचके सभी मध्यम स्थान	जघन्य परीता संख्यात में से एक कम करने पर आता है।
असंख्यात	—	—	—
परीतासंख्यात	चार कुण्ड में से महा-शलाका को पूरे भरते समय अंतिम अवस्था-कुण्डके सरसों प्रमाण।	,,	जघन्य युक्तासंख्यात में से एक कम करने पर आता है।
युक्तासंख्यात	जघन्य परीतासंख्यात का विरलन करके प्रत्येक पर जघन्य परीतासंख्यात रख कर परस्पर गुणा करने पर प्राप्त राशि	,,	जघन्य असंख्यातसंख्यात में से एक कम करने पर प्राप्त राशि
असंख्यातासंख्यात	जघन्य युक्तासंख्यात का वर्ग करने पर प्राप्त राशि	,,	जघन्य परीतानन्त में से एक घटाने पर प्राप्त राशि
अनन्त	—	—	—
परीतानंत	जघन्य असंख्यात संख्यात का शलाका त्रय निष्ठापन करने पर प्राप्त राशि में ६ राशि[१] जोड़कर शलाकात्रय निष्ठापन करना, उससे प्राप्त राशि में ४ राशि[२] जोड़ कर शलाका त्रय निष्ठापन करने पर प्राप्त राशि	,,	जघन्य युक्तानन्त में से एक घटाने पर प्राप्त राशि
युक्तानन्त	जघन्य परीतानन्त का विरलन करके प्रत्येक पर जघन्य परीतानन्त रख कर गुणा करने पर प्राप्त राशि	,,	जघन्य अनन्तानन्त में से एक घटाने पर प्राप्त राशि
अनन्तानन्त	जघन्य युक्तानंत का वर्ग करने पर प्राप्त राशि		जघन्य अनन्तानन्त का शलाका त्रय निष्ठापन करके प्राप्त राशि में ६ राशि[३] जोड़कर शलाकात्रय निष्ठापन करने पर प्राप्त राशि में २ राशि[४] जोड़कर प्राप्त राशि को केवलज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेदों में से घटा कर जो लब्ध आवे उसे उसी में जोड़ देने पर प्राप्त राशि उत्कृष्ट अनन्तानंत है।

टिप्पण :

१. धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, एक जीवद्रव्य, लोकाकाश, प्रत्येक शरीरी, बादर निगोद शरीरी रूप असंख्यात प्रदेश।

२. स्थिति बन्धाध्यवसाय, अनुभाग बन्धाध्यवसाय स्थान, योग के अविभागी प्रतिच्छेद, असंख्येय उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल समय।

३. सिद्ध जीव, निगोद जीव राशि, वनस्पतिकाय जीवराशि, अतीत अनागत काल के समय, सर्व पुद्गल द्रव्यराशि, सर्व आकाश प्रदेश।

४. धर्मास्तिकाय एवं अधर्मास्तिकाय के अगुरुलघुगुण के अविभाग प्रतिच्छेद।

अवगाह क्षेत्र - अवगाह क्षेत्र अनेक प्रकार का है। एक प्रदेश को आदि करके असंख्यात प्रदेश तक भेद होते हैं अर्थात् एक परमाणु एक प्रदेश को अवगाहित करता है और संख्यात आदि परमाणु का स्कन्ध एक संख्यात-असंख्यात प्रदेशों को अवगाहित करता है।

विभाग निष्पन्न क्षेत्र - विभाग निष्पन्न क्षेत्र अनेक प्रकार का है। वह असंख्येय आकाशश्रेणी प्रमाण है। वे आकाशश्रेणियाँ क्षेत्र-प्रमाणांगुल के एक असंख्येय भाग हैं। असंख्येय क्षेत्र प्रमाणांगुलों के असंख्येय भाग प्रमाण एक क्षेत्र प्रमाणांगुल होता है। पाद वितस्ति आदि पूर्ववत् जानना चाहिए। **(सु.बो.त.वृ. १९३)**

तिर्यञ्चों की आयु कहते हैं -

तिर्यग्योनिजानां च ॥३९॥

तिर्यक्-योनिजानां च।

अर्थ - तिर्यंचों की उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्योपम और जघन्य स्थिति अंतर्मुहूर्त्त प्रमाण है।

१. **प्रश्न : तिर्यंचों की उत्कृष्ट एवं जघन्य आयु कितनी है ?**

उत्तर : तिर्यंच तीन प्रकार के होते हैं-

(१) एकेन्द्रिय (२) विकलेन्द्रिय (३) पंचेन्द्रिय।

इनकी सामान्य से उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्योपम प्रमाण एवं जघन्य स्थिति अंतर्मुहूर्त्त प्रमाण है। मध्यम विकल्प अनेक प्रकार के हैं। **(रा.वा. १-२)**

२. **प्रश्न : एकेन्द्रिय जीवों की उत्कृष्ट स्थिति कितनी है ?**

उत्तर : एकेन्द्रिय जीवों में पृथ्वीकायिक जीव दो प्रकार के हैं-

(१) खर पृथ्वीकायिक (२) शुद्ध पृथ्वीकायिक।

खर पृथ्वीकायिक जीवों की उत्कृष्ट स्थिति बाईस हजार (२२०००) वर्ष।

शुद्ध पृथ्वीकायिक जीवों की - १२००० वर्ष।

जलकायिक जीवों की - ७००० वर्ष।

अग्निकायिक जीवों की - ३ दिन-रात।

वायुकायिक जीवों की - ३००० वर्ष।

वनस्पतिकायिक जीवों की - १०००० वर्ष। **(रा.वा. ३)**

३. **प्रश्न : सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवों की उत्कृष्ट स्थिति कितनी है ?**

उत्तर : सूक्ष्म एवं बादर नित्य निगोदिया और इतर निगोदिया जीवों की तथा सूक्ष्म

पृथ्वीकायिक, सूक्ष्म जलकायिक, सूक्ष्म अग्निकायिक, सूक्ष्म वायुकायिक जीवों की उत्कृष्ट स्थिति अंतर्मुहूर्त्त मात्र है। **(का.अ. १६१ टी.)**

४. **प्रश्न : विकलत्रयों की आयु कितनी है ?**

उत्तर : विकलत्रय-जीवों में उत्कृष्ट आयु -

द्वीन्द्रियों की - १२ वर्ष

त्रीन्द्रियों की - ४९ दिन

चतुरिन्द्रियों की - ६ माह

इन सबकी जघन्य आयु अंतर्मुहूर्त्त प्रमाण है।

मध्यम आयु के अनेक विकल्प हैं। **(रा.वा. ४)**

५. **प्रश्न : पंचेन्द्रिय जीवों की आयु कितनी है ?**

उत्तर : पंचेन्द्रिय जीवों की उत्कृष्ट आयु -

जलचर जीवों में मछली आदि की १ पूर्व कोटि वर्ष।

सरिसृप, गोह, नकुल आदि थलचरों की ९ पूर्वांग।

सर्पों की ४२००० वर्ष।

पक्षियों की ७२००० वर्ष।

गाय-भैंस आदि चतुष्पदों की ३ पल्य।

पंचेन्द्रिय जीवों की १ कोटि पूर्व।

इन सबकी जघन्य आयु अंतर्मुहूर्त्त प्रमाण है। **(रा.वा. ५)**

मध्यम आयु के अनेक विकल्प हैं।

६. **प्रश्न : लब्ध्यपर्याप्तक जीवों की आयु कितनी है ?**

उत्तर : लब्ध्यपर्याप्तक जीवों की उत्कृष्ट आयु-

एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिंद्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय तथा संज्ञी पंचेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक जीवों की जघन्य आयु क्षुद्रभव श्वास के अठारहवें भाग प्रमाण मध्यम अंतर्मुहूर्त्त मात्र है। **(का.अ. १६४ टी.)**

एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा असंज्ञी पंचेन्द्रिय अर्थात् संपूर्ण लब्ध्यपर्याप्तक जीवों की आयु कुछ कम एक श्वास के अठारहवें भाग प्रमाण है। **(मू.आ. ११२६)**

पृथ्वीकायिकादिक जीवों की काय एवं भव-स्थिति

क्र.सं.	नाम	काय-स्थिति	भव-स्थिति
१.	पृथ्वीकायिक	असंख्येय लोक प्रमाण	२२००० वर्ष
२.	जलकायिक	,,	७००० वर्ष
३.	अग्निकायिक	,,	३ दिन-रात
४.	वायुकायिक	,,	३००० वर्ष
५.	वनस्पतिकायिक	अनन्तानन्त कालात्मक असंख्यात-पुद्गल परिवर्तन	१०००० वर्ष
६.	द्वीन्द्रिय	असंख्यात हजार वर्ष	१२ वर्ष
७.	त्रीन्द्रिय	,,	४९ दिन-रात
८.	चतुरिन्द्रिय	,,	६ माह
९.	पंचेन्द्रिय	पूर्व कोटि पृथक्त्व अधिक ३ पल्य	३ पल्य
१०.	मनुष्य	,,	३ पल्य

७. प्रश्न : तिर्यंचों का पृथक् वर्णन क्यों किया है ?

उत्तर : यथासंख्य की निवृत्ति के लिए तिर्यंचों की आयु का पृथक् वर्णन किया है, जिससे प्रत्येक की उत्कृष्ट और जघन्य दोनों प्रकार की स्थितियों का ज्ञान स्वतंत्र भाव से हो जावे अन्यथा यथासंख्य अन्वय होकर मनुष्यों की उत्कृष्ट और तिर्यंचों की जघन्य, यह ज्ञान होता। **(रा.वा. ६)**

८. प्रश्न : भवस्थिति एवं कायस्थिति में क्या अंतर है ?

उत्तर : एक भव संबंधी स्थिति भवस्थिति कहलाती है। एक काय का परित्याग किये बिना नाना भव ग्रहण करना कायस्थिति है। यह कायस्थिति अनेक भव विषयक है। **(रा.वा. ६)**

९. प्रश्न : किसकी कायस्थिति कितनी है ?

उत्तर : पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक और वायुकायिक जीवों की उत्कृष्ट कायस्थिति असंख्यात लोकप्रमाण है। वनस्पति काय की उत्कृष्ट कायस्थिति अनंतकाल प्रमाण है, जो असंख्यात पुद्गल परिवर्तन प्रमाण स्वरूप व आवलिकाके असंख्यात भाग स्वरूप कही जाती है। विकलेन्द्रियों की उत्कृष्ट कायस्थिति असंख्यात हजार वर्ष की है। पंचेन्द्रिय तिर्यंच एवं मनुष्यों की उत्कृष्ट कायस्थिति पूर्व कोटि पृथक्त्व अधिक तीन पल्य प्रमाण है।

इन सबकी जघन्य कायस्थिति अंतर्मुहूर्त्त प्रमाण है। देव-नारकियों की भवस्थिति ही कायस्थिति है। **(रा.वा. ६)**

१०. प्रश्न : इस अध्याय में द्वीप-समुद्र आदि का विशेष वर्णन क्यों किया गया है ?

उत्तर : यदि मनुष्यों के आधारभूत द्वीप-समुद्र आदि का विशेष वर्णन नहीं करते तो मनुष्यों के आधार (ढाई द्वीप), नारकी, तिर्यंच और देवों के आधारों का वर्णन भी नहीं हो सकता था और उनका वर्णन नहीं होने पर जीव-तत्त्व का विशेष विवरण नहीं होता और जीव के अभाव में जीव का विशेष-ज्ञान और श्रद्धान नहीं हो सकता, ज्ञान और श्रद्धान के अभाव में पूर्ण चारित्र भी नहीं हो सकता है।

श्रद्धान, ज्ञान और चारित्र के अभाव में मोक्षमार्ग नहीं बनता और अजीव आदि अन्य तत्त्वों का भी निरूपण नहीं होता। अत: जीव आदि तत्त्वों के आधार का विशेष ज्ञान कराने के लिए द्वीप-समुद्र का विशेष वर्णन किया है। **(श्लो. ५/३९९)**

११. प्रश्न : इस अध्याय में ढाई द्वीप-समुद्रों का विशेष वर्णन क्यों किया है ?

उत्तर : (मध्य लोक में) असंख्यात द्वीप-समुद्रों के होने पर भी इस अध्याय में आचार्य महाराज ने ढाई-द्वीप के क्षेत्र, विभाग, पर्वत, नदी आदि का एवं दो समुद्रों का विस्तृत वर्णन किया है; उसका कारण यह है कि शिष्य मुनि के मनुष्य लोक को जानने की जिज्ञासा रूप प्रश्न का उत्तर देने के लिए यहाँ ढाई द्वीप और दो समुद्रों का वर्णन किया है क्योंकि ढाई द्वीप के बाहर मनुष्य नहीं पाये जाते हैं, इसके वर्णन से आगे के द्वीप-समुद्रों का सज्जन लोग निर्णय कर लेते हैं। **(श्लो. ५/३९७)**

१२. प्रश्न : इन द्वीप-समुद्रों में जीव किस कारण उत्पन्न होते हैं ?

उत्तर : क्षेत्रविपाकी कर्म के उदय से जीव ढाई द्वीप रूप विशेष क्षेत्रों में उत्पन्न होता है। जिस प्रकार शरीर आदि लक्षण वाले पुद्गलों में अपने फल देने वाली पुद्गलविपाकी, नरकादि भवों में फल देने वाली भवविपाकी और सातावेदनीय आदि जीवविपाकी प्रकृतियाँ हैं; उसी प्रकार मनुष्य-तिर्यंच आदि प्राणियों को नाना क्षेत्रों में अपने फल को देने वाली क्षेत्रविपाकी प्रकृतियों के उदय से जीव विशेष द्वीप-समुद्र आदि क्षेत्रों में उत्पन्न होते हैं। **(श्लो. ५/३९८)**

इस प्रकार तत्त्वार्थमञ्जूषा में तृतीय अध्याय पूर्ण हुआ।

❋ ❋ ❋

तत्त्वार्थमञ्जूषा

तत्त्वार्थसूत्र : चतुर्थ अध्याय

❋ विषय-परिचय ❋

कुल सूत्र : ४२ कुल प्रश्न : ३७३

- आदि के चार सूत्रों में देवों के निकाय, लेश्या एवं दस भेदों का कथन है।
- ५वें, ६ठे सूत्र में व्यन्तर, ज्योतिष्क के आठ भेद एवं उनके इन्द्रों का कथन है।
- ७वें से ९वें सूत्र तक देवों के प्रविचारों का कथन है।
- १०वें से १२वें सूत्र तक भवनत्रिक देवों के नाम बताये गये हैं।
- १३वें से १५वें सूत्र तक ज्योतिष्क देवों का भ्रमण, उनसे होने वाला कार्य एवं उनके अवस्थान को बताया है।
- १६वें से १८वें सूत्र तक वैमानिक देवों के भेद एवं उनके रहने का स्थान बताया है।
- १९वें से २१वें सूत्र तक वैमानिक देवों के नाम एवं उनमें होने वाली विशेषताओं का कथन है।
- २२वें-२३वें सूत्र में वैमानिक देवों की लेश्या एवं कल्पसंज्ञा का अवस्थान बताया है ।
- २४वें-२५वें सूत्र में लौकान्तिक देवों का निवासस्थान एवं नाम बताये हैं।
- २६वें-२७वें सूत्र में द्विचरमदेहधारी जीवों का एवं तिर्यञ्चों का कथन है।
- २८वें सूत्र में भवनवासी देवों की उत्कृष्ट आयु का कथन है।
- २९वें से ३४वें सूत्र तक वैमानिक देवों की उत्कृष्ट एवं जघन्य आयु का कथन है।
- ३५वें-३६वें सूत्र में नारकियों की जघन्य आयु का कथन है।
- ३७वें से ४१वें सूत्र तक भवनत्रिक देवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट आयु कही है।
- अन्तिम सूत्र में लौकान्तिक देवों की आयु का कथन किया गया है।

❑❑❑

भवनत्रिक देव

देवों के भेद कहते हैं -

देवाश्चतुर्णिकाया: ॥१॥

देवा: चतु: निकाया:।

(देवा:) देव (चतु:) चार (निकाया:) निकाय वाले होते हैं।

अर्थ - देव चार प्रकार के होते हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किस उद्देश्य से कहा गया है ?

उत्तर : भवप्रत्यय अवधि देव-नारकियों के होती है, इस प्रकार देव शब्द का प्रयोग बार-बार आया है। उसमें यह नहीं जाना गया कि देव कौन हैं और कितने हैं ? उनका वर्णन करने के लिए यह सूत्र कहा गया है। अथवा - सम्यग्दर्शन के विषयभूत जीव के त्रस-स्थावर भेदों का निर्णय करने के लिए उसके अधिकरणभूत अधोलोक और तिर्यग् लोक का वर्णन किया। यहाँ उस अधिकरण का विषयज्ञान कराने के लिए ऊर्ध्वलोक का विभाग कहना चाहिए। उसमें प्रकीर्णकादि बहुत से भेदों के कहने का सद्भाव होने पर भी ऊर्ध्वलोक के स्वामियों के प्रतिपादन पूर्वक उनके आधारों के विभाग का निर्णय करने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा.उ.)**

२. प्रश्न : देवों के कितने निकाय हैं ?

उत्तर : (१) भवनवासी (२) व्यंतर (३) ज्योतिषी (४) वैमानिक। **(त.सू. ४/१)** देवों के ये चार निकाय हैं।

भवनवासी - जिनका स्वभाव भवनों में निवास करना है वे भवनवासी कहलाते हैं। **(सर्वा. ४६१)**

व्यन्तर - जिनका नाना प्रकार के देशों में निवास है, वे व्यन्तर कहलाते हैं। यह सामान्य संज्ञा सार्थक है जो अपने आठों ही भेदों में लागू है। **(सर्वा. ४६३)**

ज्योतिषी - जो देव ज्योतिर्मय हैं इसलिए इनकी ज्योतिषी यह सामान्य संज्ञा सार्थक है तथा सूर्य आदि विशेष संज्ञाएँ विशेष नाम कर्म से उत्पन्न होती हैं। **(सर्वा. ४६५)**

वैमानिक - जो विमानों में होते हैं वे वैमानिक देव हैं। **(सर्वा. ४७३)**

३. प्रश्न : निकाय किसे कहते हैं ?

उत्तर : अपने अवान्तर कर्मों से भेद को प्राप्त होने वाले देवगति नामकर्म के उदय की सामर्थ्य से जो संग्रह किये जाते हैं उसे निकाय कहते हैं। निकाय शब्द का अर्थ संघात हैं। **(सर्वा. ४४३)**

देवगति नामकर्म के उदय से स्वधर्म विशेष के सामर्थ्य से चयन होता है, संघात होता है उसे (देव) निकाय कहते हैं। **(रा.वा. १)**

४. प्रश्न : देव किसे कहते हैं ?

उत्तर : अंतरंग कारण देव गति नामकर्म के उदय होने पर और बाह्य में दीप्ति, यथेच्छ क्रीड़ा आदि से जो दिव्य हैं वे देव कहलाते हैं। **(रा.वा. १)**

अभ्यन्तर कारण देवगति नामकर्म का उदय होने पर जो नाना प्रकार की बाह्य विभूति से द्वीप-समुद्र आदि अनेक स्थानों में इच्छानुसार क्रीड़ा करते हैं वे देव कहलाते हैं। **(सर्वा. ४४३)**

५. प्रश्न : ये देव कैसे होते हैं ?

उत्तर : ये सभी देव पवित्र शरीर के धारक, गर्भावास, मांस-हड्डी तथा स्वेद आदि से रहित, टिमकार विहीन नेत्रधारी, इच्छानुसार रूप धारण करने में समर्थ, वृद्धावस्था से रहित, रोगविहीन, यौवन से सम्पन्न, तेजयुक्त, सुख और सौभाग्य के सागर, स्वाभाविक विद्याओं से सम्पन्न, अवधिज्ञानी, धीर, वीर और स्वच्छन्द विहारी होते हैं। **(म.पु. २८/१३८)** देव प्रत्येक शरीर वाले होते हैं, क्योंकि इनका निगोद जीवों के साथ सम्बन्ध नहीं होता है। **(ध. १४/८१)**

६. प्रश्न : सूत्र में 'चतु:' पद का ग्रहण किसलिए किया है ?

उत्तर : देवों के निकाय चार ही हैं दो, तीन आदि नहीं हैं और पाँच, छह, आदि भी नहीं हैं तथा अन्य मतों में माने गये आठ आदि निकायों का इन चार निकायों में ही अन्तर्भाव हो जाता है अत: इन सब अर्थों की सिद्धि के लिए सूत्र में 'चतु:' पद का ग्रहण किया है। **(श्लो. ५/५००)**

७. प्रश्न : सूत्र में 'निकाया:' बहुवचन का निर्देश क्यों किया है ?

उत्तर : देवों के अन्तर्गत अनेक भेद हैं, इस बात का ज्ञान कराने के लिए सूत्र में 'निकाया:' बहुवचन निर्देश किया है। देवों में इन्द्र, सामानिक आदि बहुत भेद हैं और स्थिति आदि की अपेक्षा देव अनेक प्रकार के हैं अत: उनको सूचित करने के लिए बहुवचन का निर्देश दिया है। **(सर्वा. ४४३)**

८. प्रश्न : आधार पूर्वक आधेय का कथन होता है अत: यहाँ देवों का आधार क्यों नहीं कहा ?

उत्तर : जिस प्रकार नारकियों का आधार अधोलोक, मनुष्यों का आधार मानुषोत्तर पर्वत के भीतर का क्षेत्र (मध्य लोक) नियत है वैसा देवों का आधार ऊर्ध्वलोक मात्र नियत नहीं है क्योंकि भवनवासी देव अधोलोक में, व्यंतर अधोलोक एवं मध्यलोक में, ज्योतिषीदेव मध्यलोक में और वैमानिक देव ऊर्ध्वलोक में रहते हैं, इस प्रकार देव तीनों लोकों में रहते हैं अत: आधार पूर्वक आधेय का कथन न करके आधेय का कथन किया है। **(श्लो. ५/५०३)**

९. प्रश्न : देवों का जन्म किस प्रकार होता है ?

उत्तर : हमारे नभस्तल में घनघटा, वज्रपात, इन्द्रधनुष, विद्युत्प्रकाश, मेघों की गर्जना, धूमकेतु या पुच्छलतारे का उदय, वृष्टि तथा हिमवृष्टि जिस प्रकार अकस्मात् होती है, उसी प्रकार स्वर्ग-लोक में देवों का जन्म भी पहले से कोई चिह्न न होते हुए भी सहसा होता है। वे अत्यन्त रमणीय शय्या पर जन्म लेते हैं तथा जन्म लेते ही एक मुहूर्त्त के भीतर ही उनका सम्पूर्ण शरीर परिपूर्ण हो जाता है तथा उसके सब संस्कार भी हो जाते हैं। इसके बाद जब वे उठते हैं तो उनकी कान्ति से दशों दिशाएँ जगमगा उठती हैं, वे परम प्रसन्न रहते हैं और आनन्द से अपने पूर्वकृत तप का फल भोगते हैं। **(व.चा.९/३७-३८)**

उपपाद शय्या में वे देव उत्पन्न होते हैं सो जिस प्रकार समुद्र में से कोई मनुष्य निकले उसी प्रकार वे देव सुखरूपी महासमुद्र में से तत्काल नवयौवन रूप होकर उत्पन्न होते हैं। वे देव उस उपपाद शय्या में ऐसे उत्पन्न होते हैं जैसे कोई राजकुमार सोता हो और वह गीत-वादित्रों के शब्दों से 'जय-जय' इत्यादि मंगल के पाठों से तथा उत्तमोत्तम शब्दों से सुखनिद्रा का अभाव होने पर जगाया जाता है, उसी प्रकार देव भी उस उपपाद शिला (शय्या) में उठकर सावधान होते हैं। **(ज्ञा. ३६/१२८-३०)** स्वर्गों में अति मनोज्ञता का आधार ऐसे विमान में कुन्द के पुष्प समान ऐसी उपपाद शिला के मध्य से देव स्वयमेव उत्पन्न होते हैं। **(ज्ञा. ३६/१२२)**

१०. प्रश्न : उपपाद शय्या का स्थान कैसा है ?

उत्तर : समस्त इन्द्रियों को सुख देने वाला है, रमणीक है, नित्य ही उत्सवसहित विराजता है, गीत-वादित्रादि लीलाओं सहित है, तथा 'जयवन्त होओ' 'चिरंजीवी होओ' ऐसे शब्दों से व्याप्त है। ऐसी उपपाद शय्या पर देव उत्पन्न होते हैं। **(ज्ञा. ३६/१२३)**

११. प्रश्न : वे देव उत्पन्न होते ही क्या विचार करते हैं ?

उत्तर : उस उपपादशय्या में सावधान होकर कुछ भ्रम को दूर करके उस समय कर्णान्त पर्यन्त नेत्रों को उघाड़ कर दृष्टि फेर-फेरकर चारों ओर देखता है। फिर सावधान होकर वह देव ऐसा विचारता है कि अहो ! यह क्या इन्द्रजाल है ? अथवा मुझे क्या स्वप्न आ रहा है ? अथवा यह मायामय कोई भ्रम है, यह तो बड़ा आश्चर्य देखने में आता है, निश्चय नहीं कि यह क्या है। इस प्रकार सन्देह रूप होता है फिर वह विचार करता है कि यह वस्तु रमणीय है, यह सेवनीय है..... आदि । **(ज्ञा. १३१-३५)**

१२. प्रश्न : देवों का जन्म होते ही वहाँ वातावरण कैसा होता है ?

उत्तर : अकस्मात् नूतन देवों को जन्मते देखते हैं तब अन्य देव मंगलमय स्तुतियों तथा उनके पुण्यात्मापने को प्रकट करने वाले 'जय' आदि घोष करते हैं। देवों के जन्म की सूचना देने के लिए अन्य देव तालियाँ बजाते हैं, तोपों आदि की सी धड़ाका ध्वनि करते हैं तथा बड़े उल्लास के साथ निकट आकर उन्हें प्रणाम करते हैं। अति आकर्षक श्रेष्ठ सुन्दर शरीरधारिणी वरांगी अप्सराएँ उनके सामने नृत्य करती

हैं, वे बड़े हाव-भाव के साथ विविध प्रकार से वीणा बजाती हैं, मन को मुग्ध कर देने वाले मधुर गीत गाती हैं तथा रंग-बिरंगे फूलों को हर तरफ से उनके ऊपर बरसाती हैं। **(व.चा. ९/३९-४०)**

देवों की लेश्या कहते हैं -

आदितस्त्रिषु पीतान्तलेश्याः ॥२॥

आदितः-त्रिषु-पीतान्त-लेश्याः।

(आदितः) आदि से (त्रिषु) तीन निकायों में (पीतान्त) पीत हैं अन्त में जिसके ऐसी चार लेश्याएँ होती हैं।

अर्थ - आदि के तीन निकायों में पीतान्त (कृष्ण, नील, कापोत, पीत) लेश्या होती हैं।

१. प्रश्न : सूत्र में 'आदितः' पद क्यों दिया है ?

उत्तर : सूत्र में आदितः पद वचन-विपर्यास की निवृत्ति के लिए है। अन्त या मध्य का विपरीत ग्रहण नहीं हो इसलिए 'आदि' पद का ग्रहण किया है। आदि में इस सप्तमी विभक्ति में 'तस्' प्रत्यय करके 'आदितः', अन्त के तीन निकाय व्यंतर, ज्योतिष्क एवं वैमानिकों का, मध्य के निकायों का या विपरीत क्रम से निकायों का ग्रहण न समझ लिया जाय इसलिए सूत्र में 'आदितः' पद का ग्रहण किया है। (अर्थात् आदि के तीन-भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष्क, इन तीन निकायों का ही ग्रहण करना चाहिए) **(सर्वा. ४४५)**

२. प्रश्न : सूत्र में 'पीतान्त' पद का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : पूर्व में (दूसरे अध्याय के छठे सूत्र में) छह लेश्याएँ कही हैं, उनमें से पीत है अन्त में जिसके ऐसी कृष्ण, नील, कापोत और पीत इन चार लेश्याओं की अवधारणा करने के लिए सूत्र में 'पीतान्त' वचन का ग्रहण किया है। **(रा.वा.३)**

३. प्रश्न : कौन-कौन से देवों के ये चार लेश्याएँ होती हैं ?

उत्तर : भवनवासी, व्यन्तर एवं ज्योतिष्क देवों के कृष्ण आदि चार लेश्याएँ होती हैं।[१] **(त.सू.४/२)**

४. प्रश्न : क्या इन देवों के पर्याप्त अवस्था में भी चारों लेश्याएँ पाई जाती हैं ?

उत्तर : नहीं, भवनत्रिकों के पर्याप्त अवस्था में पीत लेश्या ही होती है। परन्तु अपर्याप्त अवस्था में तीन अशुभ लेश्याएँ हैं। कर्मभूमिया मनुष्य या तिर्यञ्च यदि भवनत्रिक में या पृथ्वी आदि में उत्पन्न होते हैं तो तीन अशुभ लेश्या के साथ मरण करते हैं। किन्तु जिन जीवों के पर्याप्त काल में

१. सीधे एकेन्द्रिय होने वाले देव के मरण-समय में तीन अशुभ लेश्याओं में से कोई एक होना अवश्यम्भावी हो जाता है।

लेश्यान्तर, संक्रमण नहीं होता अर्थात् अन्य लेश्या रूप संक्रमण नहीं होता वे तो अपनी नियत लेश्या के साथ ही मरण करते हैं। मरण के अन्त समय में अन्य लेश्या रूप संक्रमण हो जाता हैं। मिथ्यादृष्टि भोगभूमिया के तीन शुभ लेश्या ही होती हैं और वह नियम से देवगति में ही जाता है। ऐसा जीव मरकर यदि देवगति में उत्पन्न होता है तो उसके मरण समय अशुभ लेश्या तो हो नहीं सकती अत: वह पीत लेश्या में मरण कर भवनत्रिक में उत्पन्न होता है और वहाँ प्रथम समयवर्ती भवनत्रिक के नियम से अशुभत्रिक लेश्या हो जाती है। **(ध. २/५४६)**

५. **प्रश्न : कैसे जाना जाता है कि आदि की चार लेश्या वैमानिक देवों के नहीं पाई जाती है ?**

उत्तर : 'आदित: त्रिषु' इस पद से जाना जाता है कि आदि के तीन निकाय (भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क) के देवों के चार लेश्या पाई जाती है अत: परिशेष न्याय से जाना जाता है कि विमानवासी देवों के नहीं पायी जाती हैं। (वैमानिकों के पीतादि लेश्या पाई जाती है यह आगे कहेंगे) निकाय और देवा: पद की पूर्व सूत्र से अनुवृत्ति कर लेना चाहिए। **(रा.वा. ३)**

देवों के भेद कहते हैं-

दशाष्टपञ्चद्वादशविकल्पा: कल्पोपपन्नपर्यन्ता: ॥३॥

दश-अष्ट-पञ्च-द्वादश-विकल्पा: कल्पोपपन्न-पर्यन्ता:।

(कल्पोपपन्नपर्यन्ता:) कल्प तक उत्पन्न होने वाले देव (दशाष्टपंचद्वादश विकल्पा:) दश, आठ, पाँच और बारह भेद वाले होते हैं।

अर्थ - कल्पोपपन्न पर्यन्त देव क्रमश: दस, आठ, पाँच और बारह भेद वाले होते हैं।

१. **प्रश्न : भवनत्रिक आदि देव कितने प्रकार के होते हैं ?**

उत्तर : भवनवासी देव दस प्रकार के, व्यन्तर देव आठ प्रकार के, ज्योतिष्क देव पाँच प्रकार के तथा कल्पोपपन्न देव बारह प्रकार के होते हैं। **(रा.वा. १)**

व्यन्तर देव तीन प्रकार के होते हैं – १. औपपातिक, २. अध्युषित, ३. आभियोग (लोक वि. ९/२)

२. **प्रश्न : सूत्र में 'कल्पोपपन्नपर्यन्ता:' पद किसलिए दिया है ?**

उत्तर : सूत्र में 'कल्पोपपन्नपर्यन्ता:' वचन ग्रैवेयकादि का निषेध करने के लिए दिया है। नव ग्रैवेयकादि का वर्णन आगे करेंगे। उनका द्वादश विकल्पों में अन्तर्भाव नहीं हो, इसलिए 'कल्पोपपन्न पर्यन्ता:' विशेषण दिया गया हैं। **(रा.वा. २)**

चार निकाय पद की अनुवृत्ति प्रथम सूत्र से कर लेने पर दस, आठ, पाँच और बारह भेद क्रमश: भवनवासी आदि निकाय के हो जाते हैं परन्तु कल्पवासी और अहमिन्द्र ये सम्पूर्ण वैमानिक देव बारह भेदों

में गर्भित नहीं हैं अर्थात् कल्पवासी देवों के ही बारह भेद हैं, कल्पातीत अहमिन्द्रों के नहीं। इस बात का ज्ञान कराने के लिए सूत्रकार ने 'कल्पोपपन्नपर्यन्ता:' पद का ग्रहण किया है। **(श्लो. ५/५१०)**

३. प्रश्न : कल्प किसे कहते हैं ?

उत्तर : इन्द्र, सामानिक आदि कल्पनाओं का अधिकरण होने से या रूढ़िवश कल्प कहे जाने वाले इन्द्रादि दस प्रकार जिनमें कल्पित हैं उन्हें कल्प कहते हैं। **(रा.वा.३)** भवनवासी आदि देवों में भी इन्द्र आदि की कल्पना होने पर भी रूढ़ि के वश कल्पों में उत्पन्न हुए को ही कल्पोपपन्न कहते हैं। **(रा.वा.२)**

देवों का विशेष प्रतिपादन करते हैं-

इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशपारिषदात्मरक्षलोक-पालानीकप्रकीर्णकाभियोग्यकिल्विषिकाश्चैकश: ॥४॥

इन्द्र-सामानिक-त्रायस्त्रिंश-पारिषद-आत्मरक्ष-लोकपाल-अनीक-प्रकीर्णक-आभियोग्य-किल्विषिका:-च एकश:।

अर्थ - (एकश:) प्रत्येक निकाय में इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद, आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषिक भेद हैं।

१. प्रश्न : इन भवनवासी आदि देवों में कितने-कितने भेद हैं ?

उत्तर : इन भवनवासी के दस आदि देवों में प्रत्येक में इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद, आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषिक रूप हैं। **(त.सू. ४/४)**

इन्द्र, प्रतीन्द्र, दिगीन्द्र (लोकपाल), त्रायस्त्रिंश, सामानिक, तनुरक्षक, तीन प्रकार के पारिषद, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य, किल्विषिक ऐसे भेद जानने चाहिए। **(त्रि.सा. २२३)**

२. प्रश्न : इन्द्र किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो अन्य देवों में असाधारण अणिमादि गुणों के सम्बन्ध से शोभते हैं वे इन्द्र कहलाते हैं। **(रा.वा.१)**

अन्य देवों की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली, असाधारण अणिमा, महिमा, गरिमा आदि गुण स्वरूप परम ऐश्वर्य के योग से जो प्रभावशाली होकर अपने मण्डल का सर्वाधिकारी स्वामी होता है (अर्थात् आज्ञाप्रचार और प्रभुता इन दो शक्तियों से युक्त है जिसकी आयु, वीर्य, परिवार, भोगोपभोग, स्थान आदि सामान्य देवों के समान नहीं होते हैं उसे इन्द्र कहते हैं।) **(श्लो. ५/५१२)**

३. प्रश्न : प्रतीन्द्र किसे कहते हैं ?

उत्तर : (प्रतीन्द्र युवराज के समान होते हैं।) प्रतीन्द्र इन्द्र के बराबर है। **(ति.प. ३/६४,६८)**

इन्द्र के प्रतीन्द्र चारों दिशाओं में जानने चाहिए। वे सब तुल्य बल, रूप, विक्रम एवं प्रताप से युक्त होते हैं। **(ज.प. ११/३०५-६)** सामानिक देवों में जो प्रधान देव होता है वह प्रतीन्द्र कहलाता है। (जिस प्रकार यहाँ सभापति, उपसभापति या मंत्री, उपमंत्री, कलेक्टर-डिप्टी कलेक्टर होते हैं उसी के समान प्रतीन्द्र को जानना चाहिए।) **(श्लो. हि. ५/५१३)**

४. प्रश्न : सामानिक देव किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिन देवों के आज्ञाप्रचार और ऐश्वर्य को छोड़कर शेष आयु, वीर्य, परिवार, भोगोपभोग, स्थान आदि व्यवस्था इन्द्र के समान होती है और जो देवों में बड़े महत्तर इन्द्र के समान माता-पिता तुल्य, गुरु, उपाध्याय आदि के समान प्रतिष्ठित स्थानों पर आदरणीय होते हैं वे सामानिक देव हैं। **(श्लो. ५/५१३)** ये सामानिक जाति के देव इन्द्रों के पिता-माता और गुरु के तुल्य होते हैं तथा ये अपनी मान्यता के अनुसार इन्द्रों के समान ही सत्कार प्राप्त करते हैं। **(म.पु. २२/२४)** सामानिक देव भी वैभव आदि में लोकपाल के सदृश होते हैं। **(ज.प. ११/३०६)** सामानिक देव इन्द्र के कलत्र के समान होते हैं। **(ति.प. ३/६४)**

५. प्रश्न : त्रायस्त्रिंश देव किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो मन्त्री और पुरोहित के समान हैं वे त्रायस्त्रिंश कहलाते हैं। ये तैंतीस ही होते हैं, इसलिए त्रायस्त्रिंश कहलाते हैं। **(सर्वा. ४४९)** त्रायस्त्रिंश देव पुत्र के सदृश होते हैं। **(ति.प. ३/६४)** त्रायस्त्रिंश मंत्री-पुरोहित के समान हितकारी शिक्षा देने वाले होते हैं। **(रा.वा. ३)**

६. प्रश्न : पारिषद देव किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो सभा में मित्र और प्रेमी जनों के समान होते हैं वे पारिषद कहलाते हैं। **(सर्वा. ४४९)** पारिषद देव मित्र आदि के समान विनोदशील होते हैं। **(रा.वा.)** ये देव सौधर्मेन्द्र की सभा में उपस्थित रहते हैं। इनका इन्द्र के साथ पीठमर्द (मित्र) जैसा सम्बन्ध होता है और ये इन्द्र सभा के सदस्य होते हैं। इन्द्र उन पर अतिशय प्रेम रखता है। **(म.पु. २२/२६)** राजा की बाह्य, मध्य और अभ्यन्तर समिति के समान देवों में भी तीन प्रकार की परिषद् होती है। (इन परिषदों में बैठने योग्य देव क्रमशः बाह्य पारिषद, मध्यम पारिषद और अभ्यन्तर पारिषद कहलाते हैं।) **(ति.प. ३/६६)**

७. प्रश्न : बाह्य आदि पारिषद देव क्या करते हैं ?

उत्तर : बाह्य परिषद का नाम जतु है। ये देव अत्यन्त स्थूल, निष्ठुर, क्रोधी, अविवाहित और शस्त्रों से उद्युक्त जानना चाहिए। वे वहाँ 'अपसर' (दूर हटो) की घोषणा करते हैं।

मध्यम परिषद का नाम चन्दा है। वेंत रूपी लता को हाथ में ग्रहण करने वाले, आरूढ़ वेष के धारक तथा कंचुकी की पोशाक पहने मध्यम पारिषद बहुधा अन्तःपुर के महत्तर होते हैं।

अभ्यन्तर परिषद का नाम समिता है। वर्वरी, किराती, कुब्जा, कर्मान्तिका, दासी और चेटी इनका समुदाय (अभ्यन्तर पारिषद) नाना प्रकार के वेष में अन्तःपुर के अभियोग को करता है। **(ज.प.११/२७१-८२)**

८. प्रश्न : आत्मरक्ष देव किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो अंगरक्षक के समान हैं वे आत्मरक्ष कहलाते हैं। **(सर्वा. ४४९)** चारों लोकपाल तंत्रपालों के सदृश और सब तनुरक्षक देव राजा के अंगरक्षक के समान होते हैं। **(ति.प. ३/६५)**

जो देव अंगरक्षक के समान हैं, वे आत्मरक्ष कहलाते हैं। जो अंगरक्षक के समान तलवार ऊँची उठाकर इन्द्र के चारों ओर घूमते रहते हैं उन्हें आत्मरक्ष कहते हैं **(म.पु. २२/२७)** जैसे राजा के अंगरक्षक तैसे आत्मरक्ष हैं। **(त्रि.सा. २२४)**

९. प्रश्न : इन्द्र को किसी का भय नहीं है फिर ये देव क्या करते हैं ?

उत्तर : इन्द्र को किसी का भय नहीं होने पर भी ऋद्धि विशेष का द्योतन एवं प्रीति की प्रकर्षता (दूसरों पर प्रभाव डालना) दिखलाने के लिए आत्मरक्ष देव इन्द्र के पीछे खड़े रहते हैं। ये अंगरक्षकों के समान कवच पहने हुए, सदा मारने के लिए उद्यत, रौद्र मूर्ति, वीरवेष के धारक, इन्द्र की पीठ पीछे खड़े रहते हैं। **(रा.वा. ५)**

१०. प्रश्न : लोकपाल किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो रक्षक के समान अर्थचर हैं वे लोकपाल कहलाते हैं। (तात्पर्य यह है कि) जो लोक का पालन करते हैं वे लोकपाल कहलाते हैं। **(सर्वा. ४४९)** चारों लोकपाल तन्त्रपालों के सदृश होते हैं। **(ति.प. ३/६५)** लोकपाल कोटपाल के समान होते हैं। **(रा.वा. ६)** जो दुर्गरक्षक के समान स्वर्ग लोक की रक्षा करते हैं उन्हें लोकपाल कहते हैं। **(म.पु. २२/२८)**

११. प्रश्न : अनीक किसे कहते हैं ?

उत्तर : सेना की तरह सात प्रकार के पदाति आदि अनीक कहलाते हैं। **(सर्वा. ४४९)** अनीक देव सेना के तुल्य होते हैं। **(ति.प. ३/६६)** दण्ड स्थानीय अनीक होते हैं। जैसे-यहाँ पर हाथी, घोड़ा, पदाति, बैल, गन्धर्व, नर्तकी और रथ यह सात प्रकार की सेना है, उस पदाति आदि सेना के समान देव होते हैं उनको अनीक कहते हैं। **(रा.वा.७)**

१२. प्रश्न : प्रकीर्णक देव किसे कहते हैं ?

उत्तर : पुरवासी के समान प्रकीर्णक हैं। जैसे यहाँ पर पौरजन तथा देशवासी लोग राजा की प्रीति के कारण होते हैं उसी प्रकार पुरजन, जनपद जन के समान इन्द्र की प्रीति के कारणभूत प्रकीर्णक देव होते हैं। **(रा.वा. ८)**

१३. प्रश्न : आभियोग्य देव किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिस प्रकार यहाँ दासजन वाहनादि व्यापार करते हैं, उसी प्रकार वहाँ (देवों में) आभियोग्य नाम के देव वाहनादि रूप से उपकार करते हैं। **(रा.वा. ९)** ये देव, दासों के समान

(शेष नौ प्रकार के देवों का सेवाकर्म करते हैं) होते हैं। (ये सभा में बैठने के योग्य नहीं होते हैं।) **(म.पु. २२/२९)**

१४. प्रश्न : किल्विषिक जाति के देव किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो सीमा के पास रहने वालों के समान हैं वे किल्विषिक कहलाते हैं। किल्विष पाप को कहते हैं। इसकी जिनके बहुलता होती है वे किल्विषिक कहलाते हैं। **(सर्वा. ४४९)**

जिनके किल्विषिक अर्थात् पाप कर्म का उदय है - जो देव सदा संक्लेश का अनुभव करते रहते हैं वे किल्विषिक देव कहलाते हैं। **(म.पु. २२/२९)**

किल्विषिक देव चाण्डाल की उपमा को धारण करने वाले हैं। **(ति.प. ३/६८)**

१५. प्रश्न : एक ही निकाय में इन्द्र-सामानिक आदि दस भेद किस प्रमाण से सिद्ध होते हैं?

उत्तर : यद्यपि सामान्य देवगति नामक पुण्य कर्म से चारों निकायों के जीव देव होते हैं परन्तु विशिष्ट पुण्य प्रकृतियों का रसोदय होने से इन्द्र, सामानिक आदि विशेष की युक्तिप्रमाण और आगम प्रमाण से सिद्धि हो जाती है (क्योंकि देवगति के भेद-प्रभेद भी असंख्यात प्रकार के होते हैं।) **(श्लो. ५/५१७)**

१६. प्रश्न : कन्दर्प आदि देव कहाँ तक पाये जाते हैं ?

उत्तर : कन्दर्प और आभियोग्य जाति के देव सोलहवें स्वर्ग तक ही पाये जाते हैं एवं लान्तव कल्प से ऊपर सम्मोह और किल्विषिक देव नहीं हैं। **(मू.११३५)**

व्यन्तर और ज्योतिषी देवों में विशेषता बताते हैं-

त्रायस्त्रिंशलोकपालवर्ज्या व्यन्तरज्योतिष्का: ॥५॥

(व्यन्तरज्योतिष्का:) व्यन्तर और ज्योतिषी देव (त्रायस्त्रिंशलोकपाल वर्ज्या:) त्रायस्त्रिंश और लोकपाल से रहित होते हैं।

अर्थ - व्यन्तर और ज्योतिषी देवों में त्रायस्त्रिंश और लोकपाल नहीं होते हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : चतुर्निकायों में इन्द्रादि दस भेद स्वभाव से हैं अर्थात् एक-एक निकाय के इन्द्र आदि दस भेद हैं, वे सामान्यत: सबमें समान हैं तथापि उनमें कुछ विशेषता है, उसका ज्ञान कराने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा.उ. ५)**

२. प्रश्न : किन-किन निकायों में त्रायस्त्रिंश और लोकपाल नहीं होते हैं ?

उत्तर : व्यंतर और ज्योतिष्क देवों में त्रायस्त्रिंश एवं लोकपाल नहीं होते हैं, इनमें इन दो भेदों के सिवाय आठ भेद होते हैं। **(सर्वा. ४५१)**

३. प्रश्न : इन दोनों निकायों में त्रायस्त्रिंश और लोकपाल क्यों नहीं होते हैं ?

उत्तर : (जैसे राजाओं को विशिष्ट जाति का पुण्य होने पर ही हितशासक मन्त्री, बलशाली रक्षक सेना आदि की प्राप्ति होती है तथा राजा योग्य मंत्री, कोटवाल आदि के बल से ही बलवान माना जाता है।) इन दो निकायों में त्रायस्त्रिंश और लोकपाल की प्रतीति कराने के लिए विशिष्ट पुण्य का अभाव है। भवनवासी और कल्पवासी देवों में वैसा पुण्य विशेष है, जिससे उनमें त्रायस्त्रिंश और लोकपाल देव होते हैं। **(श्लो. ५/५१८)**

४. प्रश्न : भवनवासी एवं वैमानिक देवों में दस भेदों की सिद्धि कैसे होती है ?

उत्तर : पूर्व सूत्र में सामान्य से चारों निकायों में दस-दस भेद कहे हैं परन्तु विशेषता करके व्यन्तर और ज्योतिष्क सम्बन्धी देवों में आठ-आठ भेद ही हैं क्योंकि अपवाद-नियमों को टालकर अतिरिक्त स्थानों पर उत्सर्ग विधियाँ होती हैं अत: भवनवासी और कल्पवासी देवों में दस भेदों की सिद्धि होती हैं। **(श्लो. ५/५१८ हि.)**

आदि के दो निकायों में इन्द्रों की संख्या कहते हैं-

पूर्वयोर्द्वीन्द्रा: ॥६॥

पूर्वयो: द्वि इन्द्रा:।

(पूर्वयो:) पूर्व के दो निकायों में (द्वीन्द्रा:) दो-दो इन्द्र होते हैं।

अर्थ - पूर्व के दो निकायों में दो-दो इन्द्र होते हैं।

१. प्रश्न : भवनवासी देवों में कितने इन्द्र होते हैं ?

उत्तर : भवनवासी देवों में बीस इन्द्र होते हैं-

असुर कुमार के - चमर-वैरोचन।

नाग कुमार के - धरण-भूतानन्द।

विद्युत् कुमार के - हरिसिंह-हरिकान्त।

सुपर्ण कुमार के - वेणुदेव-वेणुधारी।

अग्नि कुमारों के - अग्निशिख-अग्निमानव।

वात कुमारों के - वैलम्ब-प्रभंजन।

स्तनित कुमारों के - सुघोष-महाघोष।

उदधि कुमारों के - जलकान्त-जलप्रभ।

द्वीप कुमारों के - पूर्ण-विशिष्ट।

दिक्कुमारों के - अमितगति-अमितवाहन। **(रा.वा.३)**

२. **प्रश्न : व्यंतर देवों में कितने इन्द्र होते हैं ?**

उत्तर : व्यन्तर देवों में सोलह इन्द्र होते हैं-

किन्नर देवों के - किन्नर-किंपुरुष।

किंपुरुषों के - सत्पुरुष-महापुरुष।

महोरग देवों के - अतिकाय-महाकाय।

गन्धर्वों के - गीतरति-गीतयश।

यक्षों के - पूर्णभद्र-मणिभद्र।

राक्षसों के - भीम-महाभीम।

भूतों के - प्रतिरूप-अप्रतिरूप।

पिशाचों के - काल-महाकाल। **(रा.वा.३)**

३. **प्रश्न : पूर्व के दो निकायों में दो-दो इन्द्र क्यों होते हैं ?**

उत्तर : पूर्व के दो निकायों के देव हीनपुण्य वाले होते हैं अथवा, दो-दो इन्द्र स्वयं हीन पुण्य वाले होते हैं क्योंकि अधिक पुण्य वाले जीव या तो स्वयं स्वामी होते हैं या एक ही स्वामी के आधीन होकर रहते हैं। अथवा - जिस पदार्थ के दो अधिकारी हैं वे स्वयं दोनों स्वल्प पुण्यवान हैं। क्योंकि छोटा या बड़ा यथायोग्य कोई कार्य हो उसका अधिकार एक व्यक्ति को ही प्राप्त होने पर आधिपत्य का कर्त्तव्य पूर्ण रीति से सफल हो सकता है अत: असुरकुमार, किन्नरादि देवों के एक-एक ही स्वामी नहीं होने से वे देव स्तोक पुण्य वाले होते हैं। **(श्लो हि. ५/५२०-२१)**

४. **प्रश्न : भवनवासी और व्यन्तर देवों का अस्तित्व कैसे जाना जाता है ?**

उत्तर : सूत्र में दिये गये 'पूर्वयो:' द्विवचनान्त पद से जाना जाता है कि पूर्व के भवनवासी और व्यन्तर देवों के निकायों में दो-दो इन्द्र होते हैं। **(रा.वा.१)**

देवों का सुख -

कायप्रवीचारा आ ऐशानात् ॥७॥

कायप्रवीचारा: - आ-ऐशानात्।

(आ ऐशानात्) ऐशान स्वर्ग पर्यन्त (कायप्रवीचारा:) काय प्रवीचार वाले हैं।

अर्थ - ऐशान स्वर्ग पर्यन्त देवों के काय से प्रवीचार होता है।

१. प्रश्न : प्रवीचार किसे कहते हैं ?

उत्तर : मैथुन-सेवन को प्रवीचार कहते हैं। प्र और वि उपसर्ग पूर्वक 'चर्' धातु से घञ् प्रत्यय करके प्रवीचार शब्द की निष्पत्ति हुई है जिसका अर्थ है 'प्रविचरणं' 'प्रवीचार' स्त्री-पुरुष के संयोग से जायमान सुखरूप कार्य का नाम प्रवीचार-मैथुन है। **(रा.वा. १)**

मैथुन के द्वारा उपसेवन को प्रवीचार कहते हैं। **(सर्वा. ४५५)**

२. प्रश्न : किन-किन देवों के काय से प्रवीचार होता है ?

उत्तर : भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी, सौधर्म और ऐशान स्वर्ग तक के देवों के काय से प्रवीचार होता है। **(त.सू. ४/७)**

३. प्रश्न : इन देवों के काय से प्रवीचार क्यों होता हैं ?

उत्तर : ये देव संक्लिष्ट कर्म वाले होने के कारण मनुष्यों के समान स्त्रियों के साथ भोग करते हैं, सुख का अनुभव करते हैं। **(सर्वा. ४५५)** मोह का तीव्र उदय होने से ज्योतिषी, भवनवासी, व्यन्तर और सौधर्म-ऐशान स्वर्ग के देव काय से मैथुन करते हैं। **(हरि. पु.३/१६२)**

४. प्रश्न : सूत्र में दिया गया 'आङ्' किस अर्थ में है ?

उत्तर : सूत्र में आङ् का ग्रहण अभिविधि अर्थ में है। आङ् मर्यादा, ईषद्, अर्थक्रिया योग, अभिविधि आदि अनेक अर्थों में है, परन्तु यहाँ अभिविधि अर्थ में समझना चाहिए। **(रा.वा.२)**

कहाँ तक काय से प्रवीचार की व्याप्ति है, इस बात को बताने के लिए सूत्र में आङ् का निर्देश किया है। **(सर्वा. ४५५)**

५. प्रश्न : देवों के शरीर में वीर्यादि धातु नहीं है तो कायप्रवीचार से सुख कैसे होता है ?

उत्तर : वे सब असुरादि भवनवासी देव कायप्रवीचार से युक्त होते हैं तथा वेद नोकषाय की उदीरणा होने पर वे मनुष्यों के समान कामसुख का अनुभव करते हैं। परन्तु सप्त धातुओं से रहित होने के कारण निश्चय से उन देवों के वीर्य का क्षरण नहीं होता। केवल वेद नोकषाय की उदीरणा शान्त होने पर उन्हें संकल्प सुख होता है। **(ति.प. ३/१३०-३१)**

शेष देवों के प्रवीचार का कथन करते हैं-

शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनः प्रवीचाराः ॥८॥

(शेषाः) शेष स्वर्गों के देव (स्पर्शरूपशब्दमनः) स्पर्श, रूप, शब्द और मन (प्रवीचाराः) प्रवीचार वाले हैं।

अर्थ - शेष स्वर्गों में स्पर्श, रूप, शब्द और मन से प्रवीचार वाले होते हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : चारों निकायों के देवों में सुखविशेष का ज्ञान कराने के लिए इन (७वें-८वें) सूत्रों की रचना की गयी है तथा स्पर्श इन्द्रिय के समान काम-सेवन अन्य इन्द्रियों के द्वारा भी होता है।

चारित्र मोहनीय सम्बन्धी वेद कर्म के उदय-उदीरणा स्वरूप कर्मोदय के अपाय (विनाश) की तरतमता रूप से विशेषता देखी जाती है अत: काय, स्पर्श, रूप, शब्द और मन इन उत्तरोत्तर विप्रकृष्ट हो रहे सहकारियों द्वारा ऊपर-ऊपर के देवों में मैथुन प्रवृत्ति उत्तरोत्तर न्यून होती गयी है। **(श्लो. ५/५२७/हि.)**

२. प्रश्न : सूत्र में दिये 'शेष' पद का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : ऊपर कहे गये देवों से अवशिष्ट के संग्रह के लिए 'शेष' शब्द का ग्रहण किया है। भवनत्रिक और सौधर्म-ऐशान को छोड़ कर शेष सानत्कुमार आदि देवों का ग्रहण करने के लिए 'शेष' पद है। यदि शेष का ग्रहण नहीं करते तो नव ग्रैवेयक आदि से संप्रत्यय होता। आगे के सूत्र में नव ग्रैवेयकों में प्रवीचार का निषेध है। **(रा.वा. १)**

३. प्रश्न : सानत्कुमारादि स्वर्गों में कौन सा प्रवीचार है ?

उत्तर : सानत्कुमार-माहेन्द्र स्वर्ग में अंगस्पर्श से, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर, लान्तव-कापिष्ठ स्वर्ग में रूप देखकर, शुक्र-महाशुक्र शतार-सहस्रार स्वर्ग में शब्द से एवं आनत-प्राणत, आरण-अच्युत स्वर्ग में मन से प्रवीचार होता है। देवियों का प्रवीचार भी अपने-अपने देवों के समान इसी प्रकार जानना चाहिए।

४. प्रश्न : सानत्कुमारादि देवों में स्पर्शादि से प्रवीचार क्यों होता है ?

उत्तर : मोह का मध्यम उदय होने से सानत्कुमार से लेकर सहस्रार स्वर्ग के देव के स्पर्श आदि से प्रवीचार होता है, मोह का उदय अत्यन्त मन्द होने से आनतादि स्वर्ग में मन से प्रवीचार होता है। **(हरि. पु. ३/१६३-१६६)**

५. प्रश्न : 'प्रवीचार' पद की अनुवृत्ति पूर्व सूत्र से हो जाती है, यहाँ पुन: प्रवीचार पद का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : सानत्कुमार-माहेन्द्र स्वर्ग में देवों की कामेच्छा जानकर शीघ्र देवागंनाएँ उनके सम्मुख उपस्थित हो जाती हैं और वे आपस में अंगस्पर्श कर सुखानुभव करते हैं। ब्रह्मादि चार स्वर्गों में देवियों के स्वभाव से सुभग शृंगार, आकार, हाव-भाव, विलास, वेश-भूषा आदि को देखकर तृप्त होते हैं। शुक्रादि चार स्वर्गों में देव देवियों के मधुर संगीत, भूषणों की झंकार आदि शब्दों के माध्यम से, श्रवण रसायन को पीकर सुखानुभव करते हैं।

आनतादि चार स्वर्गों में एक-दूसरे का विचार कर सन्तुष्ट होते हैं इस प्रकार के आर्ष अविरोधी इष्ट अर्थ की सिद्धि के लिए पुन: प्रवीचार शब्द का ग्रहण किया है। **(रा.वा. ५)**

कल्पातीत देवों में प्रवीचार-

परेऽप्रवीचारा: ।।९ ।।

परे-अप्रवीचारा: ।

(परे) आगे के नव ग्रैवेयकादि स्वर्ग के देव (अप्रवीचारा:) प्रवीचार से रहित हैं।

अर्थ - सोलहवें स्वर्ग के ऊपर नव ग्रैवेयकादि में प्रवीचार नहीं है।

१. प्रश्न : उपर्युक्त नौ सूत्र (पहले से नौवाँ) किस उद्देश्य से कहे गये हैं ?

उत्तर : प्रथम सूत्र से अन्यमतावलम्बियों के द्वारा अन्य (तीन, पाँच, सात आदि) प्रकार से कल्पना किये गये निकायों का निषेध है। दूसरे सूत्र के द्वारा अन्य प्रकार से मानी गयी लेश्याओं का निषेध है। तीसरे सूत्र से अन्य प्रकार से मानी गयी संख्याओं का निषेध है। चौथे सूत्र में इस प्रकार की कल्पनाओं से अन्य प्रकार से मानी गयी कल्पनाओं का निषेध है।

पाँचवें सूत्र में अन्य प्रकार से माने गये अपवाद का निषेध है। छठे सूत्र से इन्द्रों की अन्य संख्याओं का निषेध है। सातवें, आठवें सूत्र में अनिष्ट प्रवीचार का एवं नवें सूत्र में कल्पातीत देवों के प्रवीचार का निषेध है। **(श्लो. ५/५३५)**

२. प्रश्न : सूत्र में 'परे' शब्द का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : सूत्र में 'परे' शब्द कल्पातीत सर्व देवों का ग्रहण करने के लिए है। कल्पातीत सर्व देवों का संग्रह करने के लिए 'परे' वचन का ग्रहण किया है, यदि 'परे' शब्द का ग्रहण न करते तो अनिष्ट अर्थ का (ग्रैवेयकादि में स्पर्शादि प्रवीचार भी है और अप्रवीचार भी है) ग्रहण हो जाता इसलिए अनिष्ट अर्थ का निराकरण करने के लिए सूत्र में 'परे' शब्द का ग्रहण किया गया है। **(रा.वा. १)**

३. प्रश्न : सूत्र में 'अप्रवीचार' पद क्यों कहा हैं ?

उत्तर : अप्रवीचार का ग्रहण प्रकृष्ट सुख की प्रतिपत्ति के लिए है। प्रवीचार शब्द का अर्थ काम-वेदना का प्रतीकार है, उस प्रवीचार का अभाव ही परम सुख है, उसका ज्ञान कराने के लिए अप्रवीचार पद कहा है। **(रा.वा. २)**

४. प्रश्न : कल्पातीत देवों में प्रवीचार क्यों नहीं है ?

उत्तर : उन कल्पातीत देवों के काम-वेदना से उत्पन्न पीड़ा का परिक्षय हो जाने से और प्रकृष्ट सुख की प्राप्ति होने से उनके प्रवीचार नहीं है। जिस प्रकार यहाँ भी मनुष्यों के काम-वेदना की तरतमता और अभाव देखा जाता है उसी प्रकार उन अहमिन्द्रों के प्रवीचार का अभाव सम्भव है। **(श्लो. ५/५३२)** कल्पातीत (नवग्रैवेयक से सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त) देव मोह का उदय अव्यक्त होने से प्रवीचार रहित हैं। वहाँ के अहमिन्द्र शान्ति प्रधान सुख से युक्त होते हैं। **(हरि. पु. ३/१६७)**

भवनवासी देवों के नाम-

भवनवासिनोऽसुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधिद्वीपदिक्कुमाराः ॥१०॥

भवनवासिनः असुर-नाग-विद्युत्-सुपर्ण-अग्नि-वात-स्तनित-उदधि-द्वीप-दिक्कुमाराः।

अर्थ - असुरकुमार, नागकुमार, विद्युत्कुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनित कुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार और दिक्कुमार भवनवासी देव हैं।

१. प्रश्न : असुरकुमार किसे कहते हैं ?

उत्तर : ये प्रथम तीन नरक पृथिवियों तक जाकर नारकियों को उनके पूर्वभव सम्बन्धी वैर का स्मरण कराकर परस्पर लड़ाते हैं। (ये न केवल स्वयं नारकियों को मारते हैं अपितु सेवकों से भी उन्हें दण्डित कराते हैं।) **(म.पु. १०/४१)** क्रोधित हुए असुरकुमार एवं नागकुमार परस्पर की मत्सरता से एक दूसरे के प्रारम्भ किये हुए कार्यों में विघ्न करते हैं। **(म.पु. ६७/१७३)**

जिनकी अहिंसा आदि अनुष्ठानों में रति है वे सुर हैं, इनसे विपरीत असुर हैं। **(ध. १३/३९१)**

२. प्रश्न : क्या ये सौधर्मादि स्वर्ग के देवों के साथ युद्ध करते हैं इसलिए इन्हें असुर कहते हैं ?

उत्तर : ऐसा नहीं है, मिथ्याज्ञान के कारण यह देवों का अवर्णवाद (दोषारोपण) करना है। सौधर्मादि स्वर्ग के देव तो महाप्रभावशाली होते हैं। उनसे निकृष्ट बल वाले देवों का थोड़ा सा भी वैर-विरोध नहीं है। सौधर्मादि देव विशिष्ट नाम कर्म के उदय से अनुपम वैभवशाली होते हैं तथा निरन्तर अर्हत्प्रभु की पूजा करना तथा सदा उत्तमोत्तम भोग भोगना ही उनका काम रहता है। इसलिए परस्त्रीहरण आदि के निमित्त उनके प्रति वैर-विरोध की सम्भावना ही नहीं है इसलिए इनका असुरों के साथ युद्ध नहीं हो सकता है। **(रा.वा. ४-६)**

३. प्रश्न : नागकुमार किसे कहते हैं ?

उत्तर : पर्वत और चन्दनादि वृक्षों पर रहने वाले देव नागकुमार कहलाते हैं। ये और असुरकुमार परस्पर मत्सरता से एक-दूसरे के प्रारम्भ किये हुए कार्यों में विघ्न करते हैं। **(म.पु. ६७/१७३)**

ये पाताल लोकवासी भवनवासी देव हैं, फण से उपलक्षित (भवनवासी देव) नाग कहलाते हैं। **(ध. १३/३९१)**

४. प्रश्न : वातकुमार किसे कहते हैं ?

उत्तर : ये वातकुमार वायुकुमार जाति के देव हैं। ये तीर्थङ्करों के दीक्षा-कल्याणक में शीतल और सुगन्धित वायु का प्रसार करते हैं। **(वी.व.च. १२/४९)** जो तीर्थंकर के विहारमार्ग को शुद्ध करते हैं, वे वातकुमार हैं। **(म.पु. २५/२५३)**

५. प्रश्न : स्तनितकुमार किसे कहते हैं ?

उत्तर : ये तीर्थङ्कर की समवशरण भूमि के चारों ओर विद्युन्माला आदि से युक्त होकर गन्धोदकमय वर्षा करते हैं, **(हरि.पु. ३/२३)** ये पाताल लोक में निवास करते हैं। **(हरि. पु. ४/६५)** जो शब्द को करते हैं अथवा जिनके शब्द उत्पन्न होता है वे स्तनित कहलाते हैं।

६. प्रश्न : अग्निकुमार किसे कहते हैं ?

उत्तर : दस प्रकार के भवनवासी देवों में नौवें प्रकार के देव अग्निकुमार हैं, ये सदैव जाज्वल्यमान होकर पाताल में रहते हैं। ये समवशरण के सातवें कक्ष में बैठते हैं। जो पाताल लोक को छोड़कर क्रीड़ा करने के लिए ऊपर आते हैं वे अग्नि-कुमार देव कहलाते हैं।

७. प्रश्न : भवनवासी देवों की कुमार संज्ञा क्यों हैं ?

उत्तर : कौमार्य, रूप, वय विशेष विक्रियादि होने से वे कुमार कहलाते हैं। सर्व देवों की अवस्था, आयु एवं स्वभाव निश्चित है तथापि उनका विक्रिया करने का स्वभाव कौमार्य, रूप विशेष अवस्था के समान होता है। कुमारों के ही समान उनकी वेश-भूषा, आभूषण, प्रहरण, आवरण, यान-वाहन आदि होते हैं। रागजनित क्रीड़ाओं में आसक्त रहने के कारण ये देव कुमार कहलाते हैं। **(रा.वा.७)** असुरकुमारादि देव कुमारों के सदृश सर्वत्र क्रीड़ा करते हैं, इसलिए इन असुरकुमारादि दस कुलों के अन्त में 'कुमार' शब्द सार्थक संज्ञावाची है। **(सि.सा.दी. १२/१६)**

८. प्रश्न : इन भवनवासी देवों में असुरकुमारादि भेद किस कारण से हैं ?

उत्तर : गतिसंज्ञक नामकर्म की उत्तरोत्तर प्रकृति रूप भवनवासी नामक नामकर्म के उदय से भवनों में निवास करने के स्वभाव वाले देव भवनवासी हैं। यह प्रथम निकाय के सम्पूर्ण देवों के विषय में सामान्य संज्ञा है परन्तु उस भवनवासी नामकर्म के भी उत्तर भेद स्वरूप असुरकुमार नाम कर्म के उदय से असुरकुमार, नागकुमार आदि विशेष-विशेष भेद पाये जाते हैं। **(श्लो.५/५३६)**

९. प्रश्न : असुरकुमारादि देवों में इन्द्रों के कितने-कितने भवन हैं ?

उत्तर : असुरकुमारादि देवों में इन्द्रों के भवन-

दक्षिणेन्द्र	**उत्तरेन्द्र**
(१) चमरेन्द्र के - ३४,०००००	(२) वैरोचन के - ३०,०००००
(३) भूतानन्द के - ४४,०००००	(४) धरणानन्द के - ४०,०००००
(५) वेणु के - ३८,०००००	(६) वेणुधारी के - ३४,०००००
(७) पूर्ण के - ४०,०००००	(८) वशिष्ठ के - ३६,०००००
(९) जलप्रभ के - ४०,०००००	(१०) जलकान्त के - ३६,०००००

(११) घोष के - ४०,००००० (१२) महाघोष - ३६,०००००

(१३) हरिषेण के - ४०,००००० (१४) हरिकान्त के - ३६,०००००

(१५) अमितगति के - ४०,००००० (१६) अमितवाहन के - ३६,०००००

(१७) अग्निशिखी - ४०,००००० (१८) अग्निवाहन के - ३६,०००००

(१९) वेलम्ब के - ५०,००००० (२०) प्रभंजन के - ४६,०००००

(ति.प. ३/२०-२१)

१०. प्रश्न : भवनवासी देवों के कितने जिनालय हैं ?

उत्तर : सात करोड़, बहत्तर लाख (७,७२,०००००) भवनवासी देवों के भवन अकृत्रिम जिन चैत्यालय सहित हैं अर्थात् जितने भवन हैं उतने ही जिन-चैत्यालय हैं। **(वृ. द्र. सं. टी. ३५)**

११. प्रश्न : भवनवासी देवों के कितने भवन हैं ?

उत्तर : (१) असुरकुमारों के ६४,००००० (६) स्तनितकुमार के - ७६,०००००

(२) नागकुमारों के - ८४,००००० (७) विद्युत्कुमार के - ७६,०००००

(३) सुपर्णकुमारों के - ७२,००००० (८) दिक्कुमार के - ७६,०००००

(४) द्वीपकुमारों के - ७६,००००० (९) अग्निकुमार के - ७६,०००००

(५) उदधिकुमारों के - ७६,००००० (१०) वायुकुमार के - ९६,०००००

इस प्रकार दस कुलों के सर्व भवनों का सम्मिलित योग (६४ ला. + ८४ ला. + ७२ ला. + ७६ ला. + ७६ ला. + ७६ ला. + ७६ ला. + ७६ ला. + ७६ ला. + ९६ ला. = सात करोड़ बहत्तर लाख (७,७२,०००००) भवन हैं। **(ति.प. ३/११-१२)**

१२. प्रश्न : इन भवनों में कितने देव रहते हैं ?

उत्तर : इनमें से संख्यात योजन विस्तार वाले भवनों में संख्यात देव रहते हैं तथा असंख्यात योजन विस्तार वाले भवनों में असंख्यात भवनवासी देव रहते हैं। **(ति.प. ३/२५-२६)**

१३. प्रश्न : भवनवासी देवों के निवास-स्थान कहाँ हैं ?

उत्तर : रत्नप्रभा पृथिवी के खरभाग एवं पंक बहुल भाग में उत्कृष्ट रत्नों से शोभायमान भवनवासी देवों के भवन हैं। खर भाग सोलह हजार योजन और पंक भाग चौरासी हजार योजन मोटा है। इन दोनों की मोटाई मिलाकर एक लाख योजन प्रमाण है। **(ति.प. ३/७-८)**

१४. प्रश्न : इन भवनों का विस्तार कितना है ?

उत्तर : इन भवनों की लम्बाई-चौड़ाई का जघन्य प्रमाण संख्यात करोड़ योजन एवं उत्कृष्ट प्रमाण असंख्यात करोड़ योजन है। ये समस्त भवन चौकोर हैं। इनकी ऊँचाई तीन सौ योजन है। प्रत्येक भवन के बीच में सौ योजन ऊँचा एक-एक पर्वत हैं और उन पर्वतों के ऊपर चैत्यालय हैं। **(त्रि.सा. २२०)** चित्रा पृथिवी से २००० योजन नीचे जाकर अल्पऋद्धि धारक देवों के, ४२००० योजन नीचे जाकर महाऋद्धि धारक देवों के और १००००० योजन नीचे जाकर मध्यम ऋद्धि धारक भवनवासी देवों के भवन हैं। **(ति.प. ३/२४) विशेषार्थ**

ये सब भवन समचतुष्कोण और वज्रमय द्वारों से शोभायमान हैं, इनकी ऊँचाई तीन सौ योजन एवं विस्तार संख्यात योजन और असंख्यात योजन हैं। **(ति.प. ३/२५)**

१५. प्रश्न : भवनवासी देवों के निवासस्थान कितने प्रकार के हैं ?

उत्तर : भवनवासी देवों के निवास-स्थान तीन प्रकार के हैं-

(१) भवन (२) भवनपुर (३) आवास।

भवन - रत्नप्रभा पृथिवी में भवन हैं।

भवनपुर - द्वीप-समुद्रों के ऊपर भवनपुर हैं।

आवास - रमणीय तालाब, पर्वत तथा वृक्षादिक के ऊपर आवास हैं। नागकुमारादिकों में से किन्हीं के भवन, भवनपुर एवं आवास रूप तीनों आवास हैं।

असुरकुमारों के केवल एक भवन रूप ही निवास-स्थान होते हैं। **(ति.प. ३/२२-२३)**

१६. प्रश्न : भवनवासी देवों के शरीर का रंग किस प्रकार का है ?

उत्तर : भवनवासी देवों का रंग -

(१) असुरकुमार का रंग - कृष्ण वर्ण। (२) नागकुमार का रंग - श्यामल वर्ण।

(३) गरुड़ कुमार का रंग - श्यामल वर्ण। (४) द्वीप कुमार का रंग - श्यामल वर्ण।

(५) उदधि कुमार का रंग - कालश्यामल वर्ण। (६) स्तनित कुमार का रंग - कालश्यामल।

(७) विद्युत् कुमार का रंग - बिजली सदृश। (८) दिक्कुमार का रंग - श्यामल वर्ण।

(९) अग्नि कुमार का रंग - जलती हुई अग्नि की ज्वाला सदृश

(१०) वात कुमार का रंग - नवीन कुवलय (नीलकमल) के सदृश **(ति.प. ३/११९-२१)**

१७. प्रश्न : भवनवासी देवों का गमन कहाँ तक होता है ?

उत्तर : जिस देव की संख्यात वर्ष की आयु है, वह एक समय में संख्यात योजन जाता है और

इतने ही योजन आता है। जिस देव की आयु असंख्यात वर्ष की हैं, वह एक समय में असंख्यात योजन जाता है और इतने ही योजन आता है। **(ति.प. ३/१६९-७०)**

जो देव दस हजार वर्ष की आयु वाला है, वह अपनी शक्ति से एक सौ मनुष्यों को मारने अथवा पोसने में समर्थ है तथा वह देव डेढ़ सौ धनुष प्रमाण लम्बे, चौड़े और मोटे क्षेत्र को बाहुओं से वेष्टित करने और उखाड़ने में भी समर्थ है।

एक पल्योपम आयु वाला देव पृथिवी के छह खण्डों को उखाड़ने तथा वहाँ रहने वाले मनुष्यों एवं तिर्यञ्चों को मारने अथवा पोसने में समर्थ है। एक सागरोपम काल तक जीवित रहने वाला देव समग्र जम्बूद्वीप को उखाड़ फेंकने अर्थात् तहस-नहस करने और उसमें स्थित मनुष्यों एवं तिर्यंचों को मारने अथवा पोसने के लिए समर्थ है। **(ति.प. ३/१६३-६६)**

१८. प्रश्न : भवनवासी देव कितनी विक्रिया करते हैं ?

उत्तर : दस हजार वर्ष की आयु वाला देव उत्कृष्ट रूप से सौ, जघन्य रूप से सात और मध्यम रूप से विविध रूपों की विक्रिया करता है। अपने-अपने अवधिज्ञान के क्षेत्रों का जितना प्रमाण है उतने क्षेत्रों को सब देव पृथक्-पृथक् विक्रिया से पूरित करते हैं। **(ति.प. ३/१६७-६८)**

१९. प्रश्न : ये भवन कहाँ स्थित हैं ?

उत्तर : इस रत्नप्रभा पृथ्वी के पंकबहुल भाग में असुरकुमार देवों के चौंसठ लाख भवन हैं। इस जम्बूद्वीप से तिरछे दक्षिण दिशा में असंख्यात द्वीप-समुद्रों के बाद पंकबहुल भाग में चमर नामक असुरेन्द्र के चौंतीस लाख भवन हैं। **(रा.वा. ८)**

जम्बूद्वीप की उत्तरदिशा में तिरछे असंख्यात द्वीप-समुद्रों के बाद पङ्क-बहुल भाग में वैरोचन नामक असुरेन्द्र के तीस लाख भवन हैं।

चमरेन्द्र के चौंतीस लाख और वैरोचन के तीस लाख दोनों मिलाकर पङ्कबहुल भाग में चौंसठ लाख भवन हैं। **(रा.वा. ८)**

२०. प्रश्न : असुरेन्द्र के कितने परिवार देव हैं ?

उत्तर : असुरेन्द्र के चौंसठ हजार सामानिक, तैंतीस त्रायस्त्रिंश, तीन सभा, सात प्रकार की सेना, चार लोकपाल, पाँच अग्रमहिषी और चार हजार चौंसठ आत्मरक्षक हैं। इस दिव्य वैभव और परिवार के साथ दक्षिणाधिपति चमर नामक असुरेन्द्र दिव्य भोगों का अनुभव करता है। **(रा.वा. ८)**

२१. प्रश्न : वैरोचन इन्द्र के कितने परिवार देव होते हैं ?

उत्तर : वैरोचन नामक असुरेन्द्र के तीस लाख भवन हैं। उसके साठ हजार सामानिक हैं, तैंतीस त्रायस्त्रिंश, तीन परिषद, सात अनीक, चार लोकपाल, पाँच अग्रमहिषी और चार हजार चौंसठ

आत्मरक्षक हैं। इस प्रकार के विभव एवं परिवार के साथ उत्तराधिपति वैरोचन नामक असुरेन्द्र विविध प्रकार के दिव्य भोगों का अनुभव करता है। **(रा.वा. ८)**

२२. प्रश्न : नागकुमार का कितना परिवार है ?

उत्तर : जम्बूद्वीप से तिरछी ओर दक्षिण दिशा में असंख्यात-द्वीप-समुद्रों का उल्लंघन कर धरण-नागराज के चवालीस लाख भवन हैं। इसके साठ हजार सामानिक, तैंतीस त्रायस्त्रिंश, तीन परिषद, सात अनीक, चार लोकपाल, छह अग्र महिषी और छह हजार आत्मरक्षक देव हैं। इस जम्बूद्वीप से तिरछी ओर उत्तरदिशा में असंख्यात द्वीप-समुद्रों का उल्लंघन करके भूतानन्द नागेन्द्र के चालीस लाख भवन हैं। इसका शेष वैभव धरणेन्द्र के समान है। ये सब मिलाकर नागकुमारों के चौरासी लाख भवन हैं। **(रा.वा.८)**

२३. प्रश्न : भवनवासी देवों के आहार का अन्तराल कितना है ?

उत्तर : चमरेन्द्र और वैरोचन इन दो इन्द्रों के एक हजार वर्ष बीतने पर नियम से आहार होता है। इसके आगे भूतानन्दादि छह इन्द्रों के पच्चीस दिनों के आधे (१२ $\frac{१}{२}$) दिन में आहार होता है। जलप्रभादिक छह इन्द्रों के बारह दिन के अन्तराल से और अमितगति आदि छह इन्द्रों के पन्द्रह के आधे (७ $\frac{१}{२}$) दिन के अन्तराल से आहार का अवसर आता है।

जो देव दस हजार वर्ष की आयु वाला है उसके दो दिन के अन्तराल से और पल्योपम प्रमाण से संयुक्त देव के पाँच दिन के अन्तराल से भोजन का अवसर प्राप्त होता है।

इन्द्र-प्रतीन्द्रादिक तथा इनकी देवियाँ अति स्निग्ध और अनुपम, अमृतमय आहार को मन से ग्रहण करती हैं। **(ति.प. ३/१११-१२५)**

२४. प्रश्न : भवनवासी देव उच्छ्वास कितने दिन में लेते हैं ?

उत्तर : चमरेन्द्र एवं वैरोचन इन्द्रों के १५ दिन में।

भूतानन्दादिक छह इन्द्रों के - प्रत्येक के १२ $\frac{१}{२}$ मुहूर्त्त में।

जलप्रभादि छह इन्द्रों के - प्रत्येक के १२ मुहूर्त्त में।

अमितगति आदि छह इन्द्रों के - प्रत्येक के ७ $\frac{१}{२}$ मुहूर्त्त में।

१०,००० वर्ष की आयु वालों के - ७ श्वासोच्छ्वास प्रमाण काल में।

पल्योपम प्रमाण आयु वालों के - ५ मुहूर्त्त में।

प्रतीन्द्रादिक चार देवों के उच्छ्वास इन्द्रों के सदृश ही होते हैं। इसके आगे तनुरक्षकादि देवों में उच्छ्वास काल का प्रमाण इस समय नष्ट हो गया हैं। **(ति.प. ३/११६-११९)**

२५. प्रश्न : भवनवासी देवों के शरीर की अवगाहना कितनी है ?

उत्तर : भवनवासी देवों के शरीर की अवगाहना-

असुरकुमार की - २५ धनुष।

शेष देवों की - १० धनुष।

यह स्वाभाविक शरीर की ऊँचाई है, किन्तु विक्रिया निमित्त शरीर की ऊँचाई अनेक प्रकार की है। **(ति.प. ३/१७७)**

२६. प्रश्न : भवनवासी देवों के शरीर की क्या विशेषताएँ हैं ?

उत्तर : भवनवासी देवों के शरीर की विशेषताएँ -

(१) ये सब देव स्वर्ण के समान, मल के संसर्ग से रहित, निर्मल कान्ति के धारक होते हैं।

(२) इनकी निश्वास सुगन्धित होती है।

(३) ये अनुपम रूप-रेखा वाले एवं समचतुरस्र संस्थान वाले लक्षणों एवं व्यञ्जनों से युक्त तथा पूर्ण चन्द्रमा के समान सुन्दर कान्तिवाले होते हैं।

(४) ये नित्य ही कुमार रहते हैं वैसे ही इनकी देवियाँ होती हैं।

(५) इनके शरीर में मांस, हड्डी, मेद-लोहू, मज्जा, वसा और शुक्र आदि सात धातुएँ नहीं होती हैं।

(६) इनका शरीर नाना प्रकार के आभूषणों से शोभायमान रहता है।

(७) इनके हाथ-पैर लालिमा से युक्त एवं नसों से रहित होते हैं।

(८) इनका कभी कदलीघात मरण नहीं होता है।

(९) इनका शरीर बालों से रहित, अनुपम लावण्य तथा दीप्ति से परिपूर्ण होता है।

(१०) ये अनेक प्रकार के हाव-भावों में आसक्त रहते हैं। **(ति.प. ३/१२६-१२९)**

व्यंतर देवों के नाम-

व्यंतराः किन्नरकिम्पुरुषमहोरगगन्धर्वयक्षराक्षसभूतपिशाचाः ॥११॥

व्यंतराः-किन्नर-किंपुरुष-महोरग-गन्धर्व-यक्ष-राक्षस-भूत-पिशाचाः।

अर्थ - किन्नर, किंपुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच ये व्यन्तर देव हैं।

१. प्रश्न : व्यंतर देव कौन हैं ?

भवनवासी देवों का विवरण

क्र. सं.	इन्द्र	कुलों के नाम	भवन	वर्ण	आहार का अन्तराल	श्वासोछ्वास का अंतराल	गमन	विक्रिया	शरीर उत्सेध	सामर्थ्य
१.	चमरेन्द्र वैरोचन	असुरकुमार	६४ लाख	कृष्ण	१००० वर्ष	१५ दिन	स्ववश से ईशान स्वर्ग तक, परवश १६वें स्वर्ग	अपने अवधि ज्ञान के क्षेत्र प्रमाण	२५ धनुष	जम्बूद्वीपको उखाड़ने की तथा उसमें स्थित मनुष्य तिर्यंचों को मारने की
२.	भूतानंद धरणानंद	नागकुमार	८४ लाख	श्यामल	१२$\frac{१}{२}$ दिन	१२$\frac{१}{२}$ मुहूर्त			१० धनुष	
३.	वेणु वेणुधारी	सुपर्णकुमार	७२ लाख	श्यामल	,,	,,				
४.	पूर्ण-विशिष्ट	द्वीपकुमार	७६ लाख	श्यामल	,,	,,				
५.	जलकान्त जलप्रभ	उदधिकुमार	७६ लाख	काल श्यामल	१२ दिन	१२ मुहूर्त				
६.	सुघोष महाघोष	स्तनितकुमार	७६ लाख	काल श्यामल	,,	,,				
७.	हरिसिंह हरिकान्त	विद्युत्कुमार	७६ लाख	बिजलीवत्	,,	,,				
८.	अमितगति अमितवाहन	दिक्कुमार	७६ लाख	श्यामल	७$\frac{१}{२}$ दिन	७$\frac{१}{२}$ मुहूर्त				
९.	अग्निशिख अग्निमाणव	अग्निकुमार	७६ लाख	अग्निवत्	,,	,,				
१०.	वैलम्ब प्रभंजन	वायुकुमार	९६ लाख	नीलकमल	,,	,,				
११.		१०००० वर्ष वाले			२ दिन	७ श्वासोच्छ्वास		उत्कृष्ट १०० रूप मध्यम ७ से ९९ रूप जघन्य ७ रूप		१०० मनुष्यों को मारने पालने की
१२.		एक पल्य की आयु वाले			५ दिन	५ मुहूर्त				छह खण्डों को उखाड़ने की

उत्तर : ये मध्यलोक में रहते हैं। तीर्थंकरों के जन्म की सूचना देने के लिए इन देवों के भवनों में स्वयमेव भेरियों की ध्वनि होने लगती है। इनका सर्वत्र गमनागमन रहता है। द्वीपों और समुद्रों की आभ्यन्तरिक स्थिति का इन्हें ज्ञान होता है।

२. **प्रश्न : किन्नर कौन हैं ?**

उत्तर : ये समतल भूमि से बीस योजन ऊपर विजयार्ध पर्वत के इसी नाम के नगर में रहते हैं। तीर्थंकरों के कल्याणोत्सवों में मांगलिक गीत गाते हुए ये देव सेना के आगे-आगे चलते हैं। गान में रति करने वाले किन्नर कहलाते हैं। **(ध. १३/३९१)**

३. **प्रश्न : खोटे मनुष्यों को चाहने के कारण किन्नर, कुत्सित पुरुषों की कामना करने के कारण किंपुरुष और मांस खाने से पिशाच आदि कारणों से ये संज्ञायें क्यों नहीं हैं ?**

उत्तर : व्यंतरों में किंपुरुष आदि की क्रिया निमित्तक संज्ञा मानना उचित नहीं। यह सब तो देवों का अवर्णवाद है। ये देव पवित्र वैक्रियिक शरीरधारी होते हैं। ये कभी अशुचि औदारिक शरीर वाले मनुष्य आदि की कामना नहीं करते हैं और न मांस-मदिरादि के खान-पान में ही प्रवृत्त होते हैं, लोक में जो व्यंतरों की मांसादि ग्रहण की प्रवृत्ति सुनी जाती है, वह केवल उनकी क्रीड़ा मात्र है, उनके तो मानसिक आहार होता है। **(रा.वा.४)**

४. **प्रश्न : किन्नर देव कितने प्रकार के हैं ?**

उत्तर : किन्नर देव दस प्रकार के हैं-

(१) किम्पुरुष (२) किन्नर (३) हृदयङ्गम (४) रूपमाली (५) किन्नर-किन्नर (६) अनिन्दित (७) मनोरम (८) किन्नरोत्तम (९) रतिप्रिय (१०) ज्येष्ठ। **(ति.प. ६/३४-३५)**

५. **प्रश्न : किंपुरुष देव किसे कहते हैं एवं इनके कितने भेद हैं ?**

उत्तर : प्राय: मैथुन में रुचि रखने वाले किंपुरुष कहलाते हैं। **(ध. १३/३९१)**

किंपुरुष दस प्रकार के हैं-

(१) पुरुष (२) पुरुषोत्तम (३) सत्पुरुष (४) महापुरुष (५) पुरुषप्रभ (६) अतिपुरुष (७) मरु (८) मरुदेव (९) मदप्रभ (१०) यशस्वान्। **(ति.प. ६/३६)**

६. **प्रश्न : महोरग देव कितने प्रकार के होते हैं ?**

उत्तर : सर्पाकार रूप से विक्रिया करना इन्हें प्रिय है, इसलिए महोरग कहलाते हैं। **(ध. १३/३९१)**

महोरग देव दस प्रकार के होते हैं-

(१) भुजग (२) भुजंग-शाली (३) महातनु (४) अतिकाय (५) स्कन्धशाली (६) मनोहर (७) अशनिजव (८) महेश्वर (९) गम्भीर (१०) प्रियदर्शन। **(ति.प. ६/३८)**

७. प्रश्न : गन्धर्व देव कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : इन्द्रादिकों के गायकों को गन्धर्व कहते हैं। **(ध. १३/३९१)**

गन्धर्व देव दस प्रकार के होते हैं-

(१) हाहा (२) हू हू (३) नारद (४) तुम्बुरु (५) वासक (६) कदम्ब (७) महास्वर (८) गीतरति (९) गीतयश (१०) वज्रवान् । **(ति.प. ६/४०)**

८. प्रश्न : यक्ष देव कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : जिनके लोभ की मात्रा अधिक होती है और जो भाण्डागार में नियुक्त किये जाते हैं वे यक्ष कहलाते हैं। **(ध. १३/३९१)**

जो जिनेन्द्र भगवान के जन्माभिषेक के समय सपत्नीक मनोहर गीत गाते हैं वे यक्ष कहलाते हैं। **(प. पु. ३/१७९)**

यक्ष देव बारह प्रकार के होते हैं-

(१) माणिभद्र (२) पूर्णभद्र (३) शैलभद्र (४) मनोभद्र (५) भद्रक (६) सुभद्र (७) सर्वभद्र (८) मानुष (९) धनपाल (१०) स्वरूपयक्ष (११) यक्षोत्तम (१२) मनोहरण। **(ति.प. ६/४२)**

९. प्रश्न : राक्षस देव कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : जिन्हें भीषण रूप की विक्रिया करना प्रिय है, वे राक्षस कहलाते हैं। **(ध. १३/३९१)**

राक्षसों के सात भेद हैं-

(१) भीम (२) महाभीम (३) विघ्न-विनायक (४) उदक (५) राक्षस (६) राक्षसराक्षस (७) ब्रह्मराक्षस **(ति.प. ६/४४)**

१०. प्रश्न : भूत देव कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : भूत देव सात प्रकार के हैं- (१) स्वरूप (२) प्रतिरूप (३) भूतोत्तम (४) प्रतिभूत (५) महाभूत (६) प्रतिच्छन्न (७) आकाशभूत **(ति.प. ६/४६)**

११. प्रश्न : पिशाच देव कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : पिशाच चौदह प्रकार के होते हैं-

(१) कुष्माण्ड (२) यक्ष (३) राक्षस (४) संमोह (५) तारक (६) अशुचि (७) काल (८) महाकाल (९) शुचि (१०) सतालक (११) देह (१२) महादेह (१३) तूष्णीक (१४) प्रवचन। **(ति.प.६/४८-४९)**

१२. प्रश्न : इन व्यन्तर देवों का वर्ण कैसा होता है ?

उत्तर : व्यन्तर देवों का वर्ण -

किन्नरों का वर्ण - प्रियंगु सदृश। यक्ष देवों का वर्ण - काल श्यामल।

किम्पुरुषों का वर्ण - सुवर्ण सदृश। राक्षस देवों का वर्ण - शुद्ध श्याम वर्ण।

महोरग देवों का वर्ण - कालश्यामल सदृश। भूत देवों का वर्ण - कालश्यामल।

गन्धर्व देवों का वर्ण - शुद्ध सुवर्ण सदृश।

पिशाच देवों का वर्ण - कज्जल एवं इंगाल अर्थात् कोयले सदृश कृष्ण वर्ण। **(ति.प. ६/५५-५७)**

१३. प्रश्न : व्यन्तर देवों के आहार का अन्तराल कितना है ?

उत्तर : किन्नर आदि व्यन्तर देव तथा देवियाँ दिव्य एवं अमृतमय आहार का उपभोग मन से ही करते हैं, उनके कवलाहार नहीं होता। पल्य प्रमाण आयु से युक्त देवों के आहार का काल पाँच दिन और दस हजार वर्ष प्रमाण आयुवाले देवों के आहार का काल दो दिन बाद जानना चाहिए। **(ति.प.६/८७-८८)**

१४. प्रश्न : व्यन्तर देवों के उच्छ्वास का अन्तराल कितना है ?

उत्तर : व्यन्तर देवों में जो पल्य प्रमाण आयु से युक्त हैं वे पाँच मुहूर्त्तों में और जो दस हजार वर्ष प्रमाण आयु से संयुक्त हैं वे सात प्राणों में ही उच्छ्वास को प्राप्त करते हैं। **(ति.प. ६/८९)**

१५. प्रश्न : व्यन्तर देवों का निवास कहाँ है ?

उत्तर : भूतों और राक्षसों के भवन क्रमश: चौदह हजार और सोलह हजार हैं और क्रमश: खर भाग और पङ्कभाग में हैं। शेष वान-व्यंतर देवों के भवन पृथ्वी के ऊपर हैं। इनसे दस हजार (१०,०००) हाथ प्रमाण ऊपर दिग्वासी देव हैं। इनसे दस हजार हाथ ऊपर अन्तरवासी, इनसे दस हजार हाथ ऊपर कुष्माण्ड देव, इनसे बीस हजार हाथ ऊपर उत्पन्न, इनसे बीस हजार (२०,०००) हाथ ऊपर अनुत्पन्न, इनसे बीस हजार (२०,०००) हाथ ऊपर प्रमाणक, इनसे बीस हजार हाथ ऊपर गन्ध, इनसे बीस हजार (२०,०००) हाथ ऊपर महागन्ध, इनसे बीस हजार (२०,०००) हाथ ऊपर भुजङ्ग, इनसे बीस हजार (२०,०००) हाथ ऊपर प्रीतिक और इनसे बीस हजार (२०,०००) हाथ ऊपर आकाशोत्पन्न व्यन्तर देव निवास करते हैं। **(त्रि.सा. २९०-९२)** भवनवासी और व्यन्तर की निरुक्ति से ही उक्त देवों के निवासस्थानों

का निर्णय हो जाता है। इस जम्बूद्वीप के तिरछे दक्षिण दिशा में असंख्यात द्वीप-समुद्रों के बाद नीचे खर पृथ्वी के ऊपरी भाग में किन्नरेन्द्र, सत्पुरुष, अतिकाय, गीतरति, पूर्णभद्र और काल नामक, दक्षिणेन्द्रों के आवास हैं। इसी जम्बूद्वीप से तिरछे उत्तर दिशा में असंख्यात द्वीप-समुद्रों के बाद नीचे (अधोलोक में) खर पृथ्वी के ऊपरी भाग में किंपुरुष, महापुरुष, महाकाय, गीतयश, प्रतिरूप, अप्रतिरूप और महाकाल नामक उत्तरेन्द्रों के आवास हैं। पंक भाग की दक्षिण दिशा में भीम नामक दक्षिणेन्द्र और उत्तर दिशा में महाभीम नामक उत्तरेन्द्र निवास करते हैं, वहाँ उनके असंख्यात लाख नगर हैं। इन सोलह व्यन्तरेन्द्रों के प्रत्येक इन्द्र के चार हजार सामानिक, तीन पारिषद, सात अनीक, चार अग्र महिषियाँ और सोलह हजार आत्मरक्षक देव हैं। भूमितल पर भी द्वीप-पर्वत, समुद्र, देश, ग्राम, नगर, त्रिक (तिगड्ढा), चौराहा, घर, आँगन, गली, जलाशय, उद्यान और देवमन्दिर आदि स्थानों में व्यन्तरों के असंख्यात लाख आवास हैं। **(रा.वा.४)** अञ्जनकद्वीप की दक्षिण दिशा में किम्पुरुष और उत्तर दिशा में किन्नर इन्द्र रहता है।

वज्र धातुक द्वीप की दक्षिण दिशा में सत्पुरुष और उत्तर दिशा में महापुरुष इन्द्र रहता है। सुवर्णद्वीप की दक्षिण दिशा में महाकाय और उत्तरदिशा में अतिकाय इन्द्र रहता है। मन:शिलकद्वीप की दक्षिण दिशा में गीतरति और उत्तरदिशा में गीतयश इन्द्र रहता हैं।

वज्रद्वीप की दक्षिण दिशा में मणिभद्र और उत्तर दिशा में पूर्णभद्र इन्द्र रहता हैं। रजतद्वीप की दक्षिण दिशा में भीम और उत्तर दिशा में महाभीम इन्द्र रहता है। हिंगुलक द्वीप की दक्षिण दिशा में स्वरूप और उत्तर दिशा में प्रतिरूप इन्द्र रहता है।

हरिताल द्वीप की दक्षिण दिशा में काल और उत्तरदिशा में महाकाल इन्द्र रहता है। **(ति.प.६-६२ विशेषार्थ)**

१६. प्रश्न : मध्यलोक में ये व्यंतर कहाँ-कहाँ रहते हैं ?

उत्तर : मध्यलोक में ये वटवृक्षों पर, छोटे-छोटे गड्ढों में, पहाड़ के शिखरों पर, वृक्षों के कोटरों में और पत्तों की झोपड़ियों में रहते हैं। **(म.पु. ३१/११३)**

१७. प्रश्न : व्यन्तरों के निवास-स्थान कितने प्रकार के हैं ?

उत्तर : व्यन्तरों के निवास-स्थान तीन प्रकार के हैं-

(१) भवनपुर (२) आवास (३) भवन।

भवनपुर द्वीप-समुद्रों में स्थित हैं।

तालाब, पर्वत और वृक्षादि पर आवास हैं।

चित्रा पृथ्वी में भवन स्थित हैं। **(त्रि.सा. २९४)**

व्यन्तर देवों के जो निवासस्थान मध्य लोक की समभूमि पर हैं, उन्हें **भवनपुर** कहते हैं।

जो स्थान पृथ्वी से ऊँचे हैं उन्हें **आवास** कहते हैं।

जो स्थान पृथ्वी से नीचे हैं उन्हें **भवन** कहते हैं। **(त्रि.सा. २९५)** चित्रा और वज्रा पृथ्वी की सन्धि से प्रारम्भ कर मेरु पर्वत की ऊँचाई पर्यन्त तथा तिर्यग्लोक के विस्तार पर्यन्त व्यन्तर देव अपने-अपने योग्य भवनपुरों में, भवनों में और आवासों में निवास करते हैं। **(त्रि.सा. २९६)**

१८. प्रश्न : क्या सभी व्यन्तरों के तीनों प्रकार के निवास-स्थान हैं ?

उत्तर : नहीं, कुछ व्यन्तर देवों के मात्र भवन ही हैं, कुछ के भवन और भवनपुर हैं तथा कुछ के भवन, भवनपुर और आवास ये तीनों हैं। भवनवासी देवों में असुर कुमारों को छोड़कर शेष में किन्हीं के भवन, भवनपुर और आवास ये तीनों होते हैं। **(त्रि.सा. २९७)**

१९. प्रश्न : इन भवनों का विस्तार कितना है ?

उत्तर : उत्कृष्ट और जघन्य भवनों का विस्तार क्रमशः बारह हजार योजन एवं शुद्ध पच्चीस योजन मात्र है तथा उनका बाहल्य तीन सौ और पौन ($\frac{३}{४}$) योजन है। **(त्रि.सा. २९८)** गोल आदि भवनपुरों का उत्कृष्ट विस्तार एक लाख योजन और जघन्य विस्तार एक योजन प्रमाण है। आवासों का उत्कृष्ट विस्तार बारह हजार दो सौ योजन और जघन्य विस्तार पौन योजन है। **(त्रि.सा. ३००)**

२०. प्रश्न : व्यन्तरों में किन्नर आदि भेद किस कारण से हैं ?

उत्तर : नाम कर्म के उत्तरोत्तर भेद-प्रभेद स्वरूप हो रहे किन्नर, किम्पुरुष आदि विशेष नाम कर्म का अन्तरंग में उदय होने से किन्नर, किम्पुरुष आदि भेद हो जाते हैं। **(श्लो. ५/५३८)**

२१. प्रश्न : व्यन्तर देवों में कितनी शक्ति है ?

उत्तर : दस हजार वर्ष की आयु वाला प्रत्येक व्यन्तर सौ मनुष्यों को मारने एवं पालन करने की सामर्थ्य से युक्त है। वह अपनी शक्ति से एक सौ पचास धनुष प्रमाण विस्तार एवं बाहल्य से युक्त क्षेत्र को उखाड़ कर अन्यत्र रख सकता है। एक पल्य प्रमाण आयु वाला व्यन्तर देव अपनी भुजाओं से छह खण्डों को उलटने में समर्थ है और उनमें स्थित मनुष्यों को मारने तथा पालने में भी समर्थ है। संख्यात वर्ष की आयु वाला व्यन्तर देव एक समय में संख्यात योजन एवं असंख्यात वर्ष प्रमाण आयु वाला वह देव असंख्यात योजन जाता है। **(ति.प. ६/९२-९७)**

२२. प्रश्न : व्यन्तर देवों का उत्सेध कितना है ?

उत्तर : किन्नर आदि आठों व्यन्तर देवों में से प्रत्येक की ऊँचाई दस धनुष प्रमाण है। **(ति.प. ६/९८)**

२३. प्रश्न : व्यन्तर देव कितनी विक्रिया कर सकते हैं ?

व्यन्तरों का विवरण

क्र. सं.	कुलों के नाम	इन्द्र	उत्तर भेद	वर्ण	आहार का अन्तराल	श्वासोच्छ्वास का अन्तराल	गमन	विक्रिया	सामर्थ्य
१.	किन्नर	किन्नर किम्पुरुष	१०	प्रियंगु सदृश	-	-	-	अपने-अपने अवधि ज्ञान के क्षेत्रप्रमाण	-
२.	किम्पुरुष	सत्पुरुष महापुरुष	१०	सुवर्ण सदृश	-	-	-	-	-
३.	महोरग	अतिकाय महाकाय	१०	काल श्यामल वर्ण	-	-	-	-	-
४.	गन्धर्व	गीतरति गीतयश	१०	सुवर्ण सदृश	-	-	-	-	-
५.	यक्ष	पूर्णभद्र मणिभद्र	१२	काल श्यामल वर्ण	-	-	-	-	-
६.	राक्षस	भीम महाभीम	७	शुद्ध श्याम	-	-	-	-	-
७.	भूत	प्रतिरूप अप्रतिरूप	७	श्यामल वर्ण	-	-	-	-	-
८.	पिशाच	काल महाकाल	१४	कज्जल या इंगाल वर्ण	-	-	-	-	-
९.	१०००० वर्ष की आयु वाले	-	-	-	२ दिन	७ श्वासो-च्छ्वास	-	१०० रूप उत्कृष्ट जघन्य ७ रूप	१०० मनुष्य को मारने एवं पोषण एवं १५० धनुष क्षेत्र को उखाड़ने की ।
१०.	एक पल्य की आयु वाले	-	-	-	५ दिन	५ मुहूर्त्त	-	-	छह खण्डों को उलटने एवं उसमें स्थित मनुष्य तिर्यंचों को मारने की।

नोट : शेष व्यन्तर अपने अवधिज्ञानों का जितना क्षेत्र है उतने मात्र क्षेत्र को विक्रिया बल से पूर्ण करते हैं। **(ति.प. ६/९०६)**

उत्तर : दस हजार वर्ष की आयु वाला व्यन्तर देव उत्कृष्ट रूप से सौ रूपों की, जघन्य सात रूपों की तथा मध्यम रूप से विविध रूप की अर्थात् सात से अधिक और सौ से कम रूपों की विक्रिया करता है।

शेष व्यन्तर देवों में से प्रत्येक देव अपने-अपने अवधिज्ञान का जितना क्षेत्र है उतने प्रमाण क्षेत्र को विक्रिया बल से पूर्ण करते हैं। **(ति.प. ६/९५-९६)**

२४. प्रश्न : व्यन्तर लोक में कितने जिनालय हैं ?

उत्तर : जगत्प्रतर के संख्यात भाग में तीन सौ योजन के वर्ग का भाग देने पर जो लब्ध आवे, जिन मन्दिरों का उतना प्रमाण व्यन्तर लोक में है।

व्यन्तर लोक के जिनालय $\frac{\text{जगत्प्रतर}}{\text{संख्यात}\times(३००)^{२}}$

अथवा - $\frac{\text{जगत्प्रतर}}{\text{संख्यात} \times ५३०८४१६००००००००००}$ **(ति.प. ६/१०२)**

ज्योतिष्क देव -

ज्योतिष्का: सूर्याचन्द्रमसौ ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारकाश्च ॥१२॥

ज्योतिष्का: सूर्या-चन्द्रमसौ-ग्रह-नक्षत्र-प्रकीर्णक-तारका: च।

(सूर्याचन्द्रमसौ) सूर्य, चन्द्रमा (ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारका:) ग्रह, नक्षत्र, प्रकीर्णक तारे ये (ज्योतिष्का:) ज्योतिषी देव हैं।

अर्थ - सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र तथा प्रकीर्णक तारे, ये ज्योतिषी देव हैं।

सूर्य-महाकान्तिमान्, आकाश में नित्य गतिशील एक ग्रह है उसे सूर्य कहते हैं। **(म.पु.३/७०)**

चन्द्र - महाकान्तिधारी, आकाशचारी, दिन-रात का विभाजक एक ग्रह चन्द्रमा है। यह शीतल किरणधारी ज्योतिष्क देव है। **(म.पु. ३/८६) (प. पु. ३/८३)**

१. प्रश्न : ज्योतिष्क देव किसे कहते हैं ?

उत्तर : देवगति नाम कर्म की उत्तर प्रकृति ज्योतिष्क नाम कर्म के उदय से ज्योति (कान्ति) का आश्रय होने से ये देव ज्योतिष्क कहलाते हैं। इस प्रकार उन देवों की ज्योतिष्क यह सामान्य रूप से संज्ञा होती है। **(श्लो. ५/५४४)**

२. प्रश्न : इनकी सूर्य-चन्द्रमा आदि विशेष संज्ञा किस कारण से होती है ?

उत्तर : जीव विपाकी उस देवगति प्रकृति के उत्तरोत्तर भेद-प्रभेद हो रहे सूर्य-चन्द्रमा आदि

विशेष नामकर्म के उदय से विशेष-विशेष देवों की सूर्य-चन्द्र आदि विशेष संज्ञायें अनादि काल से प्रवृत्त हो रही हैं। **(श्लो. ५/५४४)**

३. प्रश्न : सूत्र में सूर्य का सर्वप्रथम ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : अल्पाच् (अल्पस्वर वाला) होने से सूत्र में सूर्य का सर्वप्रथम ग्रहण किया है। वह सूर्य प्रभावशाली तथा अपनी प्रभा से सब ज्योतिष्क देवों का अभिभव करने में समर्थ होने से पूज्य भी है। व्याकरण की दृष्टि से जो अल्पाच् एवं पूज्य होता हैं उसका पूर्व में ग्रहण किया जाता है। **(रा.वा.९)**

४. प्रश्न : ग्रह आदि का क्रम से ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : ग्रह आदि में भी उपर्युक्त क्रम जानना चाहिए अर्थात् ग्रह शब्द अल्प स्वर वाला और अभ्यर्हित (पूज्य) है इसलिए उसका नक्षत्र और तारका शब्द के पहले ग्रहण किया हैं। इसी प्रकार तारका से ग्रह-नक्षत्र अल्पाच् और पूज्य है इसलिए तारका से पूर्व नक्षत्र को ग्रहण किया है। **(रा.वा.१०)**

५. प्रश्न : सूर्य और चन्द्रमा के विमान का विस्तार कितना है ?

उत्तर : सूर्य के विमान एक योजन के इकसठ भागों में से अड़तालीस भाग ($\frac{४८}{६१}$ योजन) लम्बे, एक योजन के इकसठ भागों में से चौबीस भाग प्रमाण ($\frac{२४}{६१}$) योजन विस्तृत आधे गोले के आकार वाले हैं।

चन्द्र का विमान एक योजन के इकसठ भागों में से छप्पन भाग ($\frac{५६}{६१}$ योजन) लम्बे, एक योजन के इकसठ भागों में से अट्ठाईस भाग ($\frac{२८}{६१}$ योजन) प्रमाण चौड़े हैं। ये ऊर्ध्वमुख रूप से अवस्थित (ऊर्ध्वगोलक सदृश) हैं। **(रा.वा. १०)**

६. प्रश्न : बुध आदि ग्रहों के विमानों का विस्तार कितना हैं ?

उत्तर : बुध के विमान आधी गव्यूति प्रमाण तल विस्तार (लम्बे-चौड़े) और बाहल्य इससे आधा अर्थात् पाव कोस ($\frac{१}{४}$ कोस) तथा परिधि डेढ़ कोस से कुछ अधिक विस्तार वाले हैं।

शुक्रग्रह के विमानों के उपरिम तल का विस्तार एक कोस और बाहल्य इससे आधा अर्थात् अर्ध कोस प्रमाण है। इनकी परिधि पृथक्-पृथक् तीन कोस से कुछ अधिक है।

गुरु ग्रह के तल का विस्तार कोस के बहुभाग अर्थात् कुछ कम एक कोस प्रमाण है। शेष वर्णन शुक्रपुरों के सदृश है। मंगल ग्रह पुरों के तल का विस्तार अर्ध कोस एवं इससे आधा अर्थात् पाव कोस प्रमाण है। इनका शेष वर्णन पूर्वोक्त ग्रह नगरों के सदृश है।

प्रत्येक शनि नगर के उपरिम तल का विस्तार अर्ध कोस प्रमाण है। इनका शेष वर्णन पूर्वोक्त नगरों के सदृश ही है। शेष ८३ ग्रहों के नगरतल यथायोग्य कहे हुए विस्तार एवं बाहल्य से संयुक्त ऊर्ध्वमुख गोलकार्ध सदृश हैं। **(ति.प. ७/८५-१०२)**

७. प्रश्न : नक्षत्रों एवं तारकाओं के विमानों का विस्तार कितना है ?

उत्तर : नक्षत्रों के तल का विस्तार एक कोस और बाहल्य इससे आधा है। इनका शेष वर्णन सूर्य-नगरों के सदृश है। तारकाओं में तीन प्रकार का विस्तार है -

जघन्य नगरों का विस्तार पाँच सौ धनुष प्रमाण है। इस जघन्य प्रमाण को दो और तीन से गुणा करने पर क्रमश: दो स्थानों में मध्यम नगरों का विस्तार क्रमश: (५००×२) = १००० धनुष एवं (५००×३) = १५०० धनुष है। **(ति.प. ७/१०६-१११)**

८. प्रश्न : राहु के विमान का विस्तार कितना है ?

उत्तर : राहु के विमान कुछ कम एक योजन प्रमाण विस्तार से युक्त और विस्तार से अर्ध बाहल्य वाले हैं। राहु नगर का बाहल्य दो सौ पचास धनुष प्रमाण है। ऐसा लोकविनिश्चय कर्त्ता आचार्य निरूपण करते हैं। **(ति.प. ७/२०२-३)**

९. प्रश्न : चन्द्रमा के कितने प्रकार का परिवार है ?

उत्तर : प्रत्येक चन्द्रमा का परिवार आठ प्रकार का है -

(१) प्रतीन्द्र (२) सामानिक (३) तनुरक्ष (४) तीनों पारिषद (५) सात अनीक (६) प्रकीर्णक (७) आभियोग्य (८) किल्विषिक।

इनमें से एक-एक प्रतीन्द्र होते हैं। वे सूर्य ही हैं।

सामानिक और तनुरक्षक आदि देव संख्यात हैं। प्रत्येक के सोलह हजार (१६०००) प्रमाण आभियोग्य देव होते हैं। **(ति.प. ७/५८-६३)**

१०. प्रश्न : चन्द्रमा के कितनी देवियाँ होती हैं ?

उत्तर : चन्द्रमा के चार अग्रदेवियाँ हैं-

(१) चन्द्राभा (२) सुसीमा (३) प्रभङ्करा (४) अर्चिमालिनी। इनमें से प्रत्येक की चार-चार हजार प्रमाण परिवार देवियाँ होती हैं। अग्रदेवियाँ अपनी-अपनी परिवार देवियों के सदृश अर्थात् चार हजार रूपों प्रमाण विक्रिया दिखलाती हैं। **(ति.प. ७/५८-५९)**

११. प्रश्न : सूर्य के कितने प्रकार का परिवार होता है ?

उत्तर : सूर्य के सात प्रकार का परिवार होता है -

(१) सामानिक (२) तनुरक्षक (३) तीनों पारिषद (४) प्रकीर्णक (५) अनीक (६) आभियोग्य (७) किल्विषिक।

प्रत्येक सूर्य के सोलह हजार प्रमाण आभियोग्य देव होते हैं जो नित्य ही विक्रिया करके सूर्य नगरतलों को ले जाते हैं। **(ति.प. ७/७८-८०)**

१२. प्रश्न : सूर्य के कितनी देवियाँ होती हैं ?

उत्तर : प्रत्येक सूर्य की चार अग्र देवियाँ हैं-

(१) द्युतिश्रुति (२) प्रभङ्करा (३) सूर्यप्रभा (४) अर्चिमालिनी।

इनमें से प्रत्येक अग्र-देवी की चार हजार परिवार देवियाँ होती हैं। वे अपने-अपने परिवार सदृश अर्थात् चार-चार हजार रूपों की विक्रिया ग्रहण करती हैं। **(ति.प. ७/७६-७७)**

१३. प्रश्न : चन्द्र की कितनी किरणें हैं ?

उत्तर : चन्द्र विमानों की पृथक्-पृथक् बारह हजार (१२०००) प्रमाण किरणें अतिशय शीतल एवं मन्द हैं। उन विमानों में विद्यमान पृथिवीकायिक जीव उद्योत नामकर्म के उदय से संयुक्त हैं अत: वे प्रकाशमान अतिशय शीतल और मन्द किरणों से संयुक्त होते हैं। **(ति.प. ७/३७-३८)**

१४. प्रश्न : सूर्य की कितनी किरणें हैं ?

उत्तर : सूर्य विमान की पृथक्-पृथक् बारह हजार (१२०००) किरणें हैं जो उष्णतर होती हैं क्योंकि उनमें स्थित पृथिवीकायिक जीव आतप नामकर्म के उदय से संयुक्त होते हैं अत: वे प्रकाशमान उष्णतर किरणों से युक्त होते हैं। **(ति.प. ७/६६-६७)**

१५. प्रश्न : चन्द्र के विमान कैसे हैं ?

उत्तर : चन्द्र के कितने ही प्रासाद मरकत वर्ण वाले, कितने ही कुन्द पुष्प, चन्द्र, हार एवं बर्फ जैसे वर्ण वाले, कोई स्वर्ण सदृश वर्ण वाले और दूसरे मूँगे सदृश वर्ण वाले हैं। ये प्रासाद चारों ओर समचतुष्कोण लम्बे और अनेक प्रकार के विन्यास से रमणीय हैं। इन भवनों में उपपाद मन्दिर, अभिषेक पुर, भूषणगृह, मैथुनशाला, क्रीड़ाशाला, मन्त्रशाला और आस्थान (सभा) शालाएँ स्थित हैं। **(ति.प. ७/५०-५२)**

चन्द्र विमान स्फटिक मणिमयी हैं इसलिए कमलदण्ड के समान सफेद हैं और अतिशय कान्ति के धारक हैं। **(हरि. पु. ६/१६)**

१६. प्रश्न : सूर्य के विमान कैसे हैं ?

उत्तर : सूर्य प्रासादों का वर्णन चन्द्र प्रासादों सदृश है। उन सूर्य प्रासादों के मध्य में उत्तम छत्र-चँवरों से संयुक्त और अतिशय दिव्य तेज को धारण करने वाले सूर्यदेव दिव्य सिंहासनों पर स्थित होते हैं। **(ति.प. ७/७४-७५)**

सूर्य विमान लोहिताक्ष मणि के हैं तथा जाज्वल्यमान तपे हुए सुवर्ण सरीखे जान पड़ते हैं। **(हरि. पु. ६/१५)**

१७. प्रश्न : चन्द्र के विमानों को कौन चलाता है ?

उत्तर : प्रत्येक इन्द्र (चन्द्र) के सोलह हजार (१६०००) आभियोग्य देव होते हैं जो चन्द्रों के गृहतलों (विमानों) को नित्य ही विक्रिया धारण करते हुए वहन करते हैं। सिंह, हाथी, बैल और जटा युक्त घोड़ों को धारण करने वाले तथा कुन्दपुष्प सदृश सफेद चार-चार हजार प्रमाण देव (क्रमश:) पूर्वादि दिशाओं में चन्द्र विमानों का वहन करते हैं। **(ति.प. ७/६३-६४)**

१८. प्रश्न : सूर्य के विमानों को कौन चलाता है ?

उत्तर : प्रत्येक सूर्य के सोलह हजार (१६०००) प्रमाण आभियोग्य देव होते हैं जो नित्य ही विक्रिया करके सूर्यनगर तलों को ले जाते हैं। सिंह, हाथी, बैल और जटा युक्त घोड़े के रूप को धारण करने वाले तथा स्वर्ण सदृश वर्ण संयुक्त वे आभियोग्य देव क्रमश: पूर्वादि दिशाओं में चार-चार हजार प्रमाण विराजमान होते हैं। **(ति.प. ७/८०-८१)**

१९. प्रश्न : सूर्य और चन्द्रों की संख्या कितनी है ?

उत्तर : आठ, चार, दो, तीन, तीन, सात, सात, नौ स्थानों में शून्य छत्तीस, सात, दो, नौ, आठ, तीन और चार ये अंक क्रमश: होते हैं। चन्द्र ज्योतिषी देवों के इन्द्र हैं और इनका प्रमाण उपर्युक्त अंकों से गुणित संख्यात रूप प्रतरांगुलों का जगच्छ्रेणी के वर्ग में भाग देने पर जो लब्ध प्राप्त हो उतना (जगच्छ्रेणी^{२} : (संख्यात प्रतरांगुल) × (४३८९२७३६००००००००७७३३२४८) है।

सूर्य चन्द्रों के प्रतीन्द्र होते हैं। इन सूर्यों का प्रमाण भी उतना ही है। **(ति.प. ७/१२-१४)**

मानुषोत्तर पर्वत तक के ज्योतिषी देव संख्यात हैं, इनके इन्द्र संख्यात सूर्य-चन्द्रमा हैं। उसके आगे असंख्यात ज्योतिषी देव हैं उनके इन्द्र असंख्यात सूर्य-चन्द्रमा हैं। **(हरि. पु. ६/२४)**

२०. प्रश्न : चन्द्र और सूर्य का अवस्थान कहाँ है ?

उत्तर : चित्रा पृथिवी से आठ सौ अस्सी (८८०) योजन ऊपर जाकर आकाश में चन्द्रों के मण्डल (विमान) हैं।

चन्द्रों के मणिमय विमान उत्तानमुख अर्थात् ऊर्ध्वमुख रूप से अवस्थित अर्ध-गोलक सदृश है। **(ति.प. ७/३६-३७)**

चित्रा पृथिवी के उपरिमतल से ऊपर आठ सौ (८००) योजन जाकर आकाश में नित्य (शाश्वत) नगरतल स्थित हैं। सूर्यों के मणिमय विमान ऊर्ध्व अवस्थित अर्ध-गोलक सदृश हैं। **(ति.प. ७/६५-६६)**

२१. प्रश्न : कुल ग्रहों का प्रमाण कितना है ?

उत्तर : छह, पाँच, छह, छह, छह, नौ, दस स्थानों में शून्य, दो, नौ, पाँच, छह, आठ, चार

और पाँच, इस अङ्क क्रम से जो संख्या उत्पन्न हो उससे गुणित संख्यात रूप प्रतरांगुलों का जगच्छ्रेणी के वर्ग में भाग देने पर जो लब्ध प्राप्त हो उसे ग्यारह से गुणित करने पर सम्पूर्ण ग्रहों का प्रमाण आता हैं। (जगच्छ्रेणी^{२} : (संख्यात प्रतरांगुल) × (५४८६५९२००००००००००९६६६५६) × ११) होता हैं। **(ति.प. ७/२२३-२४)**

२२. प्रश्न : इन ग्रहों का अवस्थान कहाँ है ?

उत्तर : चित्रा पृथिवी के उपरिम तल से आठ सौ अठासी (८८८) योजन ऊपर जाकर बारह (१२) योजन प्रमाण बाहल्य में ग्रह-समूह की नगरियाँ हैं। उनमें से चित्रा पृथ्वी के उपरिम तल से पूर्वोक्त आठ सौ अठासी योजन ऊपर जाकर आकाश में बुध की नगरियाँ नित्य स्थित हैं।

चित्रा पृथ्वी के उपरिम तल से नौ कम नौ सौ (८९१) योजन प्रमाण ऊपर जाकर आकाश में शुक्रों के नगर स्थित हैं। चित्रा पृथ्वी के उपरिम तल से छह कम नौ सौ (८९४) योजन ऊपर जाकर आकाश में गुरु (वृहस्पति) ग्रह के नगर स्थित हैं।

चित्रा पृथ्वी के उपरिम तल से तीन कम नौ सौ (८९७) योजन ऊपर जाकर आकाश में मङ्गल नगर स्थित है।

चित्रा पृथ्वी के उपरिम तल से नौ सौ (९००) योजन ऊपर जाकर आकाश में शनि ग्रह के स्वर्णमय नगर हैं। अवशिष्ट ग्रहों की नित्य (शाश्वत) नगरियाँ चित्रा पृथ्वी के ऊपर जाकर बुध ग्रह और शनि ग्रह के अन्तराल में अवस्थित हैं। **(ति.प. ७/८२-१०१)**

चित्रा पृथ्वी से ज्योतिबिम्बों की ऊँचाई की तालिका

क्र.सं.	ज्योतिबिम्बों के नाम	पृथ्वी से योजनों में ऊँचाई	मीलों में ऊँचाई
१.	तारागण	चित्रा पृथ्वी से ७९० योजन ऊपर	३१६०००० मील ऊपर
२.	सूर्य	७९० + १०= ८०० योजन ऊपर	३२००००० मील ऊपर
३.	चन्द्र	८०० + ८०= ८८० योजन ऊपर	३५२०००० मील ऊपर
४.	नक्षत्र	८८० + ४ = ८८४ योजन ऊपर	३५३६००० मील ऊपर
५.	बुध	८८४ + ४ = ८८८ योजन ऊपर	३५५२००० मील ऊपर
६.	शुक्र	८८८ + ३ = ८९१ योजन ऊपर	३५६४००० मील ऊपर
७.	गुरु	८९१ + ३ = ८९४ योजन ऊपर	३५७६००० मील ऊपर
८.	मंगल	८९४ + ३ = ८९७ योजन ऊपर	३५८८००० मील ऊपर
९.	शनि	८९७ + ३ = ९०० योजन ऊपर	३६००००० मील ऊपर

२३. प्रश्न : इन ग्रहों की कितनी किरणें हैं ?

उत्तर : ऊर्ध्व अवस्थित गोलक सदृश और उत्तम चाँदी से निर्मित उन शुक्र नगरतलों में से प्रत्येक की दो हजार पाँच सौ (२५००) किरणें होती हैं तथा शेष ज्योतिषी मन्द प्रकाश वाली किरणों से युक्त हैं। **(त्रि.सा. ३४१)**

२४. प्रश्न : इन ग्रहों के विमानों का रंग कैसा है ?

उत्तर : यह वर्णों की विविधरूपता ज्योतिर्लोकगत विमानों की है किन्तु अरुण समुद्र के ऊपर जो ज्योतिषी विमान हैं उनका केवल श्यामवर्ण ही है। **(हरि. पु. ६/२२)**

बुध की नगरियाँ सुवर्णमयी हैं। **(ति.प. ७/८४)**

शुक्र नगरतल चाँदी से निर्मित है। **(ति.प. ७/९०)**

शुक्र विमान चाँदी के समान सफेद हैं, अपनी कांति से मालती पुष्प के समान हैं और चारों ओर प्रकाश करते हैं। **(हरि. पु. ६/१९)**

गुरु ग्रह के नगर स्फटिक मणि से निर्मित हैं। **(ति.प. ७/९४)**

वृहस्पति के विमानों की कांति स्फटिक मणि के समान हैं इसलिए उत्तम मुक्ताफल सरीखे जान पड़ते हैं। **(हरि. पु. ६/२०)**

शनि ग्रह के नगर सुवर्ण सदृश हैं। **(ति.प. ७/१००)**

शनिश्चर के विमान तपे हुए सोने के समान हैं। **(हरि.पु. ६/२१)**

मंगल ग्रह के नगरतल रुधिर सदृश लाल वर्ण वाले पद्मराग-मणियों से निर्मित हैं। **(ति.प.७/९७)**

मङ्गल के विमान लोहिताक्षमयी हैं। **(हरि. पु. ६/२०-२१)**

अवशेष ८३ ग्रहों की नगरियाँ बहुत रत्नों से रचित हैं। **(ति.प. ७/१०२)**

२५. प्रश्न : इन ग्रहों के विमानों को कौन चलाता है ?

उत्तर : इन बुध आदि ग्रहों के पुरों को सिंह, हाथी, बैल एवं घोड़ों के रूप को धारण करने वाले दो-दो हजार (२०००) प्रमाण आभियोग्य देव क्रमश: पूर्वादिक दिशाओं में से प्रत्येक दिशा में धारण करते हैं। **(त्रि.सा. ३४३)** सिंह, हाथी, बैल एवं घोड़ों के रूप को धारण करने वाले तथा स्वर्ण सदृश वर्ण संयुक्त बुधों के पुरों को धारण करते हैं। **(ति.प. ७/८८)**

२६. प्रश्न : नक्षत्र एवं ताराओं की नगरियाँ कहाँ हैं ?

उत्तर : चित्रा पृथ्वी से आठ सौ चौरासी (८८४) योजन ऊपर जाकर आकाश-मार्ग में नक्षत्रों

ज्योतिष्क देवों का परिचय

क्र. सं.	नाम	तल व्यास	विस्तार	वाहक देव	रंग	अवस्थान चित्रा पृथ्वी से
१.	चन्द्र	$\frac{५६}{६१}$ योजन	$\frac{२८}{६१}$ योजन	१६०००	मरकत मणि	८८० योजन
२.	सूर्य	$\frac{४८}{६१}$ योजन	$\frac{२४}{६१}$ योजन	१६०००	मरकत मणि	८०० योजन
३.	बुध	$\frac{१}{२}$ कोस	$\frac{१}{४}$ कोस	८०००	स्वर्णमयी पीले रंग समान	८८८ योजन
४.	शुक्र	१ कोस	$\frac{१}{२}$ कोस	८०००	चाँदी से निर्मित नव-मल्लिका पुष्प समान	८९१ यो.
५.	बृहस्पति	कुछ कम एक कोस	$\frac{१}{२}$ कोस	८०००	अंक मणिमय सोने एवं मोती की कांति	८९४ योजन
६.	मंगल	$\frac{१}{२}$ कोस	$\frac{१}{४}$ कोस	८०००	पद्मरागमणि	८९७ योजन
७.	शनि	$\frac{१}{२}$ कोस	$\frac{१}{४}$ कोस	८०००	स्वर्ण की कांति वाले लोहित मणिमय	९०० योजन
८.	नक्षत्र	१ कोस	$\frac{१}{२}$ कोस	४०००	सूर्यवत्	८८४ योजन
९.	● उत्कृष्ट तारा	२००० धनुष	$\frac{१}{२}$ कोस	२०००	,,	७९०
	● मध्यम तारा	१५०० धनुष १००० धनुष	$\frac{१}{४}, \frac{३}{८}$ कोस	२०००	,,	–
	● जघन्य तारा	५०० धनुष	$\frac{१}{२}$ कोस	२०००	,,	–

के नगर हैं तथा चित्रा पृथ्वी से सात सौ नब्बे (७९०) योजन ऊपर जाकर आकाश तल में एक सौ दस (११०) योजन प्रमाण बाहल्य में ताराओं के नगर हैं। **(ति.प. ७/१०४-८)**

२७. प्रश्न : नक्षत्र एवं ताराओं के विमानों को कौन चलाता है ?

उत्तर : नक्षत्रों के नगरों को सिंह, हाथी, बैल एवं घोड़े के आकार को धारण करने वाले एक-एक हजार (१०००) प्रमाण आभियोग्य देव क्रमश: पूर्वादिक दिशाओं में उन नक्षत्रों के नगरों को धारण किया करते हैं।

ताराओं के विमानों को पूर्वादि दिशाओं में पाँच-पाँच सौ (५००) प्रमाण आभियोग्य देव सिंह, हाथी, बैल और घोड़े के आकार को धारण करके वहन करते हैं। **(त्रि.सा. ३४३)**

२८. प्रश्न : एक तारा से दूसरे ताराओं का अन्तराल कितना है ?

उत्तर : जघन्य ताराओं का तिर्यग् अन्तराल एक कोस का सातवाँ भाग अथवा १/७ कोस प्रमाण है।

मध्यम ताराओं का यही अन्तराल पचास योजन प्रमाण हैं। उत्कृष्ट ताराओं का तिर्यग् अन्तराल एक हजार (१०००) योजन प्रमाण है। **(ति.प. ७/११२)**

२९. प्रश्न : ज्योतिषी देवों के आहारादि का प्रमाण कितना है ?

उत्तर : ज्योतिषी देवों के आहार, उच्छ्वास, शक्ति आदि का वर्णन भावन लोक के सदृश कहना चाहिए। विशेष यह हैं कि ज्योतिषी देवों के शरीर की ऊँचाई सात धनुष प्रमाण और अवधिज्ञान का विषय असंख्यात गुणा है। **(ति.प ७/६२२-२३)**

३०. प्रश्न : सूत्र में 'सूर्याचन्द्रमसौ' पद का अलग से ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : सूत्र में 'सूर्याचन्द्रमसौ' पद का पृथक् ग्रहण प्रधानता का ख्यापन करने के लिए है। ये प्रभाव, ज्योति आदि के कारण सबमें प्रधान हैं क्योंकि सर्व ज्योतिष्क देवों में प्रभाव आदि सूर्य-चन्द्रमा में ही अधिक है। इसको बताने के लिए सूत्र में 'सूर्याचन्द्रमसौ' पद का पृथक् ग्रहण किया है। **(रा.वा.८)**

३१. प्रश्न : ज्योतिषी देवों सम्बन्धी कितने जिनालय हैं ?

उत्तर : जगत्प्रतर के असंख्यातवें भाग प्रमाण असंख्य ज्योतिषी विमान अकृत्रिम, सुवर्णमय और रत्नमय जिन-चैत्यालयों से शोभित जानना अर्थात् जितने ज्योतिषी देवों के विमान हैं उतने ही ज्योतिषी जिनालय हैं। **(वृ.द्र.सं.टी. ३५)**

ज्योतिषी देवों का गमन बताते हैं -

मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके ॥१३॥

मेरुप्रदक्षिणा-नित्यगतय:-नृलोके।

ये ज्योतिष्क देव (नृलोके) मनुष्य लोक में (मेरु प्रदक्षिणा) मेरु की प्रदक्षिणा करते हुए (नित्य गतय:) नित्य गमन करते हैं।

अर्थ - ये ज्योतिष्क देव मनुष्य लोक में मेरु की प्रदक्षिणा करते हुए नित्य गमन करते हैं।

१. प्रश्न : सूत्र में 'मेरुप्रदक्षिणा' पद किसलिए दिया है ?

उत्तर : गति-अन्तर की निवृत्ति के लिए 'मेरुप्रदक्षिणा' पद दिया है। मेरु की प्रदक्षिणा (परिक्रमा) को मेरुप्रदक्षिणा कहते हैं। ज्योतिषी देवों का गत्यन्तर वा अन्य प्रकार से गमन नहीं होता, उनकी विपरीत गति की निवृत्ति के लिए मेरुप्रदक्षिणा विशेषण दिया हैं। **(रा.वा.१)**

२. प्रश्न : ज्योतिषी देवों की गति में कोई कारण नहीं हैं अत: 'नित्यगति' कहना अयुक्त है ?

उत्तर : नित्य गति कहना अयुक्त नहीं है क्योंकि गतिपरिणत आभियोग्य जाति के देवों के द्वारा इनके विमान ढोए जाते हैं। अत: वे नित्यगतिक हैं। इनका वर्णन पूर्व में किया है। **(रा.वा. ५)**

उनके कर्मफल की विचित्रता है। कर्मों का फल अनेक प्रकार से पकता है, इन देवों के ऐसे ही कर्म का उदय है जिससे इन्हें विमानों को वहन करके ही अपना कर्मफल भोगना पड़ता है, ऐसा मानना चाहिए। **(रा.वा. ६)**

३. प्रश्न : क्षण-क्षण में गति का परिवर्तन होता है अत: नित्यगति कैसे हो सकती है ?

उत्तर : ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि यहाँ अभीक्ष्ण की विवक्षा है। यद्यपि गति प्रतिक्षण भिन्न होने के कारण अनित्य है फिर भी सततगति की सूचना के लिए 'नित्य' पद दिया है। जैसे नित्य हँसता है, नित्य बोलता है, इसमें भी आभीक्ष्ण्य जाना जाता है, उसी प्रकार इनकी भी नित्य गति है, ये सदा चलते रहते हैं, रुकते नहीं हैं। **(रा.वा. २)**

अथवा - इसमें भी अनेकान्त है। जैसे-सभी पदार्थ द्रव्य दृष्टि से नित्य और पर्याय दृष्टि से अनित्य है वैसे ही गति भी द्रव्य दृष्टि से नित्य है अविरुद्ध अविच्छेद होने से (निरन्तर गमन करने की अपेक्षा सामान्य रूप से गति नित्य है, क्योंकि उसका विच्छेद नहीं होता और विशेष रूप से अनित्य है क्योंकि क्षण-क्षण परिवर्तन होता है) ऐसा अनेकान्त है। **(रा.वा. ३)**

४. प्रश्न : सूत्र में 'नृलोके' पद क्यों दिया है ?

उत्तर : सूत्र में 'नृलोके' पद देश की सूचना के लिए है। ढाई द्वीप जम्बूद्वीप, धातकी खण्ड और पुष्करार्ध और दो समुद्र (लवण समुद्र और कालोदधि समुद्र) में ज्योतिषी देव हैं, वे ही ज्योतिषी देव मेरु की प्रदक्षिणा देते हुए नित्य भ्रमण करते हैं, बाहर नहीं। इस क्षेत्र की अवधारणा के लिए 'नृलोके' पद दिया है। **(रा.वा. ४)**

५. प्रश्न : ढाई द्वीप में कितने ज्योतिषी देव हैं ?

उत्तर : जम्बूद्वीप में दो सूर्य और दो चन्द्रमा हैं, छप्पन नक्षत्र हैं, एक सौ छिहत्तर ग्रह और एक कोड़ाकोड़ी लाख, तैंतीस कोड़ाकाड़ी हजार, नौ कोड़ाकोड़ी सैकड़ा, पचास कोड़ाकोड़ी प्रमाण तारागण हैं। लवण समुद्र में चार सूर्य, चार चन्द्रमा, एक सौ बारह नक्षत्र, तीन सौ बावन ग्रह, दो कोड़ाकोड़ी लाख सड़सठ कोड़ाकोड़ी हजार नौ सौ कोड़ाकोड़ी तारागण हैं।

धातकी खण्ड में बारह सूर्य, बारह चन्द्रमा, तीन सौ छत्तीस नक्षत्र, एक हजार छप्पन ग्रह और आठ लाख कोड़ाकोड़ी सैंतीस सौ कोड़ाकोड़ी तारा हैं।

कालोदधि समुद्र में बयालीस सूर्य, बयालीस चन्द्रमा, एक हजार एक सौ सड़सठ नक्षत्र, तीन हजार छह सौ छ्यानवे ग्रह, अट्ठाईस कोड़ाकोड़ी लाख, बारह कोड़ाकोड़ी हजार, नौ कोड़ाकोड़ी सैकड़ा, पचास कोड़ाकोड़ी तारा हैं। पुष्करार्ध में बहत्तर सूर्य, बहत्तर चन्द्रमा, दो हजार सोलह नक्षत्र, छह हजार तीन सौ छत्तीस ग्रह और अड़तालीस कोड़ाकोड़ी लाख, बाईस कोड़ाकोड़ी हजार, दो कोड़ाकोड़ी सैकड़ा तारा हैं। **(रा.वा. ६)**

६. प्रश्न : एक चन्द्र के परिवार में कितने तारा आदि होते हैं ?

उत्तर : एक-एक चन्द्र के छासठ हजार कोड़ाकोड़ी, नौ सौ कोड़ाकोड़ी और पचहत्तर कोड़ाकोड़ी तारा, अठासी (८८) महाग्रह और अट्ठाईस नक्षत्र परिवार हैं और सूर्य के एक सौ चौरासी मण्डल हैं। **(रा.वा. ६)** एक-एक चन्द्र के छासठ हजार नौ सौ पचहत्तर कोड़ाकोड़ी तारागण होते हैं। **(ति.प. ७/३१)**

७. प्रश्न : अट्ठाईस नक्षत्र कौन-कौन से हैं ?

उत्तर : अट्ठाईस नक्षत्रों के नाम-

(१) कृतिका (२) रोहिणी (३) मृगशीर्षा (४) आर्द्रा (५) पुनर्वसु (६) पुष्य (७) आश्लेषा (८) मघा (९) पूर्वा फाल्गुनी (१०) उत्तरा फाल्गुनी (११) हस्त (१२) चित्रा (१३) स्वाति (१४) विशाखा (१५) अनुराधा (१६) ज्येष्ठा (१७) मूल (१८) पूर्वाषाढ़ा (१९) उत्तराषाढ़ा (२०) अभिजित् (२१) श्रवण (२२) धनिष्ठा (२३) शतभिषा (२४) पूर्वा भाद्रपद (२५) उत्तराभाद्रपद (२६) रेवती (२७) अश्विनी (२८) भरणी। **(ति.प. ७/२६-२८)**

८. प्रश्न : इन नक्षत्रों के आकार कैसे हैं ?

उत्तर : कृतिकादि नक्षत्रों के आकार-

(१) बीजना (२) गाड़ी की उद्धिका (३) हिरण का सिर (४) दीप (५) तोरण (६) आतपवारण (छत्र) (७) वल्मीक (८) गोमूत्र (९) सरयुग (१०) हस्त (११) उत्पल (१२) दीप (१३) अधिकरण (१४) हार (१५) वीणा (१६) सींग (१७) बिच्छू (१८) दुष्कृतवापी (१९) सिंह का सिर (२०) हाथी का सिर (२१) मुरज (२२) पतत्पक्षी (२३) सेना (२४) हाथी का पूर्व शरीर (२५) हाथी का अपर शरीर (२६) नौका (२७) घोड़े का सिर (२८) चूल्हा। **(ति.प. ७/४६७-६९)**

९. प्रश्न : इन नक्षत्रों के कितने-कितने तारागण हैं ?

उत्तर : कृतिकादि नक्षत्रों के ताराओं की संख्या-

छह, पाँच, तीन, एक, छह, तीन, छह, चार, दो, दो पाँच, एक, एक, चार, छह, तीन, नौ, चार, चार, तीन, तीन, पाँच, एक सौ ग्यारह, दो, दो, बत्तीस, पाँच और तीन हैं। **(ति.प. ७/४६५-६६)**

१०. प्रश्न : क्या सभी ज्योतिषी देव मेरु की प्रदक्षिणा करते हैं ?

उत्तर : जम्बूद्वीप में सब ज्योतिषी देवों के समूह मेरु की प्रदक्षिणा करते हैं तथा धातकी खण्ड और पुष्करार्ध द्वीप में आधे ज्योतिषी देव मेरु की प्रदक्षिणा करते हैं। **(ति.प. ७/६१६)**

११. प्रश्न : कैसे जाना जाता है कि ज्योतिषी देव प्रदक्षिणा करते हैं ?

उत्तर : पूर्व सूत्र में दिये गये **'ज्योतिष्काः'** पद की अनुवर्तिता से जाना जाता है कि ज्योतिषी देव मेरु की प्रदक्षिणा करते हैं। **(रा.वा. ६)**

१२. प्रश्न : ढाई द्वीप में कितने स्थिर-अस्थिर तारे हैं ?

उत्तर : जम्बूद्वीप में एक लाख तैंतीस हजार नौ सौ पचास (१,३३,९५०) कोड़ाकोड़ी अस्थिर एवं छत्तीस (३६) स्थिर तारे हैं। **(ति.प. ४९६-४९७)** लवण समुद्र में दो लाख सड़सठ हजार नौ सौ (२,६७,९००) कोड़ाकोड़ी अस्थिर एवं एक सौ उनचालीस स्थिर तारे हैं।

धातकी खण्ड में आठ लाख, तीन हजार सात सौ (८,०३,७००) कोड़ाकोड़ी अस्थिर एवं एक हजार दस (१०१०) स्थिर तारे हैं। कालोद समुद्र में अट्ठाईस लाख, बारह हजार, नौ सौ पचास (२८,१२,९५०) कोड़ाकोड़ी अस्थिर एवं इकतालीस हजार एक सौ बीस (४१,१२०) स्थिर तारे हैं।

पुष्करार्ध द्वीप में अड़तालीस लाख बाईस हजार दो सौ (४८,२२,२००) कोड़ाकोड़ी अस्थिर एवं त्रेपन हजार दो सौ तीस (५३,२३०) स्थिर तारा हैं।

इस प्रकार मनुष्य लोक में अठासी लाख चालीस हजार सात सौ कोड़ाकोड़ी अस्थिर एवं पचानवे हजार पाँच सौ पैंतीस स्थिर तारा हैं। **(ति.प. ७/६०४-६१४)**

नोट :- ज्योतिर्विमान के उदय-अस्त की व्यवस्था मानुषोत्तर पर्वत के इस ओर की है। आगे के समस्त विमान आकाश में स्थिर ही हैं, संचार नहीं करते। इसी आधार से उपर्युक्त उत्तर लिखा है। **(हरि.पु. ६/२३)**

ढाई द्वीप एवं दो समुद्रों के सूर्यादि का प्रमाण

नाम	सूर्य	चन्द्रमा	नक्षत्र	ग्रह	तारागण
जम्बूद्वीप	२	२	५६	१७६	१३३९५० कोड़ाकोड़ी
लवणसमुद्र	४	४	११२	३५२	२६७ ९०० कोड़ा कोड़ी
धातकी खण्ड	१२	१२	३३६	१०५६	८३७०० कोड़ाकोड़ी
कालोदधि समुद्र	४२	४२	११६७	३६९६	२८१२९५० कोड़ाकोड़ी
पुष्करार्धद्वीप	७२	७२	२०१६	६३३६	४८२२२०० कोड़ाकोड़ी

ज्योतिषी देवों के गमन से होने वाले कार्य -

तत्कृत: कालविभाग: ॥१४॥

(तत्कृत:) उन ज्योतिषी देवों की गतिद्वारा किया गया (कालविभाग:) काल का विभाग है।

अर्थ - ज्योतिषी देवों की गति से दिन-रात आदि रूप में काल का विभाग होता है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : गतिमान ज्योतिषियों के सम्बन्ध से होने वाले व्यवहार काल का प्रतिपादन करने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा.उ. १४)**

२. प्रश्न : सूत्र में 'तत्' शब्द किसलिए दिया है ?

उत्तर : गतिमान ज्योतिषी देवों के प्रति निर्देश करने के लिए सूत्र में 'तत्' शब्द दिया है। 'तत्' शब्द से ज्ञात होता हैं कि न तो केवल गति से काल का विभाग होता है और न केवल ज्योतिषी देवों से काल जाना जाता है क्योंकि गति की उपलब्धि नहीं है और ज्योतिषी देवों में परिवर्तन नहीं होता है। अर्थात् ज्योतिषियों की गति से काल विभाग होता है, ऐसा जानना चाहिए। **(रा.वा. १)**

३. प्रश्न : कुल कितने सूर्य और चन्द्रमा मेरु की प्रदक्षिणा करते हैं ?

उत्तर : जम्बूद्वीप के दो सूर्य+लवणसमुद्र के चार सूर्य+धातकी खण्ड के बारह सूर्य+कालोदधि समुद्र के बयालीस+आधे पुष्कर के बहत्तर, इस प्रकार २+४+१२+४२+७२=१३२ सूर्य और एक सौ बत्तीस चन्द्रमा मेरु की प्रदक्षिणा करते हैं। (अर्थात् ढाई द्वीप में १३२ सूर्य एवं १३२ चन्द्रमा देव प्रदक्षिणा करते हैं।) **(वृ.द्र.सं.टी. ३५)**

४. प्रश्न : ज्योतिषी देवों की गति से कौन से काल का विभाग होता है ?

उत्तर : ज्योतिषी देवों की गति से समयादि और आवलि आदि रूप व्यवहार काल का विभाग होता है। **(सर्वा. ४६९)**

५. प्रश्न : काल का विभाग तो कालद्रव्य के निमित्त से होता है, यहाँ ज्योतिषी देव के निमित्त से क्यों कहा ?

उत्तर : घड़ी, प्रहर, दिवसादि रूप स्थूल व्यवहार काल, समय, निमिषादि सूक्ष्म व्यवहार काल की भाँति यद्यपि समय, घड़ी आदि विवक्षित भेदों से रहित अनादि-अनन्त कालाणु द्रव्यमय निश्चयकालरूप उपादान से उत्पन्न होता है तो भी निमित्तभूत कुम्हार द्वारा उपादान रूपी मिट्टी के पिंड में से बने हुए घड़े की भाँति चन्द्र, सूर्य आदि ज्योतिषी देवों के विमानों के गमनागमन से वह व्यवहार काल प्रगट होता है तथा ज्ञात होता है, इस कारण उपचार से वह ज्योतिषी देवों से कृत है, ऐसा कहा जाता है। निश्चयकाल तो कुम्हार के चाक के भ्रमण में नीचे की कीली सहकारी होती है, उसी प्रकार विमानों के गमन रूप परिणाम का बहिरंग सहकारी कारण होता है। **(वृ.द्र.सं.टी. ३५)**

शेष ज्योतिषियों को कहते हैं -

बहिरवस्थिता: ॥१५॥

बहि: अवस्थिता:।

(बहि:) मनुष्य लोक के बाहर ज्योतिषी देव (अवस्थिता:) अवस्थित हैं।

अर्थ - मनुष्य लोक के बाहर ज्योतिषी देव अवस्थित हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : मनुष्य लोक के बाहर स्थित ज्योतिषी देव के अवस्थान का प्रतिपादन करने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा.उ. १५)**

२. प्रश्न : यह सूत्र अनर्थक है क्योंकि पूर्व सूत्र से ही सिद्ध है कि मनुष्य-लोक के बाहर ज्योतिषी देव अवस्थित हैं ?

उत्तर : ऐसी आशंका उचित नहीं है क्योंकि मनुष्यलोक के बाहर ज्योतिषी देव हैं और वे अवस्थित हैं। ये दोनों ही अप्रसिद्ध हैं अत: इन दोनों की सिद्धि के लिए **'बहिरवस्थिता:'** यह सूत्र कहा है। यदि यह सूत्र नहीं बनाया जाय तो पहले के **'नृलोके'** इस सूत्र से मनुष्य लोक में ही ज्योतिषी हैं और वे 'नित्यगति हैं' यह अर्थ जाना जाता है। **(रा.वा.१)**

३. प्रश्न : कितने सूत्रों में ज्योतिषी देवों का कथन किया गया है ?

उत्तर : बारहवें सूत्र **(ज्योतिष्का:)** से पन्द्रहवें **(बहिरवस्थिता:)** सूत्र तक ४ सूत्रों के द्वारा ज्योतिष्क देवों का वर्णन किया है। उसमें से बारहवें सूत्र में ज्योतिष्क देवों के भेदों का, तेरहवें एवं पन्द्रहवें

सूत्र में देवों के निवास, गति और स्थिति का वर्णन है। चौदहवें सूत्र में ज्योतिष्क देवों के द्वारा होने वाले काल के विभाग का वर्णन किया है। **(श्लो. ५/५९५)**

वैमानिक देव

चौथे निकाय का निरूपण करते हैं -

वैमानिकाः ॥१६॥

अर्थ - चौथे निकाय के देव वैमानिक हैं।

१. प्रश्न : इस सूत्र का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर : सूत्र में **'वैमानिकाः'** यह ग्रहण अधिकार के लिए है। यहाँ से आगे जो कहे जायेंगे उनमें वैमानिकों का ज्ञान कैसे होगा इसलिए यह अधिकार सूत्र कहा गया है।

२. प्रश्न : विमान किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो विशेषत: अपने में रहने वाले जीवों को पुण्यात्मा मानते हैं, वे विमान हैं। **(रा.वा.१)**

बलभि और कूट से युक्त प्रासाद विमान कहलाते हैं और जो विमान में रहते हैं उन्हें वैमानिक कहते हैं। **(ध. पु.१४/४९५)**

३. प्रश्न : विमान कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर : विमान तीन प्रकार के होते हैं -

(१) इन्द्रक (२) श्रेणीबद्ध (३) पुष्पप्रकीर्णक। **(सर्वा. ४७३)**

वे विमान दो प्रकार के हैं -

(१) एक विक्रिया से उत्पन्न हुए (२) स्वभाव से। **(ति.प. ८/४४५)**

४. प्रश्न : इन्द्रक आदि विमान किसे कहते हैं ?

उत्तर : इन्द्रक - इन्द्र के समान जो मध्य में अवस्थित विमान है, वह इन्द्रक विमान है।

श्रेणीबद्ध विमान - इस इन्द्रक विमान की चारों दिशाओं में आकाश-प्रदेशों की श्रेणी के समान क्रमबद्ध विमान हैं वे श्रेणीबद्ध विमान हैं।

प्रकीर्णक विमान - विदिशाओं में प्रकीर्णक (बिखरे हुए) पुष्प के समान अक्रमी पुष्प प्रकीर्णक विमान हैं। **(सर्वा. ४७३)**

विक्रिया से उत्पन्न - ये यान विमान विनश्वर हैं।

स्वभाव से उत्पन्न - ये परम यान-विमान नित्य व अविनश्वर होते हैं। **(ति.प. ८/४४६)**

५. प्रश्न : देवों के विमान कैसे होते हैं ?

उत्तर : देवों के विमानों की दीप्ति सूर्य के तेज से बढ़कर और कान्ति चन्द्रमा से भी बढ़कर है। उनके रंग मनमोहक हैं, दूर तक फैली हुई मणियों की प्रभा ही इन विमानों के उनके ऊपर फहरायी ध्वजाओं का कार्य करती है। जगमगाते रत्नों से परिपूर्ण तथा बीच-बीच में वैडूर्य मणियों से खचित सुन्दर स्वर्णमय कलशों, वज्र से निर्मित आसन युक्त तथा बृहत् स्फटिक मणि की शिला पर खड़े किये विशाल मृगाङ्क युक्त स्तम्भों से सदा सब ओर से घिरे रहते हैं विमानों की भित्तियों पर पृथक्-पृथक् आकार प्रकार के बनाये गये हाथी, घोड़ा आदि के चित्र, पक्षी, जलजन्तु-मकर आदि तथा लता-कुंज आदि की चित्रकारी उन्हें सदा सुशोभित करती है। विमानों के चारों ओर मूंगा, मोती, मणि और सोने की मालाएँ तथा जालियाँ लटकती हैं, उनमें लटके हुए घंटों के गम्भीर घोष के साथ छोटी घंटियों की टुन-टुन ध्वनि अति मनोहर होती है। चारों तरफ फैले रत्नों के गुच्छों से शोभा बढ़ी हुई है, चारों तरफ झालरें इन्द्रनील मणि की हैं। छत और चन्दोवे चाँदी के बने हैं, भित्तियाँ विशेष प्रकार के सोने की बनी हैं, धरातल महामूल्यवान रत्नों से जड़ा है, वे विमान स्वभाव से ही निर्मल और भासुर रहते हैं, उनकी चमक कभी नहीं घटती है, देखने में अमृत ही हैं, वे अकृत्रिम हैं, उनका उपमान खोजना कठिन है, ऐसे इन्द्रक विमान सदा स्वर्ग में सुशोभित हैं।

उनके द्वार जाम्बुनद सोने से नीचे से ऊपर तक बने हैं, किवाड़ वज्र के हैं, दरवाजे के आगे की तथा अन्य सीढ़ियाँ तपनीय स्वर्ण से बनी हैं। इस प्रकार प्रकाशमय पदार्थों से बने होने के कारण वहाँ अन्धकार भी नहीं ठहरता है। सूर्य, चन्द्र, शुक्रप्रभ मणि, अग्निप्रभ मणियों के कारण, विविध प्रकार की उत्तमोत्तम सुगन्धित धूप आदि पदार्थों की वास से, विविध वर्ण, आकार एवं गन्धयुक्त पुष्पों से तथा विविध प्रकार की पूजन सामग्री से ऐसे सुशोभित हैं जिनकी उपमा नहीं है। **(व.चा. ९/१५-२३)**

वैमानिक देवों के भेद -

कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च ॥१७॥

कल्प-उपपन्नाः-कल्प-अतीताः च।

अर्थ - वैमानिक देव दो प्रकार के हैं- (१) कल्पोपपन्न (२) कल्पातीत।[१]

कल्पोपपन्न - जो कल्पों में उत्पन्न होते हैं वे कल्पोपपन्न हैं।

कल्पातीत - जो कल्पों के परे हैं वे कल्पातीत कहलाते हैं।

१. प्रश्न : कल्पोपपन्न देव किसे कहते हैं ?

उत्तर : इन्द्र आदि दस प्रकार की कल्पनाएँ जिनमें पाई जायें, वे कल्पोपपन्न देव हैं। **(रा.वा.१)**

---

१. 'च' शब्द से ग्रहण कर सकते हैं कि ढाई द्वीप के बाहर भी कल्पोपपन्न देव रहते हैं।

सौधर्म से अच्युत स्वर्ग पर्यन्त स्वर्गों में रहने वाले वैमानिक देव कल्पवासी कहलाते हैं। मिथ्यात्व से मलिन बालतप करने वाले तापसियों के अतिरिक्त अकामनिर्जरा से युक्त बन्धनबद्ध तिर्यञ्च भी ऐसे देव होते हैं। **(म.पु.)**

२. प्रश्न : कल्पों की संख्या कितनी है ?

उत्तर : कोई आचार्य कल्पों की संख्या बारह और कोई सोलह बतलाते हैं।

जो बारह कल्प स्वीकार करते हैं उनके मतानुसार अधोभाग, मध्यभाग और उपरिम भाग में से प्रत्येक में चार-चार कल्प हैं। इस प्रकार बारह कल्प होते हैं। सोलह कल्पों की मान्यतानुसार ऊपर-ऊपर आठ युगलों में सोलह कल्प हैं।

(१) सौधर्म (२) ईशान (३) सानत्कुमार (४) माहेन्द्र (५) ब्रह्म (६) लान्तव (७) महाशुक्र (८) सहस्रार (९) आनत (१०) प्राणत (११) आरण (१२) अच्युत। ये बारह कल्प हैं। **(ति.प. ८/११५-२२)** **नोट** - सोलह कल्पों के नाम आगे सूत्र में कहेंगे।

३. प्रश्न : कल्पातीत देव किसे कहते हैं ?

उत्तर : जहाँ पर इन्द्र आदि की कल्पना नहीं है, सभी अहमिन्द्र हों, वे कल्पातीत हैं। **(रा.वा.१)**

नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश तथा पाँच अनुत्तर विमानवासी देव कल्पातीत हैं। ये अहमिन्द्र होते हैं। संसार के सर्वाधिक सुखों को पाकर भी विरागी होते हैं। **(म.पु. ५७/१६)**

४. प्रश्न : कल्पातीतों की संख्या कितनी है ?

उत्तर : ग्रैवेयक, अनुदिश और अनुत्तर इस प्रकार कल्पातीत पटल तीन प्रकार के हैं, इनमें से ग्रैवेयक पटल नौ प्रकार के हैं-

(१) अधस्तन-अधस्तन (२) अधस्तन-मध्यम (३) अधस्तन उपरिम (४) मध्यम अधस्तन (५) मध्यम-मध्यम (६) मध्यम-उपरिम (७) उपरिम अधस्तन (८) उपरिम मध्यम (९) उपरिम-उपरिम ये नौ ग्रैवेयक विमान हैं। **(ति.प. ८/११७-२२)**

५. प्रश्न : अहमिन्द्रों की क्या-क्या विशेषताएँ हैं ?

उत्तर : ये देव 'मैं ही इन्द्र हूँ' ऐसा मानने वाले हैं और असूया, परनिन्दा, आत्मश्लाघा (आत्म प्रशंसा), मत्सर से दूर रहते हुए केवल सुखमय जीवन बिताते हैं। ये महाद्युतिमान्, समचतुरस्र संस्थान, विक्रिया ऋद्धिधारी, अवधिज्ञानी, निष्प्रविचारी एवं शुभ लेश्याओं वाले होते हैं। ये हंस के समान श्वेत शरीर को धारण करते हैं, एक हाथ ऊँचे होते हैं। ये केवल सुखमय होकर हर्ष-युक्त होते हुए निरन्तर क्रीड़ा करते रहते हैं। **(म.पु. ११/१४३-१४७)**

६. प्रश्न : नव ग्रैवेयकादि के देवों को अहमिन्द्र क्यों कहते हैं ?

उत्तर : 'मैं ही इन्द्र हूँ, मेरे सिवाय कोई इन्द्र नहीं है' इस प्रकार वे निरन्तर अपनी प्रशंसा करते रहते हैं और इसलिए वे उत्तम देव अहमिन्द्र नाम से प्रसिद्धि को प्राप्त होते हैं। **(म.पु. ११/१४३)**

७. प्रश्न : ग्रैवेयकादि में भी 'नव आदि' की कल्पना है अत: उन्हें भी कल्पोपपन्न कहना चाहिए ?

उत्तर : नव ग्रैवेयक आदि को कल्पोपपन्न नहीं कहना चाहिए क्योंकि पूर्व में कह चुके हैं कि जहाँ इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश आदि दस प्रकार की कल्पना है वह कल्पोपपन्न है। यद्यपि नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश, पञ्चानुत्तर आदि में नव आदि संख्याकृत कल्पना है परन्तु वहाँ पर सभी अहमिन्द्र होने से इन्द्र आदि कल्पना उनमें नहीं है इसलिए वे कल्पातीत कहलाते हैं। क्योंकि कल्पातीत व्यवहार में इन्द्र आदि दस प्रकार की कल्पना ही मुख्य रूप से विवक्षित है। **(रा.वा. १)**

वैमानिक देव के अवस्थान विशेष को कहते हैं -

उपर्युपरि ॥१८॥

उपरि-उपरि।

अर्थ - वे सब विमान ऊपर-ऊपर हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है?

उत्तर : ये कल्पोपपन्न और कल्पातीत वैमानिक तिरछे रूप से रहते हैं, इसका निषेध करने के लिए यह सूत्र कहा गया है। ये ज्योतिषियों के समान तिरछे रूप में नहीं रहते हैं, उसी प्रकार व्यन्तरों के समान विषम रूप से नहीं रहते हैं किन्तु ऊपर-ऊपर हैं। **(सर्वा. ४७७)**

२. प्रश्न : सूत्र में 'उपरि-उपरि' द्वित्व क्यों किया है ?

उत्तर : सामीप्य में 'अधोऽध:' और 'उपर्युपरि' होता है। ऐसा व्याकरण का नियम है इसलिए समीप अर्थ में द्वित्व हुआ है। यद्यपि इनमें परस्पर असंख्यात योजनों का व्यवधान है फिर भी दो स्वर्गों के बीच में किसी स्वजातीय स्वर्ग का व्यवधान नहीं है अत: समीपता मानकर द्वित्व कर दिया गया है। **(रा.वा. १)**

३. प्रश्न : स्वर्ग में देवों के परिवार, ऋद्धि आदि से सुख होता है परन्तु अहमिन्द्रों के वह सामग्री नहीं है अत: उनको सुख कहाँ से प्राप्त होता है ?

उत्तर : अहमिन्द्रों को सुख कहाँ से प्राप्त होता है ? इसके समाधान में हम दो प्रश्न उपस्थित करते हैं-

(१) क्या परिवार आदि की सत्ता मात्र से सुख होता है ?

(२) सामग्री के उपभोग करने से सुख होता है ?

(१) यदि सामग्री की सत्ता मात्र से सुख इष्ट है तो उस राजा को भी सुख होना चाहिए जिसे ज्वर चढ़ा हुआ है और अन्त:पुर की स्त्रियाँ, धन, ऋद्धि और प्रतापी परिवार आदि सामग्री उसके पास विद्यमान हैं। (लेकिन वह सुखी नहीं होता)

(२) यदि सामग्री के उपभोग से सुख कहते हो तो उसका उत्तर ऊपर दिया जा चुका है कि परिवार आदि सामग्री का उपभोग करने वाला पुरुष अत्यन्त श्रम और क्लम को प्राप्त होता हैं अत: ऐसा पुरुष सुखी कैसे हो सकता है? **(म.पु. ११/१८७-९०)**

४. प्रश्न : अहमिन्द्रों के स्त्री-समागम नहीं होने से सुख कैसे हो सकता है क्योंकि लोक में स्त्री-समागम से ही सुख की प्राप्ति होती है ?

उत्तर : जिस प्रकार चित्त में मोह उत्पन्न करने से, शरीर में शिथिलता लाने से, तृष्णा को बढ़ाने से और संताप रूप होने से ज्वर सुखरूप नहीं होता उसी प्रकार चित्त में मोह, शरीर में शिथिलता, लालसा और संताप बढ़ाने का कारण होने से स्त्रीसंभोग भी सुख रूप नहीं हो सकता है। जिस प्रकार कोई रोगी पुरुष कडुवी दवाई भी सेवन करता है उसी प्रकार काम से सन्तप्त यह प्राणी भी उसे (काम को) शांत करने की इच्छा से स्त्री रूप औषध का सेवन करता है। क्या ऐसा मनुष्य भी कभी औषधि सेवन करता हैं जो रोग रहित है और स्वास्थ्य को प्राप्त हैं। अर्थात् अहमिन्द्रों को कामेच्छा नहीं होने से स्त्री-संभोग नहीं करते हुए भी सुख होता है। **(म.पु. ११/१६५-७०)**

नोट - इसके विषय में विशेष महापुराण सर्ग ११ देखें।

वैमानिक देवों के निवास-स्थान -

सौधर्मैशानसानत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मब्रह्मोत्तर लान्तवकापिष्ठशुक्रमहाशुक्रशतारसहस्रारेष्वानतप्राणतयोरारणाऽच्युतयोर्नवसु ग्रैवेयकेषु विजय वैजयन्त जयन्तापराजितेषु सर्वार्थसिद्धौ च ॥१९॥

सौधर्म-ऐशान-सानत्कुमार-माहेन्द्र-ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर-लान्तव-कापिष्ठ-शुक्र-महाशुक्र-शतार-सहस्रारेषु-आनत-प्राणतयो:-आरण-अच्युतयो:-नवसु-ग्रैवेयकेषु-विजय-वैजयन्त-जयन्त-अपराजितेषु-सर्वार्थसिद्धौ च।

(सौधर्मैशान-सानत्कुमार-माहेन्द्र-ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर-लान्तव-कापिष्ठ-शुक्र-महाशुक्र-शतारसहस्रारेषु) सौधर्म, ऐशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर, लान्तव, कापिष्ठ, शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्रार में (आनतप्राणतयो:) आनत प्राणत में (आरणाच्युतयो:) आरण अच्युत स्वर्ग में (नवसु ग्रैवेयकेषु) नव

ग्रैवेयकों एवं अनुदिश में (विजय-वैजयन्त-जयन्त-अपराजितेषु) विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित स्वर्ग में (सर्वार्थसिद्धौ च) और सर्वार्थसिद्धि में वैमानिक देव रहते हैं।

अर्थ - सौधर्म-ऐशान, सानत्कुमार-माहेन्द्र, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर, लान्तव-कापिष्ठ, शुक्र-महाशुक्र, शतार-सहस्रार, आनत-प्राणत, आरण-अच्युत में तथा नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश,विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि में वैमानिक देव रहते हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया हैं ?

उत्तर : यदि कल्पातीतों में विमानों का सम्बन्ध लगाया जाता हैं तो कितने कल्पविमानों में देव रहते हैं? ऐसा प्रश्न होने पर यह उत्तर सूत्र कहा गया है। **(रा.वा. १९ उत्था.)**

२. प्रश्न : वैमानिक देव कहाँ-कहाँ रहते हैं ?

उत्तर : वैमानिक देव सौधर्म-ऐशान, सानत्कुमार-माहेन्द्र, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर, लान्तव-कापिष्ठ, शुक्र-महाशुक्र, शतार-सहस्रार, आनत-प्राणत, आरण-अच्युत, नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश तथा पंच अनुत्तरों में रहते हैं। **(त.सू. ४/१९)**

३. प्रश्न : ये सौधर्म आदि स्वर्ग किस प्रकार स्थित हैं ?

उत्तर : पूर्व सूत्र कथित **'उपर्युपरि'** सूत्र के साथ दो-दो स्वर्गों का सम्बन्ध है। सूत्रों की व्यवस्था या अर्थ आगम की अपेक्षा से होता है इसलिए 'उपरि-उपरि' इसशब्द से दो स्वर्गों का सम्बन्ध लगाना चाहिए। **(रा.वा. ६)**

४. प्रश्न : ऊपर-ऊपर कौन-कौन से स्वर्ग हैं ?

उत्तर : सर्व प्रथम सौधर्म-ऐशान स्वर्ग हैं, उन दोनों के ऊपर सानत्कुमार-माहेन्द्र हैं, उन दोनों के ऊपर ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर स्वर्ग हैं, उन दोनों के ऊपर लान्तव-कापिष्ठ हैं, उन दोनों के ऊपर शुक्र-महाशुक्र हैं, उन दोनों के ऊपर शतार-सहस्रार हैं उन दोनों के ऊपर आनत-प्राणत हैं। उन दोनों के ऊपर आरण-अच्युत स्वर्ग हैं। **(रा.वा. ६)**

उनके ऊपर ग्रैवेयक, उनके ऊपर नव अनुदिश, उनके ऊपर पंच अनुत्तर विमान हैं।

५. प्रश्न : सौधर्मादि स्वर्ग कहाँ स्थित हैं ?

उत्तर : कनकाद्रि (मेरु) पर्वत की चूलिका के ऊपर कुछ कम डेढ़ राजू के बाहल्य में रमणीय सौधर्म-ऐशान नामक कल्पयुगल हैं। **(ति.प. ८/१२९)**

सौधर्म-ऐशान सम्बन्धी अन्तिम इन्द्रक के ध्वजदण्ड के शिखर से ऊपर असंख्यात करोड़ योजनों से रहित डेढ़ राजू में सानत्कुमार-माहेन्द्र नामक कल्पयुगल स्थित हैं।

सानत्कुमार-माहेन्द्र के इन्द्रक सम्बन्धी ध्वजदण्ड के ऊपर कुछ कम अर्ध राजू में ब्रह्म (ब्रह्मोत्तर) नामक कल्प स्थित हैं।

ब्रह्म स्वर्ग से ऊपर आधे-आधे राजू में लान्तव-कापिष्ठ, शुक्र-महाशुक्र, शतार-सहस्रार, आनत-प्राणत, आरण-अच्युत कल्पों में से प्रत्येक कल्प है।

इसके (आरण-अच्युत के) ऊपर कुछ कम एक राजू में शेष ग्यारह कल्पातीत पटल हैं।

इसमें प्रथम के अन्तर से ऊपर का अन्तर अधिक है। **(ति.प. ८/१३१-३५)**

६. प्रश्न : कुछ कम का प्रमाण कितना है ?

उत्तर : सौधर्म-ऐशान कल्प में १ $\frac{१}{२}$ राजू में से कुछ कम का प्रमाण उत्तर कुरु के मनुष्य के बालाग्र से अधिक एक लाख चालीस (१०००४०) योजन है। सानत्कुमार-माहेन्द्र कल्प में १ $\frac{१}{२}$ राजू में से कम का प्रमाण-असंख्यात करोड़ योजन हैं।

ब्रह्म स्वर्ग में $\frac{१}{२}$ राजू में से कम का प्रमाण असंख्यात योजन है। **(ति.प. ८/१३०-३५)**

७. प्रश्न : इन स्वर्गों का नाम सौधर्मादि क्यों है ?

उत्तर : इनकी सौधर्म आदि संज्ञायें साहचर्य से 'अण्' प्रत्यय से है। [१]वह इसमें रहता है, [२]उससे निवृत्त है, [३]उसका निवास है, [४]वह उसके निकट है - इन चारों में 'अण्' प्रत्यय होता है तथा स्वभाव से भी है। व्याकरण की दृष्टि से साहचर्य में 'अण्' होता है, जैसे सिन्धुदेश के साहचर्य से वहाँ का मानव सैन्धव कहलाता है, उसी प्रकार यहाँ भी साहचर्य से स्वर्गों के ये नाम समझने चाहिए। अथवा- अनादि-कालीन स्वाभाविक नाम समझने चाहिए। **(रा.वा. १-२)**

८. प्रश्न : इन सौधर्म आदि स्वर्गों के इन्द्र कौन-कौन से हैं ?

उत्तर : प्रत्येक स्वर्ग में एक-एक इन्द्र का सम्बन्ध है, मध्य में दो-दो स्वर्गों में एक-एक इन्द्र है।

जैसे - सौधर्म-ऐशान कल्प में दो इन्द्र हैं- सौधर्म, ऐशान।

सानत्कुमार-माहेन्द्र कल्प में दो इन्द्र हैं- सानत्कुमार-माहेन्द्र।

ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर स्वर्ग का एक इन्द्र है - ब्रह्म।

लान्तव-कापिष्ठ स्वर्ग का एक इन्द्र है - लान्तव।

शुक्र-महाशुक्र स्वर्ग का एक इन्द्र है - शुक्र।

शतार-सहस्रार स्वर्ग का एक इन्द्र है - शतार।

आनत-प्राणत स्वर्ग में दो इन्द्र हैं - आनत-प्राणत।

आरण-अच्युत स्वर्ग में दो इन्द्र हैं - आरण-अच्युत। **(रा.वा. ७)**

इस प्रकार २+२+१+१+१+१+२+२ = १२ इन्द्र हैं।

९. प्रश्न : इन स्वर्गों में कितने प्रस्तार (पटल) हैं ?

उत्तर : इन स्वर्गों में त्रेसठ प्रस्तार हैं-

सौधर्म-ऐशान स्वर्ग में - ३१

सानत्कुमार-माहेन्द्र स्वर्ग में - ७

ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर स्वर्ग में - ४

लान्तव-कापिष्ठ स्वर्ग में - २

शुक्र-महाशुक्र स्वर्ग में - १

शतार-सहस्रार स्वर्ग में - १

आनत-प्राणत और
आरण-अच्युत स्वर्ग में - ६

अधो ग्रैवेयकों में - ३

मध्यम ग्रैवेयकों में - ३

उपरिम ग्रैवेयकों में - ३

नव अनुदिश में - १

पाँच अनुत्तरों में - १

इस प्रकार ३१+७+४+२+१+१+६+३+३+३+१+१ = ६३ पटल हैं। **(ति.प. ८/१५९)**

१०. प्रश्न : सौधर्म-ऐशान कल्प में इकतीस पटल कौनसे हैं ?

उत्तर : सौधर्म-ऐशान कल्प के पटल-

(१) ऋतु (२) विमल (३) चन्द्र (४) वल्गु (५) वीर (६) अरुण (७) नन्दन (८) नलिन (९) लोहित (रोहित) (१०) काञ्चन (११) वंचत् (चंचत्) (१२) मारुत (१३) ऋद्धीश (१४) वैडूर्य (१५) रुचक (१६) रुचिर (१७) अङ्क (१८) स्फटिक (१९) तपनीय (२०) मेघ (२१) हारिद्र (२२) पद्म (२३) लोहिताक्ष (२४) वज्र (२५) नन्द्यावर्त्त (२६) प्रभङ्कर (२७) पिष्टक (पृष्ठक) (२८) गज (२९) मस्तक (३०) चित्र (मित्र) (३१) प्रभा (प्रभ)। **(रा.वा. ८)**

११. प्रश्न : सानत्कुमारादि कल्पों में कौन-कौन से प्रस्तार (इन्द्रक) हैं ?

उत्तर : सानत्कुमार-माहेन्द्र के सात इन्द्रक -

(१) अञ्जन (२) वनमाल (३) नाग (४) गरुड़ (५) लांगल (६) बलभद्र (७) चक्र।

ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर स्वर्ग के चार प्रस्तार (इन्द्रक) -

(१) अरिष्ट (२) सुरसमिति (३) ब्रह्म (४) ब्रह्मोत्तर।

लान्तव-कापिष्ठ के दो प्रस्तार -

(१) ब्रह्म हृदय (२) लान्तव।

शुक्र- महाशुक्र का एक प्रस्तार - महाशुक्र।

शतार-सहस्रार का एक प्रस्तार - सहस्रार।

आनतादि चार स्वर्गों के छह प्रस्तार -

(१) आनत (२) प्राणत (३) पुष्पक (४) शांतकर (५) आरण (५) अच्युत। अधो ग्रैवेयक के तीन प्रस्तार - (१) सुदर्शन (२) अमोघ (३) सुप्रबुद्ध। मध्यम ग्रैवेयक के तीन प्रस्तार - (१) यशोधर (२) सुभद्र (३) सुविशाल। उपरिम ग्रैवेयक के तीन प्रस्तार (१) सुमनस (२) सौमनस (३) प्रीतिङ्कर। नव अनुदिश का एक प्रस्तार - आदित्य।

पाँच अनुत्तर का एक प्रस्तार - सर्वार्थसिद्धि। **(ति.प. ८/१२-१७)**

१२. प्रश्न : पटल कितने प्रकार के हैं ?

उत्तर : स्वर्गों में पटल दो प्रकार के हैं-

(१) कल्प (२) कल्पातीत।

उपर्युक्त पटलों में से बावन कल्प-पटल हैं और ग्यारह कल्पातीत (५२+११=६३) पटल हैं। **(ति.प. ८/११४)**

१३. प्रश्न : सौधर्मादि स्वर्गों में कितने-कितने विमान हैं ?

उत्तर : सौधर्म कल्प में बत्तीस लाख, ईशान कल्प में अट्ठाईस लाख, सानत्कुमार कल्प में बारह लाख, माहेन्द्र कल्प में आठ लाख, ब्रह्म कल्प में चार लाख, लान्तव (कापिष्ठ) में पचास हजार, महाशुक्र कल्प में चालीस हजार, सहस्रार कल्प में छह हजार, आनत-प्राणत, आरण-अच्युत इन चारों में मिलकर सात सौ विमान हैं।

अधस्तन तीन ग्रैवेयकों में एक सौ ग्यारह (१११), मध्यम तीन में एक सौ सात (१०७) और उपरिम तीन ग्रैवेयकों में इक्यानवे (९१) विमान हैं। नव अनुदिश में नव (९) और अनुत्तरों में पाँच (५) विमान हैं। इस प्रकार ३२ लाख + २८ लाख + १२ लाख + आठ लाख + ४ लाख + ५० हजार +

४० हजार + ६ हजार + ७०० = ८४९७०२३ विमान हैं एवं इतने ही जिनालय हैं। **(ति.प. ८/१४९-५४)**

१४. प्रश्न : ज्योतिषी देव, विद्याधर आदि भी सदैव विमानों में रहते हैं क्या वे भी वैमानिक हैं ?

उत्तर : नहीं, वैमानिक नाम कर्म की उत्तरोत्तर प्रकृति हो रहे वैमानिक संज्ञक नाम कर्म के उदय रहते हुए जो जीव विमानों में वर्तमान में हैं, वे वैमानिक हैं, ऐसे विशेषण युक्त वचन से पूर्वोक्त दोष का निवारण हो जाता है। **(श्लो. ५/५९६)**

१५. प्रश्न : सौधर्मादि कल्पों में कितने इन्द्रक, श्रेणीबद्ध एवं प्रकीर्णक विमान हैं ?

उत्तर : सौधर्म कल्प में इकतीस इन्द्रक, चार हजार तीन सौ इकोतर (४३७१) श्रेणीबद्ध तथा इकतीस लाख, पंचानवे हजार पाँच सौ अठानवें (३१,९५,५९८) प्रकीर्णक विमान हैं।

ऐशान कल्प में इन्द्रक नहीं है, एक हजार चार सौ सत्तावन (१४५७) श्रेणीबद्ध तथा सत्ताईस लाख अठानवे हजार पाँच सौ तैंतालीस (२७,९८,५४३) प्रकीर्णक विमान हैं।

सानत्कुमार स्वर्ग में सात इन्द्रक, पाँच सौ अठासी (५८८) श्रेणीबद्ध तथा ग्यारह लाख निनानवे हजार चार सौ पाँच (११९९४०५) प्रकीर्णक विमान हैं। माहेन्द्र स्वर्ग में इन्द्रक नहीं है, एक सौ छ्यानवे श्रेणीबद्ध तथा सात लाख निनानवे हजार आठ सौ चार (७९९८०४) प्रकीर्णक विमान हैं। ब्रह्म कल्प में चार इन्द्रक, तीन सौ साठ श्रेणीबद्ध तथा तीन लाख निनानवे हजार छह सौ छत्तीस प्रकीर्णक विमान हैं।

लान्तव कल्प में दो इन्द्रक, एक सौ छप्पन श्रेणीबद्ध, उनचास हजार आठ सौ बयालीस (४९८४२) प्रकीर्णक विमान हैं।

महाशुक्र कल्प में एक इन्द्रक, बहत्तर श्रेणीबद्ध, उनचालीस हजार नौ सौ सत्ताईस (३९९२७) प्रकीर्णक विमान हैं।

सहस्रार कल्प में एक इन्द्रक, अड़सठ श्रेणीबद्ध और पाँच हजार नौ सौ इकतीस (५९३१) प्रकीर्णक विमान हैं।

आनतादि चार कल्पों में छह इन्द्रक, तीन सौ चौबीस श्रेणीबद्ध और तीन सौ सत्तर (३७०) प्रकीर्णक विमान हैं।

अधोग्रैवेयक में तीन इन्द्रक, एक सौ आठ श्रेणीबद्ध तथा प्रकीर्णक विमान नहीं हैं।

मध्यम ग्रैवेयक में तीन इन्द्रक, बहत्तर श्रेणीबद्ध तथा बत्तीस प्रकीर्णक विमान हैं।

उपरिम ग्रैवेयक में तीन इन्द्रक, छत्तीस श्रेणीबद्ध तथा बावन प्रकीर्णक विमान हैं।

अनुदिश में एक इन्द्रक, चार श्रेणीबद्ध तथा चार प्रकीर्णक विमान हैं।

अनुत्तरों में एक इन्द्रक, चार श्रेणीबद्ध तथा प्रकीर्णक विमान नहीं है। **(ति.प. ८/१६१-७७)**

स्वर्ग में विमानों की संख्या, वर्ण एवं आधार (अवस्थान)

क्र. सं.	कल्प नाम	सर्व विमान संख्या	इन्द्रक	श्रेणीबद्ध	प्रकीर्णक	वर्ण	आधार
१.	सौधर्म कल्प	३२ लाख	३१	४३७१	३१९५५९८	पंच वर्ण	घनवात वलय
२.	ऐशान कल्प	२८ लाख	-	१४५७	२७९८५४३	,,	,,
३.	सानत्कुमार कल्प	१२ लाख	७	५८८	११९९४०५	कृष्ण रहित ४	केवल पवन
४.	माहेन्द्र कल्प	८ लाख	-	१९६	७९९८०४	,,	,,
५.	ब्रह्म कल्प	४ लाख	४	३६०	३९९६३६	कृष्ण नील रहित तीन	जल व वायु दोनों
६.	लान्तव कल्प	५० हजार	२	१५६	४९८४२	,,	,,
७.	महाशुक्र कल्प	४० हजार	१	७२	३९९२७	श्वेत व हरित वर्ण	,,
८.	सहस्रार कल्प	६ हजार	१	६८	५९३१	,,	,,
९.	आनतादि चार	७००	६	३२४	३७०	श्वेत	शुद्ध आकाश
१०.	अधो ग्रैवेयक	१११	३	१०८	×	,,	,,
११.	मध्यम ग्रैवेयक	१०७	३	७२	३२	,,	,,
१२.	उपरिम ग्रैवेयक	९१	३	३६	५२	,,	,,
१३.	अनुदिश	९	१	४	४	,,	,,
१४.	अनुत्तर	५	१	४	×	,,	,,

१६. प्रश्न : ये विमान किस आधार पर स्थित हैं ?

उत्तर : सौधर्म युगल के विमान घन स्वरूप जल के ऊपर, सानत्कुमार-माहेन्द्र कल्प के विमान पवन के ऊपर स्थित हैं, ब्रह्मादिक चार कल्पों के विमान जल एवं वायु दोनों के ऊपर तथा आनतादि से लेकर अनुत्तर पर्यन्त के सभी विमान शुद्ध आकाश तल में स्थित हैं। **(ति.प. ८/२०६-७)**

सौधर्म-ऐशान स्वर्ग के विमान घनोदधि के आधार हैं। सानत्कुमार-माहेन्द्र के विमान घनवातवलय के आधार हैं। आगे के आठ कल्प अर्थात् सहस्रार तक के विमान घनोदधि और घनवात दोनों के आधार हैं और शेष विमान आकाश के आधार हैं। **(हरि.पु. ६/१००)**

१७. प्रश्न : वे विमान किन वर्णों वाले हैं ?

उत्तर : सौधर्म-ऐशान स्वर्ग के विमान कृष्ण, नील, रक्त, पीत और शुक्ल इन पाँच वर्णों के हैं। सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग के विमान कृष्ण वर्ण के बिना चार वर्ण (नील, रक्त, पीत, शुक्ल) के हैं।

ब्रह्मादि चार स्वर्गों में कृष्ण और नील के बिना तीन (रक्त, पीत, शुक्ल) वर्ण वाले हैं।

शुक्रादि आठ स्वर्गों के विमान पीत एवं शुक्ल वर्ण के हैं।

नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश और चार अनुत्तरों के विमान केवल श्वेत वर्ण वाले हैं।

सर्वार्थसिद्धि का विमान परम शुक्ल वर्ण का हैं। **(रा.वा.८)**

शुक्रादि चार विमान पीले और सफेद रंग के हैं।

आनतादि समस्त स्वर्ग, ग्रैवेयक, अनुदिश तथा अनुत्तर विमानों के भवन मात्र सफेद वर्ण के हैं।

वैमानिक देवों के ये भवन जगमगाती हुई प्रभा से युक्त हैं। कुछ विमानों का रंग नूतन निकले दूब के समान हरा **(हरि.पु. ६/९८-९९)** है, दूसरे कुछ विमानों की छटा तोते के पंखों के सदृश है, अन्य विमानों की प्रभा शिरीष के पुष्पों के तुल्य है। दूसरे विमानों की कान्ति इन्द्रधनुष के समान अनेक रंग की है, शेष अनेक विमानों की छटा भी अद्भुत है, कुछ विमानों के रंग मोर और कबूतर के गले के समान है, कुछ शंख के समान श्वेत हैं, दूसरे मूंगे के तुल्य लाल हैं, कुछ जातिपुष्प और दुग्ध के समान धवल हैं, कितनों का रंग अंजन जैसा है, कितने ही नीले, लाल तथा श्वेत कमलों के रंग से भूषित हैं तथा अन्य कितनों का ही हरिताल सदृश रंग है। **(व.चा. ९/१३-१४)**

१८. प्रश्न : इन विमानों का विस्तार कितना है ?

उत्तर : स्वर्गों के सभी इन्द्रक विमान संख्यात योजन वाले हैं। श्रेणीबद्ध विमानों की राशि में से पाँचवें भाग प्रमाण विमान संख्यात योजन विस्तार वाले हैं। अपने-अपने संख्यात योजन विस्तार वाले विमानों की राशि से कम अपनी-अपनी राशि प्रमाण विमान असंख्यात योजन वाले हैं। जैसे - सौधर्म स्वर्ग में बत्तीस लाख विमान हैं, उनमें से पाँचवें भाग प्रमाण (३२००००० / ५) = छह लाख चालीस हजार विमान संख्यात योजन विस्तार वाले और शेष ३२००००० - ६४०००० = पच्चीस लाख, साठ हजार विमान असंख्यात योजन विस्तार वाले हैं, इसी प्रकार सभी स्वर्गों में जानना चाहिए। **(ति.प. ८/१८६,१८७)**

१९. प्रश्न : इन विमानों का अवस्थान कहाँ है ?

उत्तर : सौधर्म स्वर्ग के ऋतुप्रभ (प्रथम) विमान से लेकर इकतीसवें सोमक नाम के श्रेणीबद्ध तक के विमान स्वयंभूरमण समुद्र के ऊपर हैं। तिमिस्रा से सागर पर्यन्त पन्द्रह विमान-स्वयंभूरमण द्वीप के ऊपर स्थित हैं।

उदित से लेकर लोककान्त तक के आठ विमान - अहीन्द्रवर समुद्र के ऊपर स्थित हैं।

सरय से रोहितक पर्यन्त चार विमान - अहीन्द्रवर द्वीप के ऊपर स्थित हैं।

अमितभास और सिद्धान्त ये दो विमान - देववर समुद्र के ऊपर स्थित हैं।

कुण्डल नामक एक विमान देववर द्वीप के ऊपर है।

सौम्य नामक (६२ वाँ) एक विमान - यक्षवर समुद्र के ऊपर स्थित है।

विमल इन्द्रक से मित्र इन्द्रक पर्यन्त के उनतीस इन्द्रक विमानों सम्बन्धी सर्व श्रेणीबद्ध विमान - क्रमशः यक्षवर द्वीप, भूतवर समुद्र, भूतवर द्वीप, नागवर समुद्र, नागवर द्वीप और वैडूर्यवर समुद्र के ऊपर स्थित हैं।

प्रभ इन्द्रक से सहस्रार इन्द्रक पर्यन्त के सोलह इन्द्रक विमानों सम्बन्धी सर्व श्रेणीबद्ध विमान - वैडूर्यवर द्वीप, वज्रवर समुद्र, वज्रवर द्वीप, काञ्चनवर समुद्र और काञ्चनवर द्वीप के ऊपर स्थित हैं।

आनत इन्द्रक से अमोघ इन्द्रक पर्यन्त के आठ इन्द्रक विमानों सम्बन्धी सर्व श्रेणीबद्ध विमान - रूप्यवर समुद्र, रूप्यवर द्वीप, हिंगुलवर समुद्र और हिंगुलवर द्वीप के ऊपर स्थित हैं। सुप्रबुद्ध इन्द्रक से सुविशाल इन्द्रक पर्यन्त चार इन्द्रक सम्बन्धी श्रेणीबद्ध विमान- अञ्जनवर समुद्र, अञ्जनवर द्वीप और श्यामवर समुद्र के ऊपर स्थित हैं।

सुमनस और सौमनस इन्द्रक सम्बन्धी श्रेणीबद्ध विमान - श्यामवर द्वीप और सिन्दूरवर समुद्र के ऊपर हैं।

प्रीतिङ्कर इन्द्रक सम्बन्धी श्रेणीबद्ध विमानों का विन्यास - सिन्दूरवर द्वीप और हरिसिन्दूर समुद्र के ऊपर है। ६२वें आदित्य इन्द्रक सम्बन्धी श्रेणीबद्ध विमानों का विन्यास हरिसिन्दूर द्वीप पर है। **(ति.प. ८/१०१-६ हि.)**

२०. प्रश्न : सौधर्मादि इन्द्र कहाँ रहते हैं ?

उत्तर : सौधर्म-ऐशान ये दो कल्प क्रमशः दक्षिण और उत्तर दिशा में अवस्थित हैं। इसमें ऋतु आदि इकतीस पटल हैं, अन्तिम प्रभा नामक इकतीसवें पटल के इन्द्रक विमान से दक्षिण दिशा में स्थित बत्तीस श्रेणीबद्ध विमानों में से अठारहवें विमान में सौधर्म इन्द्र और उत्तर दिशा के बत्तीस श्रेणीबद्ध विमानों में से अठारहवें विमान का अधिपति ऐशान इन्द्र है।

सानत्कुमार-माहेन्द्र स्वर्ग के अन्तिम चक्र नामक विमान के इन्द्रक विमान से दक्षिण दिशा के पच्चीस श्रेणीबद्ध विमानों में से पन्द्रहवें विमान में सानत्कुमार इन्द्र और उत्तर दिशा के पच्चीस विमानों में से पन्द्रहवें विमान का अधिपति माहेन्द्र नाम का इन्द्र है।

इसी प्रकार आगे के इन्द्रों के निवास को भी आगम से जानना चाहिए। **(रा.वा. ८)**

२१. प्रश्न : सौधर्म इन्द्र का परिवार कितना है ?

उत्तर : सौधर्म इन्द्र के बत्तीस लाख विमान हैं, तैंतीस त्रायस्त्रिंश, चौरासी हजार आत्मरक्ष, तीन पारिषद, सात अनीक, चौरासी हजार सामानिक देव, चार लोकपाल, आठ पट्टदेवियाँ, चालीस हजार वल्लभिकाएँ हैं। ये पट्टदेवियाँ एवं वल्लभिकाएँ अपने सोलह-सोलह हजार रूप बनाने में समर्थ हैं। प्रत्येक पट्टदेवी एवं वल्लभा की सोलह-सोलह हजार देवियाँ सेवा करती हैं। **(रा.वा. ८)**

२२. प्रश्न : सौधर्मादि इन्द्रों की कितनी-कितनी देवियाँ हैं ?[1]

उत्तर : सौधर्म इन्द्र की आठ ज्येष्ठ देवियाँ, इनकी १६००० परिवार देवियाँ और बत्तीस हजार वल्लभाएँ हैं, जो प्रत्येक सोलह-सोलह हजार विक्रिया करती हैं अत: एक लाख अट्ठाईस हजार + इक्कावन करोड़ बीस लाख + एक प्राण वल्लभा और चार महत्तरि देवियाँ हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर ८ + १२८००० + १२८००० + ३२००० + ५१२००००० + १ +४ = इक्कावन करोड़, बाईस लाख, अठासी हजार तेरह देवियाँ हैं। **(ति.प. ८/३०६-१८)**

आगे के ऐशानादि इन्द्रों की देवियों को आगम से जानना चाहिए।

२३. प्रश्न : इन देवांगनाओं की उत्पत्ति कहाँ होती है ?

उत्तर : सौधर्म स्वर्ग में उत्तम और शाश्वत छह लाख विमान शुद्ध हैं, जिनमें मात्र देवांगनाओं की उत्पत्ति होती है तथा ईशान स्वर्ग में चार लाख विमान शुद्ध हैं, जिनमें मात्र देवांगनाओं का जन्म होता है। इन विमानों में देवों की उत्पत्ति नहीं होती है। उत्पत्ति के तुरन्त बाद ही सानत्कुमार कल्प से अच्युत कल्प पर्यन्त के देव अपनी-अपनी नियोगिनी देवांगनाओं को अवधिज्ञान से जानकर अपने-अपने स्थान पर ले जाते हैं। सौधर्मैशान स्वर्गों को छोड़कर शेष स्वर्गों में देवांगनाओं की उत्पत्ति कदापि नहीं है। सौधर्म स्वर्गस्थ अवशेष विमानों में तथा ऐशान स्वर्गस्थ अवशेष विमानों में शुभ कर्मोदय से युक्त देव एवं देवांगना दोनों की उत्पत्ति होती है। **(सि.सा.दी. १५/१९०-९४)**

आरण स्वर्ग पर्यन्त दक्षिण दिशा के देवों की देवियाँ सौधर्म स्वर्ग में ही अपने-अपने उपपाद स्थानों में उत्पन्न होती हैं तथा अच्युत स्वर्ग पर्यन्त उत्तर दिशा के देवों की सुन्दर देवियाँ ऐशान स्वर्ग में उत्पन्न होती हैं। **(हरि.पु. ६/११८-१२०)**

२४. प्रश्न : ग्रैवेयकादि का पृथक् ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : कल्पातीतत्व का ज्ञान कराने के लिए ग्रैवेयकादि का पृथक् ग्रहण किया हैं। सौधर्मादि अच्युत स्वर्ग पर्यन्त बारह कल्प हैं, उनसे अन्य स्वर्ग कल्पातीत हैं। इस प्रकार इसका ज्ञान कराने के लिए ग्रैवेयक का पृथक् ग्रहण किया गया है। **(रा.वा. ४)**

---

१. ८ ज्येष्ठ देवियाँ, १,२८,००० इनकी विक्रिया, १,२८,००० परिवार देवियाँ, ३२००० वल्लभाएँ, ५१,२०,००,००० वल्लभाओं की विक्रिया, एक प्राणवल्लभ एवं ४ महत्तरि देवियाँ जाननी चाहिए।

सौधर्म आदि इन्द्रों की देवियों का प्रमाण

क्र. सं.	इन्द्रों के नाम	ज्येष्ठ देवियाँ	ज्येष्ठ देवियों की विक्रिया	ज्येष्ठ देवियों की परिवार देवियाँ	बल्लभाएँ	बल्लभाओं की विक्रिया का प्रमाण	प्राण बल्लभा	महत्तरी देवियाँ	योग फल
१.	सौधर्म	८	१२८०००	१२८०००	३२०००	५१२००००००	१	४	५१२२८८०१३
२.	ईशान	८	१२८०००	१२८०००	३२०००	५१२००००००	१	,,	,,
३.	सनत्कुमार	८	२५६०००	६४०००	८०००	२५६००००००	१	,,	२५६३२८०१३
४.	माहेन्द्र	८	२५६०००	६४०००	८०००	२५६००००००	१	,,	,,
५.	ब्रह्म	८	५१२०००	३२०००	२०००	१२८००००००	१	,,	१२८५४६०१३
६.	लांतव	८	१०२४०००	१६०००	५००	६४०००००	१	,,	६५०४०५१३
७.	महाशुक्र	८	२०४८०००	८०००	२५०	,,	१	,,	६६०५६२६३
८.	सहस्रार	८	४०९६०००	४०००	१२५	,,	१	,,	६८००१३८
९.	आनत	८	८१९२०००	२०००	६३	६४५१२०००	१	,,	७२७०६०७६
१०.	प्राणत	८	८१९२०००	२०००	,,	,,	१	,,	,,
११.	आरण	८	८१९२०००	२०००	,,	,,	१	,,	,,
१२.	अच्युत	८	८१९२०००	२०००	,,	,,	१	,,	,,

२५. प्रश्न : वैमानिक देवों के ऊपर के स्वर्गों को ग्रैवेयक क्यों कहा गया है ?

उत्तर : लोकाकाश को पुरुषाकार माना गया है। उस पुरुषाकार की ग्रीवा के स्थानीय होने से ग्रीवा और ग्रीवा में होने वाले ग्रैवेयक विमान हैं और उनका साहचर्य होने से वहाँ के इन्द्र भी ग्रैवेयक कहलाते हैं। **(रा.वा. २)**

२६. प्रश्न : ग्रैवेयक कितने हैं ?

उत्तर : (१) सुदर्शन (२) अमोघ (३) सुबुद्ध (४) यशोधर (५) सुभद्र (६) सुविशाल (७) सुमन (८) सौमनस और (९) प्रियंकर ये नवग्रैवेयक हैं। **(रा.वा. २)**

२७. प्रश्न : नव ग्रैवेयक का अवस्थान कहाँ है ?

उत्तर : आरण-अच्युत विमान से लाखों योजन ऊपर अधो ग्रैवेयक विमान हैं।

सुदर्शन नामक इन्द्रक विमान की चारों दिशाओं में चार विमान श्रेणियाँ हैं। उन एक-एक श्रेणी में दस-दस विमान हैं। सुदर्शन विमान से लाखों योजन ऊपर अमोघ विमान प्रस्तार है। इसकी भी चारों दिशाओं में चार विमान श्रेणियाँ हैं। प्रत्येक विमान श्रेणी में नौ-नौ विमान हैं।

इनसे लाखों योजन ऊपर सुप्रबुद्ध विमान प्रस्तार हैं। इसकी भी चारों दिशाओं में चार विमान श्रेणियाँ हैं, प्रत्येक श्रेणी में आठ-आठ विमान हैं। सुप्रबुद्ध विमान से लाखों योजन ऊपर मध्यम ग्रैवेयक के तीन प्रस्तार हैं, इनमें भी पूर्व प्रस्तारों के समान विमान श्रेणियाँ और एक-एक श्रेणी में पूर्वोक्त विधि से एक-एक हीन श्रेणी विमान है। मध्यम ग्रैवेयक से लाखों योजन ऊपर उपरिम ग्रैवेयक के विमान स्थित हैं, इनमें भी इसी प्रकार श्रेणीबद्ध आदि विमानों को जानना चाहिए। **(रा.वा. ८)**

२८. प्रश्न : सूत्र में 'आनतप्राणतयो:' 'आरणाच्युतयो:' पृथक् विभक्ति किसलिए की है ?

उत्तर : आनत-प्राणत और आरण-अच्युत स्वर्गों में पृथक्-पृथक् एक-एक इन्द्र होने से पृथक् विभक्ति की है।[१] यदि ऐसा नहीं होता तो लघु सूत्र के लिए एक ही द्वन्द्व समास कर देना उचित होता या 'आनतप्राणतयो: आरणाच्युतयो:' यह पृथक् नहीं करना पड़ता। **(रा.वा. ८)**

२९. प्रश्न : विजयादि के नाम की क्या सार्थकता है ?

उत्तर : अभ्युदय के विघ्नों के कारणों को जीत लेने से विजयादि की सार्थक संज्ञा है, इसके साहचर्य से इनके इन्द्रों का नाम भी विजयादि है। सर्व अर्थों की सिद्धि हो जाने से इसका नाम 'सर्वार्थसिद्धि' है। इसके साहचर्य से इन्द्रों का नाम भी सर्वार्थसिद्धि है। **(रा.वा. २)**

---

१. **'आनतप्राणतयोरारणाच्युतयो:'** यहाँ विभक्ति इसलिए लगाई है कि स्वर्गों का दो-दो का जोड़ा है और अच्युत स्वर्ग तक देशसंयमधारी जीव जा सकता है। सूत्रकार ने **'सहस्रारेषु'** में भी विभक्ति इसलिए लगाई है कि अन्य दर्शनानुयायी परमहंस वगैरह भी अपनी मन्दकषाय के कारण वहाँ तक चले जाते हैं।

उस विमान में उत्पन्न होने वाले जीवों के सब मनोरथ अनायास ही सिद्ध हो जाते हैं इसलिए वह सर्वार्थसिद्धि इस सार्थक नाम को धारण करता है। **(म.पु. ११/११४)**

३०. प्रश्न : 'सर्वार्थसिद्धि' का पृथक् ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : विजयादि चार विमानों में जघन्य स्थिति बत्तीस सागर से कुछ अधिक है और उत्कृष्ट स्थिति तैंतीस सागरोपम है, परन्तु सर्वार्थसिद्धि में जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति तैंतीस सागरोपम है। जो प्रभाव सर्वार्थसिद्धि के एक देव का है वैसा प्रभाव विजयादि के सर्व देवों के भी नहीं है अत: इस विशेषता को बताने के लिए विजयादि से पृथक् सर्वार्थसिद्धि का ग्रहण किया है। **(रा.वा. ३)**

३१. प्रश्न : सूत्र में 'नवसु'[१] पद का ग्रहण किसलिए किया है ? नव का क्यों नहीं ?

उत्तर : 'नवसु' शब्द को पृथक् रखने से नव अनुदिश[२] की सूचना हो जाती है। यदि नव अनुदिश का संग्रह नहीं होता तो लघु सूत्र के लिए 'नवग्रैवेयकेषु' यह सूत्र हो जाता। 'सु' शब्द का प्रयोग नहीं करना पड़ता। **(रा.वा. ५)**

३२. प्रश्न : 'अनुदिश' क्या है ?

उत्तर : प्रत्येक दिशा में विद्यमान होने से इनको अनुदिश कहते हैं। अनुदिश का अर्थ प्रतिदिश है। दिक् शब्द का 'शरत्प्रभृति' आदि व्याकरण सूत्र से 'ड:' (ट:) प्रत्यय का आगम होता है और पुन: प्रत्यय लग कर 'दिशं दिशं प्रति अनुदिशं' शब्द की उत्पत्ति होती है। अथवा-

दिशा शब्द 'शकार' ह्रस्व हुआ है और अनुदिश शब्द की निष्पत्ति हुई है। **(रा.वा. ५)**

---

१. **'नवसु ग्रैवेयकेषु'** यहाँ पर भी विभक्ति लगाई है क्योंकि इन नव ग्रैवेयकों के ऊपर नव अनुदिश विमान और होते हैं। इन नव ग्रैवेयकों में निर्ग्रन्थ जैनलिंग का धारक अभव्य भी पैदा हो जाता है, किन्तु इससे ऊपर तो शुद्ध सम्यग्दृष्टि साधु ही जा सकता है। सर्वार्थसिद्धि को सबसे उत्कृष्ट बतलाने के लिए सबसे भिन्न निर्दिष्ट किया है।

२. **'अनुदिश'** पाठ के सम्बन्ध में पूज्य आचार्यश्री विद्यासागरजी म. के शिष्य **मुनि श्री नमिसागरजी महाराज** ने सूचित किया है कि ''मुझे अनुदिशों का स्पष्ट उल्लेख करने वाला पाठ मिला है। तत्त्वार्थसूत्र की **बालचन्द्रदेव की कन्नड टीका** मूल पाठ के साथ मैसूर विश्वविद्यालय से सन् १९५५ में प्रकाशित हुई है। इसका सम्पादन सुप्रसिद्ध विद्वान् ए. शान्तिराज शान्तिजी ने किया है। इसमें चौथे अध्याय के १९वें सूत्र में लिखा है –

''सौधर्मैशान.....प्राणतयोरारणाच्युतयोर्नवसुग्रैवेयकेष्वनुदिशेषु.....''

इस सूत्र में स्पष्टत: अनुदिशेषु पाठ है और उसकी टीका करते हुए लिखा है – **अनुदिशेषु नवानुदिशेगकोकं**। सूत्र ३२ में भी अनुदिश का स्पष्ट उल्लेख है जिसकी टीका करते हुए बालचन्द्रदेव ने लिखा है – **नवानुदिशविमानंगकोक मूवत्तेरहु** मतलब नव अनुदिश विमानों में ३२ सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है।

''बालचन्द्र मुनि का काल सन् ११५० के लगभग माना गया है। उनकी टीका से लगता है कि उनके समय में यह पाठ उपलब्ध था।''

३३. प्रश्न : इन सौधर्मादि इन्द्रों की देवियों के भवनों का विस्तार कितना है ?

उत्तर : सौधर्म और ईशान इन्द्र की देवियों के भवनों की ऊँचाई पाँच सौ (५००) योजन तथा सानत्कुमार एवं माहेन्द्र इन्द्र की देवियों के भवनों की ऊँचाई चार सौ पचास (४५०) योजन है।

ब्रह्मेन्द्र, लान्तवेन्द्र, महाशुक्रेन्द्र, सहस्रारेन्द्र और आनत आदि चार इन्द्रों की देवियों के भवनों की ऊँचाई क्रमश: पचास-पचास योजन कम है अर्थात् क्रमश: ४०० यो., ३५० यो., ३०० यो., २५० यो. और २०० योजन हैं। **(ति.प. ८/४१७-१८)**

३४. प्रश्न : सौधर्मादि देवों की उत्पत्ति का विरह काल कितना है ?

उत्तर : सब इन्द्र, महादेवियाँ, लोकपाल और प्रतीन्द्र - ६ मास विरह काल (उत्कृष्ट)।

त्रायस्त्रिंश, सामानिक, तनुरक्षक और तीनों पारिषद - ४ मास।

सौधर्म कल्प के देवों का - ६ मुहूर्त्त। ईशान कल्प के देवों का - ४ मुहूर्त्त।

सानत्कुमार कल्प के देवों का - ९$\frac{२}{३}$ दिन। माहेन्द्र कल्प के देवों का - १२$\frac{१}{३}$ दिन।

ब्रह्म कल्प के देवों का - ४५ दिन। लान्तव कल्प के देवों का - गाथा नहीं है।

महाशुक्र कल्प के देवों का - ८० दिन। सहस्रार कल्प के देवों का - १०० दिन।

आनत-प्राणत-आरण-अच्युत कल्प के देवों का - संख्यात सौ वर्ष।

नव ग्रैवेयक के देवों का - संख्यात हजार वर्ष का विरह काल है।

अनुदिश एवं अनुत्तर कल्प के देवों का - पल्य के असंख्यातवें भाग।

इन सभी का जघन्य अन्तर एक समय प्रमाण हैं। **(ति.प. ८/५४५-५१)**

वैमानिक देवों की विशेषता बताते हैं -

स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेश्याविशुद्धीन्द्रियावधिविषयतोऽधिका: ॥२०॥

स्थिति-प्रभाव-सुख-द्युति-लेश्या-विशुद्धि-इन्द्रिय-अवधि-विषयत:-अधिका:।

अर्थ - वैमानिक देवों के स्थिति, प्रभाव, सुख, द्युति, लेश्या की विशुद्धता, इन्द्रियविषय और अवधिज्ञान का विषय उत्तरोत्तर अधिक है।

स्थिति - अपनी देव आयु के उदय से रहना स्थिति है। **प्रभाव -** शाप और अनुग्रह शक्ति को प्रभाव कहते हैं। **सुख -** दृष्ट विषयों का अनुभव करना सुख है। **द्युति -** शरीर आदि की कान्ति को द्युति कहते हैं। **लेश्याविशुद्धि -** लेश्या की विशुद्धि निर्मलता लेश्याविशुद्धि है।

१. प्रश्न : प्रभाव किसे कहते हैं ?

उत्तर : शाप और अनुग्रह शक्ति को प्रभाव कहते हैं।

।हैं पाप पराजरुट तक मैनाक उनमें - पाप

।हैं वैठक शुद्धमें कि नरापरीर उड़ - शुद्धमें

(१ .ज.प्र) ।है बामर मार नकमर रि बाम मदृ रुश मि

१ ई पकी मिक पशु मधर भेम क ज़ "बिश्री" में स्पृ : नपर .१

।है वेरि शीम बामर रि कंपूपीश्री कीमिक ई पकी पशु में शीम कि स्पृ कि बिश्री : **ग्नर**

कि बिश्री :मर ई वेरि मैन शीम बामर पनी बिश्री ,ई वेरि शीम बामर कं मैन्र ई बिश्री कंनरी

(१ .ज.प्र) ।है पकी पशु में शीम

१ ई कशीम-कशीम ग़ पैक शीम बामर-बिश्री : नपर .६

-ग्नर :मर ई मिपुमें कि मिप्र रि नइ ":कनीमनि" मि "शुप-शुप" मे मिप्र मेपू : **ग्नर**

बामर मि मैन्नमग शुद्धमें-शुद्धनी पश ई कशीम-कशीम बिश्री में शमर बीर मि मैनमनी शुप

मश ई कि वेरि कं मेन्र मेशमि कीर मिमि कि बमाग ,पकीमी प ई क वेरि कं मेन्र मेशमि

पनम मि कि मेन्र कं मिम शकर मिइ ।है कि वेरि कं मैन्र शीम नाशुं कीर कशीम मिपुन्नम

(१ .ज.प्र) ।शुशीम

१ ई पनकी बामर क वेरि कनीमनि : नपर .४

मेन मि मैं मुशमर कि मैशप्त छ कं मिशुमु वरं पाम जुम बामर मपरुग कग : **ग्नर**

।है मगग में मेन पमि पाम पमरुग मेरम कि मैल्सेनी-ल्मुन बिश्री

बिश्री मेमर मि में मुरुग मि कि पशुम्नम वरं पाम मेशम बेरं बेनीमि नेमपगम बामर मपरोमग

(शकरर) कि पशुम्नम में मनी म्नइ-मेशमि ।है मगग में मेन पमि पाम बामर मेरम कि मैल्सेनी-ल्मुन

-०१७\२ .प्र.मी) ।है मेन पपशनी कि बामम्र कीर कमर मेमम मेंकि शकर मइ ,है पकग कंमें

(११

१ ई मेक कशीम कीर में मेंवरं कं शमर-शमर : नपर .५

कि बामशीम शमर-शमर कीमिक - ई पकशीम में मैंमम्र कं शमर में ज़ोड़ि कि कीर : **ग्नर**

(१ .ज.प्र) ।पाम मैंन मि शमम कि पनिश कमर में नेंवि मापशेंग रुंकेंग पग ।है पाश्न

- ई मेंमम पमरुनी कि शम मेंग कि मेंवरं कनीमनें

॥ १२॥ :पनेंवि मेंपनमनीशुरुशेंपशेंरुंवेंग

।है नेंवि (:पनेंवि) मशुमें कि पनमनीम रमें शुरुशेंप ,शेंमर ,मेंग (:पनमनीशुरुशेंपशेंरुंवेंग)

।है नेंवि मशुमें कि पनमनीम रमें शुरुशेंप ,शेंमर ,मेंग - **मेंम**

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : जिस प्रकार ऊपर के देवों में स्थिति आदि अधिक है, उसी प्रकार गति आदि भी अधिक है क्या ? ऐसी शंका होने पर उसकी निवृत्ति के लिए यह सूत्र कहा है। **(रा.वा.उ. २१)** जिस प्रकार ये वैमानिक देव स्थिति की अपेक्षा ऊपर-ऊपर अधिक हैं उसी प्रकार गति आदि की अपेक्षा भी प्राप्त हुए, अत: इसका निराकरण करने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(सर्वा. ४८२)**

२. प्रश्न : गति शब्द का सर्वप्रथम ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : दोनों लक्षणों का योग होने से गति शब्द को आदि में ग्रहण किया है। गति शब्द सु+अन्त और अल्प अच् वाला है और जो स्वन्त और अल्प अच् (कम अक्षर वाला) होता है उसका द्वन्द्व समास में प्रथम ग्रहण होता है अत: 'गति' का सर्व-प्रथम ग्रहण किया है। **(रा.वा. ५)**

३. प्रश्न : ऊपर-ऊपर के देवों की गति कम-कम क्यों है ?

उत्तर : सौधर्म-ऐशान स्वर्ग के देव विषयों की अधिक अभिलाषा होने से विषयक्रीड़ा आदि के निमित्त बार-बार इधर-उधर घूमते रहते हैं, वैसे ऊपर के देव विशेष रूप से इधर-उधर गमन नहीं करते, क्योंकि उनके विषयाभिलाषा क्रमश: कम होती जाती है अत: विषयों के निमित्त उनका गमन कम होता जाता है। **(रा.वा. ८)**

अहमिन्द्रों का परक्षेत्र में विहार नहीं होता क्योंकि शुक्ल लेश्या के प्रभाव से अपने ही भोगों द्वारा संतोष को प्राप्त होने वाले अहमिन्द्रों को अपने निरुपद्रव सुखमय स्थान में जो उत्तम प्रीति होती है, वह उन्हें अन्यत्र कहीं नहीं प्राप्त होती है। यही कारण है कि उनकी परक्षेत्र में क्रीड़ा करने की इच्छा नहीं होती है। **(म.पु. ११/१४१-४२)**

४. प्रश्न : शरीर के बाद परिग्रह का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : शरीर के होने पर ही परिग्रह का सञ्चय होता है तथा शरीर के होने पर ही 'यह मेरा है' यह बुद्धि उत्पन्न होती है। (अत: शरीर के बाद परिग्रह का ग्रहण किया है)। **(रा.वा. ६)**

५. प्रश्न : शरीर के रहते भी केवली के परिग्रहग्रहण की इच्छा का अभाव होता है अत: यह हेतु अनेकांत दोष से दूषित है ?

उत्तर : ऐसा कहना उपयुक्त नहीं है, यद्यपि वीतराग केवली के शरीर रहते हुए भी परिग्रह की इच्छा नहीं होती, इससे यह हेतु व्यभिचारी नहीं होता क्योंकि यहाँ रागादिमान (रागीद्वेषी) देवों का अधिकार है अत: रागादि युक्त देवों के शरीर रहते हुए परिग्रह की इच्छा अवश्यंभाविनी है अत: यहाँ शरीर हेतुत्व व्यभिचारी नहीं है। **(रा.वा. ७)**

६. प्रश्न : परिग्रह के बाद अभिमान का ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : परिग्रहमूलक होने से परिग्रह के बाद अभिमान का ग्रहण किया है। संसार में परिग्रह मूलक अभिमान देखा जाता है, अत: परिग्रह के बाद अभिमान ग्रहण किया गया है। **(रा.वा. ८)**

७. प्रश्न : देवों के शरीर में क्या-क्या नहीं होता है ?

उत्तर : देवों के शरीर में हड्डी, नस, रुधिर, चर्बी, मूत्र, मल, केश, रोम, चमड़ा और मांसादिक नहीं होते हैं। **(ति.प. ३/२१२)** देवों के शरीर में केश, मस्तक में भोहें, आँख पर, नाक में, कान में, कांख में और गुह्य प्रदेशादि में बाल नहीं होते हैं। लोम, चर्म, वसा तथा रक्त, मूत्र, विष्टा, शुक्र, वीर्य, पसेव आदि मल देवों के शरीर में नहीं होते हैं। संहनन की कारण अस्थि भी नहीं होती है। **(मू.आ. १०५४)**

(**लोम** - सर्व शरीर पर सूक्ष्म बाल।

चर्म - मांसादिकों को आच्छादित करने वाला चमड़ा।

वसा - मांस और अस्थियों में जो स्निग्ध-चिकना रस रहता है।)

८. प्रश्न : देवों का शरीर कैसा होता है ?

उत्तर : अणिमा, महिमा आदि आठ गुण व महा-ऋद्धि से सहित, शुभ विक्रिया विशेष से संयुक्त समचतुरस्र शरीर संस्थान से युक्त, छह संहननों से रहित (सौधर्म इन्द्रका) शरीर होता हैं। **(ज.प. ११/२५४)** देवों के शरीर में चूंकि वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श के विषय में अतिशयता को प्राप्त वैक्रियिक दिव्य स्कन्ध होते हैं, इसलिए इन देवों के कर्म के प्रभाव से रोग आदि की उपस्थिति नहीं होती। **(ति.प. ३/२१३)** उत्तम वर्ण, गंध, रस, स्पर्श आदि गुणों से युक्त ऐसे वैक्रियिक वर्गणा के दिव्य अनन्त परमाणुओं से देवों के शरीर की रचना होती है। **(मू.आ. १०५५)**

९. प्रश्न : देवों के शरीर में केशादि नहीं होते हैं तो वह सुन्दर नहीं लगता होगा ?

उत्तर : यद्यपि देवों के शरीर में केश-नखादि नहीं होते हैं तथापि उनका स्वरूप बीभत्स-भयावह, ग्लानि उत्पन्न करने वाला नहीं है। केश-नखाद्याकार (नख आदि का आकार) होता है। सोने की अथवा पाषाण की प्रतिमा में केश-नखादिक आकार होते हैं वैसे देवों में होते हैं। **(मू.आ. १०५६)**

१०. प्रश्न : देवों के शरीर की ऊँचाई कितनी है ?

उत्तर : सौधर्म-ऐशान स्वर्ग के देवों के शरीर की ऊँचाई सात अरत्नि प्रमाण है।

सानत्कुमार-माहेन्द्र स्वर्ग में शरीर की ऊँचाई - छह अरत्नि।

ब्रह्मलोक - ब्रह्मोत्तर, लान्तव-कापिष्ठ में - पाँच अरत्नि।

शुक्रादि चार स्वर्गों के देवों के शरीर की ऊँचाई - चार अरत्नि।

आनत - प्राणत स्वर्ग के देवों के शरीर की ऊँचाई - साढ़े तीन हाथ।

आरण-अच्युत स्वर्ग के देवों के शरीर की ऊँचाई - तीन हाथ।

अधो ग्रैवेयक के देवों के शरीर की ऊँचाई - ढाई हाथ।

मध्यम ग्रैवेयक के देवों के शरीर की ऊँचाई - दो हाथ।

उपरिम ग्रैवेयक के देवों के शरीर की ऊँचाई - डेढ़ हाथ।

नव अनुदिश के देवों के शरीर की ऊँचाई - डेढ़ हाथ।

पाँच अनुत्तरों के देवों के शरीर की ऊँचाई - एक हाथ। **(रा.वा. ८)**

११. प्रश्न : ऊपर-ऊपर परिग्रह और अभिमान की हानि किस कारण होती है ?

उत्तर : मन्द कषाय, अल्प संक्लेश परिणाम, अवधिज्ञान की विशुद्धि, तत्त्वावलोकन और संवेग परिणामों की उत्तरोत्तर अधिकता होने से अभिमान की हानि होती है।

कषायों की मन्दता होने से अल्प संक्लेश होता है। अल्प संक्लेश से अवधिज्ञान की विशुद्धि होती है, क्योंकि संक्लेश परिणाम से अवधिज्ञान हीन होता है ऐसा पहले कह चुके हैं। उस अवधिज्ञान की विशुद्धि से ऊपर-ऊपर के देव नारकी-तिर्यञ्च और मनुष्यों के विविध दु:खों को प्रकर्षरूप से बार-बार देखते रहते हैं। उनके दु:खों को देखकर उनके संवेग परिणाम और संसार से भीरुता होती है। अत: दुरन्त दु:ख के कारणभूत परिग्रह में अभिमान ऊपर-ऊपर हीन होता जाता है। अथवा -

विशुद्ध परिणामों के प्रकर्ष के निमित्त से ऊपर के देवों में उत्पत्ति होती है। इस लोक में कृत विशुद्ध परिणामों के निमित्त पुण्य कर्म का बन्ध होता है और पुण्य कर्म से ही देवों में उत्पत्ति होती है इसलिए भी इनमें अभिमान आदि कषायें कम रहती हैं, लोक में कारण के सदृश ही कार्य देखा जाता है। **(रा.वा. ९-१०)**

१२. प्रश्न : किस गुणस्थान वाला मरकर कौन से स्वर्ग में जा सकता है ?

उत्तर : संख्यात वर्षायुष्क कर्मभूमिया असैनी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यञ्च थोड़े शुभ परिणामों से पुण्य बन्ध करके भवनवासी और व्यन्तरों में उत्पन्न हो सकते हैं।

कर्मभूमिया सैनी पंचेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यञ्च मिथ्यादृष्टि एवं सासादन-सम्यग्दृष्टि भवनत्रिक से बारहवें स्वर्ग तक उत्पन्न हो सकते हैं। सम्यग्दृष्टि सैनी पंचेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यञ्च सौधर्म से सोलहवें अच्युत स्वर्ग तक जाते हैं। असंख्यात वर्षायुष्क (भोगभूमिया) मिथ्यादृष्टि एवं सासादन सम्यग्दृष्टि तिर्यञ्च एवं मनुष्य भवनत्रिक में उत्पन्न होते हैं।

सम्यग्दृष्टि भोगभूमिया मनुष्य-तिर्यञ्च सौधर्म-ऐशान स्वर्ग में उत्पन्न होते हैं। कर्मभूमिया मिथ्यादृष्टि एवं सासादन सम्यग्दृष्टि मनुष्य भवनवासी से लेकर नव ग्रैवेयक तक उत्पन्न हो सकते हैं।

उत्कृष्ट तपोनुष्ठान के द्वारा पुण्यबन्ध करने वाले निर्ग्रन्थ लिङ्गी मिथ्यादृष्टि मुनियों का अन्तिम ग्रैवेयक तक उत्पाद होता है। नव ग्रैवेयक के ऊपर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और उत्कृष्ट चारित्र के धारी महामुनियों का ही उत्पाद होता है। सम्यग्दृष्टि व्रती श्रावक-श्राविका सौधर्म से लेकर अच्युत स्वर्ग तक जाते हैं। **(रा.वा. १०)**

गति - आगति

क्रमांक	कौन जीव मरकर	कहाँ तक उत्पन्न होता है
१.	असैनी पंचेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यंच	भवनवासी व्यंतरों में
२.	तिर्यंच मिथ्यादृष्टि एवं सासादन स. दृष्टि	भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष से १२ वें स्वर्ग तक
३.	सम्यक्दृष्टि सैनी पंचेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यंच	सौधर्म से सोलहवें अच्युत स्वर्ग तक
४.	भोग-भूमिया मिथ्यादृष्टि सासादन गुणस्थानवर्ती तिर्यंच-मनुष्य	भवनत्रिक में
५.	भोगभूमिया स. दृष्टि तिर्यञ्च मनुष्य	सौधर्म-ऐशान में
६.	कर्मभूमिया मिथ्यादृष्टि सासादन	भवनत्रिक से लेकर नौ ग्रैवेयक तक
७.	परिव्राजक	ब्रह्म स्वर्ग तक
८.	आजीवक	सहस्रार स्वर्ग तक
९.	अन्य लिङ्गी	बारहवें स्वर्ग तक
१०.	उत्कृष्ट तपस्वी निर्ग्रन्थ लिङ्गी मि. दृष्टिमुनि	अंतिम ग्रैवेयक तक
११.	उत्कृष्ट तपस्वी मुनि	नव ग्रैवेयक के आगे
१२.	सम्यग्दृष्टि व्रती श्रावक-श्राविका	सौधर्म स्वर्ग से अच्युत स्वर्ग तक

१३. प्रश्न : श्रावक-श्राविका भवनत्रिक एवं ग्रैवेयकादि में क्यों नहीं जाते ?

उत्तर : परिणाम विशुद्धि के उत्कृष्ट योग एवं सम्यग्दर्शन सहित होने से नीचे भवनवासी, व्यन्तर एवं ज्योतिषी देवों में भी उत्पन्न नहीं होते हैं और वस्त्रधारी होने से सोलहवें स्वर्ग के ऊपर भी जन्म नहीं लेते हैं। **(रा.वा. १०)**

१४. प्रश्न : अन्य मतावलम्बी साधु कौनसे स्वर्ग तक उत्पन्न हो सकते हैं ?

उत्तर : उत्कृष्ट कुतप तपने वाले तापसी ज्योतिषी देवों तक उत्पन्न होते हैं। परिव्राजक ब्रह्म स्वर्ग तक उत्पन्न होते हैं। आजीवक सहस्रार स्वर्ग तक उत्पन्न होते हैं। अन्य लिङ्गी बारहवें स्वर्ग के आगे उत्पन्न नहीं होते हैं। मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिङ्गी मुनि नव ग्रैवेयक के ऊपर जन्म नहीं लेते हैं। **(रा.वा. १०)**

वैमानिक देवों की लेश्या बताते हैं -

पीतपद्मशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु ॥२२॥

पीत-पद्म-शुक्ल-लेश्याः द्वि-त्रि-शेषेषु।

(द्वित्रिशेषेषु) दो, तीन और शेष युगलों में (पीत-पद्मशुक्ललेश्याः)

(क्रमशः) पीत, पद्म और शुक्ल लेश्या होती है।

अर्थ - दो स्वर्ग युगल तक पीत, उसके आगे तीन स्वर्ग युगल तक पद्म और शेष स्वर्गों में शुक्ल लेश्या होती है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : पूर्व में (सूत्र २ में) भवनत्रिक में लेश्या को कह दिया अत: वैमानिक देवों की लेश्या बताने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा.उ. २२)**

२. प्रश्न : वैमानिक देवों के कौन-कौनसी लेश्या होती है ?

उत्तर : वैमानिक देवों के लेश्या -

सौधर्म एवं ऐशान स्वर्ग के देवों में पीत लेश्या होती है।

सानत्कुमार एवं माहेन्द्र स्वर्ग के देवों में पीत और पद्म लेश्या होती है।

ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर एवं लान्तव-कापिष्ठ स्वर्ग के देवों में पद्म लेश्या होती है।

शुक्र-महाशुक्र, शतार-सहस्रार स्वर्ग के देवों में पद्म एवं शुक्ल लेश्या होती है।

आनत-प्राणत, आरण-अच्युत, नव ग्रैवेयक और नव अनुदिशों के देवों में शुक्ल लेश्या होती है।

पंच अनुत्तर-विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि में परम शुक्ल लेश्या[१] होती है। **(रा.वा. २-६)**

३. प्रश्न : आगम में लेश्याओं का कथन कितने प्रकार से किया गया है ?

उत्तर : लेश्याओं का कथन आगम में सोलह अनुयोगों के द्वारा किया गया है-

सोलह अनुयोग -

(१) **निर्देश** - सामान्य कथन करना।

(२) **वर्ण** - रंग कहना।

(३) **परिणाम** - संक्लेश, विशुद्ध भाव।

(४) **संक्रम** - लेश्या का परिवर्तन।

(५) **कर्म** - क्रियायें।

(६) **लक्षण** - चिह्न (लक्षण) कहना।

(७) **गति** - किस लेश्या वाले की कौनसी गति होती है।

(८) **स्वामी** - किन-किन जीवों के कौन-कौनसी लेश्या होती है।

(९) **साधन** - लेश्या के कारण को कहना।

(१०) **संख्या** - लेश्या वालों की संख्या कहना।

(११) **क्षेत्र** - लेश्या वाले जीवों का वर्तमान निवास-स्थान कहना।

(१२) **स्पर्शन** - लेश्या वालों का स्पर्श कहना।

---

१. आयुबन्ध के समय कल्पातीत देवों के भी परिणाम पीत लेश्या रूप होते हैं। ऐसा मानना ही पड़ता है। हाँ, नवीन आयुबंध के समय के अतिरिक्त उनके परिणाम सदा शुक्ल लेश्यारूप होते हैं।

(१३) **काल** - लेश्या का समय कहना।

(१४) **अन्तर** - लेश्याओं का अन्तराल बताना।

(१५) **भाव** - लेश्याओं में औदयिकादि भावों का कथन करना।

(१६) **अल्पबहुत्व** - लेश्याओं के अल्पबहुत्व को कहना।

नोट - लेश्या का सामान्य लक्षण एवं भेद देखें **(२/६)**

४. **प्रश्न : लेश्याओं का कौनसा वर्ण होता है ?**

उत्तर : लेश्याओं का वर्ण-

कृष्ण लेश्या का वर्ण - भ्रमर के समान है।

नील लेश्या का वर्ण - मयूर के कण्ठ के समान है।

कापोत लेश्या का वर्ण - कबूतर के समान है।

पीत लेश्या का वर्ण - संतप्त सुवर्ण के समान है।

पद्म लेश्या का वर्ण - कमल के समान है।

शुक्ल लेश्या का वर्ण - शंख के समान है।

यह तो लेश्या के मुख्य रूप से वर्णों का उल्लेख है। इनके वर्णान्तरों के अनन्त विकल्प हैं।

एक, दो, चार, संख्यात, असंख्यात और अनन्त कृष्ण गुणों के योग से (तरतमता से) कृष्ण लेश्या के अनन्त विकल्प हैं। इसी प्रकार नीलादि लेश्याओं के भी अनन्त विकल्प होते हैं। **(रा.वा. १०)**

५. **प्रश्न : किन-किन जीवों के कौन-कौन सी द्रव्य लेश्या (वर्ण) होती है ?**

उत्तर : जीवों के वर्ण (द्रव्य लेश्या) – विग्रहगति में विद्यमान जीवों के शरीर की शुक्ल लेश्या ही होती है। अपर्याप्त अवस्था में कापोत लेश्या ही होती है। **(ध. २/४२६)** सर्व नारकी कृष्ण वर्ण वाले ही होते हैं। **(गो.जी. ४९६)**

सूक्ष्म अप्कायिक जीवों के पर्याप्त काल में द्रव्य से कापोत लेश्या होती है। **(ध. २/६०८)**

बादर अप्कायिक जीवों के पर्याप्त काल में स्फटिक वर्ण वाली शुक्ल लेश्या होती है। **(ध. २/६११)** भवनत्रिक देवों के द्रव्य की अपेक्षा छहों लेश्याएँ होती हैं। भवनत्रिक से ऊपर देवों के तेज (पीत), पद्म और शुक्ल लेश्याएँ होती हैं। **(ध. २/५३७)**

आहारक शरीर की द्रव्य लेश्या धवल होती है क्योंकि विस्रसोपचय के वर्ण की अपेक्षा धवलपना उपलब्ध होता है। **(ध. १४/३२७)**

कपाट समुद्घातगत केवली के शरीर की भी कापोत लेश्या होती है। (यहाँ भी कारण अपर्याप्तवत् जानना चाहिए)

पहले के षड्वर्ण वाले शरीर का आश्रय लेकर उपचार से द्रव्य की अपेक्षा सयोगकेवली के छहों लेश्याएँ होती हैं। **(ध. २/६५५)**।

६. प्रश्न : अपर्याप्त अवस्था (विग्रहगति और पर्याप्ति होने के पूर्व) में शुक्ल एवं कापोत लेश्या ही क्यों होती है ?

उत्तर : जिस कारण से सम्पूर्ण कर्मों का विस्रसोपचय शुक्ल ही होता है, इसलिए विग्रहगति में विद्यमान जीवों के शुक्ल लेश्या होती है। तदनन्तर शरीर को ग्रहण करके जब तक पर्याप्तियों को पूर्ण करता है तब तक छह वर्ण वाले परमाणुओं के पुंज से शरीर की उत्पत्ति होती हैं इसलिए उस शरीर की कापोत लेश्या कही जाती है, इस प्रकार अपर्याप्त अवस्था में शरीर सम्बन्धी दो ही लेश्याएँ होती हैं। **(ध. २/४२६)**

७. प्रश्न : लेश्याओं में परिणाम कौन-कौन से हैं ?

उत्तर : असंख्यात लोकप्रदेश प्रमाण से असंख्यात गुणे कषायों के उदयस्थानों में उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य अंशों में संक्लेश परिणामों की हानि से आत्मा के परिणाम क्रमश: कृष्ण, नील और कापोत इन तीन अशुभ लेश्या रूप परिणमन करते हैं।

इसी प्रकार जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट अंशों में जब विशुद्धि की वृद्धि होती है तब पीत, पद्म और शुक्ल लेश्या रूप परिणाम होते हैं। उसी प्रकार ऊपर से उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य अंशों में विशुद्धि की हानि होने से शुक्ल, पद्म और पीत लेश्या रूप परिणमन होता है। तथा जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट अंशों में संक्लेश परिणामों की वृद्धि होती है तब कापोत, नील और कृष्ण लेश्या रूप परिणाम होते हैं यहाँ एक-एक लेश्या में असंख्यात लोकप्रदेश प्रमाण अध्यवसाय स्थान होते हैं। **(रा.वा. १०)**

८. प्रश्न : लेश्याओं में संक्रम किस प्रकार होता है ?

उत्तर : यदि कृष्ण लेश्या वाला अधिक संक्लेश परिणामों को प्राप्त होता है तो वह षट्स्थान पतित हानि-वृद्धि संक्रम से कृष्णलेश्या के ही उत्कृष्ट अवान्तर भेदों में वृद्धि करता है। जैसे - कृष्ण लेश्या का जो प्रथम संक्लेश स्थान है, उस स्थान से कृष्ण लेश्या में ही षट् स्थान पतित वृद्धि होती है।

कृष्ण लेश्या की हीनता में भी लेश्यान्तर में संक्रमण नहीं होता। किन्तु कृष्ण लेश्या ही षट्स्थान पतित संक्रम से कम-कम होती जाती है। जैसे कृष्ण लेश्या का जो उत्कृष्ट संक्लेश स्थान है उस स्थान से अनन्त भाग हानि, असंख्यात भाग हानि, संख्यात भाग हानि, संख्यात गुणीहानि, असंख्यात गुणी हानि, अनन्त गुणी हानि से कृष्ण लेश्या में संक्रमण होता है, ये दोनों स्वस्थान संक्रमण हैं, क्योंकि इस हानि-वृद्धि में कृष्ण लेश्या की ही तरतमता हैं, अन्य लेश्या में संक्रमण नहीं है। जब कृष्ण लेश्या

अनन्तगुणी हानि से क्षीण होती हैं तब नील लेश्या के उत्कृष्ट स्थान को संक्रमित हो जाती है अत: कृष्ण लेश्या के संक्लेश परिणामों की वृद्धि होने पर स्वस्थान संक्रमण होता है और कृष्णलेश्या के संक्लेश परिणामों की हानि होने पर स्वस्थान और परस्थान दोनों संक्रमण होते हैं। **(रा.वा.१०)**

९. प्रश्न : किन-किन लेश्याओं का कौन-कौनसा संक्रमण होता है ?

उत्तर : शुक्ल लेश्या में विशुद्धि की वृद्धि होने पर एक स्वस्थान संक्रमण ही होता है, लेश्यान्तर संक्रमण नहीं होता है। संक्लेश परिणामों की वृद्धि और विशुद्ध परिणामों की हानि होने पर स्वस्थान और परस्थान दोनों संक्रमण होते हैं।

मध्य की लेश्याओं (नील, कापोत, पीत, पद्म) में संक्लेश और विशुद्धि की हानि-वृद्धि होने से स्वस्थान और परस्थान दोनों संक्रमण होते हैं।

कृष्ण लेश्या में संक्लेश की वृद्धि होने पर एक स्वस्थान संक्रमण ही होता है लेश्यान्तर संक्रमण नहीं होता है। विशुद्ध परिणामों की वृद्धि एवं संक्लेश परिणामों की हानि होने पर स्वस्थान एवं परस्थान दोनों संक्रमण होते हैं। **(रा.वा. १०)**

१०. प्रश्न : लेश्याकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : कृष्णादि लेश्या वालों के तरतमता से परिणाम होते हैं, उसके दृष्टान्त-

कृष्ण लेश्या में - नीचे की जड़ सहित पूरे वृक्ष को काटने का भाव।

नील लेश्या में - शाखायें काटने का भाव।

कापोत लेश्या में - छोटी डालियाँ काटने का भाव।

पीत लेश्या में - गुच्छे तोड़ने के भाव।

पद्म लेश्या में - पके फल तोड़ने के भाव।

शुक्ल लेश्या में - स्वयं गिरे हुए पके फल खाने के भाव।

इन आचरणों को लेश्याकर्म कहते हैं। **(रा.वा. १०)**

११. प्रश्न : कृष्ण लेश्या किसे कहते हैं ?

उत्तर : प्रमाण और नय के द्वारा निश्चित तत्त्व को नहीं मानना, दुराग्रहत्व, उपदेशावमानत्व (उपदेश की अवमानना करना), तीव्र वैर भाव रखना, अतिक्रोध, दुर्मुखत्व, निर्दयता, अतिसंक्लेश परिणाम होना, सन्ताप, हिंसा, असन्तोष आदि परम तामस भाव कृष्ण-लेश्या के लक्षण हैं। **(रा.वा.१०)**

कृष्ण लेश्या से युक्त दुष्ट पुरुष अपने ही गोत्रीय तथा एक मात्र स्वकलत्र को भी मारने की इच्छा करता है। दयाधर्म से रहित, वैर को न छोड़ने वाला, प्रचण्ड कलह करने वाला और क्रोधी जीव कृष्ण लेश्या के साथ धूमप्रभा पृथिवी से अन्तिम पृथिवी तक जन्म लेता है। **(ति.प. २/२९६-९७)**

१२. प्रश्न : नील लेश्या किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो दुष्ट हो, मन्द अर्थात् स्वच्छन्द हो, वर्तमान कार्य करने में विवेकरहित हो, कलाचातुर्य से रहित हो, पंचेन्द्रिय के विषयों में लम्पट हो, मानी, मायावी, आलसी और भीरु हो, बहुत निद्रालु हो, पर वंचन में अतिदक्ष हो और धन-धान्य के संग्रहादि में तीव्र लालसावाला हो, ये सब संक्षेप में नील लेश्या वाले के लक्षण कहे गये हैं। **(पं.सं.प्रा. १०/१४५-१४६)** विषयों में आसक्त, मतिहीन, मानी, विवेक बुद्धि से रहित, मन्द, आलसी, कायर, प्रचुर माया प्रपंच में संलग्न, निद्राशील, दूसरों को ठगने में तत्पर, लोभ से अन्ध, धन-धान्यजनित सुख का इच्छुक और बहु संज्ञायुक्त (आहारादि संज्ञाओं में आसक्त) ऐसा जीव नील लेश्या के साथ धूमप्रभा तक जाता है। **(ति.प. २/२९८-९९)**

मूर्खता, कार्यानिष्ठा, भीरुता, अतिविषयाभिलाषा, अति आसक्ति, माया, तृष्णा, अतिमान, वंचना, अनृत भाषण, चपलता, अतिलोभ आदि भाव नीललेश्या के लक्षण हैं। **(रा.वा. १०)**

१३. प्रश्न : कापोत लेश्या किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो दूसरों के ऊपर रोष करता हो, दूसरों की निन्दा करता हो, दूषण बहुल हो, शोक बहुल हो, भय बहुल हो, दूसरों से ईर्ष्या करता हो, पर का पराभव करता हो, नाना प्रकार से अपनी प्रशंसा करता हो, स्तुति किये जाने पर अति सन्तुष्ट हो, अपनी हानि और वृद्धि को न जानता हो, रण में मरण का इच्छुक हो, स्तुति या प्रशंसा किये जाने पर बहुत धनादिक देवे और कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य को कुछ भी न गिनता हो, ये सब कापोत लेश्या वाले के चिह्न हैं। **(पं.सं. प्रा. १/१४७-४९)** मात्सर्य, पैशुन्य, परपरिभव, आत्मप्रशंसा, परपरिवाद, जीवननैराश्य, प्रशंसक को धन देना, युद्ध, मरणोद्यम आदि परिणाम कापोत लेश्या के लक्षण हैं। **(रा.वा. ४/१०)**

१४. प्रश्न : पीत लेश्या किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो अपने कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य और सेव्य-असेव्य को जानता हो, सबमें समदर्शी हो, दया और दान में रत हो, मृदु स्वभावी और ज्ञानी हो, ये सब तेजोलेश्यावाले के लक्षण हैं। **(पं.सं. प्रा.१/१५०)** दृढ़ मित्रता, दयालुता, सत्यवादिता, दानशीलत्व, स्वकार्य-पटुता, सर्वधर्मसमदर्शित्व आदि तेजोलेश्या के लक्षण हैं। **(रा.वा. ४/१०)**

१५. प्रश्न : पद्म लेश्या किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो त्यागी हो, भद्र हो, चोखा (सच्चा) हो, उत्तम काम करने वाला हो, बहुत भी अपराध या हानि होने पर क्षमा कर दे, साधुजनों के गुणों के पूजन में निरत हो, ये सब पद्मलेश्या के लक्षण हैं। **(पं.सं. प्रा. १/१५१)**

सत्यवाक्, क्षमा, सात्विकदान, पाण्डित्य, शास्त्र-गुरु-देव पूजन में रुचि आदि पद्म लेश्या के लक्षण हैं। **(रा.वा. १०)**

१६. प्रश्न : शुक्ल लेश्या किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो पक्षपात न करता हो और न निदान करता हो, सबमें समान व्यवहार करता हो, जिसे पर में राग-द्वेष या स्नेह न हो, ये सब शुक्ल लेश्या के लक्षण हैं। **(पं.सं.प्रा. १/१५२)**

निर्वैरता, वीतरागता, शत्रु के भी दोषों पर दृष्टि न देना, निन्दा न करना, पाप कार्यों से उदासीनता, श्रेयोमार्ग रुचि आदि शुक्ल लेश्या के लक्षण हैं। **(रा.वा.१०)**

१७. प्रश्न : शुभ लेश्या वाला मरकर कहाँ उत्पन्न होता है ?

उत्तर : उत्कृष्ट शुक्ल लेश्या के अंश रूप परिणामों से मरकर - सर्वार्थसिद्धि में उत्पन्न होता है।

जघन्य शुक्ल लेश्या के परिणामों से मरकर - शुक्र, महाशुक्र, शतार-सहस्रार में।

मध्यम शुक्ल लेश्या के परिणामों से मरकर - आनत से अनुत्तर तक।

उत्कृष्ट पद्म लेश्या के परिणामों से मरकर - सहस्रार स्वर्ग में।

जघन्य पद्म लेश्या के परिणामों से मरकर - सानत्कुमार-माहेन्द्र में।

मध्यम पद्म लेश्या के परिणामों से मरकर - ब्रह्म स्वर्ग से शुक्र-महाशुक्र तक।

उत्कृष्ट पीत लेश्या के परिणामों से मरकर - सानत्कुमार-माहेन्द्र के अन्त तक।

जघन्य पीत लेश्या के परिणामों से मरकर - सौधर्म-ऐशान के प्रथम इन्द्रक एवं श्रेणीबद्ध विमान तक।

मध्यम पीत लेश्या के परिणामों से मरकर - चन्द्रादि इन्द्रक श्रेणी विमान से लेकर बलभद्र इन्द्रक श्रेणी विमान तक उत्पन्न होते हैं। **(रा.वा. १०)**

१८. प्रश्न : अशुभ लेश्या वाला मरकर कहाँ उत्पन्न होता है ?

उत्तर : उत्कृष्ट कृष्ण लेश्या के परिणामों से मरकर - सातवें नरक के अप्रतिष्ठान बिल तक।

मध्यम कृष्ण लेश्या के परिणामों से मरकर	- हिमेन्द्रक बिल से महारौरव नामक बिल तक।
जघन्य कृष्ण लेश्या के परिणामों से मरकर	- पाँचवें नरक के तिमिस्र नामक इन्द्रक बिल तक।
उत्कृष्ट नील लेश्या के परिणामों से मरकर	- पाँचवें नरक के अन्ध नामक बिल में।
जघन्य नील लेश्या के परिणामों से मरकर	- तीसरे नरक के तप्त नामक बिल में।
मध्यम नील लेश्या के परिणामों से मरकर	- तीसरी पृथ्वी के त्रस्त इन्द्रक बिल से झषक इन्द्रक बिल तक।

उत्कृष्ट कापोत लेश्या के परिणामों से मरकर	-	बालुका प्रभा के संप्रज्वलित इन्द्रक तक।
जघन्य कापोत लेश्या के परिणामों से मरकर	-	रत्नप्रभा के सीमन्तक इन्द्रक तक।
मध्यम कापोत लेश्या के परिणामों से मरकर	-	प्रथम पृथ्वी के तीसरे रौरुक बिल से तीसरी पृथ्वी के संप्रज्वलित इन्द्रक तक।
कृष्ण, नील, कापोत और तेजो लेश्या के मध्यम अंशों से मरकर	-	भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क, पृथ्वीकाय, जलकाय और वनस्पति काय में।
मध्यम कृष्ण-नील और कापोत लेश्या के अंशों से मर कर	-	तेजस्कायिक और वायुकायिकों में।

देव-नारकी अपनी-अपनी लेश्याओं से मरकर - तिर्यञ्च और मनुष्य गति में उत्पन्न होते हैं।। **(रा.वा. १०)**

१९. प्रश्न : किन-किन जीवों के कौन-कौनसी लेश्या होती है ?

उत्तर : नरक-गति में लेश्या : जघन्य कापोत, मध्यम कापोत, उत्कृष्ट कापोत, जघन्य नील, मध्यम नील, उत्कृष्ट नील, जघन्य कृष्ण, मध्यम-कृष्ण, उत्कृष्ट कृष्ण लेश्या होती है। **(मू.आ. ११३६)**

जीव		**लेश्या**
एकेन्द्रिय एवं विकलत्रय जीवों के	-	कृष्ण, नील, कापोत।
असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चों के	-	कृष्ण, नील, कापोत, पीत।
प्रथम से चतुर्थ गुणस्थानवर्ती तिर्यञ्च-मनुष्य के	-	कृष्ण नील कापोत पीत पद्म शुक्ल। (छहों लेश्या)।
पाँचवें, छठे, सातवें गुणस्थान में	-	पीत, पद्म, शुक्ल।
आठवें से तेरहवें पर्यन्त	-	एक शुक्ल लेश्या।
चौदहवें गुणस्थान में	-	लेश्यातीत या लेश्या नहीं है। **(गो.जी. ५३०-५३२)**
अपर्याप्तक भोगभूमिज जीवों के	-	अप्रशस्त कृष्ण, नील, कापोत।
क्षायिक सम्यग्दृष्टि अपर्याप्तावस्था में	-	जघन्य कापोत लेश्या।
कर्मभूमिज मनुष्य तिर्यञ्चों के	-	छहों लेश्या।
पर्याप्तक भोगभूमिज मनुष्य तिर्यञ्चों के	-	प्रशस्त पीत, पद्म, शुक्ल। **(सुख बो. त. वृ. २०६)**

गतियों में लेश्या

क्रमांक	गति	लेश्या
१.	**नरक गति**	जघन्य-कापोत मध्यम कापोत उत्कृष्ट-कापोत
		जघन्य-नील मध्यम-नील उत्कृष्ट-नील
		जघन्य-कृष्ण मध्यम-कृष्ण उत्कृष्ट-कृष्ण
२.	**तिर्यञ्च गति** १ से ४ गुणस्थान तक	कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, शुक्ल छहों लेश्या
	एकेन्द्रिय एवं विकलत्रय	कृष्ण नील कापोत
	असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच	कृष्ण नील कापोत पीत
	कर्मभूमिज तिर्यंच	छहों लेश्या
	पर्याप्तक भोगभूमि तिर्यंच	प्रशस्त पीत, पद्म, शुक्ल
३.	**मनुष्य गति** १ से ४ गुणस्थान	कृष्ण नील कापोत पीत पद्म शुक्ल (छहों लेश्या)
	५, ६, ७ वें गुणस्थान में	पीत पद्म शुक्ल
	८ से १३वें गुणस्थान में	शुक्ल
	क्षायिक स. दृष्टि अपर्याप्त अवस्था में	जघन्य कापोत
	कर्म-भूमिज मनुष्य	छहों लेश्या
	पर्याप्तक भोगभूमिज मनुष्य	प्रशस्त पीत पद्म शुक्ल लेश्या
४.	**देव गति**-भवनत्रिक देवों में	द्रव्य की अपेक्षा छहों लेश्या
	भवनत्रिक से ऊपर	पीत-पद्म-शुक्ल
	वैमानिक देव, दो स्वर्ग तक	पीत लेश्या
	सानतकुमार माहेन्द्र में	पद्म लेश्या
	शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्रार में	पद्म, शुक्ल लेश्या
	आनत-प्राणत-आरण, अच्युत	शुक्ल लेश्या
	९ ग्रैवेयक, ९ अनुदिश	शुक्ल लेश्या
	पाँच अनुत्तर	परम शुक्ल

नोट : (सौधर्मादि स्वर्ग के देवों की लेश्या हेतु देखें ४/२२)

२०. प्रश्न : अनन्त भाग वृद्धि आदि किसे कहते हैं ?

उत्तर : सर्व जीवों में अनन्त का भाग देने से जो लब्ध आता है उतनी वृद्धि को अनन्त भाग वृद्धि कहते हैं। लोकाकाश में असंख्यात का भाग देने पर जो लब्ध आता है उतनी वृद्धि को असंख्यात भाग वृद्धि कहते हैं। उत्कृष्ट संख्यात में संख्यात का भाग संख्यात भाग वृद्धि है। उत्कृष्ट संख्यात को उत्कृष्ट संख्यात से गुणा करने पर जो लब्ध आता है उतनी वृद्धि हो जाना संख्यात गुणवृद्धि है। असंख्यात लोक का असंख्यात से गुणा करने पर जो प्रमाण आता है उतनी वृद्धि असंख्येय गुण वृद्धि है। सर्व जीवों से अनन्त गुणी वृद्धि अनन्त गुण वृद्धि है। **(रा.वा.१०)**

२१. प्रश्न : लेश्या का साधन क्या है ?

उत्तर : कारण को साधन कहते हैं। द्रव्य लेश्या शरीर के वर्ण से सम्बन्ध रखती है, अत: द्रव्य लेश्या नामकर्म के उदय से होती है। भावलेश्या कषायों के उदय, क्षयोपशम, उपशम और क्षय से होती है। **(रा.वा. १०)**

२२. प्रश्न : कृष्णादि लेश्या वाले जीव कितने-कितने हैं ?

उत्तर : कृष्ण, नील और कापोत लेश्याओं में से प्रत्येक का द्रव्य प्रमाण अनन्त है।

काल प्रमाण से ये (तीनों अशुभ लेश्याओं में से प्रत्येक का) अनन्तानन्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी प्रमाण है।

क्षेत्र प्रमाण अनन्तानन्त लोक प्रमाण है।

तेजो लेश्या का द्रव्य प्रमाण ज्योतिषी देवों के प्रमाण से कुछ अधिक है।

पद्म लेश्या का द्रव्य प्रमाण से संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चों के प्रमाण के संख्यात भाग प्रमाण है।

शुक्ल लेश्या वाले द्रव्य की अपेक्षा पल्योपम के असंख्यातवें भाग है। **(रा.वा. १०)**

२३. प्रश्न : कृष्णादि लेश्या वालों का क्षेत्र कितना है ?

उत्तर : कृष्ण, नील और कापोत लेश्याओं के धारक जीवों में प्रत्येक का स्वस्थान, समुद्घात और उपपाद की अपेक्षा सर्वलोक क्षेत्र है। तेजो लेश्या और पद्म लेश्या वालों का प्रत्येक का स्वस्थान, समुद्घात और उपपाद की दृष्टि से लोक का असंख्यातवाँ भाग क्षेत्र है। शुक्ल लेश्या वाले जीव स्वस्थान और उपपाद द्वारा लोक के असंख्यातवें भाग में और समुद्घात की अपेक्षा लोक के असंख्येय भाग के एक भाग में वा असंख्यात के बहुभाग में और सर्वलोक में निवास करते हैं। **(रा.वा. १०)**

२४. प्रश्न : कृष्णादि लेश्या वालों का स्पर्शन कितना है ?

उत्तर : कृष्ण, नील, कापोत लेश्या वालों के द्वारा स्वस्थान समुद्घात और उपपाद की दृष्टि से सर्व लोक का स्पर्श किया जाता है। तेजोलेश्या वालों का स्वस्थान की दृष्टि से लोक का असंख्यातवाँ भाग तथा कुछ कम $\frac{८}{१४}$ भाग स्पर्श है, समुद्घात की दृष्टि से लोक का असंख्यातवाँ भाग तथा कुछ कम $\frac{८}{१४}$ और $\frac{९}{१४}$ भाग स्पर्श है। उपपाद की दृष्टि से लोक के असंख्यात भाग अथवा चौदह भागों में कुछ कम अर्थात् $\frac{१\frac{१}{२}}{१४}$ भाग है।

पद्म लेश्या वालों का स्वस्थान और समुद्घात के द्वारा लोक का असंख्येय भाग तथा कुछ कम $\frac{८}{१४}$ भाग स्पर्श है। उपपाद की दृष्टि से पद्म लेश्या वाला लोक का असंख्येय भाग तथा कुछ कम $\frac{५}{१४}$ भाग स्पर्श करता है।

शुक्ल लेश्या वाले स्वस्थान और उपपाद की अपेक्षा लोक का असंख्येय भाग तथा कुछ कम $\frac{६}{१४}$ भाग स्पर्श करते हैं। समुद्घात की दृष्टि से लोक का असंख्येय भाग कुछ कम $\frac{६}{१४}$ भाग, असंख्येय बहुभाग और सर्व लोक स्पर्शन करते हैं। **(रा.वा. १०)**

२५. प्रश्न : कृष्णादि लेश्याओं का काल कितना है ?

उत्तर : कृष्ण, नील, कापोत लेश्या का जघन्य काल - अन्तर्मुहूर्त्त है।

कृष्ण लेश्या का उत्कृष्ट काल - कुछ अधिक ३३ सागर।

नील लेश्या का उत्कृष्ट काल - कुछ अधिक १७ सागर।

कापोत लेश्या का उत्कृष्ट काल - कुछ अधिक ७ सागर ।

तेजो लेश्या का जघन्य काल - अन्तर्मुहूर्त्त।

तेजो लेश्या का उत्कृष्ट काल - कुछ अधिक २ सागर।

पद्म लेश्या का जघन्य काल - अन्तर्मुहूर्त्त ।

पद्म लेश्या का उत्कृष्ट काल - कुछ अधिक १८ सागर।

शुक्ल लेश्या का जघन्य काल - अन्तर्मुहूर्त्त।

शुक्ल लेश्या का उत्कृष्ट काल - कुछ अधिक ३३ सागर है। **(रा.वा. १०)**

२६. प्रश्न : कृष्णादि लेश्याओं का अन्तर कितना है ?

उत्तर : कृष्ण, नील और कापोत लेश्या का जघन्य अन्तर - अन्तर्मुहूर्त्त है।

तीनों लेश्याओं का उत्कृष्ट अन्तर - कुछ अधिक तैंतीस सागर है।

पीत, पद्म और शुक्ल लेश्या का जघन्य अन्तर - अन्तर्मुहूर्त्त है।

इन तीन लेश्याओं का उत्कृष्ट अन्तर - अनन्त काल है।

यह अनन्तकाल असंख्यात परिवर्तन प्रमाण है। **(रा.वा. १०)**

२७. प्रश्न : कृष्णादि लेश्याओं में कौनसा भाव पाया जाता है ?

उत्तर : शरीर नाम कर्म और मोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न होने के कारण छहों लेश्या औदयिकी ही हैं अत: इनमें एक औदयिक भाव है। **(रा.वा. १०)**

२८. प्रश्न : इन लेश्याओं में अल्पबहुत्व किस प्रकार कहना चाहिए ?

उत्तर : शुक्ल लेश्या वाले सबसे कम हैं।

पद्म लेश्या वाले शुक्ल लेश्या वालों से असंख्यात गुणे हैं।

पीत लेश्या वाले पद्म लेश्या वालों से असंख्यात गुणे हैं।

अलेश्या वाले (१४वें गुणस्थान एवं सिद्ध भगवान) तेजो लेश्या वालों से अनन्तगुणे हैं।

कापोत लेश्या वाले अलेश्या वालों से अनन्त गुणे हैं।

नील लेश्या वाले कापोत लेश्या वालों से विशेष अधिक हैं।

कृष्ण लेश्या वाले नील लेश्या वालों से विशेष अधिक हैं। **(रा.वा. १०)**

२९. प्रश्न : लेश्या शब्द स्त्री लिङ्गी है अत: पीता-पद्मा आदि कहना चाहिए ?

उत्तर : जैसे 'द्रुतायां तपरकरणे मध्यमविलम्बितयोरुपसंख्यानम्'' अर्थात् द्रुतावृत्ति में तपरकरण करने पर मध्यमा और विलम्बितावृत्ति में उसका उपसंख्यान होता है इसके अनुसार यहाँ 'मध्यमा' शब्द में औत्तरपदिक ह्रस्व हुआ है। उसी प्रकार प्रकृत में भी औत्तरपदिक ह्रस्व जानना चाहिए। अथवा यहाँ पीता, पद्मा और शुक्ला शब्द न लेकर पीत, पद्म और शुक्ल वर्ण वाले पदार्थ लेने चाहिए। **(सर्वा. ४८५)**

३०. प्रश्न : सूत्र में मिश्र लेश्याएँ नहीं कहीं है फिर उनका ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : साहचर्यवश मिश्र लेश्याओं का ग्रहण होता हैं, लोक के समान। जैसे 'छत्री जाते हैं' ऐसा कथन करने पर अछत्रियों में भी छत्री व्यवहार होता है उसी प्रकार यहाँ भी दोनों मिश्र लेश्याओं में से किसी एक का ग्रहण होता है। **(सर्वा. ४८५)**

३१. प्रश्न : यह अर्थ सूत्र से कैसे जाना जाता है ?

उत्तर : यहाँ ऐसा सम्बन्ध करना चाहिए कि दो कल्प युगलों में पीत लेश्या है। यहाँ सानत्कुमार माहेन्द्र कल्प में पद्म लेश्या की विवक्षा नहीं की। ब्रह्मलोक आदि तीन कल्पयुगलों में पद्म लेश्या है। शुक्र और महाशुक्र में शुक्ल लेश्या की विवक्षा नहीं की। शेष शतार आदि में शुक्ललेश्या है। पद्म लेश्या की विवक्षा नहीं की। इसलिए कोई दोष नहीं है। **(सर्वा. ४८५)**

अनुयोगों द्वारा लेश्याओं का वर्णन

निर्देश लेश्या	वर्ण	परिणाम	संक्रमण		कर्म	लक्षण	संख्या	क्षेत्र	स्पर्शन	काल	अंतर	भाव	अल्पबहुत्व	साधन
कृष्ण	भ्रमरवत्	संक्लेश	वृद्धि स्व स्थान	हानि स्व स्थान पर स्थान	वृक्ष की जड़ काटना	तीव्र क्रोध	अनन्तानन्त	सर्वलोक	सर्वलोक	उत्कृष्ट : कुछ अधिक ३३ सागर जघन्य : अंतर्मुहूर्त	उत्कृष्ट : कुछ अधिक ३३ सागर जघन्य : अंतर्मुहूर्त	औदयिक	कृष्ण वाले नील लेश्या वालों से विशेष अधिक	द्रव्य : नाम कर्म भाव : कषायों के उदयादि अपेक्षा
नील	मयूरकण्ठवत्	संक्लेश	स्व स्थान पर स्थान	स्व स्थान पर स्थान	शाखाएँ काटना	पर-वंचनादि	,,	,,	,,	उत्कृष्ट : कुछ अधिक १७ सागर जघन्य : अंतर्मुहूर्त	उत्कृष्ट : कुछ अधिक ३३ सागर जघन्य : अंतर्मुहूर्त	औदयिक	नील वाले कापोत वालों से विशेष अधिक	द्रव्य : नाम कर्म भाव : कषायों के उदयादि अपेक्षा
कापोत	कबूतर-वत्	संक्लेश	,,	,,	छोटी डाली काटना	पर-निन्दा आदि	,,	,,	,,	उत्कृष्ट : कुछ अधिक ७ सागर जघन्य : अंतर्मुहूर्त	,,	औदयिक	कापोत लेश्या वाले अलेश्या वालों से अनंत गुणे	द्रव्य : नाम कर्म भाव : कषायों के उदयादि अपेक्षा
पीत	तप्तस्वर्णवत्	विशुद्ध	,,	,,	गुच्छे तोड़ना	दया दान प्रवृत्ति	ज्योतिषी देवों से कुछ अधिक	लोक के असंख्यातवें भाग	लोक का असंख्यातवां भाग तथा कुछ कम $\frac{८}{१४}$ राजू	उत्कृष्ट : कुछ अधिक २ सागर जघन्य : अंतर्मुहूर्त	उत्कृष्ट : अनंतकाल जघन्य : अंतर्मुहूर्त	औदयिक	पीत लेश्या वाले पद्म लेश्या वालों से असंख्यात गुणे	द्रव्य : नाम कर्म भाव : कषायों के उदयादि अपेक्षा
पद्म	कमलवत्	विशुद्ध	,,	,,	पके फल तोड़ना	भद्रता त्यागादि	संज्ञी पंचेन्द्रिय के प्रमाण से कुछ अधिक	,,	लोक का असंख्येय भाग तथा कुछ कम $\frac{८}{१४}$ राजू	उत्कृष्ट : कुछ अधिक १८ सागर जघन्य : अंतर्मुहूर्त	,,	औदयिक	पद्म लेश्या वाले शुक्ल लेश्या वालों से असंख्यात गुणे	द्रव्य : नाम कर्म भाव : कषायों के उदयादि अपेक्षा
शुक्ल	शंखवत्	विशुद्ध	स्वास्थान	,,	गिरे फल खाना	पक्षपातादि का अभाव	पल्योपम के असंख्यातवें भाग	समुद्घात की अपेक्षा सर्वलोक	सर्वलोक	उत्कृष्ट : कुछ अधिक ३३ सागर जघन्य : अंतर्मुहूर्त	,,	औदयिक	सबसे कम	द्रव्य : नाम कर्म भाव : कषायों के उदयादि अपेक्षा

कल्पों को बताते हैं-

प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः ॥२३॥

प्राक्-ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः।

(ग्रैवेयकेभ्यः) ग्रैवेयकों से (प्राक्) पहले (कल्पाः) कल्प संज्ञा है।

अर्थ - सौधर्म स्वर्ग से लेकर ग्रैवेयक से पहले कल्प संज्ञा है।

१. **प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?**

उत्तर : कल्पोपपन्न कहने से यह नहीं जाना जाता हैं कि कल्प कौन-कौन से हैं, ऐसा पूछने पर यह सूत्र लिखा गया है। **(रा.वा.उ. २३)**

२. **प्रश्न : कल्प कहाँ से प्रारम्भ होते हैं ?**

उत्तर : यह नहीं मालूम होता कि यहाँ से लेकर कल्प हैं, इसलिए सौधर्म आदि पद की अनुवृत्ति होती है। इससे यह अर्थ प्राप्त होता है कि सौधर्म से लेकर और नौ ग्रैवेयक से पूर्व तक कल्प हैं। **(सर्वा. ४८७)**

३. **प्रश्न : यदि सौधर्मादि कल्प हैं तो यह सूत्र सौधर्मादि स्वर्गों के निर्देश के अनन्तर ही कहना चाहिए ?**

उत्तर : सौधर्मादि के बाद इस सूत्र को कहने पर व्यवधान का प्रसंग आता है। यदि सौधर्मादि के बाद इस सूत्र को कहते तो स्थिति, प्रभाव आदि सूत्रों का सम्बन्ध भी कल्प विमानों से होता और ऐसा होने पर उन सूत्रों में विधीयमान अर्थ का अनन्तर होने से कल्पों में ही सम्बन्ध होता, व्यवहित होने से ग्रैवेयक आदि में सम्बन्ध नहीं होता, जबकि स्थिति, प्रभाव आदि का विधान पूरे देवलोक में है। यहाँ इस सूत्र को कहने पर स्थिति आदि की विशेष विधि अविशेषता से पूरे देवलोक में सिद्ध हो जाती है। **(रा.वा. १)**

४. **प्रश्न : कल्पातीत विमान कौन-कौन से हैं ?**

उत्तर : परिशेष न्याय से कल्पातीत की सिद्धि हो जाती है। सौधर्म स्वर्ग से लेकर नव ग्रैवेयक से पहले कल्पोपपन्न हैं- ऐसा कहने पर परिशेष न्याय से नव ग्रैवेयक से लेकर अनुत्तर विमानों के अन्त तक कल्पातीत हैं। यह सिद्ध हो जाता है। **(रा.वा. २)**

५. **प्रश्न : यदि ऐसा है तो भवनवासी आदि देवों के भी कल्पातीतत्व का प्रसंग आयेगा ?**

उत्तर : भवनवासी आदि देवों को कल्पातीत इसलिए नहीं कहा जा सकता कि यहाँ 'उपर्युपरि' का अनुवर्तन होता है। इससे स्पष्ट ज्ञान होता है कि कल्प से ऊपर ही कल्पातीत हैं, नीचे के देव नहीं। सामानिकादिक भेद नहीं होने से कल्पातीत अहमिन्द्र ही कहलाते हैं क्योंकि सामानिकादिक की कल्पना वाले ही कल्पोपपन्न हैं। **(रा.वा. ३)**

६. प्रश्न : देव निकाय चार ही प्रकार के नहीं हो सकते, क्योंकि कल्पोपपन्न, भवनवासी आदि के अनेक भेद हैं ?

उत्तर : लौकान्तिक देवों के समान ये सब देव के चार निकायों (भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष्क, वैमानिक) में अन्तर्भूत हो जाते हैं। जैसे लौकान्तिक देवों का अन्तर्भाव कल्पवासी देवों में होता है- लौकान्तिक दूसरे निकाय में नहीं हैं उसी प्रकार आकाशोपपन्न और पातालवासियों का अन्तर्भाव व्यन्तर देवों में हो जाता है और कल्पवासी देवों का अन्तर्भाव वैमानिक में हो जाता है, निकायान्तरत्व नहीं है अत: देवों के चार निकायों की हानि नहीं होती है। **(रा.वा. ४)**

लौकान्तिक देवों का निवास-स्थान कहते हैं

ब्रह्मलोकालया लौकान्तिका: ॥२४॥

ब्रह्मलोक-आलया:- लौकान्तिका:।

(लौकान्तिका:) लौकान्तिक देवों (ब्रह्मलोकालया) का निवास स्थान ब्रह्मलोक है।[१]

अर्थ - लौकान्तिक देवों का ब्रह्मलोक में आलय (निवासस्थान) है।

आलय जिसमें प्राणी आकर लीन होते हैं, उसे आलय एवं निवास कहते हैं। **(रा.वा. १)**

१. प्रश्न : क्या ब्रह्म स्वर्ग के सभी देव लौकान्तिक हैं ?

उत्तर : नहीं, ब्रह्मलोक सामान्य पद होने पर भी पाँचवें स्वर्ग के निवासी सभी लौकान्तिक नहीं होते, क्योंकि ब्रह्मलोक का अन्त लोकान्त और उसमें रहने वाले लौकान्तिक होते हैं। इस लौकान्तिक का फलितार्थ ब्रह्मलोक के अन्त में रहने वाले लौकान्तिक हैं। अथवा जन्म-जरा-मरण से व्याप्त लोक है, उस लोक का अन्त करना जिनका प्रयोजन है वे लौकान्तिक हैं। **(रा.वा. २)** वे लौकान्तिक निकट संसारी हैं। वहाँ से च्युत होकर गर्भवास प्राप्त कर नियम से मोक्ष चले जाते हैं। **(रा.वा.२)**

लौकान्तिक देवों के भेद कहते हैं -

सारस्वतादित्यवह्न्यरुणगर्दतोयतुषिताव्याबाधारिष्टाश्च ॥२५॥

सारस्वत-आदित्य-वह्नि-अरुण-गर्दतोय-तुषित-अव्याबाध-अरिष्टा: च।

अर्थ - सारस्वत, आदित्य, वह्नि, अरुण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध और अरिष्ट ये लौकान्तिक देवों के नाम हैं।

१. प्रश्न : लौकान्तिक देव कितने प्रकार के होते हैं ?

---

१. जिस प्रकार राष्ट-पति शहर में रहकर भी शहर में नहीं रहता है, उसी प्रकार लौकान्तिक देव भी स्वर्ग में रह कर भी अगम्य स्थान पर रहते हैं। वहाँ अन्य देव भी नहीं जा सकते हैं, अवधिज्ञान से भी नहीं जान सकते हैं, जानने के योग्य भी नहीं हैं।

उत्तर : लौकान्तिक देव चौबीस प्रकार के होते हैं **(शा.सा.स.क. ४३)** (१) सारस्वत (२) अग्न्याभ (३) सूर्याभ (४) आदित्य (५) चन्द्राभ (६) सत्याभ (७) वह्नि (८) श्रेयस्कर (९) क्षेमङ्कर (१०) अरुण (११) वृषभेष्ट (१२) कामचर (१३) गर्दतोय (१४) निर्माण रजस् (१५) दिगन्तरक्षित (१६) तुषित (१७) आत्मरक्षित (१८) सर्वरक्षित (१९) अव्याबाध (२०) मरुत् (२१) वसु (२२) अरिष्ट (२३) अश्व (२४) विश्व।

सारस्वत, आदित्य, वह्नि, अरुण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध और अरिष्ट ये लौकान्तिक देवों के भेद हैं। **(त.सू. ४/२५)**

सारस्वत, आदित्य, वह्नि, अरुण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध, आग्नेय और अरिष्ट ये लौकान्तिक देव हैं। **(लो.वि. १०/३१५-१७)**

२. प्रश्न : सूत्र में दिये गये 'च' शब्द से किसका ग्रहण करना चाहिए ?

उत्तर : सूत्र में दिये गये 'च' शब्द से उन विमानों के अन्तरालवर्ती विमानों का संग्रह होता हैं और द्वन्द्व वृत्ति से उन विमानों में रहने वाले देवगणों को जानना चाहिए। वे भी लौकान्तिक देव हैं।[१] **(रा.वा.२)**

३. प्रश्न : सारस्वतादि देवों का निवास किस प्रकार है ?

उत्तर : पूर्व उत्तर आदि आठों दिशाओं में यथाक्रम सारस्वतादि देवों का निवास है - ऐसा जानना चाहिए। उनमें पूर्व-उत्तर कोण (ईशान) में सारस्वत विमान हैं। पूर्व दिशा में आदित्य विमान, पूर्व और दक्षिण दिशा के मध्य में वह्नि विमान, दक्षिण दिशा में अरुण विमान, दक्षिण और पश्चिम दिशा के मध्य में गर्दतोय विमान, पश्चिम दिशा में तुषित विमान उत्तर और पश्चिम दिशा के मध्य में अव्याबाध विमान और उत्तर दिशा में अरिष्ट विमान है। **(रा.वा.१)**

४. प्रश्न : किनके पूर्व आदि दिशाओं में सारस्वतादि विमान हैं ?

उत्तर : अरुण समुद्र से उत्पन्न मूल में असंख्यात योजन का विस्तृत तथा मध्य और अन्त में क्रमशः घटकर संख्यात योजन विस्तार वाला, समुद्र के समान वलयाकार, अत्यन्त तीव्र अन्धकार रूप तमस्कन्ध है। वह तमस्कन्ध कुक्कुट कुटी (मुर्गी के आकार) के समान अरिष्ट नामक विमान के नीचे अवस्थित है। उसके ऊपर आठ अन्धकार राशियाँ निकल कर अरिष्टेन्द्र विमान के चारों तरफ स्थित रहती हैं। वे आठ अन्धकार राशियाँ चारों दिशाओं में दो-दो तिर्यग्लोक के अन्त तक गई हैं। उन अन्धकार राशियों के अन्तराल में सारस्वतादि लौकान्तिक विमान जानने चाहिए। **(रा.वा.१)**

५. प्रश्न : इन विमानों के अन्तरालवर्ती विमान कौन-कौन से हैं ?

---

१. 'च' शब्द से ग्रहण करना कि ये देव एक भवावतारी होते हैं। आगे के विजयादि के दो भवावतारी कहे हैं।

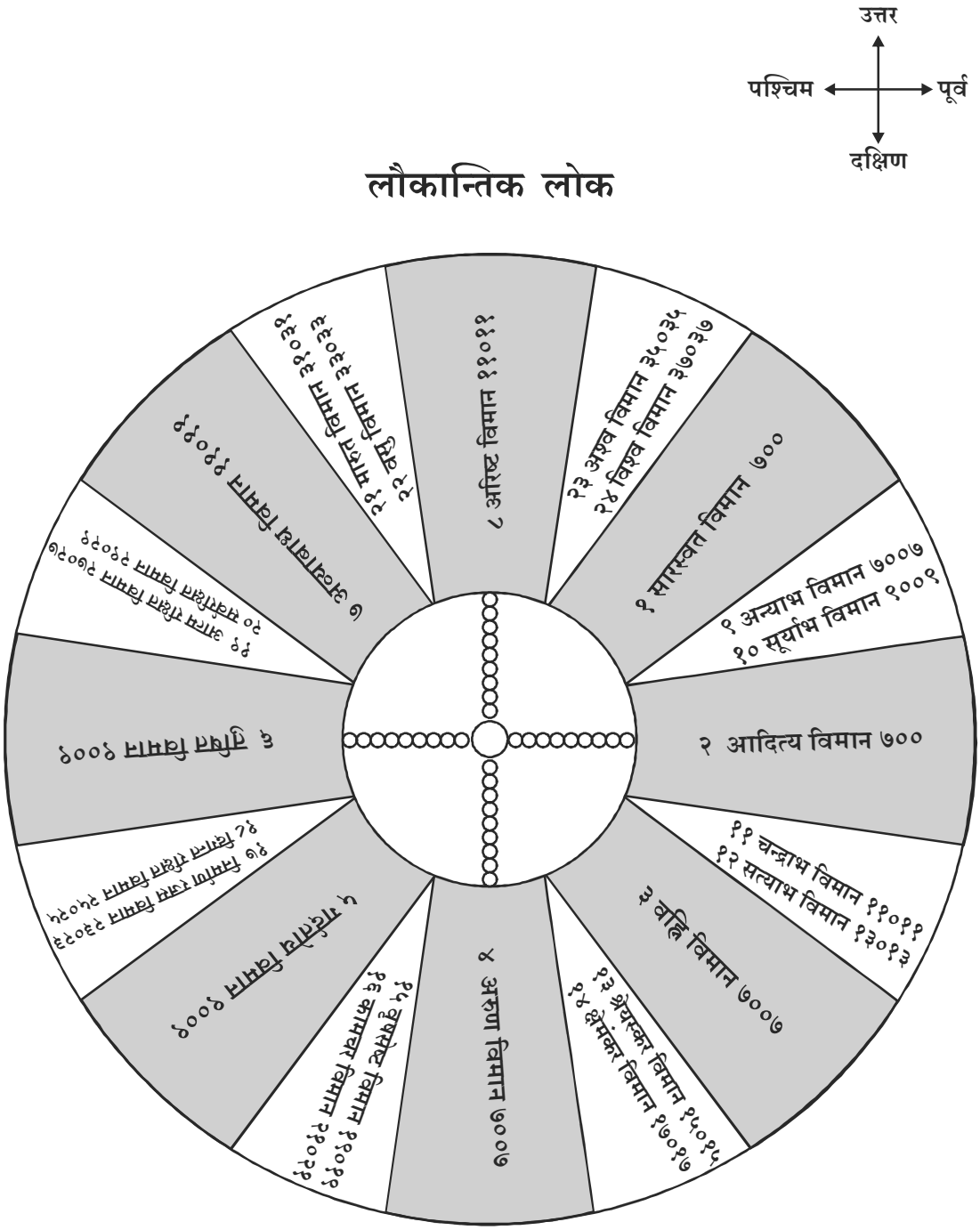
उत्तर
पश्चिम
पूर्व
दक्षिण
लौकान्तिक लोक
१ सारस्वत विमान ७००
१ अन्याभ विमान ७००७
१० सूर्याभ विमान ९००९
२ आदित्य विमान ७००
११ चन्द्राभ विमान ११०११
१२ सत्याभ विमान १३०१३
३ वह्नि विमान ७००७
१३ श्रेयस्कर विमान १५०१५
१४ क्षेमंकर विमान १७०१७
४ अरुण विमान ७००७
१५ वृषभेष्ट विमान १९०१९
१६ कामचर विमान २१०२१
५ गर्दतोय विमान १०००५
१७ निर्माण रजस विमान २३०२३
१८ दिगन्त रक्षित विमान २५०२५
६ तुषित विमान १०००६
१९ आत्म रक्षित विमान २७०२७
२० सर्वरक्षित विमान २९०२९
७ अव्याबाध विमान ११००११
२१ मारुत विमान ३१०३१
२२ वह्नि विमान ३३०३३
८ अरिष्ट विमान ११०११
२३ अश्व विमान ३५०३५
२४ विश्व विमान ३७०३७

उत्तर : अग्न्याभ, सूर्याभ, चन्द्राभ, सत्याभ, श्रेयस्कर, क्षेमङ्कर, वृषभेष्ट, कामचर, निर्माणरजस्, दिगन्तरक्षित, आत्मरक्षित, सर्वरक्षित, मरुत्, वसु, अश्व और विश्व इन नामों के विमान हैं। ये अग्न्याभ आदि षोड़श देवगण लौकान्तिक देवों के ही भेद कहे जाते हैं। **(रा.वा. ३)**

६. प्रश्न : ये अग्न्याभादि विमान कहाँ स्थित हैं ?

उत्तर : सारस्वत और आदित्य के बीच में - अग्न्याभ और सूर्याभ।

आदित्य और वह्नि के बीच में - चन्द्राभ और सत्याभ।

वह्नि और अरुण के बीच में - श्रेयस्कर और क्षेमङ्कर।

अरुण और गर्दतोय के बीच में - वृषभेष्ट और कामचर।

गर्दतोय और तुषित के मध्य में - निर्माणरजस् और दिगन्तरक्षित।

तुषित और अव्याबाध के मध्य में - आत्मरक्षित और सर्वरक्षित।

अव्याबाध और अरिष्ट के मध्य में - मरुत् और वसु।

अरिष्ट और सारस्वत के मध्य में - अश्व और विश्व।

इन विमानों में रहने के कारण इन विमानों में रहने वाले लौकान्तिक देवों का भी यही नाम होता है। **(रा.वा. ३)**

७. प्रश्न : सारस्वतादि देवों की संख्या कितनी है ?

उत्तर :

नाम	संख्या	नाम	संख्या
(१) सारस्वत	७००	(८) अरिष्ट देव	११०११
(२) आदित्य	७००	(९) अग्न्याभ देव	७००७
(३) अग्निदेव	७००७	(१०) सूर्याभ देव	९००९
(४) अरुण देव	७००७	(११) चन्द्राभ देव	११०११
(५) गर्दतोय देव	९००९	(१२) सत्याभ देव	१३०१३
(६) तुषित देव	९००९	(१३) श्रेयस्कर देव	१५०१५
(७) अव्याबाध देव	११०११	(१४) क्षेमङ्कर देव	१७०१७

नाम	संख्या	नाम	संख्या
(१५) वृषभेष्ट देव	१९०१९	(२०) सर्वरक्षित देव	२९०२९
(१६) कामचर देव	२१०२१	(२१) मारुति देव	३१०३१
(१७) निर्माणरजस् देव	२३०२३	(२२) वसु देव	३३०३३
(१८) दिगन्तरक्षित देव	२५०२५	(२३) अश्व देव	३५०३५
(१९) आत्मरक्षित देव	२७०२७	(२४) विश्व देव	३७०३७

इस प्रकार इन चतुर्विंशति लौकान्तिकों की समग्र संख्या चार लाख सात हजार आठ सौ छह (४०७८०६) है। **(रा.वा. ३)**

सारस्वत और आदित्य तथा तुषित और गर्दतोय में से प्रत्येक सात सौ सात (७०७) और शेष देव पूर्वोक्त प्रमाण से युक्त हैं। आग्नेय, अव्याबाध और अरिष्ट की ९०९, वह्नि और अरुण की संख्या १४०१४ जानना चाहिए। **(लो.वि. १०/३१९-२१)**

८. प्रश्न : लौकान्तिक देवों की क्या-क्या विशेषताएँ हैं ?

उत्तर : लौकान्तिक देवों की विशेषताएँ-

(१) ये ब्रह्म लोक के अन्त में रहने से लौकान्तिक कहलाते हैं। **(म.पु. १७/५०)**

(२) परम पवित्र भावों से देवों में ऋषि कहलाते हैं।

(३) ये देव तीर्थंकरों की दीक्षा के समय उन्हें प्रतिबोधन देने आते हैं। **(रा.वा. ३)**

(४) स्वभाव से ब्रह्मचारी होते हैं। **(मल्लि. ६/२)**

(५) इनके शरीर का रंग शंख के समान सफेद है। **(भ.आ.१४५ टी.)**

(६) सब लौकान्तिक देव नियम से ग्यारह अंग के धारी सम्यग्दर्शन से शुद्ध और स्वभाव से ही तृप्त होते हैं। **(ति.प. ८/६६४)**

(७) इनके महिलादिक रूप परिवार नहीं होते हैं, इसलिए ये निरन्तर संसार-क्षय के कारणभूत वैराग्य की भावना भाते हैं। **(ति.प. ८/६६५)**

(८) द्विचरम शरीर के धारक अर्थात् एक ही मनुष्य-जन्म लेकर मोक्ष जाने वाले हैं। **(ति.प. ८/६६७)**

(९) अनेक विषम क्लेशों से रहित वे सब देव तीर्थंकरों के दीक्षा-कल्याणक में जाते हैं। **(ति.प.८/६६७)**

(१०) देवर्षि नाम वाले वे देव सब देवों से अर्चनीय, भक्ति में प्रसक्त और सर्वकाल स्वाध्याय में स्वाधीन होते हैं। **(ति.प. ८/६६८)**

(११) इन देवों के शरीर का उत्सेध ५ हाथ प्रमाण है। **(ति.प. ८/६६३)**

(१२) ये देव शुक्ल लेश्या से शोभायमान होते हैं। **(ति.प. ८/६६३)**

(१३) हीनाधिकता का अभाव होने से ये सभी स्वतन्त्र हैं अर्थात् कोई किसी के आधीन नहीं है। **(सुख बो.त.वृ. २३२)**

(१४) सतत ज्ञानोपयोगी, सतत ज्ञान भावना से अविहित मन वाले, संसार से नित्य उद्विग्न, अनित्य-अशरण आदि बारह अनुप्रेक्षाओं का निरन्तर चिन्तन करने वाले और अति विशुद्ध सम्यग्दृष्टि होते हैं।

(१५) लौकान्तिक देव अत्यन्त शान्त, दीक्षा-कल्याणक को सूचित करने वाले देवर्षि, ब्रह्मचारी, निर्मल हृदय, एकावतारी, प्रवीण, ग्यारह अंग तथा चौदह पूर्व के पारगामी एवं दिव्यमूर्त्तिधारी होते हैं। **(शा.पु. १५/१४६-१४९)**

(१६) वे सभी देवों में उत्तम होते हैं तथा उनकी भावनाएँ शुभ रहती हैं। **(म.पु. १७/४९)**

(१७) ये देव बड़ी-बड़ी ऋद्धियों को धारण करने वाले होते हैं। **(म.पु. १७/५०)**

(१८) ये पूर्व भव में सम्पूर्ण श्रुतज्ञान का अभ्यास करते हैं। **(म.पु. १७/४९-५०)**

९. प्रश्न : लौकान्तिक देव दीक्षा कल्याणक में क्यों आते हैं ?

उत्तर : लौकान्तिक देव अवधिज्ञान रूपी नेत्र से देखते हैं कि जिनदेव स्वयं को एवं दूसरों को संसार-समुद्र से पार उतारने के लिए तत्पर हुए हैं तो वे विचारते हैं- भगवान् ने भव्य जीवों पर अनुग्रह करने वाला यह महान् कार्य करने का बीड़ा उठाया है, हमें भी इसकी अनुमोदना करनी चाहिए। तथा पूज्य पुरुषों की पूजा न करना भी स्वार्थ का घातक है, ऐसा विचार कर वे स्वर्ग से उतर कर भगवान के सम्मुख बड़े आदर से उपस्थित होते हैं। **(भ.आ. १४५)**

१०. प्रश्न : लौकान्तिक देव यहाँ आकर क्या करते हैं ?

उत्तर : लौकान्तिक देव यहाँ आकर भगवान के सामने निवेदन करते हैं- ''हे भगवन्। आपका यह उद्योग उचित ही है। महान् पुरुष कल्पवृक्ष की तरह प्रत्युपकार की अपेक्षा न करके जगत् पर अनुग्रह करते हैं। मिथ्यात्व रूपी अन्धकार से ज्ञान रूपी दृष्टि के अवरुद्ध हो जाने से संसार के भव्य जीव कुमार्ग में चल पड़ते हैं। बार-बार कुगति रूपी गड्ढे से निकलना चाहते हुए भी नहीं निकल पाते और कष्ट भोगते हैं। आपके द्वारा डाली गई विस्तृत, दृढ़, समीचीन दृष्टि रूपी रस्सी के द्वारा खींचे गये वे भव्य जीव आपके द्वारा बतलाये गये गुणशाली विशाल मोक्षमार्ग पर चलकर अनन्त ज्ञानात्मक सुख से सुखी हों।'' इतना कहकर वे चले जाते हैं। **(भ.आ.वि. १४५)**

११. प्रश्न : क्या वर्तमान काल के जीव भी लौकान्तिक बन सकते हैं ?

उत्तर : आज (पंचम काल में) भी जो मुनि रत्नत्रय की शुद्धता युक्त होते हैं वे आत्मा का ध्यान कर इन्द्र पद अथवा लौकान्तिक देव पद को प्राप्त करते हैं और वहाँ से चयकर निर्वाण को प्राप्त होते हैं। **(मो.पा. ७७)**

सम्यग्दृष्टियों की विशेषता कहते हैं -

विजयादिषु द्विचरमाः ॥२६॥

अर्थ - विजयादि विमानों में देव द्विचरमशरीरी होते हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : जो सम्यक्त्व से च्युत नहीं हुए हैं उन सबके मोक्षगमन के प्रति समानता है कि विशेषता है ? इस प्रकार की शंका का समाधान करने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा.उ. २६)**

लौकान्तिक देवों का कथन किया और वहाँ से च्युत होकर तथा एक गर्भ को धारण करके निर्वाण को प्राप्त होंगे, यह भी कहा। क्या इसी प्रकार अन्य देवों में भी निर्वाण प्राप्त होने के काल में भेद है ? इसी बात का ज्ञान कराने के लिए यह सूत्र कहा है। **(सर्वा. ४९२)**

२. प्रश्न : कौन-कौन से देव द्विचरमशरीरी होते हैं ?

उत्तर : विजय, वैजयन्त, जयन्त एवं अपराजित विमान के देव द्विचरमशरीरी होते हैं।

३. प्रश्न : सूत्र में दिये गये 'आदि' पद का क्या अर्थ है ?

उत्तर : सूत्र में दिया गया 'आदि' पद प्रकारवाची है, अहमिन्द्र होते हुए सम्यग्दृष्टियों का उत्पन्न होना, यह प्रकार यहाँ ग्रहण करना चाहिए। इससे विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और नौ अनुदिशों का ग्रहण सिद्ध होता है। **(सर्वा. ४९३)**

विजयादि में 'आदि' शब्द प्रकार के अर्थ में जानना चाहिए। अत: इस 'आदि' शब्द से विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित तथा अनुदिश विमानों का ग्रहण सिद्ध होता है। इनमें द्विचरम उत्पन्न होते हैं, इनमें एकप्रकारता इसलिए है कि इनमें सभी सम्यग्दृष्टि और अहमिन्द्र होते हैं। **(रा.वा. १)**

४. प्रश्न : सम्यग्दृष्टि और अहमिन्द्र की अपेक्षा एकप्रकारता मानने पर सर्वार्थसिद्धि के ग्रहण का प्रसंग आयेगा ?

उत्तर : सम्यग्दृष्टि और अहमिन्द्र की अपेक्षा एकप्रकारता मानने पर सर्वार्थसिद्धि के ग्रहण का प्रसंग नहीं आयेगा। क्योंकि सर्वार्थसिद्धि नाम से ही सूचित होता हैं कि वहाँ के देव सर्वोत्कृष्ट हैं और उनका एकचरमत्व सिद्ध है। **(रा.वा. १)**

ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि वे (सर्वार्थसिद्धि के देव) परम उत्कृष्ट हैं। उनका सर्वार्थसिद्धि यह सार्थक नाम हैं, इसलिए वे एक भवावतारी होते हैं। **(सर्वा. ४९३)**

५. प्रश्न : यहाँ 'द्विचरमपना' किस अपेक्षा से है ?

उत्तर : यहाँ देह का द्विचरमपना मनुष्य भव की अपेक्षा लिया है। जिसमें दो चरम भव होते हैं वे द्विचरम कहलाते हैं। जो विजयादिक से च्युत होकर और सम्यक्त्व को न छोड़कर मनुष्यों में उत्पन्न होते हैं और संयम की आराधना कर पुन: विजयादिक में उत्पन्न होकर और वहाँ से च्युत होकर मनुष्य भव को प्राप्त करके सिद्ध होते हैं। इस प्रकार यहाँ मनुष्य भव की अपेक्षा द्विचरमपना है। **(सर्वा. ४९३)**

६. प्रश्न : मनुष्य भव के द्विचरमपना कैसे घटित होता है ?

उत्तर : एक के ही चरमत्व है ऐसा नहीं है क्योंकि औपचारिकत्व होने से दो-दो को भी चरमत्व कह दिया जाता है। यद्यपि चरम शब्द अन्त्यवाची है, अत: एक ही चरम हो सकता है, परन्तु जिस शरीर से साक्षात् मोक्ष होता है, वह मुख्य चरम है तथा उसके प्रत्यासन्न जो मनुष्य भव है वह भी चरम शरीर के प्रत्यासन्न होने से उपचार से चरम कहलाता है। देवभव के व्यवधान-अव्यवधान का विचार यहाँ नहीं है, यहाँ तो सूत्रकार के वचन ही प्रमाण हैं अर्थात् आचार्यों ने विजयादि को द्विचरम कहा है। **(रा.वा.४)**

७. प्रश्न : आगम में विजयादि का उत्कृष्ट अन्तर कुछ अधिक दो सागर बताया है अत: तीन मनुष्य भव हो जाने से द्विचरमत्व कहना ठीक नहीं है ?

उत्तर : आगम में यह कथन प्रश्न विशेष की अपेक्षा से है। व्याख्याप्रज्ञप्ति दण्डक में कहा है कि गौतम ने भगवान से यह प्रश्न किया कि विजय आदिक में मनुष्य भव को प्राप्त कर कितनी गति-आगति करते हैं विजयादि में ? इसके उत्तर में भगवान ने कहा कि आगति की दृष्टि से जघन्य से एक भव तथा गति-आगति की अपेक्षा उत्कृष्ट दो भव। सर्वार्थ-सिद्धि से च्युत होने वाले मनुष्य-पर्याय में आते हैं और उसी भव से सिद्ध हो जाते हैं। विजयादिक के देव लौकान्तिक देवों के समान एकभविक नहीं हैं किन्तु द्विभविक हैं। इसके बीच में यदि सौधर्म आदि स्वर्ग में उत्पन्न हों तो उसकी विवक्षा नहीं है अत: 'विजयादिषु द्विचरमा:' यह कथन आर्ष विरोधी नहीं है। **(रा.वा. ५)**

८. प्रश्न : सौधर्मादि स्वर्गों के देव कितने भवों को ग्रहण करके मोक्ष जावेंगे ?

उत्तर : सौधर्मादि स्वर्गों के देव सौ या अनन्त भव लेकर मोक्ष जावेंगे, ऐसा कोई नियम नहीं है; क्योंकि ग्रैवेयक तक के देव कब मोक्ष जावेंगे, ऐसा कोई विधान नहीं आता है जैसा कि लौकान्तिक देवों के एक भव का एवं विजयादि में उत्पन्न हुए देवों के द्विचरमत्व का विधान आता है। **(श्लो. ५/६४५)**

९. प्रश्न : कौन-कौन जीव कितने-कितने भव लेकर मोक्ष जाते हैं ?

उत्तर : लौकान्तिक देव एक भव लेकर मोक्ष जाते हैं। सौधर्म इन्द्र एवं उसकी शची एक भव लेकर मोक्ष जाते हैं। सर्वार्थसिद्धि एवं लोकपाल एक भव लेकर मोक्ष जाते हैं। **(श्लो. ५/६४५)**

दक्षिणेन्द्र एक भव लेकर मोक्ष जाते हैं।

गणधर, चक्रवर्ती, पाँच अनुत्तर विमानवासी, लौकान्तिक और अनुदिश विमानवासी देव (चक्रवर्ती को छोड़कर) नियम से सम्यग्दृष्टि होने से मोक्षगामी होते हैं। चक्रवर्ती पद बार-बार प्राप्त नहीं होता अर्थात् वह भी मोक्षगामी होता है। **(भ.आ.वि. १७८०)**

१०. प्रश्न : वैमानिक देवों का कथन कितने सूत्रों के द्वारा किया गया है ?

उत्तर : आचार्य (उमास्वामी) महाराज ने युक्ति और आगम के वश से ११ सूत्रों द्वारा वैमानिक देवों का कथन किया है।

सोलहवें सूत्र में	-	वैमानिक देवों का सामान्य निर्देश।
सत्रहवें सूत्र में	-	वैमानिक देवों के भेद।
अठारहवें सूत्र में	-	वैमानिक देवों के स्थान।
उन्नीसवें सूत्र में	-	स्वर्गों के नाम।
बीसवें सूत्र में	-	स्वर्गों में ऊपर-ऊपर होने वाली अधिकता।
इक्कीसवें सूत्र में	-	स्वर्गों में ऊपर-ऊपर होने वाली हीनता।
बाईसवें सूत्र में	-	वैमानिक देवों की लेश्या।
तेईसवें सूत्र में	-	वैमानिक देवों की कल्प संज्ञा।
चौबीसवें सूत्र में	-	लौकान्तिक देवों का निवास स्थान।
पच्चीसवें सूत्र में	-	लौकान्तिक देवों के नाम।
छब्बीसवें सूत्र में	-	विजयादिक देवों की विशेषताओं का वर्णन किया है।

(श्लो. ५/६४५ के आधार से)

११. प्रश्न : सम्पूर्ण देवों का कथन कितने सूत्रों के द्वारा किया गया है ?

उत्तर : 'देवाश्चतुर्णिकाया:' सूत्र को आदि करके 'विजयादिषु द्विचरमा:' सूत्र तक आचार्य महाराज ने छब्बीस सूत्रों के द्वारा भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों के लेश्या, इन्द्र और नाम आदि का कथन किया है। **(श्लो. ५/६४६ हि.)**

तिर्यञ्च गति के जीव -

औपपादिकमनुष्येभ्य: शेषास्तिर्यग्योनय: ॥२७॥

औपपादिक-मनुष्येभ्य: शेषा: तिर्यग्-योनय: ॥

(औपपादिक मनुष्येभ्य:) उपपाद जन्मवाले एवं मनुष्यों से (को छोड़कर) (शेषा:) शेष बचे (तिर्यग्योनय:) तिर्यञ्च योनि वाले जीव हैं।

अर्थ - औपपादिक जन्म वाले देव-नारकी तथा मनुष्यों के सिवाय अन्य सभी संसारी जीव तिर्यञ्च हैं।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : कोई कहता है कि आपने जीव के औदयिक भावों में तैर्यग्योनि और गति औदयिकी कही है। 'तत्त्वार्थसूत्र' के तीसरे अध्याय में तिर्यञ्च जीवों की स्थिति (आयु) का वर्णन किया है और आस्रव के प्रकरण में 'माया तैर्यग्योनस्य' मायाचार से तिर्यञ्च आयु का आस्रव होता है, यहाँ भी तिर्यञ्च का वर्णन है परन्तु तिर्यञ्च किसको कहते हैं वा चार गतियों में से तिर्यञ्च गति कौनसी है यह नहीं बताया गया अत: तिर्यञ्च गति का वर्णन करने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा.उ. २७)**

२. प्रश्न : इन जीवों को 'तिर्यग्योनिज' क्यों कहा गया है ?

उत्तर : तिरोभाव होने से 'तिर्यग्' कहलाते हैं। तिरोभाव, न्यग्भाव, उपबाह्य सब एकार्थवाची हैं। अत: कर्मोदय से अपादित भाव अर्थात् कर्मोदय से जिनमें तिरोभाव हैं, वे तिर्यग्योनि हैं। तिर्यञ्च योनि जिनके है वे तिर्यग्योनि कहलाते हैं। योनि का अर्थ जन्म है। तिर्यञ्चों में जन्म लेने वाले तिर्यग्योनिज कहलाते हैं। इसके त्रस-स्थावर आदि भेद पहले बताये जा चुके हैं। **(रा.वा.३)** न्यग्भूता अर्थात् छिपी हुई जिनकी योनि है वह तिर्यग्योनि जीव है। अथवा उपबाह्या अर्थात् तिरस्कृत योनि (जिसमें तिरस्कार होता हैं) तिर्यग्योनि है। **(श्लो. ५/६४८)**

३. प्रश्न : किन्हीं-किन्हीं मनुष्यादि का भी तिरस्कार देखा जाता है अत: वे भी तिर्यञ्च कहे जायेंगे ?

उत्तर : ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि जिनके अन्तरंग में तिर्यञ्च गति नाम कर्म का उदय होते हुए जो तिरस्कार को प्राप्त होने वाले हैं वे तिर्यञ्च हैं, ऐसा कथन होने से तिरस्कृत होते हुए भी मनुष्य-तिर्यञ्च नहीं कहलायेंगे। **(श्लो. ५/६४८)**

४. प्रश्न : सूत्र में 'अल्पाच्' होने से मनुष्य पद का प्रथम ग्रहण होना चाहिए।

उत्तर : यद्यपि अल्प-अच् वाला होने से 'मनुष्य' शब्द का पूर्व में ग्रहण करना चाहिए था परन्तु औपपादिक के अन्तर्गत देव स्थिति-प्रभाव आदि की दृष्टि से बड़े और पूज्य हैं। अत: पूर्व में मनुष्य का ग्रहण न करके औपपादिक का प्रथम ग्रहण किया है। **(रा.वा.१)**

५. प्रश्न : द्वितीय अध्याय में तिर्यञ्चों का कथन क्यों नहीं किया ?

उत्तर : तीनों लोक सूक्ष्म तिर्यञ्चों के आधार हैं अत: तीनों लोकों का वर्णन करके ही यहाँ

तिर्यञ्चों का कथन किया है। तीन लोक का कथन करने के बाद ही तिर्यञ्चों के आधार का ज्ञान सुगमता से हो सकता है। शेष शब्द की प्रतिपत्ति भी होती हैं। नारकी, देव और मनुष्यों के निर्देश के बाद ही शेष शब्द का अर्थ समझ में आ सकता है अत: इन सबका द्वितीय अध्याय में निर्देश नहीं करके यहाँ निर्देश किया गया है। **(रा.वा. ६/७)**

६. प्रश्न : तिर्यञ्चों का आधार सर्वलोक कैसे है ?

उत्तर : सूक्ष्म और बादर के भेद से तिर्यञ्च दो प्रकार के हैं। ये दोनों सूक्ष्म और बादर नामकर्म के उदय से अपादित भाव की अपेक्षा से हैं। उनमें सूक्ष्म पृथ्वी-अप्-तेज-वायुकायिक और वनस्पति जीव सर्वलोकव्यापी हैं परन्तु बादर पृथ्वी-जल-तेज-वायु-वनस्पति, विकलेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय लोक के कुछ भागों में पाये जाते हैं, सर्वत्र नहीं। **(रा.वा. ५)**

७. प्रश्न : औपपादिक और मनुष्यों से भिन्न सिद्ध भी हैं अत: वे भी तिर्यञ्च कहे जायेंगे?

उत्तर : सिद्धों को तिर्यञ्च नहीं कहना चाहिए क्योंकि यहाँ संसारी जीवों का प्रकरण है। अत: औपपादिक और मनुष्यों को छोड़कर शेष तिर्यञ्च योनि कहने से तिर्यग्योनि का ग्रहण होता है, सिद्धों का नहीं। **(रा.वा.२)**

८. प्रश्न : देव-नारकी आदि के समान तिर्यञ्चों के आधार विशेष का निर्देश क्यों नहीं किया ?

उत्तर : देवादि के समान तिर्यञ्चों का कोई स्थान विशेष निश्चित नहीं है क्योंकि तिर्यञ्च सर्व लोक में व्याप्त होकर रहते हैं अत: तिर्यञ्चों का अलग आधार नहीं कहा है। **(रा.वा. ४)**

तिर्यञ्च सब लोक में रहते हैं, अत: उनका अलग से क्षेत्र नहीं कहा।**(सर्वा. ४९५)**

देवों की आयु

भवनवासी देवों की आयु -

स्थितिरसुरनागसुपर्णद्वीपशेषाणां सागरोपमत्रिपल्योपमार्द्धहीनमिता ।।२८ ।।

स्थिति: असुर-नाग-सुपर्ण-द्वीप-शेषाणां-सागरोपम-त्रिपल्योपम-अर्द्ध-हीनमिता।

भवनवासी देवों में (असुरनागसुपर्णद्वीप शेषाणां) असुरकुमार, नागकुमार, सुपर्णकुमार, द्वीपकुमार और शेष देवों की (स्थिति:) आयु क्रमश: (सागरोपमत्रिपल्योपमार्द्धहीनमिता) सागरोपम, तीन पल्योपम और आधा-आधा पल्य कम अर्थात् ढाई पल्य, दो पल्य और डेढ़-डेढ़ पल्य प्रमाण है।

अर्थ - असुरकुमार, नागकुमार, सुपर्णकुमार, द्वीपकुमार और शेष भवनवासी देवों की आयु क्रमश: सागरोपम, तीन पल्य, ढाई पल्य, दो पल्य और डेढ़-डेढ़ पल्य प्रमाण है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : नारकी, तिर्यञ्च और मनुष्यों की स्थिति का वर्णन कर चुके हैं। अब देवों की स्थिति का वर्णन करना चाहिए। अत: सर्व देवों की आदि में कथित भवनवासी देवों की स्थिति का प्रतिपादन करने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा.उ. २८)**

२. प्रश्न : सूत्र में भवनवासी देवों की कौनसी आयु का कथन किया गया है ?

उत्तर : आगे सूत्र सैंतीस में कही जाने वाली जघन्य स्थिति से जाना जाता है कि इस सूत्र में भवनवासी देवों की उत्कृष्ट स्थिति का वर्णन किया गया है। **(सर्वा. ४९७ के आधार से)**

३. प्रश्न : भवनवासी देवों की उत्कृष्ट आयु कितनी है ?

उत्तर : भवनवासी देवों में असुरकुमार देवों की उत्कृष्ट आयु - १ सागरोपम है।

भवनवासी देवों में नागकुमार देवों की उत्कृष्ट आयु - ३ पल्य।

भवनवासी देवों में सुपर्णकुमार देवों की उत्कृष्ट आयु - ढाई पल्य।

भवनवासी देवों में द्वीपकुमार देवों की उत्कृष्ट आयु - दो पल्य।

शेष - विद्युतकुमार, अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार और दिक्कुमार देवों की उत्कृष्ट आयु डेढ़-डेढ़ पल्य है। **(त.सू. ४/२८)**

४. प्रश्न : चमरेन्द्र के परिवारादि की उत्कृष्ट आयु कितनी है ?

उत्तर : चमरेन्द्र की उत्कृष्ट आयु - एक सागर प्रमाण है।

प्रतीन्द्र, त्रायस्त्रिंश, सामानिक एवं लोकपाल की उत्कृष्ट आयु - अपने इन्द्रवत्।

तनुरक्षक देवों की उत्कृष्ट आयु - एक पल्य।

पारिषदों में आदि पारिषद की उत्कृष्ट आयु - ढाई पल्य।

मध्यम पारिषद की उत्कृष्ट आयु - २ पल्य।

बाह्य पारिषद की उत्कृष्ट आयु - डेढ़ पल्य।

अनीक देवों की उत्कृष्ट आयु - १ पल्य।

वाहन देवों की उत्कृष्ट आयु - $\frac{१}{२}$ पल्य। **(ति.प. ३/१४४-६०)**

५. प्रश्न : वैरोचन के प्रतीन्द्र आदि की उत्कृष्ट आयु कितनी है ?

उत्तर : वैरोचन की उत्कृष्ट आयु साधिक एक सागर है। प्रतीन्द्र, त्रायस्त्रिंश, सामानिक एवं लोकपाल की अपने इन्द्रवत् है। तनुरक्षक देवों की साधिक एक पल्य है। आदि, मध्यम और बाह्य

पारिषद की उत्कृष्ट आयु क्रमश: तीन, ढाई और दो पल्य है। अनीक देवों की एक पल्य है और वाहन देवों की साधिक आधा पल्य है। **(ति.प. ३/१४४-१६०)**

६. प्रश्न : भूतानन्द के प्रतीन्द्रादि की उत्कृष्ट आयु कितनी है ?

उत्तर : भूतानन्द के प्रतीन्द्र, त्रायस्त्रिंश, सामानिक तथा लोकपालों की उत्कृष्ट आयु - अपने-अपने इन्द्र के समान।

तनुरक्षक देवों की उत्कृष्ट आयु- एक पूर्व कोटि।

पारिषदों में आदि पारिषद की उत्कृष्ट आयु - पल्य का १/८ भाग।

मध्यम पारिषद की उत्कृष्ट आयु - पल्य का १/१६ भाग।

बाह्य पारिषद की उत्कृष्ट आयु - पल्य का १/३२ भाग।

अनीक देवों की उत्कृष्ट आयु - १ पूर्व कोटि।

वाहन देवों की उत्कृष्ट आयु - १ करोड़ वर्ष। **(ति.प. ३/१४४-१६०)**

७. प्रश्न : धरणानन्द के प्रतीन्द्रादि की उत्कृष्ट आयु कितनी है ?

उत्तर : धरणानन्द के प्रतीन्द्र, त्रायस्त्रिंश, सामानिक तथा लोकपालों की उत्कृष्ट आयु - अपने-अपने इन्द्र के समान।

तनुरक्षक देवों की उत्कृष्ट आयु - साधिक एक पूर्व कोटि।

पारिषदों में आदि पारिषद देवों की उत्कृष्ट आयु - साधिक पल्य का १/८ भाग।

मध्यम पारिषद देवों की उत्कृष्ट आयु - साधिक पल्य का १/१६ भाग।

बाह्य पारिषद देवों की उत्कृष्ट आयु- साधिक पल्य का १/३२ भाग।

अनीक पारिषद देवों की उत्कृष्ट आयु - साधिक १ पूर्व कोटि।

वाहन देवों की उत्कृष्ट आयु- साधिक १ करोड़ वर्ष। **(ति.प. ३/१४४-१६०)**

८. प्रश्न : वेणु के प्रतीन्द्रादि की उत्कृष्ट आयु कितनी है ?

उत्तर : वेणु के प्रतीन्द्र, त्रायस्त्रिंश, सामानिक तथा लोकपालों की उत्कृष्ट आयु - अपने-अपने इन्द्र के समान।

तनुरक्षक देवों की उत्कृष्ट आयु - १ करोड़ वर्ष।

पारिषदों में आदि पारिषद की उत्कृष्ट आयु- ३ पूर्व कोटि।

मध्यम पारिषद की उत्कृष्ट आयु - २ पूर्व कोटि।

बाह्य पारिषद की उत्कृष्ट आयु - १ पूर्व कोटि।

अनीक देवों की उत्कृष्ट आयु - १ करोड़ वर्ष।

वाहन देवों की उत्कृष्ट आयु - १ लाख वर्ष। **(ति.प.३/१४४-१६०)**

९. प्रश्न : वेणुधारी के प्रतीन्द्र आदि की उत्कृष्ट आयु कितनी है ?

उत्तर : वेणुधारी के प्रतीन्द्र, त्रायस्त्रिंश, सामानिक एवं लोकपालों की उत्कृष्ट आयु - अपने-अपने इन्द्र के समान।

तनुरक्षक देवों की उत्कृष्ट आयु - साधिक १ करोड़ वर्ष।

पारिषदों में आदि पारिषद की उत्कृष्ट आयु - साधिक ३ पूर्व कोटि।

मध्यम पारिषद की उत्कृष्ट आयु - साधिक २ पूर्व कोटि।

बाह्य पारिषद की उत्कृष्ट आयु - साधिक १ पूर्व कोटि।

अनीक देवों की उत्कृष्ट आयु - साधिक १ करोड़ वर्ष।

वाहन देवों की उत्कृष्ट आयु - १ लाख वर्ष। **(ति.प. ३/१४४-६०)**

१०. प्रश्न : पूर्ण इन्द्रके प्रतीन्द्र आदि की उत्कृष्ट आयु कितनी है ?

उत्तर : पूर्ण इन्द्र के प्रतीन्द्र, त्रायस्त्रिंश, सामानिक एवं लोकपालों की उत्कृष्ट आयु - अपने-अपने इन्द्रके समान।

तनुरक्षक देवों की उत्कृष्ट आयु- १ लाख वर्ष।

पारिषदों में आदि पारिषद देवों की उत्कृष्ट आयु - ३ करोड़ वर्ष।

मध्यम पारिषद देवों की उत्कृष्ट आयु - २ करोड़ वर्ष।

बाह्य पारिषद देवों की उत्कृष्ट आयु - १ करोड़ वर्ष।

अनीक देवों की उत्कृष्ट आयु - १ लाख वर्ष।

वाहन देवों की उत्कृष्ट आयु - १/२ लाख वर्ष। **(ति.प. ३/१४४-६०)**

११. प्रश्न : वशिष्ठ इन्द्र के प्रतीन्द्र आदि की उत्कृष्ट आयु कितनी है ?

उत्तर : वशिष्ठ इन्द्र के प्रतीन्द्र, त्रायस्त्रिंश, सामानिक एवं लोकपालों की उत्कृष्ट आयु - अपने-अपने इन्द्र के समान।

तनुरक्षक देवों की उत्कृष्ट आयु - साधिक एक लाख वर्ष।

भवनवासी देवों की आयु का प्रमाण

							$\frac{१}{२}$ पल्य
							साधिक $\frac{१}{२}$ पल्य
							$\frac{१}{२}$ लाख वर्ष
							साधिक $\frac{१}{२}$ लाख वर्ष
							$\frac{१}{२}$ लाख वर्ष
							साधिक $\frac{१}{२}$ लाख वर्ष

पारिषदों में आदि पारिषद देवों की उत्कृष्ट आयु - साधिक ३ करोड़ वर्ष।

मध्यम पारिषद देवों की उत्कृष्ट आयु - साधिक २ करोड़ वर्ष।

बाह्य-पारिषद देवों की उत्कृष्ट आयु - साधिक १ करोड़ वर्ष।

अनीक देवों की उत्कृष्ट आयु - साधिक १ लाख वर्ष।

वाहन देवों की उत्कृष्ट आयु - साधिक १/२ लाख वर्ष। **(ति.प. ३/१४४-६०)**

१२. प्रश्न : जलप्रभादि छह इन्द्रों के प्रतीन्द्र आदि की उत्कृष्ट आयु कितनी है ?

उत्तर : जलप्रभादि छह इन्द्रों के प्रतीन्द्र, त्रायस्त्रिंश, सामानिक, लोकपालों की उत्कृष्ट आयु - अपने-अपने इन्द्र के समान।

तनुरक्षक देवों की उत्कृष्ट आयु - १ लाख वर्ष।

पारिषदों में आदि पारिषद देवों की उत्कृष्ट आयु - ३ करोड़ वर्ष।

मध्यम पारिषद देवों की उत्कृष्ट आयु - २ करोड़ वर्ष।

बाह्य पारिषद देवों की उत्कृष्ट आयु - १ करोड़ वर्ष।

अनीक देवों की उत्कृष्ट आयु - साधिक १ लाख वर्ष।

वाहन देवों की उत्कृष्ट आयु - साधिक १/२ लाख वर्ष। **(ति.प. ३/१४४-६०)**

१३. प्रश्न : जलकान्तादि छह इन्द्रों के प्रतीन्द्र आदि की उत्कृष्ट आयु कितनी है ?

उत्तर : जलकान्तादि छह इन्द्रों के प्रतीन्द्र, त्रायस्त्रिंश, सामानिक, लोकपालों की उत्कृष्ट आयु - अपने-अपने इन्द्र के समान।

तनुरक्षकों की उत्कृष्ट आयु - साधिक एक लाख वर्ष।

पारिषदों में आदि पारिषद देवों की उत्कृष्ट आयु - साधिक ३ करोड़ वर्ष।

मध्यम पारिषद देवों की उत्कृष्ट आयु - साधिक २ करोड़ वर्ष।

बाह्य पारिषद देवों की उत्कृष्ट आयु - साधिक १ करोड़ वर्ष।

अनीक देवों की उत्कृष्ट आयु - साधिक १ लाख वर्ष।

वाहन देवों की उत्कृष्ट आयु - साधिक १/२ लाख वर्ष। **(ति.प. ३/१४४-६०)**

१४. प्रश्न : भवनवासियों में चमरेन्द्र आदि इन्द्रों की उत्कृष्ट आयु कितनी है ?

उत्तर : भवनवासियों में इन्द्रों की उत्कृष्ट आयु -

(१) चमरेन्द्र की उत्कृष्ट आयु एक सागर
(२) वैरोचन की साधिक एक सागर
(३) भूतानन्द की तीन पल्योपम
(४) धरणानन्द की साधिक तीन पल्योपम
(५) वेणु की ढाई पल्य
(६) वेणुधारी की साधिक २ $\frac{१}{२}$ पल्य
(७) पूर्ण की २ पल्य
(८) वशिष्ठ की साधिक २ पल्य
(९) जलप्रभादि छह की १ $\frac{१}{२}$ पल्य
(१०) जलकान्तादि छह की साधिक १ $\frac{१}{२}$ पल्य

सौधर्म-ऐशान स्वर्ग के देवों की आयु -

सौधर्मैशानयोः सागरोपमेऽधिके ॥२९॥

सौधर्म-ऐशानयोः- सागरोपमे-अधिके।

(सौधर्मैशानयोः) सौधर्म और ऐशान स्वर्ग के देवों की आयु **(सागरोपमेऽधिके)** दो सागर से कुछ अधिक है।

अर्थ - सौधर्म और ऐशान स्वर्ग के देवों की आयु दो सागर से कुछ अधिक है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : आदि देव निकाय अर्थात् भवनवासी देवों की स्थिति का प्रतिपादन करने के बाद व्यन्तर और ज्योतिषी देवों की स्थिति का कथन क्रमशः प्राप्त है। उसका उल्लंघन करके वैमानिक देवों की स्थिति का वर्णन करते हैं- क्योंकि व्यन्तर और ज्योतिषी देवों की स्थिति का वर्णन यहाँ करने पर सूत्र में अधिक अक्षर कहने से गौरव होगा और आगे कहने में अक्षरों का लाघव होगा अतः यहाँ आदि में उद्दिष्ट-सौधर्म-ऐशान स्वर्ग के देवों की स्थिति इस सूत्र के द्वारा कही गई है। **(रा.वा.उ. २९)**

२. प्रश्न : भवनवासी देवियों की उत्कृष्ट आयु कितनी है ?

उत्तर : भवनवासी देवियों की उत्कृष्ट आयु-

(१) चमरेन्द्र की इन्द्राणी की २ $\frac{१}{२}$ पल्य।

(२) वैरोचन इन्द्र की इन्द्राणी की - ३ पल्य।

(३) भूतानन्द इन्द्र की इन्द्राणी की - $\frac{१}{८}$ पल्य।

(४) धरणानन्द इन्द्र की इन्द्राणी की - साधिक $\frac{१}{८}$ पल्य।

(५) वेणु इन्द्र की इन्द्राणी की - ३ कोटि पूर्व।

(६) वेणुधारी इन्द्र की इन्द्राणी की - साधिक ३ कोटि पूर्व।

(७) शेष दक्षिणेन्द्रों की इन्द्राणी की - ३ करोड़ वर्ष।

(८) शेष उत्तरेन्द्रों की इन्द्राणी की - साधिक ३ कोटि वर्ष।

प्रतीन्द्रादिक चार देवों की देवियों में से प्रत्येक की आयु अपने-अपने इन्द्रों की देवियों की कही गयी आयु के सदृश होती है।

अंगरक्षक आदिक देवों की देवियों की जितनी आयु होती है, उसके प्रमाण के कथन का उपदेश काल के वश से इस समय नहीं है। **(ति.प. ३/१७०-१७४)**

भवनवासी इन्द्रों की इन्द्राणियों का आयु प्रमाण

इन्द्र	आयु
चमरेन्द्र	२$\frac{१}{२}$ पल्य
वैरोचन	३ पल्य
भूतानन्द	($\frac{१}{८}$) १/८ पल्य
धरणानन्द	साधिक $\frac{१}{८}$ पल्य
वेणु	३ करोड़ पूर्व
वेणुधारी	साधिक ३ करोड़ पूर्व
पूर्ण जलप्रभ सुघोष हरिषेण अमितगति अग्निशिखा, वैलम्ब	३ करोड़ वर्ष
विशिष्ट जलकान्त महाघोष हरिकान्त अमितवाहन अग्निवाहन प्रभञ्जन	साधिक ३ करोड़ वर्ष

३. प्रश्न : सौधर्म स्वर्ग के देवों की उत्कृष्ट आयु कितनी है ?

उत्तर : सौधर्म स्वर्ग में सौधर्म इन्द्र, प्रतीन्द्र, सामानिक तथा त्रायस्त्रिंश की उत्कृष्ट आयु - २$\frac{१}{२}$ सागर।

दिक्पालों में यम और सोम की उत्कृष्ट आयु - २$\frac{१}{२}$ पल्य।

कुबेर की उत्कृष्ट आयु - ३ पल्य।

वरुण की उत्कृष्ट आयु - कुछ कम ३ पल्य।

सौधर्म इन्द्र के अतिरिक्त दक्षिणेन्द्र के सोमादि लोकपालों की १-१ पल्य।

सब लोकपालों के सामानिक देवों में प्रत्येक की - लोकपालों के सदृश।

(अर्थात् प्रतीन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद तथा अन्य सामन्तों की)

आत्मरक्षक देवों की उत्कृष्ट आयु - २$\frac{१}{२}$ पल्य।

अभ्यन्तर पारिषदों की उत्कृष्ट आयु - ५ पल्य।

मध्यम पारिषदों की उत्कृष्ट आयु - ४ पल्य।

बाह्य पारिषदों की उत्कृष्ट आयु - ३ पल्य।

अनीक देवों की उत्कृष्ट आयु - १ पल्य।

प्रकीर्णक, आभियोग्य तथा किल्विषिक की - वर्तमान में उपदेश नहीं मिलता है। **(ति.प. ८/५१६-२६)**

४. **प्रश्न : ऐशान स्वर्ग के देवों की उत्कृष्ट आयु कितनी है ?**

उत्तर : ऐशान स्वर्ग में -

ऐशानेन्द्र, प्रतीन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश की उत्कृष्ट आयु - २$\frac{१}{२}$ सागर।

दिक्पालों में यम और सोम की उत्कृष्ट आयु - ३ पल्य।

कुबेर की उत्कृष्ट आयु - कुछ कम ३ पल्य।

वरुण की उत्कृष्ट आयु - साधिक ३ पल्य।

सब लोकपालों के सामानिक देवों में प्रत्येक की - लोकपाल के समान।

आत्मरक्षकों की - २$\frac{१}{२}$ पल्य।

पारिषदों में अभ्यन्तर पारिषदों की - ५ पल्य।

मध्यम पारिषदों की - ४ पल्य।

बाह्य पारिषदों की - ३ पल्य।

अनीक देवों की - ५ पल्य।

प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषिक की आयु के प्रमाण का उपदेश नष्ट हो गया है। **(ति.प. ८/५१८-२६)**

५. **प्रश्न : सौधर्म-ऐशान स्वर्ग के देवों की साधिक दो सागर प्रमाण आयु कैसे जानी जाती है ?**

उत्तर : सूत्र में 'सागरोपमे' इस प्रकार द्विवचन का निर्देश होने से जाना जाता है कि सौधर्म-ऐशान स्वर्ग के देवों की आयु दो सागर और 'अधिके' पद से जाना जाता है कि सौधर्म-ऐशान स्वर्ग के देवों की आयु दो सागर से कुछ अधिक है। **(रा.वा.१)**

६. प्रश्न : इनकी आयु दो सागर से कितनी अधिक है ?

उत्तर : सौधर्म-ऐशान स्वर्ग के देवों की उत्कृष्ट आयु घातायुष्क की अपेक्षा आधा-सागर अधिक है। यह सौधर्म-ऐशान स्वर्ग से सहस्रार स्वर्ग तक आधा-सागर अधिक है। क्योंकि घातायुष्क जीव सहस्रार के ऊपर उत्पन्न नहीं होते हैं। **(मू.आ. ११२१)**

७. प्रश्न : सौधर्म-स्वर्ग की देवांगनाओं की उत्कृष्ट आयु कितनी है ?

उत्तर : सौधर्म इन्द्र, प्रतीन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश की देवियों की उत्कृष्ट आयु - ५ पल्य।

लोकपालों में सोम और यम की देवियों की - १ $\frac{१}{४}$पल्य।

कुबेर की देवियों की - १ $\frac{१}{२}$पल्य।

वरुण की देवियों की - कुछ कम १ $\frac{१}{२}$ पल्य।

लोकपालों सम्बन्धी प्रतीन्द्रादि की देवियों की - लोकपाल की देवियों के समान।

आत्मरक्षक, पारिषद, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य एवं किल्विषिकों की देवियों की आयु का प्रमाण वर्तमान में नहीं मिलता है। **(ति.प. ८/५२८-५३९)**

आगे के दो स्वर्गों के देवों की स्थिति कहते हैं -

सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः सप्त ॥३०॥

(सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः) सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग के देवों की आयु (सप्त) सात सागर प्रमाण है।

अर्थ - सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग के देवों की उत्कृष्ट स्थिति सात सागर से कुछ अधिक है।

१. प्रश्न : सूत्र में 'सागर' एवं 'अधिक' पद नहीं हैं अतः उनका ग्रहण कैसे होता है ?

उत्तर : सूत्र उनतीस में कहे गये 'सागर' और 'अधिक' पद का यहाँ अनुवर्तन करने से जाना जाता है कि सानत्कुमार माहेन्द्र स्वर्ग के देवों की आयु सात सागर से कुछ अधिक है। **(रा.वा.१)**

२. प्रश्न : सानत्कुमार स्वर्ग के देवों की उत्कृष्ट स्थिति कितनी है ?

उत्तर : सानत्कुमार स्वर्ग के इन्द्र, इन्द्र सम्बन्धी प्रतीन्द्र, सामानिक व त्रायस्त्रिंश देवों की उत्कृष्ट स्थिति - ७ $\frac{१}{२}$सागर।

लोकपालों में यम और सोम की उत्कृष्ट स्थिति - ३ $\frac{१}{२}$ पल्य।

कुबेर देवों की उत्कृष्ट स्थिति - ४ पल्य।

वरुण देवों की उत्कृष्ट स्थिति - कुछ कम ४ पल्य।

लोकपालों सम्बन्धी सामानिक की उत्कृष्ट स्थिति - अपने-अपने लोकपाल के समान।

आत्मरक्षक देवों की उत्कृष्ट स्थिति - ३ $\frac{१}{२}$ पल्य।

पारिषदों में अभ्यन्तर पारिषद देवों की उत्कृष्ट स्थिति - ६ पल्य।

मध्यम पारिषद देवों की उत्कृष्ट स्थिति - ५ पल्य।

बाह्य पारिषद देवों की उत्कृष्ट स्थिति - ४ पल्य।

अनीक देवों की उत्कृष्ट स्थिति - २ पल्य।

प्रकीर्णक, आभियोग्य व किल्विषिक देवों की आयु का उपदेश वर्तमान में नष्ट हो गया है। **(ति.प. ८/५१६-२६)**

३. प्रश्न : माहेन्द्र स्वर्ग के देवों की उत्कृष्ट आयु कितनी है ?

उत्तर : माहेन्द्र स्वर्ग के इन्द्र, इन्द्र सम्बन्धी प्रतीन्द्र, सामानिक व त्रायस्त्रिंश देवों की उत्कृष्ट आयु - ७ $\frac{१}{२}$ सागर।

लोकपालों में यम और सोम की उत्कृष्ट आयु - ४ पल्य।

कुबेर की उत्कृष्ट आयु - कुछ कम ४ पल्य।

वरुण की उत्कृष्ट आयु - साधिक ४ पल्य।

लोकपालों सम्बन्धी सामानिक आदि की उत्कृष्ट आयु - अपने-अपने लोकपाल के समान।

आत्मरक्षक देवों की उत्कृष्ट स्थिति - ३ $\frac{१}{२}$ पल्य।

पारिषदों में अभ्यन्तर पारिषदों की उत्कृष्ट आयु - ६ पल्य।

मध्यम पारिषदों की उत्कृष्ट आयु - ५ पल्य।

बाह्य पारिषदों की उत्कृष्ट आयु - ४ पल्य।

अनीक की उत्कृष्ट आयु - २ पल्य।

प्रकीर्णक, आभियोग्य व किल्विषिक देवों की आयु का उपदेश वर्तमान में नष्ट हो गया है। **(ति.प. ८/५१६-२६)**

४. प्रश्न : सानत्कुमार स्वर्ग की देवियों की उत्कृष्ट आयु कितनी है ?

उत्तर : सानत्कुमार स्वर्ग के इन्द्र, इन्द्र सम्बन्धी प्रतीन्द्र, सामानिक एवं त्रायस्त्रिंशों की देवियों की उत्कृष्ट स्थिति - ९ पल्य।

लोकपाल के सोम और यम की देवियों की उत्कृष्ट स्थिति - २ $\frac{१}{४}$ पल्य।

कुबेर की देवियों की उत्कृष्ट स्थिति - २ $\frac{१}{२}$ पल्य।

वरुण की देवियों की उत्कृष्ट स्थिति - साधिक २ $\frac{१}{२}$पल्य।

शेष देवों की देवियों की आयु का उपदेश वर्तमान में नष्ट हो गया है। **(ति.प. ८/५२८-४४)**

सानत्कुमार स्वर्ग के देवों की देवियों की उत्कृष्ट आयु १७ पल्य प्रमाण है। **(मू. ११२३ आ.)**

५. प्रश्न : माहेन्द्र स्वर्ग की देवियों की उत्कृष्ट आयु कितनी है ?

उत्तर : माहेन्द्र स्वर्ग के इन्द्र, इन्द्र सम्बन्धी प्रतीन्द्र, सामानिक एवं त्रायस्त्रिंश की देवियों की उत्कृष्ट स्थिति - ११ पल्य।

लोकपालों में सोम और यम की देवियों की उत्कृष्ट स्थिति - २$\frac{१}{२}$ पल्य।

कुबेर की देवियों की उत्कृष्ट स्थिति - २ $\frac{१}{२}$ पल्य।

वरुण की देवियों की उत्कृष्ट स्थिति - साधिक २ $\frac{१}{२}$ पल्य।

शेष देवों की देवियों की आयु का उपदेश वर्तमान में नहीं मिलता है। **(ति.प. ८/५२८-४४)**

माहेन्द्र स्वर्ग के देवों की देवियों की उत्कृष्ट आयु सत्रह पल्य प्रमाण है। **(मू. ११२३ आ.)**

शेष कल्पों की उत्कृष्ट स्थिति कहते हैं -

त्रिसप्तनवैकादशत्रयोदशपञ्चदशभिरधिकानि तु ॥३१॥

त्रि-सप्त-नव-एकादश-त्रयोदश-पञ्चदशभिः-अधिकानि तु।

ब्रह्मादि स्वर्गों के देवों की आयु (त्रिसप्तनवैकादशत्रयोदश पञ्चदशभिः) तीन, सात, नौ, ग्यारह, तेरह तथा पन्द्रह सागर से (अधिकानि तु) अधिक है।

अर्थ - सानत्कुमार-माहेन्द्र स्वर्ग के देवों की आयु से तीन, सात, नव, ग्यारह, तेरह और पन्द्रह सागर अधिक शेष छह स्वर्ग-युगलों में रहने वाले देवों की उत्कृष्ट आयु है।

१. प्रश्न : ब्रह्म स्वर्ग के देवों की उत्कृष्ट आयु कितनी है ?

उत्तर : ब्रह्म स्वर्ग के इन्द्र, इन्द्र सम्बन्धी प्रतीन्द्र, सामानिक तथा त्रायस्त्रिंश देवों की उत्कृष्ट आयु - १०$\frac{१}{२}$ सागर।

लोकपाल सम्बन्धी यम एवं सोम की उत्कृष्ट आयु - ४ $\frac{१}{२}$ पल्य।

कुबेर की उत्कृष्ट आयु - ५ पल्य।

वरुण की उत्कृष्ट आयु - कुछ कम ५ पल्य।

वैमानिक इन्द्रों और देवों की देवियों की आयु का विवरण

स्वर्ग नाम	इन्द्र की देवियाँ			इन्द्रत्रिक की देवियाँ	लोकपाल परिवार की देवियाँ			लो. चतु.	आत्मरक्षों की देवियाँ	पारिषद त्रय की देवियाँ	अनीकों की देवियाँ	प्रकीर्णक त्रिक की देवियाँ
	ति.प. की अपेक्षा पल्य	ध.पु.की अपेक्षा पल्य	त्रि.सा. की अपेक्षा पल्य		सोम-यम पल्य	कुबेर पल्य	वरुण पल्य					
सौधर्म	५	५	५	स्व-स्व इन्द्रों की देवियोंवत्	१ १/४	१ १/२	ऊन १ १/२	स्व स्व स्वामीवत्	कथन नहीं मिलता है	कथन नहीं मिलता है	कथन नहीं मिलता है	कथन नहीं मिलता है
ईशान	७	७	–		१ १/२	१ १/२	साधिक १ १/२					
सानतकुमार	९	९	१७		२ १/४	२ १/२	साधिक २ १/२					
माहेन्द्र	११	११	–		२ १/२	२ १/२	साधिक २ १/२					
ब्रह्म	१३	१३	२५		३ १/२	३ १/२	ऊन ३ १/२					
ब्रह्मोत्तर	१५	१५	–		३ १/२	३ १/२	साधिक ३ १/२					
लान्तव	१७	१७	३५		४ १/४	४ १/२	साधिक ४ १/२					
कापिष्ठ	१९	१९	–		४ १/२	४ १/२	४ १/२					
शुक्र	२१	२१	४०		५ १/४	५ १/२	ऊन ५ १/२					
महाशुक्र	२३	२३	–		५ १/२	५ १/२	साधिक ५ १/२					
शतार	२५	२५	४५		६ १/४	६ १/२	ऊन ६ १/२					
सहस्रार	२७	२७	–		६ १/२	६ १/२	साधिक ६ १/२					
आनत	३४	२९	५०		७ १/४	७ १/२	ऊन ७ १/२					
प्राणत	४१	३१	–		७ १/२	७ १/२	साधिक ७ १/२					
आरण	४८	३३	५५		८ १/४	८ १/२	साधिक ८ १/२					
अच्युत	५५	३५	–		८ १/२	ऊन ८ १/२	साधिक ८ १/२					

लो.चतु. = लोकपाल चतुष्क। १. लोकपालों के प्रतीन्द्र, २. सामानिक, ३. त्रायस्त्रिंश, ४. पारिषद्।

ऊन = कुछ कम। प्रकी.त्रिक = प्रकीर्णक त्रिक - प्रकीर्णक, आभियोग्य, किल्विषक। इन्द्रत्रिक = इन्द्र सम्बन्धी प्रतीन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश

लोकपाल सम्बन्धी सामानिक की उत्कृष्ट आयु - स्व-स्व इन्द्र के समान।

आत्मरक्षकों की उत्कृष्ट आयु - ४ $\frac{१}{२}$ पल्य।

पारिषदों में अभ्यन्तर पारिषदों की उत्कृष्ट आयु - ७ पल्य।

मध्यम पारिषदों की उत्कृष्ट आयु - ६ पल्य।

बाह्य पारिषदों की उत्कृष्ट आयु - ५ पल्य।

अनीक देवों की उत्कृष्ट आयु - ३ पल्य।

प्रकीर्णक, आभियोग्य एवं किल्विषिक देवों की आयु का कथन वर्तमान में नहीं मिलता है। **(ति.प. ८/५१३-५२६)**

२. **प्रश्न : ब्रह्म स्वर्ग की देवियों की उत्कृष्ट आयु कितनी है ?**

उत्तर : ब्रह्म स्वर्ग के इन्द्र, इन्द्र सम्बन्धी प्रतीन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश की देवियों की उत्कृष्ट आयु - १३ पल्य।

लोकपाल सम्बन्धी सोम एवं यम की देवांगनाओं की - ३ $\frac{१}{२}$ पल्य।

कुबेर की देवियों की उत्कृष्ट आयु - ३ $\frac{१}{२}$ पल्य।

वरुण की देवियों की उत्कृष्ट आयु - कुछ कम ३ $\frac{१}{२}$ पल्य।

शेष देवों की देवियों की आयु का प्रमाण वर्तमान में नहीं मिलता है। **(ति.प. ८/५२८-४०)**

ब्रह्म स्वर्ग के देवों की देवियों की उत्कृष्ट आयु २५ पल्य प्रमाण है। **(मू. ११२३ आ.)**

३. **प्रश्न : ब्रह्मोत्तर स्वर्ग के देवों की उत्कृष्ट आयु कितनी है ?**

उत्तर : ब्रह्मोत्तर स्वर्ग के इन्द्र, इन्द्र सम्बन्धी प्रतीन्द्र, सामानिक एवं त्रायस्त्रिंश देवों की उत्कृष्ट आयु - १० $\frac{१}{२}$ सागर।

लोकपाल सम्बन्धी यम एवं सोम की उत्कृष्ट आयु - ४ $\frac{१}{२}$ पल्य।

कुबेर की उत्कृष्ट आयु - कुछ कम ५ पल्य।

वरुण की उत्कृष्ट आयु - साधिक ५ पल्य।

लोकपाल सम्बन्धी सामानिक की उत्कृष्ट आयु - अपने-अपने स्वामी के सदृश।

आत्मरक्षक की उत्कृष्ट आयु - ४ $\frac{१}{२}$ पल्य।

पारिषदों में अभ्यन्तर पारिषद देवों की उत्कृष्ट आयु - ७ पल्य।

मध्यम पारिषद देवों की उत्कृष्ट आयु - ६ पल्य।

बाह्य पारिषद देवों की उत्कृष्ट आयु - ५ पल्य।

अनीक देवों की उत्कृष्ट आयु - ३ पल्य।

प्रकीर्णक, आभियोग्य व किल्विषिक देवों की आयु का प्रमाण वर्तमान में नहीं मिलता है। **(ति.प. ८/५१६-२६)**

४. प्रश्न : ब्रह्मोत्तर स्वर्ग की देवियों की उत्कृष्ट आयु कितनी है ?

उत्तर : ब्रह्मोत्तर स्वर्ग के इन्द्र, इन्द्र सम्बन्धी प्रतीन्द्र, सामानिक एवं त्रायस्त्रिंश देवों की देवियों की उत्कृष्ट आयु - १५ पल्य।

लोकपाल सम्बन्धी सोम, यम एवं कुबेर देवों की देवियों की उत्कृष्ट आयु - ३ $\frac{१}{२}$ पल्य।

वरुण की देवियों की उत्कृष्ट आयु - साधिक ३ $\frac{१}{२}$ पल्य।

लोकपाल सम्बन्धी प्रतीन्द्र आदि की देवियों की उत्कृष्ट आयु - अपने-अपने स्वामी के सदृश।

शेष देवों की देवियों की आयु का कथन वर्तमान में नहीं मिलता है। **(ति.प. ८/५२८-४०)**

ब्रह्मोत्तर स्वर्ग के देवों की देवियों की उत्कृष्ट आयु २५ पल्य प्रमाण है। **(मू. ११२३ आ.)**

५. प्रश्न : लान्तव स्वर्ग के देवों की उत्कृष्ट आयु कितनी है ?

उत्तर : लान्तव स्वर्ग के इन्द्र, प्रतीन्द्र, सामानिक एवं त्रायस्त्रिंश देवों की उत्कृष्ट आयु - १४ $\frac{१}{२}$ सागर।

लोकपाल सम्बन्धी यम और सोम की उत्कृष्ट आयु - ५ $\frac{१}{२}$ पल्य।

कुबेर की उत्कृष्ट आयु - ६ पल्य।

वरुण की उत्कृष्ट आयु - कुछ कम ६ पल्य।

लोकपाल सम्बन्धी सामानिक की उत्कृष्ट आयु - अपने-अपने स्वामी के सदृश।

आत्मरक्षक की उत्कृष्ट आयु - ५ $\frac{१}{२}$ पल्य।

पारिषदों में अभ्यन्तर पारिषद देवों की उत्कृष्ट आयु - ८ पल्य।

मध्यम पारिषद देवों की उत्कृष्ट आयु - ७ पल्य।

बाह्य पारिषद देवों की उत्कृष्ट आयु - ६ पल्य।

अनीक देवों की उत्कृष्ट आयु - ४ पल्य।

प्रकीर्णक, आभियोग्य एवं किल्विषिक देवों की आयु का कथन वर्तमान में नहीं मिलता है। **(ति.प ८/५१६-५२६)**

६. प्रश्न : लान्तव स्वर्ग के देवों की देवियों की उत्कृष्ट आयु कितनी है ?

उत्तर : लान्तव स्वर्ग के इन्द्र, इन्द्र सम्बन्धी प्रतीन्द्र, सामानिक एवं त्रायस्त्रिंश देवों की देवियों की उत्कृष्ट आयु - १७ पल्य।

लोकपाल सम्बन्धी यम एवं सोम देवों की देवियों की आयु - ४$\frac{१}{४}$ पल्य।

कुबेर देवों की देवियों की आयु - ४$\frac{१}{२}$ पल्य।

वरुण देवों की देवियों की आयु - साधिक ४$\frac{१}{२}$ पल्य।

शेष देवों की देवियों की आयु का प्रमाण वर्तमान में नहीं मिलता है। **(ति.प. ८/५२८-४०)** लान्तव स्वर्ग के देवों की देवियों की उत्कृष्ट आयु ३५ पल्य प्रमाण है। **(मू. ११२३ आ.)**

७. प्रश्न : कापिष्ठ स्वर्ग के देवों की उत्कृष्ट आयु कितनी है ?

उत्तर : कापिष्ठ स्वर्ग के इन्द्र, इन्द्र सम्बन्धी प्रतीन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश देवों की उत्कृष्ट आयु - १४$\frac{१}{२}$ सागर।

लोकपाल सम्बन्धी यम-सोम की उत्कृष्ट आयु - ६ पल्य।

कुबेर की उत्कृष्ट आयु - कुछ कम ६ पल्य।

वरुण की उत्कृष्ट आयु - साधिक ६ पल्य।

लोकपाल सम्बन्धी सामानिक की उत्कृष्ट आयु - ५$\frac{१}{२}$ पल्य।

आत्मरक्षकों की उत्कृष्ट आयु - ५$\frac{१}{२}$ पल्य।

पारिषद देवों की अभ्यन्तर पारिषद की उत्कृष्ट आयु - ८ पल्य।

मध्यम पारिषद की उत्कृष्ट आयु - ७ पल्य।

बाह्य पारिषद की उत्कृष्ट आयु - ६ पल्य।

अनीक देवों की उत्कृष्ट आयु - ४ पल्य।

प्रकीर्णक, आभियोग्य व किल्विषिक का कथन वर्तमान में नहीं मिलता है। **(ति.प. ८/५१६-२६)**

८. प्रश्न : कापिष्ठ स्वर्ग के देवों की देवियों की उत्कृष्ट आयु कितनी है ?

उत्तर : कापिष्ठ स्वर्ग में इन्द्र, इन्द्र सम्बन्धी प्रतीन्द्र, सामानिक एवं त्रायस्त्रिंश की देवियों की उत्कृष्ट आयु - १९ पल्य।

लोकपाल सम्बन्धी सोम, यम तथा कुबेर की देवियों की उत्कृष्ट आयु - ४$\frac{१}{२}$ पल्य।

वरुण की देवियों की उत्कृष्ट आयु - ४ $\frac{१}{२}$ पल्य।

शेष देवों की देवियों की आयु का कथन वर्तमान में नहीं मिलता है। **(ति.प. ८/५२७-४३)**

कापिष्ठ स्वर्ग की देवियों की उत्कृष्ट आयु ३५ पल्य प्रमाण है। **(मू. ११२३ आ.)**

९. प्रश्न : शुक्र स्वर्ग के देवों की उत्कृष्ट आयु कितनी है ?

उत्तर : शुक्र स्वर्ग के इन्द्र, इन्द्र सम्बन्धी प्रतीन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश की उत्कृष्ट आयु - १६ $\frac{१}{२}$ सागर।

लोकपाल के परिवार सम्बन्धी यम, सोम की उत्कृष्ट आयु - ६ $\frac{१}{२}$ पल्य।

कुबेर की उत्कृष्ट आयु - ७ पल्य।

वरुण की उत्कृष्ट आयु - कुछ कम ७ पल्य।

लोकपाल सम्बन्धी प्रतीन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश आदि की - अपने-अपने स्वामी के समान।

आत्मरक्षक देवों की उत्कृष्ट आयु - ६ $\frac{१}{२}$ पल्य।

पारिषदों में अभ्यन्तर पारिषद देवों की - ९ पल्य।

मध्यम पारिषद देवों की - ८ पल्य।

बाह्य पारिषद देवों की - ७ पल्य।

अनीक देवों की - ५ पल्य।

प्रकीर्णक, आभियोग्य व किल्विषिक देवों की आयु का प्रमाण वर्तमान में नहीं मिलता है। **(ति.प. ८/५१६-२६)**

१०. प्रश्न : शुक्र स्वर्ग के देवों की देवियों की उत्कृष्ट आयु कितनी है ?

उत्तर : शुक्र स्वर्ग के इन्द्र, इन्द्र सम्बन्धी प्रतीन्द्र, सामानिक एवं त्रायस्त्रिंश देवों की देवियों की उत्कृष्ट आयु - २१ पल्य।

लोकपाल सम्बन्धी यम, सोम देवों की देवियों की - ५ $\frac{१}{४}$ पल्य।

कुबेर की देवियों की - ५ $\frac{१}{२}$ पल्य।

वरुण की देवियों की - कुछ कम ५ $\frac{१}{२}$ पल्य।

शेष देवों की देवियों की आयु का प्रमाण वर्तमान में नहीं मिलता है। **(ति.प. ८/५२८-४०)**

शुक्र स्वर्ग की देवियों की उत्कृष्ट आयु ४० पल्य प्रमाण है। **(मू. ११२३ आ.)**

११. प्रश्न : महाशुक्र स्वर्ग के देवों की उत्कृष्ट आयु कितनी है ?

उत्तर : महाशुक्र स्वर्ग में इन्द्र, इन्द्र सम्बन्धी प्रतीन्द्र, सामानिक एवं त्रायस्त्रिंश देवों की उत्कृष्ट आयु - १६$\frac{१}{२}$ सागर।

लोकपाल सम्बन्धी यम-सोम की उत्कृष्ट आयु - ७ पल्य।

कुबेर की उत्कृष्ट आयु - कुछ कम ७ पल्य।

वरुण की उत्कृष्ट आयु - कुछ अधिक ७ पल्य।

लोकपाल सम्बन्धी प्रतीन्द्र आदि की उत्कृष्ट आयु - अपने-अपने स्वामी के समान।

आत्मरक्षक की उत्कृष्ट आयु - ६$\frac{१}{२}$ पल्य।

पारिषदों में अभ्यन्तर पारिषदों की उत्कृष्ट आयु - ९ पल्य।

मध्यम पारिषदों की उत्कृष्ट आयु - ८ पल्य।

बाह्य पारिषदों की उत्कृष्ट आयु- ७ पल्य।

अनीकों की उत्कृष्ट आयु - ५ पल्य।

प्रकीर्णक, आभियोग्य व किल्विषिक देवों की आयु का प्रमाण वर्तमान में नहीं मिलता है। **(ति.प. ८/५१६-२६)**

१२. प्रश्न : महाशुक्र स्वर्ग के देवों की देवियों की उत्कृष्ट आयु कितनी है ?

उत्तर : महाशुक्र स्वर्ग में इन्द्र, इन्द्र सम्बन्धी प्रतीन्द्र, सामानिक एवं त्रायस्त्रिंश देवों की देवियों की उत्कृष्ट आयु - २३ पल्य।

लोकपाल सम्बन्धी देवों में सोम, यम एवं कुबेर की देवियों की उत्कृष्ट आयु - ५$\frac{१}{२}$ पल्य।

वरुण की देवियों की उत्कृष्ट आयु - साधिक ५$\frac{१}{२}$ पल्य।

शेष स्वर्ग के देवों की देवियों की आयु का प्रमाण वर्तमान में नष्ट हो गया है। **(ति.प. ८/५२८-४०)** महाशुक्र स्वर्ग की देवियों की उत्कृष्ट आयु ४० पल्य प्रमाण है। **(मू. ११२३-आ.)**

१३. प्रश्न : शतार स्वर्ग के देवों की उत्कृष्ट आयु कितनी है ?

उत्तर : शतार स्वर्ग में इन्द्र, इन्द्र सम्बन्धी प्रतीन्द्र, सामानिक एवं त्रायस्त्रिंश देवों की उत्कृष्ट आयु - १८$\frac{१}{२}$ सागर।

लोकपाल सम्बन्धी यम-सोम की उत्कृष्ट आयु - ७$\frac{१}{२}$ पल्य।

कुबेर की उत्कृष्ट आयु - ८ पल्य।

वरुण की उत्कृष्ट आयु - कुछ कम ८ पल्य।

लोकपाल सम्बन्धी सामानिक की उत्कृष्ट आयु - अपने-अपने स्वामी के सदृश।

आत्मरक्षकों की उत्कृष्ट आयु - ७ $\frac{१}{२}$ पल्य।

पारिषदों में अभ्यन्तर पारिषद की उत्कृष्ट आयु - १० पल्य।

मध्यम पारिषद की उत्कृष्ट आयु - ९ पल्य।

बाह्य पारिषद की उत्कृष्ट आयु - ८ पल्य।

अनीकों की उत्कृष्ट आयु - ६ पल्य।

इन्द्र सम्बन्धी प्रकीर्णक, आभियोग्य व किल्विषिक देवों की आयु का प्रमाण वर्तमान में नहीं मिलता हैं। **(ति.प. ८/५१६-२६)**

१४. प्रश्न : शतार स्वर्ग के देवों की देवियों की उत्कृष्ट आयु कितनी है ?

उत्तर : शतार स्वर्ग में इन्द्र, इन्द्र सम्बन्धी प्रतीन्द्र, सामानिक एवं त्रायस्त्रिंश देवों की देवियों की उत्कृष्ट आयु - २५ पल्य।

लोकपाल के परिवार सम्बन्धी सोम एवं यम देवों की देवियों की उत्कृष्ट आयु - ६ $\frac{१}{४}$ पल्य।

कुबेर की देवियों की उत्कृष्ट आयु - ६ $\frac{१}{२}$ पल्य।

वरुण की देवियों की उत्कृष्ट आयु - कुछ कम ६ $\frac{१}{२}$ पल्य।

शेष स्वर्ग के देवों की देवियों की आयु का प्रमाण वर्तमान में नहीं मिलता है। **(ति.प. ८/५२८-४०)**

शतार स्वर्ग की देवियों की उत्कृष्ट आयु ४५ पल्य प्रमाण है। **(मू. ११२३ आ.)**

१५. प्रश्न : सहस्रार स्वर्ग के देवों की उत्कृष्ट आयु कितनी है ?

उत्तर : सहस्रार स्वर्ग में इन्द्र, इन्द्र सम्बन्धी प्रतीन्द्र, सामानिक एवं त्रायस्त्रिंश देवों की उत्कृष्ट आयु - १८ $\frac{१}{२}$ सागर।

लोकपाल सम्बन्धी यम-सोम देवों की उत्कृष्ट आयु - ८ पल्य।

कुबेर की उत्कृष्ट आयु - कुछ कम ८ पल्य।

वरुण की उत्कृष्ट आयु - साधिक ८ पल्य।

लोकपाल सम्बन्धी प्रतीन्द्र आदि की उत्कृष्ट आयु - अपने-अपने स्वामी के सदृश।

आत्मरक्षक देवों की उत्कृष्ट आयु - ७ $\frac{१}{२}$ पल्य।

पारिषदों में अभ्यन्तर पारिषदों की उत्कृष्ट आयु - १० पल्य।

मध्यम पारिषदों की उत्कृष्ट आयु - ९ पल्य।

बाह्य पारिषदों की उत्कृष्ट आयु - ८ पल्य।

अनीकों की उत्कृष्ट आयु - ६ पल्य।

इन्द्र सम्बन्धी प्रकीर्णक, आभियोग्य व किल्विषिक देवों की आयु का प्रमाण वर्तमान में नहीं मिलता है। **(ति.प. ८/५१६-२६)**

१६. प्रश्न : सहस्रार स्वर्ग के देवों की देवियों की उत्कृष्ट आयु कितनी है ?

उत्तर : सहस्रार स्वर्ग में इन्द्र, इन्द्र सम्बन्धी प्रतीन्द्र, सामानिक तथा त्रायस्त्रिंश देवों की देवियों की उत्कृष्ट आयु - २७ पल्य।

लोकपाल के परिवार देवों में सोम, यम एवं कुबेर देवों की देवियों की उत्कृष्ट आयु-६$\frac{१}{२}$पल्य।

वरुण की देवियों की उत्कृष्ट आयु - साधिक ६ $\frac{१}{२}$ पल्य।

लोकपालत्रिक की देवियों की आयु का प्रमाण वर्तमान में नहीं मिलता है। **(ति.प. ८/५२८-४०)**

सहस्रार स्वर्ग की देवियों की उत्कृष्ट आयु ४५ पल्य प्रमाण है। **(मू. ११२३ आ.)**

१७. प्रश्न : आनत स्वर्ग के देवों की उत्कृष्ट आयु कितनी है ?

उत्तर : आनत स्वर्ग में इन्द्र, इन्द्र सम्बन्धी प्रतीन्द्र, सामानिक एवं त्रायस्त्रिंश देवों की उत्कृष्ट आयु - २० सागर।

लोकपाल सम्बन्धी यम एवं सोम देवों की उत्कृष्ट आयु - ८$\frac{१}{२}$ पल्य।

कुबेर की उत्कृष्ट आयु - ९ पल्य।

वरुण की उत्कृष्ट आयु - कुछ कम ९ पल्य।

लोकपाल के सामानिक देवों की उत्कृष्ट आयु - अपने-अपने स्वामी के सदृश।

आत्मरक्षक की उत्कृष्ट आयु - ८ $\frac{१}{२}$ पल्य।

पारिषदों में अभ्यन्तर पारिषद देवों की उत्कृष्ट आयु - ११ पल्य।

मध्यम पारिषद देवों की उत्कृष्ट आयु - १० पल्य।

बाह्य पारिषद देवों की उत्कृष्ट आयु - ९ पल्य।

अनीक देवों की उत्कृष्ट आयु - ७ पल्य।

प्रकीर्णक, आभियोग्य एवं किल्विषिक देवों की आयु का प्रमाण वर्तमान में नहीं मिलता है। **(ति.प. ८/५१६-२६)**

१८. प्रश्न : आनत स्वर्ग के देवों की देवियों की उत्कृष्ट आयु कितनी है ?

उत्तर : आनत स्वर्ग के इन्द्र, इन्द्र सम्बन्धी प्रतीन्द्र, सामानिक एवं त्रायस्त्रिंश देवों की देवियों की उत्कृष्ट आयु - ३४ पल्य है।

लोकपाल सम्बन्धी सोम एवं यम देवों की देवियों की उत्कृष्ट आयु - ७ $\frac{१}{४}$ पल्य।

कुबेर देवों की देवियों की उत्कृष्ट आयु - ७ $\frac{१}{२}$ पल्य।

वरुण देवों की देवियों की उत्कृष्ट आयु - कुछ कम ७ $\frac{१}{२}$ पल्य।

शेष देवों की देवियों की आयु का प्रमाण वर्तमान में नहीं मिलता है। **(ति.प. ८/५२८-४०)**

आनत स्वर्ग की देवियों की उत्कृष्ट आयु ५० पल्य प्रमाण है। **(मू. ११२३ आ.)**

१९. प्रश्न : प्राणत स्वर्ग के देवों की उत्कृष्ट आयु कितनी है ?

उत्तर : प्राणत स्वर्ग में इन्द्र तथा इन्द्र सम्बन्धी प्रतीन्द्र, सामानिक एवं त्रायस्त्रिंश देवों की उत्कृष्ट आयु - २० सागर।

लोकपाल सम्बन्धी यम एवं सोम देवों की उत्कृष्ट आयु - ९ पल्य।

कुबेर देवों की उत्कृष्ट आयु - कुछ कम ९ पल्य।

वरुण देवों की उत्कृष्ट आयु - साधिक ९ पल्य।

लोकपाल सम्बन्धी प्रतीन्द्र आदि देवों की उत्कृष्ट आयु - अपने-अपने स्वामी के सदृश।

आत्मरक्षक देवों की उत्कृष्ट आयु - ८ $\frac{१}{२}$ पल्य।

पारिषद देवों में अभ्यन्तर पारिषद देवों की उत्कृष्ट आयु - ११ पल्य।

मध्यम पारिषद देवों की उत्कृष्ट आयु - १० पल्य।

बाह्य पारिषद देवों की उत्कृष्ट आयु - ९ पल्य।

अनीक देवों की उत्कृष्ट आयु - ७ पल्य।

प्रकीर्णक, आभियोग्य एवं किल्विषिक देवों की आयु का प्रमाण वर्तमान में नहीं मिलता है। **(ति.प. ८/५१६-२६)**

२०. प्रश्न : प्राणत देवों की देवियों की उत्कृष्ट आयु कितनी है ?

उत्तर : प्राणत स्वर्ग के देवों में इन्द्र, इन्द्र सम्बन्धी प्रतीन्द्र, सामानिक एवं त्रायस्त्रिंश देवों की

देवियों की उत्कृष्ट आयु - ४१ पल्य।

लोकपाल सम्बन्धी सोम-यम एवं कुबेर देवों की देवियों की उत्कृष्ट आयु - ७ $\frac{१}{२}$ पल्य।

वरुण देव की देवियों की उत्कृष्ट आयु - साधिक ७ $\frac{१}{२}$ पल्य।

लोकपाल के प्रतीन्द्र आदि देव की देवियों की उत्कृष्ट आयु - स्व-स्वामी के सदृश।

शेष देवों की देवियों की आयु का प्रमाण वर्तमान में नहीं मिलता है। **(ति.प. ८/५२८-४०)**

प्राणत स्वर्ग की देवियों की आयु पचास पल्य प्रमाण है। **(मू. ११२३ आ.)**

२१. प्रश्न : आरण स्वर्ग के देवों की उत्कृष्ट आयु कितनी है ?

उत्तर : आरण स्वर्ग में इन्द्र तथा इन्द्र सम्बन्धी प्रतीन्द्र, सामानिक एवं त्रायस्त्रिंश देवों की उत्कृष्ट आयु - २२ सागर।

लोकपाल सम्बन्धी यम एवं सोम देवों की उत्कृष्ट आयु - ९ $\frac{१}{२}$पल्य।

कुबेर देवों की उत्कृष्ट आयु - १० पल्य।

वरुण देवों की उत्कृष्ट आयु - कुछ कम १० पल्य।

लोकपाल सम्बन्धी प्रतीन्द्र आदि देवों की उत्कृष्ट आयु - अपने-अपने स्वामी के सदृश।

आत्मरक्षक देवों की उत्कृष्ट आयु - ९ $\frac{१}{२}$पल्य।

परिषद देवों में अभ्यन्तर देवों की उत्कृष्ट आयु - १२ पल्य।

मध्यम पारिषदों की उत्कृष्ट आयु - ११ पल्य।

बाह्य पारिषदों की उत्कृष्ट आयु - १० पल्य।

अनीक देवों की उत्कृष्ट आयु - ८ पल्य।

प्रकीर्णक, आभियोग्य एवं किल्विषिक देवों की आयु का प्रमाण वर्तमान में नहीं मिलता है। **(ति.प. ८/५१६-२६)**

२२. प्रश्न : आरण स्वर्ग के देवों की देवियों की उत्कृष्ट आयु कितनी है ?

उत्तर : आरण स्वर्ग में इन्द्र तथा इन्द्र सम्बन्धी प्रतीन्द्र, सामानिक एवं त्रायस्त्रिंश देवों की देवियों की उत्कृष्ट आयु - ४८ पल्य।

लोकपाल सम्बन्धी सोम एवं यम देवों की देवियों की उत्कृष्ट आयु - ८ $\frac{१}{४}$ पल्य।

कुबेर की देवियों की उत्कृष्ट आयु - ८ $\frac{१}{२}$ पल्य।

वरुण की देवियों की उत्कृष्ट आयु - साधिक ८ $\frac{१}{२}$ पल्य।

लोकपाल सम्बन्धी प्रतीन्द्र आदि तीन देवों की देवियों की उत्कृष्ट आयु - अपने-अपने स्वामी के सदृश।

शेष देवों की देवियों की आयु का प्रमाण वर्तमान में नहीं मिलता है। **(ति.प. ८/५२८-४०)**

आरण स्वर्ग की देवियों की उत्कृष्ट आयु पचपन पल्य प्रमाण है। **(मू. ११२३ आ.)**

२३. प्रश्न : अच्युत स्वर्ग के देवों की उत्कृष्ट आयु कितनी है ?

उत्तर : अच्युत स्वर्ग में इन्द्र, इन्द्र सम्बन्धी प्रतीन्द्र, सामानिक एवं त्रायस्त्रिंश देवों की उत्कृष्ट आयु - २२ सागर।

लोकपाल सम्बन्धी यम और सोम देवों की उत्कृष्ट आयु - १० पल्य।

कुबेर देवों की उत्कृष्ट आयु - कुछ कम १० पल्य।

वरुण की उत्कृष्ट आयु - साधिक १० पल्य।

लोकपाल सम्बन्धी सामानिक देवों की उत्कृष्ट आयु - अपने-अपने स्वामी सदृश।

आत्मरक्षक देवों की उत्कृष्ट आयु - ९ $\frac{१}{२}$ पल्य।

पारिषदों में अभ्यन्तर पारिषद देवों की उत्कृष्ट आयु - १२ पल्य।

मध्यम पारिषद देवों की उत्कृष्ट आयु - ११ पल्य।

जघन्य पारिषद देवों की उत्कृष्ट आयु - १० पल्य।

अनीक देवों की उत्कृष्ट आयु - ८ पल्य।

प्रकीर्णक, आभियोग्य एवं किल्विषिक देवों की आयु का प्रमाण वर्तमान में नहीं मिलता है। **(ति.प. ८/५१६-५२६)**

२४. प्रश्न : अच्युत स्वर्ग के देवों की देवियों की उत्कृष्ट आयु कितनी है ?

उत्तर : अच्युत स्वर्ग में इन्द्र, इन्द्र सम्बन्धी प्रतीन्द्र, सामानिक एवं त्रायस्त्रिंश देवों की देवियों की उत्कृष्ट आयु-५५ पल्य, लोकपाल सम्बन्धी सोम एवं यम देवों की देवियों की उत्कृष्ट आयु- ८ $\frac{१}{२}$ पल्य।

कुबेर की देवियों की उत्कृष्ट आयु - कुछ कम ८ $\frac{१}{२}$ पल्य।

वरुण की देवियों की उत्कृष्ट आयु - साधिक ८ $\frac{१}{२}$ पल्य।

लोकपाल सम्बन्धी प्रतीन्द्र आदि देवों की देवियों की उत्कृष्ट आयु-अपने-अपने स्वामी के सदृश।

शेष देवों की देवियों की उत्कृष्ट आयु का प्रमाण वर्तमान में नहीं मिलता है। **(ति.प. ८/५२८-४०)** अच्युत स्वर्ग की देवियों की उत्कृष्ट आयु पचपन पल्य प्रमाण है। **(मू. ११२३ आ.)**

२५. प्रश्न : सूत्र में 'तु' शब्द का ग्रहण किसलिए किया गया है ?

उत्तर : सूत्र में दिये गये 'तु' शब्द का अर्थ है कि पूर्व सूत्र में कथित अधिक शब्द का सम्बन्ध चार युगल के साथ करना चाहिए। उसके आगे के स्वर्गों में आयु सागरों से कुछ अधिक नहीं है। इसका अर्थ यह है कि ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर स्वर्ग में देवों की आयु कुछ अधिक दस सागर, लान्तव-कापिष्ठ स्वर्ग में देवों की आयु कुछ अधिक चौदह सागर, शुक्र महाशुक्र स्वर्ग में कुछ अधिक सोलह सागर, शतार-सहस्रार स्वर्ग में कुछ अधिक अठारह सागर, आनत-प्राणत में बीस सागर और आरण-अच्युत स्वर्ग में बावीस सागर की उत्कृष्ट स्थिति है। इस 'तु' शब्द से अधिक का अन्वय सहस्रार स्वर्ग तक ही होता है। **(रा.वा.२)**

२६. प्रश्न : सूत्र में 'तु' शब्द व्यर्थ है क्योंकि 'अधिके' इस अधिकार में सहस्रार स्वर्ग तक अधिक शब्द कहा है ?

उत्तर : 'तु' शब्द व्यर्थ नहीं है क्योंकि तु शब्द से ही सहस्रार स्वर्ग की मर्यादा सिद्ध होती है। **(रा.वा. २)**

२७. प्रश्न : सानत्कुमारादि स्वर्ग की देवियों की आयु में दो प्रकार के उपदेश में से कौनसा सत्य है ?

उत्तर : दोनों ही उपदेश ग्रहण करने चाहिए क्योंकि दोनों ही सूत्र के उपदेश हैं। यद्यपि दोनों में से कोई एक ही सत्य होना चाहिए फिर भी दोनों को ग्रहण करने में संशय मिथ्यात्व नहीं होता है, क्योंकि जो अर्हन्त के द्वारा प्रणीत है वह सत्य है, इसमें सन्देह का अभाव है। फिर भी छद्मस्थ जनों को विवेक कराना अर्थात् कौनसा सत्य है यह समझाना शक्य नहीं है इसलिए मिथ्यात्व के भय से दोनों का ही ग्रहण करना उचित है। **(मू. ११२३ आ.)**

कल्पातीत देवों की आयु -

आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैंकेन नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धौ च ॥३२॥

आरण-अच्युतात्-ऊर्ध्वं-एक-एकेन-नवसु-ग्रैवेयकेषु-विजय-आदिषु-सर्वार्थ-सिद्धौ च।

(आरणाच्युतात्) आरण और अच्युत स्वर्ग से **(ऊर्ध्वं)** आगे **(नवसु ग्रैवेयकेषु)** नव ग्रैवेयकों एवं नव अनुदिशों में **(विजयादिषु)** विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित विमानों में **(सर्वार्थसिद्धौ)** सर्वार्थसिद्धि में (एकैंकेन) एक-एक सागर की वृद्धि करनी चाहिए।[१]

---

१. आरण-अच्युत से ऊपर नवग्रैवेयकों में एक-एक सागर बढ़ाने से अन्तिम ग्रैवेयक में इकतीस सागर, विजयादि चार अनुत्तर विमानों में बत्तीस सागर और सर्वार्थसिद्धि विमान में तैंतीस सागर की आयु होती है। जो ऐसा सीधा अर्थ लेते हैं, उनके मत में अनुदिश विमान की सत्ता नहीं है।

अर्थ - आरण-अच्युत स्वर्ग से लेकर उपरिम नव ग्रैवेयकों में, अनुदिशों में, विजयादि चार विमानों में और सर्वार्थसिद्धि विमान में एक-एक सागर की वृद्धि करनी चाहिए।

१. प्रश्न : सर्वार्थसिद्धि के देवों की आयु का पृथक् ग्रहण क्यों किया है ?

उत्तर : सर्वार्थसिद्धि का पृथक् ग्रहण विकल्प की निवृत्ति के लिए है। जैसे-अधस्तन देवों के जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति का विकल्प है, उस प्रकार सर्वार्थसिद्धि में जघन्य विकल्प नहीं है अत: 'सर्वार्थसिद्धि' का पृथग् ग्रहण करने से सूचित होता है कि उसमें एक उत्कृष्ट स्थिति ही है। इसका अर्थ जानना चाहिए कि अधोग्रैवेयकों में प्रथम ग्रैवेयक में - २३ सागर।

दूसरे ग्रैवेयक में - २४ सागर।

तीसरे ग्रैवेयक में - २५ सागर।

मध्यम ग्रैवेयकों में प्रथम ग्रैवेयक में - २६ सागर।

दूसरे ग्रैवेयक में - २७ सागर।

तीसरे ग्रैवेयक में - २८ सागर।

उपरिम ग्रैवेयकों में पहले ग्रैवेयक में - २९ सागर।

दूसरे ग्रैवेयक में - ३० सागर।

तीसरे ग्रैवेयक में - ३१ सागर।

नव अनुदिश विमानों में - ३२ सागर।

विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित अनुत्तरों में - ३३ सागर।

सर्वार्थसिद्धि अनुत्तर में - ३३ सागर।

सर्वार्थसिद्धि में उत्कृष्ट स्थिति ही हैं, जघन्य नहीं। **(रा.वा. ३)**

सौधर्मैशान स्वर्ग के देवों की जघन्य आयु -

अपरा पल्योपममधिकम् ॥३३॥

अपरा-पल्योपमम्-अधिकम्।

सौधर्म-ऐशान स्वर्ग के देवों की (अपरा) जघन्य स्थिति (पल्योपममधिकं) पल्योपम से कुछ अधिक है।

अर्थ - सौधर्म-ऐशान स्वर्ग के देवों की जघन्य स्थिति पल्योपम से कुछ अधिक है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : मनुष्य और तिर्यञ्च योनि के जीवों की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति का वर्णन किया है। क्या देवों की उत्कृष्ट स्थिति ही होती है जघन्य नहीं ? ऐसी आशंका होने पर देवों की जघन्य स्थिति का वर्णन करने के लिए यह सूत्र कहा है। **(रा.वा.उ. ३३)**

२. **प्रश्न : यह जघन्य आयु किसकी है ?**

उत्तर : यह जघन्य आयु सौधर्म-ऐशान स्वर्ग के देवों की है। **(रा.वा. ४/३३)**

३. **प्रश्न : कैसे जाना जाता है कि यह सौधर्म-ऐशान स्वर्ग के देवों की आयु है ?**

उत्तर : परिशेष न्याय से सौधर्म और ऐशान स्वर्ग की जघन्य स्थिति जानी जाती है। आगे के सूत्रों में भवनवासी आदि देवों की जघन्य स्थिति बताई जायेगी। **''परत: परत: पूर्वा-पूर्वानन्तरा''** इस सूत्र में सानत्कुमार आदि देवों की जघन्य स्थिति कहेंगे।

अत: परिशेष न्याय से सौधर्म और ऐशान स्वर्ग के देवों की जघन्य स्थिति एक पल्य से कुछ अधिक है, ऐसा जानना चाहिए। **(रा.वा.१)**

४. **प्रश्न : सौधर्म-ऐशान स्वर्ग के देवों की जघन्य आयु एक पल्य से कितनी अधिक है ?**

उत्तर : सौधर्म-ऐशान स्वर्ग के देवों की जघन्य आयु एक पल्य और एक समय अधिक एक लाख वर्ष प्रमाण है। क्योंकि ज्योतिष्क देवों की जो उत्कृष्ट आयु है वह सौधर्म-ऐशान स्वर्ग के देवों की एक समय अधिक जघन्य आयु है। **(मू. ११२० आ.)**

शेष देवों की जघन्य आयु -

परत: परत: पूर्वापूर्वानन्तरा ॥३४॥

परत: परत: पूर्वा-पूर्वा-अनन्तरा।

ऊर्ध्व लोक में (पूर्वा पूर्वा) पहले-पहले पटल की उत्कृष्ट स्थिति (परत:-परत:) आगे-आगे के पटल में (अनन्तरा) जघन्य स्थिति हैं।

अर्थ - पूर्व-पूर्व के देवों की उत्कृष्ट स्थिति आगे-आगे के स्वर्गों के देवों की जघन्य स्थिति है।

१. **प्रश्न : सूत्र में परत:परत: द्वित्व क्यों किया है ?**

उत्तर : जो पर अर्थात् अगले देश में रहे उसका नाम परत: है। परत: परत: यह वीप्सा में द्वित्व है। पूर्व शब्द के भी वीप्सा में द्वित्व जानना चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि पूर्व-पूर्व के देवों की जो उत्कृष्ट स्थिति है, वह उपरिम देवों की जघन्य स्थिति है। **(रा.वा.)**

२. **प्रश्न : सानत्कुमारादि स्वर्गों के देवों की जघन्य स्थिति कितनी है ?**

उत्तर : पूर्व सूत्र ३३ से 'अधिक' पद की अनुवृत्ति करनी चाहिए।

सानत्कुमार-माहेन्द्र स्वर्ग के देवों की जघन्य स्थिति - एक समय अधिक ढाई सागर।

ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर स्वर्ग के देवों की जघन्य स्थिति - एक समय अधिक ७ $\frac{१}{२}$सागर।

लान्तव-कापिष्ठ स्वर्ग के देवों की जघन्य स्थिति - एक समय अधिक १० $\frac{१}{२}$सागर।

शुक्र-महाशुक्र स्वर्ग के देवों की जघन्य स्थिति - एक समय अधिक १४ $\frac{१}{२}$सागर।

शतार-सहस्रार स्वर्ग के देवों की जघन्य स्थिति - एक समय अधिक १६ $\frac{१}{२}$सागर।

आनत-प्राणत स्वर्ग के देवों की जघन्य स्थिति - एक समय अधिक १८ सागर।

आरण-अच्युत स्वर्ग के देवों की जघन्य स्थिति - एक समय अधिक २० सागर।

इसी प्रकार एक समय अधिक होकर आगे पूर्व-पूर्व के स्वर्गों की उत्कृष्ट आयु आगे-आगे के स्वर्गों की जघन्य आयु हो जाती है। इस प्रकार तैंतीस सागर की उत्कृष्ट आयु होने पर्यन्त यही व्यवस्था समझनी चाहिए। **(मू. ११२० आ.)**

सौधर्म-ऐशान स्वर्ग के देवों की जो उत्कृष्ट स्थिति है उससे कुछ अधिक सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग की जघन्य स्थिति है। सानत्कुमार माहेन्द्र की जो उत्कृष्ट स्थिति है उससे कुछ अधिक ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर की जघन्य स्थिति है। **(रा.वा. १)**

३. प्रश्न : साधिक का अधिकार कहाँ तक है ?

उत्तर : यह अधिकार विजयादिक तक है। अर्थात् पूर्व-पूर्व की उत्कृष्ट स्थिति आगे-आगे की जघन्य स्थिति है यह अधिकार विजयादि अनुत्तरों तक समझना चाहिए। सर्वार्थसिद्धि का पृथक् ग्रहण करने से यही सूचित होता है कि यह जघन्य स्थिति का क्रम विजयादिक तक ही चलता है। **(रा.वा.२)**

४. प्रश्न : पूर्व शब्द से ही आनन्तर्य (पहले की स्थिति) की प्रतीति हो जाती है, पुनः 'अनन्तरा' वचन व्यर्थ है ?

उत्तर : यद्यपि पूर्व शब्द से पहले की स्थिति का ग्रहण हो जाता है, तथापि पूर्व शब्द का प्रयोग 'मथुरा से पहले पटना है' इत्यादि स्थलों में व्यवहित में भी देखा जाता है अतः सौधर्म और ऐशान स्वर्ग के देवों की जो उत्कृष्ट स्थिति है, वह ब्रह्मलोक और ब्रह्मलोकोत्तर की जघन्य स्थिति है, इत्यादि अनिष्ट की प्रतीति होती है अतः अव्यवहित का सम्बन्ध करने के लिए 'अनन्तर' शब्द का प्रयोग किया गया है। **(रा.वा. ३)**

कल्पवासी देवियों की आयु

कल्पनाम	१२ कल्प की मान्यता	१६ कल्प की मान्यता	लोगाइणी की मान्यता	मूलाचार की मान्यता
सौधर्म	५ पल्य	५ पल्य	५ पल्य	५ पल्य
ऐशान	७ पल्य	७ पल्य	७ पल्य	५ पल्य
सानत्कुमार	९ पल्य	९ पल्य	९ पल्य	१७ पल्य
माहेन्द्र	११ पल्य	११ पल्य	११ पल्य	१७ पल्य
ब्रह्म	१३ पल्य	१३ पल्य	१३ पल्य	२५ पल्य
ब्रह्मोत्तर	×	१५ पल्य	१५ पल्य	२५ पल्य
लान्तव	१७ पल्य	१७ पल्य	१७ पल्य	३५ पल्य
कापिष्ठ	×	१९ पल्य	१९ पल्य	३५ पल्य
शुक्र	×	२१ पल्य	२१ पल्य	४० पल्य
महाशुक्र	२३ पल्य	२३ पल्य	२३ पल्य	४० पल्य
शतार	×	२५ पल्य	२५ पल्य	४५ पल्य
सहस्रार	२७ पल्य	२७ पल्य	२७ पल्य	४५ पल्य
आनत	३४ पल्य	३४ पल्य	२९ पल्य	५० पल्य
प्राणत	४१ पल्य	४१ पल्य	३१ पल्य	५० पल्य
आरण	४८ पल्य	४८ पल्य	३३ पल्य	५५ पल्य
अच्युत	५५ पल्य	५५ पल्य	३५ पल्य	५५ पल्य

कल्पवासी देवियों की जघन्य आयु : सौधर्म ऐशान कल्प में देवियों की जघन्य आयु कुछ अधिक एक पल्य है। ऐशान स्वर्ग की देवियों की उत्कृष्ट आयु ही आगे-आगे के स्वर्गों की देवियों की जघन्य आयु है, जैसे :- ईशान स्वर्ग की देवियों की उत्कृष्ट आयु ७ पल्य है, वही सानत् कुमार स्वर्ग की देवियों की जघन्य आयु है। **(ति.प. ८/५२८-५३५ त्रि.सा. ५/५४२) (मू. ११२०-२९-आ.)**

नारकियों की जघन्य स्थिति -

नारकाणां च द्वितीयादिषु ॥३५॥

नारकाणां-च-द्वितीय-आदिषु।

(द्वितीयादिषु) द्वितीय आदि नरकों में (नारकाणां च) नारकियों की भी जघन्य स्थिति इसी प्रकार जाननी चाहिए।

अर्थ - द्वितीय आदि नरकों में नारकियों की जघन्य स्थिति पूर्व-पूर्व के नारकियों की उत्कृष्ट स्थिति के समान है।

१. प्रश्न : यह सूत्र किसलिए कहा गया है ?

उत्तर : नारकियों की उत्कृष्ट स्थिति का वर्णन तृतीय अध्याय में किया गया है परन्तु सूत्र में जघन्य स्थिति का वर्णन नहीं किया है। उसका प्रकरण न होते हुए भी लघु उपाय से नारकियों की जघन्य स्थिति बताने के लिए यह सूत्र कहा गया है। **(रा.वा.उ. ३५)**

२. प्रश्न : नारकियों की जघन्य आयु कितनी है ?

उत्तर : रत्नप्रभा में नारकियों की उत्कृष्ट स्थिति जो एक सागरोपम है वह शर्करा प्रभा में जघन्य स्थिति है। शर्करा प्रभा में उत्कृष्ट स्थिति जो तीन सागरोपम है वह बालुका प्रभा में जघन्य स्थिति है इत्यादि। 'परत: परत: पूर्वापूर्वानन्तरा अपरास्थिति:' इसका समुच्चय सूत्र में दिये गये 'च' शब्द से ग्रहण करके उपर्युक्त अर्थ को ग्रहण करना चाहिए। **(सर्वा. ५११)**

३. प्रश्न : दूसरे नरक के नारकियों की जघन्य स्थिति कितनी है ?

उत्तर : दूसरे नरक के प्रथम पटल के नारकियों की जघन्य स्थिति - १ समय अधिक १ सागर।

द्वितीय पटल के नारकियों की जघन्य स्थिति - १ $\frac{२}{११}$ सागर।

तृतीय पटल के नारकियों की जघन्य स्थिति - १ $\frac{४}{११}$ सागर।

चतुर्थ पटल के नारकियों की जघन्य स्थिति - १ $\frac{६}{११}$ सागर।

पंचम पटल के नारकियों की जघन्य स्थिति - १ $\frac{८}{११}$ सागर।

षष्ठ पटल के नारकियों की जघन्य स्थिति - १ $\frac{१०}{११}$ सागर।

सप्तम पटल के नारकियों की जघन्य स्थिति - २ $\frac{१}{११}$ सागर।

अष्टम पटल के नारकियों की जघन्य स्थिति - २ $\frac{३}{११}$ सागर।

दूसरे नरक के नवम पटल के नारकियों की जघन्य स्थिति - २ $\frac{५}{११}$ सागर।

दशम पटल के नारकियों की जघन्य स्थिति - २ $\frac{७}{११}$ सागर।

ग्यारहवें पटल के नारकियों की जघन्य स्थिति - २ $\frac{९}{११}$ सागर। **(मू. १११७ आ.)**

४. **प्रश्न : तीसरे नरक के नारकियों की जघन्य आयु कितनी है ?**

उत्तर : तीसरे नरक के प्रथम पटल के नारकियों की जघन्य आयु - १ समय अधिक ३ सागर।

दूसरे पटल के नारकियों की जघन्य आयु एक समय अधिक - ३ $\frac{४}{९}$ सागर।

तीसरे पटल के नारकियों की जघन्य आयु एक समय अधिक - ३ $\frac{८}{९}$ सागर।

चौथे पटल के नारकियों की जघन्य आयु एक समय अधिक - ४ $\frac{३}{९}$ सागर।

पाँचवें पटल के नारकियों की जघन्य आयु एक समय अधिक - ४ $\frac{७}{९}$ सागर।

छठे पटल के नारकियों की जघन्य आयु एक समय अधिक - ५ $\frac{२}{९}$ सागर।

सातवें पटल के नारकियों की जघन्य आयु एक समय अधिक - ५ $\frac{६}{९}$ सागर।

आठवें पटल के नारकियों की जघन्य आयु एक समय अधिक - ६ $\frac{१}{९}$ सागर।

नवें पटल के नारकियों की जघन्य आयु एक समय अधिक - ६ $\frac{५}{९}$ सागर। **(मू. १११७-१८ आ.)**

५. **प्रश्न : चौथे नरक के नारकियों की जघन्य आयु कितनी है ?**

उत्तर : चौथे नरक के प्रथम पटल के नारकियों की जघन्य आयु - एक समय अधिक ७ सागर।

दूसरे पटल के नारकियों की जघन्य आयु- एक समय अधिक ७ $\frac{३}{७}$ सागर।

तीसरे पटल के नारकियों की जघन्य आयु - एक समय अधिक ७ $\frac{६}{७}$ सागर।

चौथे पटल के नारकियों की जघन्य आयु - एक समय अधिक ८ $\frac{२}{७}$ सागर।

पाँचवें पटल के नारकियों की जघन्य आयु - एक समय अधिक ८ $\frac{५}{७}$ सागर।

छठे पटल के नारकियों की जघन्य आयु - एक समय अधिक ९ $\frac{१}{७}$ सागर।

सातवें पटल के नारकियों की जघन्य आयु - एक समय अधिक ९ $\frac{४}{७}$ सागर।'' **(मू. १११७-१८ आ.)**

६. **प्रश्न : पाँचवें नरक के नारकियों की जघन्य आयु कितनी है ?**

उत्तर : पाँचवें नरक के प्रथम पटल के नारकियों की जघन्य आयु - एक समय अधिक १० सागर।

दूसरे पटल के नारकियों की जघन्य आयु - एक समय अधिक ११ $\frac{२}{५}$ सागर।

तीसरे पटल के नारकियों की जघन्य आयु - एक समय अधिक १२ $\frac{४}{५}$ सागर।

चौथे पटल के नारकियों की जघन्य आयु - एक समय अधिक १४ $\frac{१}{५}$ सागर।

पाँचवें पटल के नारकियों की जघन्य आयु - एक समय अधिक १५ $\frac{३}{५}$ सागर। **(मू. १११७-१८ आ.)**

७. **प्रश्न : छठे एवं सातवें नरक के नारकियों की जघन्य आयु कितनी है ?**

उत्तर : छठे नरक के प्रथम पटल के नारकियों की जघन्य आयु - एक समय अधिक १७ सागर।

दूसरे पटल के नारकियों की जघन्य आयु - १८ $\frac{२}{३}$ सागर।

तीसरे पटल के नारकियों की जघन्य आयु - २० $\frac{१}{३}$ सागर।

सातवें नरक के पटल में एक समय अधिक २२ सागर प्रमाण जघन्य आयु है। **(मू. १११७-१८ आ.)**

प्रथम नरक की जघन्य आयु -

दशवर्षसहस्राणिप्रथमायाम् ॥३६॥

(प्रथमायां) प्रथम नरक के नारकियों की जघन्य आयु (दश वर्ष सहस्राणि) दस हजार वर्ष प्रमाण है।

अर्थ - प्रथम नरक के नारकियों की जघन्य आयु १० हजार वर्ष प्रमाण है।

१. **प्रश्न : प्रथम नरक के नारकियों की जघन्य आयु कितनी है ?**

उत्तर : प्रथम नरक के नारकियों की जघन्य आयु १० हजार वर्ष प्रमाण है। **(त.सू. ४/३६)**

२. **प्रश्न : क्या प्रथम नरक के सभी नारकियों की जघन्य आयु १० हजार वर्ष प्रमाण हैं ?**

उत्तर : नहीं, प्रथम नरक के प्रथम पटल के नारकियों की जघन्य आयु दस हजार वर्ष प्रमाण है।

द्वितीय पटल के नारकियों की जघन्य आयु	-	९०,००० वर्ष
तृतीय पटल के नारकियों की जघन्य आयु	-	९०,०००,०० वर्ष
चतुर्थ पटल के नारकियों की जघन्य आयु	-	असंख्यात कोटि पूर्व
पंचम पटल के नारकियों की जघन्य आयु	-	$\frac{१}{१०}$ सागर
छठे पटल के नारकियों की जघन्य आयु	-	$\frac{१}{५}$ सागर

सातवें पटल के नारकियों की जघन्य आयु - $\frac{३}{१०}$ सागर

आठवें पटल के नारकियों की जघन्य आयु - $\frac{२}{५}$ सागर

नवम पटल के नारकियों की जघन्य आयु - $\frac{१}{२}$ सागर

दसवें पटल के नारकियों की जघन्य आयु - $\frac{३}{५}$ सागर

ग्यारहवें पटल के नारकियों की जघन्य आयु - $\frac{७}{१०}$ सागर

बारहवें पटल के नारकियों की जघन्य आयु - $\frac{४}{५}$ सागर

तेरहवें पटल के नारकियों की जघन्य आयु - $\frac{९}{१०}$ सागर प्रमाण है।

(त्रि.सा. १९८-२००)

भवनवासी देवों की जघन्य स्थिति -

भवनेषु च ॥३७॥

अर्थ - भवनवासी देवों की भी जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष प्रमाण है।

१. **प्रश्न : भवनवासी देवों की जघन्य आयु कितनी है ?**

उत्तर : भवनवासी देवों की जघन्य आयु दस हजार वर्ष प्रमाण है।

व्यन्तरों की जघन्य स्थिति -

व्यन्तराणां च ॥३८॥

अर्थ - व्यन्तर देवों की जघन्य स्थिति भी दस हजार वर्ष की है।

१. **प्रश्न : भवनवासी के समान व्यन्तरों की भी पहले उत्कृष्ट स्थिति का वर्णन करके पश्चात् जघन्य स्थिति का वर्णन क्यों नहीं किया ?**

उत्तर : लाघवार्थ व्यन्तरों की पहले उत्कृष्ट स्थिति का वर्णन करने के पश्चात् जघन्य स्थिति का वर्णन किया है क्योंकि यदि इस प्रकार व्यन्तरों की उत्कृष्ट स्थिति पहले कहकर पुन: 'दशवर्षसहस्राणि' का ग्रहण किया जाता तो सूत्र में गुरुपना हो जाता और जघन्य स्थिति के निर्देश के लिए फिर से 'दशवर्षसहस्राणि' सूत्र बनाना पड़ता। **(रा.वा. १)**

व्यन्तर देवों की उत्कृष्ट स्थिति -

परा पल्योपममधिकम् ॥३९॥

परा-पल्योपमम्-अधिकम्।

व्यन्तर देवों की (परा) उत्कृष्ट आयु (पल्योपममधिकं) एक पल्य से कुछ अधिक है।

अर्थ - व्यन्तर देवों की उत्कृष्ट स्थिति एक पल्य से कुछ अधिक है।

१. प्रश्न : सूत्र में 'परा' स्त्रीलिङ्ग का निर्देश किसलिए किया है ?

उत्तर : उपरिम सूत्र से स्थिति का अभि सम्बन्ध है। वह 'स्थिति' शब्द स्त्रीवाचक है अत: उस स्थिति के साथ सम्बन्ध होने से 'परा' यह शब्द स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त किया है। **(रा.वा. १)**

२. प्रश्न : व्यन्तर देवों की उत्कृष्ट आयु कितनी है ?

उत्तर : व्यन्तर देवों में इन्द्र, प्रतीन्द्र एवं सामानिक देवों की उत्कृष्ट स्थिति - १ पल्य।

नीचोपपाद देवों में इन्द्र, प्रतीन्द्र एवं सामानिक देवों की उत्कृष्ट स्थिति - १०,००० वर्ष।

दिग्वासी देवों में इन्द्र, प्रतीन्द्र एवं सामानिक देवों की उत्कृष्ट स्थिति - २०,००० वर्ष।

अन्तरवासी देवों में इन्द्र, प्रतीन्द्र एवं सामानिक देवों की उत्कृष्ट स्थिति - ३०,००० वर्ष।

कूष्माण्ड देवों में इन्द्र, प्रतीन्द्र एवं सामानिक देवों की उत्कृष्ट स्थिति - ४०,००० वर्ष।

उत्पन्न देवों में इन्द्र, प्रतीन्द्र एवं सामानिक देवों की उत्कृष्ट स्थिति - ५०,००० वर्ष।

अनुत्पन्न देवों में इन्द्र, प्रतीन्द्र एवं सामानिक देवों की उत्कृष्ट स्थिति - ६०,००० वर्ष।

प्रमाणक देवों में इन्द्र, प्रतीन्द्र एवं सामानिक देवों की उत्कृष्ट स्थिति - ७०,००० वर्ष।

गन्ध देवों में इन्द्र, प्रतीन्द्र एवं सामानिक देवों की उत्कृष्ट स्थिति - ८०,००० वर्ष।

महगन्ध देवों में इन्द्र, प्रतीन्द्र एवं सामानिक देवों की उत्कृष्ट स्थिति - ८४,००० वर्ष।

भुजङ्ग देवों में इन्द्र, प्रतीन्द्र एवं सामानिक देवों की उत्कृष्ट स्थिति - एक पल्य के ८वें भाग।

प्रीतिक देवों में इन्द्र, प्रतीन्द्र एवं सामानिक देवों की उत्कृष्ट स्थिति - एक पल्य के ४थे भाग।

आकाशोत्पन्न देवों में इन्द्र, प्रतीन्द्र एवं सामानिक देवों की उत्कृष्ट स्थिति - आधा पल्य। **(ति.प. ६/८४-८६)**

व्यन्तर देवों की उत्कृष्ट आयु एक पल्य, मध्यम आयु असंख्यात वर्ष प्रमाण और जघन्य आयु दस हजार वर्ष प्रमाण हैं। **(ति.प. ६/८३)**

व्यन्तरों में किन्नर आदिकों की उत्कृष्ट स्थिति एक पल्य प्रमाण हैं तथा घातायुष्क की अपेक्षा डेढ़ पल्य प्रमाण हैं। **(मू. १११९ आ.)**

ज्योतिष्क देवों की उत्कृष्ट स्थिति -

ज्योतिष्काणां च ॥४०॥

अर्थ - ज्योतिष्क देवों की उत्कृष्ट स्थिति एक पल्योपम से कुछ अधिक है।

१. **प्रश्न : ज्योतिष्क देवों की उत्कृष्ट आयु कितनी है ?**

उत्तर : ज्योतिष्क देवों में चन्द्रमा की उत्कृष्ट स्थिति - १ लाख वर्ष अधिक १ पल्य।

सूर्य की उत्कृष्ट स्थिति - १ हजार वर्ष अधिक १ पल्य।

शुक्र की उत्कृष्ट स्थिति - सौ वर्ष अधिक १ पल्य।

बृहस्पति की उत्कृष्ट स्थिति - १०० वर्ष कम १ पल्य।

मंगल, बुध, शनैश्चर और केतु आदि

ग्रहों की तथा किन्हीं नक्षत्रों की उत्कृष्ट आयु - आधा पल्य।

ताराओं की तथा किन्हीं नक्षत्रों की उत्कृष्ट आयु - पाव पल्य। **(मू.आ. ११२४-२५)**

चन्द्र आदि की उत्कृष्ट आयु १ लाख वर्ष अधिक १ पल्य तथा घातायुष्क की अपेक्षा डेढ़ पल्योपम प्रमाण है। **(मू. ११२० आ.)**

ज्योतिष्क देवों की जघन्य स्थिति -

तदष्टभागोऽपरा ॥४१॥

तत्-अष्टभाग: अपरा।

ज्योतिष्क देवों की (अपरा) जघन्य स्थिति (तदष्ट भाग:) उसके (उत्कृष्ट स्थिति के) आठवें भाग प्रमाण है।

अर्थ - ज्योतिष्क देवों की जघन्य स्थिति पल्य के आठवें भाग प्रमाण है।

१. **प्रश्न : ज्योतिष्क देवों की जघन्य स्थिति कितनी है ?**

उत्तर : ज्योतिष्क देवों में तारा तथा नक्षत्रों की जघन्य स्थिति पल्य के आठवें भाग प्रमाण है। शेष सूर्य, चन्द्रमा, सोम, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र और शनि की जघन्य स्थिति पल्य के चतुर्थ भाग प्रमाण जानना चाहिए। **(रा.वा. ८-९)**

लौकान्तिक देवों की स्थिति -

लौकान्तिकानामष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषाम् ॥४२॥

लौकान्तिकानां-अष्टौ-सागरोपमाणि-सर्वेषाम्।

(सर्वेषां) सभी (लौकान्तिकानां) लौकान्तिक देवों की आयु (अष्टौ सागरोपमाणि) आठ सागर प्रमाण है।

अर्थ - सभी लौकान्तिक देवों की आयु आठ सागर प्रमाण जानना चाहिए।

१. प्रश्न : लौकान्तिक देवों की उत्कृष्ट एवं जघन्य स्थिति कितनी है ?

उत्तर : लौकान्तिक देवों की उत्कृष्ट एवं जघन्य स्थिति आठ सागर प्रमाण जाननी चाहिए। **(रा.वा. १)** इनमें अरिष्ट कुल के लौकान्तिक देवों की आयु ९ सागर की होती है। **(त्रि.सा. ५/५४०)**

इस प्रकार तत्त्वार्थमञ्जूषा में चतुर्थ अध्याय पूर्ण हुआ।

❋ ❋ ❋

ॐ

卐 प्रशस्ति 卐

बीसवीं शताब्दी में सर्वप्रथम मुनिधर्म को पुनर्जीवन देने वाले **चारित्र चक्रवर्ती १०८ आचार्यश्री शान्तिसागर जी महाराज** के प्रथम शिष्य १०८ **आचार्यश्री वीरसागर जी महाराज,** उनके उत्तराधिकारी १०८ **आचार्यश्री शिवसागर जी महाराज** के प्रथम शिष्य महाकवि १०८ **आचार्यश्री ज्ञानसागर जी महाराज** के प्रथम शिष्य १०८ **संत शिरोमणि आचार्य गुरुवरश्री विद्यासागरजी महाराज** एवं द्वितीय शिष्य परम पूज्य स्वर्गीय १०८ **आचार्यकल्प श्री विवेकसागरजी महाराज** ने छह दीक्षाएँ दी थीं। उनमें दो मुनि (१) परम पूज्य **श्री विजयसागरजी** एवं (२) परम पूज्य **श्री विनयसागरजी** तथा चार आर्यिकाएँ (३) परम पूज्य १०५ **आर्यिका विपुलमतीजी,** (४) **आर्यिका विशालमतीजी** (५) **आर्यिका विज्ञानमतीजी** एवं (६) **आर्यिका विद्युत्मतीजी;** इनमें से पाँचवें क्रम पर दीक्षित शिष्या **आर्यिका विज्ञानमती** ने इस **'तत्त्वार्थ मञ्जूषा'** का संकलन किया है। यद्यपि सम्पूर्ण संकलन ग्रन्थों के आधार से ही किया गया है तथापि बुद्धि की अल्पता के कारण शब्द, अर्थ, मात्रा आदि में जो कोई कमी और भूल रह गई हो तो उसे बुद्धिमान्, विद्वान् शुद्ध करके पढ़ें। यह **'तत्त्वार्थ मञ्जूषा'** जब तक सूरज-चाँद रहे अज्ञानियों के अज्ञान का नाश करे, ज्ञानियों के ज्ञान की वृद्धि करे तथा चारित्रवानों के चारित्र में निर्मलता उत्पन्न करे, यही भावना है। भद्रं भूयात्, वर्धतां जैनशासनम्।

❋ ❋ ❋

❋ पारिभाषिक शब्दावली ❋

अंग प्रविष्ट श्रुतज्ञान - १/२०
अंग बाह्य - १/२०
अंग बाह्य श्रुतज्ञान - १/२०
अंगुल - ३/३८
अंडज - २/३३
अंडज जन्म - २/३२
अंतकृद्दशांग - १/२०
अंतर - १/८
अंतरात्मा - २/१०
अंतर्धानऋद्धि - ३/३६
अंतर्द्वीपजम्लेच्छ - ३/३६
अंतर्जल्प - २/१०
अकालमृत्यु - २/५३
अग्नि - २/१३
अग्निकाय - २/१३
अग्निकायिक - २/१३
अग्निकुमार - ४/१०
अग्निजीव - २/१३
अगाढ़ दोष - २/५
अग्रायणीय पूर्व - १/२०
अज्ञान भाव - २/६
अचक्षुदर्शन - २/५
अचित्त योनि - २/३२
अजीव - १/४
अणिमा ऋद्धि - ३/३६
अतदाकार - १/५
अक्षरज्ञान - १/२०
अक्षर म्लेच्छ - ३/३६
अक्षर समास - १/२०
अक्षरात्मक श्रुतज्ञान - १/२०
अक्षिप्र - १/१६
अक्षीणमहानस ऋद्धि - ३/३६
अक्षीणमहालय ऋद्धि - ३/३६
अतिव्याप्ति दोष - २/८
अद्धापल्य - ३/३८
अधिगत चारित्रार्य - ३/३६
अधिगमजसम्यग्दर्शन - १/६
अध्रुव ज्ञान - १/१६
अनन्त - ३/३८
अनन्तानन्त - ३/३८
अनृद्धिप्राप्तार्य - ३/३६
अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान - १/२०
अनध्यवसाय - १/३१
अनधिगतार्य - ३/३६
अननुगामी अवधि - १/२१
अनवस्थित अवधिज्ञान - १/२२
अनात्मभूत लक्षण - २/८
अनात्मभूत अभ्यन्तर हेतु - २/८
अनात्मभूत बाह्य हेतु - २/८
अनादि सान्त - २/१
अनाहारक - २/३०
अनि:सृत - १/१६
अनि:सरणात्मक तैजस- २/४८
अनीत - ४/४
अनुगामी अवधिज्ञान - १/२२
अनुकम्पा - १/७
अनुक्त - १/१६
अनुत्तरोपपादिकदशांग - १/२०
अनुपात्त हेतुक - १/२९
अनुयोग - १/२९
अनुयोग समास - १/२९
अनुश्रेणी - २/२६
अनृत ज्ञान - १/१६
अनेकान्त - १/६
अनेकक्षेत्र - १/२२
अन्वयनय - १/३३
अप् - २/१३
अप्काय - २/१३
अप्कायिक - २/१३

अप् जीव - २/१३
अपाय - १/१५
अण्डर - २/३३
अपोहा - १/१५
अप्रतिघाती ऋद्धि - ३/३६
अप्रतिघात - २/४०
अप्रशस्त तैजस - २/४८
अपृथक्त्व नय - १/३३
अभव्य - २/७
अभव्यसम भव्य - २/७
अभाव - १/१३
अभाव प्रमाण - १/२०
अभिनिबोध - १/१३
अभिन्नदसपूर्वी - ३/३६
अभियोग - ४/४
अभूतार्थ नय - १/३३
अभ्यन्तर निवृत्ति - २/१७
अमृतस्रावी ऋद्धि - ३/३६
अर्थ - १/१७
अर्थपद - १/२०
अर्थ पर्याय नय - १/३३
अर्थ सम्यक्त्व - १/७
अर्थ लिंगज - १/२०
अर्थापत्ति - १/२०
अर्थावग्रह - १/१८
अल्प - १/१६
अल्पविध - १/१६
अल्पसावद्यार्य - ३/३६
अवगाढ़ सम्यक्त्व - १/७
अवगाह - ३/१६
अवग्रह - १/१५
अवधिज्ञान - १/९
अवधिज्ञानोपयोग - १/२२
अवधिदर्शन - २/५
अवसर्पिणी - ३/२७
अवस्थित अवधिज्ञान - १/२२
अवलम्बना - १/१५
अवाय - १/१५
अव्याप्त दोष - २/८
अविशदावग्रह - १/१८
अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय - १/३३
अशुद्ध पारिणामिक भाव - २/७
अशुभोपयोग - २/७
असंख्यात - ३/३८
असंभवदोष - २/८
असंयम - २/६
असद्भाव स्थापना - १/५
असद्भूत व्यवहार नय - १/३३
असावद्यकर्मआर्य - ३/३६
असि सावद्यकर्मार्य - ३/३६
असिद्धत्व - २/६
असुरकुमार - ४/१०
अस्तिनास्ति प्रवाद - १/२०
आकाशगामी ऋद्धि - ३/३६
आगम भाव निक्षेप - १/५
आगम - १/१
आज्ञासम्यक्त्व - १/७
आत्मभूत लक्षण - २/८
आत्मभूत अभ्यन्तरहेतु - २/८
आत्मभूत बाह्य हेतु - २/८
आत्मरक्ष - ४/४
आत्मांगुल - ३/३८
आप्त - १/१
आमर्षौषधि ऋद्धि - ३/३६
आमुण्डा - १/१५
आर्य - ३/३६
आर्य खण्ड - ३/३६
आवास - ४/१०, २/३२
आशीर्विष ऋद्धि - ३/३६
आसन्न भव्य - २/७
आस्तिक्य - ३/३६
आहारक शरीर - २/३६
आस्रव - १/४
इन्द्र - ४/४
इन्द्रक - ४/१६, ३/२

इन्द्रिय - १/१४
इषुगति - २/२८
ईशित्व ऋद्धि - ३/३६
ईहा - १/१५
उक्त - १/१६
उग्रतप ऋद्धि - ३/३६
उत्कृष्ट अन्तरात्मा - २/१०
उत्पादपूर्व - १/२०
उत्सर्पिणी - ३/२७
उत्सेधांगुल ३/३८
उत्तराध्ययन १/२०
उदयाभावी क्षय २/५
उद्वेलना - २/३
उदीरणा - २/५३
उद्धार पल्य - ३/३८
उन्मग्नजला - ३/१०
उपकरण - २/१७
उपपाद जन - २/४६
उपरितनय - १/३३
उपदेश सम्यक्त्व - १/७
उपपाद - २/३१, ३/३५
उपभोग - २/४४
उपमान - १/१३,२०
उपयोग - २/८
उपलब्धि - १/९
उपात्तहेतुक - १/२९
उपासकाध्ययन - १/२०
ऊहा - १/१५
ऋजुमतिमन:पर्ययज्ञान - १/२३
ऋजुसूत्रनय - १/३३
ऋद्धि - ३/३६
एक क्षेत्र - १/२२
एकत्वप्रत्यभिज्ञान - १/१३
एकत्वविक्रिया - २/४८
एकविध - १/१६
एकान्त - १/६
एवंभूत नय - १/३३
ऐतिह्य - १/२०
ऐरावतक्षेत्र - ३/१०
ओदयिक भाव - २/१
औपशमिक चारित्र - २/३
औपशमिक भाव - २/१
औपशमिक सम्यक्त्व - २/३
औषधि ऋद्धि - ३/३६
कपाट समुद्घात - १/२०
करणलब्धि - २/३
करणानुयोग - १/१९
कर्मचेतना - २/४
कर्मप्रवाद - १/२०
कर्मफल चेतना - २/४
कर्मयोग - २/१५
कल्प ४/३
कल्पप्रवाद १/२०
कल्पवृक्ष - ३/२७
कल्पव्यवहार - १/२०
कल्पाकल्प - १/२०
कल्पातीत देव - ४/१७
कषाय समुद्घात - १/२०
कापोत लेश्या - ४/२२
कामरूपित्वऋद्धि - ३/३६
कायबल ऋद्धि - ३/३६
कार्मण शरीर - २/३६
कारणपरमात्मा - २/१०
कारणविपर्यास - १/३२
कार्यपरमात्मा - २/१०
काल परिवर्तन - २/१०
कालसमवाय - १/२०
किन्नर - ४/११
किंपुरुष - ४/११
किल्विष - ४/४
कुमति - १/३१
कुल - २/३२
कुलविद्या - ३/१०
कुश्रुतज्ञान - १/३१
कूर्मोन्नतयोनि - २/३२

कृतिकर्म - १/२०
कृष्णलेश्या - ४/२२
केवलज्ञान - १/९
केवलीसमुद्घात - १/२०
कोष्ठबुद्धिऋद्धि - ३/३६
कोष्ठा - १/१५
क्रिया ऋद्धि - ३/३६
क्रियाविशाल पूर्व - १/२०
क्षायिक उपभोग - २/४
क्षायिक चारित्र - २/४
क्षायिक ज्ञान - २/४
क्षायिक दर्शन - २/४
क्षायिक दान - २/४
क्षायिक भाव - २/१
क्षायिक लाभ - २/४
क्षायिक वीर्य - २/४
क्षायिक सम्यक्त्व - २/४
क्षायोपशमिक चारित्र - २/५
क्षायोपशमिक भाव - २/१
क्षायोपशमिक सम्यक्त्व - २/५
क्षायोपशमिक अवधि - १/२२
क्षीरस्रावी ऋद्धि - ३/३६
क्षेत्र आर्य - ३/३६
क्षेत्र परिवर्तन - २/१०
क्षेत्रभवानुगामी - १/२२
क्षेत्रभवाननुगामी - १/२२
क्षेत्र समवाय - १/२०
क्ष्वेलौषधि ऋद्धि - ३/३६
गंध - २/२०
गन्धर्व - ४/११
गरिमाऋद्धि - ३/३६
गर्भजन्म - २/३१
गवेषणा - १/१५
ग्राम - ३/३१
गोमूत्रिका - २/२८
गौण मंगल - मंगलाचरण
ज्ञातृधर्मकथांग - १/२०
ज्ञान चेतना - २/४
ज्ञानोपयोग - २/९
ज्ञानप्रवाद - १/२०
घनांगुल - ३/३८
घृतस्रावी ऋद्धि - ३/३६
चक्षुदर्शन - २/५
चतुर्गतिनिगोद - २/३२
चतुर्विंशति - १/२०
चन्द्र - ४/१२
चन्द्रप्रज्ञप्ति - १/२०
चरणानुयोग - १/१९
चरमोत्तमदेहा - २/५३
चलदोष - २/५
चारणऋद्धि - ३/३६
चारित्रार्य - ३/३६
चिन्ता - १/१३
चूलिका - १/२०
चेतना - १/४
छद्मस्थ - २/९
जगच्छ्रेणी - ३/३८
जगत्प्रतर - ३/३८
जंघाचारणऋद्धि - ३/३६
जन्म - २/३१
जम्बूद्वीप पण्णत्ति - १/२०
जरायुज - २/३२
जलगता चूलिका - १/२०
जलचारण ऋद्धि - ३/३६
जीव - १/४
ज्योतिष देव - ४/१२
ज्योतिष चारण - ३/३६
तत्त्व - १/४
तत्त्वार्थ - १/२
तन्तुचारण - ३/३६
तदाकार - १/५
तपऋद्धि - ३/३६
तप्ततप ऋद्धि - ३/३६
तपोभृत् - १/२
तृणचारणऋद्धि - ३/३६

तैजस शरीर - २/३६
तैजस समुद्घात - १/२०
त्रस जीव - २/१२
दशवैकालिक - १/२०
दर्शनोपयोग - २/९
द्वीपसागरप्रज्ञप्ति - १/२०
दूर भव्य - २/७
दूरात्घ्राण ऋद्धि - ३/३६
दूरात्दर्शन ऋद्धि - ३/३६
दूरात्स्पर्श ऋद्धि - ३/३६
दूरात्श्रवण ऋद्धि - ३/३६
दृष्टि अमृतरसऋद्धि - ३/३६
दृष्टि निर्विष औषधऋद्धि-३/३६
दृष्टिवाद - १/२०
देव - ४/१
देशनालब्धि - २/३
देशावधिज्ञान - १/२२
द्रव्य समवाय - १/२०
द्रव्य लेश्या - २/६
द्रव्य श्रुत - १/२०
द्रव्येन्द्रिय - २/१७
द्रव्यनिक्षेप - १/५
द्रव्यानुयोग - १/२०
द्रव्यार्थिकनय - १/३३
द्रव्य नैगमनय - १/३३
द्रव्यपर्याय नैगमनय - १/३३
द्रव्यपरिवर्तन - २/१०
धारणा - १/१५
धाराचारणऋद्धि - ३/३६
धारिणी - १/१५
धूमचारण ऋद्धि - ३/३६
ध्रुव मतिज्ञान - १/१६
नगर - ३/३१
नय - १/६
नपुंसक - २/५२
नरक - ३/२
नागकुमार - ४/१०
नारकी - ३/३
नि:सरणात्मकतैजस - २/४८
नि:सृतज्ञान - १/१६
निकल परमात्मा - २/१०
निकाय - ४/१
निक्षेप - १/५
निगोद - २/३२
नित्यनिगोद - २/३२
निर्जरा - १/४
निमग्नजला - ३/१०
निश्चयनय - १/३३
निश्चय मोक्षमार्ग - १/१
निसर्गज सम्यग्दर्शन - १/३
नैगम नय - १/३३
नो आगम भावनिक्षेप - १/५
पत्रचारणऋद्धि - ३/३६
पद - १/२०
पद समास - १/२०
परमात्मा - २/१०
परमावगाढ़ सम्यक्त्व - १/७
परमावधि - १/२२
पराधिगम - १/६
परिकर्म - १/२०
परीतासंख्यात - ३/३८
परीतानन्त - ३/३८
परोक्ष ज्ञान - १/११
पर्याय ज्ञान - १/२०
पर्याय समास - १/२०
पर्यायार्थिक नय - १/३३
पाणिमुक्ता गति - २/२८
पारमार्थिक प्रत्यक्ष - १/१२
पारिणामिक भाव - २/१
पारिषद - ४/४
पीत लेश्या - ४/२२
पुण्डरीक - १/२०
पुष्प प्रकीर्णक - ३/१
पुलवि - २/३२
पूर्व - १/२०

पूर्वगत - १/२०
पूर्व समास - १/२०
पोत जन्म - २/३२
पृथक्त्व विक्रिया - २/४७
पृथ्वी - २/१३
पृथ्वीकाय - २/१३
पृथ्वीकायिक - २/१३
पृथ्वी जीव - २/१३
प्रकीर्णक - ४/४
प्रकीर्णक विमान - ४/१६
प्रतिभा - १/१३
प्रज्ञाश्रमण ऋद्धि - ३/३६
प्रतिक्रमण - १/२०
प्रतिपत्ति - १/२०
प्रतिपत्ति समास - १/२०
प्रतिष्ठा - १/१५
प्रत्यामुण्डा - १/१५
प्रत्येक बुद्धि ऋद्धि - ३/३६
प्रत्यक्ष ज्ञान - १/११
प्रत्याख्यान पूर्व - १/२०
प्रतीन्द्र - ४/४
प्रथमानुयोग - १/२०
प्रमाणवाद - १/२०
प्रमाणांगुल - ३/३८
प्रविचार - ४/५
प्रशस्त तैजस - २/४८
प्रशम - १/७
प्रश्न व्याकरण - १/२०
प्रस्तार - ३/२
प्रकाम्य ऋद्धि - ३/३६
प्राण - २/१३
प्राणावाद - १/२०
प्राप्ति ऋद्धि - ३/३६
प्राभृत - १/२०
प्राभृत समास - १/२०
प्राभृत प्राभृत - १/२०
प्राभृत प्राभृत समास - १/२०
प्रायोग्य लब्धि - २/३
फलचारण ऋद्धि - ३/३६
बंध - १/४
बल ऋद्धि - ३/३६
बहिरात्मा - २/१०
बहु - १/१६
बहुविध - १/१६
बाह्य जल्प - २/१०
बाह्य निर्वृति - २/१७
बीज सम्यक्त्व - १/७
बीज बुद्धि ऋद्धि - ३/३६
बुद्धि ऋद्धि - ३/३६
बुद्धि - १/१५
भरत क्षेत्र - ३/१०
भव - १/२१
भव-परिवर्तन - २/१०
भवन - ४/१०
भवनवासी - ४/१०
भवनपुर - ४/१०
भवप्रत्यय अवधिज्ञान - १/२१
भवानुगामी अवधिज्ञान- १/२२
भवाननुगामी अवधिज्ञान- १/२२
भव्य - २/७
भाव-निक्षेप - १/५
भाव लेश्या - २/६
भावना - १/९
भाव-परिवर्तन - २/१०
भाव-नैगम नय - १/३३
भावेन्द्रिय - २/१८
भाव श्रुत - १/२०
भेदाभेद विपर्यास - १/३२
भोगभूमि - ३/२८
मंगल - १/ मंगलाचरण
मतिज्ञान - १/९
मध्यम अंतरात्मा - २/१०
मध्यम पद - १/२०
मन:पर्ययज्ञान - १/९
मल - १/मंगलाचरण

मल दोष - २/५
मल्लौषधि ऋद्धि - ३/३६
मरुच्चारण ऋद्धि - ३/३६
महाकल्प - १/२०
महापुण्डरीक - १/२०
मार्ग-सम्यक्त्व - १/७
मार्गणा - १/१५
मारणान्तिक समुद्घात- १/२०
मायागता चूलिका - १/२०
मिथ्याज्ञान - १/३१
मिथ्या-प्रत्यभिज्ञान - १/१३
मुख्य-मीमांसा - १/१५
मुख्य मंगल - १/मंगलाचरण
मुक्त - २/१०
मेघचारण ऋद्धि - ३/३६
मेधा - १/१५
मोक्ष - १/४
मोक्षमार्ग - १/१
म्लेच्छ - ३/३६
युक्तानंत - ३/३८
युक्तासंख्यात - ३/३८
योनि - २/३२
योजन - ३/३८
रत्नप्रभा - ३/१
रस - २/२०
लक्षण - २/८
लक्षणाभास - २/८
लघिमा ऋद्धि - ३/३६
लब्धि - २/१८
लांगलिका - २/२८
लिंगज श्रुतज्ञान - १/२०
लेश्या - २/६
लोक - ३/३८
लोकपाल - ४/४
लौकिक शब्दलिंगजश्रुतज्ञान १/२०
लोकोत्तर ” ” ” - १/२०
वन्दना - १/२०
वनस्पति - २/१३
वनस्पतिकाय - २/१३
वनस्पति कायिक २/१३
वनस्पति जीव - २/१३
वर्ण - २/२०
वस्तु - १/२०
वस्तु समास - १/२०
वातकुमार - ४/१०
वायु - २/१३
वायुकाय - २/१३
वायुकायिक - २/१३
वायु जीव - २/१३
विकल-प्रत्यक्ष - १/१२
विक्रिया - २/४७
विग्रहगति - २/२५
विज्ञप्ति - १/१५
विद्यानुवाद - १/२०
विपर्यय - १/३१
विपाक सूत्र - १/२०
विपुलमति - १/२३
विभंगज्ञान - १/३१
विभाव ज्ञानोपयोग - २/९
विभाव दर्शनोपयोग - २/९
विमान - ४/१६
विशुद्धि - १/२४
विशुद्धि लब्धि - २/३
विसदृश प्रत्यभिज्ञान - १/१३
विस्तार सम्यक्त्व - १/७
विशदावग्रह - १/१८
वीतराग सम्यक्त्व - १/७
वीर्यप्रवाद - १/२०
वेद - २/६
वेदक सम्यक्त्व - २/५
वेदना समुद्घात - १/२०
वैनयिक - १/२०
वैक्रियिक शरीर - २/३६
वैक्रियिक समुद्घात - १/२०
व्याख्या प्रज्ञप्ति - १/२०

व्यंजन नैगम नय - १/३३
व्यंतर - ४/११
व्यंजनावग्रह - १/१८
व्यवहार नय - १/३३
व्यवहार पल्य - ३/३८
व्यवहार मोक्षमार्ग - १/१
व्यवहार व्यवसाय - १/१५
शंखावर्तयोनि - २/३२
शरीर - २/३६
शिखाचारण ऋद्धि - ३/३६
शीतयोनि - २/३६
शुद्ध द्रव्यार्थिक नय - १/३३
शुद्ध पर्यायार्थिक नय - १/३३
शुद्ध पारिणामिक - २/७
शुद्धोपयोग - २/९
शुभोपयोग - २/९
श्रुत - २/२१
श्रुतज्ञान - १/९
श्रेणिबद्ध - ४/१६, ३/२
संयमासंयम - २/५
संवर - १/४
संवृतयोनि - २/३२
संवेग - १/७
संघात ज्ञान - १/२०
संख्यात - ३/३८
संग्रहनय - १/३३
संज्ञा - १/१३
संज्ञी - २/२४
संघात - १/२०
संघात, समास - १/२०
संशय-दोष - १/३१
संसार - २/१०
संसारी जीव - २/१०
संभव - १/१३
सकल परमात्मा - २/२०
सकल-प्रत्यक्ष - १/१२
सचित्तयोनि - २/३२
सत् - १/८
सद्भाव स्थापना - १/५
सद्भूतव्यवहार नय - १/३३
सदवस्थारूप उपशम - २/५
सप्तभंगी - १/६
सप्रतिपत्ती अवधिज्ञान - १/२२
समवाय - १/२०
सम्मूर्च्छन जन्म - २/३१
सम्यक् प्रत्यभिज्ञान - १/१३
सम्यगनेकान्त - १/६
सम्यगेकान्त - १/६
सम्यग्दर्शन - १/१
सम्यग्ज्ञान - १/१
सम्यक्चारित्र - १/१
सराग सम्यक्त्व - १/७
सर्पिस्रावी ऋद्धि - ३/३६
सर्वावधिज्ञान - १/२२
सर्वौषधि ऋद्धि - ३/३६
सान्निपातिक - २/७
सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष - १/१२
सादि अनंत - २/१
सादि सांत - २/१
सामान्यतोइष्ट - १/२०
सामानिक - ४/४
सामायिक - १/२०
सूक्ष्मऋजुसूत्र नय - १/३३
सूच्यंगुल - ३/३८
सूर्य - ४/१२
सूत्रकृतांग - १/२०
सूत्र-सम्यक्त्व - १/७
स्कन्ध - २/३२
स्तनित कुमार - ४/१०
स्थलगता चूलिका - १/२०
स्थानांग - १/२०
स्थापना निक्षेप - १/५
स्थावर जीव - २/१२
स्पर्धक - २/५
स्पर्श - २/२०

स्पर्शनेन्द्रिय - २/१९
स्मृति - १/१३
स्वभाव दर्शनोपयोग - २/९
स्वभाव ज्ञानोपयोग - २/९
स्वरूप विपर्यास - १/३२

भेदात्मक शब्द

अंग-प्रविष्ट - १/२०
अंग-बाह्य - १/२०
असंख्यात - ३/३८
अन्तरात्मा - २/१०
अग्नि - २/१३
अधिगम - १/६
अनन्त - ३/३८
अननुगामी - १/२२
अनात्मभूत लक्षण - २/८
अनेकान्त - १/६
अप् - २/१३
अर्थलिंगज - १/२०
अर्थावग्रह - १/१९
अवग्रह - १/१९
अवधिज्ञान - १/९
असद्भूतव्यवहार नय - १/३३
आर्य - ३/३६
इन्द्रिय - १/१४
उपकरण - १/१७
उपयोग - २/९
ऋजुसूत्रनय - १/३३
एकान्त - १/६
औदयिक भाव - २।१
औपशमिक चारित्र - २/३
औपशमिक भाव - २/३
औपशमिक सम्यक्त्व - २/३
कल्पवृक्ष - ३/२७
किन्नर - ४/११
क्रियाचारण ऋद्धि - ३/३६
क्षायिक भाव - २/४
क्षायोपशमिक भाव - २/५
क्षायोपशमिक अवधि - १/२२
क्षेत्र-परिवर्तन - २/१०
गंधर्व - ४/११
गर्भ जन्म - २/३१
ज्ञानोपयोग - २/९
चारण ऋद्धि - ३/३६
चारित्र आर्य - ३/३६
चूलिका - १/२०
चेतना - १/४
जन्म - २/३१
जीव - २/१०
तत्त्व - १/४
तप ऋद्धि - ३/३६
तैजस ऋद्धि - २/३६
त्रस जीव - २/१२
दर्शनोपयोग - २/९
दृष्टिवाद - १/२०
देशावधिज्ञान - १/२२
द्रव्य लेश्या - २/६
द्रव्येन्द्रिय - २/१७
द्रव्य निक्षेप - १/१५
द्रव्यार्थिक नय - १/३३
द्रव्य नैगम नय - १/३३
द्रव्य परिवर्तन - २/१०
द्रव्य पर्याय नैगम नय - १/३३
नरक - ३/२
नय - १/३३
निकाय - ४/१
निक्षेप - १/५
निगोद - २/३२
नैगम-नय - १/३३
पद - १/२०
पटल - ४/१९
परमात्मा - २/१०
परमावधि ज्ञान - १/२२
परिकर्म - १/२०
परीतासंख्यात - ३/३८
परीतानंत - ३/३८

पर्यायार्थिक नय - १/३३
पारमार्थिक प्रत्यक्ष - १/२२
पारिणामिक भाव - २/१
पारिषद - ४/४
पिशाच - ४/११
पुराण - १/२०
पूर्व - १/२०
पृथ्वी - २/१३
प्रत्यक्ष - १/१२
प्रमाण - १/६
बल ऋद्धि - ३/३६
बहिरात्मा - २/१०
भाव-निक्षेप - १/५
भावेन्द्रिय - २/१८
मंगलाचरण - १/मंगलाचरण
मन:पर्यय ज्ञान - १/२३
मल - १/मंगलाचरण
महोरग - ४/११
मोक्षमार्ग - १/१
यक्ष - ४/११
युक्तानंत - ३/३८
युक्तासंख्यात - ३/३८
योनि - २/३२
राक्षस - ४/११
लक्षण - २/८
लब्धि - २/१८
लेश्या - २/६
लोकोत्तर शब्दलिंगज - १/२०
वनस्पति - २/१३
वायु - २/१३
विक्रिया - २/४७
विद्यानुप्रवाद - १/२०
विपर्यास - १/३१
विशद-प्रतिभासित्व - १/१२
वेद - २/६
व्यंजन नैगम नय - १/३३
व्यंजनावग्रह - १/१८
शरीर - २/३६
श्रुतज्ञान - १/९
सद्भूत व्यवहार नय - १/३३
समवाय - १/२०
समुद्घात - १/२०
सम्यग्दर्शन - १/१
संख्यात - ३/३८
संग्रह नय - १/३३
स्थापना निक्षेप - १/५
स्पर्धक - २/५
स्वभावदर्शनोपयोग - २/९
स्वभावज्ञानोपयोग - २/९
हेतु - २/८

卐 卐 卐